उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

hिन्दी समिति प्रभाग ग्रंथमाला—७४

धर्मशास्त्र का इतिहास

(प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय धर्म तथा लोक-विधियाँ)

[प्रथम भाग]

मूल लेखक

भारतरत्न, महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे

एम० ए०, एल-एल० एम०

अनुवादक

अर्जुन चौबे काश्यप

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी समिति प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक :
विनोद चन्द्र पाण्डेय
निदेशक
उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रथम संस्करण : १९६३
द्वितीय संस्करण : १९७२
तृतीय संस्करण : १९८०
चतुर्थ संस्करण : १९९२ १०,००० प्रतियाँ

मूल्य : एक सौ चालीस रुपये

मुद्रक :
स्वास्तिक प्रिन्टिंग प्रेस
२७, माई की बगिया, बड़ा चाँदगंज,
लखनऊ

प्रकाशकीय

भारतरत्न, महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरंग वामन काणे द्वारा रचित तथा अर्जुन चौबे काश्यप द्वारा अनूदित "धर्मशास्त्र का इतिहास" उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा पाँच खण्डों में प्रकाशित किया गया है। इसमें प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय धर्म तथा लोक विधियों का विवरण दिया गया है। प्रत्येक खण्ड अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ हिन्दी-जगत में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है।

धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) के अभी तक तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इसका चतुर्थ संस्करण प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता का अनुभव करना स्वाभाविक ही है।

विश्वास है कि इस संस्करण का भी उसी प्रकार स्वागत होगा जिस प्रकार विगत संस्करणों का स्वागत होता रहा है।

३ जून, ९२

विनोद चन्द्र पाण्डेय
निदेशक

दो शब्द

भारतीय संस्कृति के आत्म-तत्त्व को हृदयङ्गम करने के लिए हमें उसके अजस्र प्रवाह को समझना होगा। आज हम अपने ही स्वरूप, स्वभाव और स्वधर्म से इतने अपरिचित हो गये हैं कि भारतीय संस्कृति के आधारभूत व्यापक जीवनानुभव को, जिसे हिन्दू धर्म के नाम से अभिहित किया जाता है, न तो उसे परिभाषित कर सकते हैं और न उसकी उदात्त भावनाओं के साथ एक रस हो पाते हैं जबकि सत्य यह है कि अपनी परंपराओं और संस्कारों के कारण हमारा चिंतन हमें उस ओर प्रेरित करता है।

हिन्दू धर्म उपासना की पद्धति भर नहीं है। वह एक समग्र जीवन-दर्शन एवं व्यवहार-प्रक्रिया है। उसमें सकारात्मक स्वीकृतियों के साथ निषेधात्मक पक्षों के उन्नयन की गंभीर दृष्टि और उस पर आधारित समय-समय पर विकसित होते हुए जीवन के सभी क्षेत्रों के विधान हैं, जिन्हें 'शास्त्र' कहा गया है।

इन शास्त्रों का ज्ञान अब सबको सहज उपलब्ध नहीं हैं, साथ ही भाषा एवं समय के अन्तराल ने उन्हें दुरूह भी बना दिया है। इससे हम न तो अपने अतीत का ठीक से मूल्यांकन कर पाते हैं और न अपने इतिहास के उपयोगी बिन्दुओं को सजगता से ग्रहण कर पाते हैं।

इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए सुप्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरंग वामन काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' नामक बृहद् ग्रंथ प्रस्तुत किया, जिसे उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने पाँच भागों में प्रकाशित करने का पुनीत कार्य किया। इस ग्रंथ में धर्मशास्त्र के सभी अंगों का विशद् अध्ययन, उनके विश्लेषण की सूक्ष्म दृष्टि और उन्हें परंपरा में सँजोकर पाठक को उनके क्रमागत निष्कर्षों के निकट ले जाने का अवसर प्रदान करना निश्चय ही अभिनन्दनीय है। उनके इस प्रयास से हिन्दू धर्मशास्त्र की सभी परंपराएँ जीवंत रूप में पाठक के समक्ष आती हैं और अपने अतीत के चिंतन-वैभव के गौरव की अनुभूति के साथ ही आज के अपने आचार-विचारों के मूल उत्स का परिचय भी प्राप्त होता है। हिन्दू धर्म और संस्कृति केवल अध्यात्मजीवी ही नहीं रहे हैं, उन्होंने सुनिश्चित व्यवस्थित व्यवस्थाएँ एवं मर्यादाएँ निर्धारित की हैं, यह इस ग्रंथ से सहज स्पष्ट हो जाता है। स्वात्म की ऐसी विशद् अनुभूति के कारण ही यह ग्रंथ मनीषियों एवं जिज्ञासुओं में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है और अब तक इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम भाग का चतुर्थ संस्करण पुनः आपकी सेवा में अर्पित किया जा रहा है। आशा है कि विद्वज्जन इसका स्वागत करेंगे।

२ जून ९२

डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी
कार्यकारी उपाध्यक्ष

प्राक्कथन

'व्यवहारमयूख' के संस्करण के लिए सामग्री संकलित करते समय मेरे ध्यान में आया कि जिस प्रकार मैंने 'साहित्यदर्पण' के संस्करण में प्राक्कथन के रूप में "अलंकार साहित्य का इतिहास" नामक एक प्रकरण लिखा है, उसी पद्धति पर 'व्यवहारमयूख' में भी एक प्रकरण संलग्न कर दूं, जो निश्चय ही धर्मशास्त्र के भारतीय छात्रों के लिए पूर्ण लाभप्रद होगा। इस दृष्टि से मैं जैसे-जैसे धर्मशास्त्र का अध्ययन करता गया, मुझे ऐसा दीख पड़ा कि सामग्री अत्यन्त विस्तृत एवं विशिष्ट है, उसे एक संक्षिप्त परिचय में आबद्ध करने से उसका उचित निरूपण न हो सकेगा; साथ ही उसकी प्रचुरता के समुचित परिज्ञान, सामाजिक मान्यताओं के अध्ययन, तुलनात्मक विधिशास्त्र तथा अन्य विविध शास्त्रों के लिए उसकी जो महत्ता है, उसका भी अपेक्षित प्रतिपादन न हो सकेगा। निदान, मैंने यह निश्चय किया कि स्वतन्त्र रूप से धर्मशास्त्र का एक इतिहास ही लिपिबद्ध करूं। सर्वप्रथम, मैंने यह सोचा कि एक जिल्द में आदि काल से अब तक के धर्मशास्त्र के कालक्रम तथा विभिन्न प्रकरणों से युक्त ऐतिहासिक विकास के निरूपण से यह विषय पूर्ण हो जायगा। किन्तु धर्मशास्त्र में आनेवाले विविध विषयों के निरूपण के बिना यह ग्रन्थ सांगोपांग नहीं माना जा सकता। इस विचार से इसमें वैदिक काल से लेकर आज तक के विधि-विधानों का वर्णन आवश्यक हो गया। भारतीय सामाजिक संस्थाओं में और सामान्यतः भारतीय इतिहास में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं तथा भारतीय जनजीवन पर उनके जो प्रभाव पड़े हैं, वे बड़े गम्भीर हैं, चूंकि हमारे आचार्य उनके संबन्ध में अनोखी धारणाएँ रखते हैं, इसलिए मैं निकट भविष्य में इस पुस्तक का अनुवाद मातृभाषा मराठी एवं संस्कृत में करने का संकल्प इस आशा से करता हूँ कि उसे पढ़ने के बाद वे लोग अपने विचारों में स्वागत योग्य परिवर्तन का अनुभव करेंगे।

प्रस्तुत भाग में वर्णनीय विषयों के रूप में क्रमशः धर्म, धर्मशास्त्र, वर्ण, उनके कर्तव्य, अधिकार, अस्पृश्यता, दास-प्रथा, संस्कार, उपनयन, आश्रम, विवाह (सभी सामाजिक प्रश्नोंके साथ), आह्निक आचार, पंच महायज्ञ, दान, प्रतिष्ठा, उत्सर्ग एवं गृह्य तथा श्रौत (वैदिक) यज्ञों का विवेचन किया गया है। अगले भाग में राजशास्त्र, व्यवहार (विधि एवं प्रक्रिया), अशौच (जन्म और मृत्यु से उत्पन्न सूतक), श्राद्ध, प्रायश्चित्त, तीर्थ, व्रत, काल, शान्ति, धर्मशास्त्र पर मीमांसा आदि का प्रभाव, समय समय पर धर्मशास्त्र को परिवर्तित करनेवाली रीति एवं परम्परा और धर्मशास्त्र की भावी प्रगति एवं विकास प्रभृति प्रकरणों का विवेचन किया जायगा।

यद्यपि, उच्चकोटि के विश्वविख्यात विद्वानों ने धर्मशास्त्र के विशिष्ट विषयों पर विवेचन का प्रशस्त कार्य किया है, फिर भी, जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसी लेखक ने धर्मशास्त्र में आये हुए समग्र विषयों के विवेचन का प्रयास नहीं किया। इस दृष्टि से अपने ढंग का यह पहला प्रयास माना जायगा। अतः इस महत्त्वपूर्ण कार्य से यह आशा की जाती है कि इससे पूर्व के प्रकाशनों की न्यूनताओं का ज्ञान भी संभव हो सकेगा। इस पुस्तक में जो त्रुटि, दुरूहता और अदक्षता प्रतीत होती हैं, उनके लिए लेखनकाल की परिस्थिति एवं अन्य कारण अधिक उत्तरदायी हैं। इन बातों की ओर ध्यान दिलाना इसलिए आवश्यक है कि इस स्वीकारोक्ति से मित्रों को मेरी कठिनाइयों का ज्ञान हो जाने से उनका भ्रम दूर होगा और वे इस कार्य की प्रतिकूल एवं कटु आलोचना नहीं करेंगे। अन्यथा, आलोचकों का यह सहज अधिकार है कि प्रतिपाद्य विषय में की गयी अशुद्धियों और संकीर्णताओं की कटु से कटु आलोचना करें। कुछ पाठक यह आपत्ति

कर सकते हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत है और दूसरे लोग कह सकते हैं कि कुछ प्रकरणों के लिए अपेक्षित विवेचन को पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया है। इन उभय विषयों का विचार कर मैंने मध्यम मार्ग अपनाने की चेष्टा की है।

आद्योपान्त इस पुस्तक के लिखते समय एक बड़ा प्रलोभन यह था कि धर्मशास्त्र में व्याख्यात प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय रीति, परम्परा एवं विश्वासों की अन्य जनसमुदाय और देशों की रीति, परम्परा तथा विश्वासों से तुलना की जाय। किन्तु मैंने यथासंभव इस प्रकार की तुलना से दूर रहने का प्रयास किया है। फिर भी, कभी कभी कतिपय कारणों से मुझे ऐसी तुलनाओं में प्रवृत्त होना पड़ा है। अधिकांश लेखक (भारतीय अथवा यूरोपीय) इस प्रवृत्ति के हैं कि वे, आज का भारत जिन कुप्रथाओं से आक्रान्त है, उनका पूरा उत्तरदायित्व जातिप्रथा एवं धर्मशास्त्र में निर्दिष्ट जीवन-पद्धति पर डाल देते हैं। किन्तु इस विचार से सर्वथा सहमत होना बड़ा कठिन है। अतः मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विश्व के पूरे जन-समुदाय का स्वभाव साधारणतः एक जैसा है और उसमें निहित सुप्र-वृत्तियाँ एवं दुष्प्रवृत्तियां सभी देशों में एक सी ही हैं। किसी भी स्थान विशेष में आरम्भकालिक आचार पूर्ण लाभप्रद रहते हैं, फिर आगे चलकर सम्प्रदायों में उनके दुरुपयोग एवं विकृतियाँ समान रूप से स्थान ग्रहण कर लेती हैं। चाहे कोई देशविशेष हों या समाजविशेष, वे किसी न किसी रूप में जाति-प्रथा या उससे भिन्न प्रथा से आबद्ध रहते आये हैं।

निःसंदेह जाति-प्रथा ने भी कुछ विशेष प्रकार की हानिकारक समस्याओं को जन्म दिया है, किन्तु इस आधार पर एक मात्र जाति-प्रथा को ही उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है। कोई भी व्यवस्था न तो पूर्ण है और न दोषपूर्ण प्रवृत्तियों से मुक्त है। यद्यपि मैं ब्राह्मण-धर्म के वातावरण में प्रौढ हुआ हूँ, फिर भी आशा करता हूँ कि पण्डितजन यह स्वीकार करेंगे कि मैंने चित्र के दोनों पहलुओं के विवरण प्रस्तुत किये हैं और इस कार्य में पक्षपात-रहित होने का प्रयत्न किया है।

संस्कृत ग्रन्थों से लिये गये उद्धरणों के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते उनके लिए ये उद्धरण इस पुस्तक में दिये गये तर्कों की भावनाओं को समझने में एक सीमा तक सहायक होंगे। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में इन उद्धरणों के लिए अपेक्षित पुस्तकों को सुलभ करनेवाले पुस्तकालयों या साधनों का भी अभाव है। उपर्युक्त कारणों से सहस्रों उद्धरण पादटिप्पणियों में उल्लिखित हुए हैं। अधिकांश उद्धरण प्रकाशित पुस्तकों से लिये गये हैं एवं बहुत थोड़े से अवतरण पाण्डुलिपियों और ताम्रलेखों से उद्धृत हैं। शिलालेखों, ताम्रपत्रों के अभि-लेखों के अवतरणों के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार का संकेत अभिप्रेत है। इन तथ्यों से एक बात और प्रमाणित होती है कि धर्मशास्त्र में विहित विधियाँ जो कई हजार वर्षों से जनसमुदाय द्वारा आचरित हुई हैं तथा शासकों द्वारा विधि के रूप में स्वीकृत रही हैं, उनसे यह निश्चित होता है कि ऐसे नियम पण्डितम्मन्य विद्वानों या कल्पना-शास्त्रियों द्वारा संकलित काल्पनिक नियम मात्र नहीं रहे हैं। वे व्यवहार्य रहे हैं।

मैं अपने पूर्ववर्ती आचार्यों और इस क्षेत्र एवं अन्य क्षेत्र में कार्य करनेवाले लेखकों के प्रति आभार प्रकट करने में आनन्द का अनुभव करता हूँ। जिन पुस्तकों के उद्धरण मुझे लगातार देने पड़े हैं और जिनसे मैं पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ उनमें से कुछ ग्रन्थों का उल्लेख आवश्यक है, यथा—ब्लूमफील्ड की 'वैदिक अनुक्रमणिका', प्रोफेसर मैकडानल और कीथ की 'वैदिक अनुक्रमणिकाएँ', मैक्समूलर द्वारा संपादित 'प्राच्य धर्म-पुस्तकें' (खण्ड २, ७, १२, १४, २५, २६, २९, ३०, ३४, ४१, ४३, ४४)। जर्मन भाषा का अत्यल्प और उससे भी कम फ्रेंच भाषा का ज्ञान होने से मैं अर्वाचीन यूरोपीय विद्वानों की कृतियों का पूरा उपयोग करने से वंचित रह गया हूँ। इसके अतिरिक्त मैं असाधारण विद्वान् डा० जाली को स्मरण करता हूँ जिनकी पुस्तक को मैंने अपने सामने आदर्श के रूप में रखा है। मैंने निम्न-लिखित प्रमुख पंडितों की कृतियों से भी बहुमूल्य सहायता प्राप्त की है, जो इस क्षेत्र में मुझसे पहले कार्य कर चुके हैं,

जैसे डा० बुलर, राव साहब वी० एन० मण्डलीक, प्रोफेसर हापकिन्स्, श्री एम० एम० चक्रवर्ती तथा श्री के० पी० जायसवाल। मैं 'वाय' के परमहंस केवलानन्द स्वामी के सतत साहाय्य और निर्देश (विशेषतः श्रौत भाग) के लिए, पूना के चिन्तामणि दातार द्वारा दर्श-पौर्णमास के परामर्श और श्रौत के अन्य अध्यायों के प्रति सतर्क करने के लिए, श्री केशव लक्ष्मण ओगेल द्वारा अनुक्रमणिका भाग पर कार्य करने के लिए और तर्कतीर्थ रघुनाथ शास्त्री कोकजे द्वारा सम्पूर्ण पुस्तक को पढ़कर सुझाव और संशोधन देने के लिए असाधारण आभार मानता हूँ। मैं इंडिया आफिस पुस्तकालय (लंदन) के अधिकारियों का और डा० एस० के० बेल्वल्कर, महामहोपाध्याय प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री, प्रोफेसर रंगस्वामी आयंगर, प्रोफेसर पी० पी० एस० शास्त्री, डा० भवतोष भट्टाचार्य, डा० आल्सडोर्फ, प्रोफेसर एच० डी० वेलणकर (विल्सन कालेज बंबई) का बहुत ही कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे अपने अधिकार में सुरक्षित संस्कृत की पाण्डुलिपियों के बहुमूल्य संकलनों के अवलोकन की हर संभव सुविधाएँ प्रदान कीं। विभिन्न प्रकार के निदेशन में सहायता के लिए मैं अपने मित्रसमुदाय तथा डा० वी० जी० पराञ्जपे, डा० एस० के० दे, श्री पी० के० गोडे और श्री जी० एम० वैद्य का आभार मानता हूँ। इस प्रकार की सहायता के बावजूद इस पुस्तक में होनेवाली न्यूनताओं, च्युतियों और उपेक्षाओं से मैं पूर्ण परिचित हूँ। अतः इन सब कमियों के प्रति कृपालु होने के लिए मैं विद्वानों से प्रार्थना करता हूँ।*

पाण्डुरंग वामन काणे

*मूल ग्रन्थ के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड के प्राक्कथनों से संकलित।

उद्धरण-संकेत

अग्नि०=अग्निपुराण
अ० वे० या अथर्व०=अथर्ववेद
अनु० या अनुशासन०=अनुशासनपर्व
अन्त्येष्टि०=नारायण की अन्त्येष्टिपद्धति
अ० क० दी०=अन्त्यकर्मदीपक
अर्थशास्त्र, कौटिल्य०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
आ० गृ० सू० या आपस्तम्बगृ०=आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आ० ध० सू० या आपस्तम्बधर्म०=आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० म० पा० या आपस्तम्बम०=आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आप० श्रौ० सू० या आपस्तम्बश्रौ०=आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आश्व० गृ० सू० या आश्वलायनगृ०=आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० गृ० प० या आश्वलायनगृ० प०=आश्वलायन-गृह्यपरिशिष्ट
ऋ० या ऋग्०=ऋग्वेद, ऋग्वेदसंहिता
ऐ० आ० या ऐतरेय आ०=ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा० या ऐतरेय ब्रा०=ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ० या कठोप०=कठोपनिषद्
कलिवर्ज्य०=कलिवर्ज्यविनिर्णय
कल्प० या कल्पतरु, कृ० क०=लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु
कात्या० स्मृ० सा०=कात्यायनस्मृतिसारोद्धार
का० श्रौ० सू० या कात्यायनश्रौ०=कात्यायनश्रौतसूत्र
काम० या कामन्दक=कामन्दकीय नीतिसार
कौ० या कौटिल्य० या कौटिलीय०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०=कौटिल्य का अर्थशास्त्र (डा० शाम शास्त्री का संस्करण)
कौ० ब्रा० उप० या कौषीतकिब्रा०=कौषीतकिब्राह्मण-उपनिषद्
गं० भ० या गंगाभ० या गंगाभक्ति०=गंगाभक्तितरंगिणी
गंगावाक्या० या गंगावा०=गंगावाक्यावलि
गरुड़०=गरुड़पुराण
गृ० र० या गृहस्थ०=गृहस्थरत्नाकर
गौ० या गौ० ध० सू० या गौतमधर्म०=गौतमधर्मसूत्र
गौ० पि० सू० या गौतमपि०=गौतमपितृमेधसूत्र
चतुर्वर्ग०=हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि या केवल हेमाद्रि
छा० उप० या छान्दोग्य-उप०=छान्दोग्योपनिषद्
जीमूत०=जीमूतवाहन
जै० या जैमिनि०=जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र
जैमिनि० उप०=जैमिनीयोपनिषद्
जै० न्या० मा०=जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
ताण्ड्य०=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ती० क० या ती० कल्प०=तीर्थ पर कल्पतरु
तीर्थप्र० या ती० प्र०=तीर्थप्रकाश
ती० चि०, तीर्थचि०=वाचस्पति की तीर्थचिन्तामणि
तै० आ० या तैत्तिरीयार०=तैत्तिरीयारण्यक
तै० उ० या तैत्तिरीयोप०=तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०=तैत्तिरीय संहिता
त्रिस्थली० या त्रिस्थलीसे० या त्रि० से०=भट्टोजि का त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह
त्रिस्थली०=नारायण भट्ट का त्रिस्थलीसेतु
नारद० या ना० स्मृ०=नारदस्मृति
नारदीय० या नारद०=नारदीयपुराण
नीतिवा० या नीतिवाक्या०=नीतिवाक्यामृत
निर्णय० या नि० सि०=निर्णयसिन्धु
पद्म०=पद्मपुराण
परा० मा०=पराशरमाधवीय
पाणिनि या पा०=पाणिनि की अष्टाध्यायी
पार० गृ० या पारस्करगृ०=पारस्करगृह्यसूत्र
पू० मी० सू० या पूर्वमी०=पूर्वमीमांसासूत्र
प्रा० त०, प्राय० त० या प्रायश्चित्तत०=प्रायश्चित्ततत्त्व

प्रा० प्र० प्राय० प्र० या प्रायश्चित्तप्र०=प्रायश्चित्तप्रकरण
प्रा० प्रकाश या प्राय० प्रका०=प्रायश्चित्तप्रकाश
प्रा० वि० या प्राय० वि० या प्रायश्चित्तवि०=प्रायश्चित्तविवेक
प्रा० म० या प्राय० म०=प्रायश्चित्तमयूख
प्रा० सा० या प्राय० सा० या प्राय० सार=प्रायश्चित्तसार
बु० भू०=बुधभूषण
बृह० या बृहस्पति०=बृहस्पतिस्मृति
बृ० उ० या बृह० उप०=बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० सं० या बृहत्सं०=बृहत्संहिता
बौ० गृ० सू० या बौधायनगृ०=बौधायनगृह्यसूत्र
बौ० ध० सू० या बौधा० ध० या बौधायनधर्म=बौधायनधर्मसूत्र
बौ० श्रौ० सू० या बौधा० श्रौ० या बौधायनश्रौत०=बौधायनश्रौतसूत्र
ब्र० या ब्रह्म० या ब्रह्मपु०=ब्रह्मपुराण
ब्रह्माण्ड०=ब्रह्माण्डपुराण
भवि० पु० या भविष्य०=भविष्यपुराण
मत्स्य०=मत्स्यपुराण
म० पा० या मद० पा०=मदनपारिजात
मनु या मनु०=मनुस्मृति
मानव० या मानवगृह्य०=मानवगृह्यसूत्र
मिता०=मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका)
मीमांसाकौ० या मी० कौ०=खण्डदेव का मीमांसाकौस्तुभ
मेधा० या मेधातिथि=मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका या मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि
मैत्री० उप०=मैत्र्युपनिषद्
मै० सं० या मैत्रायणीसं०=मैत्रायणीसंहिता
य० ध० सं० या यतिधर्म०=यतिधर्मसंग्रह
या० या याज्ञ या याज्ञ०=याज्ञवल्क्यस्मृति
राज०=कल्हण की राजतरंगिणी
रा० ध० कौ० या राजध० कौ० या राजधर्मकौ०=राजधर्मकौस्तुभ
रा० नी० प्र० या राजनी० प्र० या राजनीतिप्र०=मित्र मिश्र का राजनीतिप्रकाश
राज० र० या राजनीतिर०=चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर
लाटया०=लाटयायनश्रौतसूत्र
वसिष्ठ०=वसिष्ठधर्मसूत्र।
वाज० सं० या वाजसनेयी सं०=वाजसनेयी संहिता
वायु०=वायुपुराण
विवादचि०=वाचस्पति मिश्र की विवादचिन्तामणि
वि० र० या विवादर०=विवादरत्नाकर
विश्व० या विश्वरूप=विश्वरूप की याज्ञवल्क्यस्मृतिटीका
विष्णु०=विष्णुपुराण
विष्णु या वि० ध० सू०=विष्णुधर्मसूत्र
वी० मि०=वीरमित्रोदय
वै० स्मा० या वैखानस०=वैखानसस्मार्तसूत्र
व्यव० त० या व्यवहार० या व्यवहारत०=रघुनन्दन का व्यवहारतत्त्व
व्य० नि० या व्यवहारनि०=व्यवहारनिर्णय
व्यव० प्र० या व्यवहारप्र०=मित्र मिश्र का व्यवहारप्रकाश
व्य० म० या व्यवहारम०=नीलकण्ठ का व्यवहारमयूख
व्य० मा० या व्यवहारमा०=जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका
व्यव० सा० या व्यवहारसा०=व्यवहारसार
श० ब्रा० या शतपथब्रा०=शतपथब्राह्मण
शातातप=शातातपस्मृति
शां० गृ० या शांखायनगृह्य०=शांखायनगृह्यसूत्र
शां० ब्रा० या शांखायनब्रा०=शांखायनब्राह्मण
शां० श्रौ० सू० या शांखायनश्रौत०=शांखायनश्रौतसूत्र
शान्ति०=शान्तिपर्व
शुक्र० या शुक्रनी० या शुक्रनीति=शुक्रनीतिसार
शूद्रकम०=शूद्रकमलाकर
शु० कौ० या शुद्धि कौ०=शुद्धिकौमुदी
शु० क० या शुद्धिकल्प=शुद्धिकल्पतरु (शुद्धि पर)
शुद्धिप्र० या शु० प्र०=शुद्धिप्रकाश

श्रा० क० ल० या श्राद्धकल्प०=श्राद्धकल्पलता
श्रा० क्रि० कौ० या श्राद्धक्रिया०=श्राद्धक्रियाकौमुदी
श्रा० प्र० या श्राद्धप्र०=श्राद्धप्रकाश
श्रा० वि० या श्राद्धवि०=श्राद्धविवेक
स० श्रौ० सू० या सत्याषाढश्रौत०=सत्याषाढश्रौतसूत्र
सरस्वती० या स० वि०=सरस्वतीविलास
सा० ब्रा० या साम० ब्रा०=सामविधानब्राह्मण
स्कन्द० या स्कन्दपु०=स्कन्दपुराण
स्मृ० च० या स्मृतिच०=स्मृतिचन्द्रिका
स्मृ० मु० या स्मृतिमु०=स्मृतिमुक्ताफल
सं० कौ० या संस्कारकौ०=संस्कारकौस्तुभ
सं० प्र०=संस्कारप्रकाश
सं० र० मा० या संस्काररं०=संस्काररत्नमाला
हि० गृ० या हिरण्यकेशिगृह्य=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र

इंग्लिश नामों के संकेत

A. G. =ऐं० जि० (ऐंश्येण्ट जियॉग्रफी आव इण्डिया)
Ain. A. =आइने अकबरी (अबुल फज़ल कृत)
A. I. R. =आल इण्डिया रिपोर्टर
A. S. R. =आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स (ए० एस० आर०)
A. S. W. I. =आर्क्यालॉजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया
B. B. R. A. S. =बाम्बे ब्राञ्च, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
B. O. R. I. =भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
C. I. I. =कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम् (सी० आई० आई०)
E. I. =एपिग्रैफिया इण्डिका (एपि० इण्डि०)
I. A. =इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (इण्डि० ऐण्टि०)
I. H. Q. =इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०)
J. A. O. S. =जर्नल आव दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी
J. A. S. B. =जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल
J. B. O. R. S. =जर्नल आव दि बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी
J. R. A. S. =जर्नल आव दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (लन्दन)
S. B. E. =सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट (मैक्समूलर द्वारा सम्पादित) (एस० बी० ई०)

प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों तथा लेखकों का काल-निर्धारण

[इनमें से बहुतों का काल सम्भावित, कल्पनात्मक एवं विचाराधीन है। ई० पू०=ईसा के पूर्व; ई० उ०=ईसा के उपरान्त]

४०००—१००० (ई० पू०)	:	यह वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों का काल है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण की कुछ ऋचाएँ ४००० ई० पू० के बहुत पहले की भी हो सकती हैं, और कुछ उपनिषद् (जिनमें कुछ वे भी हैं, जिन्हें विद्वान् लोग अत्यन्त प्राचीन मानते हैं) १००० ई० पू० के पश्चात्कालीन भी हो सकती हैं। (कुछ विद्वान् प्रस्तुत लेखक की इस मान्यता को कि वैदिक संहिताएँ ४००० ई० पू० प्राचीन हैं, नहीं स्वीकार करते।)
८००—५०० (ई० पू०)	:	यास्क की रचना निरुक्त।
८००—४०० (ई० पू०)	:	प्रमुख श्रौतसूत्र (यथा—आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ आदि) एवं कुछ गृह्यसूत्र (यथा—आपस्तम्ब एवं आश्वलायन)।
६००—३०० (ई० पू०)	:	गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ के धर्मसूत्र एवं पारस्कर तथा कुछ अन्य लोगों के गृह्यसूत्र।
६००—३०० (ई० पू०)	:	पाणिनि।
५००—२०० (ई० पू०)	:	जैमिनि का पूर्वमीमांसासूत्र।
५००—२०० (ई० पू०)	:	भगवद्गीता।
३०० (ई० पू०)	:	पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि कात्यायन।
३०० (ई० पू०)—१०० (ई० उ०)	:	कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अपेक्षाकृत पहली सीमा के आसपास)।
१५० (ई० पू०)—१०० (ई० उ०)	:	पतञ्जलि का महाभाष्य (सम्भवतः अपेक्षाकृत प्रथम सीमा के आसपास)।
२०० (ई० पू०)—१०० (ई० उ०)	:	मनुस्मृति।
१०० (ई० उ०)—३०० (ई० उ०)	:	याज्ञवल्क्यस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	:	विष्णुधर्मसूत्र।
१००—४०० (ई० उ०)	:	नारदस्मृति।
२००—५०० (ई० उ०)	:	वैखानसस्मार्तसूत्र।
२००—५०० (ई० उ०)	:	जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्र के भाष्यकार शबर (अपेक्षाकृत पूर्व समय के आसपास)।
३००—५०० (ई० उ०)		व्यवहार आदि पर बृहस्पति-स्मृति (अभी तक इसकी प्रति नहीं मिल सकी है)। एस० बी० ई० (जिल्द ३३) में व्यवहार के अंश अनूदित हैं और प्रो० रंगस्वामी आयंगर ने धर्म के बहुत-से विषय संगृहीत किये हैं जो गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित हैं।

३००—६०० (ई० उ०)	:	कुछ विद्यमान पुराण, यथा—वायु०, विष्णु०, मार्कण्डेय०, मत्स्य०, कूर्म०।
४००—६०० (ई० उ०)	:	कात्यायनस्मृति (अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है)।
५००—५५० (ई० उ०)	:	वराहमिहिर; पंच-सिद्धान्तिका, बृहत्संहिता, बृहज्जातक आदि के लेखक।
६००—६५० (ई० उ०)	:	कादम्बरी एवं हर्षचरित के लेखक बाण।
६५०—६६५ (ई० उ०)	:	पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'काशिका'-व्याख्याकार वामन—जयादित्य।
६५०—७०० (ई० उ०)	:	कुमारिल का तन्त्रवार्तिक।
६००—९०० (ई० उ०)	:	अधिकांश स्मृतियाँ, यथा—पराशर, शंख, देवल तथा कुछ पुराण, यथा—अग्नि०, गरुड़०।
७८८—८२० (ई० उ०)	:	महान् अद्वैतवादी दार्शनिक शंकराचार्य।
८००—८५० (ई० उ०)	:	याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप।
८२५—९०० (ई० उ०)	:	मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि।
९६६ (ई० उ०)	:	वराहमिहिर के बृहज्जातक की टीका करनेवाले उत्पल।
१०००—१०५० (ई० उ०)	:	बहुत-से ग्रन्थों के लेखक धारेश्वर भोज।
१०८०—११०० (ई० उ०)	:	याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर।
१०८०—१११० (ई० उ०)	:	मनुस्मृति के व्याख्याकार गोविन्दराज।
११००—११३० (ई० उ०)	:	कल्पतरु या कृत्यकल्पतरु नामक विशाल धर्मशास्त्र-विषयक निबन्ध के लेखक लक्ष्मीधर।
११००—११५० (ई० उ०)	:	दायभाग, कालविवेक एवं व्यवहारमातृका के लेखक जीमूतवाहन।
११००—११५० (ई० उ०)	:	प्रायश्चित्तप्रकरण एवं अन्य ग्रन्थों के रचयिता भवदेव भट्ट।
१११०—११३० (ई० उ०)	:	अपरार्क, शिलाहार राजा ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक टीका लिखी.
१११४—११८३ (ई० उ०)	:	भास्कराचार्य, जो सिद्धान्तशिरोमणि के, जिसका लीलावती एक अंश है, प्रणेता हैं।
११२७—११३८ (ई० उ०)	:	सोमेश्वर देव का मानसोल्लास या अभिलषितार्थ-चिन्तामणि।
११५०—११६० (ई० उ०)	:	कल्हण की राजतरंगिणी।
११५०—११८० (ई० उ०)	:	हारलता एवं पितृदयिता के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट।
११५०—१२०० (ई० उ०)	:	श्रीधर का स्मृत्यर्थसार।
११५०—१३०० (ई० उ०)	:	गौतम एवं आपस्तम्ब नामक धर्मसूत्रों तथा कुछ गृह्यसूत्रो के टीकाकार हरदत्त।
१२००—१२२५ (ई० उ०)	:	देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका।
११५०—१३०० (ई० उ०)	:	मनुस्मृति के व्याख्याकार कुल्लूक।
११७५—१२०० (ई० उ०)	:	धनञ्जय के पुत्र एवं ब्राह्मणसर्वस्व के प्रणेता हलायुध।
१२६०—१२७० (ई० उ०)	:	हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि।
१२००—१३०० (ई० उ०)	:	वरदराज का व्यवहारनिर्णय।
१२७५—१३१० (ई० उ०)	:	पितृभक्ति, समयप्रदीप एवं अन्य ग्रन्थों के प्रणेता श्रीदत्त।
१३००—१३७० (ई० उ०)	:	गृहस्थरत्नाकर, विवादरत्नाकर, क्रियारत्नाकर आदि ग्रन्थों के रचयिता चण्डेश्वर।

१३००—१३८० (ई० उ०)	:	वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों के भाष्यों के संग्रहकर्ता सायण।
१३००—१३८० (ई० उ०)	:	पराशरस्मृति की टीका पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों के रचयिता एवं सायण के भाई माधवाचार्य।
१३६०—१३९० (ई० उ०)	:	मदनपाल एवं उनके पुत्र के संरक्षण में मदनपारिजात एवं महार्णवप्रकाश संगृहीत किये गये।
१३६०—१४४८ (ई० उ०)	:	गंगावाक्यावली आदि ग्रन्थों के प्रणेता विद्यापति के जन्म एवं मरण की तिथियाँ। देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १४, पृ० १९०-१९१), जहाँ देवसिंह के पुत्र शिवसिंह द्वारा विद्यापति को दिये गये बिसपी नामक ग्राम-दान के शिलालेख में चार तिथियों का विवरण उपस्थित किया गया है (यथा—शक १३२१, संवत् १४५५, ल० सं० २८३ एवं सन् ८०७)।
१३७५—१४४० (ई० उ०)	:	याज्ञवल्क्य की टीका दीपकलिका, प्रायश्चित्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक एवं अन्य ग्रन्थों के लेखक शूलपाणि।
१३७५—१५०० (ई० उ०)	:	विशाल निबन्ध धर्मतत्त्वकलानिधि (श्राद्ध, व्यवहार आदि के प्रकाशों में विभाजित) के लेखक एवं नागमल्ल के पुत्र पृथ्वीचन्द्र।
१४००—१५०० (ई० उ०)	:	तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर की न्यायसुधा।
१४००—१४५० (ई० उ०)	:	मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र।
१४२५—१४५० (ई० उ०)	:	मदनसिंह देव राजा द्वारा संगृहीत विशाल निबन्ध मदनरत्न।
१४२५—१४६० (ई० उ०)	:	शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि के लेखक रुद्रधर।
१४२५—१४९० (ई० उ०)	:	शुद्धिचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि आदि के रचयिता वाचस्पति।
१४५०—१५०० (ई० उ०)	:	दण्डविवेक, गंगाकृत्यविवेक आदि के रचयिता वर्धमान।
१४९०—१५१२ (ई० उ०)	:	दलपति का व्यवहारसार, जो नृसिंहप्रसाद का एक भाग है।
१४९०—१५१५ (ई० उ०)	:	दलपति का नृसिंहप्रसाद, जिसके भाग ये हैं—श्राद्धसार, तीर्थसार, प्रायश्चित्तसार आदि।
१५००—१५२५ (ई० उ०)	:	प्रतापरुद्रदेव राजा के संरक्षण में संगृहीत सरस्वतीविलास।
१५००—१५४० (ई० उ०)	:	शुद्धिकौमुदी, श्राद्धक्रियाकौमुदी आदि के प्रणेता गोविन्दानन्द।
१५१३—१५८० (ई० उ०)	:	प्रयोगरत्न, अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु के लेखक नारायण भट्ट।
१५२०—१५७५ (ई० उ०)	:	श्राद्धतत्त्व, तीर्थतत्त्व, शुद्धितत्त्व, प्रायश्चित्ततत्त्व आदि तत्त्वों के लेखक रघुनन्दन।
१५२०—१५८९ (ई० उ०)	:	टोडरमल के संरक्षण में टोडरानन्द ने कई सौख्यों में शुद्धि, तीर्थ, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक एवं अन्य १५ विषयों पर ग्रन्थ लिखे।
१५६०—१६२० (ई० उ०)	:	द्वैतनिर्णय या धर्मद्वैतनिर्णय के लेखक शंकर भट्ट।
१५९०—१६३० (ई० उ०)	:	वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र की टीका), श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका एवं दत्तकमीमांसा के लेखक नन्द पण्डित।
१६१०—१६४० (ई० उ०)	:	निर्णयसिन्धु तथा विवादताण्डव, शूद्रकमलाकर आदि अन्य २० ग्रन्थों के लेखक कमलाकर भट्ट।

१६१०—१६४० (ई० उ०)	:	मित्र मिश्र का वीरमित्रोदय, जिसके भाग हैं तीर्थप्रकाश, प्रायश्चित्तप्रकाश, श्राद्धप्रकाश आदि।
१६१०—१६४५ (ई० उ०)	:	प्रायश्चित्त, शुद्धि, श्राद्ध आदि विषयों पर १२ मयूखों में (यथा—नीतिमयूख, व्यवहारमयूख आदि) रचित भगवन्तभास्कर के लेखक नीलकण्ठ।
१६५०—१६८० (ई० उ०)	:	राजधर्मकौस्तुभ के प्रणेता अनन्तदेव।
१७००—१७४० (ई० उ०)	:	वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल।
१७००—१७५० (ई० उ०)	:	तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर आदि लगभग ५० ग्रन्थों के लेखक नागेश भट्ट या नागोजिभट्ट।
१७९० (ई० उ०)	:	धर्मसिन्धु के लेखक काशीनाथ उपाध्याय।
१७३०—१८२० (ई० उ०)	:	मिताक्षरा पर 'बालम्भट्टी' नामक टीका के लेखक बालम्भट्ट।

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रथम खण्ड
धर्म का अर्थ आदि

अध्याय १

धर्म का अर्थ और धर्मशास्त्रों का परिचय

१. धर्म का अर्थ

'धर्म' शब्द उन संस्कृत शब्दों में है जिनका प्रयोग कई अर्थों में होता आया है। यह शब्द अनेक परिवर्तनों एवं विपर्ययों के चक्र में घूम चुका है। ऋग्वेद की ऋचाओं में यह शब्द या तो विशेषण के रूप में या संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है ('धर्मन्' के रूप में तथा सामान्यतः नपुंसक लिंग में)। इस शब्द का इस रूप में प्रयोग छप्पन बार हुआ है। वेद की भाषा में उन दिनों इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या था; यह कहना अशक्य है। स्पष्टतः यह शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में, यथा १.१८७.१, १०.९२.२ तथा १०.२१.३ में 'धर्म' शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है[1] किन्तु अन्य स्थानों में यह या तो नपुंसक लिंग में है या उस रूप में, जिसे हम पुल्लिग एवं नपुंसक दोनों समझ सकते हैं। अधिक स्थानों पर 'धर्म', 'धार्मिक विधियों' या 'धार्मिक क्रिया-संस्कारों' के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, यथा ऋग्वेद, १.२२.१८, ५.२६.६, ७.४३.२४, ९.६४.१ आदि स्थानों पर। ऋग्वेद की १.१६४.४३ तथा १०.९०.१६ वाली 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' ऋचा उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करती है। इसी प्रकार 'प्रथमा धर्माः' (ऋग्वेद, ३.१७.१ एवं १०.५६.३) तथा 'सनता धर्माणि' (ऋग्वेद, ३.३.१) का अर्थ क्रमशः 'प्रथम विधियाँ' तथा 'प्राचीन विधियाँ' है। कहीं-कहीं यह अर्थ नहीं भी प्रकट होता, यथा ४.५३.३,[2] ५.६३.७,[3] ६.७०.१,[4] ७.८९.५;[5] जहाँ पर 'धर्म' का अर्थ 'निश्चित नियम' (व्यवस्था या सिद्धान्त), या 'आचरण-नियम' है। 'धर्म' शब्द के उपर्युक्त अर्थ वाजसनेयी संहिता में भी मिलते हैं (२.३ तथा ५.२७), एक स्थान पर हमें 'ध्रुवेण धर्मणा' का प्रयोग भी मिलता है। वहीं हमें 'धर्मः' (धर्म से) शब्द का बहुल प्रयोग भी मिलता है।[6] ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्र अथर्ववेद में मिलते हैं, जिनमें 'धर्मन्'

१. ऋग्वेद, (१.१८७.१) पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। यही शुक्ल यजुर्वेद (३४.७) में भी आया है। ऋग्वेद, (१०.९२.२) इममञ्जस्पामुभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम्। ऋग्वेद, १०.२१.३ (त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव)।

२. आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।

३. धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।

४. द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा।

५. अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः।

६. देखिए, १०.२९ तथा २०.९।

शब्द का प्रयोग हुआ है।[7] अथर्ववेद (९.९.१७) में 'धर्म' शब्द का प्रयोग "धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण" के अर्थ में हुआ है।[8] ऐतरेय ब्राह्मण में 'धर्म' शब्द सकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् (२.२३) में धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखाएँ मानी गयी हैं—(१) यज्ञ, अध्ययन एवं दान, अर्थात् गृहस्थधर्म, (२) तपस्या अर्थात् तापस धर्म तथा (३) ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह में अन्त तक रहना।[10] यहाँ 'धर्म' शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'धर्म' शब्द का अर्थ समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। किन्तु अन्त में यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों, बन्धनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार-विधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। तैत्तिरीयोपनिषद् में छात्रों के लिए जो 'धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह इसी अर्थ में है, यथा "सत्यं वद", "धर्मं चर"...आदि (१.११)। भगवद्गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' में भी 'धर्म' शब्द का यही अर्थ है। धर्मशास्त्र-साहित्य में 'धर्म' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति के अनुसार मुनियों ने मनु से सभी वर्णों के धर्मों की शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की थी (१.२)। यही अर्थ याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पाया जाता है (१.१)। तन्त्रवार्तिक के अनुसार धर्मशास्त्रों का कार्य है वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों की शिक्षा देना।[11] मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि के अनुसार स्मृतिकारों ने धर्म के पाँच स्वरूप माने हैं—(१) वर्णधर्म, (२) आश्रमधर्म, (३) वर्णाश्रम धर्म, (४) नैमित्तिक धर्म (यथा प्रायश्चित्त) तथा (५) गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण-सम्बन्धी कर्तव्य)।[12] इस पुस्तक में 'धर्म' शब्द का यही अर्थ लिया जायगा।

इस सम्बन्ध में 'धर्म' की कतिपय मनोरम परिभाषाओं की ओर संकेत करना अपेक्षित है। पूर्वमीमांसासूत्र में जैमिनि ने धर्म को 'वेदविहित प्रेरक' लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है, अर्थात् वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है। धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया-संस्कारों से है, जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित हैं।[13] वैशेषिकसूत्रकार ने धर्म की यह परिभाषा की है—धर्म वही है जिससे आनन्द एवं निःश्रेयस की सिद्धि हो।[14] इसी प्रकार कुछ एकांगी परिभाषाएँ भी हैं, यथा 'अहिंसा परमो धर्मः' (अनुशासनपर्व, ११५.१),

---

७. अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम (६.५१.३), यज्ञेन यज्ञमयजन्त (७.५.१), त्रीणि पदा विचक्रमे (७.२७.५)।

८. ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥

९. धर्मस्य गोप्ताजनीति तमभ्युत्क्रुष्टमेवं विदभिषेक्ष्यन्नेतयार्चाभिमन्त्रयेत (ऐतरेय ब्राह्मण, ७.१७)। ऐसी ही एक उक्ति ८.१३ में भी है। उपनिषदों एवं संस्कृत में भी 'धर्मन्' शब्द बहुव्रीहि-समास के पदों में आया है, यथा 'अनुच्छित्तिधर्मा' (बृहदारण्यकोपनिषद्) तथा 'धर्मादनिच् केवलात्' पाणिनि (५.४.१२४) का सूत्र।

१०. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।

११. 'सर्वधर्मसूत्राणां वर्णाश्रमधर्मोपदेशित्वात्', पृष्ठ २३७।

१२. गौतम-धर्मसूत्र (१९.१) के व्याख्याता हरदत्त तथा मनुस्मृति (२.२५) के व्याख्याता गोविन्दराज ने भी धर्म के ये ही पाँच प्रकार उपस्थित किये हैं।

१३. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (पूर्वमीमांसा सूत्र, १.१.२)।

१४. अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक सूत्र)।

'आनृशंस्यं परो धर्मः' (वनपर्व, ३७३.७६), 'आचारः परमो धर्मः' (मनुस्मृति, १.१०८)। हारीत ने धर्म को श्रुति-प्रमाणक माना है।[१५] बौद्ध धर्म-साहित्य में धर्म शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी इसे भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा का द्योतक माना गया है। इसे अस्तित्व का एक तत्त्व अर्थात् जड़ तत्त्व, मन एवं शक्तियों का एक तत्त्व भी माना गया है।[१६]

२. धर्म के उपादान

गौतमधर्मसूत्र के अनुसार वेद धर्म का मूल है।[१७] जो धर्मज्ञ हैं, जो वेदों को जानते हैं, उनका मत ही धर्म-प्रमाण है, ऐसा आपस्तम्ब का कथन है।[१८] ऐसा ही कथन वसिष्ठधर्मसूत्र का भी है (१.४.६)।[१९] मनुस्मृति के अनुसार धर्म के उपादान पाँच हैं—सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मतुष्टि।[२०] ऐसी ही बात याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पायी जाती है— वेद, स्मृति (परम्परा से चला आया हुआ ज्ञान), सदाचार (भद्र लोगों के आचार व्यवहार), जो अपने को प्रिय (अच्छा) लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न अभिकांक्षा या इच्छा; ये ही परम्परा से चले आये हुए धर्मोपादान हैं।[२१] उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि धर्म के मूल उपादान हैं वेद, स्मृतियाँ तथा परम्परा से चला आया हुआ शिष्टाचार (सदाचार)। वेदों में स्पष्ट रूप से धर्म-विषयक विधियाँ नहीं प्राप्त होतीं, किन्तु उनमें प्रासंगिक निर्देश अवश्य पाये जाते हैं और कालान्तर के धर्मशास्त्र-सम्बन्धी प्रकरणों की ओर संकेत भी मिलता है। वेदों में लगभग पचास ऐसे स्थल हैं जहाँ विवाह, विवाह-प्रकार, पुत्र-प्रकार, गोद-लेना, सम्पत्ति-बँटवारा, रिक्थलाभ (वसीयत), श्राद्ध, स्त्रीधन जैसी विधियों पर प्रकाश पड़ता है।[२२] वेदों की ऋचाओं से यह स्पष्ट होता है कि भ्रातृहीन कन्या को वर मिलना कठिन था।[२३] कालान्तर में धर्मसूत्रों एवं याज्ञवल्क्य-स्मृति में भ्रातृविहीन कन्या के विवाह के विषय में जो चर्चा हुई है, वह वेदों की परम्परा से गुँथी हुई है।[२४] विवाह के विषय में ऋग्वेद की १०.८५

१५. अयातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिको तान्त्रिकी च। कुल्लूक द्वारा मनु० (२-१) में उद्धृत।

१६. An element of existence, i.e. of matter, mind and forces. vide Dr. Stcherbatsky's monograph on the central conception of Buddhism (1923), P. 73.

१७. वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले। (गौतमधर्मसूत्र, १.१.२)।

१८. धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। (आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १.१.१.२)।

१९. श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा।

२०. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ मनु० २.६।

२१. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ याज्ञवल्क्य, १.७।

२२. देखिए, जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच, रायल एशियाटिक सोसायटी (J.B.B.R.A.S.), जिल्द २६ (१९२२), पृ० ५७.८२।

२३. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्। ऋग्वेद, २.१७.७। देखिए, ऋग्वेद, १.१२४.७; ६.५.५, अथर्ववेद, १.१७.१ तथा निरुक्त, ३.४.५।

२४. अरोगिणीं भ्रातमतीमसमानार्षगोत्रजाम्। याज्ञवल्क्य, १.५३; देखिए, मनुस्मृति ३.११।

वाली ऋचा आज तक गायी जाती है और विवाह-विधि में प्रमुख स्थान रखती है।[25] धर्मसूत्रों एवं मनुस्मृति में वर्णित ब्राह्म विवाह-विधि की झलक वैदिक समय में भी मिल जाती है।[26] वैदिक काल में आसुर विवाह अज्ञात नहीं था।[27] गान्धर्व विवाह की भी चर्चा वेद में मिलती है।[28] औरस पुत्र की महत्ता की भी चर्चा आयी है। ऋग्वेद में लिखा है—अनौरस पुत्र, चाहे वह बहुत ही सुन्दर क्यों न हो, नहीं ग्रहण करना चाहिए, उसके विषय में सोचना भी नहीं चाहिए।[29] तैत्तिरीय संहिता में तीन ऋणों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।[30] धर्मसूत्रों में वर्णित क्षेत्रज पुत्र की चर्चा प्राचीनतम वैदिक साहित्य में भी हुई है।[31] तैत्तिरीय संहिता में आया है कि पिता अपने जीवन-काल में ही अपनी सम्पत्ति का बँटवारा अपने पुत्रों में कर सकता है।[32] इसी संहिता में यह भी आया है कि पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सब कुछ दे दिया।[33] ऋग्वेद में यह आया है कि भाई अपनी बहिन को पैतृक सम्पत्ति का कुछ भी भाग नहीं देता।[34] प्राचीन एवं अर्वाचीन धर्मशास्त्र-लेखकों ने तैत्तिरीय संहिता के एक कथन पर विश्वास रखकर स्त्री को रिक्थ (वसीयत) से अलग कर दिया है।[35] ऋग्वेद ने विद्यार्थी-जीवन (ब्रह्मचर्य) की प्रशंसा की है, शतपथब्राह्मण ने ब्रह्मचारी के कर्तव्यों की चर्चा की है, यथा मदिरा-पान से दूर रहना तथा संध्याकाल में अग्नि में समिधा डालना।[36] तैत्तिरीय संहिता में आया है कि जब इन्द्र ने यतियों को कुत्तों (भेड़ियों) के (खाने के) लिए दे दिया, तो प्रजापति ने उसके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की।[37] शतपथब्राह्मण ने राजा तथा विद्वान् ब्राह्मणों को पवित्र अनुशासन पालन करनेवाले

२५. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय (ऋग्वेद, १०.८५.३६)। देखिए, आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, २.४.१४।

२६. गौतमधर्मसूत्र ४.४; बौधायनधर्मसूत्र १.२.२; आपस्तम्बधर्मसूत्र, २.५.११.१७; मनुस्मृति, ३.२७।

२७. वसिष्ठधर्मसूत्र १.३६.३७; देखिए, आपस्तम्बधर्मसूत्र २.६.१३.११, जहाँ कन्या-क्रय की व्याख्या की गयी है, और देखिए, पूर्वमीमांसासूत्र, ६.१.१५—'क्रयस्य धर्ममात्रत्वम्।'

२८. भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्। ऋग्वेद, १०.२७.१२।

२९. न हि ग्रभायारणः सुशेवो अन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। ऋग्वेद, ७.४.८।

३०. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। तैत्तिरीय संहिता, ६.३.१०.५।

३१. को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ। ऋग्वेद, १०.४०.२।

३२. मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्। तैत्तिरीय संहिता, ३.१.९.४। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२.६.१४.११) तथा बोधायनधर्मसूत्र (२.२.२) ने इसका आलम्बन लिया है।

३३. तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति। तैत्तिरीय संहिता २.५.२.७। इस कथन की ओर आपस्तम्बधर्मसूत्र (२.६.१४.१२) तथा बौधायनधर्मसूत्र (२.२.५) ने संकेत किया है।

३४. न जामये तान्वो रिक्थमारैक्—ऋग्वेद, ३.३१.२। देखिए, निरुक्त (३.५३) की व्याख्या।

३५. तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंस उपस्तितरं वदन्ति। तैत्तिरीय संहिता, ६.५.८.२।

३६. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्। ऋग्वेद, १०.१०९.५। शतपथब्राह्मण (११.५.४.१८) में आया है—'तदाहुः। न ब्रह्मचारी सन्मध्वश्नीयात्।' तुलना कीजिए, मनुस्मृति, २.१७७। 'समिध्' के लिए देखिए शतपथब्राह्मण (११.३.३.१)।

३७. इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्। मेधातिथि (मनुस्मृति, ११.४५) ने इसका उद्धरण दिया है। देखिए, ऐतरेयब्राह्मण, ७.२८, ताण्ड्यमहाब्राह्मण, ८.१.४, १३.४.१७ तथा अथर्ववेद, २.५.३।

(धृतव्रत) कहा है।[३८] तैत्तिरीय संहिता में कहा है—'अतः शूद्र यज्ञ के योग्य नहीं है।'[३९] ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि जब राजा या कोई अन्य योग्य गुणी अतिथि आता है तो लोग बैल या गो-संबंधी उपहार देते हैं।[४०] शतपथब्राह्मण ने वेदाध्ययन को यज्ञ माना है और तैत्तिरीयारण्यक ने उन पाँच यज्ञों का वर्णन किया है, जिनकी चर्चा मनुस्मृति में भली प्रकार हुई है।[४१] ऋग्वेद में गाय, घोड़ा, सोने तथा परिधानों के दान की प्रशंसा की गयी है।[४२] ऋग्वेद ने उस मनुष्य की भर्त्सना की है, जो केवल अपना ही स्वार्थ देखता है।[४३] ऋग्वेद में 'प्रपा' की चर्चा हुई है, यथा—'तू मरुभूमि में प्रपा के सदृश है।'[४४] जैमिनि के व्याख्याता शबर तथा याज्ञवल्क्य के व्याख्याता विश्वरूप ने 'प्रपा' (वह स्थान जहाँ यात्रियों को जल मिलता है) के लिए व्यवस्था बतलायी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालान्तर में धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों में जो विधियाँ बतलायी गयीं, उनका मूल वैदिक साहित्य में अक्षुण्ण रूप में पाया जाता है। धर्मशास्त्रों ने वेद को जो धर्म का मूल कहा है, वह उचित ही है। किन्तु यह सत्य है कि वेद धर्म-सम्बन्धी निबन्ध नहीं है, वहाँ तो धर्म-सम्बन्धी बातें प्रसंगवश आती गयी हैं। वास्तव में धर्मशास्त्र-सम्बन्धी विषयों के यथातथ्य एवं नियमनिष्ठ विवेचन के लिए हमें स्मृतियों की ओर ही झुकना पड़ता है।

३. धर्मशास्त्र-ग्रन्थों का निर्माण-काल

धर्म-सम्बन्धी निबन्धों तथा नियमपरक धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन कब से आरम्भ हुआ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, किन्तु इसका कोई निश्चित उत्तर दे देना सम्भव नहीं है। निरुक्त (३. ४. ५) से प्रकट होता है कि यास्क के बहुत पहले रिक्थाधिकार के प्रश्न को लेकर गरमागरम वाद-विवाद उठ खड़े हुए थे, यथा पुत्रों तथा पुत्रियों का रिक्थ-निषेध तथा पुत्रिका के अधिकार। हो सकता है कि रिक्थाधिकार (वसीयत) सम्बन्धी इस प्रकार के वाद-विवाद कालान्तर में लिपिबद्ध हो गये हों। वसीयत-सम्बन्धी वार्ता की ओर यास्क ने जिस प्रकार से संकेत किया है, उससे झलकता है कि उन्होंने कुछ ग्रन्थों की ओर निर्देश किया है, जिनमें वैदिक वचनों के उद्धरण दिये गये थे।[४५] एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वसीयत के विषय में यास्क ने एक पद्य का उद्धरण दिया है, जिसे वे

३८. एष च श्रोत्रियश्चैतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ। शतपथब्राह्मण, ५.४.४.५।

३९. तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः। तैत्तिरीय संहिता, ७.१.१.६।

४०. तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वार्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमस्मा एतत्क्षदन्ते यदग्निं मन्थन्ति। ऐतरेय ब्राह्मण, १.१५। तुलना कीजिए—वसिष्ठधर्मसूत्र, ४.८।

४१. पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति सन्तिष्ठन्ते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञः। तैत्तिरीयारण्यक, २.१०.७।

४२. उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण। हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः। ऋग्वेद, १०.१०७.२।

४३. केवलाघो भवति केवलादी। ऋग्वेद, १०.११७.६।

४४. धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन्। ऋग्वेद, १०.४.१।

४५. अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके।

ऋचा न कहकर श्लोक कहते हैं।[४६] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ श्लोक-छन्द में या श्लोकों (अनुष्टुप्) में प्रणीत थे। बुह्लर जैसे विद्वान् तो ऐसा कहेंगे कि पद्य-बद्ध बातें स्मृतिशील थीं, जो जनता की स्मृति में यों ही बहती आती थीं।[४७] यदि धर्म-सम्बन्धी विषयों के ग्रन्थ यास्क के पूर्व विद्यमान थे तो धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की तिथि बहुत प्राचीन मानी जायगी। इस विषय में अन्य प्रमाण भी हैं। गौतम, बौधायन तथा आपस्तम्ब के धर्मसूत्र निश्चित रूप से ईसापूर्व ६०० और ३०० के बीच के हैं। गौतम ने धर्मशास्त्रों की चर्चा की है, बौधायन (४.५.९) ने भी 'धर्मशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया है।[४८] बौधायन ने 'धर्म-पाठकों' की चर्चा की है (१.१.९)। गौतम ने बहुत से धर्मशास्त्रों के शब्द 'इत्येके' कहकर उद्धृत किये हैं (यथा २. १५; २.५८; ३.१; ४.२१; ७.२३)। उन्होंने मनु की ओर एक बार तथा 'आचार्यों' की ओर कई बार (३.३६; ४.१८ एवं २३) संकेत किया है।[४९] बौधायन ने औपजंघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, मौद्गल्य तथा हारीत नामक धर्मशास्त्रकारों के नाम गिनाये हैं। आपस्तम्ब ने भी एक, कण्व, कौत्स, हारीत आदि ऋषियों के नाम लिये हैं। एक वार्तिक भी है जिसने धर्मशास्त्र की चर्चा की है।[५०] धर्मशास्त्र में लिखित शूद्र-कर्तव्य की ओर जैमिनि ने संकेत किया है।[५१] पतंजलि ने लिखा है कि उनके समय में धर्मसूत्र थे और उनके प्रमाण भगवान् की आज्ञा के बाद महत्त्वपूर्ण माने जाते थे।[५२] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धर्मशास्त्र यास्क के पूर्व उपस्थित थे; कम-से-कम ई० पू० ६००-३०० के पूर्व तो वे थे ही और ईसा-पूर्व की द्वितीय शताब्दी में वे मानव-आचार के लिए सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे।

इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण धर्मशास्त्र पर विवेचन निम्न प्रकार से होगा। पहले धर्मसूत्रों का विवेचन होगा, जिनमें आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा बौधायन लम्बे सूत्र-संग्रह हैं, गौतम तथा वसिष्ठ बहुत बड़े संग्रह नहीं हैं। कुछ धर्मसूत्र, यथा विष्णु, अन्य सूत्र-ग्रन्थों से बाद के हैं, कुछ सूत्र-ग्रन्थ, यथा शंख-लिखित, पैठीनसि, केवल उद्धरण-रूप में विद्यमान हैं। धर्मसूत्रों के उपरान्त हम मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृतियों का विवेचन उपस्थित करेंगे। इसके उपरान्त नारद, बृहस्पति, कात्यायन की स्मृतियों का वर्णन होगा, जिनमें अन्तिम दो केवल उद्धरणों में ही मिलती हैं। महाभारत, रामायण तथा पुराणों ने भी धर्मशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अतः इस विषय में इनकी चर्चा होगी। अनन्तर विश्वरूप, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, हरदत्त नामक स्मृति-टीकाओं का वर्णन

४६. तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्। अङ्गादङ्गात्सम्भवसि... स जीव शरदः शतम्। अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

४७. 'सैक्रेड बुक आफ़ दि ईस्ट', जिल्द २५, भूमिका भाग।

४८. गौतमधर्मसूत्र, ९.२१—'तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गानि उपवेदाः पुराणम्।' 'पृथग्धर्मविदस्त्रयः' वाक्य (गौ० ध० सू० २८.४७) धर्मशास्त्र के छात्रों की ओर संकेत करता है।

४९. त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यानि मनुः। गौतमधर्मसूत्र, २१.७।

५०. धर्मशास्त्रं च तथा। देखिए, महाभाष्य, जिल्द १, पृ० २४२।

५१. शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात्। पूर्वमीमांसा सूत्र, ६.७.६।

५२. नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति; अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति। महाभाष्य, जिल्द १, पृ० ११५ तथा जिल्द २, पृष्ठ ३६५। पतञ्जलि ने 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः' (जिल्द १, पृ० १४) उद्धृत किया है, जिसे देखिए—आपस्तम्बधर्मसूत्र (१.७.२०.३) 'तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते।' पतञ्जलि ने कहा है—'तैलं न विक्रेतव्यं मांसं न विक्रेतव्यम्' तथा 'लोमनखं स्पृष्ट्वा शौचं कर्तव्यम्' (जिल्द १, पृ० २५)।

उपस्थित किया जायगा इसके उपरान्त धर्म के संक्षिप्त नीति-संग्रह, यथा हेमाद्रि, टोडरमल, नीलकण्ठ आदि का विवेचन होगा।

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों का काल-निर्णय बड़ा कठिन कार्य है। मैक्समूलर तथा अन्य विद्वानों के मतानुसार सूत्र-ग्रन्थों के उपरान्त अनुष्टुप् छन्द वाले ग्रन्थ प्रणीत हुए।[53] किन्तु यह मत प्रस्तुत लेखक को मान्य नहीं हो सकता। उन दिनों के ग्रन्थों के विषय में हमारा ज्ञान इतना न्यून है कि इस प्रकार का सामान्यीकरण समीचीन नहीं है। श्लोक-छन्द वाला ग्रन्थ मनुस्मृति कुछ धर्मसूत्रों से, जैसे विष्णुधर्मसूत्र से प्राचीन और वसिष्ठधर्मसूत्र का समकालीन है। कुछ प्राचीनतम धर्मसूत्रों में, यथा बौधायन धर्मसूत्र में, लम्बे-लम्बे प्रबन्ध श्लोक-छन्द में पाये जाते हैं, और उनमें कुछ तो उद्धरण मात्र हैं। यहाँ तक कि आपस्तम्ब में भी बहुत-से श्लोक पाये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्लोक-बद्ध ग्रन्थ धर्मसूत्रों से पूर्व भी विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब तथा बौधायन के समय में धर्म-सम्बन्धी एक बृहत् साहित्य था, जो आज उपलब्ध नहीं है।

४. धर्मसूत्र

आरम्भ में बहुत-से धर्मसूत्र कल्पसूत्र के अंग थे और उनका अध्ययन स्पष्ट रूप से चरणों (शाखाओं) में हुआ करता था। कुछ विद्यमान धर्मसूत्रों से पता चलता है कि उनके अपने चरण के गृह्यसूत्र भी रहे होंगे।[54] सभी चरणों के धर्मसूत्र आज उपलब्ध नहीं हैं। आश्वलायन श्रौत एवं गृह्यसूत्रों का कोई धर्मसूत्र नहीं है, यही बात मानव श्रौत एवं गृह्यसूत्रों तथा शांखायन श्रौत एवं गृह्यसूत्रों के साथ पायी जाती है, अर्थात् इनके धर्मसूत्र नहीं हैं, किन्तु आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा बौधायन चरणों में कल्प-परम्परा की सम्पूर्णता पायी जाती है, अर्थात् इनके तीनों श्रौत, गृह्य एवं धर्म-सूत्र हैं। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक से एक मनोहर बात का पता चलता है। उसका कहना है कि गौतम (धर्मसूत्र) तथा गोभिल (गृह्यसूत्र) का अध्ययन छन्दोग (सामवेदी लोग) करते थे, वसिष्ठ (धर्मसूत्र) का ऋग्वेदी लोग, शंख-लिखित (धर्मसूत्र) का वाजसनेयी संहिता के अनुयायी-गण तथा आपस्तम्ब एवं बौधायन के सूत्रों का अध्ययन तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी-गण करते थे।[55] जैमिनि (१.३.११) की व्याख्या में तन्त्रवार्तिक ने एक सिद्धान्त-सा मान लिया है कि सभी आर्यों के लिए सभी धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र प्रमाण हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आरम्भ में सभी चरणों में धर्मसूत्र नहीं थे, किन्तु कालान्तर में कुछ चरणों ने कुछ धर्मसूत्रों को अपना लिया। धर्मसूत्रों का सम्बन्ध आर्य जाति के सदस्यों के आचार-नियमों से था, अतः कालान्तर में सभी धर्मसूत्र सभी शाखाओं के लिए प्रमाण-स्वरूप मान्य हो गये।

५३. देखिए, 'सैक्रेड बुक आफ दि ईस्ट', जिल्द २, पृ० ९, किन्तु प्रो० मैक्समूलर एवं प्रो० डी० आर० भण्डारकर (कारमाइकेल व्याख्यान, १९१८, पृ० १०५-१०७) के विरोध में देखिए, गोल्डस्टूकर का 'पाणिनि' (पृ० ५९, ६०, ७८)।

५४. अग्निमिद्ध्वा परिसमूह्य समिध आदध्यात् सायं प्रातर्यथोपदेशम् (आपस्तम्बधर्मसूत्र, १.१.४.१६), अग्निमिद्ध्वा प्रागग्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तृणाति (आपस्तम्बगृह्यसूत्र, १.१२), एवं, इध्ममादायाघारावाघारयति दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम् (आपस्तम्बगृह्यसूत्र, २.५)। शेषमुक्तमष्टकाहोमे (बौधायनधर्मसूत्र, २.८.२०); यह बौधायनगृह्यसूत्र-२.११.४२ को ओर संकेत करता है; मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणा याज्ञिकस्य वृक्षस्य दण्डाः (बौ० ध० सू० १.२.१६) बौधायनगृह्यसूत्र २.५.६६ को ओर संकेत करता है।

५५. तन्त्रवार्तिक, पृ० १७९ (पूर्वमीमांसासूत्र, १.३.११ की व्याख्या में)।

विषय-वस्तुओं एवं प्रकरणों में धर्मसूत्रों का गृह्यसूत्रों से गहरा सम्बन्ध है। अधिकतर गृह्यसूत्रों के विषय हैं---पूत गृहाग्नि, गृहयज्ञ-विभाजन, प्रातः-सायं की उपासना, अमावस्या और पूर्णमासी की उपासना, पके भोजन का हवन, वार्षिक यज्ञ, विवाह, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन एवं अन्य संस्कार, छात्रों, स्नातकों एवं छुट्टियों के नियम, श्राद्ध-कर्म, मधुपर्क। गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध अधिकांश घरेलू जीवन की चर्याओं से है, वे मनुष्य के आचारों, अधिकारों, कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों की ओर बहुत ही कम ध्यान देते हैं, अर्थात् इन बातों के नियमों से उनका सम्बन्ध न-कुछ-सा है। इसी प्रकार धर्मसूत्रों में भी उपर्युक्त कुछ विषय-वस्तुओं या प्रकरणों के विषय में नियम पाये जाते हैं, यथा विवाह, संस्कारों, विद्यार्थियों, स्नातकों, छुट्टियों, श्राद्ध एवं मधुपर्क के विषय में। धर्मसूत्रों में गृह्यजीवन के क्रिया-संस्कारों के विषय में चर्चा कभी ही कभी पायी जाती है, और वह भी बहुत कम, क्योंकि उनकी विषय-परिधि बहुत विस्तृत होती है। धर्मसूत्रों का मुख्य ध्येय है आचार, विधि-नियम (कानून) एवं क्रिया-संस्कारों की विधिवत् चर्चा करना। आपस्तम्ब गृह्य एवं धर्म के बहुत-से सूत्र एक ही हैं।[56] कभी-कभी गृह्य-सूत्र धर्मसूत्र की ओर निर्देश भी कर बैठते हैं।[57] कुछ ऐसे लक्षण भी हैं जिनके द्वारा धर्मसूत्रों (अधिकतर प्राचीन धर्मसूत्रों) एवं स्मृतियों में आन्तरिक भेद भी उपस्थित किया जा सकता है, और वे लक्षण निम्न हैं---(क) बहुत-से धर्मसूत्र या तो प्रत्येक चरण के कल्प के भाग हैं या गृह्यसूत्रों से गहरे रूप से सम्बन्धित हैं। (ख) धर्मसूत्र कभी-कभी अपने चरण तथा अपने वेद के उद्धरण के प्रति पक्षपात प्रदर्शित करते हैं। (ग) प्राचीन धर्मसूत्रों के प्रणेता-गण अपने को ऋषि या अति मानव नहीं कहते,[58] किन्तु स्मृतियों के लेखक, यथा मनु एवं याज्ञवल्क्य, ब्रह्मा ऐसे देवताओं के समकक्ष ला दिये गये हैं, अर्थात् इनके लेखक मानव नहीं कहे जाते, वे अतिमानव हैं। (घ) धर्मसूत्र गद्य में या मिश्रित गद्य-पद्य में हैं, किन्तु स्मृतियाँ पद्यबद्ध हैं। (ङ) धर्मसूत्रों की भाषा स्मृतियों की भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। (च) धर्मसूत्रों की विषय-वस्तु एक तारतम्य से व्यवस्थित नहीं है, किन्तु स्मृतियों (यहाँ तक कि प्राचीनतम स्मृति मनुस्मृति) में ऐसी अव्यवस्था नहीं पायी जाती है, प्रत्युत इनकी विषय-वस्तु तीन प्रमुख शीर्षकों में है, यथा आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त। (छ) अधिकतम धर्मसूत्र अधिकतम स्मृतियों से प्राचीन हैं।

५. गौतम का धर्मसूत्र

विद्यमान धर्मसूत्रों में गौतमधर्मसूत्र सबसे पुराना है।[59] इसे विशेषतः सामवेद के अनुयायी पढ़ते थे। चरणव्यूह

५६. यथा, पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य....इत्यवर्णसंयोगेनैक उपदिशन्ति। आप० गृ०, ४.१७, १५, १६ तथा आप० ध० १.१.२.३८।

५७. यथा, आप० गृ० (८.२१.१) में आया है---'मासि श्राद्धस्यापरपक्षे यथोपदेशं कालाः,' जिसका निर्देश है आप० ध० सू० (२.७.१६.४--२२) की ओर।

५८. तुलना कीजिए---गौ० ध० १.३-४ तथा आप० ध० सू० १.२.५.४ 'तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्' तथा आप० ध० सू० २.६.१३.९ 'तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः।'

५९. गौतमधर्मसूत्र का प्रकाशन कई बार हुआ है, यथा डा० स्टेंज्लर का संस्करण (१८७६), कलकत्ता संस्करण (१८७६), में आनन्दाश्रम संस्करण, जिसकी हरदत्त की टीका है तथा मैसूर संस्करण, जिसमें मस्करी का भाष्य भी है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद बुह्लर ने भूमिका के साथ किया है (सैक्रेड बुक आफ दि ईस्ट, जिल्द २)। इस ग्रन्थ में आनन्दाश्रम का सन् १९१० वाला संस्करण काम में लाया गया है।

की टीका से पता चलता है कि गौतम सामवेद की राणायनीय शाखा के नौ उपविभागों में से एक उपविभाग के आचार्य, शाखाकार थे। सामवेद के लाट्यायनश्रौतसूत्र (१. ३. ३ तथा १. ४. १७) तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्र (१. ४. १७; ९. ३ . १५) में गौतम नामक आचार्य का वर्णन अधिकतर आया है। सामवेद के गोभिलगृह्यसूत्र (३. १०. ६) ने गौतम को प्रमाण-स्वरूप माना है। अतः प्रतीत होता है; श्रौत, गृह्य एवं धर्म के सिद्धान्तों से समन्वित एक सम्पूर्ण गौतमसूत्र था। गौतमधर्मसूत्र का सामवेद से गहरा सम्बन्ध था इसमें कोई सन्देह नहीं। गौतम एक जातिगत नाम है। कठोपनिषद् में नचिकेता (२. ४. १५; २. ५. ६) एवं उसके पिता (१. १. १०) दोनों गौतम नाम से पुकारे गये हैं। छान्दोग्योपनिषद् में हारिद्रुमत गौतम नामक एक आचार्य का नाम आया है (४. ४. ३)।

टीकाकार हरदत्त के अनुसार गौतमधर्मसूत्र में कुल २८ अध्याय हैं। कलकत्ता वाले संस्करण में 'कर्मविपाक' नामक एक और अध्याय है,जो १९वें अध्याय के उपरान्त आया है। गौतमधर्मसूत्र की विषय-सूची बहुत ही संक्षेप में इस प्रकार है--(१)धर्म के उपादान, मूल वस्तुओं की व्याख्या के नियम, चारों वर्णों के उपनयन का काल, प्रत्येक वर्ण के लिए उचित मेखला (करधनी), मृगचर्म, परिधान एवं दण्ड, शौच एवं आचमन के नियम, गुरु के पास पहुँचने की विधि; (२) यज्ञोपवीत-विहीन व्यक्तियों के बारे में नियम, ब्रह्मचारी के नियम, छात्रों का नियन्त्रण, अध्ययन-काल; (३) चारों आश्रम, ब्रह्मचारी, भिक्षु एवं वैखानस के कर्तव्य; (४) गृहस्थ के नियम, विवाह, विवाह के समय अवस्था, विवाह के आठों प्रकार, उपजातियाँ; (५) विवाहोपरान्त संभोग के नियम, प्रतिदिन के पंचयज्ञ, दानों के फल, मधुपर्क, कतिपय जातियों के अतिथियों के सम्मान करने की विधि; (६) माता-पिता, नातेदारों (स्त्री एवं पुरुष) एवं गुरुओं को सम्मान देने के नियम, मार्ग के नियम; (७) ब्राह्मण की वृत्तियों के बारे में नियम, विपत्ति में उसकी वृत्तियाँ, वे वस्तुएँ जिन्हें न तो ब्राह्मण बेच सकता न क्रय कर सकता था; (८)-४० संस्कार तथा ८ आध्यात्मिक गुण (यथा दया, क्षमा आदि); (९)स्नातक तथा गृहस्थ के आचरण; (१०)चार जातियों के विलक्षण कर्तव्य, राजा के उत्तरदायित्व, कर, स्वामित्व के उपादान, कोष-सम्पत्ति, नाबालिग के धन की अभिभावकता; (११) राजधर्म, राजा के पुरोहित के गुण; (१२) अपमान, गाली, आक्रमण, चोट, बलात्कार, कई जातियों के लोगों की चोरी के लिए दण्ड, ऋण देने, सूदखोरी, विपरीत सम्प्राप्ति, दण्ड के विषय में ब्राह्मणों के विशेषाधिकार, ऋण का भुगतान, जमा; (१३) साक्षियों के विषय में नियम, मिथ्याचार का प्रतिकार; (१४) जन्म-मरण के समय अपवित्रता (अशौच) के नियम; (१५) पाँचों प्रकार के श्राद्ध, श्राद्ध के समय न बुलाये जाने योग्य व्यक्ति; (१६) उपाकर्म, वर्ष में वेदाध्ययन का काल, उसके लिए छुट्टियाँ एवं अवसर; (१७) ब्राह्मण तथा अन्य जातियों के भोजन के विषय में नियम; (१८) नारियों के कर्तव्य, नियोग एवं इसकी दशाएँ, नियोग से उत्पन्न पुत्र के बारे में चर्चा; (१९) प्रायश्चित्त के कारण एवं अवसर, पापमोचन की पाँच बातें (जप, तप, होम, उपवास एवं दान), पवित्र करने के लिए वैदिक मन्त्र, जप करनेवाले के लिए पूत भोजन, तप एवं दान के विभिन्न प्रकार, जप के लिए उचित स्थान, काल आदि; (२०) प्रायश्चित्त न करनेवाले व्यक्ति का परित्याग एवं उसके लिए नियम; (२१) पापियों की श्रेणियाँ, महापातक, उपपातक आदि; (२२) ब्रह्महत्या, बलात्कार, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय या किसी अन्य पशु की हत्या से उत्पन्न पापों के लिए प्रायश्चित्त; (२३) मदिरा तथा अन्य बुरी वस्तुओं के पान, व्यभिचार, अस्वाभाविक अपराधों तथा ब्रह्मचारी द्वारा किये गये बहुत प्रकार के उल्लंघनों के लिए प्रायश्चित्त; (२४-२५) महापातक एवं उपपातक के लिए गुप्त प्रायश्चित्त; (२६) कृच्छ्र एवं अतिकृच्छ्र नामक व्रत; (२७) चान्द्रायण नामक व्रत, सम्पत्ति-विभाजन, स्त्रीधन, पुनःसन्धि, द्वादश प्रकार के पुत्र, वसीयत।

गौतमधर्मसूत्र केवल गद्य में है। इसमें उद्धरण रूप में भी कोई पद्य नहीं मिलता। अन्य धर्मसूत्रों में ऐसी

बात नहीं है। कहीं-कहीं अनुष्टुप् छन्द की ध्वनि अवश्य मिल जाती है।[६०] बोधायन एवं आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों की भाषा की अपेक्षा गौतमधर्मसूत्र की भाषा पाणिनि के नियमों के बहुत समीप आ जाती है। लगता है, क़ालान्तर में इसके टीकाकारों तथा विद्यार्थियों ने पाणिनि के नियमों के अनुसार इसमें यतस्ततः हेरफेर कर दिया। किन्तु ऐसी ही बात बौधायन एवं आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों में क्यों नहीं पायी जाती, यह कहना कठिन है। गौतमधर्मसूत्र आरम्भ में किसी विशिष्ट कल्प से सम्बन्धित नहीं था, अतः इसकी भाषा में परिवर्तन होना सम्भव था। किन्तु यह बात आपस्तम्बधर्मसूत्र के साथ नहीं पायी जाती, क्योंकि वह आपस्तम्ब कल्प का एक भाग था। टीकाकार हरदत्त ने, जिन्होंने गौतम एवं आपस्तम्ब दोनों की टीका की है और जो स्वयं एक बड़े वैयाकरण थे, स्थान-स्थान पर धर्मसूत्र के व्याकरण-सम्बन्धी दोषों की ओर संकेत किया है और पाणिनि के अनुसार चलने पर बल दिया है।[६१]

गौतमधर्मसूत्र में एक लम्बे साहित्य की ओर विस्तृत संकेत है। इसने वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों के अतिरिक्त निम्न ग्रन्थों की चर्चा की है--उपनिषद् (१९, १३), वेदांग (८.५ तथा ११.१९), इतिहास (८.६), पुराण (८.६ तथा ११.१९), उपवेद (११.१९), धर्मशास्त्र (११.१९)। इसने सामविधान-ब्राह्मण से उद्धरण लिया है। तैत्तिरीय आरण्यक से भी छः सूत्र ले लिये हैं। गौतम ने आन्वीक्षिकी (११.३) की ओर भी संकेत किया है। इसने ब्रह्महत्या, मदिरा-पान (सुरा-पान), गुरुशय्या-प्रयोग (गुरु-तल्प-गमन) नामक पापों के विषय में चर्चा करते हुए केवल मनु धर्माचार्य का नाम लिया है। गौतम ने इतस्ततः अन्य आचार्यों के कथनों का भी हवाला दिया है (यथा, ३. ३५, ४. १८)। 'एकेषाम्' (२८.१७ तथा ३८) एवं 'एके' (२.१५, ४० तथा ५६, ३.१, ४.१७, ७.२३ आदि) कहकर पूर्व आचार्यों की ओर भी संकेत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि गौतम के पूर्व धर्मशास्त्र के क्षेत्र में बहुत-से ग्रन्थ थे और उनकी पर्याप्त चर्चा थी। गौतम (११.२८) निरुक्त (११.३) की स्मृति भी करा देते हैं।[६२]

गौतम के विषय में सबसे प्राचीन संकेत बौधायनधर्मसूत्र में मिलता है। उत्तर या दक्षिण में किसी नियम की मान्यता के विषय में चर्चा करते हुए बौधायन ने गौतम का हवाला दिया है और कहा है कि नियम सबके लिए, चाहे वह उत्तर का हो या दक्षिण का हो, बराबर है (गौ० ध० सू० ११.२०)। एक स्थान पर यह कहते हुए कि 'यदि ब्राह्मण अध्यापन, यजमानी या दान से अपनी जीविका न चला सके तो वह क्षत्रिय की भाँति जीविकोपार्जन कर सकता है', बौधायन ने गौतम की विरोधी बात की ओर संकेत किया है।[६३] किन्तु आज का विद्यमान गौतमधर्मसूत्र बौधायन वाली ही बात मानता है।[६४] हो सकता है कि आज की प्रति में यह बात क्षेपक रूप में प्रविष्ट हो गयी हो।

६०. आक्रोशानृतहिंसासु त्रिरात्रं परमं तपः (२३.२७)।

६१. गौतमधर्मसूत्र में कई एक अपाणिनीय रूप पाये जाते हैं, यथा "द्वाविंशात्" के स्थान पर "द्वाविंशतेः" आया है (१.१४)।

६२. 'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्।' निरुक्त में आया है 'दण्डो ददतेः....दमनादित्यौपमन्यवः।'

६३. अध्यापनयाजनप्रतिग्रहैरशक्तः क्षत्रधर्मेण जीवेत्प्रत्यनन्तरत्वात्। नेति गौतमोऽत्युग्रो हि क्षत्रधर्मो ब्राह्मणस्य। बौ० ध० सू०, २. २. ६९, ७०।

६४. याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः सर्वेषाम्। पूर्वः पूर्वो गुरुः। तदलाभे क्षत्रवृत्तिः। तदलाभे वैश्यवृत्तिः। गौ० ध० सू०, ७.४-७।

बौधायन ने कुछ परिवर्तन करके गौतमधर्मसूत्र के उन्नीसवें अध्याय को, जिसमें प्रायश्चित्त के विषय में चर्चा है, सम्पूर्ण रूप में अपना लिया है। बौधायन एवं गौतम के बहुत-से सूत्र एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं, यथा गौतम, ३. २५-३४ एवं बौधायन, २.६.१७; गौ० ३.३ एवं २५ तथा बौ० २.६.२९ आदि।

वसिष्ठधर्मसूत्र ने भी गौतम को दो स्थानों (४.३४ एवं ३६) पर उद्धृत किया है। वसिष्ठ ने गौतम के उन्नीसवें अध्याय को अपना बाईसवाँ अध्याय बना लिया है। इतना ही नहीं, दोनों के बहुत-से सूत्र एक ही हैं, यथा गौतम, ३.३१-३३ एवं वसिष्ठ, ९. १-३; गौ० ३.२६ एवं वसिष्ठ ९.१० आदि। मनुस्मृति (३.१६) ने गौतम को उतथ्य का पुत्र कहा है। याज्ञवल्क्य ने भी उन्हें धर्मशास्त्रकारों में गिना है (१.५)। अपरार्क ने भविष्यपुराण से एक पद्य उद्धृत किया है जो गौतम के सुरापान-निषेध वाले सूत्र-सा ही है।[65] मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक (११.१४६ पर) ने गौतम के २३.२ को उसी पुराण में देखा है। तन्त्रवार्तिक के लेखक कुमारिल ने गौतम के लगभग एक दर्जन सूत्र उद्धृत किये हैं। शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र-भाष्य (३.१.८ एवं १.३.३८) में गौतम के ११.२९ तथा १२.४ वाले सूत्रों को उद्धृत किया है। याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने गौतम के बहुत-से सूत्रों की ओर संकेत किया है। मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि ने गौतम को अधिकांश में उद्धृत किया है (यथा मनु० के २.६, ८.१२५ आदि श्लोकों के भाष्य के सिलसिले में)।

उपर्युक्त विवेचन से हम गौतमधर्मसूत्र के प्रणयनकाल के निर्णय पर कुछ प्रकाश पा सकते हैं। गौतम सामविधान-ब्राह्मण के बहुत बाद आते हैं। वे यास्क के बाद के हैं और उनके समय में पाणिनि का व्याकरण या तो था ही नहीं और यदि था तो वह तब तक अपनी महत्ता नहीं स्थापित कर सका था। उनका [illegible] ग्रन्थ बौधायन एवं वसिष्ठ को ज्ञात था और सन् ७०० ईसापूर्व वह इसी रूप में था। गौतमधर्मसूत्र में (ब्राह्मणवाद पर) बुद्ध अथवा उनके अनुयायियों द्वारा किये गये धार्मिक आक्षेपों की ओर कोई संकेत नहीं मिलता। इन बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गौतमधर्मसूत्र ईसा पूर्व ४००-६०० के पहले ही प्रणीत हो चुका था।

हरदत्त ने मिताक्षरा नाम से गौतमधर्मसूत्र पर एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। इस विषय में ८६वें प्रकरण में पुनः कुछ कहा जायगा। उन्होंने इस धर्मसूत्र के अन्य भाष्यकारों की चर्चा की है। वामनपुत्र मस्करी ने भी इस पर भाष्य लिखा है। किन्तु काल-क्रम में ये हरदत्त के उपरान्त आते हैं। असहाय नामक एक अन्य टीकाकार हैं (देखिए प्रकरण ५९)।

मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि, माधव आदि ने किसी श्लोक-गौतम को भी उद्धृत किया है।[66] अपरार्क, हेमाद्रि तथा माधव ने वृद्ध-गौतम, तथा दत्तकमीमांसा (पृ० ७२) ने वृद्ध-गौतम तथा बृहद्-गौतम दोनों को एक ही संदर्भ में उद्धृत किया है। निस्संदेह ये 'गौतम' बहुत बाद के ग्रन्थ हैं। जीवानन्द ने वृद्ध-गौतम की स्मृति को २२ अध्यायों एवं १७०० पद्यों में प्रकाशित किया है (भाग १, पृ० ४९७-६३६), जहाँ यह लिखित है कि युधिष्ठिर ने कृष्ण से चारों जातियों के धर्मों के बारे में पूछा। वास्तव में, ये धर्मशास्त्र बाद के हैं, केवल 'गौतम' नाम आ जाने से किसी प्रकार की शंका करना व्यर्थ एवं निराधार है, क्योंकि गौतमधर्मसूत्र एवं इन गौतम नाम वाले ग्रन्थों में बहुत-से भेद हैं।

६५. प्रतिषेधः सुरापाने मद्यस्य च नराधिप। द्विजोत्तमानामेवोक्तः सततं गौतमादिभिः।। भविष्यत्पुराण, अपरार्क (पृष्ठ १०७६) द्वारा उद्धृत।

६६. देखिए, पराशर-माधवीय, जिल्द १, भाग १, पृ० ७।

६. बौधायनधर्मसूत्र[67]

बौधायन कृष्ण यजुर्वेद के आचार्य थे। बौधायनधर्मसूत्र ग्रन्थ पूर्ण रूप से अभी नहीं प्राप्त हो सका है। आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी की भाँति यह पूर्णरूपेण सुरक्षित नहीं रह सका है। डॉ० बर्नेल ने बौधायन के सूत्रों को छः प्रकरणों—श्रौतसूत्रों को १९ प्रश्नों में, कर्मान्तसूत्र को २० अध्यायों में, द्वैधसूत्र को चार प्रश्नों में, गृह्यसूत्र को चार प्रश्नों में, धर्मसूत्र को चार प्रश्नों में एवं शुल्वसूत्र को तीन अध्यायों में रखा है। इसी प्रकार डा० आर० शामशास्त्री, डा० कैलेण्ड आदि ने अपने अपने ढंग से इस धर्मसूत्र को गठित किया है। बौधायनगृह्यसूत्र ने स्वयं बौधायन के मत को उद्धृत किया है। बौधायनधर्मसूत्र ने बौधायनगृह्यसूत्र की चर्चा की है। बौधा० गृह्य० (३.९.६) में हमें पदकार आत्रेय, वृत्तिकार कौण्डिन्य, प्रवचनकार कण्व बोधायन तथा सूत्रकार आपस्तम्ब के नाम मिलते हैं।[68] बौधायनधर्मसूत्र में (२.५.२७, ऋषितर्पण) कण्व बोधायन, आपस्तम्ब सूत्रकार तथा सत्याषाढ हिरण्यकेशी क्रमशः आते हैं। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि जब बौधायनधर्मसूत्र लिखा गया तब कण्व बोधायन एक प्राचीन ऋषि माने जा चुके थे, और वे किसी भी प्रकार से गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र के लेखक नहीं माने जा सकते। हो सकता है कि बौधायन कण्व बोधायन के वंशज हों। गोविन्दस्वामी ने भी बौधायन को काण्वायन कहा है। धर्मसूत्र में कई बार बौधायन स्वयं एक प्रमाण माने गये हैं। स्पष्ट है, धर्मसूत्रकार बौधायन ने अपने पूर्वज को, जिनका नाम कण्व बोधायन था, कई बार उद्धृत किया है। बौधायनधर्मसूत्र की विषयसूची निम्न है।

प्रश्न १—(१) धर्म के उपादान, शिष्ट कौन है? परिषद्, उत्तर एवं दक्षिण भारत के विभिन्न आचार-व्यवहार, शिष्टों एवं मिश्रित जातियों के स्थान, मिश्रित जातियों में जाने के कारण प्रायश्चित्त; (२) ४८, २४ या १२ वर्षों का छात्रत्व, उपनयन एवं मेखला का काल, प्रत्येक जाति के लिए चर्म, दण्ड, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, ब्रह्मचर्य की प्रशंसा; (३) अध्ययन एवं उचिताचरण की परिसमाप्ति के उपरान्त अविवाहित स्नातक के कर्त्तव्य; (४) स्नातक के विषय में घड़े को ले जाने के बारे में आदेश; (५) शारीरिक एवं मानसिक अशौच, कतिपय पदार्थों का निर्मलीकरण या पवित्रीकरण, जन्म-मरण पर अपवित्रता (अशौच), सपिण्ड एवं सकुल्य का अर्थ, वसीयत के नियम, शव एवं रजस्वला स्त्री को छूने पर तथा कुत्ते के काटने पर पवित्रीकरण, कौन-से मांस या भोजन निषिद्ध हैं और कौन-से नहीं; (६) यज्ञ के लिए पवित्रीकरण, परिधान, भूमि, घास, ईंधन, बरतन तथा यज्ञ के अन्य पदार्थों का पवित्रीकरण; (७) यज्ञ-महत्ता के विषय में नियम, यज्ञ-पात्र, पुरोहित, याज्ञिक तथा उसकी स्त्री, घी, पक्वान्न-दान, अपराधी, सोम एवं अग्नि के विषय में नियम; (८) चारों वर्ण और उपजातियाँ; (९) मिश्रित जातियाँ; (१०) राजा के कर्तव्य, पंच महापातक एवं उनके लिए दण्ड-विधान, पक्षियों को मारने पर दण्ड, साक्षी; (११) अष्ट विवाह, छुट्टियाँ। प्रश्न २—(१) ब्रह्महत्या एवं अन्य पापों के लिए प्रायश्चित्त, ब्रह्मचर्य समाप्ति

६७. इस धर्मसूत्र का सम्पादन कई बार हुआ है—डा० हुल्श ने लिपजिग में सन् १८८४ में इसे प्रकाशित किया। आनन्दाश्रम स्मृति-संग्रह, मैसूर संस्करण सन् १९०७ में छपे, जिन पर गोविन्द स्वामी की टीका है। इसका अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका के साथ) सैक्रेड बुक आफ दि ईस्ट, जिल्द १४ में है।

६८. अथ दक्षिणतः प्राचीनावीतिने वैशम्पायनाय फलिङ्गवे तित्तिरये उखायात्रेयाय आत्रेयाय पदकाराय कौण्डिन्याय वृत्तिकाराय कण्वाय बोधायनाय प्रवचनकारायापस्तम्बाय सूत्रकाराय सत्याषाढाय हिरण्यकेशाय वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय भरद्वाजायाग्निवेश्यायाचार्येभ्य ऊर्ध्वरेतोभ्यो वानप्रस्थेभ्यो वंशस्थेभ्य एकपत्नीभ्यः कल्पयामीति।

पर ब्रह्मचारी के लिए सगोत्र कन्या से विवाह करने, ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित रहते स्वयं विवाह कर लेने पर प्रायश्चित्त, छोटे-छोटे पाप, पराक, कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र नामक व्रतों का वर्णन; (२) वसीयत का विभाजन, ज्येष्ठ पुत्र का भाग, औरस पुत्र के स्थान पर अन्य प्रति-व्यक्ति, वसीयत से निषेध, नारी की आश्रितता, पुरुषों एवं स्त्रियों द्वारा व्यभिचार किये जाने पर प्रायश्चित्त, नियोग-नियम, विपत्ति में जीविका के उपाय, अग्निहोत्र आदि गृहस्थ-कर्तव्य; (३) स्नान, आचमन, वैश्वदेव, भोजन-दान जैसे गृहस्थ-कर्तव्य; (४) सन्ध्या; (५) स्नान, आचमन, सूर्य-उपस्थान, देवों, ऋषियों, पितरों को तर्पण करने के नियम; (६) प्रतिदिन के पंच महायज्ञ, चारों जातियाँ एवं उनके कर्तव्य; (७) भोजन-नियम; (८) श्राद्ध; (९) पुत्रों एवं पुत्रों से उत्पन्न आध्यात्मिक लाभ की प्रशंसा; (१०) संन्यास के नियम। प्रश्न ३—(१) शालीन एवं यायावर नामक गृहस्थों की जीविका के उपाय; (२) 'षण्निवर्तनी' नामक वृत्ति के उपाय; (३) अरण्यवासी साधु के कर्तव्य एवं वृत्ति; (४) ब्रह्मचारी एवं गृहस्थ के नियमों के विरोध में जाने पर (पालन न करने पर) प्रायश्चित्त; (५) परम पवित्र अघमर्षण पढ़ने की पद्धति; (६) प्रसृतयावक का क्रिया-संस्कार; (७) कूष्माण्ड नामक शोधक होम; (८) चान्द्रायण व्रत; (९) बिना खाये वेदोच्चारण; (१०) पाप काटने के लिए पवित्रीकरण एवं अन्य पदार्थों के निर्मलीकरण के लिए सिद्धान्त। प्रश्न ४—(१) वर्जित भोजन खा लेने या वर्जित पेय पी लेने आदि पर प्रायश्चित्त; (२) कतिपय पापों के मोचन के लिए प्राणायाम एवं अघमर्षण; (३) गुप्त प्रायश्चित्त; (४) प्रायश्चित्तस्वरूप कतिपय वैदिक मन्त्र; (५) जप, होम, इष्टि एवं यन्त्र द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के साधन, कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, सान्तपन, पराक, चान्द्रायण नामक व्रत; (६) पवित्र मूल मंत्रों, इष्टियों का जप; (७) यन्त्र की प्रशंसा, होम में प्रयुक्त कतिपय वैदिक मंत्र; (८) लालायित सिद्धि के साधनों में लिप्त लोगों की भर्त्सना, कुछ विशिष्ट दशाओं में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उन पदार्थों की प्राप्ति की अनुज्ञा।

बौधायनधर्मसूत्र अपनी सम्पूर्णता के साथ आज उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः चौथा प्रश्न क्षेपक है। इसके आठ अध्यायों के अधिक अंश पद्य में हैं। शैली में भी भिन्नता है। इस धर्मसूत्र में बहुत-सी बातें बार-बार आयी हैं। तीसरे प्रश्न का दसवाँ अध्याय गौतमधर्मसूत्र से लिया गया है। इस प्रश्न का छठा अध्याय विष्णुधर्मसूत्र के अड़तालीसवें अध्याय से भाषा-सम्बन्धी बातों में बहुत मिलता है। बौधायनधर्मसूत्र रचना में कुछ शिथिल एवं आवश्यकता से अधिक विस्तृत है। स्वयं गोविन्दस्वामी ने इस ओर संकेत किया है। रचना-व्यवस्था में सतर्कता प्रदर्शित नहीं की गयी है। इसकी भाषा प्राचीन है।[६९]

बौधायन को निम्न ग्रन्थ ज्ञात थे—चारों वेद, यानी तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक-उपनिषद् समेत सभी वेदों की संहिताएँ, शतपथ ब्राह्मण आदि। उन्हें माल्लवी की गाथा से परिचय था, जिसमें आर्यावर्त की भौगोलिक सीमाएँ दी गयी थीं; इतिहास और पुराण का भी वर्णन आया है। छः वेदांगों की भी चर्चा पायी जाती है। बौधायन ने निम्नलिखित धर्मशास्त्रकारों के नाम लिये हैं—औपजंघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मनु, मौद्गल्य, हारीत। बौधायनधर्मसूत्र में बहुत-से धर्म-सम्बन्धी उद्धरण पाये जाते हैं, इससे सिद्ध है कि उसके पूर्व बहुत से ग्रन्थ विद्यमान थे।

बौधायन कहाँ के रहनेवाले थे? इसका उत्तर देना कठिन है। वर्तमान काल में बौधायनीय लोग अधिकतर दक्षिण भारत में ही पाये जाते हैं। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण बौधायनीय थे। किन्तु बौधायन ने

६९. ननु द्विजातिषु स्वकर्मस्थेषु इति सूत्रयितव्ये किमिति सूत्रद्वयारम्भः। सत्यम्, अयं ह्याचार्यो नातीव ग्रन्थलाघवाभिप्रायो भवति।

दक्षिणापथ के लोगों को मिश्रित जातियों में गिना है, अतः वे दक्षिणी नहीं हो सकते, क्योंकि वे अपने को नीच जाति में क्यों रखते ?

उपलब्ध बौधायनधर्मसूत्र गौतमधर्मसूत्र के बाद की कृति है, क्योंकि इसने दो बार गौतम का नाम लिया है और कम-से-कम एक स्थान पर उनके धर्मसूत्र से उद्धरण लिया है। गौतम ने केवल एक धर्मशास्त्राचार्य मनु का नाम लिया है, किन्तु बौधायन ने बहुतों का। बौधायन का समय उपनिषदों के बहुत बाद का है। उपनिषदों से उद्धरण लिये गये हैं, हारीत भी उद्धृत हुए हैं। बुहलर ने कहा है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र से बौधायनधर्मसूत्र एक या दो शताब्दी पुराना है। उनका तर्क यह है कि कण्व बोधायन तर्पण में आपस्तम्ब से एवं हिरण्यकेशी से पहले ही सम्मान पाते हैं, और यही बात बौधायनगृह्यसूत्र में भी है। किन्तु यह तर्क ठीक जँचता नहीं। यह बात ठीक है कि तीनों कृष्ण-यजुर्वेदीय शाखाओं में बौधायन सबसे प्राचीन हैं, किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि वर्तमान बौधायनियों का धर्मसूत्र आपस्तम्बियों से प्राचीन है। कुमारिल ने बौधायन को आपस्तम्ब से बाद का माना है। तीनों शाखाओं के संस्थापक बौधायन गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र में उल्लिखित हैं। हो सकता है कि दोनों को आपस्तम्ब के किसी ग्रन्थ का परिचय रहा हो और वह ग्रन्थ रहा हो आपस्तम्बधर्मसूत्र ही। बौधायन एवं आपस्तम्ब में बहुत-से सूत्र समान हैं, किन्तु तुलना करने पर पता चलता है कि आपस्तम्ब बौधायन से अपेक्षाकृत अधिक दृढ या अनतिक्रमणीय एवं कट्टर हैं (अतः बौधायनसूत्र बहुत बाद का है)। गौतम, बौधायन तथा वसिष्ठ ने कतिपय गौण पुत्रों की चर्चा की है, किन्तु आपस्तम्ब इस विषय में मौन हैं। गौतम बौधायन (२.२.१७, ६२), वसिष्ठ और यहाँ तक कि विष्णु ने नियोग के प्रचलन को माना है, किन्तु आपस्तम्ब ने इसकी भर्त्सना की है (२.६.१३, १-९)। गौतम एवं बौधायन (१.११.१) ने आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा की है, किन्तु आपस्तम्ब ने प्राजापत्य, एवं पैशाच (२.५.११.१७-२० एवं २.५.१२, १-२) को छोड़ दिया है। इसी प्रकार बहुत-सी बातों में आपस्तम्ब के नियम कठोर एवं कट्टर हैं। किन्तु इन बातों के आधार पर काल-निर्णय करना सरल नहीं है, क्योंकि प्राचीन काल के धर्मशास्त्रकारों में बहुत मतभेद था। कट्टरता केवल बाद में ही नहीं पायी गयी है, पहले भी ऐसी बात थी। इसी प्रकार बाद वाले धर्मशास्त्रकारों ने कट्टरता नहीं भी प्रदर्शित की है, यथा याज्ञवल्क्य ने नियोग-प्रथा को स्वीकार किया है (२.१३१)। अतः बुहलर के कथन को, कि आपस्तम्ब बौधायन से बाद का है, मानना युक्तिसंगत नहीं जँचता। बौधायन गौतम से बाद का ग्रन्थ है; इसमें सन्देह नहीं, किन्तु आपस्तम्ब से प्राचीन है; ऐसा नहीं कहा जा सकता। आपस्तम्ब में बौधायन की अपेक्षा भाषा-सम्बन्धी बहुत अन्तर है; पाणिनि के नियमों के विपरीत भी व्याकरण-व्यवहार है, रचना-गठन ऊबड़-खाबड़ है, पुराने अर्थ में शब्द-प्रयोग हैं। अस्तु, शबर के बहुत पहले से बौधायनधर्मसूत्र प्रमाण-स्वरूप माना जाता था। शबर का काल ५०० ई० है। बौधायन का काल ई० पू० २००-५०० के कहीं बीच में माना जाना चाहिए। बौधायन तथा आपस्तम्ब में बहुत-से सूत्र समान हैं, दोनों में वैदिक उद्धरण भी बहुधा समान हैं, किन्तु इससे दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार वसिष्ठधर्मसूत्र की बहुत-सी बातें बौधायन में ज्यों-की-त्यों पायी जाती हैं। मनुस्मृति में इस धर्मसूत्र की बातें पायी जाती हैं। इससे यह बात कही जा सकती है कि बौधायन, वसिष्ठ एवं मनु ने किसी एक ही ग्रन्थ से ये बातें ली हों या कालान्तर में इन ग्रन्थों में ये बातें क्षेपक रूप में आ गयी हों। किन्तु क्षेपक छोटा हुआ करता है और यहाँ जो बातें या उद्धरण सम्मिलित हैं, वे बहुत लम्बे-लम्बे हैं।

तर्पण वाले प्रकरण (५.२१) में बौधायन ने गणेश की कई उपाधियों की चर्चा की है, यथा विघ्न-विनायक, स्थूल, वरद, हस्तिमुख, वक्रतुण्ड, एकदन्त, लम्बोदर। किन्तु इससे इसकी तिथि पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। तर्पण (२.५.२३) में राहु एवं केतु के साथ अन्य सातों ग्रहों के नाम आये हैं। विष्णु के बारहों नाम भी

आये हैं (२.५.२४)। बौधायन ने अभिनेता तथा नाट्याचार्य के पेशे को उपपातक कहा है। बौधायनधर्मसूत्र के भाष्यकार हैं गोविन्दस्वामी, जिनकी टीका विद्वत्ता एवं तथ्य से पूर्ण है।

७. आपस्तम्ब का धर्मसूत्र

इस धर्मसूत्र के संस्करण कई बार निकले हैं, यथा हरदत्त की उज्ज्वला नामक टीका के बहुलांश के साथ बुहलर ने इसे बम्बई संस्कृतमाला के अन्तर्गत सम्पादित किया है। हरदत्त की सम्पूर्ण टीका के साथ कुम्भकोणम् में यह छपा है, जिसका भूमिकासहित अनुवाद बुहलर ने किया है।[७०] कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के आपस्तम्ब कल्पसूत्र में ३० प्रश्न हैं। आपस्तम्बीय श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्र एक ही व्यक्ति द्वारा प्रणीत हुए थे; यह कहना कठिन है। गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र सम्भवतः एक ही व्यक्ति द्वारा प्रणीत हुए हों, ऐसा रचना-सम्बन्धी समानता देखकर कहा जा सकता है। यह बात स्मृतिचन्द्रिका में भी आयी है (३, पृ० ४५८)।

आपस्तम्बधर्मसूत्र की विषय-सूची इस प्रकार है—प्रश्न १—वेद एवं धर्मज्ञों के आचार-व्यवहार धर्म के उपादान हैं; चारों वर्ण और उनका प्राथम्य; आचार्य की परिभाषा और उसकी महत्ता; वर्णों एवं इच्छा के अनुसार उपनयन का समय; उपनयन के उचित समय के अतिक्रमण पर प्रायश्चित्त; जिसके पिता, पितामह एवं प्रपितामह का उपनयन संस्कार नहीं हुआ रहता वह पतित हो जाता है, किन्तु प्रायश्चित्त से वह पवित्र हो सकता है; ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, उसका गुरु के साथ ४८, ३६, २४ या १२ वर्षों तक निवास; ब्रह्मचारी के आचरण के लिए नियम, उसका दण्ड, मेखला एवं परिधान, भोजन के लिए भिक्षा-नियम, समिधा लाना, अग्नि को समर्पित करना; ब्रह्मचारी के नियम उसके तप हैं; वर्णों के अनुसार गुरु तथा अन्य लोगों को प्रणाम करने की विधियाँ; विद्याध्ययनोपरान्त गुरु-दक्षिणा; स्नातक के लिए नियम; वेदाध्ययन के समय, स्थान एवं छुट्टियों के बारे में नियम; छुट्टियों के नियम वेदाध्ययन में प्रयुक्त होते हैं न कि वैदिक क्रिया-संस्कारों के मन्त्रों के प्रयोग में; भूतों, मनुष्यों, देवताओं, पितरों, ऋषियों, उच्च जाति के लोगों के सम्मान के लिए, वृद्ध पुरुषों, माता-पिता, भाइयों, बहिनों तथा अन्य लोगों के लिए प्रतिदिन के पाँच यज्ञ; वर्णों के अनुसार एक-दूसरे के स्वास्थ्य के बारे में पूछने की विधियाँ; यज्ञोपवीत पहनने के अवसर; आचमन का काल एवं ढंग; उचित एवं निषिद्ध भोज्य एवं पेय पदार्थों के बारे में नियम; विपत्ति-काल में ब्राह्मण की वैश्य-वृत्ति; कतिपय वस्तुओं के क्रय-विक्रय के निषेध के बारे में नियम; चोरी, ब्राह्मण या किसी की हत्या, भ्रूण-हत्या, व्यभिचार (मातृगमन, स्वसृगमन आदि), सुरापान आदि गम्भीर पाप (पतनीय), अन्य पाप उतने गम्भीर नहीं हैं, यद्यपि उनसे कर्ता अपवित्र हो ही जाता है; आत्मा, ब्रह्म, नैतिक प्रश्न-सम्बन्धी अपराध (जिनसे क्रोध, लोभ, कपट ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं) आदि आध्यात्मिक प्रश्नों का विवेचन; वे गुण जिनके द्वारा परम ध्येय की प्राप्ति होती है, यथा क्रोध-लोभादि से छुटकारा, सचाई, शान्ति की प्राप्ति; क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं नारी की हत्या का प्रतिकार; ब्रह्महत्या, आत्रेयी नारी-हत्या, गुरु या श्रोत्रिय की हत्या के लिए प्रायश्चित्त; गुरु-शय्या को अपवित्र करने, सुरापान, सोने की चोरी के लिए प्रायश्चित्त; कतिपय पक्षियों, गायों, बैलों को मारने पर, जिन्हें गाली नहीं देनी चाहिए उन्हें गाली देने पर, शूद्र नारी के साथ संभोग करने पर, निषिद्ध भोजन एवं पेय सेवन करने पर प्रायश्चित्त; बारह रातों तक कृच्छ्र के लिए नियम; चोरी क्या है, पतित गुरु एवं माता के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए; गुरु-शय्या अपवित्र करने पर प्रायश्चित्त के लिए कतिपय मत; पर-

७०. सैक्रेड बुक आफ दि ईस्ट (S. B. E.), जिल्द २।

नारी से सम्बन्ध रखने पर पति तथा पर-पुरुष से सम्बन्ध रखने पर पत्नी के लिए प्रायश्चित्त; भ्रूण (सूत्र-प्रवचन-पाठक ब्राह्मण) को मारने पर प्रायश्चित्त; अपने बचाव को छोड़कर ब्राह्मण अस्त्र-शस्त्र नहीं ग्रहण कर सकता; अभिशस्त (अपराधी) के लिए प्रायश्चित्त; छोटे-छोटे पापों के लिए प्रायश्चित्त; स्नातक (विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक) के बारे में कतिपय मत; परिधान-ग्रहण, मलमूत्र-त्याग, लांछनपूर्ण बातचीत, सूर्योदयास्त न देखने, क्रोधादि नैतिक दोषों से दूर रहने के सम्बन्ध में व्रत। (प्रश्न २--) पाणिग्रहण के उपरान्त गृहस्थ के व्रत आरम्भ होते हैं; भोजन-ग्रहण, उपवास, संभोग के विषय में गृहस्थाचरण के नियम; सभी वर्ण वाले अपने कर्मों एवं कर्तव्याचरण के अनुसार अपरिमित आनन्द या दुःख पाते हैं, यथा, एक ब्राह्मण चोरी एवं ब्रह्महत्या के कारण चाण्डाल हो जाता है, उसी प्रकार एक अपराधी क्षत्रिय (राजन्य) पौल्कस हो जाता है; स्नानोपरान्त तीनों उच्च जातियों को वैश्वदेव करना चाहिए; आर्यों की देखरेख में शूद्र लोग तीन ऊँची जातियों का भोजन पका सकते हैं; पक्वान्न की बलि; पहले अतिथि को, तब बच्चों, बुड्ढों, बीमारों, गर्भिणी स्त्रियों को भोजन देना चाहिए, उसके उपरान्त गृहस्थ स्वयं खाये; वैश्वदेव के अन्त में आनेवाले को भोजन अवश्य देना चाहिए; अपढ़ ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों को अतिथि रूप में ग्रहण करने के नियम; एक गृहस्थ को उत्तरीय ग्रहण करना चाहिए या उसका यज्ञोपवीत ही पर्याप्त है; ब्राह्मण-आचार्य के अभाव में एक ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य आचार्यों से अध्ययन कर सकता है; विवाहित पुरुष का गुरु के अतिथि रूप में आने पर कर्तव्य; गृहस्थ का पढ़ाने एवं अपने आचारों के सम्बन्ध में कर्तव्य; अतिथि की जाति एवं चरित्र के विषय में सन्देह उत्पन्न होने पर क्या करना चाहिए, अतिथि क्या है; अतिथि-सत्कार की प्रशंसा; अग्नि-प्रतिष्ठा करने पर तथा अतिथि के राजा के पास पहुँचने पर विधि; किसको और कब मधुपर्क देना चाहिए; वेदांगों के नाम; वैश्वदेव के उपरान्त कुत्तों एवं चाण्डालों तक सबको भोजन देना चाहिए; सभी दान जल के साथ देने चाहिए; नौकर-चाकरों, दासों के बल पर ही दानादि नहीं करना चाहिए; अपने को, अपनी पत्नी या बच्चों को कष्ट हो जाय, किन्तु नौकरों को नहीं; ब्रह्मचारी, गृहस्थ, साधु आदि को कितना भोजन करना चाहिए; आचार्य, विवाह, यज्ञ, माता-पिता के भरण-पोषण के लिए, अग्निहोत्र ऐसे अच्छे तप बन्द न हो जायँ, इसके लिए भीख माँगने की व्यवस्था; ब्राह्मणों एवं अन्य जातियों के विशेष कर्म; युद्ध के नियम; राजा ऐसे पुरोहित को नियुक्त करे जो धर्म, शासन-कला, दण्ड देने एवं व्रत करने में प्रवीण हो; अपराधानुसार मृत्यु तथा अन्य दण्ड का विधान, किन्तु ब्राह्मण न मारा जा सकता था, न घायल किया जा सकता था और न दास बनाया जा सकता था; मार्ग-नियम; धर्मरत क्रमशः उठता हुआ उत्तम जाति को तथा अ[illegible] क्रमशः गिरता हुआ नीच जाति को प्राप्त होता है; जब तक बच्चे हों और पत्नी धर्मकार्य में रत हो, दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए, विवाह-योग्य लड़की के विषय में नियम, यथा वह सगोत्र एवं माता की सपिण्ड न हो; छः प्रकार के विवाह—ब्राह्म, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर एवं राक्षस; छहों में किनको कितना मान देना चाहिए; विवाहोपरान्त आचरण-नियम; अपनी ही जाति की पत्नी से उत्पन्न पुत्र पिता की जाति के योग्य कर्तव्य कर सकते हैं और पिता की सम्पत्ति पा सकते हैं; वह लड़का, जो एक बार पहले विवाहित हो चुका हो, अथवा जिसका विवाह विधि के अनुकूल न हुआ हो, अथवा जो विजातीय हो, भर्त्सना के योग्य है; क्या लड़का औरस है, बच्चे का दान या क्रय नहीं हो सकता; पिता के जीते-जी सम्पत्ति-विभाजन, बराबर विभाजन; नपुंसक, पागल एवं पापियों का वसीयत में निषेध; पुत्राभाव में वसीयत निकट सपिण्ड को मिलती है, उसके बाद आचार्य को और तब शिष्य या पुत्री को और अन्त में राजा को प्राप्त होती है। ज्येष्ठ पुत्र को अधिक भाग मिलना चाहिए, ऐसा मत वेदों को मान्य नहीं है; पति-पत्नी में विभाजन नहीं, वेद-विरुद्ध देशों एवं वंशों के व्यवहार-प्रयोग मान्य नहीं; सम्बन्धियों, सजातियों आदि की मृत्यु पर अशौच; उचित समय तथा स्थान में सुपात्र को दान देना चाहिए; श्राद्ध, श्राद्ध का काल; चारों आश्रम; परिव्राजक

अर्थात् संन्यासी के नियम; अरण्यसेवी साधु के कर्तव्य; गुणियों की प्रशंसा एवं दुराचारियों की भर्त्सना; राजाओं के लिए विशिष्ट नियम; राजा की राजधानी एवं राजप्रासाद की नींव; सभा की स्थिति; तस्करों (चोरों) का विनाश; ब्राह्मणों को भूमि एवं धन का दान; जनता की रक्षा; ऐसे व्यक्ति जिन्हें कर से छुटकारा मिला है; व्यभिचार के लिए नवयुवकों को दण्ड; नारी को अपमानित करने पर दण्ड, इस विषय में आर्य एवं शूद्र नारी दोनों के अपमान में अन्तर; अपशब्द एवं नर-वध के लिए दण्ड; कतिपय आचरण-भंग के लिए दण्ड; चरवाहे एवं स्वामी के बीच झगड़ा; झगड़ा करनेवाला, प्रोत्साहक तथा वह जो इस कर्म का अनुमोदन करता है, अपराधी हैं; झगड़ा कौन तय करता है; सन्देह की स्थिति में निर्णय अनुमान द्वारा या दिव्य साक्षी द्वारा होता है; झूठी गवाही पर दण्ड; अन्य शेष धर्मों का अध्ययन (कुछ लोगों के मत से) स्त्रियों तथा सभी जातियों के लोगों से करना चाहिए।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के दो प्रश्नों में प्रत्येक ग्यारह पटलों में विभाजित है। दोनों पटलों में क्रमशः ३२ और २९ कण्डिकाएँ हैं। आज जितने भी धर्मसूत्र विद्यमान हैं, उनमें आपस्तम्ब अपेक्षाकृत अधिक संक्षिप्त एवं सुसंगठित शैली में है, और इसकी भाषा अधिक प्राचीन (आर्ष) एवं पाणिनि के नियमों से दूर है। यद्यपि यह धर्मसूत्र अधिकतर गद्य में है, किन्तु यतस्ततः पद्य भी पाये जाते हैं। 'उदाहरन्ति' या 'अथाप्युदाहरन्ति' शब्दों द्वारा आपस्तम्ब ने अन्य उपादानों से भी श्लोक आदि ग्रहण कर लिये हैं। कुल मिलाकर २० श्लोक हैं, जिनमें कम से कम छः बौधायन में भी आये हैं।

आपस्तम्ब ने संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मणों से भी उद्धरण लिये हैं (यथा १.१.१.१०-११, १.१.३.९, १.१.३.२६, १.२.७.७, १.२, ७.११, १.३.१०.८)। तैत्तिरीयारण्यक से भी उद्धरण लिया गया है। छः वेदांगों के नाम भी आये हैं—छन्द, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा के साथ-साथ छन्दोविचिति की भी चर्चा है। सम्भवतः शिक्षा को व्याकरण के साथ मिला दिया गया है। आपस्तम्ब ने दस धर्माचार्यों के नाम गिनाये हैं, यथा एक, कण्व, काण्व, कुणिक, कुत्स, कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यायणि, श्वेतकेतु एवं हारीत। कौत्स, वार्ष्यायणि तथा पुष्करसादि के नाम निरुक्त में भी आये हैं। धर्माचार्य श्वेतकेतु उपनिषद् (छान्दोग्योपनिषद्) वाले श्वेतकेतु नहीं हैं। हारीत की चर्चा बौधायन एवं वसिष्ठ ने भी की है। यद्यपि आपस्तम्ब ने गौतमधर्मसूत्र को उद्धृत नहीं किया है, तथापि वह ग्रन्थ उनकी आँखों के समक्ष अवश्य था। आपस्तम्ब ने भविष्यत्पुराण के मत की चर्चा की है (खण्ड-प्रलय के उपरान्त विश्व-सृष्टि)। एक स्थान पर (२.११.२९.११-१२) आपस्तम्ब ने कहा है कि वह ज्ञान, जो परम्परा से स्त्रियों एवं शूद्रों में पाया जाता है, विद्या की सबसे दूर की सीमा है; यह अथर्ववेद का पूरक है। सम्भवतः आपस्तम्ब ने यहाँ पर अर्थशास्त्र की ओर संकेत किया है, जो 'चरणव्यूह' के अनुसार अथर्ववेद का उपवेद है। आपस्तम्ब ने मनु को श्राद्ध की परम्परा का संस्थापक माना है। किन्तु यहाँ के मनु मनुस्मृति के प्रणेता मनु न होकर मानवों के पूर्वज कुलपुरुष मनु हैं। आपस्तम्ब ने महाभारत के अनुशासनपर्व का एक श्लोक (९०-४६) उद्धृत किया है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र का पूर्वमीमांसा से एक विचित्र सम्बन्ध है। मीमांसा के बहुत-से पारिभाषिक शब्द एवं सिद्धान्त इस धर्मसूत्र में पाये जाते हैं। इससे पता चलता है कि आपस्तम्ब को मीमांसासूत्र का पता था या मीमांसासूत्र की किसी प्राचीन प्रति में इस सूत्र की उद्धृत बातें ज्यों-की-त्यों थीं। आपस्तम्बधर्मसूत्र में पूर्वमीमांसा की उद्धृत बातें क्षेपक नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनकी व्याख्या हरदत्त ने कर दी है।

बहुत प्राचीन काल से आपस्तम्बधर्मसूत्र को प्रमाण रूप में माना जाता रहा है। जैमिनिसूत्रों के भाष्य में शबर ने आपस्तम्ब को उद्धृत किया है। तन्त्रवार्तिक ने इसके कतिपय सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। ब्रह्मसूत्र (४.२.१४) के भाष्य में शंकराचार्य ने आपस्तम्ब (१.७.२०.३) को उद्धृत किया है। शंकराचार्य

ने बृहदारण्यक के भाष्य में भी ऐसा किया है। उन्होंने स्वयं आपस्तम्ब के दोनों पटलों की अध्यात्म-सम्बन्धी बातों की आलोचना की है। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य की टीका में आपस्तम्ब को लगभग बीस बार उद्धृत किया है। मेधातिथि ने मनु की टीका में आपस्तम्ब की कई बार चर्चा की है। मिताक्षरा में इसके कई एक उद्धरण हैं। अपरार्क में लगभग २०० सूत्र उद्धृत हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शबर के काल (कम-से-कम ५०० ई० सन्) से लेकर ११०० ई० तक कतिपय ग्रन्थकारों ने आपस्तम्ब को प्रमाण माना है।

आपस्तम्ब के निवास-स्थान एवं जीवन-इतिहास के विषय में कुछ भी नहीं ज्ञात है। आपस्तम्ब आर्ष नाम नहीं है। यह वेद में नहीं मिलता। पाणिनि (४.१.१०४) के 'बिदादि' गण में यह शब्द आता है। उन्होंने अपने को अवर अर्थात् बाद में आने वाला कहा है। तर्पण में उनका नाम अधिकतर बौधायन के उपरान्त एवं सत्याषाढ हिरण्यकेशी के पहले आता है। एक स्थान पर 'उदीच्यों' की एक विलक्षण श्राद्ध-परम्परा की चर्चा है (२.७.१७.१७)। क्या यह उनके निवासस्थान का सूचक है? हरदत्त के अनुसार शरावती के उत्तर के देश को 'उदीच्य' कहते हैं, किन्तु महार्णव के अनुसार नर्मदा के दक्षिण-पूर्व आपस्तम्बीय लोग पाये जाते थे, और यह दक्षिण-पूर्व स्थान आन्ध्र प्रदेश में गोदावरी का मुख है। पल्लवों ने आपस्तम्बियों को भूमिदान दिया है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र का काल अनुमान के सहारे ही निश्चित किया जा सकता है। सम्भवतः यह गौतम-धर्मसूत्र एवं बौधायनधर्मसूत्र से बाद का है और ५०० ई० सन् के पूर्व यह प्रमाण रूप में ग्रहण कर लिया गया था। याज्ञवल्क्य एवं शंख-लिखित ने आपस्तम्ब को धर्मशास्त्रकार कहा है। शैली और अपाणिनीय प्रयोग होने के नाते इस धर्मसूत्र का काल प्राचीन होना चाहिए। इसमें बौद्धधर्म अथवा किसी भी विरोधी सम्प्रदाय की कोई चर्चा नहीं पायी जाती। श्वेतकेतु से आपस्तम्ब बहुत दूर नहीं झलकते। सम्भवतः जिन दिनों जैमिनि ने अपनी शाखा चलायी उन्हीं दिनों इनके धर्मसूत्र का प्रणयन हुआ। तो, इनके काल को हम ६००-३०० ई० पू० के मध्य में कहीं रखें तो असंगत न होगा।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के व्याख्याकार हैं हरदत्त, जिनकी व्याख्या का नाम है उज्ज्वला वृत्ति। इसका वर्णन हम ८६वें प्रकरण में करेंगे। अपरार्क, हरदत्त, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में आपस्तम्ब के बहुत-से उद्धरण हैं।

८. हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र

हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र हिरण्यकेशि-कल्प का २६वाँ एवं २७वाँ प्रश्न है। श्रौतसूत्र का प्रकाशन पूना के आनन्दाश्रम ने किया है। डा० किर्स्ते (वियेना, १८८९ ई०) ने मातृदत्त के भाष्य के आधार पर हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र का सम्पादन किया है। हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र को एक स्वतन्त्र रचना कहना जँचता नहीं, क्योंकि इसके सैकड़ों सूत्र ज्यों-के-ज्यों आपस्तम्ब-धर्मसूत्र से ले लिये गये हैं। अतः आपस्तम्बधर्मसूत्र का सबसे प्राचीन प्रमाण हिरण्य-केशिधर्मसूत्र है, जिसने सबसे पहले उसके उद्धरण लिये। हिरण्यकेशियों का सम्बन्ध तैत्तिरीय शाखा के खाण्डिकेय भाग के चरण से है। इनकी शाखा आपस्तम्बीय शाखा के बाद की है। कोंगू राजाओं के एक दानपत्र (४५४ ई०) में हिरण्यकेशि-शाखा के ब्राह्मणों की चर्चा है। चरणव्यूह के भाष्य में उद्धृत महार्णव के अनुसार हिरण्यकेशी लोग सह्य पर्वत तथा परशुराम क्षेत्र (अर्थात् कोंकण) के निकट के समुद्रतट से दक्षिण-पश्चिम दिशा में पाये जाते थे। आज के रत्नागिरि जिले के बहुत-से ब्राह्मण अपने को हिरण्यकेशी कहते हैं।

महादेव दीक्षित की व्याख्या, जिसका नाम उज्ज्वला है, हरदत्त की उज्ज्वला से सब प्रकार से मिलती है। किसी एक ने दूसरे से ज्यों-का-त्यों ले लिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। लगता है, महादेव दीक्षित से हरदत्त ने बहुत कुछ उधार ले लिया है, क्योंकि महादेव में हरदत्त की अपेक्षा और भी बहुत कुछ है। हरदत्त में महादेव प्राचीन

ठहरते हैं, क्योंकि हरदत्त ने अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में गणेश की स्तुति के उपरान्त महादेव की स्तुति की है। हो सकता है कि महादेव या तो हरदत्त के आचार्य थे, या उनके पिता थे; या वे केवल महादेव (शंकर) के रूप में ही माने गये हों। हरदत्त की उज्ज्वला में स्मृतियों से उद्धरण कम आये हैं, बल्कि गौतमधर्मसूत्र से अपेक्षाकृत अधिक आये हैं।

९. वसिष्ठधर्मसूत्र

इस धर्मसूत्र का प्रकाशन कई बार हुआ है। जीवानन्द के संग्रह में केवल २० अध्याय तथा २१वें अध्याय का कुछ अंश है। यही बात श्री एम० एन० दत्त (कलकत्ता १९०८) के संग्रह में भी है। किन्तु आनन्दाश्रम स्मृति-संग्रह (१९०५ ई०) तथा डा० फुहरर के संस्करण में ३० अध्याय हैं। डा० जॉली का कहना है कि कुछ हस्तलिखित प्रतियों में केवल ६ या १० अध्याय हैं। विद्वन्मोदिनी नामक व्याख्या के साथ वसिष्ठधर्मसूत्र का प्रकाशन काशी से भी हुआ है।

कुमारिल के मतानुसार वसिष्ठधर्मसूत्र का अध्ययन विशेषतः ऋग्वेद के विद्यार्थी किया करते थे, किन्तु अन्य चरणों के लिए भी यह धर्मसूत्र प्रमाण था। इस धर्मसूत्र के श्रौत एवं गृह्यसूत्र नहीं प्राप्त होते। ऋग्वेद के केवल आश्वलायन श्रौत एवं गृह्यसूत्र मिलते हैं। तो क्या वसिष्ठधर्मसूत्र उसके कल्प की पूर्ति है? इस धर्मसूत्र में सभी वेदों के उद्धरण मिलते हैं और केवल 'वसिष्ठ' नाम की कोई भी विशिष्ट बात नहीं पायी जाती कि इसे हम ऋग्वेद से सम्बन्धित समझें।

इस धर्मसूत्र की विषय-सूची निम्नलिखित है--(१) धर्म की परिभाषा, आर्यावर्त की सीमाएँ, पापी कौन हैं, नैतिक पाप, एक ब्राह्मण किन्हीं भी तीन उच्च जातियों की कन्या से विवाह कर सकता है, छः प्रकार के विवाह, राजा प्रजा के आचार को संयमित करनेवाला है तथा धन-सम्पत्ति का षष्ठांश कर के रूप में ले सकता है; (२) चारों वर्ण, आचार्य-महत्ता, उपनयन के पूर्व धार्मिक क्रिया-संस्कारों के लिए कोई प्रमाण नहीं है, चारों जातियों के विशेषाधिकार एवं कर्तव्य, विपत्ति में ब्राह्मण लोग क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति कर सकते हैं, ब्राह्मण कुछ विशिष्ट वस्तुओं का विक्रय नहीं कर सकते, ब्याज लेना निषिद्ध है, ब्याज की दर; (३) अपढ़ ब्राह्मण की भर्त्सना, धन-सम्पत्ति की प्राप्ति पर नियम, कौन-कौन आततायी हैं, आत्म-रक्षा में वे कब मारे जा सकते हैं, पंक्तिपावन लोग कौन हैं, परिषद का विधान, आचमन, शौच एवं विभिन्न पदार्थों के पवित्रीकरण की विधियाँ; (४) चारों वर्णों का निर्माण जन्म एवं संस्कार-कर्म पर आधारित है, सभी जातियों के साधारण कर्तव्य, अतिथि-सत्कार, मधुपर्क, जन्म-मरण पर अशौच; (५) स्त्रियों की आश्रितता, रजस्वला नारी के आचार-नियम; (६) अत्युत्तम धर्म ही व्यवहार है, आचार-प्रशंसा, मलमूत्र-त्याग के नियम, ब्राह्मण की नैतिक विशेषताएँ एवं शूद्र की विलक्षण विशेषताएँ, शूद्रों के घर में भोजन करने पर भर्त्सना, सौजन्य एवं अच्छे कुल के नियम; (७) चारों आश्रम तथा विद्यार्थी-कर्तव्य; (८) गृहस्थ-कर्तव्य, अतिथि-सत्कार; (९) अरण्य के साधुओं के कर्तव्य-नियम; (१०) संन्यासियों के लिए नियम; (११) विशिष्ट आदर पानेवाले छः प्रकार के व्यक्ति--यज्ञ के पुरोहित, दामाद, राजा, मातुल एवं पितृकुल (चाचा) तथा स्नातक, पहले किसको भोजन दिया जाय, अतिथि, श्राद्ध-नियम, इसका काल, इसके लिए निमन्त्रित ब्राह्मण, अग्निहोत्र, उपनयन, इसका उचित समय, दण्ड, मेखला आदि के नियम, भिक्षा माँगने की विधि, उपनयनरहित लोगों के लिए प्रायश्चित्त; (१२) स्नातक के लिए आचार-नियम; (१३) वेदाध्ययन प्रारम्भ करने के नियम, वेदाध्ययन की छुट्टियों के नियम, गुरु एवं अन्यों के चरणों पर गिरने के नियम, विद्या, धन, अवस्था, सम्बन्ध, पेशे के अनुसार क्रमशः आदर देने के नियम, मार्ग के नियम; (१४) वर्जित एवं अवर्जित भोजन

के नियम, कुछ विशिष्ट पक्षियों एवं पशुओं के मांस के बारे में नियम; (१५) गोद लेने का नियम, उनके लिए नियम जो वेदों की भर्त्सना करते हैं या शूद्रों का यज्ञ कराते हैं, अन्य पापों के लिए नियम; (१६) न्याय-शासन के बारे में, राजा नाबालिगों का अभिभावक, तीन प्रकार के प्रमाण, यथा कागद-पत्र, साक्षियाँ, अधिकार, प्रतिकूल अधिकार एवं राजा के मतदाता, साक्षियों की पात्रता, कुछ मामलों में मिथ्याभाषण का मार्जन; (१७) औरस पुत्र की प्रशंसा, क्षेत्रज पुत्र के विषय में विरोधी मत—क्या वह अपने पिता का पुत्र है या अपनी माता के पूर्व पति का पुत्र है, बारहों प्रकार के पुत्र, भाइयों में धन-सम्पत्ति-विभाजन, विभाजन-भाग से हटाने के कारण, नियोग के नियम, युवती किन्तु अविवाहित कन्या के बारे में नियम, वसीयत के बारे में नियम, राजा अन्तिम उत्तराधिकारी है; (१८) प्रतिलोम जातियाँ, यथा चाण्डाल, शूद्रों के लिए या उनके सामने वेदाध्ययन की मनाही है; (१९) रक्षण करना एवं दण्ड देना राजा का कर्तव्य, पुरोहित की महत्ता; (२०) जाने एवं अनजाने किये हुए कर्मों के लिए प्रायश्चित्त; (२१) शूद्र के व्यभिचार के लिए प्रायश्चित्त, ब्राह्मण-स्त्री के साथ व्यभिचार करने तथा गो-हत्या के लिए प्रायश्चित्त; (२२) वर्जित भोजन करने पर प्रायश्चित्त तथा इन पापों से मुक्त होने के लिए पवित्र मूल-ग्रन्थ या मन्त्र; (२३) संभोग एवं सुरापान करने पर ब्रह्मचारी के प्रायश्चित्त; (२४) कृच्छ्र एवं अति-कृच्छ्र; (२५) गुप्त व्रत एवं हलके-फुलके पापों के लिए व्रत; (२६) एवं (२७) प्राणायाम के गुण, पवित्रीकरण के लिए गायत्री के वैदिक सूक्त; (२८) नारी-प्रशंसा, अघमर्षण एवं दान-सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों की प्रशंसा; (२९) दान-पुरस्कार, ब्रह्मचर्य, तप आदि; (३०) धर्म-प्रशंसा, सत्य एवं ब्राह्मण।

ऊपर जितने धर्मसूत्रों का वर्णन हो चुका है, उनसे वसिष्ठधर्मसूत्र बहुत कुछ मिलता है। विषय-सूची में कोई अन्तर नहीं है और न शैली में ही, क्योंकि यह भी गद्य में है और यत्र-तत्र इसमें भी पद्य मिलते हैं। इसकी शैली गौतमधर्मसूत्र से बहुत मिलती है और उस सूत्र से इसमें बहुत कुछ लिया गया है। बौधायनधर्मसूत्र का भी यह ऋणी है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस धर्मसूत्र के अध्यायों के विषय में बड़ा मतभेद है; ६ अ० से लेकर ३० अध्यायों में यह प्रकाशित है। इस बात से इस धर्मसूत्र की प्रमाणयुक्तता पर सन्देह किया जाता है। इसमें कुछ ऐसे भी पद्य हैं, जिनके कारण यह बहुत बाद का कहा जा सकता है। इसमें कुछ क्षेपक भी हैं, किन्तु वे बहुत पहले आ चुके थे, क्योंकि इसके बहुत-से उद्धरण प्राचीन टीकाओं में मिल जाते हैं, यथा मिताक्षरा में।

वसिष्ठधर्मसूत्र में ऋग्वेद एवं वैदिक संहिताओं से उद्धरण लिये गये हैं। ब्राह्मणों में ऐतरेय एवं शतपथ अधिकतर संकेतित हुए हैं। वाजसनेयक एवं काठक के नाम तक आये हैं। आरण्यकों, उपनिषदों एवं वेदांगों के उद्धरण आये हैं। इतिहास एवं पुराण की भी चर्चा हुई है। इस धर्मसूत्र में व्याकरण, मुहूर्त, भविष्यवाणी, फलित ज्योतिष, नक्षत्र-विद्या का वर्णन भी आया है। इस धर्मसूत्र ने अन्य धर्मशास्त्रकारों के ग्रन्थों एवं लेखकों की ओर संकेत किया है। मनु से भी बहुत बातें ली गयी हैं या नहीं, इस पर विवेचन मनुस्मृति वाले प्रकरण में होगा।

बुहलर के मतानुसार वसिष्ठधर्मसूत्र के माननेवालों की शाखा के लोग नर्मदा के उत्तर में थे। किन्तु यह बात अनिश्चित है, क्योंकि अभी यही नहीं तय हो सका है कि यह धर्मसूत्र किसी शाखा से सम्बन्धित है।

मनु ने सबसे पहले इस धर्मसूत्र को धर्म-प्रमाण माना है। जब मनु ने इसे प्रमाण माना है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि इस धर्मसूत्र ने मनुस्मृति से उद्धरण लिया है? हो सकता है कि दोनों का कालान्तर में संशोधन हुआ और इसकी बातें उसमें और उसकी बातें इसमें चली आयी हैं। तन्त्रवार्तिक ने कहा है कि इस धर्मसूत्र को ऋग्वेदी लोग पढ़ते थे। विश्वरूप, मेधातिथि तथा अन्य व्याख्याकारों ने इसकी चर्चा की है और इसे उद्धृत किया है। तीवरदेव के रागिम ताम्रपत्र में इस धर्मसूत्र का उद्धरण है। इस ताम्रपत्र का समय है आठवीं शताब्दी का अन्तिम चरण। ईसा की प्रथम शताब्दियों में यह धर्मसूत्र उपस्थित था ही, अन्य ग्रन्थकारों ने सातवीं

शताब्दी के उपरान्त भी इसकी ओर संकेत किया है। यह धर्मसूत्र गौतम, आपस्तम्ब एवं बौधायन से बाद का है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यदि इसे ईसापूर्व ३००-१०० के मध्य में रखा जाय तो असंगत न होगा।

याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका में विश्वरूप ने वृद्ध-वसिष्ठ के मत दिये हैं (याज्ञ० १.१९)। मिताक्षरा (याज्ञ० २.९१) ने वृद्ध-वसिष्ठ से जयपत्र की परिभाषा को उद्धृत किया है। इसी प्रकार स्मृतिचन्द्रिका ने वृद्ध-वसिष्ठ का हवाला 'आह्निक' एवं 'श्राद्ध' के विषय में दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने अपने चतुर्विंशतिमत (पृ० १२) की टीका में वृद्ध-वसिष्ठ से उद्धरण लिया है। इन बातों से पता चलता है कि वृद्ध-वसिष्ठ नाम के कोई प्राचीन धर्माचार्य थे। मिताक्षरा ने एक बृहद्-वसिष्ठ की भी चर्चा की है। स्मृतिचन्द्रिका (३, पृ० ३००) ने ज्योतिर्वसिष्ठ से उद्धरण लिये हैं। बौधायनधर्मसूत्र के टीकाकार गोविन्दस्वामी से पता चलता है (२.२.५) कि वसिष्ठधर्मसूत्र के टीकाकार यज्ञस्वामी थे।

१०. विष्णुधर्मसूत्र

इस धर्मसूत्र का प्रकाशन भारत में कई बार हुआ है। जीवानन्द द्वारा 'धर्मशास्त्रसंग्रह' में (१८७६ ई०), बंगाल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा (१८८१ ई०), वैजयन्ती टीका के कुछ उद्धरणों के साथ (डा० जाली द्वारा सम्पादित) श्री एम० एन० दत्त द्वारा (१९०९)। इस सूत्र में १०० अध्याय हैं, किन्तु सूत्र छोटे-छोटे नहीं हैं। प्रथम एवं अन्तिम दो अध्याय पूर्णतया पद्यबद्ध हैं, किन्तु अन्य अध्याय या तो गद्य में या गद्य-पद्य मिश्रित रूप में हैं। वैजयन्ती टीका के अनुसार कठ नामक यजुर्वेदीय शाखा से इसका सम्बन्ध है। 'श्राद्धकल्प' उर्फ 'पितृभक्ति-तरंगिणी' में वाचस्पति ने कहा है कि विष्णुधर्मसूत्र कठ शाखा के विद्यार्थियों के लिए है, क्योंकि विष्णु उस शाखा के सूत्रकार हैं। विद्यमान मनुस्मृति से इसका एक विचित्र सम्बन्ध है। चरणव्यूह के अनुसार कठ एवं चारायणीय यजुर्वेदीय चरकशाखा के १२ उपविभागों में दो विभाग हैं।

विष्णुधर्मसूत्र की विषय-सूची निम्नलिखित है—(१) कूर्म द्वारा समुद्र से पृथिवी को उठाना, कश्यप के यहाँ इसलिए जाना कि उनके उपरान्त पृथिवी को कौन सँभालेगा, तब विष्णु के पास जाना और उनका कहना कि जो वर्णाश्रम धर्म का परिपालन करेंगे वे ही पृथिवी को धारण करेंगे, उस पर पृथिवी ने परम देवता को उनके कर्तव्य बताने के लिए प्रेरित किया; (२) चारों वर्ण एवं उनके धर्म; (३) राजधर्म; (४) कार्षापण एवं अन्य छोटे बटखरे; (५) कतिपय अपराधों के लिए दण्ड; (६) महाजन (ऋण देनेवाला) एवं उधार लेनेवाला, ब्याज-दर, बन्धक; (७) तीन प्रकार के लेखपत्र या लेखप्रमाण; (८) साक्षियाँ; (९) दिव्य (परीक्षा) के बारे में सामान्य नियम; (१०-१४) तुला, अग्नि, जल, विष, पूत जल (कोश) नामक दिव्य (परीक्षा); (१५) बारहों प्रकार के पुत्र, वसीयत का निषेध, पुत्र-प्रशंसा; (१६) मिश्रित विवाह से उत्पन्न पुत्र तथा मिश्रित जातियाँ; (१७) बटवारा, संयुक्त परिवार तथा पुत्रहीन की वसीयत के नियम, पुनर्मिलन, स्त्रीधन; (१८) विभिन्न जातियों वाली पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों में बँटवारा; (१९) शव को ले जाना, मृत्यु पर अशौच, ब्राह्मण-प्रशंसा; (२०) चारों युगों, मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प की अवधि, मरनेवाले के लिए अधिक न रोने का उपदेश; (२१) विलाप के बाद क्रिया-संस्कार, मासिक श्राद्ध, सपिण्डीकरण; (२२) सपिण्डों के लिए अशौच की अवधि, विलाप के लिए नियम, जन्म पर अशौच, कतिपय व्यक्तियों एवं पदार्थों के स्पर्श से उत्पन्न अशौच के नियम; (२३) अपने शरीर एवं अन्य पदार्थों का पवित्रीकरण; (२४) विवाह, विवाह-प्रकार, अन्तर्विवाह, विवाह के लिए अभिभावक; (२५) स्त्री-धर्म; (२६) विभिन्न जातियों की पत्नियों में प्रमुखता; (२७) संस्कार, गर्भाधान आदि; (२८) ब्रह्मचारी के नियम; (२९) आचार्य-स्तुति; (३०) वेदाध्ययन-काल एवं छुट्टियाँ; (३१) पिता, माता एवं आचार्य अधिक-

तम श्रद्धास्पद हैं; (३२) सत्कार पानेवाले अन्य व्यक्ति, (३३) पाप के तीन कारण—कामविकार, क्रोध एवं लोभ; (३४) अतिपातकों के प्रकार; (३५) पंच महापातक; (३६) महापातकों के समान अन्य भयंकर उपपातक; (३७) कतिपय उपपातक; (३८-४२) अन्य हलके-फुलके पाप; (४३) २१ प्रकार के नरक एवं भाँति-भाँति के पापियों के लिए नरक-कष्ट की अवधि; (४४) कतिपय पापों के कारण-स्वरूप कतिपय हीन जन्म; (४५) पापियों के लिए भाँति-भाँति की रोग-व्याधि तथा उनके लिए प्रतिकार-स्वरूप नीच व्यवसाय; (४६-४८) कतिपय कृच्छ्र (व्रत), सान्तपन, चान्द्रायण, प्रसृतियावक; (४९) वासुदेव-भक्त के कार्य तथा उसके लिए प्रतिफल; (५०) ब्राह्मण-हत्या एवं अन्य जीवों की हत्या, यथा गो-हत्या आदि के लिए प्रायश्चित्त; (५१-५३) सुरापान, वर्जित भोजन करने, सोना तथा अन्य पदार्थों की चोरी, व्यभिचार एवं अन्य प्रकार की मैथुन-क्रियाओं के लिए प्रायश्चित्त; (५४) विभिन्न प्रकार के अन्य कार्यों के लिए प्रायश्चित्त; (५५) गुप्त व्रत; (५६) अघमर्षण (पाप-मोचन) के लिए पूत स्तोत्र; (५७) किसकी संगति नहीं करनी चाहिए, व्रात्य, पश्चात्ताप न करनेवाले पापी, दान देने से दूर रहनेवाले; (५८) शुद्ध, मिश्रित तथा अन्य प्रकार का गुप्त धन; (५९) गृहस्थ-धर्म, पाक-यज्ञ, प्रतिदिन के पंचमहायज्ञ, अतिथि-सत्कार; (६०) गृहस्थ के अनुदिन वाले आचार, भद्र संवर्धन; (६१-६२) दन्त-धावन करने एवं आचमन के नियम; (६३) गृहस्थजीवन-वृत्ति के साधन, मार्गप्रदर्शन के नियम, यात्रा के समय बुरे या भले शकुन, मार्ग-नियम; (६४) स्नान एवं देवताओं तथा पितरों का तर्पण; (६५-६७) वासुदेव-पूजा, पुष्प तथा पूजा की अन्य सामग्री, देवता को भोजन-दान, पितरों को पिण्ड-दान, अतिथि को भोजन-दान; (६८) भोजन करने के ढंग एवं समय के बारे में नियम; (६९-७०) पत्नी-संभोग एवं सोने के विषय में नियम; (७१) स्नातक के आचार के लिए सामान्य नियम; (७२) आत्म-संयम का मूल्य; (७३-८६) श्राद्ध, श्राद्ध-विधि, अष्टका श्राद्ध, किन पितरों का श्राद्ध करना चाहिए, श्राद्ध के काल, सप्ताह-दिन में श्राद्ध-फल, २७ नक्षत्र एवं तिथियाँ, श्राद्ध-सामग्री, श्राद्ध के लिए निमन्त्रित न किये जाने वाले ब्राह्मण, पंक्तिपावन ब्राह्मण, श्राद्ध के लिए अयोग्य स्थल, तीर्थ या देश, साँड़ छोड़ना; (८७-८८) मृगचर्म-दान या गो-दान; (८९) कार्तिक-स्नान; (९०) भाँति-भाँति के दानों की स्तुति; (९१-९३) कूप, तालाब, वाटिका, पुल, बाँध, भोजन-दान आदि जनकल्याण के कार्य, प्रतिग्राहकों के अनुसार पात्रता-भिन्नता; (९४-९५) वानप्रस्थ के नियम, (९६-९७) संन्यासियों के लिए नियम; अस्थि, मांसपेशी, रक्त-स्नायु आदि का ज्ञान; ध्यान-मुद्रा की कतिपय विधियाँ; (९८-९९) पृथिवी एवं लक्ष्मी द्वारा वासुदेव-स्तुति; (१००) इस धर्मसूत्र के अध्ययन का फल।

यह धर्मसूत्र वसिष्ठधर्मसूत्र से कुछ मिलता है। इसमें छन्द (पद्य) पर्याप्त मात्रा में हैं। किन्तु एक विलक्षण बात यह है कि यह परमदेव द्वारा प्रणीत माना गया है; यह बात अन्य धर्मसूत्रों के साथ नहीं पायी जाती। इसकी शैली सरल है। यह व्याकरण-नियम-सम्मत है। बहुधा अध्यायान्त में पद्य आ जाते हैं। कहीं-कहीं इन्द्रवज्रा, कहीं उपजाति और कहीं त्रिष्टुप् छन्द हैं।

विष्णुधर्मसूत्र का काल-निर्णय दुस्तर कार्य है। कुछ अध्याय गौतम एवं आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों की भाँति प्राचीनता के द्योतक हैं। किन्तु अन्य स्थल इसे बहुत दूर ले जाते-से नहीं लगते। इस धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति की १६० बातें बिल्कुल एक-सी हैं। कुछ स्थलों पर मनुस्मृति के पद्य मानो गद्य में रख दिये गये हैं। प्रश्न उठता है; क्या मनुस्मृति ने विष्णुधर्मसूत्र से उधार लिया है या विष्णुधर्मसूत्र ने मनुस्मृति से, या दोनों ने किसी अन्य स्थान से? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। किन्तु कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं उपलब्ध है जिसमें दोनों में एक-सी पायी जानेवाली बातें मिल जायँ। लगता है, विष्णुधर्मसूत्र ने मनुस्मृति से ही उद्धरण लिये हैं। डा० जाली के मतानुसार याज्ञवल्क्य ने विष्णुधर्मसूत्र से शरीरांग-सम्बन्धी ज्ञान ले लिया है। किन्तु यह बात मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि चरक एवं सुश्रुत में यह ज्ञान

वर्तमान था और धर्मसूत्रकारों ने उसे उद्धृत कर लिया। लगता है, विष्णुधर्मसूत्र याज्ञवल्क्यस्मृति के बाद की कृति है। यह धर्मसूत्र भगवद्गीता, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य तथा अन्य धर्मशास्त्रकारों का ऋणी है। पाँचवीं शताब्दी ईसवी-उपरान्त होने वाले शबर, कुमारिल एवं शंकराचार्य ने मनुस्मृति को उद्धृत किया है। याज्ञवल्क्य का भाष्य विश्वरूप ने नवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में किया। विश्वरूप ने गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ, शंख और हारीत से अनेक उद्धरण लिये हैं, किन्तु विष्णुधर्मसूत्र का एक भी उद्धरण उनकी टीका में उपलब्ध नहीं होता। मनु की व्याख्या (मनु० ३.२४८ तथा ९.७६) करते हुए मेधातिथि ने विष्णु का उद्धरण लिया है। मिताक्षरा ने विष्णु का ३० बार नाम लिया है। अपरार्क तथा स्मृतिचन्द्रिका ने बहुत बार उद्धरण लिया है। स्मृतिचन्द्रिका में २२५ बार विष्णु के उद्धरण आये हैं।

विष्णुधर्मसूत्र में वैदिक संहिताओं तथा ऐतरेय ब्राह्मण के उद्धरण आये हैं। इसने वेदांगों, व्याकरण, इतिहास, धर्मशास्त्र, पुराण आदि के नाम लिये हैं। इस धर्मसूत्र के प्रारम्भिक भागों का काल ईसापूर्व ३००-१०० के बीच कहा जा सकता है, किन्तु यह केवल अनुमान-मात्र है। विष्णुधर्मसूत्र की टीका धर्मशास्त्र-सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थों के लेखक नन्द पण्डित ने की है। इन्होंने वाराणसी में लगभग १६२२-२३ ई० में वैजयन्ती नामक टीका लिखी। कदाचित् भारुचि नामक कोई अन्य टीकाकार थे, जिनकी विष्णुधर्मसूत्र सम्बन्धी टीका की बातें सरस्वतीविलास ने कई बार उद्धृत की हैं।

११. हारीत का धर्मसूत्र

अब तक हमने उन धर्मसूत्रों का वर्णन किया है जो प्रकाशित हैं, किन्तु अब उन धर्मसूत्रों का वर्णन करेंगे जो केवल कुछ उद्धरण रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हैं। सर्वप्रथम हम हारीतधर्मसूत्र को लेते हैं।

हारीत नामक एक धर्मसूत्रकार थे इसमें कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि बौधायन, आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ ने उन्हें कई बार प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। आपस्तम्ब ने हारीत का हवाला बहुत बार दिया है, अतः कहा जा सकता है कि दोनों एक ही वेद से सम्बन्धित थे। तन्त्रवार्तिक ने हारीत को गौतम तथा अन्य धर्मसूत्रकारों के साथ गिना है। विश्वरूप से लेकर अन्त तक के धर्मशास्त्रकारों द्वारा हारीत का नाम लिया जाता रहा है। लगता है, यह धर्मशास्त्र पर्याप्त लम्बा-चौड़ा रहा होगा।[७१]

हारीतधर्मसूत्र की भाषा एवं विषय-सूची देखकर कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ पर्याप्त प्राचीन है। गद्य के साथ अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द आते गये हैं। हारीत तथा मैत्रायणीय परिशिष्ट एवं मानवश्राद्धकल्प में बहुत समानता है। इससे पता चलता है कि हारीत कृष्ण यजुर्वेद के सूत्रकार थे। हारीतधर्मसूत्र में कश्मीरी शब्द "कफेल्ला" के आने से हारीत को कश्मीरी भी कहा जा सकता है। हेमाद्रि (चतुर्वर्ग० ३, १ पृ० ५५९) के अनुसार हारीत के एक भाष्यकार भी थे।[७२]

७१. स्वर्गीय पं० वामन शास्त्री इस्लामपुरकर को नासिक में हारीतधर्मसूत्र की एक हस्तलिखित प्रति मिली थी। दैवयोगवश उसका उपयोग नहीं किया जा सका। यहाँ पर हारीतधर्मसूत्र के बारे में जो कुछ कहा गया है वह डा० जॉली द्वारा उपस्थापित सामग्री पर आधारित है।

७२. हारीतधर्मसूत्र का सूत्र है—"पालङ्क्या—नालिका—पौतीक-शिग्रु-सृसुक-वार्ताक-भूस्तृण-कफेल्ल-माष-मसूर-कृतलवणानि च श्राद्धे न दद्यात्," जिस पर हेमाद्रि का कथन है—"कफेल्ल आरण्यविशेषः कश्मीरेषु प्रसिद्ध इति हारीतस्मृतिभाष्यकारः।"

निबन्धों में हारीत के जो उद्धरण आते हैं, उनसे पता चलता है कि उनके धर्मसूत्र में वे सभी विषय समन्वित थे, जो बहुधा अन्य धर्मसूत्रों में पाये जाते हैं, यथा धर्म के उपादान, उपकुर्वाण एवं नैष्ठिक नामक दो प्रकार के ब्रह्मचारी, स्नातक, गृहस्थ, वानप्रस्थ, भोजन के बारे में निषेध, जन्म-मरण पर अशौच, श्राद्ध, पंक्ति-पावन, आचार के सामान्य नियम, पंचयज्ञ, वेदाध्ययन, छुट्टियाँ, राजधर्म, शासन-कर्म, न्यायालय-पद्धति, व्यवहारों की विविध उपाधियाँ, पति-पत्नी के कर्तव्य, विविध पाप, प्रायश्चित्त, मार्जन-स्तुति आदि।

हारीत ने वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र, अध्यात्म तथा अन्य ज्ञान-शाखाओं की ओर संकेत किया है।[७३] हारीत ने सभी वेदों से उद्धरण लिये हैं, अतः लगता है, उनका किसी विशिष्ट वेद वे सम्बन्ध न था।

हारीत के कुछ सिद्धान्त अवलोकनीय हैं। उन्होंने अष्ट विवाहों में दो को 'क्षेत्र' और 'मानुष' कहा है, किन्तु 'आर्ष' एवं 'प्राजापत्य' को गिना ही नहीं है (देखिए, वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश, पृ० ८४)। यही बात वसिष्ठ में भी पायी जाती है। हारीत ने दो प्रकार की नारियों की चर्चा की है---ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवधू, जिनमें पहले प्रकार की नारियों (ब्रह्मवादिनियों) को उपनयन संस्कार कराने का अधिकार है, वे अग्निहोम करने एवं वेदाध्ययन करने की अधिकारिणी हैं।[७४] उन्होंने १२ प्रकार के पुत्रों का वर्णन किया है (देखिए, गौतम० २८, ३२ पर हरदत्त का भाष्य)। उन्होंने अभिनेता की भर्त्सना की है और ब्राह्मण अभिनेता को श्राद्ध एवं देव-क्रिया-संस्कार में वर्जित माना है।[७५] गद्य-पद्य मिश्रित भाषा में गणेश की पूजा का वर्णन अपरार्क द्वारा उपस्थित उद्धरण में आया है।[७६]

१२. शंख-लिखित का धर्मसूत्र

तन्त्रवार्तिक से पता चलता है कि शंख-लिखितधर्मसूत्र का अध्ययन शुक्ल यजुर्वेद के अनुयायी वाजसनेयियों द्वारा होता था। तन्त्रवार्तिक ने इस धर्मसूत्र से अनुष्टुप् छन्द वाले वाक्यों को उद्धृत किया है। महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय २३) में शंख और लिखित की कथा आयी है। याज्ञवल्क्य ने शंख-लिखित को धर्मशास्त्र-कारों में गिना है। पराशरस्मृति में आया है (१.२४) कि कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि के चारों युगों में मनु, गौतम, शंख-लिखित एवं पराशर के अनुशासन धर्म-सम्बन्धी प्रमाण माने जाते हैं। विश्वरूप ने एक उद्धरण द्वारा यह दर्शाया है कि वेदों पर आधारित एवं मनु द्वारा घोषित धर्म पर शंख-लिखित ने खूब मनन किया। विश्वरूप के पश्चात् अन्य भाष्यकारों एवं निबन्धकारों ने शंख-लिखित का उद्धरण खुलकर लिया है। इन उद्धरणों में अधिकांश गद्य में हैं। इससे सिद्ध होता है कि सम्भवतः यह धर्मसूत्र प्राचीन है। अभाग्यवश इस धर्मसूत्र की कोई प्रति नहीं मिल सकी है; केवल उद्धरणों के रूप में ही यह विद्यमान है।

७३. स्मृतिचन्द्रिका, ३, पृ० २९० 'वेदा अङ्गानि धर्मोऽध्यात्मं विज्ञानं स्थितिश्चेति षड्विधं श्रुतम्।'

७४. द्विविधाः स्त्रियः। ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्या। स्मृतिचन्द्रिका (१. पृ० २४) एवं चतुर्विंशतिमतव्याख्या (बनारस संस्करण, पृ० ११३) में उद्धृत।

७५. कुशीलवादीन् दैवे पित्र्ये च वर्जयेत्। याज्ञवल्क्य पर अपरार्क की टीका (याज्ञ० १.२२२-२२४) में उद्धृत।

७६. यहाँ गणेश के कई नाम मिलते हैं, यथा, सालकटंकट, कूष्माण्डराजपुत्र, महाविनायक, वक्रतुण्ड, गणाधिपति। प्रथम दो नामों के लिए देखिए, मानवगृह्यसूत्र (२-१४) तथा याज्ञवल्क्य (१. २८५)।

जीवानन्द के स्मृति-संग्रह में इस धर्मसूत्र के १८ अध्याय एवं शंखस्मृति के ३३० तथा लिखितस्मृति के ९३ श्लोक पाये जाते हैं। यही बात आनन्दाश्रम (पूना) के संग्रह में भी पायी जाती है। मिताक्षरा में इसके ५० श्लोक उद्धृत हुए हैं।

शंखलिखित-धर्मसूत्र पर भाष्य बहुत पहले ही किया गया। कन्नौजनरेश गोविन्दचन्द्र के मन्त्री लक्ष्मीधर ने अपने कल्पतरु में इस धर्मसूत्र के भाष्य की चर्चा की है। लक्ष्मीधर का काल है ११००-११६० ई०। विवादरत्नाकर (१३१४ ई०) ने भी भाष्यकार का उद्धरण दिया है। यही बात विवादचिन्तामणि (पृ० ६७) में भी पायी जाती है।

शैली और विषय-सूची में शंख-लिखित का धर्मसूत्र अन्य धर्मसूत्रों से मिलता-जुलता है। गौतम एवं आपस्तम्ब में जितने विषय आये हैं, अधिकतर वे सभी इस धर्मसूत्र में भी आ जाते हैं। बहुत स्थानों पर यह धर्मसूत्र गौतम एवं बौधायन के समीप आ जाता है। कुछ बातों में गौतम या आपस्तम्ब से शंख-लिखित अधिक प्रगतिशील हैं। कहीं-कहीं विषय-विस्तार में, यथा सम्पत्ति-विभाजन या वसीयत के सिलसिले में, यह धर्मसूत्र आपस्तम्ब एवं बौधायन से बहुत आगे बढ़ जाता है। शंख की शैली कौटिल्य का भी स्मरण कराती है। भाषा व्याकरण-सम्मत है। शंख ने याज्ञवल्क्य का नाम लिया है। किन्तु यहाँ यह नाम स्मृतिकार का नहीं है। याज्ञवल्क्य ने स्वयं शंख-लिखित का नाम अपने पूर्व के धर्माचार्यों में गिनाया है।

इस धर्मसूत्र के गद्यांश में वेदांगों, सांख्य, योग, धर्मशास्त्र आदि की ओर संकेत है, जैसा कि इसके उद्धरणों से विदित होता है। पुराणों में वर्णित भौगोलिक, सृष्टि-सम्बन्धी बातें इस धर्मसूत्र में भी पायी जाती हैं। इसने अन्य आचार्यों की चर्चा की है और प्रजापति, आंगिरस, उशना, प्राचेतस, वृद्धगौतम के मतों का उल्लेख किया है। पद्यांश में यम, कात्यायन और स्वयं शंख के नाम आये हैं।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त कहा जा सकता है कि यह धर्मसूत्र गौतम एवं आपस्तम्ब के बाद की किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति के पहले की कृति है। इसके प्रणयन का काल ई० पू० ३०० से लेकर ई० सन् १०० के बीच में अवश्य है।

१३. मानवधर्मसूत्र, क्या इसका अस्तित्व था?

कुछ विद्वानों का कथन है कि आज की मनुस्मृति का मूल मानवधर्मसूत्र था। इन विद्वानों में मैक्स-मूलर, बेबर और बुहलर के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके कथनानुसार मनुस्मृति मानवधर्मसूत्र का संशोधित पद्यबद्ध संस्करण है। मैक्समूलर ने यहाँ तक कह दिया है कि "इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी सच्चे धर्मशास्त्र, जो आज विद्यमान हैं, प्राचीन कुलधर्मों वाले धर्मसूत्रों के, जो स्वयं किसी-न-किसी वैदिक चरण से प्रारम्भिक रूप में सम्बन्धित थे, संशोधित रूप हैं" (हिस्ट्री आफ ऐंश्येण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० १३४-१३५)। मैक्समूलर का यह अनुमान भ्रामक है। बुहलर ने भी दूसरे ढंग से यही कहा है, किन्तु वह भी ठीक नहीं जँचता। बुहलर के तर्क निम्न हैं—(१) वसिष्ठधर्मसूत्र (४-५-८) में आया है—"मानव ने कहा है कि केवल पितरों, देवताओं एवं अतिथियों के सम्मान के लिए ही पशु का उपहार दिया जा सकता है।" बुलहर का तर्क है कि उपर्युक्त चार सूत्रों में जो कथ्य आया है, वह गद्य में था। इसके उपरान्त मनुस्मृति में जो कथ्य आया है, वह दो श्लोकों और एक गद्यांश में आया है (अन्त में 'इति' आया है)। बुलहर का कथन है कि विद्यमान मनुस्मृति पद्यबद्ध है, इसमें वैसा आ जाना इस बात का द्योतक है कि उसने मानव-धर्मसूत्र से उधार लिया है। (२) वसिष्ठधर्मसूत्र में और भी उद्धरण हैं, जिन्हें मनु के कहा गया है, किन्तु वे मनुस्मृति में नहीं पाये जाते,

अतः कोई अन्य ग्रन्थ मनु के नाम से सम्बन्धित अवश्य रहा होगा, और वह था मानवधर्मसूत्र। (३) उशना ने अशौच के विषय में मनु का एक मत उद्धृत किया है जो गद्य में है। किन्तु यहाँ 'मनु' नहीं 'सुमन्तु" है, हस्तलिखित प्रति में यह भ्रम स्वयं बुहलर ने बाद को समझ लिया। (४) कामन्दकीय नीतिशास्त्र (२.३) ने कहा है कि "मानव" के अनुसार राजा को तीन विद्याओं अर्थात् त्रयी (तीनों वेद), वार्ता एवं दण्डनीति का अध्ययन करना चाहिए; आन्वीक्षिकी त्रयी की ही एक शाखा है। किन्तु मनुस्मृति (७.४३) के अनुसार विद्याएँ चार हैं। यही बात सचिवों की संख्या के विषय में भी है। कामन्दक-उद्धृत मनु के अनुसार संख्या १२ है किन्तु मनुस्मृति के अनुसार संख्या केवल ७ या ८ है। अतः बुहलर के मतानुसार मानवधर्मसूत्र अवश्य रहा होगा। किन्तु यहाँ कहा जा सकता है कि ये तर्क युक्तिसंगत नहीं हैं। कामन्दक ने केवल कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अन्वय मात्र किया है। विद्या तीन हैं या चार, इसमें कोई मतभेद नहीं है, क्योंकि "मानव" में भी तो आन्वीक्षिकी की चर्चा हो ही गयी है। मनुस्मृति का भी कई बार संशोधन हुआ है, अतः कुछ व्यतिक्रम पड़ जाना स्वाभाविक है।

वसिष्ठधर्मसूत्र में मनुस्मृति की बहुत सी बातें ज्यों-की-त्यों पायी जाती हैं। किन्तु इसी आधार पर यह कहना कि जब वसिष्ठधर्मसूत्र में पायी जानेवाली मनु-सम्बन्धी सभी बातें मनुस्मृति में नहीं देखने को मिलती, तो एक मानवधर्मसूत्र भी रहा होगा, जिसमें अन्य बातें पायी जा सकती हैं, युक्तिसंत नहीं है। वसिष्ठधर्मसूत्र में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो अन्य धर्मसूत्रों के उद्धरण-स्वरूप हैं, किन्तु आज खोजने पर वे बातें उन धर्मसूत्रों में नहीं मिलतीं, तो क्या यह समझ लिया जाय कि उन धर्मसूत्रों के नामों से सम्बन्धित अन्य धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ थे?

कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखाओं को, जो आपस्तम्ब, बौधायन एवं हिरण्यकेशी के रूप में दक्षिण भारत में विकसित हुईं, छोड़कर किसी अन्य वेद का कोई ऐसा चरण नहीं पाया जाता, जो उसके संस्थापक द्वारा प्रणीत कोई धर्मसूत्र उपस्थित करे। तो फिर मानव-चरण के धर्मसूत्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कुमारिल ने, जो संस्कृत साहित्य के गम्भीर विद्वान् थे, कृष्ण यजुर्वेद के अनुयायियों द्वारा पढ़े जाते हुए किसी मानवधर्मसूत्र की चर्चा नहीं की है। उन्होंने इस विषय में बौधायन एवं आपस्तम्ब की चर्चा पर्याप्त रूप से की है। कुमारिल ने मनुस्मृति को गौतमधर्मसूत्र से कहीं बढ़कर ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने मानवधर्मसूत्र की कहीं भी कोई चर्चा नहीं की है। विश्वरूप ने, जो किसी-किसी के मत में शंकराचार्य के सुरेश्वर नामक शिष्य भी माने जाते हैं, कहा है कि मानव-चरण का कोई अस्तित्व नहीं है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मानवधर्मसूत्र का कोई अस्तित्व नहीं है और न मनुस्मृति उस नाम के धर्मसूत्र का कोई संशोधित संस्करण है।

१४: कौटिल्य का अर्थशास्त्र

डा० शामशास्त्री ने सन् १९०९ में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का प्रकाशन एवं अनुवाद करके भारतीय शास्त्र-जगत् में एक नवीन चेतना की उद्भूति की। पण्डित टी० गणपति शास्त्री ने 'श्रीमूल' नामक अपनी टीका के साथ इस महान ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। डा० जाली एवं श्मिट (स्मित)' ने महत्त्वपूर्ण भूमिका एवं माधवयज्वा की नयचन्द्रिका के साथ इसका सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ में डा० शामशास्त्री के १९१९ ई० वाले संस्करण का उपयोग किया गया है। इस ग्रन्थ को लेकर उग्र वाद-विवाद उठे हैं। इसके लेखक, प्रणयन-सत्यता, काल आदि विषयों पर बहुत-सी व्याख्याएँ, शंकाएँ एवं समाधान उठाये गये हैं। कतिपय लेखों, निबन्धों के अतिरिक्त इस

पुस्तक को लेकर अनेक ग्रन्थों, पुस्तिकाओं का प्रणयन हो चुका है। कुछ के नाम अंग्रेजी में ये हैं—नरेन्द्रनाथ ला की 'स्टडीज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डियन पालिटी', डा० पी० बनर्जी की 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंश्येण्ट इण्डिया', डा० घोषाल की 'हिस्ट्री आफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज़', डा० मजुमदार की 'कारपोरेट लाइफ़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया', विनयकुमार सरकार की 'पोलिटिकल इंस्टीट्यूशंस एण्ड थ्योरीज़ आफ़ दि हिन्दूज', जायसवाल की 'हिन्दू पालिटी', प्रो० एस० वी० विश्वनाथन् की 'इण्टरनेशनल ला इन ऐंश्येण्ट इण्डिया' आदि पुस्तकें। कौटिलीय अर्थशास्त्र-सम्बन्धी सभी समस्याओं का विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है।

अर्थशास्त्र पर उपस्थित प्राचीनतम ग्रन्थ कौटिलीय ही है। अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में आदर्श-सम्बन्धी विभेद हैं, किन्तु वास्तव में, अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र की एक शाखा है, क्योंकि धर्मशास्त्र में राजा के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की चर्चा होती ही है।[७७] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'धर्मस्थीय' एवं 'कण्टकशोधन' नामक दो प्रकरण हैं, अतः इसका इस पुस्तक में विवेचन होना उचित ही है। 'शौनककृत चरणव्यूह' के मतानुसार अर्थशास्त्र अथर्ववेद का उपवेद है। जैसा कि स्वयं कौटिल्य ने लिखा है; इस शास्त्र का उद्देश्य है पृथिवी के लाभ-पालन के साधनों का उपाय करना।[७८] याज्ञवल्क्य एवं नारद-स्मृतियों में भी अर्थ एवं धर्म-शास्त्र की चर्चा हुई है।

बहुत प्राचीन काल से ही चाणक्य उर्फ कौटिल्य या विष्णुगुप्त अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ के प्रणेता माने जाते रहे हैं। कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र में कौटिल्य (विष्णुगुप्त) के अर्थशास्त्र की चर्चा की है। कामन्दक ने विष्णुगुप्त (कौटिल्य) को अपना गुरु माना है। तन्त्राख्यायिका ने, जो ३०० ई० के लगभग अवश्य लिखी गयी थी, नृपशास्त्र के प्रणेता चाणक्य को प्रणाम किया है। दण्डी ने अपने दशकुमारचरित में लिखा है कि मौर्यराज के लिए छः सहस्र श्लोकों में विष्णुगुप्त ने दण्डनीति को संक्षिप्त किया (दशकुमार०, ८)। बाण ने अपनी कादम्बरी (पृ० १०९) में कौटिल्य के ग्रन्थ को अति नृशंस कहा है। पञ्चतन्त्र ने चाणक्य एवं विष्णुगुप्त को एक ही माना है, और चाणक्य को अर्थशास्त्र का प्रणेता कहा है। कौटिल्य का नाम पुराणों में भी अधिकतर आया है। क्षेमेन्द्र एवं सोमदेव की कृतियों से पता चलता है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। मृच्छकटिक (१.३९) ने भी चाणक्य की ओर संकेत किया है। मुद्राराक्षस (१) ने कौटिल्य एवं चाणक्य को एक ही माना है और कहा है कि 'कौटिल्य' शब्द 'कुटिल' (टेढ़ा) से निर्मित हुआ है। उपर्युक्त बातों में से कुछ स्वयं अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत संकेत के रूप में प्राप्त होती हैं। प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अन्त में कौटिल्य इस शास्त्र के प्रणेता कहे गये हैं, द्वितीय अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में वे राजाओं के लिए शासन-विधि के निर्माता कहे गये हैं। अन्तिम श्लोक बताता है कि उसने, जिसने नन्द के चंगुल में से पृथ्वी की रक्षा की, इस ग्रन्थ का प्रणयन किया। वहीं यह भी आया है कि अर्थशास्त्र के भाष्यकारों की विभिन्न व्याख्याओं को देखकर विष्णुगुप्त ने स्वयं सूत्र एवं भाष्य का प्रणयन किया।

जाली, कीथ एवं विंतरनित्स् ने कौटिल्य को मौर्यमन्त्री की कृति नहीं माना है। यह कथन कि उस व्यक्ति के लिए, जो आदि से अन्त तक एक बृहत् साम्राज्य के निर्माण में लगा रहा, इस पुस्तक का लिखना सम्भव नहीं था, बिल्कुल निराधार है। पूछा जा सकता है कि सायण एवं माधव को कैसे इतना समय मिला

७७. 'धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव राजनीतिलक्षणमर्थशास्त्रमिदं विवक्षितम्,' मिताक्षरा (याज्ञ० २. २१)।

७८. तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायानां शास्त्रमर्थशास्त्रमिति। कौटिल्य, १५. १। प्रथम वाक्य है—पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।

कि वे विपत्तियों से घिरे रहकर भी बृहद् ग्रन्थों का निर्माण कर सके? अर्थशास्त्र में पाटलिपुत्र एवं चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की चर्चा नहीं पायी जाती, अतः कुछ लोगों ने इसी आधार पर इसे मौर्यमन्त्री की कृति नहीं माना। किन्तु यह छिछला तर्क है। एक महान् लेखक अपनी कृति में, जो सामान्य ढंग से लिखी गयी हो, व्यक्तिगत, स्थानीय एवं समकालीन बातों का हवाला दे, यह कोई आवश्यक नहीं है। स्टाइन एवं विंतरनित्स् का यह तर्क कि मेगस्थनीज ने कौटिल्य की चर्चा नहीं की और न उसकी वार्ता में अर्थशास्त्र की बातों का मेल बैठता है, बिल्कुल निराधार है। मेगस्थनीज की 'इण्डिका' केवल उद्धरणों में प्राप्त है, मेगस्थनीज़ को भारतीय भाषा का क्या ज्ञान था कि वह महामन्त्री की बातों को समझ पाता? मेगस्थनीज़ की बहुत-सी बातें भ्रामक भी हैं। उसने तो लिखा है कि भारतीय लिखना नहीं जानते थे। क्या यह सत्य है? यहाँ केवल इतना ही संकेत पर्याप्त है। हिल्लेब्राण्ट ने कहा है कि अर्थशास्त्र एक शाखा की कृति है न कि किसी एक व्यक्ति की। इस तर्क का उत्तर जैकोबी ने भली भाँति दे दिया है। अर्थशास्त्र एक शाखा का ग्रन्थ इसलिए कहा गया है कि इसमें अन्य आचार्यों के साथ स्वयं कौटिल्य के मत लगभग ८० बार आये हैं। किन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति की ओर मेधातिथि तथा विश्वरूप ने बहुत पहले ही संकेत कर दिया है कि प्राचीन आचार्य अपने मत के प्रकाशनार्थ अपने नामों को अहंकारवादिता से बचाने के लिए बहुधा अन्य-पुरुष में दे देते थे।[७९] उत्तम-पुरुष के एकवचन में बहुत ही कम व्यवहार हुआ है। जैकोबी एवं कीथ का यह कहना कि भारद्वाज (५.६) ने कौटिल्य की आलोचना की है, त्रुटिपूर्ण है। कौटिल्य पहले अपना मत देकर अपने पहले के आचार्यों का मत देते हैं। कीथ का कथन है कि 'कौटिल्य' कुटिल से बना है, अतः कोई ग्रन्थकार स्वयं अपने मत को इस उपाधि से नहीं घोषित करेगा। चाणक्य ने कूटनीति से मौर्यसाम्राज्य का निर्माण किया और नन्द-जैसे आततायियों का नाश किया, अतः हो सकता है कि उन्हें आरम्भ में जो 'कुटिल' नाम दिया गया, वह अन्त में उन्हें, सत्कार्य करने के कारण, भला लगने लगा हो। एक बात और, कौटिल्य में बहुत-से आचार्यों के उद्धृत नाम भी विचित्र ही हैं, यथा—पिशुन, वातव्याधि, कौणपदन्त।

एक प्रश्न है—'कौटिल्य' नाम ठीक है या 'कौटल्य'? कादम्बरी, मुद्राराक्षस, पञ्चतन्त्र आदि में 'कौटिल्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कामन्दक के नीतिशास्त्र की एक टीका में कौटिलीय को कुटलभाष्य कहा गया है और 'कुटल' एक गोत्र का नाम कहा गया है। एक शिलालेख में 'कौटिल्य' शब्द आया है (धोलका के गणेसर स्थान में प्राप्त, १२३४-३५ ई०)। जो हो, नाम का झंझट अभी तय नहीं हो पाया है। इस ग्रन्थ में कौटिल्य शब्द का ही प्रयोग किया जायगा।

अर्थशास्त्र में कुल १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० विषय एवं ६००० श्लोक (३२ अक्षरों की इकाइयाँ) हैं। यह गद्य में है, कहीं-कहीं कुछ श्लोक भी हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक या कुछ अधिक श्लोक हैं। कुछ अध्यायों के बीच में भी श्लोक हैं। गद्य भाग को छोड़कर कुल ३४० श्लोक आये हैं। श्लोक अनुष्टुप् जाति में अधिक हैं। इन्द्रवज्रा या उपजाति में केवल ८ श्लोक हैं। अर्थशास्त्र के पूर्व के अर्थशास्त्र हमें नहीं मिल सके हैं, अतः यह कहना कठिन है कि कितने श्लोक उधार लिये गये हैं और कितने इसके अपने हैं। शैली सरल एवं सीधी है; वेदान्त या व्याकरण सूत्रों की भाँति संक्षिप्त नहीं है। गौतम, हारीत, शंख-लिखित

७९. 'प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परापदेशेन ब्रुवते', मेधातिथि। याज्ञ० १.२ पर विश्वरूप ने कहा है—किन्तु भगवतैव परोक्षीकृत्यात्मा निर्दिश्यते स्वप्रशंसानिषेधात्।'

के धर्मसूत्रों की भाषा से इसकी शैली मिलती-जुलती है, किन्तु आपस्तम्ब की भाँति इसकी भाषा प्राचीन नहीं है। भाषा पाणिनि के व्याकरण-नियमों के अनुसार है, यद्यपि दो-एक स्थान पर भिन्नता भी है।

पूरा ग्रन्थ एक व्यक्ति की कृति है, अतः विषयों के अनुक्रम एवं व्यवस्था में पर्याप्त पूर्वविवेचन झलकता है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन पर इतना मूल्यवान् प्रकाश डालता है, और इतने विषयों का प्रतिपादन इसमें हुआ है कि थोड़े में बहुत-कुछ कह देना सम्भव नहीं है। पन्द्रहों अधिकरणों की विषय-सूची इस प्रकार है---(१) राजानुशासन, राजा द्वारा शास्त्राध्ययन, आन्वीक्षिकी एवं राजनीति का स्थान, मन्त्रियों एवं पुरोहित के गुण तथा उनके लिए प्रलोभन, गुप्तचर-संस्था, सभा-बैठक, राजदूत, राजकुमार-रक्षण, अन्तःपुर के लिए व्यवस्था, राजा की सुरक्षा; (२) राज्य-विभाग के पर्यवेक्षकों के विषय में, ग्राम-निर्माण, चरागाह, वन, दुर्ग, सन्निधाता के कर्तव्य, दुर्गों, भूमि, खानों, वनों, मार्गों के करों के अधिकारी, आय-व्ययनिरीक्षक का कार्यालय, जनता के धन का गबन, राज्यानुशासन, राज्यकोष एवं खानों के लिए बहुमूल्य प्रस्तरों (रत्नों) की परीक्षा, सिक्कों का अध्यक्ष, व्यवसाय, वनों, अस्त्र-शस्त्रों, तौल-बटखरों, चुंगी, कपड़ा बुनने, मद्यशाला, राजधानी एवं नगरों के अध्यक्ष; (३) न्याय-शासन, विधि-नियम, विवाह-प्रकार, विवाहित जोड़े के कर्तव्य, स्त्रीधन, बारहों प्रकार के पुत्र, व्यवहार की अन्य संज्ञाएँ; (४) कंटक-निष्कासन, शिल्पकारों एवं व्यापारियों की रक्षा, राष्ट्रीय विपत्तियों, यथा अग्नि, बाढ़, आधि-व्याधि, अकाल, राक्षस, व्याघ्र, सर्प आदि के लिए दवाएँ या उपचार, दुराचारियों को दबाना, कौमार अपराध का पता चलाना, सन्देह पर अपराधियों को बन्दी बनाना, आकस्मिक एवं घात के कारण मृत्यु, दोषांगीकार कराने के लिए अति पीड़ा देना, सभी प्रकार के राजकीय विभागों की रक्षा, अंग-भंग करने के स्थान पर जुरमाने, बिना पीड़ा अथवा पीड़ा के साथ मृत्यु-दण्ड, रमणियों के साथ समागम, विविध प्रकार के दोषों के लिए अर्थदण्ड; (५) दरबारियों का आचरण, राजद्रोह के लिए दण्ड, विशेषावसर (आकस्मिकता) पर राज्यकोष को सम्पूरित करना, राज्यकर्मचारियों के वेतन, दरबारियों की योग्यताएँ, राज्यशक्ति की संस्थापना; (६) मण्डलरचना, सार्वभौम सत्ता के सात तत्त्व, राजा के शील-गुण, शान्ति तथा सम्पत्ति के लिए कठिन कार्य, षड्विध राजनीति, तीन प्रकार की शक्ति; (७) राज्यों के वृत्त (मण्डल) में ही नीति की छः धाराएँ प्रयुक्त होती हैं, सन्धि, विग्रह, यान, आसन, शरण गहना एवं द्वैधीभाव नामक छः गुण; सेना के कम होने एवं आज्ञोल्लंघन के कारण, राज्यों का मिलान, मित्र, सोना या भूमि की प्राप्ति के लिए सन्धि, पृष्ठभाग में शत्रु, परिसमाप्त शक्ति का पुनर्गठन, तटस्थ राजा एवं राज-मण्डल; (८) सार्वभौम सत्ता के तत्त्वों के व्यसनों के विषय में, राजा एवं राज्य के कष्ट (बाधा), मनुष्यों एवं सेना के कष्ट; (९) आक्रमणकारी के कार्य, आक्रमण का उचित समय, सेना में रँगरूटों की भरती, प्रसाधन, अन्तः एवं बाह्य कष्ट (बाधा), असन्तोष, विश्वासघाती, शत्रु एवं उनके मित्र; (१०) युद्ध के बारे में, सेना का पड़ाव डालना, सेना का अभियान, समरांगण, पदाति (पैदल सेना), अश्वसेना, हस्तिसेना आदि के कार्य, विविध रूपों में युद्ध के लिए टुकड़ियों को सजाना; (११) नगरपालिकाओं एवं व्यवसाय-निगमों के बारे में; (१२) शक्तिशाली शत्रु के बारे में, दूत भेजना, कूट-प्रबन्ध योजना, अस्त्र-शस्त्रसज्जित गुप्तचर, अग्नि, विष एवं भाण्डार तथा अन्न-कोठार का नाश, युक्तियों से शत्रु को पकड़ना, अन्तिम विजय; (१३) दुर्ग को जीतना, फूट उत्पन्न करना, युक्ति से (युद्धकौशल आदि से) राजा को आकृष्ट करना, घेरे में गुप्तचर, विजित राज्य में शान्ति-स्थापना; (१४) गुप्त साधन, शत्रु की हत्या के लिए उपाय, भ्रमात्मक रूप-स्वरूप प्रकट करना; औषधियाँ एवं मन्त्र-प्रयोग तथा (१५) इस कृति का विभाजन एवं उसका निदर्शन।

व्यवहार-विषयक शासन के वर्णन में कौटिलीय के उल्लेख एवं याज्ञवल्क्य में बहुत साम्य है। मनु एवं नारद की बातें भी इस विषय में कौटिलीय से मिलती-जुलती-सी दृष्टिगोचर होती हैं; किन्तु उस सीमा तक नहीं जहाँ तक याज्ञवल्कीय से।[80] अब प्रश्न है कि किसने किससे उधार लिया; याज्ञवल्क्य ने कौटिल्य से या कौटिल्य ने याज्ञवल्क्य से? भाषा-सम्बन्धी समानता बहुत अधिक है। सम्भवतः याज्ञवल्क्य ने ही अर्थशास्त्र से बहुत-सी बातें लेकर उन्हें पद्यबद्ध करके अपनी स्मृति में रख लिया है। बात यह है कि याज्ञवल्क्य में कौटिल्य से अन्य भी बहुत सी बातें पायी जाती हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र मनुस्मृति से भी पुराना है। कौटिलीय में मानवों के मत की ओर पाँच बार संकेत आया है। अर्थशास्त्र में लिखा है कि मानवों के मतानुसार राजकुमार को तीन विद्याएँ पढ़नी चाहिए; त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति, आन्वीक्षिकी त्रयी का ही एक भाग है। राजमन्त्रियों की संख्या बारह है। मनुस्मृति (७।४३) ने विद्याओं को स्पष्ट रूप से चार माना है और राजमन्त्रियों की संख्या सात या आठ कही है। बुहलर और अन्य विद्वानों ने इस मतभेद को सामने रखकर यही कहा है कि इस विषय में कौटिल्य ने मानवधर्मसूत्र की ओर संकेत किया है। किन्तु हमने पहले ही देख लिया है कि मानवधर्मसूत्र था ही नहीं। धर्मशास्त्र में मानवों के अतिरिक्त बृहस्पतियों एवं औशनसों के नाम आते हैं, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि कौटिल्य ने गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ, हारीत की कहीं भी चर्चा नहीं की है। धर्मस्थीय प्रकरण में कौटिल्य ने अपने से पूर्व के आचार्यों की ओर संकेत अवश्य किया है। समानता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने पूर्वाचार्यों की ओर संकेत करके धर्मसूत्रकारों की ही चर्चा की है।

धर्मस्थीय प्रकरण में जो कुछ आया है, उससे प्रकट होता है कि गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन के धर्म-सूत्रों से बहुत आगे की और अति प्रगतिशील बातें अर्थशास्त्र में पायी जाती हैं; किन्तु मनुस्मृति से कुछ, और याज्ञवल्क्य से बहुत पहले ही इसका प्रणयन हो चुका था। कौटिलीय के निर्माण-काल के विषय में हम अन्तः-प्रमाणों पर ही अपने तर्कों को रख सकते हैं, क्योंकि बाह्य प्रमाण हमें दूर तक नहीं ले जा पाते। निस्सन्देह यह कृति २०० ई० के बाद की नहीं हो सकती, क्योंकि कामन्दक, तन्त्राख्यायिका तथा बाण ने इसकी प्रशंसा के गीत गाये हैं। इसे ई० पू० ३०० के आगे भी हम नहीं ले जा सकते।

कौटिलीय में पाँच शाखाओं के नाम आते हैं--मानवाः (५ बार), बार्हस्पत्याः (६ बार), औशनसाः (७ बार), पाराशराः (४ बार), आम्भीयाः (एक बार)। निम्नखित व्यक्तियों के भी नाम आये हैं--कात्यायन (एक बार), किञ्जल्क (एक बार), कौणपदन्त (४ बार), घोटकमुख (एक बार), (दीर्घ) चारा-यण (एक बार), पराशर (२ बार), पिशुन (६ बार), पिशुनपुत्र (एक बार), वाहुदन्तिपुत्र (एक बार), भारद्वाज (७ बार, एक बार कणिक भारद्वाज नाम से), वातव्याधि (५ बार), विशालाक्ष (६ बार)। स्वयं कौटिल्य का ८० बार नाम आया है। महाभारत ने भी निम्नलिखित दण्डनीतिकारों की चर्चा की है--बृहस्पति,

८०. (क) अभियुक्तो न प्रत्यभियुञ्जीत अन्यत्र कलहसाहससार्थसमवायेभ्यः। न चाभियुक्तेऽभि-योगोऽस्ति। कौ० ३. १; अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्। कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च॥ याज्ञ० २. ९-१०। (ख) प्रतिरोधकव्याधिदुर्भिक्षभयप्रतीकारे धर्मकार्ये च पत्युः। कौ० ३. २; दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ सम्प्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति॥ याज्ञ० २. १४७। (ग) सोदर्याणामनेकपितृकाणां पितृतो दायविभागः। कौ० ३. ५; अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना। याज्ञ० २. १२०; आदि आदि (कौ० ३. १६ एवं याज्ञ० २. १६९; कौ० ३. १६ एवं याज्ञ० २.१३७)।

मनु, भारद्वाज, विशालाक्ष, शुक्र (वही जिन्हें हम उशना कहते हैं) तथा इन्द्र (सम्भवतः कौटिल्य का बाहुदन्तिपुत्र)। वात्स्यायन के कामसूत्र में घोटकमुख एवं चारायण के नाम आये हैं। नयचन्द्रिका के मतानुसार पिशुन, भारद्वाज, कौणपदन्त एवं वातव्याधि क्रम से नारद, द्रोणाचार्य, भीष्म एवं उद्धव हैं।

कौटिलीय ने चारों वेदों, अथर्ववेद के मन्त्रप्रयोग, छः वेदांगों, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की चर्चा की है। इसमें सांख्य, योग एवं लोकायत की शाखाओं की ओर भी संकेत आया है। इसने मौहूर्तिक, कार्तान्तिक (फलित ज्योतिष जाननेवालों), बृहस्पति ग्रह एवं शुक्र ग्रह की भी चर्चा की है। धातुशास्त्र का नाम भी आया है। उस समय संस्कृत ही राजभाषा थी। शासनाधिकार में काव्य-गुणों की भी चर्चा की गयी है, यथा माधुर्य, औदार्य, स्पष्टत्व, जो अलंकारशास्त्र के प्रारम्भ की सूचक है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि दूसरी शताब्दी (१५० ई०) में रुद्रदामन् के अभिलेख में काव्य-गुणों की चर्चा है। कौटिल्य ने प्रस्तर एवं ताम्र पर तक्षित अनुशासनों की कोई चर्चा नहीं की है। उनके अर्थशास्त्र में वैशिक-कलाज्ञान (२.२७) की ओर भी संकेत है।

जिन देशों एवं लोगों की चर्चा कौटिलीय में हुई है, उनमें कुछ उल्लेख के योग्य हैं। चीन के रेशम (कौशेय) एवं नेपाल के कम्बल की चर्चा हुई है। कीथ के कथनानुसार 'चीन' नाम चीन देश के 'थ्सिन' नामक राजवंश से बना है; और इस वंश का राज्यारम्भ ई० पू० २७४ में हुआ, अतः कौटिलीय ई० पू० ३०० में नहीं प्रणीत हो सकता। किन्तु 'चीन' शब्द की व्याख्या सरल नहीं है, यह किसी अन्य प्राचीन शब्द से भी सम्बन्धित हो सकात है। हो सकता है कि जहाँ यह शब्द आया है वह सूत्र ही क्षेपक हो। कौटिलीय में वृष्णियों के "संघ", कम्बोज एवं सुराष्ट्र के आयुधजीवी (युद्धजीवी) एवं वार्ताजीवी (कृषि-व्यापार-जीवी) क्षत्रियों की "श्रेणियों" तथा लिच्छिविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर तथा कुरुपञ्चालों का (जो राजा पदवी वाले थे) वर्णन आया है (११.१)। इन गणों में कुछ, यथा लिच्छिवि, वृजि (पालि में वज्जि) तथा मल्ल तो बौद्ध ग्रन्थों में भली भाँति वर्णित हैं। हमें यह वर्णन मिलता है कि कम्बोज, सिन्धु, आरट्ट तथा वनायु के घोड़े अत्युत्तम एवं बाह्लीक, पापेय, सौवीर एवं तैतल के मध्यम श्रेणी के होते हैं। कौटिलीय में म्लेच्छ जाति का भी वर्णन आया है, जिसमें सन्तानों की बिक्री हो पकती है और उन्हें बन्धक रखा जा सकता है (३.१३)।

बौद्धों के विषय में कोई विशिष्ट विवरण नहीं मिलता, केवल एक स्थान (३.२०) पर ऐसा आया है कि उस व्यक्ति को एक सौ पण (एक प्रकार का सिक्का) देना पड़ेगा, जो अपने घर में देवताओं या पितरों के सम्मान के समय किसी बौद्ध (शाक्य), आजीवक या शूद्र साधु को भोजन के लिए निमन्त्रित करता है।[८२] स्पष्ट है कि कौटिलीय के प्रणयन के समय बौद्धों को समाज में कोई उच्च स्थान नहीं प्राप्त हो सका था। आजीवक लोग मक्खलि गोसाल द्वारा स्थापित एक धार्मिक शाखा के अनुयायी थे।

कौटिल्य को प्रचलित महाभारत ज्ञात था कि नहीं, कहना कठिन है। अर्थशास्त्र में उदाहृत, यथा ऐल, दुर्योधन, हैहय अर्जुन, वातापी, अगस्त्य, अम्बरीष, सुयात्र (नल) की अधिकांश गाथाएँ महाभारत में भी आयी हैं। कहीं-कहीं गाथाओं में कुछ अन्तर भी है, यथा जनमेजय ने क्रोध में आकर ब्राह्मणों पर आक्रमण किया और नष्ट हो गया, किन्तु महाभारत में जनमेजय की गाथा कुछ और ही है (१२.१५०)। इसी प्रकार कुछ अन्य कथाओं में भी अन्तर है। कौटिल्य को पुराणों के विषय में जानकारी थी।

८१. तथा कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः। कौ० २.११।

८२. शाक्याजीवकादीन् वृषलप्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः शत्यो दण्डः। कौ० ३-२०।

कौटिल्य को जड़ी-बूटियों का आश्चर्यजनक ज्ञान था। डा० जाली के मत में इस विषय का कौटिल्य का ज्ञान सुश्रुत से कहीं अधिक विस्तृत था। चरक एवं सुश्रुत के कालों के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। कौटिल्य ने 'रसद' नामक पारद-विष-व्यवहर्ता की चर्चा की है। उन्होंने 'रस' के व्यापारियों के लिए निष्कासन का दण्ड घोषित किया है, उन्होंने 'रस-विद्ध' (पारामिश्रित सोना) (२.१२), 'रसाः काञ्चनिकाः' (स्वर्णयुक्त जलीय पदार्थ) एवं 'हिंगुलुक' की चर्चा की है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण बात है दुर्ग के बीच में देवताओं के मन्दिरों की स्थापना की चर्चा, यथा शिव, वैश्रवण, अश्विनौ, लक्ष्मी एवं मदिरा (दुर्गा?) के मन्दिर। इतना ही नहीं, उन्होंने झरोखों में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त एवं वैजयन्त की मूर्ति-स्थापना की चर्चा की है। उन्होंने ब्रह्मा, इन्द्र, यम एवं सेनापति (स्कन्द) को मुख्य द्वार के इष्टदेवताओं में गिना है। पाणिनि (५.३.९९) के महाभाष्य से पता चलता है कि 'मौर्यों ने धनलोभ से मूर्तियाँ स्थापित की थीं', जिनमें शिव, स्कन्द एवं विशाख की पूजा हुआ करती थी।[८३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बहुत प्राचीनता पायी जाती है। यह ई० पू० ३०० की कृति है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए।

अब तक कौटिलीय की दो व्याख्याओं का पता चल चुका है। एक है भट्टस्वामी कृत प्रतिपदपंचिका और दूसरी है माधवयज्वा की नयचन्द्रिका। दोनों अपूर्ण रूप में ही प्राप्त हैं।

डा० शामशास्त्री ने अपने संस्करण में चाणक्यकृत ५७१ सूत्रों का संग्रह किया है। किन्तु इन सूत्रों का कौटिल्य से क्या सम्बन्ध है; कहना बहुत कठिन है। भारत के विभिन्न भागों में चाणक्य की बहुत-सी नीतियाँ प्रकाशित हुई हैं। निस्सन्देह ये नीतियाँ कौटिलीय अर्थशास्त्र के बहुत बाद की हैं और कहावतों के रूप में प्रचलित रही हैं। इसी प्रकार 'चाणक्य-राजनीतिशास्त्र' नामक ग्रन्थ भी कौटिल्य का नहीं है। यह राजा भोज के काल में संगृहीत हुआ था। इसी प्रकार वृद्ध-चाणक्य, लघु-चाणक्य की पुस्तकों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। कौटिलीय अर्थशास्त्र से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

१५. वैखानस-धर्मप्रश्न

पण्डित टी० गणपति शास्त्री ने सन् १९१३ में इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया (त्रिवेन्द्रम् संस्कृतमाला में) और सन् १९२९ में डा० एग्गर्स ने भी गार्टिजेन में इसका प्रकाशन किया।

महादेव ने सत्याषाढ-श्रौतसूत्र पर लिखित अपनी वैजयन्ती नामक व्याख्या में कृष्ण यजुर्वेद के छः श्रौतसूत्रों, यथा बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वाधूल एवं वैखानस की चर्चा की है और वैखानसश्रौतसूत्र के कुछ अंश कई बार उद्धृत किये हैं। शौनक के चरणव्यूह में वाधूल एवं वैखानस के नाम नहीं आये हैं। प्राचीन धर्मशास्त्रों में वैखानस नामक लेखक की ओर संकेत मिलता है। गौतम में 'वैखानस' शब्द (धर्मसूत्र ३.२) वानप्रस्थ के लिए आया है। बौधायन में भी वही सूत्र है और उसकी व्याख्या की गयी है कि वैखानस वह है जो वैखानस-शास्त्र में कथित नियमों के अनुसार चलता है (धर्मसूत्र, ६.१६)। वसिष्ठधर्मसूत्र में भी यही सूत्र है। मनुस्मृति (६.२१) ने वानप्रस्थ को वैखानस के मतों का माननेवाला कहा है (वैखानसमते स्थितः)।

८३. 'अपण्य इत्युच्यते, तत्रेदं न सिध्यति; शिवः स्कन्दः विशाख इति। किं कारणम्। मौर्यै हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।' महाभाष्य (५.३.९९)।

वैखानसधर्मप्रश्न में तीन प्रश्न हैं, जिनमें प्रत्येक कई खण्डों में विभाजित है। कुल मिलाकर ४१ खण्ड हैं। यह पुस्तक छोटी ही है। इसकी विषयसूची यों है—(१) चारों वर्ण एवं उनके विशेषाधिकार, चारों आश्रम, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, ब्रह्मचारियों के चार प्रकार, गृहस्थ के कर्तव्य, गृहस्थों के चार प्रकार; वार्तावृत्ति (कृषि-जीविका), शालीन, यायावर एवं घोराचारिक, वन के यति लोग, वानप्रस्थ या तो सपत्नीक हैं या अपत्नीक, सपत्नीक चार प्रकार के होते हैं; औदुम्बर, वैरिञ्च, वालखिल्य एवं फेनप, अपत्नीक वानप्रस्थ; चार प्रकार के भिक्षुओं के बारे में, यथा कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस; सकाम एवं निष्काम कर्म, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति; योगियों के तीन प्रकार एवं उनके उपविभाग; (२) वानप्रस्थ के श्रमणक नामक क्रियासंस्कारों का विस्तार (खण्ड १-४); वानप्रस्थ के कर्तव्य, संन्यासियों के सम्प्रदाय में सम्मिलित होने का विवरण (खण्ड ६-८); संन्यास के लिए अवस्था (७० वर्ष के ऊपर या संततिविहीन या पत्नी मर जाने पर); संन्यासियों के प्रतिदिन के व्रत एवं कर्तव्य; आचमन एवं संध्या के विषय में, सम्बन्धियों, पुरुष या नारी को अभिवादन, अनध्याय, स्नान एवं ब्रह्मयज्ञ, भोजन-विधि, वर्जित एवं अवर्जित भोजन; (३) गृहस्थ के आचार-नियम (खण्ड १-३), मार्गनियम, स्वर्ण या अन्य धातु सम्बन्धी वस्तुओं का पवित्रीकरण, अन्य वस्तुओं का निर्मलीकरण, वानप्रस्थ के विषय में, भिक्षु संन्यासी की समाधि, संन्यासी की मृत्यु पर नारायणबलि, विष्णु-केशव आदि बारह नामों एवं जल के साथ संन्यासियों द्वारा तर्पण, अनुलोम एवं प्रतिलोम, बीच वाली जातियाँ, व्रात्य लोग, उनका उद्गम, जीविका का नाम एवं साधन (खण्ड ११-१५)।

गौतम एवं बौधायन के धर्मसूत्रों की अपेक्षा वैखानसधर्मप्रश्न शैली एवं विषय-वस्तु में बाद की कृति लगता है। सम्भवतः यह प्राचीन बातों का संशोधन-मात्र है। इसमें धर्मसूत्रों एवं कुछ स्मृतियों की अपेक्षा अधिक मिश्रित जातियों के नाम आये हैं। यह कृति किसी वैष्णव द्वारा प्रणीत है। इसमें योग के अष्टांग (१.१०.९), आयुर्वेद के अष्टांग एवं भूत-प्रेतों की पुस्तकों की चर्चा है (भूततन्त्र, ३.१२.७)। इसमें स्त्रियों के लिए संन्यास वर्जित कहा गया है।

धर्म-सम्बन्धी अन्य सूत्रग्रन्थ

१६. अत्रि

कुछ ऐसे भी धर्मसूत्र हैं, जो या तो हस्तलिखित रूप में हैं या केवल धर्मशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों में यतस्ततः बिखरे पड़े हैं। इनमें सर्वप्रथम हम अत्रि को लेते हैं। मनुस्मृति से पता चलता है कि अत्रि प्राचीन धर्मशास्त्रकार थे। डेकन कालेज के संग्रह में बहुत-सी हस्तलिखित प्रतियाँ हैं, जिनमें आत्रेय धर्मशास्त्र नौ अध्यायों में है। इन अध्यायों में दान, जप, तप का वर्णन है, जिनसे पापों से छुटकारा मिलता है, कुछ अध्याय गद्य-पद्य दोनों में हैं। प्रथम तीन अध्याय पूर्णतः श्लोकबद्ध हैं, इसके कुछ श्लोक मनुस्मृति में भी आते हैं। चौथा अध्याय एक लंबे सूत्र से प्रारम्भ होता है, जो शैली में आगे आनेवाले भाष्यों एवं टीकाओं से मिलता है। पाँचवाँ अध्याय भी पद्य में है और इसके कतिपय श्लोक वसिष्ठ में भी पाये जाते हैं। छठा अध्याय वेद के सूक्तों एवं पवित्र स्तोत्रों का वर्णन करता है। यहाँ भी वसिष्ठ के श्लोक हैं (२८.१०-११)। सातवाँ अध्याय गुप्त प्रायश्चित्तों की ओर संकेत करता है। इसमें शकों, यवनों, कम्बोजों, बाह्लीकों, खशों, वंगों एवं पारस (पारसियों या फारस वालों) के नाम आये हैं। अपरार्क ने भी इस सूत्र का उद्धरण दिया है। सातवाँ एवं आठवाँ अध्याय गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। नवाँ पद्य में है और योग एवं उसके अंगों का वर्णन करता है।

हस्तलिखित प्रतियों में अत्रिस्मृति या अत्रिसंहिता नामक एक अन्य ग्रन्थ मिलता है। जीवानन्द के संग्रह में भी

अत्रिसंहिता का प्रकाशन हुआ है, जिसमें ४०० श्लोक हैं। इसमें स्वयं अत्रि प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये गये हैं। इसमें आपस्तम्ब, यम, व्यास, शंख, शातातप के नाम एवं उनकी कृतियों की चर्चा है। वेदान्त, सांख्य, योग, पुराण, भागवत का भी वर्णन आया है। अत्रि में सात प्रकार के अन्त्यजों के नाम आये हैं, यथा धोबी, चर्मकार, नट, बुरुड, कैवर्त (मल्लाह), मेद एवं भिल्ल। अत्रि ने कहा है कि मेला, विवाह-काल, वैदिक यज्ञों एवं अन्य उत्सवों में अस्पृश्यता का प्रश्न नहीं उठता। उन्होंने कहा है कि मगध, मथुरा एवं अन्य तीन स्थानों के ब्राह्मण, चाहे वे बृहस्पति के समान विद्वान् ही क्यों न हों, श्राद्ध के समय नहीं आदृत होते।

अत्रि में राशि-चक्र के लक्षण, कन्या एवं वृश्चिक के नाम आये हैं, अतः यह कृति ईसा की प्रथम शताब्दी के पहले प्रणीत नहीं हुई होगी।

जीवानन्द के संग्रह में एक लघु-अत्रि (भाग १, पृ० १-१२) है, जो ६ अध्यायों एवं १२० श्लोकों में है। इसमें मनु का नाम आया है। इसके बहुत-से अंश वसिष्ठधर्मसूत्र में भी आये हैं। जीवानन्द में एक वृद्धात्रेयस्मृति (भाग १, पृ० ४७-५७) भी है, जिसमें १४० श्लोक एवं ५ अध्याय हैं। इसमें और लघु अत्रि-स्मृति में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। महाभारत में भी एक अत्रि के मत का वर्णन आया है (अनुशासन, ६५, १)।

१७. उशना

कई सूत्रों से पता चलता है कि उशना ने राजनीति पर एक ग्रन्थ लिखा था। स्वयं कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उशना का नाम सात बार लिया है। उसमें शासन-सम्बन्धी बातों के अतिरिक्त अन्य बातें भी थीं। महाभारत में भी उशना की राजनीति की ओर संकेत है (शान्तिपर्व, १३९-७०)। मुद्राराक्षस में भी औशनसी दण्डनीति का नाम आया है। याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप ने भी उशना की चर्चा की है। लगता है, औशनसी-राजनीति में श्लोक भी थे, क्योंकि मनु के भाष्यकार मेधातिथि ने दो श्लोक उद्धृत किये हैं (७.१५; ८.५०)। ताण्ड्य महाब्राह्मण का कहना है कि काव्य उशना असुरों के पुरोहित थे (७.५.२०)।

डेकन कालेज संग्रह में औशनस धर्मशास्त्र की दो अप्रकाशित प्रतियाँ हैं। दोनों कई अंशों में अपूर्ण हैं। इस धर्मशास्त्र के विषयों में कोई नवीनता नहीं है। इसमें १४ विद्याओं के नाम आये हैं, यथा ४ वेद, ६ अंग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण। औशनस का जाति-सम्बन्धी वर्णन बौधायन से बहुत मिलता है। यह कृति गद्य-पद्य दोनों में है। इसमें ब्राह्मण की शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र 'पारशव' कहा जाता है, किन्तु कुछ धर्मशास्त्रकारों ने उसे 'निषाद' कहा है। मनु और उशना के बहुत-से अंश एक ही हैं। औशनस-धर्मसूत्र के बहुत-से गद्यांश मनु के श्लोकों में आते हैं। इस धर्मसूत्र में वसिष्ठ, हारीत, शौनक एवं गौतम के मत भी उद्धृत हैं। गौतमधर्मसूत्र के व्याख्याकार हरदत्त तथा स्मृतिचन्द्रिका के उद्धरणों से पता चलता है कि उन्हें उशना की पुस्तक की जानकारी थी।

इन विवेचनों से पता चलता है कि औशनस धर्मसूत्र गौतम, वसिष्ठ एवं मनु के बाद की कृति है। जीवानन्द के संग्रह में एक अन्य औशनस धर्मशास्त्र आया है और यही बात आनन्दाश्रम संग्रह में भी है। मिताक्षरा में आया है कि जीविका के साधनों की जानकारी के लिए उशना एवं मनु की कृतियों को पढ़ना चाहिए। मनु के टीकाकार कुल्लूक (१०.४९) ने भी औशनस ग्रंथ की चर्चा की है। एक औशनस-स्मृति भी है, जिसमें मनु, भृगु (भृगुपुत्र तृतीय), प्रजापति के साथ उशना का भी नाम आया है। इसमें पुराण, मीमांसा, वेदान्त, पांचरात्र, कापालिक एवं पाशुपत की चर्चा आयी है। किन्तु उपर्युक्त कृतियों में राजनीति-विषयक बातें नहीं आयी हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० ३.२६०) एवं अपरार्क में उशना के पद्यांश एवं गद्यांश दोनों के उद्धरण आये हैं।

१८. कण्व एवं काण्व

आपस्तम्बधर्मसूत्र से पता चलता है कि कण्व एवं काण्व धर्मशास्त्रकार थे। एक, कुणिक, कुत्स, कौत्स, हारीत, पुष्करसादि के साथ कण्व एवं काण्व का मत भी घोषित किया गया है। आह्निक एवं श्राद्ध पर बातें करते हुए स्मृतिचन्द्रिकाकार ने कण्व के मत को कई बार उद्धृत किया है। इसी प्रकार गौतमधर्मसूत्र की व्याख्या करते हुए हरदत्त ने भी किया है। आचारमयूख एवं श्राद्धमयूख में भी कण्व का नाम आया है। याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा व्याख्या में किसी ग्राम या नगर में संन्यासी के रुकने के विषय में काण्व का एक श्लोक उद्धृत हुआ है (याज्ञ० पर, ३.५८)।

१९. कश्यप एवं काश्यप

बौ० धर्मसूत्र (१.११.२०) में कश्यप का मत उद्धृत है।[८४] किन्तु तत्सबंधी श्लोक स्मृतिचन्द्रिका में कात्यायन का कहा गया है (१, पृ० ८७)। महाभारत के वनपर्व में काश्यप की सहिष्णुता की गाथाएँ उद्धृत हैं (२९. ३५-४०)। कश्यप और काश्यप दो स्वतन्त्र धर्मशास्त्रकार हैं कि नहीं, इसका उत्तर देना कठिन है। सम्भवतः दोनों एक ही हैं। काश्यप के धर्मसूत्र में सभी परम्परागत बातें आयी हैं, यथा—प्रति दिन के कर्तव्य, श्राद्ध, अशौच, प्रायश्चित्त आदि। विश्वरूप तथा उनके आगे के सभी लोगों ने काश्यप-धर्मसूत्र को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। विश्वरूप में काश्यप का गद्यांश भी उद्धृत है (याज्ञ० पर, ३.२६२)। मिताक्षरा ने भी गद्यांश उद्धृत किया है (याज्ञवल्क्य पर, ३.२३)। किन्तु स्मृतिचन्द्रिका के उद्धरण पद्य में हैं। हरदत्त ने गद्य का सूत्र उद्धृत किया है (२२.१८)। हारलता ने अशौच पर कश्यप का सूत्र उद्धृत किया है। अपरार्क ने कश्यप एवं काश्यप दोनों के नाम से सूत्र उद्धृत किये हैं (देखिए, याज्ञ० १.६४, ३.२६५, १.२२२-२५, ३.२५१, २८८, २९०, २९२)। डेकन कालेज के संग्रह में दो प्रतियाँ हैं जिनमें काश्यप स्मृति गद्य में है। इस स्मृति के कुछ अंश भाष्यकारों द्वारा उद्धृत पाये जाते हैं। इस स्मृति में स्वयं काश्यप प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हैं। याज्ञवल्क्य ने काश्यप को धर्मशास्त्र-प्रयोजक नहीं माना है, किन्तु पराशर ने "काश्यपधर्माः" की चर्चा की है। स्मृतिचन्द्रिका एवं सरस्वतीविलास ने १८ उपस्मृतियों की चर्चा की है, जिनमें काश्यप भी सम्मिलित हैं।

२०. गार्ग्य

वृद्ध याज्ञवल्क्य के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए विश्वरूप ने (याज्ञ० पर, १।४-५) गार्ग्य को धर्म-वक्ताओं में गिना है। उन्होंने गार्ग्य एवं वृद्धगार्ग्य के सूत्रों को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि गार्ग्यधर्मसूत्र नामक एक ग्रन्थ था। मिताक्षरा, अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका ने आह्निक, श्राद्ध एवं प्रायश्चित्त-सम्बन्धी बातों पर गार्ग्य के कई एक श्लोक उद्धृत किये हैं। पराशर ने भी गार्ग्य को धर्मशास्त्रकार माना है। धर्म-विषयक बातों को अपरार्क ने श्लोकों में भी उद्धृत किया है। गार्गी संहिता के ज्योतिष-सम्बन्धी उद्धरण मिले हैं। स्मृतिचन्द्रिका में ज्योतिर्गार्ग्य एवं बृहद्गार्ग्य से उद्धरण लिये गये हैं। नित्याचारप्रदीप ने गर्ग एवं गार्ग्य को अलग-अलग स्मृतिकार घोषित किया है।

८४. क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते। सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत्॥

२१. च्यवन

मिताक्षरा, अपरार्क तथा अन्य प्रमाण-ग्रन्थों ने च्यवन के कतिपय श्लोक एवं सूत्र उद्धृत किये हैं। गोदान करने तथा उसके लिए मन्त्रोच्चारण की विधियों के सिलसिले में अपरार्क ने च्यवन का प्रमाण दिया है (याज्ञ०, १.१२७)। कुत्ता, श्वपाक, शव, चिताधूम, सुरा, सुरापात्र आदि के स्पर्श से उत्पन्न प्रायश्चित्त पर चर्चा करते हुए मिताक्षरा एवं अपरार्क ने च्यवन का उद्धरण दिया है। इसी प्रकार अन्य सूत्रों का उद्धरण यत्र-तत्र दिया गया है।

२२. जातूकर्ण्य

याज्ञवल्क्य की व्याख्या करते हुए विश्वरूप ने वृद्ध-याज्ञवल्क्य का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें जातूकर्ण्य नामक एक 'धर्मवक्ता' की चर्चा हुई है। यह नाम कई प्रकार से लिखा गया है, यथा जातुकर्णि, जातूकर्ण्य या जातुकर्ण। स्मृतिचन्द्रिका ने अंगिरा को उद्धृत करते हुए जातूकर्ण्य को उपस्मृतिकारों में गिना है। विश्वरूप ने जातूकर्ण्य के एक गद्यांश को कई बार उद्धृत किया है। जातूकर्ण्य ने आचार-श्राद्ध-सम्बन्धी एक धर्मसूत्र लिखा था, यह स्पष्ट है। जातूकर्ण्य को मिताक्षरा, हरदत्त, अपरार्क तथा अन्य लेखकों ने श्लोकों के रूप में उद्धृत किया है। लगता है, तब तक यह धर्मसूत्र विस्मृत या लुप्त हो चुका था। अपरार्क द्वारा उद्धृत अंश में कन्या-राशि का नाम आया है, इससे यह कहा जा सकता है कि जातूकर्ण्य तीसरी या चौथी शताब्दी में रचा गया होगा।

२३. देवल

मिताक्षरा ने देवल के गद्यांश उद्धृत किये हैं, जिनमें शूद्र की वृत्ति का, यायावर एवं शालीन नामक गृहस्थों का वर्णन है। अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका में भी देवल के उदाहरण हैं। आचार, व्यवहार, श्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि विषयों पर देवल के उद्धरण प्राप्त होते हैं। देवल की एक स्वतन्त्र कृति अवश्य थी। आनन्दाश्रम के संग्रह में ९० श्लोकों की एक देवलस्मृति है। यह प्राचीन नहीं प्रतीत होती। महाभारत में भी देवल का मत उल्लिखित है (सभापर्व, ७२.५), जिसमें मनुष्यों की तीन ज्योतियों, यथा अपत्य (सन्तान), कर्म एवं विद्या का उल्लेख है। सम्पत्ति-विभाजन, वसीयत, स्त्रीधन पर अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत अंश अवलोकनीय हैं। सम्भवतः बृहस्पति एवं कात्यायन के समय में देवल विद्यमान थे।

२४. पैठीनसि

यद्यपि याज्ञवल्क्य में पैठीनसि नामक धर्मसूत्रकार की गणना नहीं है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि ये एक अति प्राचीन धर्मसूत्रकार हैं। गोहत्या के प्रायश्चित्त का उल्लेख करते हुए विश्वरूप ने पैठीनसि को उद्धृत किया है। डा० जाली एवं डा० कैलेण्ड के अनुसार पैठीनसि अथर्ववेदी ठहरते हैं। मिताक्षरा ने (याज्ञवल्क्य पर, १.५३) पैठीनसि के सूत्र का प्रमाण देते हुए लिखा है कि व्यक्ति को मातृकुल से तीन एवं पितृकुल से पाँच पीढ़ियाँ छोड़कर विवाह करना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका, हरदत्त, अपरार्क ने पैठीनसि के बहुत-से सूत्र उद्धृत किये हैं।

२५. बुध

याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने इस सूत्रकार का नाम नहीं लिया है। बुध के उद्धरण बहुत ही कम मिलते

हैं। अपरार्क (याज्ञ० पर, १.४-५), कल्पतरु (वीरमित्रोदय, परिभाषा प्र०, पृ० १६), हेमाद्रि एवं जीमूतवाहन (कालविवेक) ने बुध का उल्लेख किया है। डेकन कालेज संग्रह में बुध के धर्मशास्त्र की दो प्रतियाँ हैं। ये दोनों हस्तलिखित प्रतियाँ गद्य में ही हैं। यह धर्मसूत्र बहुत ही संक्षेप में है। इसमें उपनयन, विवाह, गर्भाधान से उपनयन तक के संस्कारों, पंचयज्ञों, श्राद्ध, पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, सोमयाग, राजधर्म आदि की चर्चा हुई है। यह प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। लगता है, यह किसी एक बृहत् ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण है।

२६. बृहस्पति

कौटिल्य ने बृहस्पति को एक प्राचीन अर्थशास्त्रकार माना है और छः बार उनकी चर्चा की है। महाभारत (शान्तिपर्व, ५९.८०-८५) में आया है कि बृहस्पति ने धर्म, अर्थ एवं काम पर रचित ब्रह्मा के ग्रन्थ को ३००० अध्यायों में संक्षिप्त किया। वनपर्व (३२.६१) में बृहस्पति-नीति का भी उल्लेख है। बृहस्पति द्वारा उच्चरित श्लोकों एवं गाथाओं को महाभारत ने कई बार कहा है। अनुशासनपर्व (३९.१०-११) में बृहस्पति एवं अन्य लेखकों के अर्थशास्त्र की चर्चा हुई है। कामसूत्र में भी आया है कि ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ एवं काम पर एक सौ सहस्र अध्यायों में एक महाग्रन्थ लिखा है और बृहस्पति ने उसी के एक अंश अर्थशास्त्र पर लिखा। अश्वघोष ने भी बृहस्पति के राजशास्त्र का उल्लेख किया है। कामन्दक एवं पंचतन्त्र ने भी बृहस्पति के मत का प्रकाशन किया है. (पंचतन्त्र, २.४१)। यशस्तिलक में ऐसा आया है कि बृहस्पति की नीति में देवों को कोई स्थान नहीं मिला है। सेनापति, प्रतीहार, दूत आदि की पात्रताओं के विषय में विश्वरूप ने ऐसे गद्य-अवतरण दिये हैं, जो बृहस्पति के हैं, ऐसा लगता है। विश्वरूप एवं हरदत्त के उल्लेखों से पता चलता है कि बृहस्पति ने धर्म एवं व्यवहार-सम्बन्धी विषय पर एक सूत्र-ग्रन्थ भी लिखा था। यह कहना कि एक ही बृहस्पति ने धर्मसूत्र एवं अर्थशास्त्र दोनों पर ग्रन्थ लिखे, सन्देहास्पद है। यह कहना अधिक उपयुक्त है कि दोनों के दो रचयिता थे। याज्ञवल्क्य ने बृहस्पति को 'धर्मवक्ता' कहा है (१.४-५)। मिताक्षरा तथा अन्य भाष्यों एव निबन्धों में बृहस्पति के व्यवहार-सम्बन्धी लगभग ७०० श्लोक तथा आचार एवं प्रायश्चित्त-सम्बन्धी कुछ सौ श्लोक उद्धृत हैं, किन्तु यह एक अलग ग्रन्थ है, जिसकी चर्चा आगे होगी। 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र' बहुत बाद को लिखा गया है।

२७. भरद्वाज एवं भारद्वाज

भारद्वाज के नाम से एक श्रौतसूत्र एवं एक गृह्यसूत्र है। विश्वरूप-लिखित उद्धरणों से व्यक्त होता है कि भरद्वाज एवं भारद्वाज रचित एक धर्मसूत्र था। सम्भवतः भरद्वाज एवं भारद्वाज दोनों एक ही व्यक्ति हैं। अपरार्क ने विश्वरूप की भाँति भरद्वाज से उद्धरण लिये हैं। स्मृतिचन्द्रिका एवं हरदत्त तथा अन्य ग्रन्थों में भी भारद्वाज का उल्लेख है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रकट होता है कि भारद्वाज अर्थशास्त्र के एक प्राचीन लेखक थे। कौटिल्य ने भारद्वाज को सात बार तथा कणिङ्क भारद्वाज को एक बार लिखा है। महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय १४०) में भारद्वाज एवं सौवीर के राजा शत्रुञ्जय के बीच वार्ता की चर्चा है। इसी पर्व में भारद्वाज को राजशास्त्र के लेखकों में गिना गया है। यशस्तिलक ने भी भारद्वाज के दो श्लोकों को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि भारद्वाज का राजनीति-विषयक ग्रन्थ दसवीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान था। पराशरमाधवीय में भरद्वाज की चर्चा हुई है। व्यवहार के विषय में सरस्वतीविलास में भरद्वाज की बातें उद्धृत की गयी हैं।

२८. शातातप

याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने शातातप को धर्मवक्ताओं में गिना है (१.४-५)। विश्वरूप, हरदत्त एव अपरार्क ने प्रायश्चित्त के विषय में शातातप के बहुत-से गद्यांश उद्धृत किये हैं। मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में शातातप के बहुत-से श्लोक लिये गये हैं। लगता है, शातातप के नाम की कई स्मृतियाँ हैं। जीवानन्द के संग्रह में कर्मविपाक नामक शातातपस्मृति है जिसमें ६ अध्याय एवं २३१ श्लोक हैं। यह बहुत बाद की कृति है। इसमें बालहत्या के लिए हरिवंश (२.३०) का पाठ करना कहा गया है।

'इण्डिया आफिस' की पुस्तक-सूची में १३६२वाँ ग्रन्थ है शातातपस्मृति, जो १२ अध्यायों में है। अपरार्क ने कई स्थानों पर वृद्ध-शातातप के मतों की चर्चा करते हुए शातातप का भी उल्लेख किया है। डेकन कालेज के संग्रह में तथा 'इण्डिया आफिस' में १३६०वाँ ग्रन्थ वृद्ध-शातातप का है। हेमाद्रि ने भी अन्य स्मृतिकारों में वृद्ध-शातातप का नाम लिया है। जीमूतवाहन की व्यवहारमात्रिका में वृद्ध-शातातप का उद्धरण आया है जो यह सिद्ध करता है कि इन्होंने व्यवहार पर भी कुछ लिखा था। मिताक्षरा ने (याज्ञ० पर, ३.२९०) बृहत्-शातातप की तथा हेमाद्रि ने उनके भाष्यकार की चर्चा की है।

२९. सुमन्तु

विश्वरूप, हरदत्त एवं अपरार्क के भाष्यों से पता चलता है कि विशेषतः आचार एवं प्रायश्चित्त पर सुमन्तु ने एक धर्मसूत्र प्रणीत किया था। विश्वरूप ने इसके गद्यांशों को उद्धृत किया है। विश्वरूप द्वारा लिखे गये उद्धरण अपरार्क में भी पाये जाते हैं। अशौच पर सुमन्तु के सूत्र हारलता द्वारा भी उद्धृत हैं। सरस्वती-विलास में राज्य के सात अंगों के विषय में सुमन्तु के एक गद्यांश की चर्चा हुई है। विश्वरूप के उद्धरणों से कहा जा सकता है कि सुमन्तु का धर्मसूत्र बहुत पहले प्रणीत हुआ था। किन्तु बात ऐसी है नहीं। याज्ञवल्क्य एवं पराशर में से किसी ने भी सुमन्तु को धर्मवक्ताओं में नहीं गिना है। किन्तु सुमन्तु नाम बहुत प्राचीन है। भागवतपुराण (१२.६.७५ तथा ७.१) में सुमन्तु को जैमिनि का शिष्य एवं अथर्ववेद का उद्घोषक कहा गया है। महाभारत (शान्तिपर्व, १४१.१९) में सुमन्तु को व्यास का शिष्य कहा गया है। प्रति दिन के तर्पण (आह्निक तर्पण) में जैमिनि, वैशम्पायन, पैल के साथ सुमन्तु का भी नाम आया है। अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में सुमन्तु के धर्म-सम्बन्धी श्लोक उद्धृत हुए हैं। हो सकता है, यह सुमन्तुधर्मसूत्र के अतिरिक्त कोई अन्य ग्रन्थ है। मिताक्षरा तथा अपरार्क ने सुमन्तु के व्यवहार-सम्बन्धी श्लोक नहीं उद्धृत किये, किन्तु सरस्वतीविलास में इस सम्बन्ध में बहुत उद्धरण हैं।

३०. स्मृतियाँ

'स्मृति' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक अर्थ में यह वेदवाङमय से इतर ग्रन्थों, यथा पाणिनि के व्याकरण, श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्रों, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य एवं अन्य ग्रन्थों से सम्बन्धित है। किन्तु संकीर्ण अर्थ में स्मृति एवं धर्मशास्त्र का अर्थ एक ही है, जैसा कि मनु का कहना है।[८५] तैत्तिरीय आरण्यक में भी 'स्मृति' शब्द आया है (१.२)। गौतम (१.२) तथा वसिष्ठ (१.४) ने स्मृति को धर्म का उपादान माना है।

८५. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। मनु० २.१०।

आरम्भ में स्मृति-ग्रन्थ कम ही थे। गौतम (११.१९) ने मनु को छोड़कर किसी अन्य स्मृतिकार का नाम नहीं लिया है; यद्यपि उन्होंने धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया है। बौधायन ने अपने को छोड़कर सात धर्मशास्त्रकारों के नाम लिये हैं—औपजंघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मौद्गल्य एवं हारीत। वसिष्ठ ने केवल पाँच नाम गिनाये हैं—गौतम, प्रजापति, मनु, यम एवं हारीत। आपस्तम्ब ने दस नाम लिखे हैं, जिनमें एक, कुणिक, पुष्करसादि केवल व्यक्ति-नाम हैं। मनु ने अपने को छोड़कर छः नाम लिखे हैं—अत्रि, उतथ्य के पुत्र, भृगु, वसिष्ठ, वैखानस (या विखनस) एवं शौनक। याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम एक स्थान पर २० धर्मवक्ताओं के नाम दिये हैं, जिनमें वे स्वयं एवं शंख तथा लिखित दो पृथक्-पृथक् व्यक्ति के रूप में सम्मिलित हैं। याज्ञवल्क्य ने बौधायन का नाम छोड़ दिया है। पराशर ने अपने को छोड़कर १९ नाम गिनाये हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य एवं पराशर की सूची में कुछ अन्तर है। पराशर ने बृहस्पति, यम एवं व्यास को छोड़ दिया है किन्तु काश्यप, गार्ग्य एवं प्रचेता के नाम सम्मिलित कर लिये हैं। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में १८ धर्म-संहिताओं के नाम आये हैं। विश्वरूप ने वृद्ध-याज्ञवल्क्य के श्लोक को उद्धृत कर याज्ञवल्क्य की सूची में दस नाम जोड़ दिये हैं। चतुर्विंशतिमत नामक ग्रन्थ में २४ धर्मशास्त्रकारों के नाम उल्लिखित हैं। इस सूची में याज्ञवल्क्य वाली सूची के दो नाम, यथा कात्यायन एवं लिखित छूट गये हैं, किन्तु छः नाम अधिक हैं, यथा गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र, शंख (शांख्यायन?)। अंगिरा ने, जिसे स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि, सरस्वतीविलास तथा अन्य ग्रन्थों ने उद्धृत किया है, उपस्मृतियों के नाम भी गिनाये हैं। एक अन्य स्मृति का नाम है षट्त्रिंशन्मत, जिसे मिताक्षरा, अपरार्क तथा अन्य ग्रन्थों ने उल्लिखित किया है। पैठीनसि ने ३६ स्मृतियों के नाम गिनाये हैं। अपरार्क के अनुसार भविष्यत्पुराण में ३६ स्मृतियों के नाम आये हैं। वृद्ध-गौतमस्मृति में ५७ धर्मशास्त्रों के नाम आये हैं। वीरमित्रोदय में उद्धृत प्रयोगपारिजात ने १८ मुख्य स्मृतियों, १८ उपस्मृतियों तथा २१ अन्य स्मृतिकारों के नाम लिये हैं।[८९] यदि बाद में आनेवाले निबन्धों, यथा निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ एवं वीरमित्रोदय की मयूख-सूचियों को देखा जाय तो स्मतियों की संख्या लगभग १०० हो जायगी।

विश्वसनीय स्मृतियाँ कई युगों की कृतियाँ हैं। कछ तो पूर्णतया गद्य में, कुछ मिश्रित अर्थात् गद्य-पद्य में हैं और अधिकांश पद्य में हैं। कुछ अति प्राचीन हैं और ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व प्रणीत हुई थीं, यथा गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन के धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति। कुछ का प्रणयन ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ, यथा याज्ञवल्क्य, पराशर एवं नारद। उपर्युक्त स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य ४०० ई० से १००० ई० के बीच की हैं। सबका

८९. १८ मुख्य स्मृतिकार हैं—मनु, बृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशना, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत। उपस्मृतियों के लेखक हैं—नारदः पुलहो गार्ग्यः पुलस्त्यः शौनकः क्रतुः। बौधायनो जातुकर्णो विश्वामित्रः पितामहः।। जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षि-कश्यपौ। व्यासः सनत्कुमारश्च शन्तनुर्जनकस्तथा।। व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातूकर्ण्यः कपिञ्जलः। बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च। पैठीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायकाः।। अन्य २१ स्मृतिकार हैं—वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः। विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः।। जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वत्स एव च।। पारस्करश्चर्ष्यशृङ्गो वैजवापस्तथैव च। इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशति-रीरिताः।। वीरमित्रोदय, परिभाषा प्र०, पृ० १८।

काल-निर्णय सरल नहीं है। कुछ तो प्राचीन सूत्रों के पद्यों में संशोधन मात्र हैं, यथा शंख। कभी-कभी दो या तीन स्मृतियाँ एक ही नाम के साथ चलती हैं, यथा शातातप, हारीत, अत्रि। कुछ में तो पूर्णरूपेण साम्प्रदायिकता पायी जाती है, यथा हारीतस्मृति, जो वैष्णव है। कुछ स्मृतियों के प्रणेता हैं प्रमुख स्मृतिकार; किन्तु वृद्ध, बृहत् एवं लघु की उपाधियों के साथ, यथा वृद्ध-याज्ञवल्क्य, वृद्ध-गार्ग्य, वृद्ध-मनु, वृद्ध-वसिष्ठ, बृहत्-पराशर आदि।

यहाँ मनुस्मृति से आरम्भ करके हम प्रसिद्ध स्मृतियों की चर्चा करेंगे। ये सभी स्मृतियाँ प्रामाणिक रूप से स्वीकृत नहीं हैं। कुछ तो केवल व्याख्याओं में उल्लिखित हैं। धर्मसूत्रों को छोड़कर अधिक-से-अधिक एक दर्जन स्मृतियों के व्याख्याकार हो चुके हैं। मनुस्मृति के बाद याज्ञवल्क्य की महिमा विशेष रूप से गायी जाती है।

३१. मनुस्मृति

भारतवर्ष में मनुस्मृति का सर्वप्रथम मुद्रण सन् १८१३ ई० में (कलकत्ता में) हुआ। उसके उपरान्त इसके इतने संस्करण प्रकाशित हुए कि उनका नाम देना सम्भव नहीं है। इस ग्रंथ में निर्णयसागर के संस्करण एवं कुल्लूकभट्ट की टीका का उपयोग हुआ है। मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद कई बार हो चुका है। डा० बुहलर का अनुवाद सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका में कतिपय समस्याओं का उद्घाटन भी किया है।

ऋग्वेद में मनु को मानव-जाति का पिता कहा गया है (ऋ० १.८०.१६; १.११४.२; २.३३.१३)। एक वैदिक कवि ने स्तुति की है ताकि वह मनु के मार्ग से च्युत न हो जाय।[८७] एक कवि ने कहा है कि मनु ने ही सर्वप्रथम यज्ञ किया (ऋ० १०.६३.७)। तैत्तिरीय संहिता एवं ताण्ड्य-महाब्राह्मण में आया है कि मनु ने जो कुछ कहा है, औषध है ("यद्वै किं च मनुरवदत्तद् भेषजम्",-तै० सं० २.२.१०.२; "मनुर्वै यत्किंचावदत्तद् भेषजं भेषजतायै",—ताण्ड्य० २३.१६.१७)। प्रथम में "मानव्यो हि प्रजाः" कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता तथा ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के विषय में एक गाथा है, जिसमें उन्होंने अपनी सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँटा है और अपने पुत्र नाभानेदिष्ठ को कुछ नहीं दिया है। शतपथ ब्राह्मण में मनु और प्रलय की कहानी है। निरुक्त में भी मनु स्वायंभुव के मत की चर्चा हुई है। अतः यास्क के पूर्व पद्यबद्ध स्मृतियाँ थीं और मनु एक व्यवहार-प्रणेता थे। गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब ने मनु का उल्लेख किया है। महाभारत में मनु को कभी केवल मनु, कभी स्वायंभुव मनु (शान्ति, २१.१२) और कभी प्राचेतस मनु (शान्ति, ५७.४३) कहा गया है। शान्तिपर्व (३३६.३८-४६) में आया है कि किस प्रकार भगवान् ब्रह्मा ने एक सौ सहस्र श्लोकों में धर्म पर लिखा, किस प्रकार मनु ने उन धर्मों को उद्घोषित किया और किस प्रकार उशना तथा बृहस्पति ने मनु स्वायंभुव के ग्रन्थ के आधार पर शास्त्रों का प्रणयन किया। महाभारत में एक स्थान पर विवरण कुछ भिन्न है और वहाँ मनु का नाम नहीं आया है। शान्तिपर्व (५८.८०-८५) ने बताया है कि किस प्रकार ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ एवं काम पर एक लाख अध्याय लिखे और वह महाग्रन्थ कालान्तर में विशालाक्ष, इन्द्र, बाहुदन्तक, बृहस्पति एवं काव्य (उशना) द्वारा क्रम से १०,०००, ५,०००, ३,००० एवं १,००० अध्यायों में संक्षिप्त किया गया। नारद-स्मृति में आया है कि मनु ने १,००,००० श्लोकों, १०८० अध्यायों एवं २४ प्रकरणों में एक धर्मशास्त्र लिखा और उसे नारद को पढ़ाया, जिसने उसे १२,००० श्लोकों में संक्षिप्त किया और मार्कण्डेय को

८७. मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः। ऋग्वेद, ८.३०.३।

पढ़ाया। मार्कण्डेय ने भी इसे ८,००० श्लोकों में संक्षिप्त कर सुमति भार्गव को दिया, जिन्होंने स्वयं उसे ४,००० श्लोकों में संक्षिप्त किया। वर्तमान मनुस्मृति में आया है (१.३२-३३) कि ब्रह्मा से विराट् की उद्भूति हुई, जिन्होंने मनु को उत्पन्न किया, जिनसे भृगु, नारद आदि ऋषि उत्पन्न हुए; ब्रह्मा ने मनु को शास्त्राध्ययन कराया, मनु ने दस ऋषियों (१.५८) को वह ज्ञान दिया; कुछ बड़े ऋषि मनु के यहाँ गये और वर्णों एवं मध्यम जातियों के धर्मों (कर्तव्यों) को पढ़ाने के लिए उनसे प्रार्थना की और मनु ने कहा कि यह कार्य उनके शिष्य भृगु करेंगे (१.५९-६०)। मनुस्मृति में यह पढ़ाने की बात आरम्भ से अन्त तक है और स्थान-स्थान पर ऋषि लोग भृगु के व्याख्यान को रोककर उनसे कठिन बातें समझ लेते हैं (५.१-२; १२.१-२)। मनु सर्वत्र विराजमान हैं; उनका नाम 'मनुराह' (९.१५८, १०.७८ आदि) या 'मनुरब्रवीत्' या 'मरोरनुशासनम्' (८. १३९, २७९; ९.२३९ आदि) के रूप में दर्जनों बार आया है। भविष्यपुराण के अनुसार, जैसा कि हमें हेमाद्रि, संस्कारमयूख तथा अन्य ग्रन्थों से पता चलता है, स्वायंभुव-शास्त्र के चार संस्करण थे, जो भृगु, नारद, बृहस्पति एवं अंगिरा द्वारा प्रणीत थे।[८८] अति प्राचीन लेखक विश्वरूप ने मनुस्मृति के उद्धरण दिये हैं और वहाँ मनु स्वयंभू कहे गये हैं (याज्ञ० पर भाष्य, २. ७३, ७४, ८३, ८५, जहाँ मनु० ८.६८, ७०-७१, ३८० एवं १०५-६ क्रमशः स्वयंभू के नाम से उद्धृत हैं)। किन्तु विश्वरूप द्वारा उद्धृत भृगु की बातें मनुस्मृति में नहीं पायी जातीं। इसी प्रकार अपरार्क द्वारा उद्धृत भृगु की बातें भी मनुस्मृति में नहीं पायी जातीं।

मनुस्मृति का प्रणयन किसने किया, यह कहना कठिन है। यह सत्य है कि मानव के आदि पूर्वज मनु ने इसका प्रणयन नहीं किया है। इसके प्रणेता ने अपना नाम क्यों छिपा रखा, यह कहना दुष्कर ही है। हो सकता है कि इस महान् ग्रन्थ को प्राचीनता एवं प्रामाणिकता देने के लिए ही इसे मनुकृत कहा गया है। मैक्समूलर के साथ डा० बुहलर ने यही प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि मानव-चरण के धर्मसूत्र का संशोधित रूप ही मनुस्मृति है। किन्तु सम्भवतः मानवधर्मसूत्र नामक ग्रन्थ कभी विद्यमान ही नहीं था (देखिए प्रकरण १३)। महाभारत ने स्वायंभुव मनु एवं प्राचेतस मनु में अन्तर बताया है, जिनमें प्रथम धर्मशास्त्रकार एवं दूसरे अर्थशास्त्रकार कहे गये हैं। कहीं-कहीं केवल मनु राजधर्म या अर्थविद्या के प्रणेता कहे गये हैं। हो सकता है, आरम्भ में मनु के नाम से दो ग्रन्थ रहे होंगे। जब कौटिल्य 'मानवों' की ओर संकेत करते हैं तो वहाँ सम्भवतः वे प्राचेतस मनु की बात उठाते हैं।

चाहे जो हो, यह कल्पना करना असंगत नहीं है कि मनुस्मृति के लेखक ने मनु के नाम वाले धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की बातों को ले लिया। यह बात सम्भवतः कौटिल्य को ज्ञात नहीं थी, क्योंकि सम्भवतः तब तक यह संशोधन-सम्पादन नहीं हो सका था, या हुआ भी रहा होगा तो कौटिल्य को इसकी सूचना नहीं थी। वर्तमान मनुस्मृति में इसके लेखक को स्वायंभुव मनु कहा गया है, जिनके अतिरिक्त छः अन्य मनुओं की चर्चा की गयी है, जिनमें प्राचेतस की गणना नहीं हुई है।

वर्तमान मनुस्मृति में १२ अध्याय एवं २६९४ श्लोक हैं। मनुस्मृति सरल एवं धाराप्रवाह शैली में प्रणीत है। इसका व्याकरण अधिकांश में पाणिनि-सम्मत है। इसके सिद्धान्त गौतम, बौधायन एवं आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों

८८. भार्गवीया नारदीया बार्हस्पत्याङ्गिरस्यपि। स्वायंभुवस्य शास्त्रस्य चतस्रः संहिता मताः॥ चतुर्वर्ग०, दानखण्ड, पृ० ५२८; संस्कारमयूख, पृ० २।

से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। इसके बहुत-से श्लोक वसिष्ठ एवं विष्णु के धर्मसूत्रों में भी पाये जाते हैं। भाषा एवं सिद्धान्तों में मनुस्मृति एवं कौटिलीय में बहुत-कुछ समानता है।[८९]

मनुस्मृति की विषय-सूची यह है—(१) वर्णधर्म की शिक्षा के लिए ऋषिगण मनु के पास जाते हैं; मनु बहुत कुछ सांख्य मत के अनुसार आत्मरूप से स्थित भगवान् से विश्व-सृष्टि का विवरण देते हैं; विराट् की उत्पत्ति, विराट् से मनु, मनु से दस ऋषियों की सृष्टि हुई; भाँति-भाँति के जीव, यथा—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की सृष्टि; ब्रह्मा ने धर्म-शिक्षा मनु को दी, मनु ने ऋषियों को शिक्षित किया; मनु ने भृगु को ऋषियों को धर्म की शिक्षा देने का आदेश दिया; स्वायंभुव मनु से छः अन्य मनु उत्पन्न हुए; निमेष से वर्ष तक की काल-इकाइयाँ, चारों युग एवं उनके सन्ध्या-प्रकाश; एक सहस्र युग ब्रह्मा के एक दिन के बराबर हैं; मन्वन्तर, प्रलय का विस्तार; चारों युगों में क्रमशः धर्मावनति; चारों युगों में विभिन्न धर्म एवं लक्ष्य; चारों वर्णों के विशेषाधिकार एवं कर्तव्य; ब्राह्मणों एवं मनु के शास्त्र की स्तुति; आचार परमोच्च धर्म है; सम्पूर्ण शास्त्र की विषय-सूची; (२) धर्म-परिभाषा; धर्म के उपादान हैं वेद, स्मृति, भद्र लोगों का आचार, आत्मतुष्टि; इस शास्त्र के लिए किसका अधिकार है; ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त की सीमाएँ; संस्कार क्यों आवश्यक हैं; ऐसे संस्कार, यथा—जातकर्म, नामधेय, चूड़ाकर्म, उपनयन; वर्णों के उपनयन का उचित काल, उचित मेखला, पवित्र जनेऊ, तीन वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए दण्ड, मृगछाला, ब्रह्मचारी के कर्तव्य एवं आचरण; (३) ३६, १८ एवं ९ वर्षों का ब्रह्मचर्य; समावर्तन, विवाह; विवाहयोग्य लड़की; ब्राह्मण चारों वर्णों की लड़कियों से विवाह कर सकता है; आठ प्रकार के विवाहों की परिभाषा, किस जाति के लिए कौन विवाह उपयुक्त है, पति-पत्नी के कर्तव्य; नारी-स्तुति, पंचाह्निक; गृहस्थ-जीवन की प्रशंसा, अतिथि-सत्कार, मधुपर्क; श्राद्ध, श्राद्ध में कौन निमन्त्रित नहीं होते; (४) गृहस्थ की जीवन-विधि एवं वृत्ति; स्नातक-आचार-विधि, अनध्याय-नियम; वर्जित एवं अवर्जित भोज्य एवं पेय के लिए नियम; (५) कौन-से मांस एवं तरकारियाँ खानी चाहिए; जन्म-मरण पर अशुद्धिकाल, सपिण्ड एवं समानोदक की परिभाषा; विभिन्न प्रकार से विभिन्न वस्तुओं के स्पर्श से पवित्री-करण, पत्नी एवं विधवा के कर्तव्य; (६) वानप्रस्थ होने का काल, उसकी जीवनचर्या, परिव्राजक एवं उसके कर्तव्य; गृहस्थ-स्तुति; (७) राजधर्म, दण्ड-स्तुति, राजा के लिए चार विद्याएँ, काम से उत्पन्न राजा के दस अवगुण एवं क्रोध से उत्पन्न आठ अवगुण (दोष); मन्त्रि-परिषद की रचना, दूत के गुण (पात्रता), दुर्ग एवं राजधानी, पुरुष एवं विविध विभागों के अध्यक्ष; युद्ध-नियम; साम, दान, भेद एवं दण्ड नामक चार साधन; ग्राममुखिया से ऊपर वाले राज्याधिकारी; कर-नियम; बारह राजाओं के मण्डल की रचना; छः गुण—संधि, युद्ध-स्थिति, शत्रु पर आक्रमण, आसन, शरण लेना एवं द्वैध; विजयी के कर्तव्य; (८) न्यायशासन-सम्बन्धी राजा के कर्तव्य; व्यवहारों के १८ नाम, राजा एवं न्यायाधीश, अन्य न्यायाधीश; सभा-रचना; नाबालिगों, विधवाओं, अस-हाय लोगों, कोष आदि को देखने के लिए राजा का धर्म; चोरी गये हुए धन का पता लगाने में राजा का कर्तव्य; दिये हुए ऋण को प्राप्त करने के लिए ऋणदाता के साधन; स्थितियाँ जिनके कारण अधिकारी मुकदमा हार जाता है, साक्षियों की पात्रता, साक्ष्य के लिए अयोग्य व्यक्ति, शपथ, झूठी गवाही के लिए अर्थ-दण्ड,

८९. तुलना कीजिए—'अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षिणी रक्षितविवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च।' कौटिल्य (१-४) और 'अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया। रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥ मनु० (७.१०१)।

शारीरिक दण्ड के ढंग, शारीरिक दण्ड से ब्राह्मणों को छुटकारा; तौल एवं बटखरे; न्यूनतम, मध्यम एवं अधिकतम अर्थ-दण्ड; ब्याज-दर, प्रतिज्ञाएँ, प्रतिकूल (विपक्षी के) अधिकार से प्रतिज्ञा, सीमा, नाबालिग की भूमि-सम्पत्ति, धन-संग्रह, राजा की सम्पत्ति आदि पर प्रभाव नहीं पड़ता; दामदुपट का नियम; बन्धक; पिता के कौन-से ऋण पुत्र नहीं देगा; सभी लेन-देन को कपटाचार एवं बलप्रयोग नष्ट कर देता है; जो स्वामी नहीं है उसके द्वारा विक्रय; स्वत्व एवं अधिकार; साझा; प्रत्यादान; मजदूरी का न देना; परम्पराविरोध; विक्रय-विलोप; स्वामी एवं गोरक्षक के बीच का झगड़ा, गाँव के इर्द-गिर्द के चरागाह; सीमा-संघर्ष; गालियाँ (अपशब्द), अपवाद एवं पिशुन-वचन; आक्रमण, मर्दन एवं कुचेष्टा; पृष्ठभाग पर कोड़ा मारना; चोरी, साहस (यथा हत्या, डकैती आदि के कार्य); स्वरक्षा का अधिकार; ब्राह्मण कब मारा जा सकता है; व्यभिचार एवं बलात्कार, ब्राह्मण के लिए मृत्यु-दण्ड नहीं, प्रत्युत देश-निकाला; माता-पिता, पत्नी, बच्चे कभी भी त्याज्य नहीं हैं; चुंगियाँ एवं एकाधिकार; दासों के सात प्रकार; (९) पति-पत्नी के न्याय्य (व्यवहारानुकूल) कर्तव्य, स्त्रियों की भर्त्सना, पातिव्रत की स्तुति; बच्चा किसको मिलना चाहिए, जनक को या जिसकी पत्नी से वह उत्पन्न हुआ है; नियोग का विवरण एवं उसकी भर्त्सना; प्रथम पत्नी का कब अतिक्रमण किया जा सकता है; विवाह की अवस्था; बँटवारा, इसकी अवधि, ज्येष्ठ पुत्र का विशेष भाग; पुत्रिका, पुत्री का पुत्र, गोद का पुत्र, शूद्र पत्नी से उत्पन्न ब्राह्मणपुत्र के अधिकार; बारह प्रकार की पुत्रता; पिण्ड किसको दिया जाता है, सबसे निकट वाला सपिण्ड उत्तराधिकार पाता है; सकुल्य, गुरु एवं शिष्य उत्तराधिकारी के रूप में; ब्राह्मण के धन को छोड़कर अन्य किसी के धन का अन्तिम उत्तराधिकारी राजा है; स्त्रीधन के प्रकार; स्त्रीधन का उत्तराधिकार; वसीयत से हटाने के कारण; किस सम्पत्ति का बँटवारा नहीं होता; विद्या के लाभ, पुनर्मिलन; माता एवं पितामह उत्तराधिकारी के रूप में; बाँट दी जानेवाली सम्पत्ति; जुआ एवं पुरस्कार, ये राजा द्वारा बन्द कर दिये जाने चाहिए; पंच महापाप, उनके लिए प्रायश्चित्त; ज्ञात एवं अज्ञात (गुप्त) चोर; बन्दीगृह; राज्य के सात अंग; वैश्य एवं शूद्र के कर्तव्य; (१०) केवल ब्राह्मण ही पढ़ा सकता है; मिश्रित जातियाँ; म्लेच्छ, कम्बोज, यवन, शक, सबके लिए आचार-नियम; चारों वर्णों के विशेषाधिकार एवं कर्तव्य, विपत्ति में ब्राह्मण की वृत्ति के साधन; ब्राह्मण कौन-से पदार्थ न विक्रय करे; जीविका-प्राप्ति एवं उसके साधन के सात उचित ढंग; (११) दान-स्तुति; प्रायश्चित्त के बारे में विविध मत; बहुत-से देखे हुए प्रतिफल; पूर्वजन्म के पाप के कारण रोग एवं शरीर-दोष; पंच नैतिक पाप एवं उनके लिए प्रायश्चित्त; उपपातक और उनके लिए प्रायश्चित्त; सान्तपन, पराक, चान्द्रायण जैसे प्रायश्चित्त; पापनाशक पवित्र मन्त्र; (१२) कर्म पर विवेचन; क्षेत्रज्ञ, भूतात्मा, जीव; नरक-कष्ट; सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक तीन गुण; निःश्रेयस की उत्पत्ति किससे होती है; आनन्द का सर्वोच्च साधन है आत्म-ज्ञान; प्रवृत्त एवं निवृत्त कर्म; फलप्राप्ति की इच्छा से रहित होकर जो कर्म किया जाय वही निवृत्त है; वेद-स्तुति; तर्क का स्थान; शिष्ट एवं परिषद्; मानव शास्त्र के अध्ययन का फल ।

मनु को अपने पूर्व के साहित्य का पर्याप्त ज्ञान था। उन्होंने तीन वेदों के नाम लिये हैं और अथर्ववेद को अथर्वांगिरसी श्रुति (११.३३) कहा है। मनुस्मृति में आरण्यक, छः वेदांगों, धर्मशास्त्रों की चर्चा आयी है। मनु ने अत्रि, उतथ्यपुत्र (गौतम), भृगु, शौनक, वसिष्ठ, वैखानस आदि धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख किया है। उन्होंने आख्यान, इतिहास, पुराण एवं खिलों का उल्लेख किया है। मनु ने वेदान्त की भाँति ब्रह्म का वर्णन किया है; लेकिन यहाँ यह भी कल्पना की जा सकती है कि उन्होंने उपनिषद् की ओर संकेत किया है। उन्होंने 'वेदबाह्याः स्मृतयः' की चर्चा करके मानो यह दर्शाया है कि उन्हें विरोधी पुस्तकों का पता था। हो सकता है कि ऐसा लिखकर उन्होंने बौद्धों, जैनों आदि की ओर संकेत किया है। उन्होंने धर्म-विरोधियों और उनकी

व्यावसायिक श्रेणियों का उल्लेख किया है। उन्होंने आस्तिकता एवं वेदों की निन्दा कि ओर भी संकेत किया है और बहुत प्रकार की बोलियों की चर्चा की है। उन्होंने 'केचित्', 'अपरे', 'अन्ये' कहकर अन्य लेखकों के मत का उद्घाटन किया है।

बुहलर का कथन है कि पहले एक मानवधर्मसूत्र था, जिसका रूपान्तर मनुस्मृति में हुआ है। किन्तु, वास्तव में यह एक कोरी कल्पना है, क्योंकि मानवधर्मसूत्र था ही नहीं।

अब हम आन्तरिक एवं बाह्य साक्षियों के आधार पर मनुस्मृति के काल-निर्णय का प्रयत्न करेंगे। प्रथमतः हम बाह्य साक्षियाँ लेते हैं। मनुस्मृति की सबसे प्राचीन टीका मेधातिथि की है, जिसका काल है ९०० ई०। याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याकार विश्वरूप ने मनुस्मृति के जो लगभग २०० श्लोक उद्धृत किये हैं, वे सब बारहों अध्यायों के हैं। दोनों व्याख्याकारों ने वर्तमान मनुस्मृति से ही उद्धरण लिये हैं। वेदान्तसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने मनु को अधिकतर उद्धृत किया है। वेदान्तसूत्र के लेखक मनुस्मृति पर बहुत निर्भर रहते हैं; ऐसा शंकराचार्य ने कहा है। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में मनुस्मृति को सभी स्मृतियों से और गौतमधर्मसूत्र से भी प्राचीन कहा है। मृच्छकटिक (९.३९) ने पापी ब्राह्मण के दण्ड के विषय में मनु का हवाला दिया है, और कहा है कि पापी ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड न देकर देश-निष्कासन-दण्ड देना चाहिए। वलभीराज धारसेन के एक अभिलेख से पता चलता है कि सन् ५७१ ई० में वर्तमान मनुस्मृति उपस्थित थी। जैमिनिसूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी ने भी, जो ५०० ई० के बाद के नहीं हो सकते, प्रत्युत पहले के ही हो सकते हैं, मनुस्मृति को उद्धृत किया है। अपरार्क एवं कुल्लूक ने भविष्यपुराण द्वारा उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों की चर्चा की है। बृहस्पति ने, जिनका काल है ५०० ई०, मनुस्मृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बृहस्पति ने जो कुछ उद्धृत किया है वह वर्तमान मनुस्मृति में पाया जाता है। स्मृतिचन्द्रिका में उल्लिखित अङ्गिरा ने मनु के धर्मशास्त्र की चर्चा की है। अश्वघोष की वज्रसूचिकोपनिषद् में मानव धर्म के कुछ ऐसे उद्धरण हैं जो वर्तमान मनुस्मृति में पाये जाते हैं, कुछ ऐसे भी हैं, जो नहीं मिलते। रामायण में वर्तमान मनुस्मृति की बातें पायी जाती हैं।

उपर्युक्त बाह्य साक्षियों से स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी के बाद के अधिकतर लेखकों ने मनुस्मृति को प्रामाणिक ग्रन्थ माना है।

क्या मनुस्मृति के कई संशोधन हुए हैं? सम्भवतः नहीं। नारदस्मृति में जो यह आया है कि मनु का शास्त्र नारद, मार्कण्डेय एवं सुमति भार्गव द्वारा संक्षिप्त किया गया; भ्रामक उक्ति है, वास्तव में ऐसा कहकर नारद ने अपनी महत्ता गायी है। अब हम कुछ आन्तरिक साक्षियों की ओर भी संकेत कर लें।

वर्तमान मनुस्मृति याज्ञवल्क्य से बहुत प्राचीन है, क्योंकि मनुस्मृति में न्याय-विधि-सम्बन्धी बातें अपूर्ण हैं और याज्ञवल्क्यस्मृति इस बात में बहुत पूर्ण है। याज्ञवल्क्य की तिथि कम-से-कम तीसरी शताब्दी है। अतः मनुस्मृति को इससे बहुत पहले रचा जाना चाहिए। मनु ने यवनों, कम्बोजों, शकों, पह्लवों एवं चीनों के नाम लिये हैं, अतएव वे ई० पू० तीसरी शताब्दी से बहुत पहले नहीं हो सकते। यवन, काम्बोज एवं गान्धार लोगों का वर्णन अशोक के पाँचवें प्रस्तर-अनुशासन में आ चुका है। वर्त्तमान मनुस्मृति गठन एवं सिद्धान्तों में प्राचीन धर्मसूत्रों, अर्थात् गौतम, बौधायन एवं आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों से बहुत आगे है। अतः निस्सन्देह इसकी रचना धर्मसूत्रों के उपरान्त हुई है। अतः स्पष्ट है कि मनुस्मृति की रचना ई० पू० दूसरी शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच कभी हुई होगी। संशोधित एवं परिवर्धित मनुस्मृति की रचना कब हुई, इस प्रश्न का उत्तर मनुस्मृति एवं महाभारत के पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान पर निर्भर रहता है। श्री वी० एन०

माण्डलिक ने कहा है कि मनुस्मृति ने महाभारत का भावांश लिया है। बुहलर ने बड़ी छानबीन के उपरान्त यह उद्घोषित किया है कि महाभारत के बारहवें एवं तेरहवें पर्वों को किसी मानवधर्मशास्त्र का ज्ञान था और यह मानवधर्मशास्त्र आज की मनुस्मृति से गहरे रूप में सम्बन्धित लगता है। किन्तु यहाँ बुहलर ने महाभारत के साथ अपना पक्षपात ही प्रकट किया है। हाप्किन ने यह कहा है कि महाभारत के तेरहवें अध्याय में वर्तमान मनुस्मृति की चर्चा है। मनुस्मृति में बहुत-से ऐतिहासिक नाम आये हैं, यथा—अंगिरा, अगस्त्य, वेन, नहुष, सुदास, पैजवन, निमि, पृथु, मनु, कुबेर, गाधिपुत्र, वसिष्ठ, वत्स, अक्षमा, सारङ्गी, दक्ष, अजीगर्त, वामदेव, भरद्वाज, विश्वामित्र। इनमें बहुत-से नाम वैदिक परम्परा के भी हैं। मनुस्मृति ने यह नहीं कहा है कि ये नाम महाभारत के हैं। महाभारत में 'मनुरब्रवीत्', 'मनुराजधर्माः', 'मनुशास्त्र' जैसे शब्द आये हैं, जिनमें कुछ उद्धरण आज की मनुस्मृति में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत के बहुत-से श्लोक मनुस्मृति से मिलते हैं, यद्यपि वहाँ यह नहीं कहा गया है कि वे मनु से लिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति महाभारत से पुराना ग्रन्थ है। ई० पू० चौथी शताब्दी में स्वायंभुव मनु द्वारा प्रणीत एक धर्मशास्त्र था, जो सम्भवतः पद्य में था। इसी काल में प्राचेतस मनु द्वारा प्रणीत एक राजधर्म भी था। हो सकता है कि दो ग्रन्थों के स्थान पर एक बृहत् ग्रन्थ रहा हो जिसमें धर्म एवं राजनीति दोनों पर विवेचन था। महाभारत ने प्राचेतस का एक वचन उद्धृत किया है जो आज की मनुस्मृति में ज्यों-का-त्यों पाया जाता है (३.५४)। उपर्युक्त दोनों तथाकथित मनु की पुस्तकों की ओर या केवल एक पुस्तक की ओर यास्क, गौतम, बौधायन एवं कौटिल्य संकेत करते हैं। महाभारत भी अपने पहले के पर्वों में ऐसा ही करता है। वह बहुचर्चित ग्रन्थ आज की मनुस्मृति का आधार एवं मूलबीज है। तब ई० पू० दूसरी शताब्दी एवं ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच सम्भवतः भृगु ने मनुस्मृति का संशोधन किया। यह कृति प्राचीन ग्रन्थ के संक्षिप्त एवं परिवर्धित रूप में प्रकट हुई। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनु के बहुत-से उद्धरण जो अन्य पुस्तकों में मिलते हैं, आज की मनुस्मृति में क्यों नहीं प्राप्त होते। बात यह हुई कि संशोधन में बहुत-सी बातें हट गयीं और बहुत-सी आ गयीं। वर्तमान महाभारत वर्तमान मनुस्मृति के बाद की रचना है। नारद-स्मृति का यह कथन कि सुमति भार्गव ने मनु के ग्रन्थ को ४००० श्लोकों में संक्षिप्त किया, कुछ सीमा तक ठीक ही है। आज की मनुस्मृति में लगभग २७०० श्लोक हैं। हो सकता है, ४००० श्लोकों में नारद ने वृद्ध-मनु एवं बृहन्मनु के श्लोकों को भी सम्मिलित कर लिया है। मनुस्मृति का प्रभाव भारत के बाहर भी गया। चम्पा के एक अभिलेख में बहुत-से श्लोक मनु (२.१३६) से मिलते हैं। बरमा में जो धम्मथट् है, वह मनु पर आधारित है। बालि द्वीप का कानून मनुस्मृति पर आधारित था।

मनु के बहुत-से टीकाकार हो गये हैं। मेधातिथि, गोविन्दराज एवं कुल्लूक के विषय में हम कुछ विस्तार से ६३वें, ७६वें एवं ८८वें प्रकरण में पढ़ेंगे। इन लोगों के अतिरिक्त व्याख्याकार हैं नारायण, राघवानन्द, नन्दन एवं रामचन्द्र। कुछ अन्य व्याख्याकार थे जिनकी कृतियाँ पूर्णरूप से उपस्थित नहीं हैं, अन्य हैं एक कश्मीरी टीकाकार (नाम अज्ञात है), असहाय, उदयकर, भागुरि, भोजदेव, धरणीधर। मेधातिथि ने अपने पहले के भाष्यकारों की ओर संकेत किया है।

आह्निक, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त पर विश्वरूप (याज्ञ० पर, १.६९), मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, पराशरमाधवीय तथा अन्य लेखकों ने वृद्ध-मनु से दर्जनों उद्धरण लिये हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० पर, ३.२०) तथा अन्य कृतियों ने बृहत्मनु से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। किन्तु अभी तक वृद्ध-मनु एवं बृहन्मनु के कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

३२. दोनों महाकाव्य

दोनों महाकाव्यों, विशेषतः महाभारत में, बहुत-से ऐसे स्थल हैं, जहाँ धर्मशास्त्र-सम्बन्धी बातें पायी जाती हैं। कालान्तर के ग्रन्थों में रामायण एवं महाभारत की गणना स्मृतियों में हुई है। आदिपर्व में महाभारत धर्मशास्त्र कहा गया है (२.८३)।

रामायण तो प्रमुखतः एक काव्य है, किन्तु एक आदर्श ग्रन्थ होने के कारण यह महाभारत के समान धर्म का उपादान माना जाता है। कालान्तर के निबन्धों में इन काव्यों की पर्याप्त चर्चा हुई है। अयोध्या-काण्ड (सर्ग १००) तथा अरण्यकाण्ड (३३) में राजनीति एवं शासन-सम्बन्धी विवेचन आया है। मास के प्रथम दिन में अनध्याय के विषय में स्मृतिचन्द्रिका ने रामायण के सुन्दरकाण्ड (५९.३१) से पर्याप्त प्रचलित श्लोक उद्धृत किया है।[१०] तर्पण एवं श्राद्ध पर भी रामायण से उद्धरण लिये गये हैं (अयोध्या०, १०३.-३०; १०४.१५)। इसी प्रकार हारलता एवं अपरार्क (याज्ञ० पर, ३.८–१०) ने रामायण से उद्धरण लिये हैं।

हम यहाँ रामायण एवं महाभारत के काल-निर्णय के पचड़े में नहीं पड़ेंगे। महाभारत में धर्मशास्त्र सम्बन्धी बातें संक्षिप्त रूप से यों हैं—अभिषेक (शान्ति० ४०), अराजक (शान्ति० ६७), अहिंसा (शान्ति० २६४, २६६), आश्रमधर्म (शान्ति० ६१, २४३-२४६), आचार (अनुशासन० १०४, आश्वमेधिक० ४५), आपद्धर्म (शान्ति० १३१), उपवास (अनु० १०६-१०७), गोस्तुति (अनु० ५१ एवं ७३), तीर्थ (वनपर्व, ८२, अनु० २५-२६, शल्य० ३५-५४), दण्डस्तुति (शान्ति० १५, १२१, २४६, २९५), दान (वन० १८६, शान्ति० २३५, अनु० ५७-९९), दायभाग (अनु० ४५ एवं ४७), पुत्र (अनु० ४८-४९), प्रायश्चित्त (शान्ति० ३४-३५, १६५), ब्राह्मण-वृत्ति (शान्ति० ७६-७८), भक्ष्याभक्ष्य (शान्ति० ३६, ७८), राजनीति (सभा० ५, वन० १५०, उद्योग० ३३-३४, शान्ति० ५९-१३० एवं २९८, आश्रमवासिक० ५-७), वर्णधर्म (शान्ति० ६० तथा २९७, वर्णसंकर, शान्ति० ६५, २९७ तथा अनु० ४८-४९), विवाह (अनु० ४४-४६), श्राद्ध (स्त्रीपर्व, २६-२७, अनु० ८७-९५)। रामायण की निम्नलिखित सूची संक्षिप्त रूप में ही दी जा रही है—अभिषेक (अयोध्या काण्ड १५, युद्ध० १२८), अराजक (अयो० ६७), पातक (किष्किन्धा० १७.३६-३७, १८.२२-२३), राजधर्म (बाल० ७, अयोध्या० १००, आरण्य० ६.११-१४, ९.२-९, ३३, ४०.१०-१४, ४१.१-६, युद्ध० १७–१८ तथा ६३), श्राद्ध (अयोध्या० ७७, १०३, १११.१०४-१२०), सत्यप्रशंसा (अयोध्या० १०९), स्त्रीधर्म (अयोध्या० २४, २६-२७, २९, ३९, ११७-११८)।

३३. पुराण

पुराणों की साहित्य-परम्परा बहुत प्राचीन है। तैत्तिरीय आरण्यक में ब्राह्मणों, इतिहासों, पुराणों एवं नाराशंसी गाथाओं की चर्चा हुई है।[११] छान्दोग्योपनिषद् (७.१.२ एवं ४) में 'इतिहास-पुराण' को पाँचवाँ वेद कहा गया है। बृहदारण्यक (४.१.२) में भी 'इतिहास एवं पुराण' का उल्लेख हुआ है। गौतमधर्मसूत्र ने भी नाम लिया है। लगता है, आरम्भ में केवल एक ही पुराण था। मत्स्यपुराण भी आरम्भ के एक ही पुराण की बात कहता है (पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ)। पतञ्जलि के महाभाष्य में पुराण एक वचन में आया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के उद्धरण से ज्ञात होता है कि पुराण पद्यबद्ध थे। विद्यमान पुराण पुराने

१०. सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी त्वद्वियोगाच्च कर्शिता। प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता॥

११. ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीः। तैत्तिरीय आरण्यक (२.१०)।

पुराणों के संशोधित रूप हैं, और सम्भवतः संशोधन-कार्य ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में हुआ था। महाभारत ने वायुपुराण का उल्लेख किया है। बाण ने भी इस पुराण का नाम लिया है। कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक में पुराणों का उल्लेख हुआ है और विष्णु एवं मार्कण्डेय नामक पुराणों से उद्धरण लिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि सभी नहीं तो कुछ पुराण ६०० ई० के पूर्व प्रणीत हो चुके थे।

परम्परा के अनुसार प्रमुख पुराण १८ एवं उपपुराण १८ हैं। इनके नामों के विषय में बड़ा मतभेद है। मत्स्यपुराण के अनुसार निम्न १८ नाम हैं--ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ एवं ब्रह्माण्ड। विष्णुपुराण ने अपनी सूची में वायु के स्थान पर शैव कहा है। पुराणों एवं उपपुराणों के विषय में अन्य जानकारियों के लिए भागवतपुराण (१२.१३.४-८) अवलोकनीय है।

आरम्भिक भाष्यकारों में अपरार्क, बल्लालसेन एवं हेमाद्रि ने पुराणों को धर्म के उपादान के रूप में ग्रहण कर उनसे उद्धरण लिये हैं। कुल्लूक ने मनु पर टीकाओं के रूप में भविष्यपुराण से उदाहरण लिये हैं। मत्स्यपुराण में धर्मशास्त्र-सम्बन्धी बहुत-सी बातें आयी हैं। विष्णुपुराण में (३. अध्याय ८-१६) वर्णाश्रम के कर्तव्य, नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ, गृहस्थ-सदाचार, पंचमहायज्ञ, जातकर्म एवं अन्य संस्कार, मृत्यु पर अशौच, श्राद्ध आदि के विषय में पर्याप्त चर्चा है। इसी प्रकार सभी पुराणों में धर्मशास्त्र की कुछ-न-कुछ बातें पायी जाती हैं। अग्निपुराण के कुछ श्लोक नारदस्मृति में ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं। गरुड़पुराण में लगभग ४०० श्लोक बेतरतीब ढंग से याज्ञवल्क्य के प्रथम एवं तृतीय प्रकरणों से लिये गये हैं।

पुराणों की तिथि-समस्या महाकाव्यों की भाँति कठिन ही है। यहाँ हम उसका विवेचन नहीं करेंगे।

पुराणों के मौलिक गठन के विषय में अभी अन्तिम निर्णय नहीं उपस्थित किया जा सका है। महापुराणों की संख्या एव उनके विस्तार के विषय में बड़ा मतभेद है। विष्णुपुराण के टीकाकार विष्णुचित्त ने उसके ८,०००, ९,०००, १०,०००, २२,०००, २४,००० श्लोकों वाले संस्करणों की चर्चा की है, किन्तु उन्होंने केवल ६००० श्लोकों वाले संस्करण की ही टीका की है। इसी प्रकार अन्य पुराणों के विस्तार के विषय में मतभेद रहा है और आज भी है। आज का भारतीय धर्म पूर्णतः पौराणिक है। पुराणों में धर्मशास्त्रसम्बन्धी अनगिनत विषय एवं बातें पायी जाती हैं। १८ महापुराणों के अतिरिक्त १८ उपपुराण भी हैं। इनके अतिरिक्त गणेश, मौद्गल, देवी, कल्कि आदि पुराण-शाखा के अन्य ग्रन्थ हैं। पद्म पुराण ने १८ पुराणों को तीन विभागों में विभाजित किया है, यथा--सात्त्विक, राजस एवं तामस, और विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड़, पद्म एवं वराह को सात्त्विक माना है। मत्स्यपुराण ने भी इसी विभाजन को माना है। बहुत-से पुराण मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति, नारदस्मृति के बहुत बाद प्रणीत हुए हैं।

पुराणों में धर्म-सम्बन्धी निम्न बातों का उल्लेख हुआ है--आचार, आह्निक, अशौच, आश्रमधर्म, भक्ष्याभक्ष्य, ब्राह्मण (वर्णधर्म के अन्तर्गत), दान (प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग के अन्तर्गत), द्रव्याशुद्धि, गोत्र एवं प्रवर, कालस्वरूप, कलिवर्ज्य, कर्मविपाक, नरक, नीति, पातक, प्रतिष्ठा, प्रायश्चित्त, राजधर्म, संस्कार, शान्ति, श्राद्ध, स्त्रीधर्म, तीर्थ, तिथि (व्रतों के अन्तर्गत); उत्सर्ग (जन-कल्याण के लिए), वर्णधर्म, विवाह (संस्कार के अन्तर्गत), व्रत, व्यवहार, युगधर्म (कलिस्वरूप के अन्तर्गत)।

३४. याज्ञवल्क्यस्मृति

इस स्मृति का प्रकाशन दर्जनों बार हुआ है। इस ग्रन्थ में निर्णयसागर संस्करण (मोघे शास्त्री

द्वारा सम्पादित) तथा त्रिवेन्द्रम् के संस्करण वाली विश्वरूप की टीका का हवाला दिया गया है।

याज्ञवल्क्य वैदिक ऋषि-परम्परा में आते हैं। उनका नाम शुक्ल यजुर्वेद के उद्घोषक के रूप में आता है। महाभारत (शान्तिपर्व, ३१२) में ऐसा आया है कि वैशम्पायन और उनके शिष्य याज्ञवल्क्य में सम्बन्ध-विच्छेद हुआ और सूर्योपासना के फलस्वरूप याज्ञवल्क्य को शुक्ल यजुर्वेद, शतपथ आदि का ऐशोन्मेष अथवा श्रुति-प्रकाश मिला। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध-विच्छेद वाली घटना की चर्चा विष्णु एवं भागवत पुराणों में भी हुई है, किन्तु उसमें और महाभारत वाली चर्चा में कुछ भेद है। शतपथ ब्राह्मण में अग्निहोत्र के सम्बन्ध में विदेह-राज जनक एवं याज्ञवल्क्य के परस्पर कथनोपकथन की ओर कई बार संकेत हुआ है। शतपथ में आया है कि वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुर्वेद की विधियाँ सूर्य से ग्रहण करके उद्घोषित की। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य एक बड़े दार्शनिक के रूप में अपनी दार्शनिक मन वाली पत्नी मैत्रेयी से ब्रह्म एवं अमरता के बारे में बातें करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं (२.४ एवं ४.५)। उसी में याज्ञवल्क्य जनक द्वारा प्रदत्त एक सहस्र गायों को एक विद्वान् ब्राह्मण के रूप में ले जाते हुए प्रदर्शित हैं (३.१.१-२)। पाणिनिसूत्र के वार्तिक में कात्यायन ने याज्ञ-वल्क्य के ब्राह्मणों की चर्चा की है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३.११०) में आया है कि इसके लेखक चाहे जो भी रहे हों, वे आरण्यक के प्रणेता थे। यह भी आया है कि उन्हें सूर्य से प्रकाश मिला था और वे योगशास्त्र के प्रणेता थे। इससे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इन बातों से याज्ञवल्क्यस्मृति के लेखक ने स्मृति को महत्ता दी है कि वह एक प्राचीन ऋषि, दार्शनिक एवं योगी द्वारा प्रणीत हुई थी। किन्तु आरण्यक एवं स्मृति का लेखक एक ही नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों की भाषा में बहुत अन्तर है। मिताक्षरा ने ऐसा लिखा है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने धर्मशास्त्र को संक्षिप्त करके कथनोपकथन के रूप में रखा है। भले ही आरण्यक (बृहदारण्यकोप-निषद्) एवं स्मृति का लेखक एक व्यक्ति न हों, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि याज्ञवल्क्यस्मृति शुक्ल यजुर्वेद से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में निर्णयसागर संस्करण, त्रिवेन्द्रम् संस्करण एवं आनन्दाश्रम संस्करण (विश्वरूप की टीका वाले) के अनुसार क्रम से १०१०, १००३ एवं १००६ श्लोक हैं। विश्वरूप ने मिताक्षरा में आनेवाले आचार-सम्बन्धी ५ श्लोक छोड़ दिय हैं इसी से यह भिन्नता है। मिताक्षरा और विश्वरूप की प्रतियों में श्लोकों एवं प्रकरणों के गठन में अन्तर है। अपरार्क की प्रति भी इसी प्रकार भिन्न है।

अग्निपुराण से याज्ञवल्क्यस्मृति के विषय की तुलना की जा सकती है। दोनों में व्यवहार-सम्बन्धी बहुत-सी बातें समान हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रथम व्याख्याकार विश्वरूप ८००-८२५ ई० में विद्यमान थे। मिताक्षरा के लेखक (याज्ञवल्क्यस्मृति के दूसरे प्रसिद्ध व्याख्याकार) विश्वरूप से लगभग २५० वर्ष बाद हुए। गरुड़पुराण में भी अग्निपुराण की भाँति याज्ञवल्क्यस्मृति की बहुत-सी बातें पायी जाती हैं। अग्निपुराण ने तो कहीं भी यह नहीं कहा कि इतना अंश याज्ञवल्क्यस्मृति का है, किन्तु गरुड़पुराण ने ऋण स्वीकार किया है (याज्ञवल्क्येन यत् (यः ?) पूर्वं धर्मं (धर्मः?) प्रोक्तं (तः ?) कथं हरे। तन्मे कथय केशिघ्न याथातथ्येन माधव॥)। अग्निपुराण एवं गरुड़पुराण ने याज्ञवल्क्य से क्या-क्या लिया है, इस पर स्थान-संकोच के कारण यहाँ कुछ नहीं कहा जायगा।

शंख-लिखित-धर्मसूत्र ने धर्मशास्त्रकार याज्ञवल्क्य का उल्लेख किया है और याज्ञवल्क्य ने स्वयं शंख-लिखित को धर्मशास्त्रकार के रूप में माना है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शंख-लिखित के सामने कोई प्राचीन याज्ञवल्क्यस्मृति थी। इस बात के अतिरिक्त कोई अन्य सूत्र हमारे पास नही है कि हम कहें कि इस स्मृति का कोई प्राचीन संस्करण भी था। विश्वरूप एवं मिताक्षरा के संस्करणों की तुलना यदि अग्नि एवं गरुड़पुराणों

से की जाय तो यह झलक उठता है कि याज्ञवल्क्यस्मृति में ८०० ई० से लेकर ११०० ई० तक कुछ शाब्दिक परिवर्तन अवश्य हुए, किन्तु मुख्य स्मृति सन् ७०० ई० से अब तक ज्यों-की-त्यों चली आयी है।

याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति से अधिक सुगठित है। याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण स्मृति को तीन भागों में विभाजित कर विषयों को उनके उचित स्थान पर रखा है, व्यर्थ का पुनरुक्ति-दोष नहीं आने दिया है। दोनों स्मृतियों के विषय अधिकांश एक ही हैं, किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। इसी से मनुस्मृति के २७०० श्लोकों के स्थान पर याज्ञवल्क्यस्मृति में केवल लगभग एक हजार श्लोक हैं। मनु के दो श्लोक याज्ञवल्क्य के एक श्लोक के बराबर हैं। लगता है, जब याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति का प्रणयन कर रहे थे तो मनुस्मृति की प्रति उनके सामने थी, क्योंकि दोनों स्मृतियों में कहीं-कहीं शब्द-साम्य भी पाया जाता है।

सम्पूर्ण याज्ञवल्क्यस्मृति अनुष्टुप् छन्द में लिखी हुई है। यद्यपि इसके प्रणेता का उद्देश्य बातों को बहुत थोड़े में कहना था, तथापि कहीं भी अबोध्यता नहीं टपकती। शैली सरल एवं धाराप्रवाह है। पाणिनि के नियमों का पालन भरसक हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं अशुद्धता आ ही गयी है, यथा पूज्य (१-२९३) एवं 'दूष्य' (२-२९६)। किन्तु विश्वरूप और अपरार्क ने इन दोषों से अपनी टीकाओं को मुक्त कर रखा है। मिताक्षरा के अनुसार याज्ञवल्क्य ने अपने शब्द सामश्रवा एवं अन्य ऋषियों के प्रति सम्बोधित किये हैं। कहीं-कहीं ऋषि लोग बीच में लेखक को टोक देते हैं।

यह कहा जाता है कि ऋषि लोगों ने मिथिला में जाकर याज्ञवल्क्य से वर्णों, आश्रमों तथा अन्य बातों के धर्मों की शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की। संक्षेप में इस स्मृति की विवरण-सूची निम्न है, काण्ड १—चौदह विद्याएँ; धर्म के बीस विश्लेपक; धर्मोपादान; परिषद्-गठन; गर्भाधान से लेकर विवाह तक के संस्कार; उपनयन, इसका समय एवं अन्य बातें, ब्रह्मचारी के आह्निक कर्तव्य; पढ़ाये जाने योग्य व्यक्ति; ब्रह्मचारी के लिए वर्जित पदार्थ एवं कर्म; विद्यार्थी-काल; विवाह; विवाहयोग्य कन्या की पात्रता; सपिण्ड सम्बन्ध की सीमा, अन्तर्जातीय विवाह; आठों प्रकार के विवाह और उनसे प्राप्त आध्यात्मिक लाभ; विवाहाभिभावक; क्षेत्रज पुत्र; पत्नी के रहते विवाह के कारण; पत्नी-कर्तव्य; प्रमुख एवं गौण जातियाँ; गृहस्थ-कर्तव्य तथा पवित्र गृहाग्नि-रक्षण; पंच महाह्निक यज्ञ; अतिथि-सत्कार; मधुपर्क; अग्रगमन के कारण; मार्ग-नियम; चारों वर्णों के विशेषाधिकार एवं कर्तव्य; सबके लिए आचार के दस सिद्धान्त; गृहस्थ-जीविका-वृत्ति; पूत वैदिक यज्ञ; स्नातक-कर्तव्य; अनध्याय; भक्ष्याभक्ष्य के नियम; मांस-प्रयोग-नियम; कतिपय पदार्थों का पवित्रीकरण, यथा—धातु एवं लकड़ी के बरतन; दान; दान पाने के पात्र; कौन दान को ग्रहण करे; दान-पुरस्कार; गोदान; अन्य वस्तु-दान; ज्ञान सबसे बड़ा दान; श्राद्ध, इसका उचित समय; उचित व्यक्ति जो श्राद्ध में बुलाये जायँ। इसके लिए अयोग्य व्यक्ति; निमन्त्रित ब्राह्मणों की संख्या; श्राद्ध-विधि; श्राद्ध-प्रकार, यथा पार्वण, वृद्धि, एकोद्दिष्ट; सपिण्डीकरण; श्राद्ध में कौन सा मांस दिया जाय; श्राद्ध करने का पुरस्कार; विनायक एवं नव ग्रहों की शान्ति के लिए क्रिया-संस्कार; राजधर्म; राजा के गुण; मन्त्री; पुरोहित; राज्यानुशासन; रक्षार्थ राजा-कर्तव्य; न्याय-शासन; कर एवं व्यय; कतिपय कार्यों का दिन-निर्णय; मण्डल-रचना; चार साधन; षट् गण; भाग्य एवं मानवीय उद्योग; दण्ड में पक्षपातरहितता; तौल-बटखरे की इकाइयाँ; अर्थ-दण्ड की श्रेणियाँ। खण्ड २—न्यायभवन (न्यायालय) के सदस्य; न्यायाधीश; व्यवहारपद की परिभाषा; कार्य-विधि; अभियोग; उत्तर, जमानत लेना; झूठे दल या साक्षी पर अभियोग; धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का परस्पर-विरोध; उपपत्ति; लेखप्रमाण, साक्षियों एवं स्वत्व के साधन; स्वत्व एवं अधिकार; न्यायालय के प्रकार, बल-प्रयोग; धोखाधड़ी, अप्राप्तव्यवहारता एवं अनिष्पत्ति के अन्य कारण; सामानों की प्राप्ति; कोष; ऋण ब्याज-

संयुक्त परिवार के ऋण, पुत्र पिता के किस ऋण को न दे; ऋण-निक्षेपण; तीन प्रकार के बन्धक; प्रतिज्ञा; जमा; साक्षीगण, उनकी पात्रता-अपात्रता; शपथ-ग्रहण; मिथ्या साक्षी पर दण्ड; लेखप्रमाण; तुला, जल, अग्नि, विष एवं पूत जल के दिव्य; बँटवारा, इसका समय; विभाजन में स्त्रीभाग; पिता-मृत्यु के बाद बँटवारा, विभाजनायोग्य सम्पत्ति; पिता-पुत्र का संयुक्त स्वामित्व; बारह प्रकार के पुत्र; शूद्र का अनौरस पुत्र; पुत्रहीन पिता के लिए उत्तराधिकार; पुनर्मिलन; व्यावर्तन; स्त्रीधन पर पति का अधिकार; सीमा-विवाद; स्वामी-गोरक्षक-विवाद; स्वामित्व के बिना विक्रय; दान की प्रमाणहीनता; विक्रय-विलोप; भृत्यता-सम्बन्धी प्रतिज्ञा का भंग होना; बलप्रयोग द्वारा प्राप्ति, परम्परा-विरोध; मज़दूरी न देना; जुआ एवं पुरस्कार-युद्ध; अपशब्द, मानहानि एवं पिशुनवचन; आक्रमण; चोट आदि; साहस; साझा; चोरी; व्यभिचार; अन्य दोष; न्याय-पुनरवलोकन। खण्ड ३––जलाना एवं गाड़ना; मृत व्यक्तियों को जल-तर्पण; उनके लिए जिनके लिए न रोया गया और न जल-तर्पण किया गया; कतिपय व्यक्तियों के लिए परिवेदन-अवधि; शोक-प्रकट करनेवाले के नियम; जन्म पर अशुद्धि; जन्म-मरण पर तत्क्षण पवित्रीकरण के उदाहरण; समय, अग्नि, क्रिया-संस्कार, पंक आदि पवित्रीकरण के साधन; विपत्ति में आचार एवं जीविका-वृत्ति; वानप्रस्थ के नियम; यति के नियम; आत्मा शरीर में किस प्रकार आवृत है; भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) के कतिपय स्तर; शरीर में अस्थि-संख्या; यकृत्, प्लीहा आदि शरीरांग; धमनियों एवं रक्त-स्नायुओं की संख्या; आत्म-विचार; मोक्षमार्ग में संगीत-प्रयोग; अपवित्र वातावरण में पूत आत्मा कैसे जन्म लेती है; पापी किस प्रकार विभिन्न पशुओं एवं पदार्थों की योनि में उत्पन्न होते हैं; योगी किस प्रकार अमरता ग्रहण करता है; सत्त्व, रज एवं तम के कारण तीन प्रकार के कार्य; आत्म-ज्ञान के साधन; दो मार्ग––एक मोक्ष की ओर और दूसरा स्वर्ग की ओर; पापियों के भोग के लिए कतिपय रोग-व्याधि; प्रायश्चित्त-प्रयोजन; २१ प्रकार के नरकों के नाम; पंच महापातक एवं उनके समान अन्य कार्य; उपपातक; ब्रह्म-हत्या तथा मनुष्य-हत्या के लिए प्रायश्चित्त; सुरापान, मानवीय एवं क्षन्तव्य पापों तथा विविध प्रकार की पशु-हत्याओं के लिए प्रायश्चित्त; समय, स्थान, अवस्था एवं समर्थता के अनुसार अधिक या कम शुद्धि; नियम न मानने वाले पापियों का निष्कासन; गुप्त शुद्धियाँ; दस यम एवं नियम; सान्तपन, महासांतपन, तप्तकृच्छ्, पराक, चान्द्रायण एवं अन्य अशुद्धियाँ; इस स्मृति को पढ़ने का पुरस्कार।

वेदों के अतिरिक्त छः वेदांगों एवं चौदह विद्याओं (चार वेद, छः अंग, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र) की चर्चा याज्ञवल्क्यस्मृति में हुई है। अपने ग्रन्थ आरण्यक एवं योगशास्त्र की चर्चा भी याज्ञवल्क्य ने की है। अन्य आरण्यकों एवं उपनिषदों का भी उल्लेख हुआ है। पुराण भी बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं। इतिहास, पुराण, वाकोवाक्य एवं नाराशंसी गाथाओं की भी चर्चा आयी है। आरम्भ में ही याज्ञवल्क्य ने अपने को छोड़कर १९ धर्मशास्त्रकारों के नाम लिये हैं, किन्तु स्मृति के भीतर ग्रन्थ में कहीं भी किसी का नाम नहीं आया है। उन्होंने आन्वीक्षिकी (अध्यात्मशास्त्र) एवं दण्डनीति (१.३११) के विषय में चर्चा की है। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के विरोध में उन्होंने प्रथम को मान्यता दी है (२.२१)। उन्होंने सामान्य ढंग से स्मृतियों की चर्चा की है; सूत्रों एवं भाष्यों की ओर भी संकेत किया है, किन्तु कहीं किसी लेखक का नाम नहीं आया है। उन्होंने सम्भवतः पतञ्जलि के भाष्य की ओर संकेत किया है। 'एके' (१.३६) कहकर अन्य धर्मशास्त्रकारों की ओर संकेत अवश्य किया गया है।

याज्ञवल्क्य ने विष्णुधर्मसूत्र की बहुत-सी बातें मान ली हैं। इनकी स्मृति एवं कौटिलीय में पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है। याज्ञवल्क्यस्मृति के बहुत-से श्लोक मनु के कथन के मेल में बैठ जाते हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य मनु की बहुत बातें नहीं मानते और कई बातों एवं प्रसंगों में वे मनु से बहुत बाद के विचारक

ठहरते हैं। निम्न बातों में भिन्नताएँ पायी जाती हैं——मनु ब्राह्मण को शूद्रकन्या से विवाह करने का आदेश कर देते हैं (३.१३), किन्तु याज्ञवल्क्य नहीं (१.५९)। मनु ने नियोग का वर्णन करके उसकी भर्त्सना की है (९.५९-६८), किन्तु याज्ञवल्क्य ने ऐसा नहीं किया है (१.६८-६९)। मनु ने १८ व्यवहारपदों के नाम लिये हैं, किन्तु याज्ञवल्क्य ने ऐसा न करके केवल व्यवहारपद की परिभाषा की है और एक अन्य प्रकरण में व्यवहार पर विशिष्ट श्लोक जोड़ दिये हैं। मनु पुत्रहीन पुरुष की विधवा पत्नी के दायभाग पर मौन-से हैं, किन्तु इस विषय में याज्ञवल्क्य बिल्कुल स्पष्ट हैं, उन्होंने विधवा को सर्वोपरि स्थान पर रखा है। मनु ने जुए की भर्त्सना की है, किन्तु याज्ञवल्क्य ने उसे राज्य-नियन्त्रण में रखकर कर का एक उपादान बना डाला है (२.२००-२०३)। इसी प्रकार कई बातों में याज्ञवल्क्य मनु से बहुत आगे हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति ने मानगृह्यसूत्र (२.१४) से विनायक-शान्ति की बातें ले ली हैं, किन्तु विनायक की अन्य उपाधियाँ या नाम नहीं लिये हैं, यथा——मित, सम्मित, शालकटंकट एवं कूष्माण्डराजपुत्र।

याज्ञवल्क्यस्मृति का शुक्ल यजर्वेद एवं उसके साहित्य से गहरा सम्बन्ध है। इस स्मृति के बहुत-से उद्धृत मन्त्र ऋग्वेद एवं वाजसनेयी संहिता दोनों में पाये जाते हैं; उनमें कुछ तो केवल वाजसनेयी संहिता के हैं। स्मृति के कुछ अंश बृहदारण्यकोपनिषद् के केवल अन्वय मात्र हैं। पारस्करगृह्यसूत्र से भी इस स्मृति का बहुत मेल बैठता है। कात्यायन के श्राद्धकल्प से भी इस स्मृति की बातें कुछ मिलती हैं, कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी बहुत साम्य है।

याज्ञवल्क्य के काल-निर्णय में ९वीं शताब्दी के उपरान्त का साक्ष्य नहीं लेना है, क्योंकि उस शताब्दी में इसके व्याख्याकार विश्वरूप हुए थ। याज्ञवल्क्य विश्वरूप से कुछ शताब्दी पहले के थे। विश्वरूप के पूर्व भी याज्ञवल्क्य के कई टीकाकार थे, ऐसा विश्वरूप की टीका से ज्ञात होता है। नीलकण्ठ ने अपने प्रायश्चित्त-मयूख में कहा है कि शंकराचार्य ने अपने ब्रह्म सूत्र के भाष्य में याज्ञवल्क्य (३.२२६) की बातें कही हैं। बहुत-से सूत्रों के आधार पर याज्ञवल्क्यस्मृति को हम ई० पू० पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद तीसरी शताब्दी के बीच में कहीं रख सकते हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य नाम वाली तीन अन्य स्मृतियाँ हैं; वृद्धयाज्ञवल्क्य, योग-याज्ञवल्क्य एवं बृहद्-याज्ञवल्क्य। ये तीनों तुलनात्मक दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत प्राचीन हैं। विश्वरूप ने वृद्ध-याज्ञवल्क्य को उद्धृत किया है। मिताक्षरा एवं अपरार्क ने भी कई बार उसे उद्धृत किया है। दायभाग के अनुसार जितेन्द्रिय ने बृहद्याज्ञवल्क्य की चर्चा की है। मिताक्षरा ने भी इसका उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि वे योगशास्त्र के प्रणेता थे। योग-याज्ञवल्क्य ८०० ई० में था। वाचस्पति मिश्र ने अपने योगसूत्रभाष्य में योग-याज्ञवल्क्य के एक-आधे श्लोक को लिया है। वाचस्पति ने अपना न्यायसूचीनिबन्ध सन् ८४१-४२ ई० में लिखा। अपरार्क ने भी योग-याज्ञवल्क्य से उद्धरण लिये हैं। पराशरमाधवीय ने भी इसकी चर्चा की है। कुल्लूक ने मनु की व्याख्या करते हुए (३.१) योग-याज्ञवल्क्य का उद्धरण दिया है। डेकन कालेज के संग्रह में योग-याज्ञवल्क्य की हस्तलिखित प्रतियाँ हैं जिनमें १२ अध्याय एवं ४९५ श्लोक हैं। कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मा से योगशास्त्र का अध्ययन किया और उसे अपनी पत्नी गार्गी को सिखाया। सम्पूर्ण पुस्तक में योग के ८ अंगों, उनके विभागों एवं उपविभागों का वर्णन है। इसमें एक-दो श्लोकों को छोड़कर अन्य उपर्युक्त उद्धरण नहीं पाये जाते, और वह भी बौधायनधर्मसूत्र में पाया जाता है। दूसरा श्लोक भगवद्गीता में पाया जाता है। डेकन कालेज संग्रह में एक अन्य प्रति है जिसका नाम है बृहद्-योगि-याज्ञवल्क्य स्मृति जो १२ अध्यायों एवं ९३० श्लोकों में है। योग-याज्ञवल्क्य एवं बृहद्-याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति पर कई टीकाएँ हैं, जिनमें विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क एवं शूलपाणि अधिक प्रसिद्ध हैं। इन टीकाकारों के विषय में हम प्रकरण ६०, ७०, ७९ एवं ९५ में पढ़ेंगे। आधुनिक भारत में मिताक्षरा (विज्ञानेश्वरलिखित) पर आधारित व्यवहारों का अधिक प्रचलन है, इस कारण याज्ञवल्क्य को अधिक गौरव प्राप्त है।

३५. पराशर-स्मृति

इस स्मृति का प्रकाशन कई बार हुआ है, किन्तु जीवानन्द तथा बम्बई संस्कृतमाला के संस्करण, जिनमें माधव की विस्तृत टीका है, अधिक प्रसिद्ध हैं। पराशरस्मृति एक प्राचीन स्मृति है, क्योंकि याज्ञवल्क्य ने पराशर को प्राचीन् धर्मवक्ताओं में गिना है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि हमारी वर्तमान स्मृति प्राचीन है। सम्भवतः वर्तमान प्रति प्राचीन प्रति का संशोधन है। गरुड़पुराण (अध्यात १०७) ने पराशर-स्मृति के ३९ श्लोकों को संक्षिप्त रूप में ले लिया है। इससे स्पष्ट है कि यह स्मृति पर्याप्त प्राचीन है। कौटिल्य ने पराशर या पराशरों के मतों की चर्चा छः बार की है। पराशर ने राजनीति पर भी लिखा था, इससे यह स्पष्ट हो जाता है।

वर्तमान पराशरस्मृति में १२ अध्याय एवं ५९३ श्लोक हैं। इसमें केवल आचार एवं प्रायश्चित्त पर चर्चाएँ हुई हैं। इसके टीकाकार माधव ने यों ही अपनी ओर से व्यवहार-सम्बन्धी विवेचन जोड़ दिया है।

पराशर नाम बहुत प्राचीन है। तैत्तिरीयारण्यक एवं बृहदारण्यक (वंश में) में क्रम से व्यास पाराशर्य एवं पाराशर्य नाम आये हैं। निरुक्त ने 'पराशर' के मूल पर लिखा है। पाणिनि ने भी भिक्षुसूत्र नामक ग्रन्थ को पाराशर्य माना है। स्मृति की भूमिका में आया है कि ऋषि लोगों ने व्यास के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे कलियुग में मानवों के लिए आचार-सम्बन्धी धर्म की बातें उन्हें बतायें। व्यासजी उन्हें बदरिकाश्रम में शक्तिपुत्र अपने पिता पराशर के पास ले गये और पराशर ने उन्हें वर्णधर्म के विषय में बताया। पराशर-स्मृति में अन्य १९ स्मृतियों के नाम आये हैं। इस स्मृति की निम्न लिखित विषय-सूची है—

(१) आरम्भिक श्लोक (भूमिका); पराशर ऋषियों को धर्म-ज्ञान देते हैं; युगधर्म; चारों युगों का विविध दृष्टिकोणों से अन्तर्भेद; सन्ध्या, स्नान, जप, होम, वैदिक अध्ययन, देव-पूजा नामक छः आह्निक; वैश्वदेव एवं अतिथि-सत्कार; अतिथि-सत्कार-स्तुति; क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की जीविका-वृत्ति के साधन; (२) गृहस्थधर्म; कृषि, पशुओं के प्रति अनजाने में पांच प्रकार के घातक-कर्म; (३) जन्म-मरण से उत्पन्न अशुद्धि का पवित्रीकरण; (४) आत्महत्या; दरिद्र, मूर्ख या रोगी पति को त्यागने पर स्त्री को दण्ड; कुण्ड, गोलक, परिवित्ति एवं परिवित्त के लिए परिभाषा एवं नियम; स्त्री का पुनर्विवाह; पतिव्रता नारियों को पुरस्कार; (५) साधारण बातों, जैसे कुत्ता काटने पर शुद्धि; उस ब्राह्मण के विषय में जिसने अग्नि-स्थापना की हो, यात्रा में मर रहा हो या आत्महत्या कर रहा हो; (६) कतिपय पशुओं, पक्षियों, शूद्रों, शिल्पकारों, स्त्रियों, वैश्यों, क्षत्रियों को मारने पर शुद्धीकरण; पापी ब्राह्मण; ब्राह्मण-स्तुति; (७) धातु, काष्ठ आदि के बरतनों का निर्मलीकरण; मासिक धर्म में नारी के विषय में; (८) कई प्रकार से अनजाने में गाय-बैल मारने पर शुद्धीकरण; शुद्धि के लिए किसी परिषद् में जाना; परिषद्-गठन; विद्वान् ब्राह्मण-स्तुति; (९) गाय एवं बैल को मारने के लिए छड़ी की उचित मुटाई; मोटी छड़ी से चोट पहुँचाने पर शुद्धि; (१०) वर्जित नारियों से संभोग करने पर चान्द्रायण या अन्य व्रत या शुद्धि; (११) चाण्डाल से लेकर खाने पर शुद्धि; किससे लेकर खाय और किसका न खाय, इसके विषय में नियम; पशु गिर जाने पर कूप का पवि करण; (१२) दुःस्वप्न

देखने, वमन करने, बाल बनवाने आदि पर पवित्रीकरण; पाँच स्नान; रात्रि में कब स्नान किया जा सकता है; कौन-सी वस्तुएँ गृह में सदैव रखनी चाहिए या दिखाई पड़नी चाहिए; गोचर्म नामक भूमि की इकाई की परिभाषा; ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्ण-चौर्य आदि भयानक पापों की परिशुद्धि।

पराशर में कुछ विलक्षण बातें पायी जाती हैं, यथा—केवल चार प्रकार के पुत्र (औरस, क्षेत्रज, दत्त तथा कृत्रिम); यद्यपि यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि वे अन्यों को नहीं मानते। सती-प्रथा की उन्होंने स्तुति की है। पराशर ने अन्य धर्मशास्त्रकारों के मतों की चर्चा की है। मनु का नाम कई बार आया है। बौधायन-धर्मसूत्र की बहुत-सी बातें इस स्मृति में पायी जाती हैं। पराशर ने उशना, प्रजापति, वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र, स्मृति आदि की स्थान-स्थान पर चर्चा की है।

विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि आदि ने पराशर को अधिकतर उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि ९वीं शताब्दी में यह स्मृति विद्यमान थी। इसे मनु की कृति का ज्ञान था, अतः यह प्रथम शताब्दी तथा पाँचवी शताब्दी के मध्य में कभी लिखी गयी होगी।

एक बृहत्पराशर-संहिता भी है, जिसमें बारह अध्याय एवं ३३०० श्लोक हैं। लगता है, यह बहुत बाद की रचना है। यह पराशरस्मृति का संशोधन है। इसमें विनायक-स्तुति पायी जाती है। इस संहिता को मिताक्षरा, विश्वरूप या अपरार्क ने उद्धृत नहीं किया है। किन्तु चतुर्विंशतिमत के भाष्य में भट्टोजिदीक्षित तथा दत्तकमीमांसा में नन्द पण्डित ने इससे उद्धरण लिया है। एक अन्य पराशर-नामी स्मृति है जिसका नाम है वृद्धपराशर, जिससे अपरार्क ने उद्धरण लिया है। किन्तु यह पराशरस्मृति एवं बृहत्पराशर से भिन्न स्मृति है। एक ज्योति-पराशर भी है जिससे हेमाद्रि तथा भट्टोजिदीक्षित ने उद्धरण लिये हैं।

३६. नारद-स्मृति

नारदस्मृति के छोटे एवं बड़े दो संस्करण हैं। डा० जॉली ने दोनों का सम्पादन किया है। इसके भाष्यकार हैं असहाय, जिनके भाष्य को केशवभट्ट से प्रेरणा लेकर कल्याणभट्ट ने संशोधित किया है।

याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने नारद को धर्मवक्ताओं में नहीं गिना है। किन्तु वृद्धयाज्ञवल्क्य के एक उद्धरण से विश्वरूप ने दिखलाया है कि नारद दस धर्मशास्त्रकारों में एक थे।

प्रकाशित नारदीय में प्रारम्भ के ३ अध्याय न्याय-सम्बन्धी विधि (व्यवहार-मातृका) तथा न्याय-सम्बन्धी सभा पर हैं। इसके उपरान्त निम्न बातें आती हैं—ऋणादान (ऋण की प्राप्ति); उपनिधि (जमा, ऋण देना, बन्धक); सम्भूयसमुत्थान (सहकारिता); दत्ताप्रदानिक (दान एवं उसका पुनर्ग्रहण); अभ्युपेत्य-अशुश्रूषा (नौकरी के ठेके का तोड़ना); वेतनस्य-अनपाकर्म (वेतन का न देना); अस्वामिविक्रय (बिना स्वामित्व के विक्रय); विक्रीयासम्प्रदान (बिक्री के उपरान्त न सौंपना), क्रीतानुशय (खरीदगी का खण्डन); समयस्या-नपाकर्म (निगम, श्रेणी आदि की परम्पराओं का विरोध); सीमाबन्ध (सीमा-निर्णय); स्त्रीपुंसयोग (वैवाहिक सम्बन्ध); दायभाग (बटवारा एवं वसीयत); साहस (बलप्रयोग से उत्पन्न अपराध, यथा हत्या, डकैती, बलात्कार आदि); वाक्पारुष्य (मानहानि एवं पिशुनवचन) एवं दण्डपारुष्य (विविध प्रकार की चोटें); प्रकीर्णक (मुतफर्कात दोष)। अनुक्रमणिका में चोरी का विषय भी है, यद्यपि साहस वाले प्रकरण में कुछ आ ही गया है।

उपर्युक्त अठारहों प्रकरणों में नारद ने मनुस्मृति के ढाँचे को बहुत अधिक सीमा तक ज्यों-का-त्यों ले लिया है, कहीं-कहीं नामों में कुछ अन्तर आ गया है, यथा उपनिधि (नारद) एवं निक्षेप (मनु). इसी प्रकार नामों के कुछ भेदों के रहने पर भी दोनों स्मृतियों में बहुत साम्य है।

प्रकाशित स्मृति में (अनुक्रमणिका को लेकर) १०२८ श्लोक हैं। कतिपय निबन्धों में लगभग ७०० श्लोक आ गये हैं। 'अभ्युपेत्याशुश्रूषा' प्रकरण के २१वें श्लोक तक असहाय का भाष्य मिलता है। विश्वरूप, मेधातिथि, मिताक्षरा में इस स्मृति के कई उद्धरण मिलते हैं। स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि, पराशरमाधवीय तथा कालान्तर के निबन्धों में नारद के श्लोक उद्धृत मिलते हैं।

प्रारम्भिक गद्यांश को छोड़कर, जिसमें नारद, मार्कण्डेय, सुमति भार्गव द्वारा मनु के मौलिक ग्रन्थ के संक्षिप्तीकरण की बात है, सम्पूर्ण नारदस्मृति अनुष्टुप् छन्द में है (केवल दूसरे अध्याय के ३८वें एवं सभा के अन्तिम छन्द को छोड़कर)। इस स्मृति में नारद का भी नाम आया है (ऋणादान, २५३)। आचार्यों, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की चर्चा आयी है। धर्मशास्त्र को अर्थशास्त्र से अधिक मान्यता दी गयी है। नारद ने वसिष्ठ-धर्मसूत्र एवं पुराण की भी चर्चा की है। मनु को तो कितनी ही बार उद्धृत किया गया है और स्थान-स्थान पर साम्य एवं विरोध प्रकट किया गया है। कभी-कभी नारदस्मृति को मनु पर आधारित माना जाता है। नारद में महाभारत के कई श्लोक आये हैं। कौटिल्य और नारद में कुछ स्थानों पर साम्य पाया जाता है।

सम्भवतः नारदस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति के बाद की रचना है। याज्ञवल्क्य में दिव्य के केवल पाँच प्रकार पाये जाते हैं, किन्तु नारद में सात हैं। इसी प्रकार बहुत-सी भिन्नता की बातें हैं जो नारद को याज्ञवल्क्य के बाद का स्मृतिकार सिद्ध करने में सहायता करती हैं। हो सकता है कि दोनों कृतियाँ समकालीन रही हों, किन्तु नारदीय याज्ञवल्कीय से कुछ बाद की रचना प्रतीत होती है। नारदीय में राजनीति पर केवल परोक्ष रूप से यत्र-तत्र चर्चा हुई है; विशेषतः व्यवहार-सम्बन्धी बातों का ही विवेचन किया गया है। इसलिए बाण द्वारा उल्लिखित नारदीय चर्चा किसी दूसरे नारदीय ग्रन्थ के विषय में है, क्योंकि बाण ने राजनीति के सम्बन्ध में ही नारद की ओर संकेत किया है।

जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका एवं पराशरमाधवीय ने एक ऐसा नारदीय श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्धभाग विक्रमोर्वशीय में मिलता है। अभाग्यवश कालिदास के कालनिर्णय में अभी बहुत मतभेद है, तथापि चौथी या पाँचवी शताब्दी का प्रथम-अर्ध सामान्यतः विश्वास के योग्य है। यदि यह ठीक है तो नारद की तिथि पाँचवीं शताब्दी के बहुत पहले ठहरती है, क्योंकि उपर्युक्त उद्धरण नारद से ही लिया गया होगा न कि नाटक से। नारद में 'दीनार' शब्द आया है, जो डा० विन्तरनित्ज द्वारा दूसरी या तीसरी शताब्दी का माना जाता है। किन्तु डा० कीथ के मतानुसार 'दीनार' शब्द और पुराना है क्योंकि रोमकों ने ईसा-पूर्व २०७ में 'दीनार' सिक्का बनवाया था, जिसे शकों ने ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में भारत में भी ढलवाया। इससे सिद्ध किया जा सकता है कि नारद १०० ई० एवं ३०० ई० के बीच में हुए होंगे।

नारद कहाँ के रहनेवाले थे? इसका उत्तर देना बहुत कठिन है। कोई इन्हें नेपाली कहता है, कोई मध्यप्रदेशी। किन्तु यह सब कल्पना-मात्र है। डा० भण्डारकर के मतानुसार नारद का एक नाम पिशुन भी था, जिसका उल्लेख कौटिल्य ने किया है। डा० भण्डारकर ने 'पिशुन' शब्द का, जिसका अर्थ होता है 'चुगलखोर' या 'झगड़ा लगानेवाला', जैसा कि नारद के बारे में पुराणों में प्रसिद्ध है, सहारा लेकर ऐसा मत घोषित किया है। भट्टोजि ने एक ज्योतिर्नारद, रघुनन्दन ने वृहन्नारद एवं निर्णयसिन्धु तथा संस्कारकौस्तुभ ने लघु-नारद की चर्चा की है। नारदस्मृति के भाष्यकार असहाय के विषय में हम ५८वें प्रकरण में पढ़ेंगे।

३७. बृहस्पति

धर्मसूत्रकार बृहस्पति का वर्णन हमने प्रकरण २६ में पढ़ लिया है। यहाँ हम बृहस्पति को स्मृतिज्ञ

अथवा धर्मशास्त्रकोविद के रूप में देखेंगे। अभाग्यवश हमें अभी बृहस्पतिस्मृति सम्पूर्ण रूप में नहीं मिल सकी है। यह स्मृति एक अनोखी स्मृति है, इसमें व्यवहार-सम्बन्धी सिद्धान्त एवं परिभाषाएँ बड़े ही सुन्दर ढंग से लिखी हुई हैं। डा० जॉली ने ७११ श्लोक एकत्र किये हैं। याज्ञवल्क्य ने बृहस्पति को धर्मशास्त्रकारों में गिना है।

बृहस्पति ने वर्तमान मनुस्मृति की बहुत-सी बातें ले ली हैं, लगता है, मानो वे मनु के वार्तिककार हों। बहुत-से स्थलों पर बृहस्पति ने मनु के संक्षिप्त विवरण की व्याख्या कर दी है। अपरार्क, विवादरत्नाकर, वीरमित्रोदय तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर हम बृहस्पति में आयी व्यवहार-सम्बन्धी सूची उपस्थित कर सकते हैं, यथा--व्यवहाराभियोग के चार स्तर; प्रमाण (तीन मानवीय एवं एक दैवी क्रिया); गवाह (१२ प्रकार के); लेखप्रमाण (दस प्रकार); भुक्ति (स्वत्व); दिव्य (९ प्रकार); १८ स्वत्व; ऋणादान; निक्षेप; अस्वामिविक्रय; संभूय-समुत्थान, दत्ताप्रदानिक, अभ्युपेत्याशुश्रूषा; वेतनस्यानपाकर्म; स्वामिपालविवाद; संविद्-व्यतिक्रम; विक्रीयासम्प्रदान; पारुष्य (२ प्रकार); साहस (३ प्रकार); स्त्रीसंग्रहण; स्त्रीपुंसधर्म; विभाग; द्यूत; समाह्वय; प्रकीर्णक ('नृपाश्रय व्यवहार' या वे अपराध जिनके लिए स्वयं राजा अभियोग लगाये)।

सम्भवतः बृहस्पति सर्वप्रथम धर्मशास्त्रज्ञ अथवा धर्मकोविद थे, जिन्होंने 'धन' एवं 'हिंसा' (सिविल एवं क्रिमिनल अथवा माल एवं फौजदारी) के व्यवहार के अन्तर्भेद को प्रकट किया। उन्होंने १८ पदों (टाइटिल) को दो भागों में, यथा—धन-सम्बन्धी १४ तथा हिंसा-सम्बन्धी ४ पदों में विभाजित किया। बृहस्पति ने युक्तिहीन न्याय की भर्त्सना की है। उनके अनुसार निर्णय केवल शास्त्र के आधार पर नहीं होना चाहिए, प्रत्युत युक्ति के अनुसार होना चाहिए, नहीं तो अचोर, चोर तथा साधु, असाधु सिद्ध हो जायगा। उन्होंने व्यवहार की सभी विधियों की विधिवत् व्यवस्था की है और इस प्रकार वे आधुनिक न्याय-प्रणाली के बहुत पास आ जाते हैं।

बहुत-सी बातों में नारद एवं बृहस्पति में साम्य है। कहीं-कहीं अन्तर्भेद भी है। नारद मनु की बहुत-सी बातों से आगे हैं, किन्तु बृहस्पति उनके अनुसार चलनेवाले हैं, केवल कुछ स्थलों पर कुछ विभेद दिखाई पड़ता है। बृहस्पति मनु एवं याज्ञवल्क्य के बाद के स्मृतिकार हैं, किन्तु उनके और नारद के सम्बन्ध को बताना कुछ कठिन है। उन्होंने 'नाणक' सिक्के की चर्चा की है। उन्होंने दीनार की परिभाषा की है। दीनार को 'सुवर्ण' भी कहा गया है। एक दीनार १२ धानक के बराबर होता है तथा एक धानक ८ अण्डिकाओं के बराबर। एक अण्डिका एक ताम्र-पण है जिसकी तौल एक कर्ष के बराबर है। यह वर्णन नारद में भी पाया जाता है। डा० जॉली के अनुसार बृहस्पति छठी या सातवीं शताब्दी में हुए थे। किन्तु अन्य सूत्रों के आधार पर ये बहुत बाद के स्मृतिकार ठहरते हैं। विश्वरूप एवं मेधातिथि के अनुसार नारद एवं बृहस्पति के साथ कात्यायन भी प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं। यह प्रामाणिकता कई शताब्दियों के उपरान्त ही प्राप्त हो सकती है। कात्यायन तथा अपरार्क ने भी बृहस्पति से उद्धरण लिये हैं। अन्य सूत्रों के आधार पर बृहस्पति को २०० एवं ४०० ई० के बीच में कहीं रखा जा सकता है। वे कहाँ के रहनेवाले थे, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

स्मृतिचन्द्रिका में बृहस्पति के श्राद्ध-सम्बन्धी लगभग ४० उद्धरण आये हैं। पराशरमाधवीय, निर्णय-सिंधु तथा संस्कारकौस्तुभ में बृहस्पति के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। मिताक्षरा ने भी बहुत स्थलों पर बृहस्पति के धर्मशास्त्रीय नियमों का उल्लेख किया है। मिताक्षरा में व्यवहार एवं धर्म-सम्बन्धी दोनों प्रकार के उद्धरण हैं। अभाग्यवश बृहस्पति का सम्पूर्ण ग्रन्थ अभी नहीं प्राप्त हो सका है। मिताक्षरा में वृद्ध-बृहस्पति के उद्धरण भी हैं। हेमाद्रि ने ज्योतिर्बृहस्पति का भी नाम लिया है। अपरार्क ने वृद्ध-बृहस्पति से कुछ उद्धरण लिये हैं।

३८. कात्यायन

प्राचीन भारतीय व्यवहार एवं व्यवहार-विधि के क्षेत्र में नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन त्रिरत्नमण्डल में आते हैं। कात्यायन की व्यवहार-सम्बन्धी कृति अभी अभाग्यवश प्राप्त नहीं हो सकी है। विश्वरूप से लेकर वीरमित्रोदय तक के लेखकों द्वारा उद्धृत विवरणों के आधार पर निम्न विवेचन उपस्थित किया जाता है—

शंख-लिखित, याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने कात्यायन को धर्मवक्ताओं में गिना है। बौधायनधर्मसूत्र में भी एक कात्यायन प्रमाणरूप से उद्धृत हैं। शुक्ल यजुर्वेद का एक श्रौतसूत्र एवं श्राद्धकल्प कात्यायन के नाम से ही प्रसिद्ध है।

व्यवहार-सम्बन्धी विषयों की व्यवस्था एवं विवरण में कात्यायन ने सम्भवतः नारद एवं बृहस्पति को आदर्श माना है। शब्दों, शैली एवं पदों में कात्यायन नारद एवं बृहस्पति के बहुत निकट आ जाते हैं। कात्यायन ने स्त्री-धन पर जो कुछ लिखा है, वह उनकी व्यवहार-सम्बन्धी कुशलता का परिचायक है। उन्होंने ही सर्वप्रथम अध्यग्नि, अध्यावहनिक, प्रीतिदत्त, शुल्क, अन्वाधेय, सौदायिक नामक स्त्रीधन के कतिपय प्रकारों की चर्चा की है। निबन्धों में कात्यायन के तत्सम्बन्धी उद्धरण प्राप्त होते हैं। लगभग दस निबन्धों में कात्यायन के व्यवहार-सम्बन्धी ९०० श्लोक उद्धृत हुए हैं। केवल स्मृतिचन्द्रिका ने ६०० श्लोकों का हवाला दिया है। कात्यायन ने भृगु के मतों का उल्लेख किया है, और वे उद्धृत मत वर्तमान मनुस्मृति में मिल जाते हैं। कुल्लूक ने लिखा है कि कात्यायन ने भृगु का नाम लेकर मनु के ही श्लोकों की व्याख्या कर दी है। किन्तु बहुत-से भृगु-सम्बन्धी उद्धरण मनुस्मृति में नहीं पाये जाते। इतना ही नहीं, कई स्थानों पर कात्यायन ने मनु का भी नाम लिया है, किन्तु ऐसे स्थानों के उद्धरण वर्तमान मनुस्मृति में नहीं मिलते। लगता है, कात्यायन के समक्ष मनुस्मृति का कोई बृहत् संस्करण था जो भृगु द्वारा घोषित था।

निबन्धों में मनु, याज्ञवल्क्य एवं बृहस्पति के साथ कात्यायन के श्लोक भी आये हैं, यथा—स्त्रीधन के छः प्रकारों के सम्बन्ध में जो श्लोक आया है, वह दायभाग द्वारा मनु एवं कात्यायन का कहा गया है। 'वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः' की अर्धाली याज्ञवल्क्य एवं कात्यायन दोनों में पायी जाती है। वीरमित्रोदय ने बृहस्पति एवं कात्यायन के नाम एक श्लोक मढ़ दिया है। व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन की परिभाषा कर देने में बृहस्पति एवं कात्यायन एक-दूसरे के सन्निकट आ जाते हैं। कात्यायन ने मनु (मानव), बृहस्पति एवं भृगु के अतिरिक्त अन्य धर्मशास्त्रकारो के नाम लिये हैं, यथा—कौशिक, लिखित आदि। कात्यायन ने स्वयं अपना नाम भी प्रमाण के रूप में लिया है।

नारद एवं बृहस्पति के समान कात्यायन ने भी व्यवहार एवं व्यवहार-विधि के विषय में अग्रगामी मत दिये हैं। कहीं-कहीं कात्यायन इन दोनों से भी आगे बढ़ जाते हैं। कात्यायन ने व्यवहार-सम्बन्धी कुछ नयी संज्ञाएँ भी दी हैं, यथा—'पश्चात्कार', 'जयपत्र' आदि। पश्चात्कार वह निर्णय है जो वादी एवं प्रतिवादी के बीच गर्मागर्म विवाद के फलस्वरूप दिया जाता है। 'जयपत्र' नामक निर्णय को कात्यायन ने दूसरा रूप दिया है। यह वह निर्णय है जो प्रतिवादी की स्वीकारोक्ति या अन्य कारणों से अभियोग के सिद्ध होने के फलस्वरूप दिया जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने पक्ष का समर्थन न करके हलका निमित्त उपस्थित करता है, तो उसे न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के उपरान्त अधिक शक्तिशाली निमित्त देने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

कात्यायन का काल-निर्णय सरल नहीं है। वे मनु एवं याज्ञवल्क्य के बाद आते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। उनके पूर्व नारद एवं बृहस्पति आ चुके प्रतीत होते हैं। अतः अधिक-से-अधिक वे ईसा बाद तीसरी या चौथी शताब्दी तक जा सकते हैं। विश्वरूप एवं मेधातिथि ने कात्यायन को नारद एवं बृहस्पति के समान ही

प्रमाणयुक्त माना है। यह महत्ता कात्यायन को कई शताब्दियों में ही प्राप्त हो सकी होगी। अतः कम-से-कम वे ईसा बाद छठी शताब्दी तक आ सकेंगे। कात्यायन इस प्रकार चौथी तथा छठी शताब्दी के मध्य में कभी हुए होंगे।

व्यवहारमयूख ने एक बृहत्कात्यायन तथा दायभाग ने वृद्ध-कात्यायन की चर्चा की है। सरस्वतीविलास ने वृद्ध-कात्यायन से उद्धरण लिये हैं। चतुर्वर्गचिन्तामणि ने उपकात्यायन का भी नाम लिया है। अपरार्क ने एक श्लोक-कात्यायन का नाम लिया है।

जीवानन्द के संग्रह में ३ प्रपाठकों, २९ खण्डों एवं ५०० श्लोकों में एक कात्यायन ग्रन्थ है। यही ग्रन्थ आनन्दाश्रम संग्रह में भी है। इसका छन्द अनुष्टुप् है, कुछ इन्द्रवज्रा में भी हैं। इस ग्रन्थ को कात्यायन का कर्मप्रदीप कहा जाता है। इस कर्मप्रदीप की विषय-सूची इस प्रकार है—जनेऊ कैसे पहना जाय; जल छिड़कना या जल से विभिन्न अंगों का स्पर्श; प्रत्येक क्रिया-संस्कार में गणेश एवं १४ मातृ-पूजा; कुश; श्राद्ध-विवरण; पूताग्नि-प्रतिष्ठा, अरणियों, स्रुक्, स्रुव के विषय में विवरण; प्राणायाम, वेद-मंत्रपाठ; देवताओं एवं पितरों का श्राद्ध; दन्त-धावन एवं स्नान-नियम; सन्ध्या, महाह्निक यज्ञ; श्राद्ध कौन कर सकता है; मरण में अशौच-काल; पत्नीकर्तव्य; विविध प्रकार के श्राद्ध-कर्म।

कर्मप्रदीप में बहुत-से लेखकों के नाम आये हैं। गोभिल, गौतम आदि के नाम यथास्थान आये हैं। नारद, भार्गव (उशना ?), शाण्डिल्य, शाण्डिल्यायन की चर्चा हुई है। मनु, याज्ञवल्क्य, महाभारत के उद्धरण आये हैं।

इस कर्मप्रदीप (कात्यायनस्मृति) की तिथि क्या है? क्या यह प्रसिद्ध कात्यायन की ही, जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, कृति है? मिताक्षरा, अपरार्क तथा अन्य लेखकों ने इससे उद्धरण लिया है, इससे यह सिद्ध है कि यह ग्रन्थ प्रामाणिक मान लिया गया था। यह ११वीं शताब्दी के पूर्व ही प्रणीत हो चुका था, इसमें सन्देह नहीं है। सम्भवतः कात्यायन द्वारा प्रणीत कोई बृहद् ग्रन्थ था जिसका संक्षिप्त अथवा एक अंश कर्मप्रदीप है।

क्या व्यवहारकोविद कात्यायन एवं कर्मप्रदीप के लेखक एक ही हैं? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। विज्ञानेश्वर एवं अपरार्क ने इन दोनों में कोई विभेद नहीं माना है। किन्तु विश्वरूप ने कात्यायन से आचार-प्रायश्चित्त-सम्बन्धी उद्धरण नहीं लिये हैं। अतः दोनों लेखक एक हैं कि नहीं, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

३९. अङ्गिरा

विश्वरूप से लेकर आगे तक के सभी लेखकों द्वारा अंगिरा से उद्धरण लिये गये हैं। केवल व्यवहार-विषयक बातें ही अछूती रही हैं। याज्ञवल्क्य ने अंगिरा को धर्मशास्त्रकार माना है। विश्वरूप ने कहा है कि अंगिरा के कथनानुसार परिषद् में १२१ ब्राह्मण रहते हैं। इसी प्रकार अंगिरा (अंगिरस्) की बहुत-सी बातों का हवाला विश्वरूप ने दिया है। अपरार्क, मेधातिथि, हरदत्त तथा अन्य लेखकों एवं भाष्यकारों ने धर्म-सम्बन्धी बातों में अंगिरा की बहुत ही चर्चा की है। विश्वरूप ने सुमन्तु में उद्धृत अंगिरा के वचन का उल्लेख किया है। उपस्मृतियों के नाम गिनाने में स्मृतिचन्द्रिका ने अंगिरा के गद्यांश उद्धृत किये हैं।

जीवानन्द के संग्रह में जो अंगिरस्स्मृति है वह केवल ७२ श्लोकों में है। यह संस्करण सम्भवतः बृहत् का संक्षिप्त रूप है। इसमें अन्त्यज से भोज्य एवं पेय ग्रहण करने, गौ को पीटने या कई प्रकार से चोट पहुँचाने आदि जैसे अवसरों के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। स्त्रियों द्वारा नील वस्त्र धारण करने की विधियाँ भी इसमें वर्णित हैं। इस स्मृति ने स्वयं अपने (अंगिरा) एवं आपस्तम्ब के नाम भी लिये हैं। इसके उपान्त्य श्लोक में स्त्री-धन को चुरानेवाले की भर्त्सना की गयी है।

मिताक्षरा एवं वेदाचार्य की स्मृतिरत्नावलि में बृहदंगिरा का भी नाम आया है। मिताक्षरा ने ती मध्यम-अंगिरा का भी नाम लिया है।

४०. ऋष्यशृङ्ग

मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों ने ऋष्यशृंग की चर्चा आचार, अशौच, श्राद्ध एवं प्रायश्चित्त के विषय में बहुत बार की है। अपरार्क ने ऋष्यशृंग का एक ऐसा श्लोक उद्धृत किया है जो मिताक्षरा द्वारा शंख का बताया गया है। इस प्रकार कई एक गड़बड़ियाँ भी हैं। अभाग्यवश ऋष्यशृंग की स्मृति मिल नहीं सकी है।

४१. कार्ष्णाजिनि

विशेषतः श्राद्ध-सम्बन्धी बातों में मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य लोगों ने इस लेखक का उल्लेख किया है। कार्ष्णाजिनि का एक श्लोक अपरार्क ने उद्धृत किया है, जिसमें ब्रह्मा के सात पुत्रों के नाम हैं, यथा सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, बोढु एवं पञ्चशिख। इसी प्रकार अपरार्क के उद्धरण में कन्या एवं वृश्चिक राशियों के नाम भी आये हैं।

४२. चतुर्विंशतिमत

इस कृति की दो प्रतियाँ डेकन कालेज संग्रह में उपलब्ध हैं। इसमें ५२५ श्लोक हैं। इसके इस नाम का एक कारण है। इसमें २४ ऋषियों की शिक्षाओं (मतों) का सारतत्त्व पाया जाता है। यथा मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, वसिष्ठ, व्यास, उशना, आपस्तम्ब, वत्स, हारीत, गुरु (बृहस्पति), नारद, पराशर, कात्यायन गार्ग्य, गौतम, यम, बौधायन, दक्ष, शंख, अंगिरा, शातातप, सांख्य (सांख्यायन ?), संवर्त। इसमें ये विषय आये हैं—वर्णाश्रम के आचार; शौच; आचमन; दन्तधावन; स्नान, प्राणायाम; गायत्रीपाठ; वेदाध्ययन; विवाह; अग्निहोत्र; पंचमहाह्निक; जीविका-वृत्ति; वानप्रस्थ; सन्यासी; क्षत्रियों एवं अन्य दो जातियों के धर्म; भयंकर एवं हलके पापों के लिए प्रायश्चित्त; जीविका के साधन; श्राद्ध; जन्म-मरण पर अशौच।

इस ग्रन्थ में उशना, मनु, पराशर, अंगिरा, यम, हारीत के मत उद्धृत हैं। इसमें यह आया है कि अर्हत, चार्वाक एवं बुद्धों की शिक्षाएँ लोगों को भ्रम में डालती हैं। इस ग्रन्थ के उद्धरण मिताक्षरा, अपरार्क तथा कालान्तर के ग्रंथों में मिलते हैं। किन्तु विश्वरूप एवं मेधातिथि उनके विषय में मौन हैं। हो सकता है कि उनके काल तक यह ग्रन्थ महत्ता न प्राप्त कर सका हो। बनारस संस्कृत माला में जो संस्करण प्रकाशित है उसमें लक्ष्मीधर के पुत्र भट्टोजि की टीका है। यह टीका विद्वत्तापूर्ण है और बहुत-से लेखकों का हवाला देती है। किसी-किसी हस्तलिखित प्रति में यह भाष्य रामचन्द्र का कहा गया है।

४३. दक्ष

याज्ञवल्क्य ने दक्ष का उल्लेख किया है। विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क ने दक्ष से उद्धरण लिये हैं। दक्ष के ये दो श्लोक बहुधा उद्धृत किये जाते हैं—"सामान्यं याचितं न्यस्तमाधिर्दाराश्च तद्धनम्। अन्वाहितं च निक्षेपः सर्वस्वं चान्वये सति॥ आपत्स्वपि न देयानि नव वस्तूनि पण्डितैः। यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्तीयते नरः॥" व्यवहार पर लिखने वाले लेखक इन श्लोकों को, जिनमें दान में न दिये जानेवाले नौ पदार्थों की चर्चा है, बहुधा उद्धृत करते ही हैं।

जीवानन्द के संग्रह में जो दक्षस्मृति है, उसमें ७ अध्याय एवं २२० श्लोक हैं। इसके मुख्य विषय ये हैं—चार आश्रम, ब्रह्मचारियों के दो प्रकार; द्विज के आह्निक धर्म; कर्मों के विविध प्रकार, नौ कर्म; नौ विकर्म; नौ गुप्त कर्म; नौ कर्म जो खुलकर किये जायँ; दान में न दी जानेवाली वस्तुएँ; दान; भली पत्नी की स्तुति; शौच के दो प्रकार; जन्म-मरण पर अशौच; योग एवं उसके षडंग, यथा प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क एवं समाधि; साधुओं द्वारा त्यागने योग्य आठ प्रकार के मैथुन; भिक्षु-धर्म; द्वैत एवं अद्वैत।

यह स्मृति वस्तुतः बहुत प्राचीन है। विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका में जो अंश उद्धृत हैं वे किसी-न-किसी प्रकाशित संस्करण में मिल ही जाते हैं।

४४. पितामह

विश्वरूप द्वारा उद्धृत वृद्ध-याज्ञवल्क्य के श्लोक में पितामह धर्मवक्ताओं में कहे गये हैं। यह स्मृति व्यवहार से विशेष सम्बन्ध रखती है। विश्वरूप, मिताक्षरा ने पितामहस्मृति से व्यवहार-सम्बन्धी उद्धरण लिये हैं। इस स्मृति में वेद, वेदांग, मीमांसा, स्मृतियाँ, पुराण एवं न्याय धर्मशास्त्रों में गिने गये हैं। पितामह ने बृहस्पति के समान नौ दिव्यों की चर्चा की है, किन्तु याज्ञवल्क्य एवं नारद में केवल पाँच ही दिव्य दिये गये हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने भी इससे उद्धरण लिये हैं। व्यास की भांति पितामह ने क्रयपत्र, स्थितिपत्र, सन्धिपत्र, विशुद्ध-पत्र नामक लेखप्रमाणों की चर्चा की है। स्मृतिचन्द्रिका में पितामह से १८ प्रकृतियों, यथा—धोबी, कर्मकार आदि की संख्या उद्धृत है। इसमें व्यवहार के २२ पद पाये जाते हैं। पितामह के अनुसार न्यायालय में लिपिक, गणक, शास्त्र, साध्यपाल, सभासद, सोना, अग्नि एवं जल नामक आठ करण होने चाहिए। इसी प्रकार अन्य पदों की चर्चाएँ हैं।

पितामह बृहस्पति के बाद आते हैं, क्योंकि उन्होंने बृहस्पति के मत का हवाला दिया है, यथा—एक ही ग्राम, समाज, नगर, श्रेणी, सार्थसेना (कारवाँ) या सेना के लोगों को अपनी ही परम्पराओं के अनुसार विवाद का निपटारा करना चाहिए। पितामह की तिथि ४०० एवं ७०० ई० के बीच में कहीं पड़नी चाहिए।

४५. पुलस्त्य

वृद्ध-याज्ञवल्क्य के अनुसार पुलस्त्य एक धर्मवक्ता हैं। विश्वरूप ने शरीर-शौच के सिलसिले में उनका एक श्लोक उद्धृत किया है। मिताक्षरा ने एक उद्धरण में कहा है कि श्राद्ध में ब्राह्मण को मुनि का भोजन, क्षत्रिय एवं वैश्य को मांस तथा शूद्र को मधु खाना चाहिए। संध्या, श्राद्ध, अशौच, यति-धर्म, प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में अपरार्क ने पुलस्त्य से बहुत उद्धरण लिये हैं। आह्निक एवं श्राद्ध पर स्मृतिचन्द्रिका ने पुलस्त्य का उल्लेख किया है। दानरत्नाकर ने मृगचर्म-दान के बारे में पुलस्त्य का उद्धरण दिया है। पुलस्त्यस्मृति की तिथि ४०० एवं ७०० ई० के मध्य में अवश्य होनी चाहिए।

४६. प्रचेता

पराशर ने प्रचेता (प्रचेतस्) का नाम ऋषियों में लिया है, किन्तु याज्ञवल्क्य ने इनका नाम धर्मशास्त्र-कारों में नहीं लिया है। आह्निक कर्तव्यों (आचारों), श्राद्ध, अशौच, प्रायश्चित्त के विषय में मिताक्षरा एवं अपरार्क ने प्रचेता महोदय के कई उद्धरण लिये हैं। मिताक्षरा ने उद्धरण देते हुए कहा है कि कर्मचारियों,

शिल्पकारों, चिकित्सकों, क्षत्रियों एवं दासों, राजाओं, राजकर्मचारियों को अशौच की अवधि नहीं माननी चाहिए। मेधातिथि ने प्रचेता के ग्रन्थ को स्मृति कहा है और उसे मनु, विष्णु आदि के समान प्रमाण माना है। मिताक्षरा, हरदत्त तथा अपरार्क ने बृहत्प्रचेता से अशौच-प्रायश्चित्त-सम्बन्धी उद्धरण लिये हैं। इन लोगों ने वृद्धप्रचेता की भी चर्चा की है। स्मृतिचन्द्रिका एवं हरदत्त ने प्रचेता को उद्धृत किया है।

४७. प्रजापति

बौधायनधर्मसूत्र ने प्रजापति को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है (२.४.१५ एवं २.१०.७१)। वसिष्ठ में प्राजापत्य श्लोक उद्धृत पाये जाते हैं (३.४७; १४.१६–१९, २४-२७, ३०-३२)। उद्धृत श्लोकों में बहुत-से मनुस्मृति में भी पाये जाते हैं। हो सकता है, दोनों धर्मसूत्रकारों ने प्रजापति नाम से मनु की ओर ही संकेत किया हो।

आनन्दाश्रम संग्रह में प्रजापति नामक एक स्मृति है, जिसमें श्राद्ध पर १९८ श्लोक हैं। इसका छन्द अनुष्टुप् है, किन्तु कहीं-कहीं इन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका और स्रग्धरा छन्द भी हैं। इसमें कल्पशास्त्र, स्मृतियों, धर्मशास्त्र, पुराणों की चर्चा हुई है। इसमें कार्ष्णाजिनि की भाँति कन्या एवं वृश्चिक नामक राशियों के नाम आये हैं।

मिताक्षरा ने अशौच एवं प्रायश्चित्त के बारे में प्रजापति की चर्चा की है, अपरार्क ने वस्तु-पवित्रीकरण, श्राद्ध, दिव्य आदि के बारे में उद्धरण दिये है। इन्होंने प्रजापति के एक गद्यांश द्वारा परिव्राजकों के चार प्रकार बताये हैं, यथा कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस। स्मृतिचन्द्रिका, पराशरमाधवीय ने प्रजापति के व्यवहार-विषयक श्लोक उद्धृत किये हैं। प्रजापति ने नारद की भांति कृत एवं अकृत नामक दो प्रकार के गवाहों की चर्चा की है।

४८. मरीचि

आह्निक, अशौच, प्रायश्चित्त एवं व्यवहार पर मिताक्षरा, अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका ने मरीचि के उद्धरण लिये हैं। मरीचि ने सावन-भादों में सरिता-स्नान मना किया है, क्योंकि उन दिनों नदियाँ रजस्वला रहती हैं। यदि कोई क्रयकर्ता बहुत-से व्यापारियों के सामने, राजकर्मचारियों की जानकारी में, दिन-दोपहर कोई अस्थावर द्रव्य क्रय करता है, तो वह दोष-मुक्त हो जाता है और अपने धन को प्राप्त कर लेता है (यदि द्रव्य किसी दूसरे का निकल आता है तो)। मरीचि ने कहा है कि आधि (बंधक), बिक्री, विभाजन, स्थावर सम्पत्ति-दान के विषय में जो कुछ तय पाये वह लिखित होना चाहिए। उन्होंने आधि (बंधक) को भोग्य, गोप्य, प्रत्यय एवं आज्ञाधि नामक चार प्रकारों में बाँटा है।

४९. यम

वसिष्ठधर्मसूत्र ने यम को धर्मशास्त्रकार मानकर उनकी स्मृति से उद्धरण लिया है (१८.१३-१५ एवं १९.४८)। यम के उद्धृत चार पद्यों में तीन मनु में मिल जाते हैं। याज्ञवल्क्य ने यम को धर्मवक्ता कहा है। मनु के टीकाकार गोविन्दराज एवं अपरार्क ने यम के इस मत को कि कुछ पक्षियों का मांस खाना चाहिए, उद्धृत किया है।

जीवानन्द संग्रह में एक यमस्मृति है जिसमें ७८ श्लोक हैं, जो प्रायश्चित्त एवं शुद्धि का विवेचन करते हैं। इस स्मृति के कुछ पद्यांश मनु से मिलते-जुलते हैं। आनन्दाश्रम संग्रह में एक यमस्मृति है जिसमें प्रायश्चित्त, श्राद्ध एवं पवित्रीकरण पर ९९ श्लोक हैं।

यम की कई एक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा बाद वाले अन्य ग्रन्थ यम के लगभग ३०० श्लोकों को उद्धृत करते हैं। इस स्मृति में धर्मशास्त्र के लगभग सभी विषय पाये जाते हैं। स्पष्ट है कि उपर्युक्त व्याख्याकारों एवं निबन्धकारों के समक्ष यम की कोई बृहत् पुस्तक थी। यमस्मृति के अतिरिक्त बृहद्-यम की स्मृति का भी नाम आता है, जिसके उद्धरण स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य निबन्धों में मिलते हैं। महाभारत (अनुशासन पर्व, १०४.७२-७४) में यम की गाथाएँ मिलती हैं। यम ने मनुस्मृति से उद्धरण लिये हैं। स्मृतिचन्द्रिका, पराशरमाधवीय एवं व्यवहारमयूख ने यम को उद्धृत किया है। यम ने नारियों के लिए संन्यास वर्जित किया है। मिताक्षरा, हरदत्त, अपरार्क ने प्रायश्चित्त के बारे में बृहद्-यम का उल्लेख किया है। हरदत्त एवं अपरार्क ने एक लघु यम एवं वेदाचार्य ने स्मृतिरत्नाकर में स्वल्प-यम के नाम लिये हैं। हो सकता है दोनों नाम एक ग्रन्थ के हों, क्योंकि नामों का अर्थ एक ही है।

५०. लौगाक्षि

अशौच एवं प्रायश्चित्त पर मिताक्षरा ने लौगाक्षि के उद्धरण लिये हैं। संस्कारों, वैश्वदेव, चातुर्मास्य, वस्तु-शुद्धि, श्राद्ध, अशौच एवं प्रायश्चित्त पर अपरार्क ने इस स्मृतिकार के गद्यांश एवं श्लोक उद्धृत किये हैं। लौगाक्षि को उद्धृत कर अपरार्क ने प्रजापति को प्रमाण माना है। मिताक्षरा तथा अन्य व्यवहार-सम्बन्धी ग्रन्थों ने लौगाक्षि के योग एवं क्षेम-सम्बन्धी श्लोक को अवश्य उल्लिखित किया है।

५१. विश्वामित्र

विश्वरूप द्वारा उद्धृत वृद्ध-याज्ञवल्क्य के श्लोक में विश्वामित्र धर्मशास्त्रकार कहे गये हैं। अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, जीमूतवाहन का कालविवेक तथा अन्य ग्रन्थ विश्वामित्र के श्लोकों को उद्धृत करते हैं। विश्वामित्र के महापातक-विषयक अंश बहुधा उद्धृत होते हैं।

५२. व्यास

जीवानन्द एवं आनन्दाश्रम के संग्रहों में व्यास के नाम की स्मृति मिलती है, जो चार अध्यायों एवं २५० श्लोकों में है। व्यास ने वाराणसी में अपनी स्मृति की घोषणा की। इसके विषय संक्षेप में यों हैं—कृष्ण वर्ण के मृगों के देश में इस स्मृति का धर्म प्रचलित है; श्रुति, स्मृति एवं पुराण धर्म-प्रमाण हैं; वर्णसंकर; सोलह संस्कार; ब्रह्मचारी के कर्तव्य; ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य कन्या से विवाह कर सकता है, किन्तु शूद्र से नहीं; पत्नी-धर्म; गृहस्थ के नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कार्य; गृहस्थाश्रम एवं दानों की स्तुति।

विश्वरूप ने व्यास के कुछ श्लोकों की चर्चा की है। किन्तु ये श्लोक महाभारत में पाये जाते हैं। मेधातिथि ने भी महाभारत के कुछ अंशों को उद्धृत कर उन्हें व्यासकृत माना है। अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में लगभग २०० श्लोक उद्धृत हैं, जिनसे लगता है कि व्यास ने व्यवहार-विधि पर लिखा है और नारद, कात्यायन एवं बृहस्पति से उनकी बातें बहुत-कुछ मिलती हैं। व्यास के अनुसार उत्तर के चार प्रकार हैं, यथा—मिथ्या, सम्प्रतिपत्ति, कारण एवं प्राङ्न्याय। लेखप्रमाण के प्रकार तीन हैं, यथा—स्वहस्त, जानपद, राजशासन। व्यास में दिव्य केवल पाँच प्रकार के हैं। व्यास के अनुसार एक निष्क १४ सुवर्णों के बराबर एवं एक सुवर्ण ८ पल के बराबर होता है। इन सब बातों से यह कहा जा सकता है कि व्यासस्मृति की रचना ईसा के बाद दूसरी एवं पाँचवीं शताब्दी के बीच में कभी हुई। किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है; क्या स्मृति के

व्यास एवं महाभारत के व्यास एक हैं या दो? हो सकता है कि दोनों एक ही हों। स्मृतिचन्द्रिका ने एक गद्य-व्यास का भी उल्लेख किया है। अपरार्क ने वृद्ध-व्यास के एक श्लोक में स्त्रीधन के एक प्रकार 'सौदायिक' की चर्चा की है। मिताक्षरा, प्रायश्चित्तमयूख तथा अन्य ग्रन्थों में बृहद्-व्यास के उद्धरण पाये जाते हैं। बल्लालसेन ने अपने दानसागर में महा-व्यास, लघु-व्यास एवं दान-व्यास के नाम लिये हैं। सम्भवतः दान-व्यास का तात्पर्य है महाभारत के दान-धर्म अंश से।

५३. षट्त्रिंशन्मत

यह ग्रन्थ चतुर्विंशतिमत के सदृश ही कोई स्मृतिग्रन्थ है। कल्पतरु, मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, अपरार्क, हरदत्त तथा अन्य कतिपय लेखकों ने इसका उल्लेख किया है। विश्वरूप एवं मेधातिथि ने इसका उल्लेख नहीं किया है। यह कृति ७००-९०० ई० के मध्य की मानी जा सकती है। जितने भी उद्धरण मिलते हैं, वे सभी शौच, श्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि से सम्बन्धित हैं। व्यवहार-सम्बन्धी कोई उल्लेख अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है। एक श्लोक में बौद्धों, पाशुपतों, जैनों, नास्तिकों एवं कपिल के अनुयायियों के स्पर्श को दूषित ठहराया गया है और उसके लिए स्नान की व्यवस्था है।

५४. संग्रह या स्मृतिसंग्रह

धर्म-सम्बन्धी सभी विषयों के सिलसिले में मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका एवं अन्य ग्रन्थों ने संग्रह या स्मृतिसंग्रह से उद्धरण लिये हैं। हिन्दू-व्यवहार के लिए इस संग्रह के व्यवहार-सम्बन्धी उद्धरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ बातें नीचे दी जाती हैं—पाँच श्लोकों में स्मृतिसग्रह ने अभियोग की आवश्यक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। लेखप्रमाण दो प्रकार के होते हैं—राजकीय एवं जानपद। जहाँ ५०० पण से अधिक का मामला हो वहाँ घट से विष तक का दिव्य स्वीकृत किया गया है, किन्तु हलके विवादों के लिए कुछ धन की ही व्यवस्था कर दी गयी है। किन्तु नारद ने बड़े विवादों में तुला से लेकर कोश तक के पाँच दिव्य-प्रकारों का उल्लेख किया है। संग्रहकार ने केवल सात दिव्यों की ओर संकेत किया है, किन्तु बृहस्पति एवं पितामह ने नौ तक की व्यवस्था कर दी है। माता एवं पिता द्वारा प्रेषित कोश को संग्रहकार ने दाय माना है। संग्रहकार के मतानुसार पुत्रहीन व्यक्ति की वसीयत क्रम से यों की जाती है—विधवा, पुत्रिका, कन्या, माता, पितामह, पिता, अपने भाई, सौतले भाई, पितृसंतति, पितामहसंतति, प्रपितामहसंतति, अन्य सपिण्ड, सकुल्य, आचार्य, शिष्य, सहच्छात्र, विद्वान् ब्राह्मण।

संग्रहकार के मत बहुत अंशों में धारेश्वर से मिल जाते हैं, किन्तु मिताक्षरा आदि ने उन्हें नहीं माना है। व्यवहार के मामलों में संग्रहकार याज्ञवल्क्य एवं नारद से बहुत आगे हैं। विश्वरूप एवं मेधातिथि ने संग्रहकार के विषय में कुछ नहीं कहा है। हो सकता है कि यह ग्रन्थ केवल भोजराज धारेश्वर के ही राज्य में अधिक प्रचलित रहा हो। इससे यह विदित होता है कि संग्रहकार की तिथि ८वीं एवं १०वीं शताब्दी के बीच में कहीं है। भारुचि एवं धारेश्वर मिताक्षरा के पूर्व हुए थे, क्योंकि मिताक्षरा ने उनके नाम लिये हैं।

५५. संवर्त

याज्ञवल्क्य की सूची में संवर्त एक स्मृतिकार के रूप में आते हैं। विश्वरूप, मेधातिथि, मिताक्षरा, हरदत्त, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य लेखकों ने संवर्त के धर्म-सम्बन्धी विषयों से उद्धरण लिये हैं। सन्ध्या-वन्दन,

यति-धर्म तथा चोरी, विविध व्यभिचार, अन्य भयानक पापों के विषय में विश्वरूप ने सवर्त के मतों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार अन्य भाष्यकारों ने भी आचार-सम्बन्धी उद्धरण दिये हैं। संवर्त के व्यवहार-सम्बन्धी कुछ विचार यहाँ दिये जा रहे हैं। संवर्त के अनुसार लेखप्रमाण के सामने मौखिक बातें कोई महत्त्व नहीं रखतीं। जब अराजकता न हो, शासन सुदृढ़ हो तो जिसके अधिकार में घर-द्वार या भूमि हो वही उसका स्वामी माना जाता है और लिखित प्रमाण धरा रह जाता है (भुज्यमाने गृहक्षेत्रे विद्यमाने तु राजनि। भुक्तिर्यस्य भवेत्तस्य न लेख्यं तत्र कारणम् ।। परा० मा० ३)। इसी प्रकार कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की तथ्यपूर्ण चर्चाएँ हुई हैं, जिनके विषय में स्थान-संकोच के कारण हम यहाँ और कुछ नहीं दे पा रहे हैं।

जीवानन्द एवं आनन्दाश्रम के संग्रहों में संवर्त के क्रम से २२७ एवं २३० श्लोक हैं। आज जो प्रकाशित संवर्तस्मृति मिलती है वह मौलिक स्मृति के एक अंश का संक्षिप्त सार मात्र प्रतीत होती है। प्रकाशित स्मृति के बहुलांश अपरार्क में उद्धृत हैं। मिताक्षरा ने बृहत्संवर्त का उल्लेख किया है। हरिनाथ के स्मृतिसार में एक स्वल्प संवर्त की चर्चा है।

५६. हारीत

हारीत के व्यवहार-सम्बन्धी गद्यावतरणों की चर्चा अपेक्षित है। स्मृतिचन्द्रिका के उद्धरण में आया है—"स्वधनस्य यथा प्राप्तिः परधनस्य वर्जनम्। न्यायेन यत्र क्रियते व्यवहारः स उच्यते ।।" उन्होंने इस प्रकार व्यवहार की परिभाषा की है। उनके मतानुसार वही न्याय-विधि ठीक है जो धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित हो, जो सदाचार से सेवित एवं छल-प्रपंच से दूर हो। नारद की भाँति हारीत ने भी व्यवहार के चार स्वरूप बताये हैं, यथा—धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं नृपाज्ञा। लिखित प्रमाण को उन्होंने बड़ी मान्यता दी है। इसी प्रकार अन्य व्यवहार-सम्बन्धी बातों का विवरण है जिसे स्थान-संकोचवश यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है। हारीत बृहस्पति एवं कात्यायन के समकालीन लगते हैं, अर्थात् ४०० तथा ७०० ई० के बीच में कभी उनकी स्मृति प्रणीत हुई।

५७. भाष्य एवं निबन्ध

धर्मशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य लगभग तीन कालों में बाँटा जा सकता है। पहले काल में धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति जैसे बृहत् ग्रन्थ आते हैं। यह काल ईसा-पूर्व ६०० से लेकर ईसा के बाद प्रथम शताब्दी के आरम्भ तक माना जाता है। दूसरे काल में अधिकांश पद्यमय स्मृतियाँ आती हैं, और यह काल प्रथम शताब्दी से लेकर ८०० ई० तक चला आता है। तीसरे काल में भाष्यकार एवं निबन्धकार आते हैं। यह तीसरा काल लगभग एक सहस्र वर्ष तक चला आता है; लगभग सातवीं शताब्दी से १८०० ई० तक यह काल माना जाता है। तीसरे काल के प्रथम भाग को प्रसिद्ध भाष्यकारों का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। स्मृतियों पर भाष्य तीसरे काल के अन्तिम चरण तक लिखे जाते रहे। सत्रहवीं शताब्दी में नन्द पण्डित ने विष्णुधर्मसूत्र पर वैजयन्ती नामक भाष्य लिखा। किन्तु बारहवीं शताब्दी से एक सामान्य प्रवृत्ति यह उत्पन्न हुई कि लेखकों ने भाष्य न लिखकर स्मृतियों के धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों को लेकर स्वतन्त्र रूप से निबन्ध लिखे, यथा कल्पतरु, स्मृतिचन्द्रिका, चतुर्वर्गचिन्तामणि, चण्डेश्वर का रत्नाकर। इन निबन्धकारों के पूर्व अन्य ग्रन्थों में भी विरोधी भाव स्पष्ट किये गये थे। स्वयं विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क आदि ने लिखे तो भाष्य किन्तु उनकी कृतियाँ निबन्धों से किसी मात्रा में कम नहीं हैं। वास्तव में, टीका (भाष्य) एवं निबन्ध में कोई विभाजन-रेखा खींचना सरल नहीं

है। शंकरभट्ट के द्वैतनिर्णय में विज्ञानेश्वर को निबन्धकारों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अतः इस ग्रन्थ में भाष्यों एवं निबन्धों में कोई विशिष्ट अन्तर्भेद नहीं रखा जायगा। अब हम उन प्रमुख भाष्यकारों (टीकाकारों) एवं निबन्धकारों के विषय में पढ़ेंगे जिन्हें महत्ता एवं मान्यता मिल चुकी है।

५८. असहाय

डॉ० जाली द्वारा सम्पादित नारदस्मृति में कल्याणभट्ट द्वारा संशोधित असहाय के भाष्य का एक अंश है। अभ्युपेत्याशुश्रूषा नामक प्रकरण का, पाँचवें पद के २१वें श्लोक तक ही संशोधित संस्करण प्राप्त हो सका है। कल्याणभट्ट ने लिखा है कि असहाय की टीका लिपिकों द्वारा भ्रष्ट हो गयी थी। व्यवहारमयूख के प्रथम अध्याय में यह आया है कि कल्याणभट्ट ने केशवभट्ट के प्रेरणा-उत्साह से असहाय की टीका संशोधित की। किन्तु संशोधक महोदय ने संशोधन-कार्य में बड़ी स्वतन्त्रता प्रदर्शित की। विश्वरूप ने अपनी याज्ञवल्कीय टीका में असहाय का नाम लिया है। हारलता में अनिरुद्ध ने, जो अद्‌भुतसागर के लेखक बंगराज बल्लालसेन (लगभग ११६८ ई०) के गुरु थे, लिखा है कि असहाय ने गौतमधर्मसूत्र पर भी एक भाष्य लिखा है। विश्वरूप ने भी यह बात कही है। सम्भवतः असहाय ने मनुस्मृति पर भी कोई भाष्य लिखा था, क्योंकि सरस्वतीविलास के एक अवतरण से पता चलता है कि मनु, याज्ञवल्क्य और उनके भाष्यकार असहाय, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर एवं अपरार्क तथा निबन्धों के लेखकों, यथा चन्द्रिकाकार तथा अन्यों ने धर्म-विभाग को स्वीकार किया है। विवाद-रत्नाकर भी असहाय को मनु का टीकाकार मानता है। इन बातों से स्पष्ट है कि असहाय ने गौतमधर्मसूत्र, मनुस्मृति तथा नारद पर टीकाएँ कीं।

विश्वरूप एवं मेधातिथि ने असहाय का उल्लेख किया है, अतः असहाय कम-से-कम ७५० ई० तक निश्चित हो गये हैं, किन्तु इसके पूर्व वे कब हुए, कहना कठिन है। असहाय के जन्मस्थान के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

५९. भर्तृयज्ञ

ये एक अति प्राचीन भाष्यकार हैं। मेधातिथि ने इनका उल्लेख किया है (मनु० ८.३)। त्रिकाण्ड-मण्डन ने अपनी आपस्तम्बसूत्रध्वनितार्थकारिका में भर्तृयज्ञ के मत उद्धृत किये हैं। एक मत यह है—जिसने वेद याद कर डाला है, वह यज्ञ करने का अधिकारी है, भले ही उसे वेद-मन्त्रों का अर्थ न ज्ञात हो। भर्तृयज्ञ ने कात्यायनश्रौतसूत्र पर भी एक टीका की थी, ऐसा अनन्त के भाष्य से प्रकट होता है। इसी प्रकार गदाधर, चण्डेश्वर, नित्याचारप्रदीप से पता चलता है कि असहाय की भाँति भर्तृयज्ञ भी गौतमधर्मसूत्र के टीकाकार थे। मेधातिथि ने असहाय का भी नाम लिया है, किन्तु विश्वरूप का नहीं। अतः भर्तृयज्ञ ८०० ई० के पूर्व हुए होंगे और सम्भवतः असहाय के समकालीन होंगे।

६०. विश्वरूप

त्रिवेन्द्रम संस्कृत माला में गणपति शास्त्री ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर विश्वरूप की बालक्रीडा नामक टीका प्रकाशित की है। स्वयं मिताक्षरा के भूमिका-भाग में यह आया है कि याज्ञवल्क्य के सिद्धान्तों की व्याख्या विश्वरूप ने बड़े विस्तार से की है। मिताक्षरा के कथनानुसार विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य के शब्दों को बड़े मनोयोग के साथ देखा है।

आचार एवं प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विश्वरूप की टीका सचमुच बृहत् है, किन्तु व्यवहार के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। विश्वरूप की शैली सरल एवं शक्तिशाली है और शंकराचार्य से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। विश्वरूप ने वैदिक ग्रन्थों, चरकों, वाजसनेयियों, काठकों, ऋग्वेदीय मन्त्रों, ब्राह्मणों, उपनिषदों को यथास्थान उद्धृत किया है। उन्होंने पारस्कर, भरद्वाज एवं आश्वलायन के गृह्यसूत्रों का पर्याप्त हवाला दिया है। उन्होंने अंगिरा, अत्रि, आपस्तम्ब, उशना, कात्यायन, काश्यप, गार्ग्य, वृद्धगार्ग्य, गौतम, जातूकर्ण (र्णि), दक्ष, नारद, पराशर, पारस्कर, पितामह, पुलस्त्य, पैठीनसि, बृहस्पति, बौधायन, भारद्वाज, भृगु, मनु, वृद्ध मनु, यम, याज्ञवल्क्य, वृद्ध याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, विष्णु, व्यास, शंख, शातातप, शौनक, संवर्त, सुमन्तु, स्वयंभु (मनु) एवं हारीत नामक स्मृतिकारों का उल्लेख किया है। बृहस्पति के अधिकांश उद्धरण गद्य में ही लिये गये हैं, केवल कुछ एक पद्य में हैं। लगता है, उनके सामने बृहस्पति के दो ग्रन्थ उपस्थित थे। विशालाक्ष की भी चर्चा है, जो राजनीति के एक लेखक थे और जिनका नाम कौटिल्य ने भी उद्धृत किया है। उशना एवं बृहस्पति की तो चर्चा है, किन्तु आश्चर्य है, इन्होंने कौटिल्य का नाम नहीं लिया। इसका उत्तर सरलता से नहीं दिया जा सकता, किन्तु विश्वरूप के समक्ष कौटिल्य का अर्थशास्त्र उपस्थित था, जैसा कि विश्वरूप की विषय-वस्तु की व्याख्या से पता चलता है, यथा मन्त्रियों की परीक्षा में धर्म, अर्थ, काम एवं भय नामक उपायों का प्रयोग कौटिलीय है। कहीं-कहीं कौटिलीय एवं विश्वरूपीय में पर्याप्त समता पायी जाती है।

विश्वरूप ने पूर्वमीमांसा के प्रति अपना विशिष्ट प्रेम प्रदर्शित किया है। जैमिनि का नाम तक आ गया है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि उन्होंने मीमांसा के लिए 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया है तथा मीमांसकों को "नैयायिक" या "न्यायविद्" कहा है। कुमारिल के श्लोकवार्तिक से भी विश्वरूप के भाष्य में उद्धरण लिया गया है। याज्ञवल्क्य (१.७) पर व्याख्या करते समय विश्वरूप ने श्रुति, स्मृति तथा तत्सम्बन्धी बातों के सम्बन्ध को बताते समय ५० से अधिक श्लोक कारिकाओं के रूप में उद्धृत किये हैं। लगता है, ये कारिकाएँ स्वयं उनकी हैं। कारिकाओं के लेखक के रूप में विश्वरूप कुमारिल के समान प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण भाष्य में उन्होंने मीमांसा की कहावतों एवं विवेचन के ढंगों में विश्वास किया है।

यों तो विश्वरूप पूर्वमीमांसा के समर्थक से लगते हैं, किन्तु उनके दार्शनिक मत शंकराचार्य के मत से बहुत मिलते हैं। उनके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान द्वारा होती है और यह संसार अविद्या के कारण है।

विश्वरूप ने (याज्ञ० ३.१०३) एक गीतिवेदविद् नारद की चर्चा की है। अभिधानकोश एवं नामरत्नमाला से बहुत-से उद्धरण लिये हैं। साहित्यदर्पण में उल्लिखित भिक्षाटन काव्य का भी उल्लेख पाया जाता है। भाष्यकारों में विश्वरूप ने असहाय की गौतमधर्मसूत्र वाली टीका की चर्चा की है (याज्ञ० ३.२६३)। विश्वरूप वाली याज्ञवल्क्य-स्मृति एवं मिताक्षरा वाली याज्ञवल्क्यस्मृति में कहीं-कहीं कुछ अन्तर भी पाया जाता है। 'अपरे', 'अन्ये' शब्दों से उन्होंने अपने पूर्व भाष्यकारों की ओर संकेत किया है।

जीमूतवाहन के दायभाग एवं व्यवहारमातृका में, स्मृतिचन्द्रिका, हारलता तथा कालान्तर के अन्य ग्रन्थों, यथा सरस्वतीविलास में विश्वरूप के मतों की चर्चा हुई है। विश्वरूप एवं मिताक्षरा के मतों में समानता एवं विभिन्नता दोनों हैं। विस्तार-भय से हम साम्य और वैभिन्य से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का हवाला नहीं दे रहे हैं।

विश्वरूप ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक का उद्धरण दिया है और मिताक्षरा ने उन्हें एक प्रामाणिक भाष्यकार माना है, अतः उनका काल ७५० ई० तथा १००० ई० के बीच में पड़ता है। क्या विश्वरूप और सुरेश्वर एक ही हैं? सुरेश्वर ने अपने नैष्कर्म्यसिद्धि, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक तथा अन्य ग्रन्थों में लिखा है कि वे शंकराचार्य के शिष्य थे। शंकराचार्य की मानी हुई तिथि ७८८-८२० ई० है। माधवाचार्य ने अपने कतिपय ग्रन्थों में सुरेश्वर के

ग्रन्थों से उद्धरण लेते हुए विश्वरूप के उद्धरणों को दिया है। संक्षेपशंकरजय में विश्वरूप शंकर के भाष्य के दो वार्तिकों के लेखक कहे गये हैं। शंकर के चार शिष्य थे---सुरेश्वर, पद्मपाद, त्रोटक एवं हस्तामलक। रामतीर्थ के मानसोल्लास में स्पष्ट शब्दों में आया है कि शंकर के शिष्य सुरेश्वर का दूसरा नाम विश्वरूप है। सप्तसूत्र-संन्यास पद्धति के अनुसार शंकर के चार शिष्य हैं---स्वरूपाचार्य, पद्माचार्य, त्रोटक एवं पृथ्वीधर। गुरुवंश काव्य ने सुरेश्वर और विश्वरूप को एक माना है और उन्हें कुमारिल एवं शंकर का शिष्य भी घोषित किया है। अतः सुरेश्वर एवं विश्वरूप को हम एक ही व्यक्ति मान सकते हैं। अतः विश्वरूप ८००-८२५ ई० में थे, यह सिद्ध हो जाता है।

कालान्तर में एक विश्वरूप-निबन्ध भी प्रणीत हुआ, किन्तु यह किसी दूसरे विश्वरूप का लिखा हुआ है। आगे के बहुत-से निबन्धकारों ने विश्वरूप को प्रामाणिक रूप से घोषित एवं उद्धृत किया है। यथा तिथिनिर्णय-सर्वसमुच्चय (१४५० ई०) के लेखक, कालनिर्णयसिद्धांत व्याख्या (१६५० ई०) के लेखक, निर्णयसिंधु के लेखक आदि। उद्वाहतत्त्व में रघुनन्दन ने विश्वरूप-समुच्चय की चर्चा की है। हो सकता है विश्वरूप ने कोई धर्मशास्त्र-सम्बन्धी निबन्ध लिखा हो।

६१. भारुचि

मिताक्षरा (याज्ञ० पर, १.८१, २.१२४), पराशरमाधवीय, सरस्वतीविलास ने भारुचि के मतों का उल्लेख किया है। मिताक्षरा की तिथि है १०५० ई०, अतः भारुचि इस कृति से प्राचीन हैं। अपने वेदार्थसंग्रह में रामानुजाचार्य ने अपने पहले के विशिष्टाद्वैत के छः आचार्यों के नाम लिये हैं, यथा---बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दी एवं भारुचि। यही बात यतीन्द्रमतदीपिका में भी पायी जाती है। भारुचि का रचना काल नवीं शताब्दी का प्रथमार्ध ही माना जाना चाहिए। १०५० ई० के पूर्व भारुचि एक धर्मशास्त्रकार एवं व्यवहार-कोविद भी हुए हैं। हो सकता है कि धर्मशास्त्रकार भारुचि एवं विशिष्टाद्वैत दार्शनिक दोनों व्यक्ति एक ही रहे हों। यदि यह बात ठीक है तो भारुचि विश्वरूप के समकालीन ठहरते हैं। दोनों के मतों में साम्य भी है।

भारुचि के विषय में सरस्वतीविलास में आया है कि वे विष्णुधर्मसूत्र के भाष्यकार अथवा एक ऐसी पुस्तक के लेखक रहे हैं जिसमें विष्णुधर्मसूत्र के बहुत-से सूत्रों की व्याख्या हुई है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र के भाष्य में सुदर्शनाचार्य ने भारुचि के मतों की चर्चा की है। भारुचि एवं मिताक्षरा के मतों में बहुत विभेद पाया जाता है, यथा दाय एवं विभाग की व्याख्या में। भारुचि ने नियोग को माना है, किन्तु मिताक्षरा ने विरोध किया है।

६२. श्रीकर

मिताक्षरा (याज्ञ० पर, २.१३५, २.१६९ आदि), हरिनाथ के स्मृतिसार, जीमूतवाहन के दायभाग एवं व्यवहारमयूख, स्मृतिचन्द्रिका, सरस्वतीविलास आदि ने श्रीकर का उल्लेख किया है। दायभाग ने श्रीकर के मतों का खण्डन किया है। श्रीकर सम्भवतः मिथिला के रहनेवाले थे।

श्रीकर ने किसी स्मृति पर भाष्य लिखा या कोई निबन्ध, यह कहना कठिन है। स्मृतिचन्द्रिका ने कहा है कि श्रीकर ने स्मृतियों के निबन्धों का सम्पादन किया। मिताक्षरा, दायभाग तथा अन्य ग्रन्थों में श्रीकर के याज्ञवल्क्यस्मृति-सम्बन्धी मत उल्लिखित हैं। चण्डेश्वर के राजनीतिरत्नाकर में श्रीकर की राजनीति-विषयक बातें उद्धृत हैं। हेमाद्रि ने भी इनके मतों का उल्लेख किया है। मिताक्षरा ने श्रीकर की चर्चा की है, अतः श्रीकर की तिथि १०५० ई० के पूर्व होनी चाहिए। असहाय एवं विश्वरूप में श्रीकर का नाम नहीं आता। अतः श्रीकर विश्वरूप के समकालीन या कुछ इधर-उधर हो सकते हैं, अर्थात् उनकी तिथि ८०० तथा १०५० ई० के मध्य में कहीं होगी। श्रीनाथ के पिता श्रीकर से ये निबन्धकार श्रीकर भिन्न व्यक्ति हैं।

६३. मेधातिथि

मेधातिथि हैं मनुस्मृति की विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण व्याख्या के यशस्वी लेखक। ये मनुस्मृति के सबसे प्राचीन माने जानेवाले भाष्यकार हैं। मेधातिथि के भाष्य की कई हस्तलिखित प्रतियों में पाये जानेवाले अध्यायों के अन्त में एक श्लोक आता है, जिसका यह अर्थ टपकता है कि सहारण के पुत्र मदन नामक राजा ने किसी देश से मेधातिथि की प्रतियाँ मँगाकर भाष्य का जीर्णोद्धार कराया। बुहलर के कथनानुसार मेधातिथि कश्मीरी या उत्तर भारत के रहनेवाले थे, क्योंकि उनके भाष्य में कश्मीर का बहुत वर्णन है।

मेधातिथि ने निम्नलिखित स्मृतिकारों की किसी-न-किसी बहाने चर्चा की है—गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु, शंख, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, बृहस्पति, कात्यायन आदि। मेधातिथि ने बृहस्पति को वार्ता एवं राजनीति के लेखकों में गिना है। उशना एवं चाणक्य दण्डनीति, राजनीति एवं राजशासन के लेखकों में गिने गये हैं। कौटिल्य के ग्रन्थ से बहुत स्थानों पर उद्धरण लिये गये हैं। 'कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद् देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिः' नामक पाँच मन्त्रांगों के नाम जैसे कौटिल्य में आये हैं वैसे ही मेधातिथि में। मेधातिथि ने असहाय एवं अन्य स्मृतिविवरणकारों के नाम लिये हैं। सांख्यकारिका के एक श्लोक का उद्धरण आया है। मेधातिथि ने पुराणों का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार व्यास ही पुराणों के लेखक हैं और पुराणों में सृष्टि का विवरण पाया जाता है। उन्होंने वाक्यपदीय का एक श्लोक उद्धृत किया है। मेधातिथि ने (मनु पर, २.६) लिखा है कि पांचरात्र, निर्ग्रन्थ (जैन) एवं पाशुपत लोग आर्यों के समाज से बाहर के हैं।

मेधातिथि ने पूर्वमीमांसा का विशेष अध्ययन किया था। उनके भाष्य में 'विधि' एवं 'अर्थवाद' नामक शब्द बहुधा आते गये हैं। जैमिनिसूत्रों का हवाला देकर मेधातिथि ने बहुत स्थानों पर मनु की व्याख्या की है। उन्होंने शाबर-भाष्य से उद्धरण लिये हैं। उनके भाष्य में कुमारिल का नाम और उनकी उपाधि भट्टपाद का उल्लेख हुआ है (मनु पर, २.१८)। मेधातिथि ने कई स्थलों पर शंकराचार्य के शारीरकभाष्य के मत का उद्घाटन किया है। किन्तु उन्होंने शंकर की भाँति मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है, ऐसा नहीं माना है, प्रत्युत उन्होंने ज्ञान एवं कर्म दोनों को आवश्यक समझा है। इसका कारण है मीमांसा का प्रभाव।

मेधातिथि के भाष्य-ग्रन्थ से प्रकट होता है कि आज की ही मनुस्मृति इनके समय में भी थी। इन्होंने चिरन्तन एवं पूर्व मनुस्मृति-भाष्यकारों का उल्लेख किया है। इनके भाष्य में मनोरंजक सूचनाएँ भरी हुई हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० पर, २.१२४) ने असहाय एवं मेधातिथि (मनु० पर, ९.११८) के मतों की चर्चा करते हुए कहा है कि भाइयों में बँटवारे के समय इन लोगों ने अविवाहित बहिन के लिए चौथाई भाग की व्यवस्था की है। मिताक्षरा ने लिखा है कि ब्राह्मणों के अशौच की अवधियों के विषय में धारेश्वर, विश्वरूप एवं मेधातिथि ने ऋष्यश्रृंग के कथन का खण्डन किया है। मेधातिथि के अनुसार, शास्त्र में लिखे गये कर्तव्यों से छुटकारा ले लेने को संन्यास नहीं कहते हैं, प्रत्युत अहंकार छोड़ देने को संन्यास कहते हैं। इनके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय लड़के को भी गोद ले सकता है।

मनुस्मृति की व्याख्या करते हुए स्थान-स्थान पर मेधातिथि ने अपनी कृति स्मृतिविवेक से भी उद्धरण लिये हैं। स्मृतिविवेक में सम्भवतः पद्य ही थे। पराशरमाधवीय ने स्मृतिविवेक से बहुत उद्धरण लिये हैं। लोल्लट ने अपने श्राद्धप्रकरण ग्रन्थ में मेधातिथि की चर्चा की है। तिथिनिर्णय-सर्वसमुच्चय में मेधातिथि के बहुत-से श्लोक उद्धृत हैं। विश्वेश्वर-सरस्वती के यतिधर्मसंग्रह में भी मेधातिथि का उल्लेख हुआ है। इन बातों से स्पष्ट है कि मेधातिथि ने धर्म पर बहुत-सी स्वतन्त्र बातें अपने किसी ग्रन्थ में लिख रखी थीं, जो पर्याप्त प्रामाणिक हो चुकी थीं। हो सकता है, यह पुस्तक कभी प्राप्त हो जाय और हमें विद्वान् भाष्यकार के कुछ अन्य विशिष्ट मत प्राप्त हो सकें।

मेधातिथि ने असहाय एवं कुमारिल के नाम लिये हैं और सम्भवतः शंकर का मत भी उद्धृत किया है, अतः

उनका समय ८२० ई० के बाद ही कहा जा सकता है। मिताक्षरा ने उन्हें प्रामाणिक रूप में ग्रहण किया है, अतः वे १०५० ई० के पूर्व कभी हुए होंगे। मनु के अन्य व्याख्याकार कुल्लूकभट्ट ने मेधातिथि को गोविन्दराज (१०५०-११०० ई०) के बहुत पूर्व माना है।

६४. धारेश्वर भोजदेव

मिताक्षरा (याज्ञ० पर, २.१३५; म० ९.२१७; ३.२४) ने धारेश्वर के मतों की चर्चा की है। इसने लिखा है कि ऋष्यश्रृंग की बहुत-सी बातें धारेश्वर, विश्वरूप एवं मेधातिथि को नहीं मान्य थीं। हारलता ने लिखा है कि जातूकर्ण्य के बहुत-से मत भोजदेव, विश्वरूप, गोविन्दराज एवं कामधेनु ने जान-बूझकर उद्धृत नहीं किये, क्योंकि वे प्रामाणिक नहीं थें।

धारेश्वर धारा के भोजदेव ही हैं, यह कई प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है। दायभाग ने भोजदेव एवं धारेश्वर दोनों नाम लिये हैं। पृथक्-पृथक् रूप से उद्धृत दोनों के उद्धरण एक ही हैं। विवादताण्डव ने, जो कमलाकर की कृति है, भोजदेव का जो मत लिया है, वह मिताक्षरा द्वारा उल्लिखित धारेश्वर के उद्धरण के समान ही है। मिताक्षरा ने धारेश्वर को आचार्य की तथा स्मृतिचन्द्रिका ने सूरि की उपाधि दी है। विद्वानों के आश्रयदाता राजा भोजदेव ने विद्या-ज्ञान-सम्बन्धी बहुत-सी कृतियों की रचना की थी। साहित्य-शास्त्र पर सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश नामक दो ग्रन्थ उन्हीं के हैं। राजमार्तण्ड के प्रारम्भिक श्लोक से पता चलता है कि भोजदेव ने पतंजलि के समान व्याकरण पर एक ग्रन्थ, योगसूत्र पर एक वृत्ति तथा राजमृगांक नामक चिकित्सा-ग्रन्थ लिखे। राजमृगांक नामक एक ज्योतिष-ग्रन्थ भी उन्होंने लिखा। उनका एक ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि भोजदेव (धारेश्वर) ने धर्मशास्त्र-सम्बन्धी एक बृहत् ग्रन्थ लिखा था, जिसकी ओर मिताक्षरा, दायभाग, हारलता तथा अन्य ग्रन्थों ने संकेत किये हैं। जीमूतवाहन ने अपने कालविवेक में ग्रहणों के समय भोजन करने के विषय में भोजदेव के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। किसी-किसी ग्रन्थ में किसी भूपालपद्धति के बहुत उद्धरण आते हैं। सम्भव है यह भूपाल (राजा) धारेश्वर भोजदेव ही हैं। भोजदेव का एक ग्रन्थ है भुजबलनिबन्ध, जो १८ अध्यायों में है। यह ग्रन्थ ज्योतिष एवं धर्मशास्त्र-सम्बन्धी बातों से सम्बन्धित है, यथा स्त्रीजातक, कर्णादिवेध, व्रत, विवाहमेलक-दशक, गृहकर्मप्रवेश, संक्रातिस्नान, द्वादशमासकृत्य ।

भोजप्रबन्ध से पता चलता है कि राजा भोज ने ५५ वर्ष तक राज्य किया। भोज के चाचा मुञ्ज ९९४-९९७ ई० में तैलप द्वारा मारे गये और मुञ्ज के उपरान्त सिन्धुराज गद्दी पर बैठा। भोजदेव के उत्तराधिकारी जयसिंह के अभिलेख की तिथि है १०५५-५६ ई०। अतः भोजदेव १०००-१०५५ ई० के मध्य में कभी हुए होंगे।

६५. देवस्वामी

स्मृतिचन्द्रिका का कहना है कि देवस्वामी ने श्रीकर एवं शम्भु की भाँति स्मृतियों पर एक निबन्ध (स्मृति-समुच्चय) लिखा है। दिवाकर के पुत्र एवं नैध्रुव गोत्र में उत्पन्न नारायण ने अपने आश्वलायनगृह्यसूत्र वाले भाष्य में यह लिखा है कि उन्हें देवस्वामी के भाष्य से बड़ी सहायता मिली है। इसी प्रकार नरसिंह के पुत्र गार्ग्य नारायण ने अपने आश्वलायनश्रौतसूत्र के भाष्य में देवस्वामी के भाष्य का सहारा लिया है। लगता है, देवस्वामी ने आश्वलायन के श्रौत एवं गृह्य सूत्रों के भाष्य के अतिरिक्त एक निबन्ध भी लिखा था जो प्रामाणिक माना जाता था। इनके निबन्ध में आचार, व्यवहार, अशौच आदि से सम्बन्धित चर्चाएँ हुई हैं, जैसा कि

अन्य लेखकों के उद्धरणों से पता चलता है। चतुर्विंशतिमत की टीका में भट्टोजिदीक्षित ने अशौच एवं श्राद्ध पर देवस्वामी को उद्धृत किया है। हेमाद्रि एवं माधव ने भी देवस्वामी का उल्लेख किया है। व्यवहार एवं अशौच पर स्मृतिचन्द्रिका ने कई बार इस निबन्धकार् के मत दिये हैं। नन्द पण्डित की वजयन्ती में भी देवस्वामी के उद्धरण आये हैं।

प्रपञ्चहृदय में ऐसा आया है कि किसी देवस्वामी ने बौधायन एवं उपवर्ष के भाष्यों को बहुत बड़ा समझकर पूर्वमीमांसा के बारह अध्यायों पर एवं संकर्षकाण्ड के चार अध्यायों पर संक्षिप्त टीकाएँ कीं। क्या ये देवस्वामी एवं धर्मशास्त्र के देवस्वामी एक ही हैं। इसका उत्तर सरल नहीं है।

स्मृतिचन्द्रिका की चर्चा से यह स्पष्ट है कि देवस्वामी ११५० ई० के बाद के नहीं हो सकते। गार्ग्य नारायण की तिथि लगभग ११०० ई० के है। अतः सम्भवतः देवस्वामी १०००-१०५० के बीच में कभी हुए।

६६. जितेन्द्रिय

जितेन्द्रिय उन लेखकों में हैं जो एक ही बार अति प्रसिद्ध होकर सदा के लिए विलुप्त हो जाते हैं। जीमूतवाहन के ग्रन्थों से पता चलता है कि जितेंन्द्रिय ने धर्मशास्त्र-सम्बन्धी एक महाग्रन्थ लिखा था। जीमूतवाहन ने अपने कालविवेक में मासों, तिथियों आदि तथा उनमें होनेवाले धार्मिक कृत्यों के विषय में जितेन्द्रिय को भली भाँति उद्धृत किया है। ऐसा आया है कि जितेन्द्रिय ने मत्स्यपुराण से लेकर १५ मुहूर्तों की गणना की है। जीमूतवाहन के दायभाग में भी जितेन्द्रिय के मतों का प्रकाशन है। जीमूतवाहन ने अपने 'व्यवहारमातृका' नामक ग्रन्थ में जितेन्द्रिय का हवाला दिया है। स्पष्ट है कि जितेन्द्रिय ने व्यवहार-विधि पर भी प्रकाश डाला है। रघुनन्दन ने अपने दायतत्त्व में इनकी चर्चा की है। जितेन्द्रिय, लगता है, बंगाली थे और उनका काल १०००-१०५० ई० के आसपास माना जाना चाहिए।

६७. बालक

जितेन्द्रिय के समान बालक भी हमारे सामने केवल नाम के रूप में ही आते हैं। इनके विषय में भी जीमूतवाहन ने बहुत चर्चा की है। दाय के विषय में बालक के ग्रन्थ में पर्याप्त चर्चा हुई थी, जैसा कि जीमूतवाहन के उद्धरणों एवं आलोचनाओं से पता चलता है। भवदेव के प्रायश्चित्त-निरूपण में बालोक नामक लेखक का नाम आया है। हो सकता है कि यह नाम बंगाली लिपिक के उच्चारण की गड़बड़ी से आ गया है। अन्य ग्रन्थों में भी बालक का नाम आता है, यथा रघुनन्दन के व्यवहारतत्त्व, शूलपाणि के दुर्गोत्सवविवेक में। इससे स्पष्ट है कि बालक एक पूर्वी बंगाली थे, जिन्होंने व्यवहार एवं प्रायश्चित्त पर चर्चाएँ की हैं और प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं,। उनका काल ११०० ई० के लगभग माना जा सकता है।

६८. बालरूप

पुत्रहीन व्यक्ति के उत्तराधिकार के प्रश्न पर हरिनाथ के स्मृतिसार में बालरूप के मतों का उल्लेख हुआ है। मिसरू मिश्र के विवादचन्द्र, वाचस्पति के विवादचिन्तामणि में बालरूप के मत उद्धृत किये गये हैं। पुत्रहीन व्यक्ति की सम्पत्ति पर उसकी अविवाहित पुत्री का उसकी विवाहित पुत्री के पहले अधिकार होता है, ऐसा बालरूप ने कहा है। यह बात उन्होंने पराशर की सम्मति पर ही आधारित रखी है। बालरूप के अनुसार आत्मबन्धु, पितृबन्धु एवं मातृबन्धु क्रम से उत्तराधिकार पाते हैं। आदित्यभट्ट ने अपने कालादर्श में बालरूप को प्रमाण माना है। स्पष्ट है, बालरूप ने व्यवहार एवं काल दोनों पर ग्रन्थ लिखे।

हरिनाथ एवं विवादचन्द्र में चर्चा होने के कारण बालरूप १२५० ई० के पूर्व ही हुए होंगे। यहाँ एक प्रमुख प्रश्न उठ सकता है; क्या बालक एवं बालरूप एक ही हैं? सम्भवतः दोनों एक ही हैं। मिथिला के लेखकों ने, यथा मिसरू मिश्र, वाचस्पति एवं हरिनाथ ने बालरूप का ही वर्णन किया है, बालक का नहीं। बालक का नाम केवल बंगाली लेखकों के ग्रन्थों में ही आता है। एक स्थान पर जीमूतवाहन ने बालक के बालरूपत्व की खिल्ली उड़ायी है। इससे यह समझा जा सकता है कि दोनों एक ही हैं। बालक या बालरूप का समय ११०० ई० के लगभग माना जा सकता है।

६९. योग्लोक

जितेन्द्रिय एवं बालक की भाँति योग्लोक का नाम भी केवल जीमूतवाहन एवं रघुनन्दन की कृतियों में ही पाया जाता है। जीमूतवाहन के कालविवेक में काल के विषय में चर्चा करनेवाले लेखकों में योग्लोक का नाम अन्त में ही लिया गया है। जीमूतवाहन ने अपनी व्यवहारमातृका में योग्लोक को नव-तार्किकम्मन्य अर्थात् एक नये तार्किक के रूप में माना है और उनकी खिल्ली उड़ायी है। जीमूतवाहन के कालविवेक एवं व्यवहार-मातृका में योग्लोक के मतों का सर्वत्र खण्डन हुआ है। जीमूतवाहन ने उन्हें बृहद्-योग्लोक एवं स्वल्प-योग्लोक नामक दो ग्रन्थों का रचयिता माना है। योग्लोक ने श्रीकर के मतों को माना है, अतः उनका काल श्रीकर के बाद ही आयेगा। रघुनन्दन के व्यवहारतत्त्व में ऐसा आया है कि योग्लोक ने श्रीकर एवं बालक की भाँति २० वर्ष तक के स्थावर सम्पत्ति के अधिकार को वास्तविक अधिकार मान लिया है। रघुनन्दन ने लिखा है कि योग्लोक को मैथिल लोग प्रमाण मानते थे। योग्लोक ने काल एवं व्यवहार पर ग्रन्थ लिखे और सम्भवतः काल पर उनके दो निबन्ध थे। योग्लोक का काल ९५०-१०५० ई० के बीच में माना जा सकता है, क्योंकि वे जीमूतवाहन से कम-से-कम एक सौ वर्ष पहले हुए होंगे।

७०. विज्ञानेश्वर

धर्मशास्त्र-साहित्य में विज्ञानेश्वर का मिताक्षरा नामक ग्रन्थ एक अपूर्व स्थान रखता है। यह ग्रन्थ उतना ही प्रभावशाली माना जाता रहा है जितना व्याकरण में पतञ्जलि का महाभाष्य एवं साहित्यशास्त्र में मम्मट का काव्यप्रकाश। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में अपने पूर्व के लगभग दो सहस्र वर्षों से चले आये हुए मतों के सारतत्त्व को ग्रहण किया और ऐसा रूप खड़ा किया जिसके प्रकाश में अन्य मतों एवं सिद्धान्तों का विकास हुआ। आज के भारतीय व्यवहार (कानून) में मिताक्षरा का अत्यधिक हाथ रहा है। केवल बंगाल में दाय-भाग की प्रबलता रही।

मिताक्षरा याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक भाष्य है। बहुत-सी प्रतियों के अध्यायों के अन्त में ऋजु मिताक्षरा, प्रमिताक्षरा या केवल मिताक्षरा नाम आया है। मिताक्षरा केवल याज्ञवल्क्यस्मृति का एक भाष्य मात्र ही नहीं है, प्रत्युत यह स्मृति-सम्बन्धी एक निबन्ध है। इसमें बहुत-सी स्मृतियों के उद्धरण हैं, यह निबन्ध स्मृतियों के अन्त-र्विरोधों को पूर्वमीमांसा की पद्धति से व्याख्या द्वारा दूर करता है, और भाँति-भाँति के विषयों को उनके स्थानों पर रखकर एक संश्लिष्ट व्यवस्था उत्पन्न करता है। इसमें पहले के छः स्मृतिकारों के, जिन्होंने निबन्ध या भाष्य लिखे हैं, नाम आते हैं, यथा—असहाय, विश्वरूप, मेधातिथि, श्रीकर, भारुचि तथा भोजदेव। स्मृतियों एवं स्मृतिकारों के निम्न नाम अवलोकनीय हैं—अंगिरा, बृहदंगिरा, मध्यमांगिरा, अत्रि, आपस्तम्ब, आश्वलायन, उपमन्यु, उशना, ऋष्यशृङ्ग, कश्यप, काण्व, कात्यायन, कार्ष्णाजिनि, कुमार, कृष्णद्वैपायन, क्रतु, गार्ग्य, गृह्यपरिशिष्ट, गोभिल,

गोतम, चतुर्विंशतिमत, च्यवन, छागल (छागलेय), जमदग्नि, जातूकर्ण्य, जाबाल (जाबालि), जैमिनि, दक्ष, दीर्घतमा, देवल, धौम्य, नारद, पराशर, पारस्कर, पितामह, पुलस्त्य, पैंग्य, पैठीनसि, प्रचेता, बृहत्प्रचेता, वृद्धप्रचेता, प्रजापति, बाष्कल, बृहस्पति, वृद्धबृहस्पति, बौधायन, ब्रह्मगर्भ, ब्राह्मवध, भारद्वाज, भृगु, मनु, बृहन्मनु, वृद्धमनु, मरीचि, मार्कण्डेये, यम, बृहद्यम, याज्ञवल्क्य, बृहद्याज्ञवल्क्य, वृद्धयाज्ञवल्क्य, लिखित, लौगाक्षि, वसिष्ठ, बृहद्वसिष्ठ, वृद्धवसिष्ठ, विष्णु, बृहद्विष्णु, वृद्धविष्णु, वैयाघ्रपद, वैशम्पायन, व्याघ्र (व्याघ्रपाद), व्यास, बृहद्-व्यास, शंख, शंखलिखित, शाण्डिल्य, शातातप, बृहच्छातातप, वृद्धशातातप, शुनःपुच्छ, शौनक, षट्त्रिंशन्मत, संवर्त, बृहत्संवर्त, सुमन्तु, हारीत, बृहद्धारीत, वृद्धहारीत। मिताक्षरा में निम्न ग्रन्थों की चर्चा हुई है---काठक, बृहदारण्यकोपनिषद्, गर्भोपनिषद्, जाबालोपनिषद्, निरुक्त, नाट्यशास्त्र के लेखक भरत, योगसूत्र, पाणिनि, सुश्रुत, स्कन्दपुराण, विष्णुपुराण, अमर, गुरु (प्रभाकर)। विज्ञानेश्वर ने अपने भाष्य के अन्त में अपने को विज्ञान-योगी कहा है और कालान्तर के लेखकों ने भी उन्हें वैसा ही कहा है। वे भारद्वाज गोत्र के पद्मनाभ भट्ट के सुपुत्र थे। वे स्वयं परमहंस उत्तम के शिष्य थे। जब उन्होंने मिताक्षरा का प्रणयन किया तब कल्याण-नगरी में विक्रमार्क या विक्रमादित्यदेव शासन कर रहे थे।

मिताक्षरा के प्रणेता पूर्वमीमांसा-पद्धति के गूढ़ ज्ञाता थे, क्योंकि सम्पूर्ण पुस्तक में कहीं-न-कहीं पूर्व-मीमांसा-न्याय का प्रयोग देखा जाता है। मिताक्षरा, जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है, एक संक्षिप्त विव-रण वाली रचना है। मिताक्षरा में विश्वरूप, मेधातिथि एवं धारेश्वर के नाम आते हैं, अतः वह १०५० के बाद की रचना है। देवण्णभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका का प्रणयन १२०० ई० के लगभग हुआ था। इसने मिताक्षरा-सिद्धान्तों की आलोचना की है। लक्ष्मीधर के कल्पतरु में विज्ञानेश्वर का नाम आया है। लक्ष्मीधर १२वीं शताब्दी के दूसरे चरण में हुए थे। अतः मिताक्षरा का प्रणयन ११२० ई० के पूर्व हुआ था। अन्य सूत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मिताक्षरा का रचनाकाल १०७०-११०० ई० के बीच में कहीं है।

मिताक्षरा के भी भाष्य हुए हैं, जिनमें विश्वेश्वर, नन्द पण्डित एवं बालम्भट्ट के नाम अति प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर स्थान-संकोच से विज्ञानेश्वर के सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं की जा सकती। उन्होंने दाय को अप्रति-बन्ध एवं सप्रतिबन्ध नामक दो भागों में बाँटा है और बलपूर्वक कहा है कि पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र वसीयत पर जन्म से ही अधिकार पाते हैं। इस विषय में वे जीमूतवाहन के मतों के सर्वथा विरोध में हैं।

आफ्रेख्त ने अपनी सूची में अशौचदशक नामक ग्रन्थ के विषय में परस्पर-विरोधी बातें कही हैं। अशौच-दशक के लेखक हैं हरिहर और इस पर विज्ञानेश्वर की एक टीका है। डेकन कालेज के संग्रह मे अशौचदशक नामक एक हस्तलिखित प्रति है, जिसमें यह लिखा है कि विज्ञानेश्वर योगी ने शार्दूलविक्रीडित छन्द में अशौच पर एक रचना की, जिस पर हरिहर ने एक टीका लिखी। अब यह सिद्ध हो चुका है कि हरिहर या तो विज्ञानेश्वर के शिष्य थे या उनके समकालीन थे। उनके किसी ग्रन्थ पर विज्ञानेश्वर ने नहीं, प्रत्युत उन्होंने स्वयं विज्ञानेश्वर के अशौचदशक या दशश्लोकी नामक ग्रन्थ पर टीका लिखी। त्रिंशत्-श्लोकी नामक ग्रन्थ के भाष्यकार विज्ञानेश्वर ही हैं, ऐसा कुछ लोग समझा करते थे, किन्तु ऐसी बात नहीं मानी जाती।

नारायणलिखित व्यवहारशिरोमणि नामक ग्रन्थ की एक हस्तलिपि मद्रास राजकीय पुस्तकालय में है। नारायण ने इसमें अपने को विज्ञानेश्वर का शिष्य घोषित किया है। यह ग्रन्थ 'बालबोधार्थम्' लिखा गया है। इसमें जनता के झगड़ों के निपटारे के विषय में राजा के कर्तव्यों, समय, सभा, प्राड्विवाक (न्यायाधीश), अभियोग और उसके दोष, आसेध (प्रतिवादी के ऊपर नियन्त्रण), व्यवहार-सम्बन्धी १८ पदों की सिद्धि के लिए उपाय, ऋणदान, निक्षेप, संभूय-समुत्थान, दत्ताप्रदानिक, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, वेतनस्यानपाकर्म, अस्वामिविक्रय,

विक्रीयासम्प्रदान, क्रीत्वानुशय, समयस्यानपाकर्म, सीमा-विवाद, स्त्रीपुंसयोग, दायविभाग आदि का वर्णन है। इस ग्रन्थ में मिताक्षरा की बातें पायी जाती हैं, किन्तु नारायण ने अपने गुरु से एक बात में विरोध प्रकट किया है। मिताक्षरा में विभाजन के चार अवसर बताये गये हैं, किन्तु नारायण ने केवल दो अवसरों की चर्चा की है, यथा (१) पिता की इच्छा तथा (२) पुत्र या पुत्रों की इच्छा। सम्भूयसमुत्थान में उन्होंने कौटिल्य के अर्थशास्त्र से एक उद्धरण लिया है, जो आज के प्रकाशित कौटिलीय में पाया जाता है।

७१. कामधेनु

धर्मशास्त्र की विविध शाखाओं पर कामधेनु नामक एक प्राचीन निबन्ध था, किन्तु अभाग्यवश आज तक इसकी कोई प्रति नहीं मिल सकी है। लक्ष्मीधर के कल्पतरु में कामधेनु के मत की चर्चा है। हारलता में भी, जो १२वीं शताब्दी के तृतीय चरण में प्रणीत हुई थी, कामधेनु की कई बार चर्चा हुई है। श्रीधराचार्य ने अपने स्मृत्यर्थसार में, चण्डेश्वर ने अपने विवादरत्नाकर में, श्राद्धक्रियाकौमुदी में, शूलपाणि ने अपने श्राद्धविवेक में, श्रीदत्त ने अपने समयप्रदीप में कामधेनु के मतों का उल्लेख किया है। अब प्रश्न यह है कि कामधेनु का लेखक कौन है। चण्डेश्वर के व्यवहाररत्नाकर में कामधेनु के लेखक गोपाल नामक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। यह बात ठीक जँचती है। आफ्रेख्त ने शम्भु नामक व्यक्ति को तथा डा० जायसवाल ने भोज को कामधेनु का लेखक माना है, किन्तु इस मान्यता के लिए कोई पुष्ट आधार नहीं है। मिताक्षरा एवं मेधातिथि ने इसकी चर्चा नहीं की है, अतः इसकी तिथि १०००-११०० ई० के मध्य में कभी होगी।

७२. हलायुध

लक्ष्मीधर के कल्पतरु में व्यवहार-कोविद हलायुध का कई बार उल्लेख हुआ है। चण्डेश्वर के विवाद-रत्नाकर एवं हरिनाथ के स्मृतिसार में हलायुध के निबन्ध के मतों की चर्चा हुई है। स्मृतिसार ने हलायुध के मतानुसार कहा है कि यदि अपुत्र पति की मृत्यु पर पत्नी नियोग से पुत्र उत्पन्न करने पर सन्नद्ध न हो तो उसे उत्तराधिकार से वञ्चित कर देना चाहिए। यही धारेश्वर का भी मत था। विवादचिन्तामणि में भी हलायुध की चर्चा हुई है। रघुनन्दन ने अपने दायतत्त्व, व्यवहारतत्त्व एवं दिव्यतत्त्व में तथा वीरमित्रोदय ने भी हलायुध के मतों का उल्लेख किया है। इन चर्चाओं से स्पष्ट है कि हलायुध की कृति बड़ी मूल्यवान् थी। कल्पतरु ने हलायुध को प्रमाण माना है, अतः वे ११०० ई० के पूर्व ही हुए होंगे। मेधातिथि, मिताक्षरा आदि ने हलायुध की चर्चा नहीं की है, क्योंकि उन्होंने धारेश्वर, जितेन्द्रिय तथा अन्य विरोधी मतों के समान ही अपने मत रखे हैं। अतः वे १००० ई० के पहले नहीं जा सकते। हलायुध १०००-११०० के मध्य में कभी हुए होंगे।

कई एक हलायुधों की कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं। यथा—अभिधानरत्नमाला, कविरहस्य, मृतसंजीवनी, ब्राह्मणसर्वस्व तथा कात्यायन के श्राद्धकल्पसूत्र का प्रकाश नामक भाष्य। इनमें प्रथम तीन के कर्ता हलायुध साहित्य-शास्त्री हैं जो धर्मशास्त्रप्रेमी हलायुध से बहुत पहले ९९४-९९७ ई० के लगभग हुए थे। चौथे ग्रन्थ के लेखक हलायुध धर्मशास्त्रकार हलायुध नहीं हैं। इसी प्रकार प्रकाश के लेखक भी तिथि के प्रश्न पर धर्म-शास्त्रकार हलायुध नहीं हो सकते।

७३. भवदेव भट्ट

रघुनन्दन के व्यवहारतत्त्व एवं वीरमित्रोदय से पता चलता है कि भवदेव भट्ट ने व्यवहार-विधि पर

व्यवहारतिलक नामक ग्रन्थ लिखा था। व्यवहारतत्त्व ने भवदेव भट्ट के दुर्बल कारण वाले एक उत्तर का उदाहरण देकर उसका विवेचन उपस्थित किया है। उसी ग्रन्थ में यह भी आया है कि श्रीकर, बालक तथा अन्य लेखकों के समान भवदेव भट्ट ने भी विपरीत अधिकार के विषय में मत प्रकाशित किया है। मिसरू मिश्र के विवादचन्द्र ने भी भवदेव के विचारों की चर्चा की है। आततायी के मारने के बारे में सुमन्तु के कथनों पर भवदेव के मत की चर्चा वीरमित्रोदय ने की है। सरस्वतीविलास एवं नन्द पण्डित के 'वैजयन्ती' नामक ग्रन्थों ने भी भवदेव के मतों की चर्चा की है। इन सब चर्चाओं से प्रकट होता है कि भवदेव भट्ट का व्यवहारतिलक न्याय-विधि पर एक मूल्यवान् ग्रन्थ अवश्य समझा जाता रहा। अभाग्यवश अभी ग्रन्थ की प्रति नहीं मिल सकी है। भवदेव भट्ट ने अन्य ग्रन्थ भी लिखे हैं।

डेकन कालेज के संग्रह में भवदेव की कई नामों वाली, यथा कर्मानुष्ठानपद्धति या दशकर्मपद्धति या दशकर्मदीपक कृति की दो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं। एम० एम० चक्रवर्ती के कथन से पता चलता है कि यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ में सामवेद पढ़नेवाले ब्राह्मण के दस प्रमुख क्रिया संस्कारों का वर्णन है। प्रमुख विषय ये हैं—नवग्रह-होम, मातृपूजा, पाणिग्रहण तथा अन्य वैवाहिक कार्य; विवाहोपरान्त चौथे दिन पर होम, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, सोष्यन्तीहोम (बच्चे के जन्म पर होम), जातकर्म, निष्क्रमण, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, समावर्तन, शालाकर्म (नव गृह में प्रथम प्रवेश)।

भवदेव की दूसरी कृति है प्रायश्चित्तनिरूपण जिसमें लेखक की उपाधि है बालवलभी-भुजंग। इसमें २५ स्मृतिकारों, मत्स्य एवं भविष्य पुराणों, विश्वरूप, श्रीकर एवं बालोक (बालक?) की चर्चा हुई है। वेदाचार्य के स्मृतिरत्नाकर में इस ग्रन्थ को प्रायश्चित्त के विषय में मनु के बाद सबसे अधिक मान दिया गया है। भवदेव भट्ट की तीसरी कृति है तौतातितमततिलक, जिसमें कुमारिल भट्ट के अनुसार पूर्वमीमांसा के सिद्धान्तों का वर्णन है। उड़ीसा के पुरी जिले के भुवनेश्वर के अनन्तवासुदेव के मन्दिर के एक अभिलेख में भवदेव के बारे में भरपूर चर्चा है। कीलहॉर्न के कथनानुसार अभिलेख १२वीं शताब्दी का है।

हेमाद्रि, मिसरू मिश्र एवं हरिनाथ ने भवदेव भट्ट से उद्धरण लिया है, अतः भवदेव भट्ट की तिथि लगभग ११०० ई० है। कुछ अन्य धर्मशास्त्र-लेखकों का नाम भवदेव है। दानधर्मप्रक्रिया (१७वीं शताब्दी) के लेखक एवं स्मृतिचन्द्रिका (१८वीं शताब्दी) के लेखक का नाम भवदेव ही है। भवदेव भट्ट की कृति कर्मानुष्ठान-पद्धति पर संसारपद्धतिरहस्य नामक एक भाष्य भी है।

७४. प्रकाश

आरम्भिक निबन्धकारों ने प्रकाश नामक एक ग्रन्थ की चर्चा की है। कात्यायन के एक श्लोक पर कल्पतरु ने प्रकाश, हलायुध एवं कामधेनु की व्याख्या का उल्लेख किया है। कम-से-कम बीस बार चण्डेश्वर ने अपने विवादरत्नाकर में प्रकाश के मतों की चर्चा की होगी। कभी-कभी प्रकाश पारिजात के साथ ही उल्लिखित होता है। इसी प्रकार कई एक ग्रन्थों में प्रकाश के मतों का हवाला दिया गया है। इस पुस्तक में व्यवहार, दान, श्राद्ध आदि पर प्रकरण थे, यह बात उद्धरणों से सिद्ध हो जाती है।

हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि प्रकाश एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था या एक भाष्य मात्र। कभी-कभी ऐसा झलकता है कि यह याज्ञवल्क्यस्मृति का मानो भाष्य है। विवादचिन्तामणि में प्रकाश की व्याख्याओं की ओर संकेत हुआ है। वीरमित्रोदय में प्रकाश की मनु-सम्बन्धी व्याख्याओं का खण्डन पाया जाता है। कल्पतरु में उल्लिखित होने के कारण प्रकाश की तिथि ११२५ ई० के पूर्व ही मानी जायगी। प्रकाश में मेधातिथि का

उल्लेख है। प्रकाश का प्रणयन-काल १००० एवं ११०० ई० के मध्य में कहीं रखा जा सकता है। हेमाद्रि ने महार्णव-प्रकाश नामक एक ग्रन्थ से उद्धरण लिया है। सम्भवतः यह ग्रन्थ प्रकाश ही है।

७५. पारिजात

बहुत-से ग्रन्थों का 'पारिजात' उपनाम मिलता है, यथा—विधानपारिजात (१६२५ ई०), मदनपारिजात (१३७५ ई०) एवं प्रयोगपारिजात (१४००-१५०० ई०)। किन्तु प्राचीन निबन्धकारों ने पारिजात नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की चर्चा की है। कल्पतरु ने बहुत बार पारिजात के मतों का उल्लेख किया है। कल्पतरु तथा विवादरत्नाकर ने पारिजात एवं प्रकाश को अधिकतर उद्धृत किया है। विवादरत्नाकर ने तो कल्पतरु, पारिजात, हलायुध एवं प्रकाश को महत्त्वपूर्ण पूर्वगामी कृतियाँ माना है। हरिनाथ के स्मृतिसार में भी पारिजात के उद्धरण आये हैं। पारिजात ने नियोग का समर्थन किया है। पारिजात व्यवहार, दान आदि विषयों पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था, इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है। यह ११२५ ई० के पूर्व लिखा गया होगा, क्योंकि कल्पतरु ने इसका हवाला दिया ही है। यह मिताक्षरा द्वारा उद्धृत नहीं है, किन्तु हलायुध, भोजदेव आदि के समान विधवा के अधिकार को माननेवाला है, अतः इसकी तिथि १०००-११२५ के बीच में होनी चाहिए।

७६. गोविन्दराज

गोविन्दराज ने मनु-टीका नामक अपने मनुस्मृति-भाष्य (मनु० ३.२४७-२४८) में लिखा है कि उन्होंने स्मृतिमञ्जरी नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक के कुछ अंश आज उपलब्ध होते हैं। गोविन्दराज की जीवनी के विषय में भी उनकी कृतियों से प्रकाश मिलता है। मनुटीका एवं स्मृतिमञ्जरी में उन्हें गंगा के किनारे रहनेवाले नारायण के पुत्र माधव का पुत्र कहा गया है। कुछ लोगों ने इसी से बनारस के राजा गोविन्दचन्द्र से उनकी तुलना की है, किन्तु यह बात गलत है, क्योंकि राजा क्षत्रिय थे और गोविन्दराज थे ब्राह्मण। गोविन्दराज ने पुराणों, गृह्यसूत्रों, योगसूत्र आदि की चर्चा की है। उन्होंने आन्ध्र जैसे म्लेच्छ देशों में यज्ञों की मनाही की है। उन्होंने मेधातिथि की भाँति मोक्ष के लिए ज्ञान एवं कर्म का सामञ्जस्य चाहा है। कुल्लूक ने मेधातिथि एवं गोविन्दराज के भाष्यों से बहुत उद्धरण लिये हैं। दायभाग में गोविन्दराज की चर्चा है। गोविन्दराज की स्मृतिचन्द्रिका में धर्मशास्त्र-सम्बन्धी सारी बातें आ गयी हैं। कुल्लूक ने मेधातिथि को गोविन्दराज से बहुत प्राचीन कहा है। मिताक्षरा ने मेधातिथि एवं भोजदेव का उल्लेख तो किया है, किन्तु गोविन्दराज का नहीं। इससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि गोविन्दराज १०५० ई० के उपरान्त ही उत्पन्न हुए होंगे। अनिरुद्ध की हारलता (११६० ई०) में गोविन्दराज की चर्चा हुई है और वे विश्वरूप, भोजदेव एवं कामधेनु की भाँति प्रामाणिक ठहराये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि गोविन्दराज ११२५ ई० के बाद नहीं हो सकते। दायभाग ने गोविन्दराज के मत का खण्डन किया है। जीमूतवाहन ने भोजराज एवं विश्वरूप के साथ गोविन्दराज का भी हवाला दिया है। हेमाद्रि ने भी गोविन्दराज के मत का उद्घाटन किया है। अतः उपर्युक्त धर्मशास्त्र-कोविदों के कालों को देखते हुए कहा जा सकता है कि गोविन्दराज १०५०-१०८० ई० के मध्य में कहीं हुए होंगे। किन्तु यह बात जीमूतवाहन की १०९०-११४० वाली तिथि पर ही आधारित है और अभी तक जीमूतवाहन की तिथि के विषय में कोई निश्चितता नहीं स्थापित हो सकी है।

७७. लक्ष्मीधर का कल्पतरु

कल्पतरु ने मिथिला, बंगाल एवं सामान्यतः सम्पूर्ण उत्तर भारत को प्रभावित कर रखा था। यह एक बृहद् ग्रन्थ था, किन्तु अभाग्यवश अभी इसकी सम्पूर्ण प्रति नहीं मिल सकी है। यह ग्रन्थ कई काण्डों में विभाजित था। सम्पूर्ण ग्रन्थ को कृत्यकल्पतरु या केवल कल्पतरु या कल्पद्रुम या कल्पवृक्ष कहा जाता है। इस ग्रन्थ में धर्मशास्त्र-सम्बन्धी सारी बातों पर प्रकाश डाला गया है, ऐसा लगता है। लक्ष्मीधर राजा गोविन्दचन्द्र के सान्धिविग्रहिक मन्त्री थे। उनकी कूटनीतिक चालों से ही गोविन्दचन्द्र ने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, ऐसा कल्पतरु में आया है। यद्यपि कल्पतरु मिताक्षरा से बहुत बड़ा है, किन्तु विद्वत्ता, सम्पादन एवं व्याख्या में उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। इसमें आचार-सम्बन्धी बातों के अतिरिक्त व्यवहार-विषयक कई काण्ड थे। राजधर्म पर भी लक्ष्मीधर ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।

कल्पतरु में विशेषतः स्मृतिकारों, महाकाव्यों एवं पुराणों के ही उद्धरण आये हैं। व्यवहार काण्ड में मेधातिथि, शंखलिखित के भाष्य, प्रकाश, विज्ञानेश्वर, हलायुध एवं कामधेनु नामक निबन्धों के उद्धरण भी हैं।

लक्ष्मीधर की तिथि सरलता से सिद्ध की जा सकती है। उन्होंने विज्ञानेश्वर को उद्धृत किया है, अतः वे ११०० के बाद ही आ सकते हैं। अनिरुद्ध की कर्मोपदेशिनी (११६० ई० में लिखित) में कल्पतरु के उद्धरण आये हैं, अतः वे ११००-११५० के बीच ही में कभी हुए होंगे। लक्ष्मीधर गहड़वार या राठौर राजा गोविन्दचन्द्र के मन्त्री थे, इस रूप में वे १२वीं शताब्दी के ही ठहरते हैं।

कालान्तर में कल्पतरु की बड़ी प्रसिद्धि हुई। बंगाल के सभी प्रसिद्ध लेखकों, यथा अनिरुद्ध, बल्लालसेन, शूलपाणि, रघुनन्दन ने कल्पतरु की चर्चाएँ की हैं और इसके लेखक लक्ष्मीधर को आदर की दृष्टि से देखा है। मिथिला में वे बंगाल से कहीं अधिक प्रसिद्ध थे। चण्डेश्वर ने अपने विवादरत्नाकर में कल्पतरु के शब्दों एवं भावनाओं को सैकड़ों बार उद्धृत किया है। हरिनाथ ने अपने स्मृतिसार में और श्रीदत्त ने अपने आचारादर्श में कल्पतरु को बहुत बार उद्धृत किया है। दक्षिण एवं पश्चिम भारत में भी लक्ष्मीधर का प्रभूत प्रभाव था। हेमाद्रि एवं सरस्वतीविलास ने आदर के साथ कल्पतरु का उल्लेख किया है, यहाँ तक कि लक्ष्मीधर को उन्होंने भगवान् की उपाधि दे डाली है। जब अन्य संक्षिप्त निबन्धों का प्रणयन हो गया तभी कल्पतरु अन्धकार में छिप गया, तथापि दत्तकमीमांसा, वीरमित्रोदय तथा टोडरानन्द ने कल्पतरु की चर्चा की है।

७८. जीमूतवाहन

जीमूतवाहन, शूलपाणि एवं रघुनन्दन बंगाल के धर्मशास्त्रकारों के त्रिदेव हैं। जीमूतवाहन सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके तीन ज्ञात ग्रन्थ प्रकाशित हैं, यथा—कालविवेक, व्यवहारमातृका एवं दायभाग। ये तीनों ग्रन्थ धर्मरत्न नाम वाले एक बृहद् ग्रन्थ के तीन अंग मात्र हैं।

कालविवेक में ऋतुओं, मासों, धार्मिक क्रिया-संस्कारों के कालों, मलमासों (अधिक मासों), सौर एवं चान्द्र मासों में होनेवाले उत्सवों, वेदाध्ययन के उत्सर्जन एवं उपाकर्म, अगस्त्योदय, विष्णु के सोनेवाले चार मासों, कोजागर, दुर्गोत्सव, ग्रहण आदि पर्वों एवं उत्सवों के कालों का विशद वर्णन है। जीमूतवाहन के कालविवेक में पूर्वमीमांसा के प्रभूत उल्लेख हुए हैं। इस ग्रन्थ को वाचस्पति की श्राद्धचिन्तामणि, गोविन्दचन्द्र की श्राद्धकौमुदी एवं वर्षक्रियाकौमुदी ने तथा रघुनन्दन के तत्त्वों ने स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है।

व्यवहारमातृका में व्यवहार-विधियों का वर्णन है। इसमें १८ व्यवहारपदों, प्राड्विवाक (न्यायाधीश) शब्द के उद्गम, प्राड्विवाक योग्य व्यक्तियों, विविध प्रकार के न्यायालयों, सभ्यों के कर्तव्य, व्यवहार के चार

स्तरों, पूर्वपक्ष, प्रतिभू, पूर्वपक्ष-दोष, उत्तर (प्रतिवादी का उत्तर), चार प्रकार के उत्तर, उत्तर-दोष, क्रिया (सिद्ध करने का प्रमाण), दैवी एवं मानवी (मानुषी) प्रमाण (यथा–दिव्य, अनुमान, साक्षियाँ, लेखप्रमाण, स्वत्व) एवं साक्षियों के योग्य व्यक्तियों की चर्चा है। व्यवहारमातृका (न्यायमातृका या न्यायरत्नमालिका) में लगभग २० स्मृतिकारों के नाम आये हैं, यथा उशना, कात्यायन, बृहत्कात्यायन, कौण्डिन्य, गौतम, नारद, पितामह, प्रजापति, बृहस्पति, मनु, यम, याज्ञवल्क्य, लिखित, बृहद्वसिष्ठ, विष्णु, व्यास, शंख, वृद्धशातातप, संवर्त एवं हारीत, जिनमें कात्यायन, बृहस्पति एवं नारद के नाम बहुत बार आये हैं। इसमें निम्नलिखित निबन्धकारों के नाम आये हैं—जितेन्द्रिय, दीक्षित, बाल (बालक), भोजदेव, मञ्जरीकार (गोविन्दराज), योग्लोक, विश्वरूप, श्रीकर (श्रीकर मिश्र)। जीमूतवाहन ने योग्लोक एवं श्रीकर की आलोचना की है और योग्लोक की स्थान स्थान पर भर्त्सना भी की है। इन्होंने विश्वरूप तथा अन्य प्राचीन निबन्धकारों की प्रशंसा भी की है। रघुनन्दन ने अपने व्यवहारतत्त्व एवं दायतत्त्व में व्यवहारमातृका की चर्चा की है।

जीमूतवाहन का तीसरा ग्रन्थ दायभाग सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रसिद्ध है। हिन्दू कानूनों में, विशेषतः रिक्थ, विभाजन, स्त्रीधन, पुनर्मिलन आदि में दायभाग ने बहुत योग दिया है। बंगाल तथा वहाँ, जहाँ मिताक्षरा का प्रभाव नहीं है, इन विषयों में दायभाग ही एक मात्र प्रमाण माना जाता रहा है। दायभाग के कई भाष्यकार हो गये हैं। दायभाग की विषय-वस्तु यों है—दाय की परिभाषा, पूर्वजों की सम्पत्ति पर पिता का प्रभाव या स्वत्व, पिता एवं पितामह की सम्पत्ति का विभाजन, पिता की मृत्यु के उपरान्त भाइयों में बँटवारा, स्त्रीधन की परिभाषा, श्रेणीकरण एवं निक्षेपण, असमर्थता के कारण वसीयत (दाय) एवं बँटवारे से कौन लोग पृथक् किये जा सकते हैं, निक्षेपण योग्य सम्पत्ति, पुत्रहीन के उत्तराधिकार की विधि, पुनर्मिलन, गुप्त धन प्राप्त होने पर रिक्थाधिकारियों में बँटवारा, विभाजन-प्रकाशन।

दायभाग और मिताक्षरा के मुख्य विभेद निम्न हैं। दायभाग में पुत्रों का जन्म से पैतृक सम्पत्ति में अधिकार नहीं है, पिता के स्वत्व के विनाश पर ही (अर्थात् पिता की मृत्यु पर, पतित हो जाने पर या संन्यासी हो जाने पर ही) पुत्र दाय पर अधिकार पा सकते हैं, या पिता की इच्छा पर उसमें और पुत्रों में विभाजन हो सकता है। पति के अधिकार पर विधवा का अधिकार हो जाता है, भले ही पति एवं उसके भाई का संयुक्त धन हो। रिक्थाधिकार मृत व्यक्ति को पिण्डदान करने पर निर्भर रहता है, यह सगोत्रता पर, मिताक्षरा के मतानुसार नहीं निर्भर रहता।

दायभाग में स्मृतिकारों, महाभारत एवं मार्कण्डेय पुराण के अतिरिक्त निम्न लेखकों के नाम आये हैं; उद्ग्राहमल्ल, गोविन्दराज (मनुटीका के लेखक), जितेन्द्रिय, दीक्षित, बालक, भोजदेव या धारेश्वर, विश्वरूप एवं श्रीकर।

जीमूतवाहन ने अपने बारे में न-कुछ-सा कहा है। उन्होंने अपने को पारिभद्र कुल में उत्पन्न माना है। उनका जन्म-स्थान सम्भवतः राढा था। जीमूतवाहन की तिथि के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन ही है। ११वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक खींचातानी होती रही है। जीमूतवाहन ने धारेश्वर भोजदेव एवं गोविन्दराज का उल्लेख किया है, अतः वे ११वीं शताब्दी के पूर्व नहीं रखे जा सकते। इसी प्रकार उनके उद्धरण शूलपाणि, वाचस्पति मिश्र एवं रघुनन्दन की कृतियों में पाये जाते हैं, अतः वे १५वीं शती के मध्य भाग के बाद नहीं जा सकते। कालविवेक की एक हस्तलिखित प्रति में घटकसिंह नामक व्यक्ति के पुत्र की कुण्डली है, जिस पर शक संवत् १४१७ (अर्थात् १४९५ ई०) अंकित है। अतः जीमूतवाहन १४०० ई० के बाद नहीं जा सकते, क्योंकि उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति के बहुत पहले ही तो जीमूतवाहन प्रसिद्ध हो सके होंगे।

कालविवेक में कालचर्चा करते हुए जीमूतवाहन ने एक स्थान पर १०९१-१०९२ ई० की गणना की है। लेखक को समीप के काल की चर्चा और गणना ही सुविधाजनक लगती है, अतः जीमूतवाहन १०९० तथा ११३० के मध्य में हुए होंगे। किन्तु एक विरोध खड़ा किया जा सकता है। १२वीं शताब्दी से लेकर १४वीं तक किसी भी धर्मशास्त्रकार ने जीमूतवाहन का नाम नहीं लिया है। हारलता, कुल्लूक के भाष्य आदि ने उनकी कहीं भी चर्चा नहीं की है। विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जीमूतवाहन ने मिताक्षरा की आलोचना की है। इससे यह कहा जा सकता है कि जीमूतवाहन मिताक्षरा के बाद तो आये, किन्तु उनकी तिथि की मध्य कड़ी क्या है, यह कहना कठिन है।

७९. अपरार्क

अपरादित्य ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक बहुत ही विस्तृत टीका लिखी है, जो अपरार्क-याज्ञवल्क्य-धर्मशास्त्र-निबन्ध के नाम से विख्यात है। यह आनन्दाश्रम प्रेस (पूना) से दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। इस निबन्ध के अन्त में लेखक विद्याधरवंश के जीमूतवाहन कुल में उत्पन्न राजा शिलाहार, अपरादित्य कहे गये हैं। यह ग्रन्थ यद्यपि मिताक्षरा की भाँति याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका है, किन्तु यह एक निबन्ध है। यह मिताक्षरा से बहुत बृहत् है। इसने गृह्य एवं धर्मसूत्रों एवं पद्यबद्ध स्मृतियों से बिना किसी रोक के लम्बे-लम्बे उद्धरण लिये हैं। मिताक्षरा से यह कई बातों में भिन्न है। जहाँ मिताक्षरा ने पुराणों से उद्धरण लेने में बड़ी सावधानी प्रदर्शित की है, इसने कतिपय पुराणों से लम्बे-लम्बे अंश उतार लिये हैं, यथा आदि, आदित्य, कूर्म, कालिका, देवी, नन्दी, नृसिंह, पद्म, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, भविष्यत्, भविष्योत्तर, मत्स्य, मार्कण्डेय, लिंग, वराह, वामन, वायु, विष्णु, विष्णुधर्मोत्तर, शिवधर्मोत्तर एवं स्कन्द नामक पुराणों से। इस लम्बी संख्या में पुराण एवं उपपुराण दोनों सम्मिलित हैं। इसमें धर्मसूत्रों (गौतम, वसिष्ठ) से भी प्रभूत लम्बे उद्धरण लिये गये हैं। यह बात मिताक्षरा में नहीं पायी जाती। शंकराचार्य की शैली में अपरार्क ने शैव, पाशुपत, पाञ्चरात्र, सांख्य एवं योग के सिद्धान्तों के छोटे-छोटे निष्कर्ष भी दिये हैं। यद्यपि अपरार्क ने शारीरक मीमांसा-शास्त्र की ओर संकेत किया है, तथापि वे अद्वैत के पुजारी नहीं लगते। मिताक्षरा ने अपने पूर्व के निबन्धकारों, यथा—असहाय, विश्वरूप, भारुचि, श्रीकर, मेधातिथि एवं धारेश्वर के नाम लिये हैं, किन्तु अपरार्क इस विषय में मौन हैं। अपरार्क ने ज्योतिषशास्त्र के कई लेखकों की कृतियों का उल्लेख किया है, यथा—गर्ग, क्रियाश्रय एवं सारावलि। कुमारिल भट्ट का उद्धरण भी अपरार्क के निबन्धों में आया है। मिताक्षरा में पूर्वमीमांसा की प्रभूत चर्चाएँ हुई हैं, किन्तु अपरार्क ने ऐसा बहुत कम किया है। विद्वत्ता, स्वच्छता, तर्क, अभिव्यञ्जना आदि में मिताक्षरा अपरार्क से बहुत आगे है; इस विषय में इसकी कोई तुलना नहीं हो सकती।

जीमूतवाहन से सम्बन्धित बहुत-से मतों की घोषणा अपरार्क ने भी की थी। मरे हुए व्यक्ति को पिण्ड आदि देने से ही उसकी सम्पत्ति का कोई अधिकारी हो सकता है। दो-एक अन्य बातों में अपरार्क एवं मिताक्षरा में थोड़ा विभेद है। अन्यथा दोनों एक-दूसरे से मतों के विषय में बहुत मिलते हैं। क्या अपरार्क को मिताक्षरा की उपस्थिति का ज्ञान था? इसका उत्तर सरल नहीं है। सम्भवतः मिताक्षरा का ज्ञान अपरार्क को था।

अपरार्क की तिथि का अनुमित निर्णय किया जा सकता है। स्मृतिचन्द्रिका ने कई बार अपरार्क के मतों की चर्चा एवं उनकी मिताक्षरा के मतों से तुलना की है। स्मृतिचन्द्रिका की तिथि, जैसा कि हम बाद को देखेंगे, लगभग १२०० ई० है, यदि यह मान लिया जाय कि अपरार्क ने मिताक्षरा की चर्चा की है तो अपरार्क की तिथि ११००-१२०० ई० के बीच में होगी। यहाँ हमें अभिलेख सहायता देते हैं। अपरादित्य जीमूतवाहन-वंश के

शिलाहार राजकुमार थे। शिलाहारों के अभिलेखों से पता चलता है कि उनकी तीन शाखाएँ थीं: जिनमें एक उत्तरी कोंकण के थाणा नामक स्थान में, दूसरी दक्षिणी कोंकण में, तथा तीसरी कोल्हापुर में थी। ये तीनों शाखाएँ अपने को जीमूतवाहन वंश की ठहराती हैं। अपरार्क सम्भवतः उत्तरी कोंकण वाले शिलाहारों में अपरादित्य देव नाम वाले राजा थे, क्योंकि निबन्ध में आनेवाली, शिलाहार नरेन्द्र एवं जीमूतवाहनान्वयप्रसूत उपाधियाँ एवं महामण्डलेश्वर तथा नगरपुर परमेश्वर आदि नाम एक शिलालेख में भी आये हैं, जहाँ पर अपराजित या अपरादित्य-देव, जो नागार्जुन के पुत्र अनन्तदेव के पुत्र थे, एक ब्राह्मण को दान देते हुए वर्णित हैं। और भी बहुत-से अभिलेख हैं, जिनमें अपरादित्य का नाम आता है। अपरादित्य की तिथि १११५-११३० ई० के बीच में आती है। मंख के श्रीकण्ठचरित में आया है कि कोंकण के राजा अपरादित्य ने तेजकण्ठ को कश्मीर के राजा जय-सिंह (११२९-११५० ई०) की विद्वत्परिषद् में दूत बनाकर भेजा था। आज भी कश्मीर में अपरार्क की टीका चलती है। अपरार्क की कृति यह स्पष्ट करती है कि वे कश्मीर से परिचित थे। लगता है, राजा ने दूत को अपने भाष्य के साथ ही कश्मीर भेजा था, जहाँ के पण्डित आज भी अपरार्क को आदर की दृष्टि से देखते हैं। अपरार्क ने अपनी टीका १२वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में अवश्य लिखी होगी। अपरार्क ने भासर्वज्ञ के न्यायसार पर भी एक टीका लिखी थी।

८०. प्रदीप

श्रीधर की पुस्तक स्मृत्यर्थसार ने प्रामाणिक ग्रन्थों में कामधेनु के उपरान्त प्रदीप की गणना की है। स्मृतिचन्द्रिका ने प्रदीप नामक ग्रन्थ का, सम्भवतः उल्लेख किया है। सरस्वतीविलास ने स्पष्ट शब्दों में प्रदीप के मत का उल्लेख किया है। रामकृष्ण (लगभग १६०० ई०) के जीवत्पितृकनिर्णय ने प्रदीप का उद्धरण इस विषय में दिया है कि क्या विभक्त भाई, अपने पिता या पूर्वपुरुषों के वार्षिक श्राद्ध पृथक्-पृथक् रूप से करें या साथ ही? वीरमित्रोदय के अनुसार प्रदीप ने भवदेव की आलोचना की है।

प्रदीप व्यवहार, श्राद्ध, शुद्धि आदि पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था। स्मृत्यर्थसार एवं स्मृतिचन्द्रिका द्वारा वर्णित होने पर यह ग्रन्थ ११५० ई० के बाद किसी भी दशा में नहीं आ सकता। इसने भवदेव की आलोचना की है, अतः इसकी तिथि ११०० से पूर्व नहीं जा सकती।

८१. श्रीधर का स्मृत्यर्थसार

इस प्रसिद्ध ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९१२ में आनन्दाश्रम प्रेस ने किया। इस ग्रन्थ के विषय अन्य स्मृति-ग्रन्थों से बहुत मिलते-जुलते हैं, यथा—पूर्वयुगादेशित एवं कलियुगवर्जित कर्म, संस्कार-संख्या, उपनयन का विस्तृत वर्णन, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, अनध्याय, विवाह-प्रकार, सपिण्डता के कारण निषेध गोत्र-प्रवर-विवेचन, आचमन, शौच, आह्निक कर्म, दन्तधावन, स्नान, पंचयज्ञ, आह्निक संध्या, आह्निक पूजा, श्राद्ध का विस्तृत वर्णन, श्राद्ध के लिए उचित काल, पदार्थ तथा निमन्त्रण-योग्य ब्राह्मण, श्राद्ध-प्रकार, विविध तीर्थों पर विवेचन, मलमास, भक्ष्याभक्ष्य, विविध पदार्थों एवं अपने शरीर का निर्मलीकरण, जन्म-मरण पर अशुद्धि, मृत्यू-परान्त क्रिया-संस्कार, संन्यास-नियम, विविध पापों एवं दोषों के लिए प्रायश्चित्त।

श्रीधर विश्वामित्र गोत्र के नागभर्ता विष्णुभट्ट के पुत्र थे और स्वयं वैदिक यज्ञों को करनेवाले थे। श्रीधर ने अपने पूर्व के श्रीकण्ठ एवं शंकराचार्य के ग्रन्थों की चर्चा की है। उन्होंने कामधेनु, प्रदीप, अब्धि, कल्पवृक्ष (कल्पतरु), कल्पलता, शम्भु, द्रविड़, केदार, लोल्लट तथा अन्य मनुटीकाकारों के मतों की पर्याप्त चर्चा

की है। बौधायन एवं गोविन्दराज के भी यथास्थान उल्लेख हुए हैं। अब्धि, सम्भवतः, हेमाद्रि, विवादरत्नाकर तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित स्मृतिमहार्णव ही है। श्रीधर दक्षिणी ब्राह्मण-से लगते हैं। श्रीधर ने मिताक्षरा, कामधेनु, कल्पतरु एवं गोविन्दराज के नाम लिये हैं, अतः इनकी तिथि ११५० ई० के बाद ही होगी। स्मृतिचन्द्रिका एवं हेमाद्रि में उद्धरण आने के कारण ऐसा लगता है कि श्रीधर की कृति ११५०-१२०० ई० के मध्य में कभी रची गयी होगी।

८२. अनिरुद्ध

अनिरुद्ध बंगाल के एक प्राचीन एवं प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार हैं। उनके दो ग्रन्थ हारलता एवं पितृदयिता अथवा कर्मोपदेशिनी पद्धति अति प्रसिद्ध हैं। हारलता में श्राद्ध-सम्बन्धी तथा अन्य बातों की भरपूर चर्चा है। पितृदयिता सामवेद के अनुयायियों के लिए लिखी गयी है। ये दोनों ग्रन्थ आचार-सम्बन्धी बातों पर ही प्रकाश डालते हैं।

अनिरुद्ध गंगा के तट पर विहारपाटक नामक स्थान के निवासी थे। वे कुमारिल भट्ट के सिद्धान्तों के समर्थक थे। हारलता एवं पितृदयिता के अन्तिम पद्यों से पता चलता है कि वे बंगाल के एक चाम्पाहट्टीय ब्राह्मण एवं धर्माध्यक्ष थे। बल्लालसेन के दानसागर से पता चलता है कि अनिरुद्ध बंगाल के राजा के गुरु थे और उन्होंने उनकी कृति की रचना दानसागर में उन्हें सहायता भी दी। यह रचना ११६९ ई० में हुई। इससे स्पष्ट है कि अनिरुद्ध सन् ११६८ ई० के आसपास अपनी प्रसिद्धि के उच्च शिखर पर थे।

८३. बल्लालसेन

बंगाल के इस राजा ने चार ग्रन्थों का सम्पादन किया है। वेदाचार्य के स्मृतिरत्नाकर में एवं मदनपारिजात में बल्लालसेन के आचारसागर का वर्णन है। प्रतिष्ठासागर उनकी दूसरी कृति है। तीसरी कृति दानसागर है, जिसमें १६ बड़े-बड़े दानों एवं छोटे-छोटे दानों का वर्णन है। दानसागर में महाभारत एवं पुराणों के विषय में प्रभूत चर्चा की गयी है। दानसागर पूर्व दोनों कृतियों के बाद की रचना है। चण्डेश्वर के दानरत्नाकर में एवं निर्णयसिन्धु में दानसागर का उल्लेख आया है। बल्लालसेन की चौथी कृति है अद्भुतसागर, जिसका उल्लेख टोडरानन्दसंहिता-सौख्य एवं निर्णयसिन्धु में हुआ है। यह कृति अधूरी रह गयी थी और उनके पुत्र लक्ष्मणसेन ने उसे पूरा किया।

बल्लालसेन ने अपना दानसागर शकाब्द १०९० में आरम्भ कर शकाब्द १०९१ में पूरा किया, अतः स्पष्ट है, उनका साहित्यिक काल १२वीं शताब्दी ई० के तीसरे चरण में रखा जा सकता है। रघुनन्दन के कथनानुसार दानसागर अनिरुद्ध भट्ट द्वारा लिखा गया है। किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दानसागर में स्वयं बल्लालसेन ने ऐसा लिखा है कि यह ग्रन्थ इन्होंने अपने गुरु (अनिरुद्ध) की देखरेख में लिखा है। बल्लालसेन की उपाधियाँ हैं महाराजाधिराज एवं निःशंकशंकर।

८४. हरिहर

विवादरत्नाकर के उद्धरण से पता चलता है कि हरिहर ने व्यवहार पर लिखा है। हरिहर ने पारस्करगृह्यसूत्र पर एक भाष्य लिखा है और अपने को अग्निहोत्री कहा है। इस भाष्य की एक प्रति में ये विज्ञानेश्वर के शिष्य कहे गये हैं। इन्होंने कर्कोपाध्याय, कल्पतरुकार, रेणुदीक्षित एवं विज्ञानेश्वराचार्य के नाम लिये हैं

अतः इनकी तिथि ११५० ई० के बाद ही आती है। हेमाद्रि, समयप्रदीप, श्रीदत्त के आचारादर्श एवं हरिनाथ के स्मृतिसार में इनके मत उद्धृत हैं, अतः ये १२५० ई० के पूर्व आते हैं। लगता है कि प्राड्विवाक हरिहर एवं भाष्यकार हरिहर दोनों एक ही थे, ऐसा कहा जा सकता है। बहुत-से हरिहर हो गये हैं, यथा बंगाल के निबन्धलेखक रघुनन्दन के पिता हरिहर भट्टाचार्य, ज्योतिष ग्रन्थ 'समयप्रदीप' के लेखक हरिहराचार्य आदि।

८५. देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका

यह धर्मशास्त्र पर अति प्रसिद्ध निबन्ध है। यह आकार में बहुत बड़ा ग्रन्थ है। निबन्धों में कल्पतरु को छोड़कर इसकी हस्तलिखित प्रति सर्वप्रथम प्राप्त हुई थी। इसमें संस्कार, आह्निक, व्यवहार, श्राद्ध एवं अशौच पर काण्ड हैं। हो सकता है कि देवण्ण भट्ट ने प्रायश्चित्त पर भी लिखा हो। इनका नाम कई प्रकार से लिखा पाया जाता है, यथा—देवण्ण, देवण, देवनन्द या देवगण। ये केशवादित्य भट्ट के पुत्र एवं सोमयाजी भी कहे गये हैं।

स्मृतिचन्द्रिका ने बहुत-से स्मृतिकारों का उल्लेख किया है और हमें लुप्तप्राय स्मृतियों के पुनर्गठन एवं उद्धार में इससे बहुत मूल्यवान् सहायता मिली है। इसने कात्यायन एवं बृहस्पति से व्यवहार-सम्बन्धी लगभग ६०० श्लोक उद्धृत किये हैं। इसने निम्नलिखित ग्रन्थों, भाष्यकारों एवं निबन्धकारों के नाम गिनाये हैं—अपरार्क, त्रिकाण्डी, देवराट्, देवस्वामी, आपस्तम्बकल्पभाष्यार्थकार, धारेश्वर, धर्मभाष्य, धूर्तस्वामी, प्रदीप, भवनाथ, आपस्तम्बधर्मसूत्रभाष्य, धर्मदीप या प्रदीप, भाष्यार्थसंग्रहकार, मनुवृत्ति, मेधातिथि, मिताक्षरा, वैजयन्ती (शब्दकोश), विश्वरूप, विश्वादर्श, शम्भु, श्रीकर, शिवस्वामी, स्मृतिभास्कर, स्मृत्यर्थसार। स्मृतिचन्द्रिका में उपर्युक्त ग्रन्थों तथा लेखकों का खण्डन, समर्थन या आलोचना हुई है। देवण्ण भट्ट दक्षिणी लेखक थे और दक्षिण में उनकी स्मृतिचन्द्रिका व्यवहार-सम्बन्धी एवं न्याय-सम्बन्धी बातों में प्रामाणिक मानी जाती रही है। स्मृतिचन्द्रिका में जो विषय आये हैं, वे पुरातन-काल से चले आये धर्मशास्त्र-सम्बन्धी विषय हैं।

स्मृतिचन्द्रिका ने विज्ञानेश्वर का नाम बड़े आदर से लिया है किन्तु कई स्थलों पर इसने मिताक्षरा से विरोध प्रकट किया है। स्मृतिचन्द्रिका में मिताक्षरा, अपरार्क एवं स्मृत्यर्थसार का उल्लेख हुआ है, अतः यह ११५० ई० के ऊपर नहीं जा सकती। हेमाद्रि ने स्मृतिचन्द्रिका के मतों का उल्लेख किया है, अतः यह १२२५ ई० के कम-से-कम एक शताब्दी पूर्व रची गयी होगी। सरस्वतीविलास, वीरमित्रोदय तथा अन्य निबन्धों ने इसका उल्लेख किया है। कुछ अन्य लोगों ने भी 'स्मृतिचन्द्रिकाएँ' लिखी हैं, यथा—शुकदेव मिश्र की स्मृतिचन्द्रिका, आपदेव एवं वामदेव भट्टाचार्य की स्मृतिचन्द्रिकाएँ।

८६. हरदत्त

टीकाकार के रूप में हरदत्त की बड़ी ख्याति रही है। इन्होंने कई व्याख्याएँ लिखी हैं, यथा—आपस्तम्बगृह्यसूत्र पर अनाकुला नामक, आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ पर भाष्य, आश्वलायनगृह्यसूत्र पर अनाविला नामक, गौतमधर्मसूत्र पर मिताक्षरा नामक, आपस्तम्बधर्मसूत्र पर उज्ज्वला नामक। इनकी ये व्याख्याएँ आदर्श भाष्य मानी जाती हैं। हरदत्त ने धर्मसूत्रों के भाष्य में कतिपय स्मृतियों से उद्धरण लिये हैं, किन्तु निबन्धकारों की चर्चा नहीं की है।

कई प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है कि हरदत्त दक्षिण भारत के निवासी थे। उन्होंने दक्षिणी प्रयोगों, नदियों, स्थानों आदि के नाम दिये हैं। वीरमित्रोदय ने हरदत्त एवं स्मृतिचन्द्रिकाकार (देवण्ण भट्ट) को दक्षिणी निबन्धकार माना है। हरदत्त शिव के उपासक थे।

हरदत्त का काल-निर्णय कठिन है। वीरमित्रोदय ने हरदत्त की गौतम वाली टीका मिताक्षरा से बहुधा उद्धरण लिये हैं। नारायण भट्ट (जन्म, १५१३ ई०) ने अपनी प्रयोगरत्न नामक पुस्तक में हरदत्त की मिताक्षरा एवं उज्ज्वला के नाम लिये हैं। हरदत्त १३०० ई० के बाद नहीं माने जा सकते। विज्ञानेश्वर के उपरान्त हरदत्त को छोड़कर किसी भी लेखक ने विधवा को इनके जैसा स्थान नहीं दिया, अतः हरदत्त ११०० ई० के बहुत बाद नहीं जा सकते। उन्हें हम ११००-१३०० ई० के बीच में कहीं रख सकते हैं। बहुत-से अन्य ग्रन्थ हरदत्त द्वारा लिखे हुए कहे जाते हैं, किन्तु अभी इस विषय में कोई निर्णय नहीं किया जा सका है।

८७. हेमाद्रि

दक्षिणी धर्मशास्त्रकारों में हेमाद्रि एवं माधव के नाम अति प्रसिद्ध हैं। हेमाद्रि ने विशाल ग्रन्थ का प्रणयन किया है। उनकी चतुर्वर्गचिन्तामणि प्राचीन धार्मिक कृत्यों का विश्व-कोश ही है। व्रत, दान, श्राद्ध, काल आदि हेमाद्रि के महाग्रन्थ के प्रकरण हैं। हेमाद्रि ने जिस विषय को उठाया है, उसे पूर्ण करने एवं अत्युत्तम बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। उन्होंने स्मृतियों, पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों से पर्याप्त उद्धरण लिये हैं। वे पूर्वमीमांसा के गम्भीर ज्ञाता थे, और इसी से बिना पूर्वमीमांसा के कतिपय न्यायों को जाने, उनके श्राद्ध-काल-विषयक विवेचनों को समझना कठिन है। हेमाद्रि ने अपरार्क (बहुत अधिक), आपस्तम्बधर्मसूत्र, कर्कोपाध्याय (अधिकतर), गोविन्दराज, गोविन्दोपाध्याय, त्रिकाण्डमण्डन, देवस्वामी (अधिकतर), निर्णयामृत, न्यायमञ्जरी, पण्डितपरितोष, पृथ्वीचन्द्रोदय, बृहत्कथा, बृहद्वार्तिक, भवदेव, मदननिघण्टु, मधुशर्मा, मेधातिथि, वामदेव, विधिरत्न, विश्वप्रकाश, विश्वरूप, विश्वादर्श, शंखधर (बहुत अधिक), शम्भु, वृद्धशातातपभाष्यकार, शिवदत्त, श्रीधर, सोमदत्त, स्मृतिचन्द्रिका (बहुत अधिक), स्मृतिप्रदीप, स्मृतिमहार्णवप्रकाश (बहुत अधिक), स्मृत्यर्थसार, हरिहर (बहुत अधिक) को उद्धृत किया है। किन्तु आश्चर्य है कि इन्होंने विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा का नाम ही कहीं नहीं लिया।

हेमाद्रि ने अपना परिचय दिया है। वे वत्सगोत्र के वासुदेव के पुत्र कामदेव के पुत्र थे। उन्होंने अपना गुणगान किया है और अपने को देवगिरि के यादवराज महादेव का मंत्री एवं राजकीय लेखप्रमाणों का अधिकारी लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि वे सम्भवतः १२६०-१२७० ई० के लगभग हुए थे। हेमाद्रि महादेव के उत्तराधिकारी रामचन्द्र के भी मन्त्री थे, ऐसा एक अभिलेख से पता चलता है।

हेमाद्रि ने कई एक ग्रन्थ लिखे हैं, यथा—शौनकप्रणवकल्प का भाष्य, कात्यायन के नियमानुकूल श्राद्धकल्प, मुग्धबोध व्याकरण के प्रणेता वोपदेव के मुक्ताफल नामक ग्रन्थ पर कैवल्यदीपक नामक भाष्य। वोपदेव हेमाद्रि की छत्रच्छाया में ही प्रतिफलित हुए थे। वाग्भट के अष्टांगहृदय पर भी हेमाद्रि ने आयुर्वेदरसायन नामक टीका लिखी। निस्सन्देह हेमाद्रि एक विलक्षण प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। हेमाद्रि एक विचित्र शैली वाले मन्दिरों के निर्माता के रूप में सारे महाराष्ट्र देश में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने मोड़ि लिपि का भी आविष्कार किया था। सम्पूर्ण दक्षिण में उनकी कृतियाँ सम्मानित थीं, विशेषतः उनकी चतुर्वर्गचिन्तामणि के दान एवं व्रत नामक प्रकरण। माधव ने अपने कालनिर्णय में हेमाद्रि के व्रतखण्ड की चर्चा की है। इसी प्रकार बहुत-से लेखकों एवं राजाओं ने उनके व्रत, दान, श्राद्ध एवं काल के खण्डों का उल्लेख किया है।

८८. कुल्लूक भट्ट

मनु पर जितने भाष्य हुए हैं, उनमें कुल्लूक की मन्वर्थमुक्तावली नामक टीका सर्वश्रेष्ठ है। इसके

कई प्रकाशन भी हो चुके हैं। कुल्लूक का भाष्य संक्षिप्त, स्पष्ट एवं उद्देश्यपूर्ण है। इन्होंने सदैव विस्तार से बचने का उपक्रम किया है, किन्तु इनमें मौलिकता की कमी पायी जाती है। इन्होंने मेधातिथि, गोविन्दराज के भाष्यों से बिना कृतज्ञता-प्रकाशन के उद्धरण ले लिये हैं। कहीं-कहीं इन भाष्यकारों की इन्होंने कटु आलोचनाएँ भी की हैं। इन्होंने अपने भाष्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कुल्लूक ने निम्नलिखित लेखकों के नाम लिये हैं---गोविन्दराज, धरणीधर, भास्कर (वेदान्तसूत्र के भाष्यकार), भोजदेव, मेधातिथि, वामन (काशिका के लेखक), भट्टवार्तिक-कृत्, विश्वरूप। इन्होंने अपने बारे में भी तनिक लिख दिया है। ये बंगाल के बारेन्द्र कुल के नन्दननिवासी भट्टदिवाकर के पुत्र थे। इन्होंने पण्डितों की संगति में काशी में अपना भाष्य लिखा।

कुल्लूक ने स्मृतिसागर नामक एक निबन्ध लिखा, जिसके केवल अशौचसागर एवं विवादसागर नामक प्रकरणों के अंश अभी तक प्राप्त हो सके हैं। श्राद्धसागर में पूर्वमीमांसा-सम्बन्धी विवेचन भी है। कुल्लूक ने लिखा है कि उन्होंने अपने पिता के आदेश से विवादसागर, अशौचसागर एवं श्राद्धसागर लिखे। इनमें महाभारत के प्रमुख उद्धरण हैं। महापुराणों, उपपुराणों, धर्मसूत्रों एवं अन्य स्मृतियों की चर्चा यथास्थान होती चली गयी है। भोजदेव, हलायुध, जिकन, कामधेनु, मेधातिथि, शंखधर आदि के नाम भी आये हैं।

कुल्लूक की तिथि का प्रश्न कठिन है। बुहलर एवं चक्रवर्ती ने उन्हें १५वीं शताब्दी में रखा है। कुल्लूक ने भोजदेव, गोविन्दराज, कल्पतरु एवं हलायुध की चर्चा की है, अतः वे ११५० ई० के बाद ही हुए होंगे। रघुनन्दन ने अपने दायतत्त्व एवं व्यवहारतत्त्व में तथा वर्धमान ने अपने दण्डविवेक में उनके मतों की चर्चा की है। अतः कुल्लूक १३०० ई० के पूर्व हुए होंगे। वे सम्भवतः ११५०-१३०० ई० के बीच कभी हुए होंगे।

८९. श्रीदत्त उपाध्याय

धर्मशास्त्र-साहित्य में मिथिला ने बड़े-बड़े मूल्यवान् एवं सारयुक्त ग्रन्थ जोड़े हैं। याज्ञवल्क्य से लेकर आधुनिक काल तक मिथिला ने महत्त्वपूर्ण लेखक दिये हैं। मध्ययुगीन मैथिल निबन्धकारों में श्रीदत्त उपाध्याय अति प्राचीन हैं। इन्होंने कई एक ग्रन्थ लिखे हैं।

श्रीदत्त के आचारादर्श में आह्निक धार्मिक कृत्यों का वर्णन है। यह ग्रन्थ यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा वालों के लिए है। इसमें आचमन, दन्तधावन, प्रातःस्नान, सन्ध्या, जप, ब्रह्मयज्ञ, तर्पण, नित्य देव-पूजा, वैश्वदेव, अतिथि-भोजन आदि पर विवेचन हुआ है। बहुत-से ग्रन्थों एवं लेखकों की चर्चा हुई है। इस ग्रन्थ पर दामोदर मैथिल द्वारा लिखित आचारादर्शबोधिनी नामक टीका भी है। सामवेदियों के लिए उन्होंने छन्दोगाह्निक नामक आचार-पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का उल्लेख उनकी समयप्रदीप एवं पितृभक्ति नामक पुस्तकों में हुआ है। यजुर्वेद के अनुयायियों के लिए पितृभक्ति नामक श्राद्ध-सम्बन्धी पुस्तक है। पितृभक्ति कर्क की टीका सहित कातीयकल्प, गोपाल एवं भूपाल (भोजदेव) के ग्रन्थों पर आधारित है। रुद्रधर के श्राद्धविवेक में इस ग्रन्थ की चर्चा हुई है। सामवेदी विद्यार्थियों के लिए उन्होंने श्राद्धकल्प नामक ग्रन्थ लिखा। उनके समयप्रदीप नामक ग्रन्थ में व्रतों के समय का विवेचन है।

श्रीदत्त ने कल्पतरु, हरिहर एवं हलायुध की कृतियों के नाम लिये हैं, अतः वे १२०० ई० के बाद ही हुए होंगे। चण्डेश्वर ने उनका उल्लेख किया है। अतः वे १४वीं शताब्दी के प्रथम चरण के पूर्व ही हुए होंगे।

९०. चण्डेश्वर

मिथिला के धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों में चण्डेश्वर सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका स्मृतिरत्नाकर या केवल रत्नाकर

एक विस्तृत निबन्ध है। इसमें कृत्य, दान, व्यवहार, शुद्धि, पूजा, विवाद एवं गृहस्थ नामक सात अध्याय हैं। तिरहुत में हिन्दू व्यवहारों (कानूनों) के लिए चण्डेश्वर का विवादरत्नाकर एवं वाचस्पति की विवादचिन्तामणि प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते रहे हैं। कृत्यरत्नाकर में २२ तरंग, गृहस्थरत्नाकर में ६८ तरंग, दानरत्नाकर में २९ तरंग, विवादरत्नाकर में १०० तरंग, शुद्धिरत्नाकर में ३४ तरंग हैं।

स्मार्त विषयों के अतिरिक्त चण्डेश्वर ने कई अन्य ग्रन्थ लिखे हैं, यथा——कृत्यचिन्तामणि, जिसमें ज्योतिष-सम्बन्धी बातों के आधार पर उत्सव-संस्कारों का वर्णन है। एक अन्य ग्रन्थ है राजनीतिरत्नाकर, जिसमें १६ तरंगें हैं और राज्य-शासन-सम्बन्धी बातों का ही विवेचन हुआ है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त दो अन्य ग्रन्थ हैं दानवाक्यावलि एवं शिववाक्यावलि।

चण्डेश्वर ने बहुत-से लेखकों एवं कृतियों के नाम दिये हैं। उन्होंने अपने पूर्व के पाँच लेखकों के ग्रन्थों से अधिक सहायता ली है, जिनके नाम हैं——कामधेनु, कल्पतरु, पारिजात, प्रकाश एवं हलायुध। अन्य ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के भी नाम आये हैं, यथा——कामन्दक, कुल्लूकभट्ट, पल्लव, पल्लवकार, श्रीकर आदि।

चण्डेश्वर राजमन्त्री थे। उन्होंने नेपाल की विजय की, और अपने को सोने से तौल कर दान किया था। इनका काल चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। चण्डेश्वर ने मैथिल एवं बंगाली लेखकों पर बहुत प्रभाव डाला है। मिसरू मिश्र, वर्धमान, वाचस्पति मिश्र एवं रघुनन्दन ने इन्हें बहुत उद्धृत किया है। वीरमित्रोदय ने रत्नाकर को पौरस्त्य निबन्ध (पूर्वी निबन्ध) कहा है।

९१. हरिनाथ

हरिनाथ धर्मशास्त्र-विषयक बहुत-सी बातों वाले स्मृतिसार नामक निबन्ध के लेखक हैं। इस निबन्ध का कोई अंश अभी प्रकाशित नहीं हो सका है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। उनमें एक में कर्मप्रदीप, कल्पतरु, कामधेनु, कुमार, गणेश्वर मिश्र, विज्ञानेश्वर, विलम्ब, स्मृतिमंजूषा, हरिहर आदि ६७ धर्मशास्त्र-प्रमापक अर्थात् प्रामाणिक कृतियाँ एवं लेखक उल्लिखित हैं। हरिनाथ ने आचार, संस्कार एवं व्यवहार आदि सभी विषयों पर लेखनी चलायी है।

स्मृतिसार में हरिनाथ के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती, केवल उसके अन्त में वे महामहोपाध्याय कहे गये हैं। उन्होंने गौड़ों के क्रिया-संस्कारों की ओर इस प्रकार संकेत किया है कि लगता है वे मैथिल हैं। स्मृतिसार के विवाद (व्यवहार-पद) खण्ड की एक प्रति में संवत् १६१४ (सन् १५५८ ई०) आया है, और उसी खण्ड की दूसरी प्रति में लिपिक ने लक्ष्मण-संवत् ३६३ (१४६९-१४७० ई०) दिया है। शूलपाणि ने अपने दुर्गोत्सवविवेक एवं मिसरू मिश्र ने अपने विवादचन्द्र में हरिनाथलिखित स्मृतिसार के मत दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि स्मृतिसार १४वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के पहले ही प्रणीत हो चुका था। चण्डेश्वर एवं हरिनाथ ने एक दूसरे की कहीं भी चर्चा नहीं की है, अतः लगता है, दोनों समकालीन थे। हरिनाथ ने कल्पतरु एवं हरिहर का उल्लेख किया है। अतः वे १२५० ई० के उपरान्त ही हुए होंगे। यदि हरिनाथ द्वारा उद्धृत गणेश्वर मिश्र चण्डेश्वर के चाचा हैं, तो वे १३०० ई० के पूर्व नहीं हो सकते। हरिनाथ को वाचस्पति मिश्र रघुनन्दन, कमलाकर, नीलकण्ठ तथा अन्य लेखकों ने उद्धृत किया है।

९२. माधवाचार्य

धर्मशास्त्र पर लिखने वाले दाक्षिणात्य लेखकों में माधवाचार्य सर्वश्रेष्ठ हैं। ख्याति में शंकराचार्य के

उपरान्त उन्हीं का स्थान है। उन्होंने अपने भाई सायण तथा अन्य लोगों को संस्कृत-साहित्य में बृहद् ग्रन्थों के प्रणयन के लिए उद्वेलित किया। वे क्या नहीं थे? प्रकाण्ड विद्वान्, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, विजयनगर राज्य के आरम्भिक दिनों के स्तम्भ, वृद्धावस्था में एक पहुँचे हुए संन्यासी और दिन-रात उत्तम कार्य में संलग्न माधवाचार्य जी हमारे लिए एक विलक्षण उदाहरण हैं। उनकी अन्यतम कृतियों में हम यहाँ दो के नाम लेंगे; पराशरमाधवीय एवं कालनिर्णय।

पराशरमाधवीय का प्रकाशन कई बार हो चुका है। यह केवल पराशरस्मृति पर एक भाष्य ही नहीं है, प्रत्युत आचार-सम्बन्धी निबन्ध भी है। दक्षिणावर्तीय भारत के व्यवहारों में पराशरमाधवीय का प्रभूत महत्व है। इसकी शैली सरल एवं मीठी है। इसमें पुराणों एवं स्मृतिकारों के अतिरिक्त निम्नलिखित लेखकों एवं कृतियों के नाम आये हैं—अपरार्क, देवस्वामी, पुराणसार, प्रपंचसार, मेधातिथि, विवरणकार (वेदान्तसूत्र पर), विश्वरूपाचार्य, शम्भु, शिवस्वामी, स्मृतिचन्द्रिका।

पराशरमाधवीय के उपरान्त माधवाचार्य ने कालनिर्णय लिखा। इसमें पाँच प्रकरण हैं—(१) उपोद्घात, (२) वत्सर, (३) प्रतिपत्प्रकरण, (४) द्वितीयादि-तिथि-प्रकरण एवं (५) प्रकीर्णक। प्रथमन प्रकरण में काल और उसके स्वरूप के विषय में विवेचन है। दूसरे प्रकरण में वर्ष एवं इसके चान्द्र, सावन या सौर, दो अयनों, ऋतुओं एवं उनकी संख्या, चान्द्र एवं सौर मासों, मलमासों (अधिक मासों), दोनों पक्षों आदि भागों का विवेचन है। तीसरे प्रकरण में तिथि-शब्द के अर्थ, तिथि-अवधि, एक पक्ष की १५ तिथियाँ, शुद्ध एवं विद्धा नामक तिथियों के दो प्रकार, तिथियों पर क्रिया करने के नियमादि, रात और दिन के १५ मुहूर्तों आदि की चर्चा है। चौथे प्रकरण में प्रतिपदा से अन्य तिथियों (दूसरी से १५वीं) तक के नियम-प्रयोग हैं (अर्थात् कौन-सा व्रत कब किया जाय, यथा गौरीव्रत तीसरी तिथि, जन्माष्टमी आठवीं तिथि पर)। पाँचवें प्रकरण में विभिन्न प्रकार के कार्यों के नक्षत्र-निर्णय के विषय में नियमों का प्रतिपादन, यथा—योगों, करणों तथा संक्रान्ति, ग्रहणों आदि के विषय में नियमादि बताये गये हैं।

कालनिर्णय ने बहुत-से ऋषियों, पुराणों एवं ज्योतिष-शास्त्रज्ञों के नामों के अतिरिक्त कालादर्श, भोज, मुहूर्तविधानसार, वटेश्वरसिद्धान्त, वासिष्ठ रामायण, सिद्धान्तशिरोमणि एवं हेमाद्रि नामक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के नाम लिये हैं।

माधवाचार्य के जीवन-वृत्त के विषय में हमें उनकी कृतियों से बहुत कुछ सामग्री प्राप्त होती है। वे यजुर्वेद के बौधायन-चरण वाले भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण थे। उनके माता एवं पिता क्रम से श्रीमती एवं मायण थे। उनके दो प्रतिभाशाली भाई भी थे, जिनमें सायण तो अपने वेद-भाष्य के लिए अमर हो गये हैं। माधवाचार्य राजा बुक्क (बुक्कण) के कुलगुरु एवं मन्त्री थे। ये वृद्धावस्था में विद्यारण्य नाम से संन्यासी हो गये थे। अभिलेखों से पता चला है कि ये १३७७ ई० में संन्यासी हुए थे। किंवदन्तियों से पता चलता है कि इनकी मृत्यु ९० वर्ष की अवस्था में १३८६ ई० में हुई। अतः माधवाचार्य के साहित्यिक कर्मों को १३३०-१३८५ ई० के मध्य में रख सकते हैं।

९३. मदनपाल एवं विश्वेश्वर भट्ट

मदनपाल के आश्रय में विश्वेश्वर भट्ट ने मदनपारिजात नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। मदनपाल राजा भोज की भाँति एक विद्याव्यसनी राजा थे। उनके राजत्वकाल में मदनपारिजात, स्मृतिमहार्णव (मदनमहार्णव), तिथिनिर्णयसार एवं स्मृतिकौमुदी नामक चार ग्रन्थ लिखे गये। मदनपारिजात के लेखक मदनपाल नहीं थे, यह इस

ग्रन्थ के कई स्थलों से प्रकट हो जाता है। इसके लेखक विश्वेश्वर भट्ट थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसमें ९ स्तवक (टहनियाँ या अध्याय) हैं, यथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थधर्म, आह्निक कृत्य, गर्भाधान से लेकर आगे के संस्कार, जन्म-मरण पर अशुद्धि, द्रव्य-शुद्धि, श्राद्ध, दायभाग एवं प्रायश्चित्त। दायभाग के अध्याय में यह ग्रन्थ मिताक्षरा से बहुत मिलता-जुलता है। इसकी शैली सरल एवं मधुर है। इसमें हेमाद्रि, कल्पवृक्ष (कल्पतरु), अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, मिताक्षरा, आचारसागर, गांगेय, गोविन्दराज, चिन्तामणि, धर्मविवृति, नारायण, मण्डन मिश्र, मेधातिथि, रत्नावलि, शिवस्वामी, सुरेश्वर, स्मृतिमंजरी एवं स्मृतिमहार्णव के नाम आये हैं। विद्वानों का मत है कि मदनपाल के आश्रय में तिथिनिर्णयसार, स्मृतिकौमुदी, स्मृतिमहार्णव नामक ग्रन्थों का प्रणयन विश्वेश्वर भट्ट ने ही किया। विश्वेश्वर भट्ट ने धर्मशास्त्र-सम्बन्धी 'सुबोधिनी' नामक एक अन्य ग्रन्थ लिखा। यह सुबोधिनी विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा की टीका मात्र है।

विश्वेश्वर भट्ट द्रविड़ देश के निवासी थे। सुबोधिनी के लेखन के उपरान्त सम्भवतः वे उत्तर भारत में चले आये। आधुनिक हिन्दू कानून की बनारसी शाखा के विश्वेश्वर भट्ट एक नामी प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं। दिल्ली के उत्तर यमुना के सन्निकट काष्ठा (कठ) के टाक राजवंश में मदनपाल हुए थे। मदनपाल ने सम्भवतः स्वयं भी कुछ लिखा। उनका एक ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तविवेक नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें वे सहारण (साधारण) के पुत्र कहे गये हैं। मदनपाल राजा भोज की भाँति एक महान् साहित्यिक थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उन्होंने मदनविनोद निघण्टु नामक एक ओषधि-ग्रन्थ भी लिखा है। यह एक विशाल ग्रन्थ है। इसी प्रकार मदनपाल आनन्दसंजीवन (नृत्य, संगीत, राग-रागिनी आदि पर) नामक ग्रन्थ के भी प्रणेता कहे जाते हैं। मदनपाल के कुछ ग्रन्थों की प्रतिलिपि सन् १४०२-३ ई० में की गयी थी। मदनपारिजात में हेमाद्रि की चर्चा हुई है, अतः वे १३०० ई० के उपरान्त ही हुए होंगे। मदनपारिजात का उल्लेख रघुनन्दन की पुस्तकों में हुआ है अतः मदनपाल १५०० ई० के पूर्व ही हुए होंगे। स्पष्ट है, मदनपाल और विश्वेश्वर भट्ट १४वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कभी हुए होंगे। अतः सम्भवतः हम उन्हें १३६०-१३९० के आसपास रख सकते हैं।

९४. मदनरत्न

मदनरत्न (मदनरत्नप्रदीप या मदनप्रदीप) एक बृहद् निबन्ध है। इसमें सात उद्योत (प्रकरण या भाग) हैं, यथा—समय (काल), आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त, दान, शुद्धि एवं शान्ति। मदनरत्न की हस्तलिखित प्रतियों से विदित होता है कि यह शक्तिसिंह के पुत्र मदनसिंह के आश्रय में प्रणीत हुआ था। समयोद्योत में दिल्ली देश के महीपालदेव का नाम आता है और उन्हीं के कुल में उनसे छठी पीढ़ी में मदनसिंह हुए थे। मदनरत्न में ऐसा आया है कि मदनसिंह ने रत्नाकर, गोपीनाथ, विश्वनाथ एवं गंगाधर को बुलाकर इस निबन्ध के प्रणयन का भार उन पर सौंप दिया। एक प्रति के शान्त्युद्योत में इसके लेखक का नाम विश्वनाथ कहा गया है। यही बात प्रायश्चित्तोद्योत में भी पायी जाती है।

मदनरत्न में मिताक्षरा, कल्पतरु एवं हेमाद्रि के नाम उल्लिखित हैं, अतएव यह १३०० ई० के उपरान्त ही प्रणीत हुआ होगा। १६वीं एवं १७वीं शताब्दी के नारायण भट्ट, कमलाकर भट्ट, नीलकण्ठ एवं मित्रमिश्र ने इसका उल्लेख किया है। अतः मदनरत्न की रचना सन् १३५०-१५०० ई० के बीच कभी हुई होगी।

९५. शूलपाणि

बंगाल के धर्मशास्त्रकारों में जीमूतवाहन के उपरान्त शूलपाणि का ही नाम लिया जाता है। शूलपाणि

की सर्वप्रथम कृति सम्भवतः दीपकलिका थी, जो याज्ञवल्क्य की एक टीका मात्र है। यह एक छोटी पुस्तिका है, इसमें दायभाग का अंश केवल ५ पृष्ठों में मुद्रित हो जाता है। इस पुस्तिका में कल्पतरु, गोविन्दराज, मिताक्षरा, मेघातिथि एवं विश्वरूप के मत उल्लिखित मिलते हैं। शूलपाणि ने कई ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु ये धर्मशास्त्र-सम्बन्धी विभिन्न विषयों से ही सम्बन्धित हैं, और ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने सब भागों को मिलाकर स्मृतिविवेक नाम रखा है। विभिन्न ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं---एकादशी-विवेक, तिथि-विवेक, दत्तक-विवेक, दुर्गोत्सवप्रयोग-विवेक, दुर्गोत्सव-विवेक, दोलयात्राविवेक, प्रतिष्ठाविवेक, प्रायश्चित्तविवेक, रासयात्राविवेक, व्रत-कालविवेक, शुद्धि-विवेक, श्राद्ध-विवेक, संक्रान्तिविवेक, सम्बन्ध-विवेक। शूलपाणि की श्राद्ध-विवेक नामक पुस्तिका अति ही विख्यात है। दुर्गोत्सवविवेक सम्भवतः सबसे अन्त में प्रणीत हुआ है, क्योंकि इसमें ५ अन्य विवेकों के भी नाम आ जाते हैं। दुर्गोत्सवविवेक में आश्विन एवं चैत्र मास वाली दुर्गा की पूजा का वर्णन है। दुर्गा की पूजा वसन्त ऋतु में भी होती थी, इसी से दुर्गा को कभी-कभी वासन्ती भी कहा जाता है। श्राद्धविवेक पर अनेक भाष्य हैं, जिनमें श्रीनाथ, आचार्य चूड़ामणि एवं गोविन्दानन्द के भाष्य अति प्रसिद्ध हैं। अन्य विवेकों के भी भाष्य हैं। इन सभी विवेकों में प्राचीन आचार्यों एवं धर्मशास्त्रकारों के नाम आ जाते हैं।

शूलपाणि के व्यक्तिगत इतिहास के विषय में कुछ नहीं विदित है। अपने ग्रन्थों में वे साहुडियाल महा-महोपाध्याय कहे गये हैं। बल्लालसेन के काल से बंगाल में साहुडियाल ब्राह्मण निम्न श्रेणी के कहे जाते रहे हैं। ये लोग राढीय ब्राह्मण थे। शूलपाणि के काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इन्होंने चण्डेश्वर के रत्नाकर एवं कालमाधवीय का उल्लेख किया है, अतः ये १३७५ ई० के उपरान्त ही हुए होंगे। इनके नाम का उद्घोष रुद्रधर, गोविन्दानन्द एवं वाचस्पति ने किया है, अतः ये १४६० के पूर्व ही हुए होंगे। इससे स्पष्ट होता है कि शूलपाणि १३७५-१४६० के बीच में कभी थे।

९६. रुद्रधर

रुद्रधर मैथिल धर्मशास्त्रकार थे। इन्होंने कई एक ग्रन्थ लिखे हैं। इनका शुद्धिविवेक कई बार प्रकाशित हो चुका है। इसमें तीन परिच्छेद हैं, जिनमें सात अन्य निबन्धों के उद्धरण भी उल्लिखित हैं। इसमें रत्नाकर, पारिजात, मिताक्षरा एवं हारलता के उल्लेख हैं। इनके अतिरिक्त आचारादर्श, शुद्धिप्रदीप, शुद्धि-बिम्ब, श्रीदत्तोपाध्याय, स्मृतिसार एवं हरिहर के नाम आये हैं। रुद्रधर का श्राद्धविवेक चार परिच्छेदों में विभक्त है। वर्षकृत्य नामक एक अन्य ग्रन्थ भी इन्हीं का है। वाचस्पति ने उनकी चर्चा की है। गोविन्दानन्द, रघुनन्दन एवं कमलाकर ने अपने ग्रन्थों में उनका यथास्थान उल्लेख किया है। रुद्रधर ने रत्नाकर, स्मृतिसार, शूलपाणि का उल्लेख किया है, अतः वे १४२५ ई० के पश्चात् ही हुए होंगे। वाचस्पति आदि के ग्रन्थों में उनका उल्लेख हुआ है। वे १४२५-१४६० के मध्य में कभी विराजमान थे।

९७. मिसरू मिश्र

विवादचन्द्र एवं न्याय-वैशेषिक मत-सम्बन्धी पदार्थचन्द्रिका के लेखक के रूप में मिसरू मिश्र का नाम अति प्रसिद्ध है। विवादचन्द्र में ऋणादान, न्यास, अस्वामिविक्रय, सम्भूयसमुत्थान (साझा), दायविभाग, स्त्री-धन, अभियोग, उत्तर, प्रमाण, साक्षियों आदि पर व्यवहार-पद हैं। चण्डेश्वर के रत्नाकर के मत बहुधा उल्लिखित हुए हैं। विवादचन्द्र में अन्य स्मृतिकारों एवं ग्रन्थों के अतिरिक्त पारिजात, प्रकाश, बालरूप (बहुधा), भवदेव, स्मृतिसार के नाम भी आये हैं। मिसरू मिश्र ने मिथिला के कामेश्वर वंश के भैरवसिंहदेव के छोटे भाई

कुमार चन्द्रसिंह की स्त्री राजकुमारी लछिमादेवी की आज्ञा से पुस्तकें लिखीं। हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि चण्डेश्वर ने सन् १३१४ ई० में भवेश के आश्रय में राजनीति पर एक ग्रन्थ लिखा था। लछिमादेवी इसी भवेश के प्रपौत्र की पत्नी थी। चन्द्रसिंह लछिमादेवी के पति के रूप में १५वीं शताब्दी के मध्य भाग में हुए होंगे। अतः मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र १५वीं शताब्दी के मध्य में लिखा गया होगा। विवादचन्द्र मिथिला में व्यवहार-सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थ रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

९८ वाचस्पति मिश्र

मिथिला के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार थे वाचस्पति मिश्र। व्यवहारों (कानूनों) के संसार में इनकी विवाद-चिन्तामणि बहुत ही प्रसिद्ध रही है। वाचस्पति मिश्र एक प्रतिभाशाली लेखक थे, इन्होंने बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं। 'चिन्तामणि' की उपाधि वाले इनके ११ ग्रन्थों का पता चल सका है। आचारचिन्तामणि में वाजसनेयियों के आह्निक कृत्यों का उल्लेख है। शुद्धिचिन्तामणि में आह्निकचिन्तामणि की चर्चा हुई है। कृत्यचिन्तामणि में वर्ष भर के उत्सवों का वर्णन है। तीर्थचिन्तामणि में प्रयाग, पुरुषोत्तम (पुरी), गंगा, गया एवं वाराणसी के तीर्थों का वर्णन है। वाचस्पति ने कल्पतरु, गणेश्वर मिश्र, जयशर्मा, मिताक्षरा, स्मृतिसमुच्चय एवं हेमाद्रि का यथास्थान उल्लेख किया है। द्वैतचिन्तामणि का नाम कृत्यचिन्तामणि में आ जाता है। विवादचिन्तामणि में नीतिचिन्तामणि की चर्चा होती गयी है। व्यवहारचिन्तामणि में कानूनी रीतियों का विशद वर्णन है। इस ग्रन्थ के भाषा, उत्तर, क्रिया, निर्णय नामक चार प्रमुख विषय हैं। शुद्धिचिन्तामणि तथा शूद्राचारचिन्तामणि का भी प्रकाशन हो चुका है। इनमें प्रसिद्ध लेखकों एवं ग्रन्थों के अतिरिक्त ३४ अन्य नामों का यथास्थान उल्लेख हुआ है। स्पष्ट है, वाचस्पति बड़े प्रकाण्ड विद्वान् थे। वाचस्पति मिश्र ने चिन्तामणियों के अतिरिक्त बहुत से "निर्णयों" का प्रणयन किया है, यथा—तिथिनिर्णय, द्वैतनिर्णय, महादाननिर्णय, शुद्धिनिर्णय आदि। इतना ही नहीं, उन्होंने सात महार्णवों, यथा—कृत्य, आचार, विवाद, व्यवहार, दान, शुद्धि एवं पितृयज्ञ का प्रणयन किया है। वाचस्पति धर्मशास्त्रकार के अतिरिक्त दार्शनिक भी थे। उन्होंने दर्शन-सम्बन्धी भामती आदि प्रौढ ग्रन्थ भी लिखे थे।

अपने ग्रन्थों में वाचस्पति ने अपने को महामहोपाध्याय, मिश्र या सन्मिश्र लिखा है। वे महाराजाधि-राज हरिनारायण के पारिषद (सलाहकार) थे। वाचस्पति ने रत्नाकर एवं रुद्रधर का उल्लेख किया है, अतः वे १४२५ ई० के उपरान्त हुए होंगे। गोविन्दानन्द एवं रघुनन्दन ने वाचस्पति की चर्चा की है, अतः वे १५४० ई० के पूर्व हुए होंगे। अतः हम उन्हें १५वीं शताब्दी के मध्य में कहीं रख सकते हैं।

९९. नृसिंहप्रसाद

नृसिंहप्रसाद तो धर्मशास्त्र-सम्बन्धी एक विश्व-कोश ही है। यह १२ सारों (विभागों) में विभाजित है, यथा संस्कार, आह्निक, श्राद्ध, काल, व्यवहार, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, व्रत, दान, शान्ति, तीर्थ एवं प्रतिष्ठा। प्रत्येक विभाग के अन्त में नृसिंह (विष्णु के एक अवतार) की अभ्यर्थना की गयी है, सम्भवतः इसी से इसका नाम नृसिंहप्रसाद रखा गया है।

संस्कारसार में देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) के राम राजा, दिल्ली के राजा शामवित् तथा उसके पश्चात् निजामशाह के नाम यथाक्रम से आये हैं। लेखक ने अपने को याज्ञवल्क्यशाखा (शुक्ल यजुर्वेद) के भार-द्वाज गोत्र वाले वल्लभ का पुत्र, दलपति (दलाधीश) एवं नेबजन (राजकीय लेख-रक्षक?) कहा है। क्या दलपति अथवा दलाधीश उसका नाम था? कुछ कहा नहीं जा सकता।

नृसिंहप्रसाद में बहुत-से लेखकों एवं ग्रन्थों के नाम आये हैं। इसमें माधवीय एवं मदनपारिजात के अधिक उद्धरण मिलते हैं, अतः यह महाग्रन्थ १४०० ई० के उपरान्त ही प्रणीत हुआ होगा। शंकर भट्ट के द्वैत-निर्णय एवं नीलकण्ठ के मयूखों में यह ग्रन्थ प्रामाणिक माना गया है, अतः यह १५७५ ई० के पूर्व ही रचा गया होगा। विद्वानों के मत से यह १५१२ ई० के बाद की रचना नहीं हो सकती। अहमद निजामशाह (१४९०-१५०८ ई०) या उसके पुत्र बुर्हान निजामशाह (१५०८-१५३३ ई०) के समय में, और सम्भवतः प्रथम निजामशाह के शासनकाल में ही दलपति (?) ने नृसिंहप्रसाद की रचना की।

१००. प्रतापरुद्रदेव

उड़ीसा में कटक नगरी (कटक) के गजपति कुल के राजा प्रतापरुद्रदेव ने सरस्वतीविलास नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया। दक्षिण में सरस्वतीविलास का प्रभूत महत्त्व है, किन्तु इसका स्थान मिताक्षरा से नीचे है। इसमें मुख्य स्मृतियों एवं स्मृतिकारों के अतिरिक्त लगभग ३० अन्य प्रसिद्ध नाम आते हैं।

प्रतापरुद्रदेव ने १४९७ ई० से १५३९ ई० तक राज्य किया, अतः सरस्वतीविलास का प्रणयन १६वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ होगा।

१०१. गोविन्दानन्द

गोविन्दानन्द ने कई ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें दानकौमुदी, शुद्धिकौमुदी, श्राद्धकौमुदी एवं वर्षक्रियाकौमुदी अति प्रसिद्ध हैं। अन्तिम ग्रन्थ में तिथिनिर्णय, व्रतों आदि के दिनों का विवेचन है। लगता है, गोविन्दानन्द के सभी ग्रन्थ क्रियाकौमुदी नामक निबन्ध के कतिपय प्रकरण मात्र हैं। गोविन्दानन्द ने श्रीनिवास की शुद्धिदीपिका एवं शूलपाणि की तत्त्वार्थकौमुदी के भाष्य भी लिखे हैं। इन्होंने बहुत-से लेखकों एवं पुस्तकों के उद्धरण दिये हैं, अतः इनका ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये गणपति भट्ट के पुत्र थे और इनकी पदवी थी कविकंकणाचार्य। ये बंगाल के मिदनापुर जिले के बाग्री नामक स्थान के निवासी वैष्णव थे।

गोविन्दानन्द ने मदनपारिजात, गंगारत्नावलि, रुद्रधर एवं वाचस्पति के नाम एवं उद्धरण लिये है, अतः वे १५वीं शताब्दी के उपरान्त हुए होंगे। रघुनन्दन ने अपने मलमासतत्त्व एवं आह्निकतत्त्व में उन्हें उल्लिखित किया है, अतः वे १५६० ई० के बाद नहीं जा सकते। उनकी शुद्धिकौमुदी में शकाब्द १४१४ से १४५७ तक के मलमासों का वर्णन है, अर्थात् उनमें १४९२ ई० से १५३५ ई० की चर्चा है। अतः स्पष्ट है कि उन्होंने १५३५ ई० के उपरान्त ही अपना ग्रन्थ लिखा। गोविन्दानन्द की साहित्यिक कृतियों का समय १५०० से १५४० ई० तक माना जा सकता है।

१०२. रघुनन्दन

रघुनन्दन बंगाल के अन्तिम बड़े धर्मशास्त्रकार हैं। उन्होंने २८ तत्त्वों वाला स्मृतितत्त्व नामक धर्मशास्त्र-सम्बन्धी बृहद् ग्रन्थ लिखा। उन्होंने अपने इस विश्वकोश-रूपी ग्रन्थ में लगभग ३०० लेखकों एवं ग्रन्थों के नाम लिये हैं। कालान्तर में स्मृति-सम्बन्धी अपनी विद्वत्ता के कारण वे स्मार्तभट्टाचार्य के नाम से विख्यात हो गये। वीरमित्रोदय एवं नीलकण्ठ ने उन्हें स्मार्त नाम से पुकारा है। रघुनन्दन के विश्वकोश का संक्षिप्त विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है। स्मृतितत्त्व (२८ तत्त्वों) के अतिरिक्त रघुनन्दन ने अन्य ग्रन्थ भी लिखे हैं। दायभाग पर

उनका एक भाष्य है। तीर्थतत्त्व, द्वादशयात्रातत्त्व, त्रिपुष्करशान्ति-तत्त्व, गयाश्राद्धपद्धति, रासयात्रापद्धति आदि उनके अन्य ग्रन्थ हैं। रघुनन्दन के ग्रन्थ अधिकतर बंगाल में ही उपलब्ध होते हैं।

रघुनन्दन बन्धघटीय ब्राह्मण हरिहर भट्टाचार्य के सुपुत्र थे। ऐसी किंवदन्ती है कि रघुनन्दन एवं वैष्णव सन्त चैतन्य महाप्रभु दोनों वासुदेव सार्वभौम के शिष्य थे। वासुदेव सार्वभौम नव्यन्याय के प्रसिद्ध प्रणेता कहे जाते हैं। यदि यह बात सत्य है तो रघुनन्दन लगभग १४९० ई० में उत्पन्न हुए होंगे, क्योंकि चैतन्य महाप्रभु का जन्म १४८५-८६ ई० में हुआ था। वे सम्भवतः १४९०-१५७० के मध्य में उपस्थित थे, ऐसा कहना सत्य से दूर नहीं है।

१०३. नारायण भट्ट

नारायण भट्ट बनारस (वाराणसी) के प्रसिद्ध भट्टकुल के सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाते हैं। नारायण भट्ट के पिता रामेश्वर भट्ट प्रतिष्ठान (पैठन) से बनारस आये थे। रामेश्वर भट्ट बड़े विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता से आकृष्ट होकर दूर-दूर से शिष्यगण आया करते थे। नारायण भट्ट के पुत्र शंकर भट्ट ने अपने पिता का जीवन-चरित्र लिखा है, जिसके अनुसार उनका जन्म १५१३ ई० में हुआ था। नारायण भट्ट अपने पिता के समान ही बड़े पण्डित हो गये। धीरे-धीरे भट्ट-कुल बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। नारायण भट्ट को जगद्‌गुरु की पदवी मिल गयी थी। भट्ट-कुल की परम्पराओं के कारण ही बनारस में दक्षिणी ब्राह्मण इतने प्रतिष्ठित हो सके और उनका लोहा सभी मानने लगे। नारायण भट्ट ने धर्मशास्त्र सम्बन्धी बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु, (प्रयाग, काशी तथा गया नामक तीर्थों के विषय में) एवं प्रयोगरत्न बहुत ही प्रसिद्ध हैं। अन्तिम पुस्तक में गर्भाधान से विवाह तक के सारे संस्कारों का वर्णन है। उन्होंने कई एक भाष्य भी लिखे हैं। नारायण भट्ट ने अपने पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा सारे भारतवर्ष के लेखकों को प्रभावित किया। उनकी कृतियों का काल १५४० से १५७० तक माना जाता है।

१०४. टोडरानन्द

अकबर बादशाह के वित्तमंत्री राजा टोडरमल ने धन एवं धर्म सम्बन्धी व्यवहार, ज्योतिष एवं औषधि पर एक बृहद् ग्रन्थ लिखा है। टोडरमल (टोडरानन्द) के विश्वकोश के कतिपय भाग, यथा—आचार, व्यवहार, दान, श्राद्ध, विवेक, प्रायश्चित्त, समय आदि सौख्य के नाम से विख्यात हैं। किसी एक सौख्य का कुछ संक्षिप्त विवरण दे देना अनुचित न होगा। व्यवहारसौख्य शिव की अभ्यर्थना से आरम्भ होकर पारसीक सम्राट् (अकबर) के विषय में चर्चा करता और व्यवहार-विधि के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालता है, यथा—कलहों के प्रति राजा के कर्त्तव्य, सभा, प्राड्विवाक, 'व्यवहार' शब्द का अर्थ, १८ व्यवहारपदों की परिगणना, व्यवहार के लिए समय एवं स्थान, अभियोग (भाषा), उत्तर, प्रतिनिधि, प्रत्याकलित आदि। प्रमुख स्मृतियों के अतिरिक्त कल्पतरु, पारिजात, भवदेव, मिताक्षरा, रत्नाकर, हरिहर एवं हलायुध का उल्लेख टोडरानन्द ने किया है। ग्रन्थ के कतिपय प्रकरण 'हर्ष' कहे गये हैं। विवाहसौख्य में २३ निबन्धकारों एवं निबन्धों के नाम आये हैं। श्राद्धसौख्य में श्राद्ध-सम्बन्धी बातें हैं। ज्योतिःसौख्य में ज्योतिष-सम्बन्धी विवेचन है और ग्रहों, नक्षत्रों, राशियों की व्याख्या है। ज्योतिःसौख्य की रचना सन् १५७२ ई० में हुई थी। टोडरमल, निस्सन्देह एक महान् विद्वान् ग्रन्थकार थे। वे एक कुशल सेनापति, मंत्री एवं राजनीतिज्ञ थे। वे जाति के खत्री थे। उनका जन्म अवध इलाके के लहरपुर में हुआ था और मृत्यु सन् १५८९ ई० में लाहौर में हुई।

१०५. नन्द पण्डित

नन्द पण्डित धर्मशास्त्र पर विस्तारपूर्वक लिखनेवाले एक धुरन्धर लेखक थे। उन्होंने पराशरस्मृति पर विद्वन्मनोहरा नामक टीका लिखी है। उन्होंने अपने भाष्य में लिखा है कि उन्होंने माधवाचार्य का सहारा लिया है। उन्होंने विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा पर एक संक्षिप्त भाष्य लिखा, जिसे प्रमिताक्षरा या प्रतीताक्षरा कहा जाता है। उन्होंने अपनी शुद्धिचन्द्रिका एवं वैजयन्ती में श्राद्धकल्पलता नामक कृति की चर्चा की है। उन्होंने गोविन्दपण्डित की श्राद्धदीपिका के ऋण का उल्लेख किया है। वे साधारण (सहारनपुर ?) के सहगिल कुल के परमानन्द के आश्रित थे। स्मृतियों पर उनका एक निबन्ध स्मृतिसिन्धु है, जिस पर, लगता है, उन्होंने स्वयं तत्त्वमुक्तावली नामक टीका लिखी।

नन्द पण्डित की एक प्रसिद्ध पुस्तक है वैजयन्ती या केशव-वैजयन्ती। यह विष्णुधर्मसूत्र पर एक भाष्य है। यह भाष्य उन्होंने अपने आश्रयदाता केशव नायक के आग्रह पर लिखा था, इसी से इसे केशव-वैजयन्ती भी कहा जाता है। वैजयन्ती में उनके छः ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है, यथा--विद्वन्मनोहरा, प्रमिताक्षरा, श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका, दत्तकमीमांसा। आधुनिक हिन्दू कानून की बनारसी शाखा में वैजयन्ती का प्रमुख हाथ रहा है।

नन्द पण्डित ने यद्यपि मिताक्षरा का अनुसरण किया है, किन्तु उन्होंने स्थान-स्थान पर इसके लेखक विज्ञानेश्वर का खण्डन भी किया है। नन्द पण्डित की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है दत्तक-मीमांसा, जिसमें गोद लेने पर पूर्ण विवेचन है। इस पुस्तक की चर्चा आधुनिक युग में पर्याप्त रूप से हुई है। अंग्रेजी प्रभुत्व के काल में प्रिवी कौंसिल तक इसका हवाला दिया जाता रहा है। नन्द पण्डित के जीवनचरित के विषय में हमें कुछ संकेत मिलता है। नन्द पण्डित दक्षिणी थे और उनके पूर्वपुरुष दक्षिण से ही बनारस आये थे। नन्द पण्डित कभी-कभी बहुत-से आश्रयदाताओं के यहाँ आते-जाते रहते थे, जैसा कि उनकी कतिपय कृतियों के लेखन-स्थान से पता चलता है। उन्होंने साधारण (सहारनपुर ?) के सहगिल कुल के परमानन्द के आग्रह पर श्राद्धकल्पलता का, महेन्द्रकुल के हरिवंशवर्मा के आग्रह पर स्मृतिसिन्धु का एवं मधुरा (मदुरा) के केशव नायक के आग्रह पर वैजयन्ती का प्रणयन किया। श्री मण्डलिक के मतानुसार उन्होंने १३ पुस्तकें लिखी हैं।

नन्द पण्डित की वैजयन्ती, सम्भवतः, उनकी अन्तिम कृति थी। इसकी रचना बनारस में सन् १६२३ ई० में हुई। अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि उनकी कृतियों का रचनाकाल १५९५ ई० से १६३० ई० तक है।

१०६. कमलाकर भट्ट

कमलाकर भट्ट भट्ट-कुल के प्रसिद्ध भट्टों में गिने जाते हैं। वे नारायण भट्ट के पुत्र रामकृष्ण भट्ट के पुत्र थे। कमलाकर भट्ट बड़े ही उद्भट विद्वान् थे। उन्होंने सभी शास्त्रों पर कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा। वे तर्क, न्याय, व्याकरण, मीमांसा (कुमारिल एवं प्रभाकर की दोनों शाखाओं में), वेदान्त, साहित्य-शास्त्र, धर्मशास्त्र एवं वैदिक यज्ञों के मर्मज्ञ थे। उनके विवादताण्डव में यह उल्लिखित है कि उन्होंने कुमारिल-कृत मीमांसा (शास्त्रतत्त्व) के वार्तिक पर निर्णयसिन्धु नामक एक भाष्य लिखा। इसके अतिरिक्त उन्होंने २० पुस्तकें लिखीं, ऐसा भी विवादताण्डव में आया है। कहीं-कहीं उनके २२ ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इनमें आधी पुस्तकों का सम्बन्ध है धर्मशास्त्र-सम्बन्धी बातों से, यथा—निर्णयसिन्धु, दानकमलाकर, शान्तिरत्न, पूर्तकमलाकर, व्रतकमलाकर, प्रायश्चित्तरत्न, विवादताण्डव, बह्वृचाह्निक, गोत्रप्रवरदर्पण, कर्मविपाकरत्न, शूद्रकमलाकर, सर्वतीर्थविधि। इनमें शूद्रकमलाकर, विवादताण्डव एवं निर्णयसिन्धु अति ही प्रसिद्ध रहे हैं। इन कृतियों का वर्णन करना यहाँ सम्भव

नहीं है। केवल शूद्रकमलाकर (शूद्र-धर्मतत्त्व या शूद्रधर्मतत्त्वप्रकाश) पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है। आरम्भ में ही ऐसा आया है कि शूद्र वेदाध्ययन नहीं कर सकते। वे ब्राह्मणों द्वारा स्मृतियों, पुराणों आदि का केवल पाठ सुन सकते हैं। उनकी धार्मिक क्रियाएँ पौराणिक मन्त्रों द्वारा सम्पादित होनी चाहिए। इसके अन्य विषय हैं—विष्णु-पूजा, अन्य देवताओं की पूजा, व्रत, उपवास। जनकल्याण के कार्यों (पूर्त) में शूद्र दान दे सकता है, शूद्र गोद ले सकता है, शूद्रों के लिए बिना वैदिक मन्त्रों के संस्कारों के विषय में विविध मत, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, शिशुनिष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विवाह नामक संस्कार, पंचमहायज्ञ (वाजसनेयी शाखा के अनुसार), श्राद्ध (बिना पकाये अन्न द्वारा), वर्जितावर्जित कर्म, कतिपय क्रिया-संस्कारों का विवेचन, आह्निक-कृत्य, जन्म-मरण पर अशुद्धि, अन्त्येष्टि क्रिया, पत्नियों एवं विधवाओं के कर्त्तव्य, वर्णसंकर, प्रतिलोम सम्बन्ध से उत्पन्न लोगों के विषय में विधि, कायस्थों के विषय में।

कमलाकर भट्ट के ग्रन्थों में निर्णयसिन्धु या निर्णयकमलाकर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह विद्वत्ता, परिश्रम एवं मनोहरता का प्रतीक है। यह एक अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता रहा है। नीलकण्ठ एवं मित्रमिश्र को छोड़कर किसी अन्य धर्मशास्त्रकार ने इतने ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का उल्लेख नहीं किया है। आश्चर्य है, कमलाकर भट्ट ने इतने ग्रन्थ कैसे एकत्र किये और पढ़े। उन्होंने लगभग १०० स्मृतियों एवं ३०० से अधिक निबन्धकारों का उल्लेख किया है। निर्णयसिन्धु तीन परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें जो विषय आये हैं, उन्हें संक्षिप्त रूप से यों लिखा जा सकता है—विविध धार्मिक कृत्यों के उचित समयों के विषय में निश्चित मत देना ही प्रमुख विषय है; सौर आदि मास; चान्द्र महीनों के चार प्रकार, यथा—सौर, चान्द्र आदि; संक्रान्ति कृत्य एवं दान; मलमास, क्षयमास, तिथियों के विषय में; शुद्धा एवं विद्धा; व्रत, साल के विविध व्रत एवं उत्सव; गर्भाधान आदि विविध संस्कार; सपिण्ड-सम्बन्ध; मूर्ति-प्रतिष्ठा; बोने, अश्व-क्रय आदि के लिए मुहूर्त; श्राद्ध; जन्म-मरण पर अशुद्धि; मृत्यूपरान्त कृत्य, सती-कृत्य; संन्यास।

कमलाकर भट्ट का काल भली-भाँति ज्ञात किया जा सकता है। निर्णयसिन्धु की रचना १६१२ ई० में हुई थी, और यह कृति उनके आरम्भिक ग्रन्थों में गिनी जा सकती है। उन्होंने बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं, अतः १६१० से १६४० तक का समय उनका रचना-काल माना जा सकता है।

१०७. नीलकण्ठ भट्ट

नीलकण्ठ नारायण भट्ट के पौत्र एवं शंकर भट्ट के पुत्र थे। शंकर भट्ट एक उद्भट मीमांसक थे। उन्होंने मीमांसा पर शास्त्रदीपिका, विधिरसायनदूषण, मीमांसाबालप्रकाश नामक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने द्वैतनिर्णय, धर्मप्रकाश या सर्वधर्मप्रकाश नामक धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखा है। नीलकण्ठ ने यमुना और चम्बल के संगम के भरेह नामक स्थान के सेंगरवंशी बुन्देल सरदार भगवन्तदेव के सम्मान में भगवन्तभास्कर नामक धार्मिक ग्रन्थ लिखा, जो १२ मयूखों (प्रकरणों) में है, यथा—संस्कार, आचार, काल, श्राद्ध, व्यवहार, दान, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा, प्रायश्चित्त, शुद्धि एवं शान्ति। नीलकण्ठ ने व्यवहारमयूख का एक संक्षिप्त संस्करण भी व्यवहारतत्त्व के नाम से प्रकाशित किया।

नीलकण्ठ प्रसिद्ध निबन्धकारों में गिने जाते हैं। वे मीमांसकों के कुल के थे, अतः धर्मशास्त्र में मीमांसा के नियमों के प्रयोगों के वे बड़े ही सफल लेखक हुए हैं। लेखन-शैली, माधुर्य, विद्वत्ता एवं स्मृति-ज्ञान में वे माध्यमिक काल के सभी धर्मशास्त्रकारों में सर्वश्रेष्ठ हैं। यद्यपि उन्होंने विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि आदि की प्रशंसा

की है, किन्तु वे किसी का अन्धानुकरण करते नहीं दिखाई पड़ते। पश्चिमी भारत के कानून में उनका व्यवहार-मयूख प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता रहा है।

नीलकण्ठ शंकर भट्ट के कनिष्ठ पुत्र थे और शंकर भट्ट ने अपने द्वैतनिर्णय में टोडरानन्द के मतों का उल्लेख किया है और हमें टोडरानन्द की तिथि ज्ञात है। उन्होंने सन् १५७०-१५८९ ई० के बीच अपनी कृतियाँ उपस्थित कीं, अतः द्वैतनिर्णय १५९० ई० के पूर्व प्रणीत नहीं हो सकता। नीलकण्ठ शंकर भट्ट के कनिष्ठ पुत्र होने के नाते कमलाकर भट्ट से पहले लिखना नहीं आरम्भ कर सकते। कमलाकर ने अपना निर्णयसिन्धु सन् १६१२ ई० में लिखा। अतः नीलकण्ठ का लेखन-काल सन् १६१० ई० के उपरान्त ही आरम्भ हुआ होगा। व्यवहारतत्त्व की एक प्रतिलिपि की तिथि १६४४ ई० है। इससे स्पष्ट है कि वह ग्रन्थ इस तिथि के पूर्व ही प्रणीत हो चुका था। स्पष्ट कहा जा सकता है कि उसका रचना-काल १६१० एवं १६४५ ई० के मध्य है।

१०८ मित्रमिश्र का वीरमित्रोदय

मित्रमिश्र का वीरमित्रोदय धर्मशास्त्र के लगभग सभी विषयों पर एक बृहद् निबन्ध है। सम्भवतः हेमाद्रि के चतुर्वर्गचिन्तामणि को छोड़कर धर्मशास्त्र-सम्बन्धी कोई अन्य ग्रन्थ इतना मोटा नहीं है। वीरमित्रोदय में व्यवहार पर भी विवेचन है, अतः यह चतुर्वर्गचिन्तामणि से उपयोगिता में बाजी मार ले जाता है। यह कई प्रकाशों में विभाजित है। लक्षणप्रकाश में पुरुषों, नारियों, मानव तन के विविध अंगों, हाथियों, अश्वों, सिंहासनों, तलवारों, धनुषों के शुभ लक्षणों, रानियों, मन्त्रियों, ज्योतिषियों, वैद्यों, द्वारपालों की विशिष्टताओं, शालग्राम, शिवलिंग, रुद्राक्ष के दानों आदि का विवेचन है। इतना केवल एक प्रकाश में पाया जाता है। इसी से हम वीरमित्रोदय के आकार एवं उपयोगिता का अनुमान लगा सकते हैं।

मित्रमिश्र ने अपने सभी ग्रन्थों में सैकड़ों ग्रन्थकारों एवं ग्रन्थों के मतों का उल्लेख किया है। व्यवहार के प्रकरण में मित्रमिश्र ने अपने पूर्व के लेखकों के मतों का उद्घाटन करके अपने मत प्रकाशित किये हैं। मित्रमिश्र वाद-विवाद में नीलकण्ठ से कई श्रेणी आगे बढ़ गये हैं। हिन्दू कानून की बनारसी शाखा में वीरमित्रोदय का प्रभूत महत्त्व रहा है। मित्रमिश्र ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक भाष्य भी लिखा है। इन्होंने अपना इतिहास भी दिया है, जो इनके वीरमित्रोदय के आरम्भ में उल्लिखित है। ये हंसपंडित के पौत्र एवं परशुराम पण्डित के पुत्र थे। हंसपण्डित गोपाचल (ग्वालियर) के निवासी थे। मित्रमिश्र ने वीरसिंह के आदेश से वीरमित्रोदय की रचना की थी। वीरसिंह एक बहादुर राजपूत थे। उन्होंने ओरछा एवं दतिया के प्रासादों का निर्माण कराया था। वीरसिंह ने ओरछा में सन् १६०५ से १६२७ तक राज्य किया था, अतः मित्रमिश्र का रचनाकाल १७वीं शताब्दी का प्रथम चरण था।

१०९. अनन्तदेव

अनन्तदेव ने स्मृतिकौस्तुभ नामक एक निबन्ध लिखा, जिसमें संस्कार, आचार, राजधर्म, दान, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा, तिथि एवं संवत्सर नामक सात प्रकरण हैं। संस्कार एवं राजधर्म वाले प्रकरण संस्कारकौस्तुभ एवं राजधर्मकौस्तुभ कहे जाते हैं। प्रत्येक प्रकरण दीधितियों या किरणों में विभक्त है। संस्कारकौस्तुभ उनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसका आधुनिक न्यायालयों में पर्याप्त आदर रहा है। इसकी विषय-सूची संक्षिप्त रूप से यों है— सोलह संस्कार; गर्भाधान (प्रथम); मासिकधर्म के प्रथम आगमन पर ज्योतिष-सम्बन्धी विवेचन एवं उसके उपरान्त शमनार्थ कृत्य; गर्भाधान का उचित काल एवं तत्सम्बन्धी कतिपय कृत्य; पुण्याहवाचन, नान्दीश्राद्ध, मातृका-

पूजन, नारायणबलि एवं नागबलि; पञ्चगव्य, कृच्छ्र एवं अन्य प्रायश्चित्त; चान्द्रायणव्रत; किसे गोद लिया जाय, कौन गोद लिया जा सकता है, गोद-सम्बन्धी कृत्य, दत्तक का गोत्र एवं सपिण्ड, दत्तक द्वारा परिदेवन (विलाप), दत्तक का उत्तराधिकार; पुत्रकामेष्टि, पुसवन; अनवलोभन, सीमन्तोन्नयन; सन्तानोत्पत्ति पर कृत्य; जन्म पर अशुद्धि; जन्म पर अशुभ रूपों के शमनार्थ कृत्य; नामकरण; निष्क्रमण; अन्नप्राशन; कर्णछेदन; जन्मदिनोत्सव; चौल; उपनयन; इसके लिए उचित काल, उचित सामग्री, गायत्री, ब्रह्मचर्य-व्रत; समावर्तन; विवाह; इसके लिए सपिण्ड, गोत्र एवं प्रवर, विवाह के लिए उचित काल; विवाह-प्रकरण, वाग्निश्चय, सीमन्तपूजन, मधुपर्क, कन्यादान, विवाहहोम, सप्तपदी, दम्पति-प्रवेश पर होम।

संस्कारकौस्तुभ का एक अंश दत्तकदीधिति कभी-कभी पृथक् रूप से भी उल्लिखित मिलता है। सचमुच, यह अंश महत्त्वपूर्ण है और इसका अध्ययन दत्तकमीमांसा, व्यवहारमयूख तथा अन्य तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के साथ होना चाहिए।

निर्णयसिन्धु एवं नीलकण्ठ के मयूखों के समान अनन्तदेव ने अपने संस्कारकौस्तुभ में सैकड़ों लेखकों एवं ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उन्होंने विशेषतः मिताक्षरा, अपरार्क, हेमाद्रि, माधव, मदनरत्न, मदनपारिजात का सहारा लिया है।

अनन्तदेव ने अपने आश्रयदाता के वंश का वर्णन किया है। बाजबहादुर उनके आश्रयदाता थे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने यह निबन्ध लिखा। अनन्तदेव ने अपने बारे में लिखा है कि वे महाराष्ट्र सन्त एकनाथ के वंशज थे। अनन्तदेव सम्भवतः १७वीं शताब्दी के तृतीय चरण में हुए थे, जैसा कि उनके आश्रयदाता बाजबहादुर तथा उनके पूर्वज एकनाथ की तिथियों से प्रकट होता है।

११०. नागोजिभट्ट

नागोजिभट्ट एक परम उद्भट विद्वान् थे। वे सभी प्रकार की विद्याओं के आचार्य थे। यद्यपि उनका विशिष्ट ज्ञान व्याकरण में था, किन्तु उन्होंने साहित्य-शास्त्र, धर्मशास्त्र, योग तथा अन्य शास्त्रों पर भी अधिकारपूर्वक लिखा है। उनके तीस ग्रन्थ अब तक प्राप्त हो सके हैं। आचारेन्दुशेखर, अशौचनिर्णय, तिथीन्दुशेखर, तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर या प्रायश्चित्तसारसंग्रह, श्राद्धेन्दुशेखर, सपिण्डीमञ्जरी एवं सापिण्ड्यदीपक या सापिण्ड्यनिर्णय उनके धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। हम यहाँ पर उनके ग्रन्थों के विषय में कुछ न कह सकेंगे।

नागोजिभट्ट महाराष्ट्र ब्राह्मण थे, उनकी उपाधि थी काल (काले)। वे प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित की परंपरा में हुए थे। उनके आश्रयदाता थे प्रयाग के समीप शृंगवेरपुर के विसेनकुल के राम नामक राजा। नागोजिभट्ट भट्टोजिदीक्षित के पौत्र के शिष्य थे और भट्टोजिदीक्षित १७वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में हुए थे। नागोजिभट्ट ने कम-से-कम ५० वर्ष व्यतीत किये होंगे अपने लेखन-कार्य में। अतः भट्टोजिदीक्षित के लगभग एक शताब्दी उपरान्त ही उनकी मृत्यु हुई होगी। अतः हम उन्हें १८वीं शताब्दी के आरम्भ में तो रख ही सकते हैं।

१११. बालकृष्ण या बालम्भट्ट

लक्ष्मीव्याख्यान उर्फ बालम्भट्टी विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा पर एक भाष्य हैं। कहा जाता है कि यह लक्ष्मीदेवी नामक एक नारी द्वारा प्रणीत है। यह एक बृहद् ग्रन्थ है, किन्तु बहुत ही ऊबड़-खाबड़ ढंग से प्रस्तुत किया गया है। बालम्भट्टी में अनेक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के नाम आये हैं। कुछ नाम ये हैं--निर्णयसिन्धु, वीरमित्रोदय, नीलकण्ठ का मयूख, संस्कारकौस्तुभ, नीलकण्ठ के भतीजे सिद्धेश्वरभट्ट, मीमांसासूत्र पर भाट्टदीपिका के लेखक खण्डदेव, गागाभट्ट कृत कायस्थधर्मप्रदीप आदि।

बालम्भट्टी के लेखक को बताना पहेली बूझना है। शीला, विज्जा, अवन्तिसुन्दरी की गणना कविता-प्रणयिनियों में होती है। इसी प्रकार कहा जाता है कि लीलावती नामक एक नारी ने गणित-शास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा। धर्मशास्त्र-सम्बन्धी कृतियों के लिए रानियों एवं राजकुमारियों से भी प्रेरणाएँ मिलती रही हैं, यथा मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र लक्ष्मीदेवी का प्रेरणा-फल है, विद्यापति के द्वारा मिथिला की महादेवी धीरमती ने दानवाक्यावलि का संग्रह कराया, भैरवेन्द्र की रानी जया के आग्रह से वाचस्पति मिश्र ने द्वैतनिर्णय का प्रणयन किया। यह सन्तोष का विषय है कि एक नारी ने ही 'बालम्भट्टी' नामक एक धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा है। बालम्भट्टी के आरम्भ में ऐसा आया है कि लक्ष्मी पायगुण्डे की पत्नी, मुद्गल गोत्र के तथा खेरडा उपाधि वाले महादेव की पुत्री थी और उसका एक दूसरा नाम था उमा। आचार-भाग के अन्त में आया है कि इसकी लेखिका लक्ष्मी महादेव एवं उमा की पुत्री है, वैद्यनाथ पायगुण्डे की पत्नी है एवं बालकृष्ण की माता है। लक्ष्मी ने नारियों के स्वत्वों की भरपूर रक्षा करने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह बात सभी स्थानों पर नहीं पायी जाती और स्थान-स्थान पर नागोजिभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे के ग्रन्थ मञ्जूषा तथा लेखक के गुरु एवं पिता के ग्रन्थों की चर्चा पायी जाती है। इससे यह सिद्ध हो सकता है कि बालम्भट्टी नामक ग्रन्थ या तो स्वयं वैद्यनाथ का लिखा हुआ है और उन्होंने अपनी स्त्री का नाम दे दिया है, या यह उनके पुत्र बालकृष्ण उर्फ बालम्भट्ट द्वारा लिखा हुआ है और माता का नाम दे दिया गया है। वैधनाथ एवं बालकृष्ण दोनों प्रसिद्ध लेखक थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सम्भवतः बालकृष्ण ने बालम्भट्टी का प्रणयन किया है। वे दक्षिणी ब्राह्मण थे। बालकृष्ण पाश्चात्य विद्वान् कोलब्रुक के शब्दों में एक पण्डित थे। बालकृष्ण को बालम्भट्ट भी कहा गया है। इनका काल १७३० एवं १८२० ई० के बीच में कहा जा सकता है।

११२. काशीनाथ उपाध्याय

काशीनाथ उपाध्याय ने धर्मसिन्धुसार या धर्माब्धिसार नामक एक बृहद् ग्रन्थ लिखा है। इन्हें बाबा पाध्ये भी कहा जाता है। इनका धर्मसिन्धुसार आधुनिक दक्षिण में परम प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, विशेषतः धार्मिक बातों में। उन्होंने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती निबन्धों को पढ़कर निर्णयसिन्धु में वर्णित विषयों के आधार पर केवल सार-तत्त्व दिया है और मौलिक स्मृतियों के वचनों को त्याग दिया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि उनका ग्रन्थ मीमांसा एवं धर्मशास्त्रों के विद्वानों के लिए नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें तीसरा बृहत् है और दो भागों में विभाजित है।

काशीनाथ उद्भट विद्वान् थे। वे शोलापुर जिले के पंढरपुर के बिठोवा देवता के परम भक्त थे। उन्होंने धर्मसिन्धुसार के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी लिखे हैं, यथा प्रायश्चित्तशेखर, विट्ठल-ऋग्मन्त्रसारभाष्य आदि। काशीनाथ के विषय में बहुत-सी बातें ज्ञात हैं। मराठी कवि मोरो पन्त ने इनका जीवन-चरित लिखा है। ये कर्हाडे ब्राह्मण थे और रत्नागिरि जिले के गोलावली ग्राम के निवासी थे। धर्मसिन्धुसार का प्रणयन १७९० ई० में हुआ था। वे कवि मोरो पन्त के सम्बन्धी थे। उनकी पुत्री आवड़ी का विवाह मोरो पन्त के द्वितीय पुत्र से हुआ था। वे अन्त में संन्यासी हो गये थे और सन् १८०५-६ ई० में स्वर्गवासी हुए।

११३. जगन्नाथ तर्कपंचानन

जब बंगाल में अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया तो हिन्दू कानून के विषय में सुलभ निबन्धों के संग्रह का प्रयत्न किया जाने लगा। वारेन हेस्टिंग्स के काल में १७७३ ई० मे विवादार्णवसेतु प्रणीत हुआ। सन् १७८९ ई० में सर विलियम जोंस की प्रेरणा से त्रिवेदी सर्वोरु शर्मा ने ९ तरंगों (भागों) में विवादसारार्णव नामक निबन्ध लिखा। किन्तु

इन प्रयत्नों में सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न था विवादभंगार्णव का, जो रुद्र तर्कवागीश के पुत्र जगन्नाथ तर्कपंचानन द्वारा प्रणीत हुआ। सर विलियम जोंस ने ही इसके लिए आग्रह किया था। कोलब्रुक ने इसका अनुवाद सन् १७९६ ई० में तथा प्रकाशन सन् १७९७ ई० में किया। यह निबन्ध द्वीपों में तथा प्रत्येक द्वीप रत्नों में बँटा हुआ है। जगन्नाथ तर्कपंचानन की मृत्यु १११ वर्ष की आयु में, सन् १८०६ ई० में हुई। बंगाल में इनकी कृति बहुत प्रामाणिक रही है, किन्तु पश्चिमी भारत में वह कोई विशिष्ट स्थान नहीं प्राप्त कर सकी।

११४. निष्कर्ष

गत पृष्ठों में धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का बहुत ही संक्षेप में वर्णन उपस्थित किया गया है। वास्तव में, धर्मशास्त्र पर इतने ग्रन्थ हैं कि उन्हें एक सूत्र में बाँधना बडा दुस्तर कार्य है। गत पृष्ठों में लगभग २५०० वर्षों के धर्मशास्त्रकारों एवं उनके ग्रन्थों का जो लेखा-जोखा बहुत थोड़े में उपस्थित किया गया है, उससे स्पष्ट है कि हमारे धर्मशास्त्रकारों ने हिन्दू समाज को धार्मिक, नैतिक, कानूनी आदि सभी मामलों में एक सूत्र में बाँध रखना चाहा है। उन्होंने प्रत्येक जाति के सदस्यों एवं प्रत्येक व्यक्ति को आर्य समाज का अविच्छेद्य अंग माना है, कहीं भी व्यक्तिगत स्वत्वों को सम्पूर्ण समाज के ऊपर नहीं माना। यदि ऐसा नहीं किया गया होता तो आर्य जाति या आर्य समाज बाह्य आक्रमणों एवं विविध कालों की मार एवं चपेट से छिन्न-भिन्न हो गया होता। धर्मशास्त्रकारों ने आर्य सभ्यता एवं संस्कृति को बाह्य शासकों की कट्टर धार्मिकता के प्रभाव से अक्षुण्ण रखा। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी कालान्तर के कुछ धर्मशास्त्रकारों ने धार्मिक मामलों में तर्क से काम लिया है और पृथक्त्व, वैभिन्न्य एवं पक्षपात का प्रदर्शन किया है, किन्तु ऐसे लेखकों की चली नहीं, क्योंकि केन्द्रीय शासन से उनका सीधा सम्पर्क कभी नहीं था, अन्यथा अनर्थ हो गया होता, क्योंकि राजाओं की छत्रच्छाया में उनकी बातें मनमाने रूप में प्रतिफलित होतीं और पृथक्त्ववाद का विषवृक्ष विकराल रूप में उभर पड़ता। संयोग से ऐसा हो नहीं पाया, क्योंकि बाहरी शासकों को भारतीय संस्कृति से कोई प्रेम या भक्ति नहीं रही। इस छोटे दोष के अतिरिक्त धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के महार्णव में मोती ही मोती भरे पड़े हैं। भारतीय संस्कृति के स्वरूपों को सूत्रों में पिरोकर रखनेवाले धर्मशास्त्रकारों को कोटिशः प्रणाम।

द्वितीय खण्ड

वर्ण, आश्रम, संस्कार, आह्निक, दान, प्रतिष्ठा, श्रौत यज्ञादि

अध्याय १

धर्मशास्त्र के विविध विषय

अति प्राचीन काल से ही धर्मशास्त्र के अन्तर्गत बहुत-से विषयों की चर्चा होती रही है। गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में मुख्यतः निम्नलिखित विषयों का अधिक या कम विवेचन होता रहा है—कतिपय वर्ण (वर्ग); आश्रम, उनके विशेषाधिकार, कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व; गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक के संस्कार; ब्रह्मचारी-कर्त्तव्य (प्रथम आश्रम); अनध्याय (अवकाश के दिन, जब वेदाध्ययन नहीं होता था); स्नातक (जिसका प्रथम आश्रम समाप्त हो जाता था) के कर्तव्य; विवाह एवं तत्सम्बन्धी अन्य बातें; गृहस्थ-कर्तव्य (द्वितीय आश्रम); शौच; पञ्च महायज्ञ; दान; भक्ष्याभक्ष्य; शुद्धि, अन्त्येष्टि; श्राद्ध; स्त्रीधर्म; स्त्रीपुंसधर्म; क्षत्रियों एवं राजाओं के धर्म; व्यवहार (कानून-विधि, अपराध, दण्ड, साझा, बँटवारा, दायभाग, गोद लेना, जुआ आदि); चार प्रमुख वर्ण, वर्णसंकर तथा उनके व्यवसाय; आपद्धर्म; प्रायश्चित्त; कर्मविपाक; शान्ति; वानप्रस्थ-कर्त्तव्य (तृतीय आश्रम); संन्यास (चतुर्थ आश्रम)। इन विषयों की चर्चा सभी धर्मसूत्रों ने एक समान ही नहीं की है, और न सबको एक सिलसिले में रखा है; किसी में कोई विषय मध्य में है तो वही किसी में अन्त में है। धर्मशास्त्र-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों में व्रतों, उत्सर्गों एवं प्रतिष्ठा (जन-कल्याण के लिए मन्दिर, धर्मशाला, पुष्करिणी आदि का निर्माण), तीर्थों, काल आदि का सविस्तर वर्णन हुआ है। किन्तु धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों ने इन पर बहुत ही हलका प्रकाश डाला है।

उपर्युक्त विषयों पर दृष्टिपात करने से विदित हो जाता है कि प्राचीन काल में धर्म-सम्बन्धी धारणा बड़ी व्यापक थी और वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करती थी। धर्मशास्त्रकारों के मतानुसार **धर्म** किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण-संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर धर्म को दो भागों में बाँटा गया; यथा **श्रौत** एवं **स्मार्त**। श्रौत धर्म में उन कृत्यों एवं संस्कारों का समावेश था, जिनका प्रमुख सम्बन्ध वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों से था; यथा तीन पवित्र अग्नियों की प्रतिष्ठा, पूर्णमासी एवं अमावास्या के यज्ञ, सोमकृत्य आदि। स्मार्त धर्म में उन विषयों का समावेश था जो विशेषतः स्मृतियों में वर्णित हैं तथा वर्णाश्रम से सम्बन्धित हैं।[1] इस ग्रन्थ में प्रमुखतः स्मार्त धर्म का ही विवेचन उपस्थित किया जायगा। श्रौत धर्म के विषय में अनुक्रमणिका में संक्षेपतः वर्णन कर दिया जायगा।

१. दाराग्निहोत्रसम्बन्धमिज्या श्रौतस्य लक्षणम्। स्मार्तो वर्णाश्रमाचारो यमैश्च नियमैर्युतः॥ मत्स्यपुराण १४४।३०-३१; वायुपुराण ५९।३१-३२ एवं ३९; अग्न्याधानादिपूर्वकोऽधीतप्रत्यक्षवेदमूलो दर्शपूर्णमासादिः श्रौतः। अनुमितपरोक्षशाखामूलः शौचाचमनादिः स्मार्तः। परा० मा० १। भाग १, पृ० ६४।

कुछ ग्रन्थों में 'धर्म' को **श्रौत** (वैदिक), **स्मार्त** (स्मृतियों पर आधारित) एवं **शिष्टाचार** (शिष्ट या भले लोगों के आचार-व्यवहार) नामक भागों में बाँटा गया है।[२] एक अन्य विभाजन के अनुसार 'धर्म' के छः प्रकार हैं—**वर्णधर्म** (यथा, ब्राह्मण को कभी सुरापान नहीं करना चाहिए), **आश्रमधर्म** (यथा, ब्रह्मचारी का भिक्षा माँगना एवं दण्ड ग्रहण करना), **वर्णाश्रमधर्म** (यथा, ब्राह्मण ब्रह्मचारी को पलाश वृक्ष का दण्ड ग्रहण करना चाहिए), **गुणधर्म** (यथा, राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए), **नैमित्तिक धर्म** (यथा, वर्जित कार्य करने पर प्रायश्चित्त करना), **साधारण धर्म** (जो सबके लिए समान हो, यथा, अहिंसा एवं अन्य साधु वृत्तियाँ)।[३] मेधातिथि ने **साधारण धर्म** को छोड़ दिया है और पाँच प्रकारों का ही उल्लेख किया है (मनु० २।२५)। हेमाद्रि ने भविष्यपुराण से उद्धरण देकर छः प्रकारों का वर्णन किया है। एक बात विचारणीय यह है कि सभी सूचियों में वर्ण एवं आश्रम की चर्चा है और सभी स्थानों पर, विशेषतः प्रमुख स्मृतियों में, ऋषियों एवं मुनियों ने धर्मशास्त्रकारों से वर्णों एवं आश्रमों के विषयों में विवेचन करने की प्रार्थना की है।

सामान्य धर्म

धर्मशास्त्र के विषयों की चर्चा एवं विवेचन के पूर्व मानव के सामान्य धर्म की व्याख्या अपेक्षित है। धर्मशास्त्रकारों ने आचार-शास्त्र के सिद्धान्तों का सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन उपस्थित नहीं किया है और न उन्होंने कर्तव्य, सौख्य या पूर्णता (परम विकास) की धारणाओं का सूक्ष्म एवं अवहित विश्लेषण ही उपस्थित किया है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि धर्मशास्त्रकारों ने आचार-शास्त्र के सिद्धान्तों को छोड़ दिया है अथवा उन पर कोई ऊँचा चिन्तन नहीं किया है। अति प्राचीन काल से सत्य को सर्वोपरि कहा गया है; ऋग्वेद (७।१०४।१२) में आया है—सत्य वचन एवं असत्य वचन में प्रतियोगिता चलती है। सोम दोनों में जो सत्य है, जो ऋजु (आर्जव) है उसी की रक्षा करता है और असत्य का हनन करता है।[४] ऋग्वेद में ऋत की जो मान्यता है वह बहुत ही उदात्त एवं उत्कृष्ट है और उसी में के धर्म के नियमों के सिद्धान्त समाविष्ट हैं। शतपथ ब्राह्मण में आता है—अतः मनुष्य सत्य के अतिरिक्त कुछ और न बोले।[५] तैत्तिरीयोपनिषद् में समावर्तन नामक संस्कार के समय गुरु शिष्य से कहता है—'सत्यं वद। धर्मं चर (१।११।१)।' छान्दोग्योपनिषद् (३।१७) में दक्षिणा पाँच प्रकार की कही गयी है; तपों के पाँच गुण-विशेष, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन। बृहदारण्यकोपनिषद् ने कहा है कि व्यावहारिक जीवन में सत्य एवं धर्म दोनों

२. वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः। शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः॥ अनुशासनपर्व १४१।६५; वनपर्व २०७।८३ 'वेदोक्त...धर्मशास्त्रेषु चापरः। शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्॥' देखिए, शान्तिपर्व ३५४।६; और देखिए, 'उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्।.....स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः।' बौ० ध० सू० १।१।१-४।

३. इह पञ्चप्रकारो धर्म इति विवरणकाराः प्रपञ्चयन्ति। मेधातिथि—मनुस्मृति २।२५, अत्र च धर्मशब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः, तद्यथा—वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो गुणधर्मो निमित्तधर्मः साधारणधर्मश्चेति। मिताक्षरा याज्ञवल्क्यस्मृति पर १।१।

४. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ ऋ० ७।१०४।१२।

५. तुलना कीजिए, शतपथ ब्रा० १।१।१।१, 'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति' तथा १।१।१।५ 'स वै सत्यमेव वदेत्।'

समान हैं। इसी उपनिषद् में एक अति उदात्त स्तुति है—'असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।'[६] मुण्डकोपनिषद् में केवल सत्य के विजय की प्रशंसा की गयी है। बृहदारण्यकोपनिषद् ने सबके लिए दम (आत्म-निग्रह), दान एवं दया नामक तीन प्रधान गुणों का वर्णन किया है (तस्मादेतत्त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति—बृ० उ०, ५।२।३)। छान्दोग्योपनिषद् कहती है कि ब्रह्म का संसार सभी प्रकार के दुष्कर्मों से रहित है, और केवल वही, जिसने ब्रह्मचारी विद्यार्थियों के समान जीवन बिताया है, उसमें प्रवेश पा सकता है। इस उपनिषद् ने (५।१०) पाँच पापों की भर्त्सना की है—सोने की चोरी, सुरापान, ब्रह्महत्या, गुरु-शय्या को अपवित्र करना तथा इन सबके साथ सम्बन्ध। कठोपनिषद् में आत्म-ज्ञान के लिए दुराचरण-त्याग, मनःशान्ति, मनोयोग आवश्यक बताये गये हैं।[७] उद्योगपर्व (४३।२०) में ब्राह्मणों के लिए १२ व्रतों (आचरण-विधियों) का वर्णन है। इस (२२।२५) में दान्त (आत्म-संयमित) का उल्लेख हुआ है। शान्तिपर्व (१६०) में दम की महिमा गायी गयी है। महाभारत के इसी पर्व (१६२।७) में सत्य के १३ स्वरूपों का वर्णन है और मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा, सदिच्छा एवं दान अच्छे पुरुषों के शाश्वत-धर्म कहे गये हैं।[८] गौतमधर्मसूत्र ने दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकार्पण्य, अस्पृहा नामक आठ आत्मगुणों वाले मनुष्यों को ब्रह्मलोक के योग्य ठहराया है और कहा है कि ४० संस्कारों के करने पर भी यदि ये आठ गुण नहीं आये तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं हो सकती। हरदत्त ने भी इन गुणों का वर्णन किया है। अत्रि (३४-४१), अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि, पराशरमाधवीय आदि में ऐसा ही उल्लेख है। मत्स्य (५२।८-१०), वायु (५९।४०-४९), मार्कण्डेय (६१.६६), विष्णु (३।८ ३५-३७) आदि पुराणों ने इसी प्रकार के गुणों को थोड़े अन्तर से बताया है। वसिष्ठ (१०।३०) ने चुगलखोरी, ईर्ष्या, घमण्ड, अहंकार, अविश्वास, कपट, आत्म-प्रशंसा, दूसरों को गाली देना, प्रवञ्चना, लोभ, अपबोध, क्रोध, प्रतिस्पर्धा छोड़ने को सभी आश्रमों का धर्म कहा है और (३०।१) आदेशित किया है कि 'सचाई का अभ्यास करो अधर्म का नहीं, सत्य बोलो असत्य नहीं, आगे देखो पीछे नहीं, उदात्त पर दृष्टि फेरो अनुदात्त पर नहीं।' आपस्तम्ब ने गुणों एवं अवगुणों की सूची दी है (आपस्तम्ब ध० सू० १।८।२३।३-६)। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि गौतम एवं अन्य धर्मशास्त्रकारों के मतानुसार यज्ञ-कर्म तथा अन्य शौच एव शुद्धि सम्बन्धी धार्मिक क्रिया-संस्कार आत्मा के नैतिक गुणों की तुलना में कुछ नहीं हैं। हाँ, एक बात है, एक व्यक्ति सत्य क्यों बोले या हिंसा क्यों न करे? आदि प्रश्नों पर कहीं विस्तृत विवेचन नहीं है। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन गुणों की ओर संकेत नहीं है। यदि हम ग्रन्थों का अवलोकन करें तो दो सिद्धान्त झलक उठते हैं। बाह्याचरणों के अगणित नियमों के अन्तरंग में आन्तर पुरुष या अन्तःकरण पर बल दिया गया है। मनु (४।१६१) ने कहा है कि वही करो जो तुम्हारी अन्तरात्मा को शान्ति दे। उन्होंने पुनः (४।२३९) कहा है—'न माता-पिता, न पत्नी, न लड़के उस संसार (परलोक) में साथी होंगे, केवल सदाचार ही साथ देगा।' देवता एवं आन्तर पुरुष पापमय कर्तव्य को देखते हैं (वनपर्व, २०७।५४; मनु० ८।८५,

६. *तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद् ध्येवैतदुभयं भवति। बृह० १।४।१४; तदेतानि जपेदसतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति। बृह० उ० १।३।२।*

७. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठ० १।२ २३; और देखिए, वही १।३।७। तथा मैत्रेयी उ० ३।५। जिसमें ऊँचे एवं उदात्त दर्शन के विद्यार्थी द्वारा त्याज्य अन्धकार-गुणों की सूची है।

८. अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥ शान्तिपर्व, १६२।२१।

९१-९२; और देखिए आदिपर्व, ७४।२८-२९; मनु० ८।८६; अनुशासन २।७३-७४)। 'तत्त्वमसि' का दार्शनिक विचार प्रत्येक व्यक्ति में एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति का द्योतक है। इसी दार्शनिक विचारधारा को दया, अहिंसा आदि गुण प्राप्त करने का कारण बताया गया है। हम यहाँ नैतिकता एवं तत्त्व-दर्शन (अध्यात्म) को साथ साथ चलते हुए देखते हैं। अतः इसी सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति द्वारा किया गया सुकृत्य या दुष्कृत्य दूसरे को प्रभावित करता हुआ बतलाया गया है। दक्ष (३।२२) ने कहा है कि यदि कोई आनन्द चाहता है तो उसे दूसरे को उसी दृष्टि से देखना चाहिए, जिस दृष्टि से वह अपने को देखता है।[९] सुख एवं दुःख एक को तथा अन्यों को समान रूप से प्रभावित करते हैं। देवल ने कहा है कि अपने लिए जो प्रतिकूल हो उसे दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए।[१०] अतः हम देखते हैं कि हमारे धर्मशास्त्रकारों ने नैतिकता के लिए (सद्नीतियों के लिए) प्रामाणिकता के रूप में श्रुति (अर्थात् "सर्वं खलु इदं ब्रह्म") एवं अन्तःकरण के प्रकाश दोनों को ग्रहण किया है। अच्छे गुणों को प्राप्त करने के प्रथम कारण पर इस प्रकार प्रकाश पड़ जाता है। अब हम दूसरे कारण पर विचार करें। हम उदात्त गुण क्यों प्राप्त करें; इस प्रश्न का उत्तर मानव-अस्तित्व के लक्ष्यों (पुरुषार्थ) के सिद्धान्त की व्याख्या में मिल जाता है। बहुत प्राचीन काल से चार पुरुषार्थ कहे गये हैं—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष, जिनमें अन्तिम तो परम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति जिस किसी को ही हो पाती है, अधिकांश के लिए यह केवल आदर्श मात्र है। 'काम' सबसे निम्न श्रेणी का पुरुषार्थ है, इसे केवल मूर्ख ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ मानते हैं।[११] महाभारत में आया है—एक समझदार व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त करता है, किन्तु यदि तीनों की प्राप्ति न हो सके तो वह धर्म एवं अर्थ प्राप्त करता है किन्तु यदि उसे केवल एक ही चुनना है तो वह धर्म का ही चुनाव करता है। धर्मशास्त्रकारों ने काम की सर्वथा भर्त्सना नहीं की है, वे उसे मानव की क्रियाशील प्रेरणा के रूप में ग्रहण करते हैं, किन्तु उसे अन्य पुरुषार्थों से निम्नकोटि का पुरुषार्थ ठहराते हैं। गौतम (९।४६-४७) ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य ने भी यही बात कही है (१।११५)। आपस्तम्ब ने कहा है कि धर्म के विरोध में न आनेवाले सभी सुखों का भोग करना चाहिए, इस प्रकार उसे दोनों लोक मिल जाते हैं (२।८।२०।२२-२३)।[१२] भगवद्गीता में कृष्ण अपने को धर्माविरुद्ध काम के समान कहते हैं। कौटिल्य का कहना है कि धर्म एवं अर्थ के अविरोध में काम की तृप्ति करनी चाहिए, बिना आनन्द का जीवन नहीं बिताना चाहिए। किन्तु अपनी मान्यता के अनुसार कौटिल्य ने अर्थ को ही प्रधानता दी है, क्योंकि अर्थ से ही धर्म एवं काम की उत्पत्ति होती

९. यथैवात्मा परस्तद्वद् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता। सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे।। दक्ष, ३।२२।

१०. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।। देवल का कृत्यरत्नाकर में उद्धरण। तुलना कीजिए, आपस्तम्बस्मृति १०।१२; 'आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति।' अनुशासनपर्व ११३।८-९; न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः। एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते।। प्रत्याख्याने च दाने च सुख-दुःखे प्रियाप्रिये। आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति।। शान्ति० २६०। २० एवं २५; यद्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः। न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः। सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्मं प्राहुर्मनीषिणः।।

११. त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भो भरतर्षभ। धर्मार्थावनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः।। पृथक्त्वविनिविष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुध्यते। मध्यमोऽर्थं कलिं बालः काममेवानुरुध्यते।। कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्। नहि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन। उपायं धर्ममेवाहुस्त्रिवर्गस्य विशांपते।। उद्योगपर्व, १२४।३४-३८; देखिए शान्तिपर्व १६७।८-९।

१२. भोक्ता च धर्माविरुद्धान् भोगान्। एवमुभौ लोकावभिजयति। आपस्तम्ब०, २।८।२०।२२-२३।

है।[13] मनुस्मृति (२।२२४), विष्णुधर्मसूत्र (७१।८४) एवं भागवत (१।२।९) ने धर्म को ही प्रधानता दी है।[14] कामसूत्रकार वात्स्यायन ने धर्म, अर्थ एवं काम की परिभाषा की है और क्रम से प्रथम एवं द्वितीय को द्वितीय एवं तृतीय से श्रेष्ठ कहा है, किन्तु राजा के लिए उन्होंने अर्थ को सर्वश्रेष्ठ कहा है। धर्मशास्त्रकारों ने इस प्रकार आसन्न एवं परम लक्ष्यों एवं प्रेरणाओं की ओर संकेत किया है और अन्त में परम लक्ष्यों एवं प्रेरणाओं को ही श्रेष्ठतम माना है। उनके अनुसार उच्चतर जीवन के लिए तन और मन दोनों का अनुशासित होना परम आवश्यक है, अतः निम्नतर लक्ष्यों का उच्चतर गुणों एवं मूल्यों के आश्रित हो जाना परम आवश्यक है। मनु ने अरस्तू के समान ही सभी क्रियाओं के पीछे कोई अनुमानित या पूर्वकल्पित शुभ या कल्याणप्रद तत्त्व मान लिया है। उन्होंने कहा है कि प्रत्येक जीव वासनाओं की ओर झुकता है, अतः उन पर बल देने के स्थान पर उनके निग्रह पर बल देना चाहिए (५।५६)। उपनिषदों ने भी हित एवं हिततम के अन्तर को स्वीकार किया है।[15]

विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्यस्मृति के भाष्य मिताक्षरा (१।१) में लिखा है कि अहिंसा तथा अन्य गुण सबके लिए, यहाँ तक कि चाण्डालों तक के लिए हैं। कतिपय ग्रन्थों में इन गुणों की सूचियों में भेद पाया जाता है। शंखस्मृति (१।५) में कथित क्षान्ति, सत्य, आत्म-निग्रह (दम) एवं शुद्धि नामक सामान्य गुण सबके लिए हैं। महाभारत के मत से निर्वैरता, सत्य एवं अक्रोध तीन सर्वश्रेष्ठ गुण हैं।[16] वसिष्ठ के मत से सत्य, अक्रोध, दान, अहिंसा, प्रजनन जैसी सामान्य बातें सभी वर्णों के धर्म हैं (४।४; १०।३०)। गौतम ने शूद्रों को भी सत्य, अक्रोध, शुद्धि के लिए प्रोत्साहित किया है (१०।५२)। मनु के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह सभी वर्णों के धर्म हैं।[17] सम्राट् अशोक ने निम्नलिखित गुणों का उल्लेख अपने शिलालेखों (स्तम्भ २ एवं ७) में किया है—दया, उदारता, सत्य, शुद्धि, भद्रता, शान्ति, प्रसन्नता, साधुता, आत्मसंयम। यह सूची गौतम की सूची से मिलती-जुलती है। ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक के लिए याज्ञवल्क्य ने नौ गुणों का वर्णन किया है (१।१२२)। शान्तिपर्व में ये नौ गुण हैं—अक्रोध, सत्यवचन, संविभाग, क्षमा, प्रजनन, शौच, अद्रोह, आर्जव, भृत्यभरण। वामनपुराण में दस गुण हैं, यथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दान, क्षान्ति, दम, शम, अकार्पण्य, शौच, तप। हेमाद्रि ने सामान्य धर्मों की चर्चा की है। विष्णुधर्मसूत्र में १४ गुणों का वर्णन है।[18]

१३. अर्थशास्त्र, १।७ 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। .....अर्थ एव प्रधनमिति कौटिल्यः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।'

१४. धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च। अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥ मनु० २।२२४।; परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। मनु० ४।१७६; मिलाइए, विष्णुधर्मसूत्र ७१।८४ 'धर्मविरुद्धौ चार्थकामौ (परिहरेत्)'; अनुशासन ३।१८-१९—धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम्। एतत्त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम्॥ विष्णुपुराण ३।२।७—परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप। धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च॥

१५. त्वमेव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे इति। कौषीतकि ब्रा० उ० ३।१।

१६. एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत। निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च॥ आश्रमवासिपर्व २८।९; त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्। न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत्॥ अनुशासनपर्व १२०।१०।

१७. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ मनु० १०।६३; देखिए, सभी आश्रमों के लिए १० गुण, मनु० ६।९२।

१८. क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः। अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया। आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्। अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥ विष्णु० २।१६-१७।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मशास्त्रकारों ने नैतिक गुणों को बहुत महत्त्व दिया है और इनके पालन के लिए बल भी दिया है, किन्तु धर्मशास्त्र में उनका सीधा सम्पर्क व्यावहारिक जीवन से था, अतः उन्होंने सामान्य धर्म की अपेक्षा वर्णाश्रमधर्म की विशद व्याख्या करना अधिक उचित समझा।

आर्यावर्त

धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में वैदिक धर्म के अनुयायियों के देश या क्षेत्र आर्यावर्त के विषय में प्रभूत चर्चा होती रही है। ऋग्वेद के अनुसार आर्य-संस्कृति का केन्द्र सप्तसिन्धु अर्थात् आज का उत्तर-पश्चिमी भारत एवं पंजाब था (सात नदियों का देश सप्तसिन्धु)। कुभा (काबुल नदी, ऋ० ५।५३।९; १०।७६।६) से क्रुमु (आज का कुर्रम, ऋ० ५।५३।९; १०।७५।६), सुवास्तु (आज का स्वात, ऋ० ८।१९।३७), सप्तसिन्धु (सात नदियाँ, ऋ० २।१२ १२; ४।२८।१; ८।२४।२७; १०।४३।३), यमुना (ऋ० ५।५२।१७; १०।७५।५), गंगा (ऋ० ६।४५। ३१; १०।७५।५) एवं सरयू (सम्भवतः आज के अवध में, ऋ० ४।३०।१४ एवं ५।५३।९) तक ऋग्वेद में वर्णित हैं। पंजाब की नदियाँ ये हैं—सिन्धु (ऋ० २।१५।६; ५।५३।९; ४।३०।१२; ८।२०।२५), असिक्नी (ऋ० ८।२०।२५, १०।७५।५)), परुष्णी (ऋ० ४।२२।२; ५।५२।९), विपाश् एवं शुतुद्रि (ऋ० ३।३३।१-यहाँ दोनों के संगम का उल्लेख है), दृषद्वती, आपया एवं सरस्वती (ऋ० ३।२३।४ परम पवित्र), गोमती (ऋ० ८।२४। ३०; १०।७५।६), वितस्ता (ऋ० १०।७५।५)। आर्यों ने क्रमशः दक्षिण एवं पूर्व की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। काठक ने कुरु-पञ्चाल का उल्लेख किया है। ब्राह्मणों के युग में आर्य क्रिया-कलापों एवं संस्कृति का केन्द्र कुरु-पञ्चाल एवं कोसल-विदेह तक बढ़ गया। शतपथब्राह्मण के मत में कुरु-पञ्चालों की भाषा या बोली सर्वोत्तम थी।[१९] कुरु-पञ्चाल के उद्दालक आरुणि की बोली की प्रशंसा की गयी है। विदेह माठव, कोसल-विदेह के आगे हिमालय से उतरी हुई सदानीरा नदी को पार करके उसके पूर्व में बसे, जहाँ की भूमि उन दिनों बड़ी उर्वर थी। यहाँ तक कि बौद्ध जातक कहानियों में हमें 'उदिच्च ब्राह्मणों' का प्रयोग उनके अभिमान के सूचक के रूप में प्राप्त होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में देवताओं की वेदी कुरु-क्षेत्र में कही गयी है (५।१।१)। ऋग्वेद में भी ऐसा आया है कि वह स्थान, जहाँ से दृषद्वती, आपया एवं सरस्वती नदियाँ वहती हैं, सर्वोत्तम स्थान है (३।२३।४)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है कि कुरु-पञ्चाल जाड़े में पूर्व की ओर और गर्मी के अन्तिम मास में पश्चिम की ओर जाते हैं। उपनिषद्-काल में भी कुरु-पञ्चाल प्रदेश की विशिष्ट महत्ता थी। जब जनक (विदेहराज) ने यज्ञ किया तो कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मण बहुत संख्या में उनके यहाँ पधारे (बृ० उ० ३।१।१)। श्वेतकेतु पञ्चालों की सभा में गये (बृ० उ० ३।९।१९, ६।२।१; छान्दोग्य० ५।३।१)। कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् में आया है कि उशीनर, मत्स्य, कुरुपञ्चाल, काशी-विदेह क्रिया-कलापों के केन्द्र हैं (४।१); इसी उपनिषद् में उत्तरी एवं दक्षिणी दो पहाड़ों (सम्भवतः हिमालय एवं विन्ध्य) की ओर संकेत है (२।१३)। निरुक्त (२।२) में लिखा है कि कम्बोज देश आर्यों की सीमा के बाहर है, यद्यपि वहाँ की भाषा आर्यभाषा ही प्रतीत होती है। महाभाष्य के अनुसार सुराष्ट्र आर्यदेश नहीं था। आर्यावर्त की सीमा एवं स्थिति के विषय में धर्मसूत्रों में बड़ा मतभेद पाया जाता है। वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार आर्यावर्त मरु-मिलन के पहले सरस्वती के पूर्व, कालकवन के पश्चिम, पारियात्र एवं विन्ध्य पर्वत के उत्तर तथा हिमालय के दक्षिण है (१।८-९, १२-१३)। इस धर्मसूत्र ने दो और मत दिये हैं—'गंगा एवं यमुना के मध्य में आर्यावर्त है' तथा 'जहाँ कृष्ण मृग विचरण करते हैं वहीं आध्यात्मिक महत्ता विराजमान

१९. तस्मादत्रोत्तरा हि वाग्वदति कुरुपञ्चालत्रा। शतपथ ब्रा० ३।२।३।१५।

है।' आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी यही बात है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में यही बात कई बार दुहरायी है। शंखलिखित के धर्मसूत्र में आया है—'अनवद्य ब्रह्मवर्चस (पुनीत आध्यात्मिक महत्ता) सिन्धु-सौवीर के पूर्व, काम्पिल्य नगर के पश्चिम, हिमालय के दक्षिण तथा पारियात्र पर्वत के उत्तर आर्यावर्त में विराजमान है।' मनुस्मृति के अनुसार विन्ध्य के उत्तर एवं हिमालय के दक्षिण तथा पूर्व एवं पश्चिम में समुद्र को स्पर्श करता हुआ प्रदेश आर्यावर्त है। बौधायनधर्मसूत्र (१।१।२८) में गंगा एवं यमुना के मध्य का देश आर्यावर्त कहा गया है। यह दूसरा मत है। यही बात तैत्तिरीयारण्यक में भी है जहाँ कहा गया है कि गंगा-यमुना प्रदेश के लोगों को विशिष्ट आदर दिया जाता है (२।२०)। 'आर्यावर्त वह देश है जहाँ कृष्ण हरिण स्वाभाविक रूप से विचरण करते हैं'—यह तीसरा मत, अधिकांश सभी स्मृतियों में पाया जाता है। वसिष्ठ एवं बौधायन के धर्मसूत्रों में भाल्लवियों के निदान नामक ग्रन्थ की एक प्राचीन गाथा कही गयी है, जिसमें आया है कि जिस देश के पश्चिम सिन्धु है, पूर्व में उठता हुआ पर्वत है, तथा जिस देश में कृष्ण मृग विचरण करता है, उस देश में 'ब्रह्मवर्चस' अर्थात् आध्यात्मिक महत्ता पायी जाती है। इस प्राचीन गाथा के रहस्य को याज्ञवल्क्यस्मृति के भाष्य में विश्वरूप (याज्ञ० १।२) ने श्वेताश्वतर के एक गद्यांश के उद्धरण से स्पष्ट किया है कि 'यज्ञ एक बार कृष्ण मृग बनकर पृथिवी पर विचरण करने लगा और धर्म ने उसका पीछा करना आरम्भ किया।'

आर्यावर्त की उपर्युक्त सीमा के विषय में शंख, विष्णुधर्मसूत्र (८४।४), मनु (२।२३), याज्ञवल्क्य (१।२), संवर्त (४), लघु-हारीत, वेदव्यास (१।३), बृहत्-पराशर तथा अन्य स्मृतियों ने समान मत प्रकाशित किया है। मनुस्मृति (२। १७-२४) ने **ब्रह्मावर्त** को सरस्वती एवं दृषद्वती नामक दो पवित्र नदियों के बीच में स्थित माना है और कहा है कि इस प्रदेश का परम्परागत आचार 'सदाचार' कहा जाता है। मनु ने कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल एवं शूरसेन को **ब्रह्मर्षिदेश** कहा है और इसे ब्रह्मावर्त से थोड़ा कम पवित्र माना है। उनके मत से हिमालय एवं विन्ध्य के मध्य में और विनशन (सरस्वती) के पूर्व एवं प्रयाग के पश्चिम का देश मध्यदेश है, तथा आर्यावर्त वह देश है जो हिमालय एवं विन्ध्य के मध्य में है, जो पूर्व-पश्चिम में समुद्र से घिरा हुआ है तथा जहाँ कृष्ण मृग स्वाभाविकतया विचरण करते हैं। उनके मत से यह आर्यावर्त यज्ञ के योग्य माना जाता है। इन उपर्युक्त देशों के अतिरिक्त अन्य देश म्लेच्छदेश कहे जाते हैं। मनु ने तीन उच्च वर्णों के मनुष्यों को ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त आदि देशों में रहने को कहा है। उनके मत से आपत्काल में शूद्र वर्ण के लोग कहीं भी रह सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल में विन्ध्य के दक्षिण की भूमि आर्यसंस्कृति से अछूती थी। बौधायनधर्मसूत्र (१।१।३१) का कहना है कि अवन्ति, अंग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिन्धु एवं सौवीर देश के लोग शुद्ध आर्य नहीं हैं। इसका यह भी कहना है कि जो आरट्टक, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, अंग, वंग, कलिंग एवं प्रानून (?) जाता है उसे सर्वपृष्ठ नामक यज्ञ करना पड़ता है और कलिंग जानेवाले को तो प्रायश्चित्त के लिए वैश्वानर अग्नि में हवन करना पड़ता है। याज्ञवल्क्यस्मृति के भाष्य मिताक्षरा में देवल का एक ऐसा उद्धरण आया है जिससे यह पता चलता है कि सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, म्लेच्छदेश, अंग, वंग, कलिंग एवं आन्ध्र देश में जानेवाले को उपनयन संस्कार कराना पड़ता था। किन्तु ज्यों-ज्यों आर्य-संस्कृति का प्रसार चतुर्दिक् होता गया, ऐसी धारणाएँ निर्मूल होती गयीं और सम्पूर्ण देश सबके योग्य समझा जाने लगा। आर्य-संस्कृति के उत्तरोत्तर पूर्व एवं दक्षिण की ओर बढ़ने से एवं अनार्यों द्वारा उत्तर-पश्चिमी सीमा एवं पंजाब पर आक्रमण होने से पंजाब की नदियों वाला प्रदेश आर्यों के वास के लिए अयोग्य समझा जाने लगा। कर्णपर्व में सिन्धु एवं पंजाब की पाँच नदियों के देश में रहनेवालों को अशुद्ध एवं धर्मबाह्य कहा गया है (४३।५-८)।

वैदिक धर्म जहाँ तक परिव्याप्त है, उस भूमि को विशेषतः पुराणों में भरतवर्ष या भारतवर्ष कहा गया है। खारवेल के हाथीगुम्फा के अभिलेख में इस शब्द को भरधवस कहा गया है। मार्कण्डेयपुराण (५७।५९) के अनुसार

भारतवर्ष के पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में समुद्र एवं उत्तर में हिमालय है। विष्णुपुराण (२।३।१) में भी यही उल्लेख है। मत्स्य, वायु आदि पुराणों में भारतवर्ष कुमारी अन्तरीप से गंगा तक कहा गया है। जैमिनि के भाष्य में शबर ने कहा है कि हिमालय से लेकर कुमारी तक भाषा एवं संस्कृति में एकता है (१०।१।३५ एवं ४२)। मार्कण्डेय (५३।४१), वायु (भाग १,३३।५२) तथा कुछ अन्य पुराणों के अनुसार स्वायंभुव मनु के वंश में उत्पन्न ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ा है, किन्तु वायु के एक अन्य उल्लेखानुसार (भाग २, अ० ३७।१३०) दुष्यन्त एवं शकुन्तला के पुत्र भरत से भारतवर्ष हुआ। विष्णुपुराण ने भारतवर्ष को स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्मभूमि माना है (कर्म-भूमिरियं स्वर्गमपवर्ग च गच्छताम्)। वायुपुराण ने यही बात दुहरायी है। एक मनोरंजक बात यह है कि भारत-वर्ष के वे प्रदेश, जो आज अपने को अति कट्टर मानते हैं, आदित्यपुराण द्वारा (स्मृतिचन्द्रिका के उद्धरण द्वारा) वास के योग्य नहीं माने गये हैं, यहाँ तक कि वहाँ धर्मयात्रा को छोड़कर कभी भी ठहरने पर जातिच्युतता का दोष प्राप्त होता था तथा प्रायश्चित्त करना पड़ता था! आदिपुराण (आदित्यपुराण?) में आया है कि आर्यावर्त के रहनेवालों को सिन्धु, कर्मदा (कर्मनाशा?) या करतोया को धर्मयात्रा के अतिरिक्त कभी भी नहीं पार करना चाहिए; यदि वे ऐसा करें तो उन्हें चान्द्रायण व्रत करना चाहिए।[20]

स्मृतिकारों एवं भाष्यकारों ने आर्यावर्त या भरतवर्ष या भारतवर्ष में व्यवहृत वर्णाश्रम-धर्मों तक ही अपने को सीमित रखा है। उन्होंने इतर लोगों के आचार-व्यवहार को मान्यता बहुत ही कम दी है; याज्ञवल्क्यस्मृति (२।१९२) ने कुछ छूट दी है।

२०. काञ्चीकाश्यपसौराष्ट्रदेवराष्ट्रान्ध्रमत्स्यजाः। कावेरी कोंकणा हूणास्ते देशा निन्दिता भृशम्॥ पञ्च-नद्यो......वसेत्॥ ....सौराष्ट्रसिन्धुसौवीरमावन्त्यं दक्षिणापथम्। गत्वैतान् कामतो देशान् कालिंगांश्च पतेद् द्विजः॥ स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत आदित्यपुराण; आदिपुराण---आर्यावर्तसमुत्पन्नो द्विजो वा यदि वाऽद्विजः। कर्मदा-सिन्धुपारं च करतोयां न लंघयेत्। आर्यावर्तमतिक्रम्य विना तीर्थक्रियां द्विजः। आज्ञां चैव तथा पित्रोरैन्दवेन विशु-ध्यति॥ परिभाषाप्रकाश, पृ० ५९।

अध्याय २

वर्ण

भारत की जाति-व्यवस्था के उद्‌गम एवं विशिष्टताओं के विवेचन से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें अधिकांश, जातियों एवं उपजातियों की विविधताओं तथा उनकी अर्वाचीन धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं एवं व्यवहार-प्रयोगों पर ही अधिक प्रकाश डालते हैं। जाति-उद्‌गम के प्रश्न ने भाँति-भाँति के अनुमानों, विचार-शाखाओं एवं मान्यताओं की सृष्टि कर डाली है। कतिपय ग्रन्थकारों ने या तो कुल, या वर्ग, या व्यवसाय के आधार पर ही अपने दृष्टिबिन्दु या मत निर्धारित किये हैं, अतः इस प्रकार उनकी विचारधाराएँ एकांगी हो गयी हैं। समाज-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए भारतीय जाति-व्यवस्था के उद्‌गम एवं विकास का अध्ययन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं मनोरञ्जक विषय है।

पाश्चात्य लेखकों में कुछ ने तो अति प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं और कुछ लोगों ने बहुत कड़ी आलोचना एवं मर्त्सना की है। सिडनी लो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'विज़न आव इण्डिया' (द्वितीय संस्करण, १९०७, पृ० २६२-२६३) में जाति-व्यवस्था के गुणों के वर्णन में अपनी कलम तोड़ दी है। इसी प्रकार एब्बे डुबोय ने आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व इसकी प्रशस्ति गायी थी। किन्तु मेन ने अपने ग्रन्थ 'ऐंश्येण्ट लॉ' (नवीन संस्करण, १९३०, पृ० १७) में इसकी क्षयकारी एवं विनाशमयी परम्परा की ओर संकेत करके भरपूर मर्त्सना की है। शेरिंग ने 'हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स' नामक ग्रन्थ (जिल्द ३, पृष्ठ २९३) में भारतीय जाति-व्यवस्था की भर्त्सना करने में कोई भी कसर नहीं छोड़ी है, किन्तु मेरिडिथ ने अपने 'यूरोप एण्ड एशिया' (१९०१ वाले संस्करण, पृ० ७२) में स्तुति-गान किया है। कुछ लोगों ने जाति-व्यवस्था को धूर्त ब्राह्मणों द्वारा रचित आविष्कार माना है।

जन्म एवं व्यवसाय पर आधारित जाति-व्यवस्था प्राचीन काल में फारस, रोम एवं जापान में भी प्रचलित थी, किन्तु जैसी परम्पराएँ भारत में चलीं और उनके व्यावहारिक रूप जिस प्रकार भारत में खिले, वे अन्यत्र दुर्लभ थे और यही कारण था कि अन्य देशों में पायी जानेवाली ऐसी व्यवस्था खुल-खिल न सकी और समय के प्रवाह में पड़कर समाप्त हो गयी।

यदि हम भारतीय जाति-व्यवस्था की विशिष्टताओं पर कुछ ग्रन्थकारों एवं कतिपय विचारकों के मतों का संकलन करें तो निम्न बातें उभर आती हैं, जिनका सम्बन्ध स्पष्टतः जाति-व्यवस्था के गुणों या विशेषताओं से है--(१) वंशपरम्परा, अर्थात् एक जाति में सिद्धान्ततः जन्म से ही स्थान प्राप्त हो जाता है; (२) जाति के भीतर ही विवाह करना एवं एक ही गोत्र में या कुछ विशिष्ट सम्बन्धियों में विवाह न करना; (३) भोजन-सम्बन्धी वर्जना; (४) व्यवसाय (कुछ जातियाँ विशिष्ट व्यवसाय ही करती हैं); (५) जाति-श्रेणियाँ, यथा कुछ तो उच्चतम और कुछ नीचतम। सेनार्ट साहब ने एक और विशेषता बतायी है; जाति-सभा (पंचायत), जिसके द्वारा दण्ड आदि की व्यवस्था की जाती है। किन्तु यह बात सभी जातियों में नहीं पायी जाती, यथा ब्राह्मण एवं क्षत्रियों में; धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में भी इसकी चर्चा नहीं हुई है। आज एक जाति के अन्तर्गत ही विवाह सम्भव है, इसी से जन्म से जाति वाला

सिद्धान्त प्रचलित है। अन्य तीन उपर्युक्त विशिष्टताएँ भारत के प्रदेश-प्रदेश एवं युग-युग में अधिक-न्यून रूप में घटती-बढ़ती एवं परिवर्तित होती रही हैं। हम इन पाँचों विशिष्टताओं पर वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय प्रकाश डालेंगे। यहाँ पर एक बात विचारणीय यह है कि प्राचीन एवं मध्ययुगीन धर्मशास्त्रों में जाति-व्यवस्था-सम्बन्धी जो धारणाएँ रही हैं उनमें और आज की धारणाओं में बहुत अन्तर है। आज तो जाति-व्यवस्था को हम केवल विवाह में और कभी-कभी खान-पान में देख लेते हैं। आज कोई भी जाति कोई भी व्यवसाय कर सकती है। इस गति से जाति-सम्बन्धी बन्धन इतने ढीले पड़ते जा रहे हैं कि बहुत सम्भव है कुछ दिनों में जाति-व्यवस्था केवल विवाह-व्यवहार तक ही सीमित होकर रह जाय। यह सब अत्याधुनिक बौद्धिक विचारों एवं समय की माँग का ही प्रतिफल है।

ऋग्वेद में कई स्थानों पर (१।७३।७; २।३।५; ९।९७।१५; ९।१०४।४; ९।१०५।४; १०।१२४।७) वर्ण का अर्थ है 'रंग' या 'प्रकाश'। कहीं-कहीं, यथा २।१२।४ एवं १।१७९।६ में, वर्ण का सम्बन्ध ऐसे जन-गण से है जिनका चर्म काला है या गोरा।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।२।६) में आया है कि ब्राह्मण दैवी वर्ण है और शूद्र असुर्य वर्ण है।[2] 'असुर्य वर्ण' का अर्थ है 'शूद्र जाति'। ऋग्वेद में आर्यों एवं दासों या दस्यु लोगों की अमित्रता के विषय में बहुत-सी सामग्रियाँ मिलती हैं। इस विषय में दासों को हराने एवं आर्यों की सहायता करने पर इन्द्र एवं अन्य देवताओं की स्तुति गायी गयी है (ऋ० १।५१।८; १।१०३।३; १।११७।२१; २।११।२,४, १८,१९; ३।२९।९; ५।७०।३; ७।५।६; ९।८८।४; ६।१८।३; ६।२५।२)। दस्यु एवं दास दोनों एक ही हैं (ऋ० १०।२२।८)। दस्यु लोग **अव्रत** (देवताओं के नियम-व्यवहारों को न माननेवाले), **अक्रतु** (यज्ञ न करनेवाले), **मृध्रवाचः** (जिनकी बोली स्पष्ट एवं मधुर न हो) एवं **अपनासः** (गूँगे या चपटी नाक वाले) कहे गये हैं। दासों एवं दस्युओं को कभी-कभी असुर की उपाधि भी दी गयी है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेदीय काल में दो परस्परविरोधी दल थे; आर्य एवं दस्यु (दास), जो एक दूसरे से चर्म, रंग, पूजा-पाठ, बोली एवं स्वरूप में भिन्न थे। अतः अति प्राचीन काल में वर्ण शब्द केवल दास एवं आर्य से ही सम्बन्धित था। यद्यपि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद में बहुधा प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु वर्ण शब्द का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। यहाँ तक कि पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) में भी जहाँ ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख हुआ है वहाँ वर्ण का प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में पुरुषसूक्त को छोड़कर कहीं भी वैश्य एवं शूद्र शब्द नहीं आये हैं, यद्यपि अथर्ववेद में कई बार एवं तैत्तिरीय संहिता में बहुत बार आये हैं। बहुत लोगों का कहना है कि पुरुषसूक्त ऋग्वेद में कालान्तर में जोड़ा गया है। ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द कई बार आया है, किन्तु यह किसी जाति के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि सोम ब्राह्मणों का भोजन है, किन्तु एक क्षत्रिय को न्यग्रोध वृक्ष के तन्तुओं, उदुम्बर, अश्वत्थ एवं प्लक्ष के फलों को कूटकर उनके रस को पीना पड़ता था। इससे स्पष्ट होता है कि तब तक ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दो स्पष्ट दल हो गये थे, किन्तु ये दल आनुवंशिक थे कि नहीं, और उनमें भोजन तथा विवाह-सम्बन्धी पृथक्त्व उत्पन्न हो गया था या नहीं, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन ही है। धर्मसूत्रों के काल में भी भोजन एवं विवाह से सम्बन्धित नियन्त्रण उतने कठोर नहीं थे जितना कि मध्ययुग एवं आधुनिक काल में

१. यो दासं वर्णमधरं गुहा कः। ऋ० (२।१२।४); उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष। ऋ० (१।१७९।६)। पहले का अर्थ है 'जिन्होंने (इन्द्र ने) दास रंग को गुहा (अंधकार) में रखा'; और दूसरे का अर्थ है 'क्रोधी ऋषि (अगस्त्य) ने दो वर्णों की कामना की।'

२. ब्राह्मणश्च शूद्रश्च चर्मकर्तौ व्यायच्छेते। दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः, असुर्यः शूद्रः। तै० ब्रा० १।२।६।

देखने को मिलता है। किन्तु उन दिनों जन्म से ब्राह्मण होना स्पष्ट हो गया था। ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है 'प्रार्थना' या 'स्तुति'।[3] अथर्ववेद (२।१५।४) में 'ब्रह्म' शब्द 'ब्राह्मण' वर्ग के अर्थ में आया है। 'ब्रह्म' शब्द का क्रमश: ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त हो जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि ब्राह्मण ही स्तुतियों एवं प्रार्थनाओं (ब्रह्म) के प्रणेता होते थे। ऋग्वेद में ब्रह्म एवं क्षत्र, 'स्तुति' एवं 'शक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं ये शब्द क्रम से ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त हो गये हैं, यथा 'ब्रह्म वै ब्राह्मण: क्षत्रं राजन्य:' (तै० ब्राह्मण, ३।९।१४)। 'राजन्य' शब्द केवल पुरुषसूक्त में ही आया है। अथर्ववेद में यह क्षत्रिय के अर्थ में प्रयुक्त है (५।१७।९)। क्षत्रिय वैदिक काल में जन्म से ही क्षत्रिय थे कि नहीं, इसका स्पष्ट उत्तर देना सम्भव नहीं है। ऋग्वेद की एक गाथा इस बात पर प्रकाश डालती है कि सम्भवत: ऋग्वेदीय काल में क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों में कर्म-सम्बन्धी कोई अन्तर नहीं था। देवापि एवं शन्तनु दोनों ऋष्टिषेण के पुत्र थे। शन्तनु छोटा भाई था, किन्तु राजा वही हुआ, क्योंकि देवापि ने राजा होने में अनिच्छा प्रकट की। शन्तनु के पापाचरण के फलस्वरूप अकाल पड़ा और देवापि ने यज्ञ करके वर्षा करायी। देवापि शन्तनु का पुरोहित था। इस कथा से यह स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति के दो पुत्रों में एक क्षत्रधर्म का, दूसरा ब्रह्मधर्म का पालन कर सकता था, अर्थात् दो भाइयों में एक राजा हो सकता था और दूसरा पुरोहित।[4] ऋग्वेद (९।११२।३) में एक कवि कहता है—'मैं स्तुतिकर्ता हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माँ चक्कियों में आटा पीसती है। हम लोग विविध क्रियाओं द्वारा धनोपार्जन करना चाहते हैं।'[5] एक स्थान पर (ऋ० ३।४४।५) कवि कहता है—'हे सोम पान करनेवाले इन्द्र, क्या तुम मुझे लोगों का रक्षक बनाओगे या राजा ? क्या तुम मुझे सोम पीकर मस्त रहनेवाला ऋषि बनाओगे या अनन्त धन दोगे ?' स्पष्ट है, एक ही व्यक्ति ऋषि, भद्रपुरुष या राजा हो सकता था।

यद्यपि 'वैश्य' शब्द ऋग्वेद के केवल पुरुषसूक्त में ही आया है, किन्तु 'विश्' शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है। 'विश्' का अर्थ है 'जन-दल'। कई स्थानों पर 'मानुषीर्विश:' या 'मानुषीषु विक्षु' या 'मानुषीणां विशाम्' प्रयोग आये हैं। ऋग्वेद (३।३४।२) में आया है—'इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा,' अर्थात् 'इन्द्र, तुम मानवीय झुण्डों एवं दैवी झुण्डों के नेता हो।" ऋग्वेद (८।६३।७) के मन्त्र 'यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्र घोषा असृक्षत्' में 'विश्' सम्पूर्ण आर्य जाति का द्योतक है। ऋग्वेद के ५।३२।११ में इन्द्र की उपाधि है 'पाञ्चजन्य' (पाँच जनों के प्रति अनुकूल) तथा ऋग्वेद के ९।६६।२० में अग्नि की उपाधि है 'पाञ्चजन्य: पुरोहित:।' कहीं-कहीं 'जन' एवं 'विश्' शब्दों में विरोध भी है, यथा 'स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभि:' (ऋ० २।२६।३)। किन्तु 'विश्' पाञ्चजन्य भी कहा गया है, इससे स्पष्ट है कि 'जन' एवं 'विश्' में कोई भेद नहीं है। 'पञ्च जना:' का उल्लेख ऋग्वेद में कई बार हुआ है (ऋ० ३।३७।९; ३।५९।७; ६।११।४; ८।३२।२२; १०।६५।।२३; १०।४५।६)। इसी प्रकार 'कृष्टि', 'क्षिति', 'चर्षणि' नामक शब्द 'पञ्च' शब्द के साथ प्रयुक्त हुए हैं, उदाहरणार्थ, 'पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु'

३. त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय (हे अग्नि, अपनी ज्वाला से हमारी स्तुति एवं यज्ञ को बढ़ाओ)। ऋ० १०।१४१।५; विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् (यह विश्वामित्र का ब्रह्म अर्थात् स्तुति या आध्यात्मिक शक्ति भारत जनों की रक्षा करे)।

४. देखिए, यास्क का निरुक्त (२।१०)। इसके अनुसार शन्तनु एवं देवापि कौरव्य भाई थे।

५. 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवो अनु गा इव तस्थिम।' यहाँ 'कारु' का अर्थ है स्तुति-प्रणेता; नदियों ने ऋग्वेद (३।३३।१०) में विश्वामित्र को कारु कहा है; 'आ ते कारो शृणवामा वचांसि।' 'कारु रहम्' के लिए देखिए निरुक्त ६।६।

(ऋ० ३।५३।१६)। अतः 'विश्' शब्द ऋग्वेद की सभी स्तुतियों में 'वैश्य' का बोधक नहीं, प्रत्युत 'जन' या 'आर्य जन' का द्योतक है। ऐतरेय ब्राह्मण (१।२६) के अनुसार 'विशः' का अर्थ है 'राष्ट्रिणी' (देश)।

श्रुति-ग्रन्थों के उपरान्त के ग्रन्थों में 'दास' का अर्थ है 'गुलाम' (क्रीत भृत्य)। ऋग्वेद में जिन दास जातियों का उल्लेख हुआ है, वे आर्यों की विरोधी थीं, वे कालान्तर में हरा दी गयीं और अन्त में आर्यों की सेवा करने लगीं। मनुस्मृति के मत में शूद्र की उत्पत्ति भगवान् ने ब्राह्मणों के दास्य के लिए की।[६] ब्राह्मण-ग्रन्थों में शूद्रों को वही स्थान प्राप्त है जो स्मृतियों में है। इससे स्पष्ट है कि आर्यों द्वारा विजित दास या दस्यु क्रमशः शूद्रों में परिणत हो गये। आरम्भ में वे वैरी थे, किन्तु धीरे-धीरे उनसे मित्र-भाव स्थापित हो गया। ऋग्वेद में भी इस मित्र-भाव की झलक मिल जाती है, यथा दास बल्मूथ एवं तरुक्ष से संगीतज्ञ ने एक सौ गायें या अन्य दान लिये (८।४६।३२)। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०।९०।१२) के मत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्रम से परम पुरुष के मुख, बाहुओं, जाँघों एवं पैरों से उत्पन्न हुए। इस कथन के आगे ही सूर्य एवं चन्द्र परम पुरुष की आँख एवं मन से उत्पन्न कहे गये हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि पुरुषसूक्त के कवि की दृष्टि में समाज का चार भागों में विभाजन बहुत प्राचीन काल में हुआ था और यह उतना ही स्वाभाविक एवं ईश्वरसम्मत था जितनी कि सूर्य एवं चन्द्र की उत्पत्ति।

ऋग्वेद में आर्य लोग काले चर्म वाले लोगों से पृथक् कहे गये हैं। धर्मसूत्रों में शूद्रों को काले वर्ण का कहा गया है (आपस्तम्बधर्म० १।९।२७।११; बौ० धर्मसूत्र २।१।५९)। जैसे पशुओं में घोड़ा होता है, वैसे मनुष्यों में शूद्र है, अतः शूद्र यज्ञ के योग्य नहीं है (तैत्तिरीय संहिता—शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनां तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः। ७।१।१।६)। इससे स्पष्ट है, वैदिक काल में शूद्र यज्ञ आदि नहीं कर सकते थे, वे केवल पालकी ही ढोते थे। 'शूद्र एक चलता-फिरता श्मशान है, उसके समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए' ऐसा श्रुतिवाक्य है। किन्तु तैत्तिरीय संहिता में आया है—'हमारे ब्राह्मणों में प्रकाश भरो, हमारे मुख्यों (राजाओं) में प्रकाश भरो, वैश्यों एवं शूद्रों में प्रकाश भरो और अपने प्रकाश से मुझ में भी प्रकाश भरो।'[७] इससे स्पष्ट होता है कि शूद्र लोग, जो प्रथमतः दास जाति के थे, उस समय तक समाज के एक अंग हो गये थे और परमात्मा से प्रकाश पाने में तीन उच्च जातियों के समकक्ष ही थे। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि 'उसने ब्राह्मणों को गायत्री के साथ उत्पन्न किया, राजन्य को त्रिष्टुप् के साथ और वैश्य को जगती के साथ, किन्तु शूद्र को किसी भी छन्द के साथ नहीं उत्पन्न किया' (ऐतरेय ब्राह्मण ५।१२)। ताण्ड्यमहाब्राह्मण (६।१।११) में आया है[८]—'अतः एक शूद्र, भले ही उसके पास बहुत-से पशु हों, यज्ञ करने के योग्य नहीं है, वह देव-हीन है, उसके लिए (अन्य तीन वर्णों के समान) किसी देवता की रचना नहीं की गयी, क्योंकि उसकी उत्पत्ति पैरों से हुई (यहाँ पुरुषसूक्त की ओर संकेत है, यथा . . . पद्भ्यां शूद्रो अजायत)। इससे यह कहा जा सकता है कि पशुओं से संपन्न शूद्र भी द्विजों की पद-पूजा किया करता था। शतपथब्राह्मण कहता है, 'शूद्र असत्य है', 'शूद्र श्रम है', 'किसी दीक्षित व्यक्ति को शूद्र से भाषण नहीं करना चाहिए।' ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है—'(शूद्रोः) अन्यस्य प्रेष्यः कामोत्थाप्यः यथाकामवध्यः' (३५।३), अर्थात् शूद्र दूसरों से अनुशासित होता है, वह किसी की आज्ञा पर उठता है, उसे कभी भी पीटा जा सकता है। इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि यद्यपि शूद्र लोग

६. शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा। दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा।। मनु० ८।४१३।

७. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।। तै० सं० ५।७।६।३-४।

८. तस्माच्छूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विदेवो नहि तं काचन देवतान्वसृज्यत तस्मात्पादावनेज्यं नातिवर्धते पत्तो हि सृष्टः। ताण्ड्य० ६।१।११।

आर्य-समाज के अन्तर्गत आ गये थे, किन्तु उनका स्थान बहुत नीचा था। उनमें और आर्यों के बीच एक स्पष्ट रेखा खींच दी गयी थी। यह बात ब्राह्मण ग्रन्थों एवं धर्मसूत्रों के वचनों से सिद्ध हो जाती है। गौतमधर्मसूत्र (१२।३) में उस शूद्र के लिए, जो आर्य नारी के साथ सम्भोग करता था, कड़े दण्ड की व्यवस्था है। अपने पूर्वमीमांसासूत्र (६।१। २५-३८) में जैमिनि बहुत विवेचन के उपरान्त सिद्ध करते हैं कि अग्निहोत्र एवं वैदिक यज्ञों के लिए शूद्रों को कोई अधिकार नहीं है। आश्चर्य एवं सन्तोष की बात यह है कि कम-से-कम एक आचार्य बादरि ने शूद्रों के अधिकारों के लिए मत प्रकाशित किया कि वे भी वैदिक यज्ञों के योग्य हैं (६।१।२७)। वेदान्तसूत्र (१।३।३४-३८) में आया है कि शूद्रों को ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है, यद्यपि कुछ शूद्र पूर्वजन्मों के कारण, यथा विदुर, ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। स्मृति-साहित्य में कुछ स्थलों पर आर्यों एवं शूद्र नारियों के विवाह के सम्बन्ध में छूट दी गयी है (इस बात पर आगे किसी अध्याय में चर्चा होगी)। शूद्रों के विषय में हम आगे भी कुछ विवरण उपस्थित करेंगे। यहां इतना ही पर्याप्त है।

ऋग्वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य संहिताओं के वर्णन से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के कर्तव्यों में विभाजन-रेखाएँ स्पष्ट हो गयी थीं। ऋग्वेद (४।५०।८) में उल्लेख है कि वह राजा, जो ब्राह्मण को सर्व-प्रथम आदर देता है, अपने घर में सुख से रहता है। 'ब्राह्मण ऐसे देवता हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं (तै० स० १।७।३।१)। 'देवताओं के दो प्रकार हैं; देवता तो देवता हैं ही, और ब्राह्मण भी, जो पवित्र ज्ञान का अर्जन करते हैं और उसे पढ़ाते हैं, मानव देवता हैं' (शत० ब्रा०)। अथर्ववेद (५।१७।१९) में ब्राह्मणों की महत्ता गायी गयी और उन्हें सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३।३४) में आया है कि जब वरुण से कहा गया कि राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र के स्थान पर ब्राह्मण-पुत्र की बलि दी जायगी, तो उन्होंने कहा—'हाँ, ब्राह्मण तो क्षत्रिय से उत्तम समझा ही जाता है।' किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५।१।१।१२) में आया है—'न वै ब्राह्मणो राज्यायालम्' अर्थात् ब्राह्मण राज्य के योग्य नहीं है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आया है कि अश्वमेध के समय ब्राह्मण एवं राजन्य दोनों वीणा बजायें (दो ब्राह्मण नहीं), क्योंकि धन को ब्राह्मण के यहाँ आनन्द नहीं मिलता। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मणों के चार विलक्षण गुण हैं—ब्राह्मण्य (ब्राह्मण रूप में पवित्र माता-पिता वाला गुण, अर्थात् ब्राह्मण रूप में पवित्र पैतृकता), प्रतिरूपचर्या (पवित्राचरण), यश (महत्ता) एवं लोकपक्ति (लोगों को पढ़ाना या पूर्ण बनाना)। 'जब लोग ब्राह्मण से पढ़ते हैं या उसके द्वारा पूर्ण होते हैं तो वे उसे चार विशेषाधिकार देते हैं; अर्चा (आदर), दान, अज्येयता (कोई कष्ट नहीं देना) एवं अवध्यता।'[9] शतपथ ब्राह्मण (५।४।६।९) में स्पष्ट रूप से आया है कि ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र चार वर्ण हैं। ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों के विषय में हम आगे भी पढ़ेंगे। यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

अब हम संक्षेप में, क्षत्रियों की स्थिति के विषय में भी जानकारी कर लें। ऋग्वेद में कई स्थानों पर, यथा १०।४२।१० एवं १०।९७।६ में 'राजन्' का अर्थ है 'बड़ा' या 'महान्' या 'प्रमुख'। कहीं-कहीं 'राजन्' का अर्थ है 'राजा'। ऋग्वेद के काल में राज्य वर्ग-सम्बन्धी था, यथा यदु लोग, तुर्वशु लोग, द्रुह्यु लोग, अनु लोग, पुरु लोग, भृगु लोग, तृत्सु लोग। क्षत्रिय ही राजा होता था। जब राजा को मुकुट पहना दिया जाता था (राज्याभिषेक होता था) तो यही समझा जाता था कि एक क्षत्रिय सबका अधिपति, ब्राह्मणों एवं धर्म की रक्षा करनेवाला उत्पन्न किया गया है।[10]

९. प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशो लोकपक्तिम् लोकः। पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च। शतपथ० ११।५।७।१।

१०. क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि...... ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि। ऐतरेय ब्राह्मण ३८ एवं ३९।३।

क्षत्रिय को कोई कार्य आरम्भ करने के पूर्व ब्राह्मण के पास जाना चाहिए, ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के सहयोग से यश मिलता है; आदि बातें श्रुति-ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाती हैं (शत० ब्रा० ४।१।४।६)। क्रमशः राजा के पुरोहित का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया। एक ब्राह्मण बिना राजा के रह सकता है, किन्तु एक राजा बिना पुरोहित के नहीं रह सकता, यहाँ तक कि देवताओं को भी पुरोहित की आवश्यकता होती है (तैत्तिरीय सं० २।५।१।१)। त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप देवताओं के पुरोहित थे (तै० सं० २।५।१।१)। शण्ड एवं अमर्क असुरों के पुरोहित थे (काठक सं० ४।४)। एक राजन्य, जिसे पुरोहित प्राप्त है, अन्य राजन्यों से उत्तम है। एक राजा, जो ब्राह्मणों के लिए शक्तिशाली नहीं है, अर्थात् उनके सम्मुख विनम्र है, वह अपने शत्रुओं से अधिक शक्तिशाली होता है (यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति (शतपथ ब्राह्मण ५।४।४।१५)। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में ही कहीं-कहीं क्षत्रियों को सबसे उत्तम कहा गया है। अथर्ववेद में ब्राह्मण सर्वोच्च कहा गया है (५।१८।४ एवं १३ तथा ५।१९।३ एवं ८)।

किन्तु कभी-कभी कुछ राजाओं ने ब्राह्मणों का अनादर भी किया है। महाभारत एवं पुराणों की गाथाएँ कुछ राजाओं द्वारा ब्राह्मणों के प्रति अनादर भी प्रकट करती हैं। राजा कार्तवीर्य एवं विश्वामित्र की गाथाएँ, जिन्होंने जमदग्नि एवं वसिष्ठ की गौएँ छीन ली थीं, यह बताती हैं कि बहुत-से राजा अत्याचारी थे और उन्होंने ब्राह्मणों के प्रति कोई आदर नहीं प्रकट किया (महाभारत--शान्तिपर्व ४९, आदिपर्व १७५)। यहाँ तक कि ब्राह्मणों की पत्नियाँ भी राजाओं के हाथ में अरक्षित थीं (अथर्ववेद ५।१७।१४)।

तैत्तिरीय संहिता में आया है--पशुओं की कामना करनेवाले वैश्य सचमुच यज्ञ करते हैं। जब देवता लोग पराजित हो गये तो वे वैश्य की दशा को प्राप्त हो गये या असुरों के विश् बन गये।[11] मनुष्यों में वैश्य, पशुओं में गायें अन्य लोगों के उपभोग की वस्तुएँ हैं; वे भोजन के आधार से उत्पन्न किये गये हैं, अतः वे संख्या में अधिक हैं।[12] तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है कि वैश्य ऋक्-मन्त्रों से उत्पन्न हुए हैं। इसके अनुसार क्षत्रियों का उद्गम यजुर्वेद से एवं ब्राह्मणों का उद्गम सामवेद से हुआ है।[13] इसी ब्राह्मण ने यह भी लिखा है कि विश् ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से पृथक् रहते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में यह आया है कि वैश्य ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से निम्न श्रेणी के हैं (ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६।१।१०)। ऐतरेय ब्राह्मण (३५।३) के अनुसार वैश्य अन्य लोगों का भोजन है और कर देनेवाला है। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि वैश्य यज्ञ कर सकते थे, पशु पालन करते थे, दोनों ऊँची जातियों की अपेक्षा संख्या में अधिक थे, उन्हें कर देना पड़ता था, वे ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से दूर रहते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे।

वर्ण-व्यवस्था ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन समय में इतनी सुदृढ़ हो गयी थी कि देवताओं में भी जाति-विभाजन हो गया था। अग्नि एवं बृहस्पति देवताओं में ब्राह्मण थे; इन्द्र, वरुण, यम क्षत्रिय थे; वसु, रुद्र, विश्वे-देव एवं मरुत् विश् थे, तथा पूषा शूद्र था। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण वसन्त ऋतु हैं, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु एवं विश् वर्षा ऋतु हैं।

११. पशुकामः खलु वैश्यो यजते। तै० सं० २।५।१०।२; ते देवाः पराजिग्याना असुराणां वैश्यमुपायन्। तै० सं० २।३।७।१।

१२. वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मात्त आद्या अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यः। तै० सं० ७।१।१।५।

१३. ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः। यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः। तै० ब्रा० ३।१२।९; तस्माद् ब्राह्मणश्च क्षत्राच्च विशोन्यतोऽपक्रमिणीः। तै० ब्रा० १।६।५।

चार वर्णों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसाय एवं शिल्प से सम्बन्धित वर्ग थे जो कालान्तर में जाति-सूचक हो गये, यथा वप्ता अर्थात् नाई (ऋ० १०।१४२।४), तष्टा अर्थात् बढ़ई या रथनिर्माता (ऋ० १।६१।४; ७।३२।२०; ९।११२।१; १०।११९।५), त्वष्टा या बढ़ई (८।१०२।८), भिषक् अर्थात् वैद्य (९।११२।१ एवं ३), कर्मार या कार्मार अर्थात् लोहार (१०।७२।२ एवं ९।११२।२), चर्मम्न अर्थात् चर्मशोधनकार या चमार (ऋ० ८।५।३८)। अथर्ववेद में रथकार (३।५।६), कर्मार (३।५।६) एवं सूत (३।५।७) का उल्लेख हुआ है। तैत्तिरीय संहिता (४।५।४।२) में क्षत्ता (चँवर डुलाने वाला या द्वारपाल), संग्रहीता (कोषाध्यक्ष), तक्षा (बढ़ई, रथकार), कुलाल (कुम्हार), कर्मार, पुञ्जिष्ठ (व्याध), निषाद, इषुकृत् (बाणनिर्माता), धन्वकृत् (धनुषनिर्माता), मृगयु (शिकारी) एवं श्वनि (शिकारी कुत्तों को ले जानेवाले) के नाम आये हैं। ये नाम वाजसनेयी संहिता (१६।२६-२८; ३०।५-१३) तथा काठक संहिता (१७।१४) में आये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१) में आयोगू, मागध (भाट), सूत, शैलूष (अभिनेता), रेभ, भीमल, रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, वप (नाई, रोपनेवाला), इषुकार, धन्वकार, ज्याकार (प्रत्यंचा-निर्माता), रज्जुसर्ग, मृगयु, श्वनि, सुराकार, अयस्ताप (लोहा या ताँबा तपानेवाला), कितव (जुआरी), विदलकार, कण्टककार के नामों का उल्लेख हुआ है। ये नाम संहिताओं एवं ब्राह्मणों के प्रणयन-काल में सम्भवतः जातिसूचक भी थे। यद्यपि ये व्यवसाय एवं शिल्प के सूचक हैं, किन्तु इनसे सम्बन्धित जातियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। ताण्ड्य ब्राह्मण में किरातों का भी उल्लेख है। ये अनार्य एवं आदिवासी थे। पौल्कस एवं चाण्डाल का उल्लेख वाजसनेयी संहिता (३०।१७) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१४ एवं ३।४।१७) में हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में चाण्डाल निम्न श्रेणी में रखा गया है (५।२४।४)।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।४) में उल्लेख है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य क्रम से वसन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु एवं शरद् ऋतु में यज्ञ करें, किन्तु रथकार वर्षा ऋतु में ही यज्ञ करे। तो, क्या रथकार तीन उच्च जातियों से भिन्न है? जैमिनि ने अपने पूर्वमीमांसासूत्र (६।१।४४-५०) में रथकार को तीन जातियों से भिन्न माना है, और उसे सौधन्वन जाति का कहा है। स्पष्ट है, रथकार शूद्र तो नहीं था, किन्तु तीन उच्च जातियों से निम्न श्रेणी का अवश्य था। आज के बढ़ई कहीं-कहीं उपनयन संस्कार कराते हैं और जनेऊ भी धारण करते हैं। निषादों के विषय में स्वयं श्रौत एवं सूत्र-ग्रन्थों में मतभेद है। पूर्वमीमांसासूत्र में आया है कि निषाद रुद्र के लिए, जैसा कि वेद में आया है, 'इष्टि' दे सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण ने निषादों को दुष्कर्मी कहा है (३७।७)। शाङ्खायन ब्राह्मण में ऐसा उल्लिखित है कि विश्वजित् यज्ञ करनेवाला निषादों की बस्ती में रहकर उनके निम्नतम श्रेणी के भोजन को ग्रहण कर सकता है (२५।१५)। सत्याषाढ कल्प (३।१) में रथकार एवं निषाद दोनों अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास नामक कृत्यों के योग्य माने गये हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण (३३।६)[१४] में उल्लेख है कि जब विश्वामित्र ने अपने ५० पुत्रों को आज्ञा दी कि वे शुनश्शेप को भी अपना भाई मानें और जब उनके पुत्रों ने उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया तो उन्होंने उन सभी को अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब हो जाने का शाप दिया। ये जातियाँ दस्यु थीं। सम्भवतः इसी किंवदन्ती के आधार पर मनुस्मृति (१०।४३-४५)[१५] ने पौण्ड्रकों, ओड्रों, द्रविड़ों, कम्बोजों, यवनों, शकों, पारदों, पह्लवों, चीनों, किरातों, दरदों एवं

१४.ताननुव्याजहारान्तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति। त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।६)।

१५. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥ मुखबाहूरुपज्जाता या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ मनु० १०।४३-४५।

खशों को मूलतः क्षत्रिय माना है और कहा है कि वे कालान्तर में वैदिक संस्कारों के न करने से एवं ब्राह्मणों के सम्बन्ध से दूर रहने पर शूद्रों की श्रेणी में आ गये। मनु ने यह भी कहा है कि चारों वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियाँ शूद्र हैं, चाहे वे आर्यों या म्लेच्छों की भाषा बोलती हों।

पुरुषसूक्त में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र की जो चर्चा है तथा शतपथ ब्राह्मण में जिन चार वर्णों का उल्लेख है, वह केवल सिद्धान्त मात्र नहीं है, प्रत्युत वह एक व्यावहारिक परिचर्या का उल्लेख है। स्मृतियों ने इन चारों वर्णों को श्रुति-कथन मानकर उन्हें शाश्वत एवं निश्चित कहकर उनके विशेषाधिकारों एवं कर्तव्यों की चर्चा कर डाली है। उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम निम्न सम्भावित स्थापनाएँ उपस्थित कर सकते हैं—

(१) आरम्भ में केवल दो वर्ण थे—(१) आर्य एवं उनके वैरी, (२) दस्यु या दास। यह अन्तर्भेद केवल रंग एवं संस्कृति को लेकर था, अर्थात् सम्पूर्ण समाज का दो भागों में विभाजन केवल वर्गीय एवं सांस्कृतिक था।

(२) संहिता-काल से शताब्दियों पूर्व दस्यु पराजित हो चुके थे और वे आर्यों के अधीन निम्न श्रेणी के मान लिये गये थे।

(३) पराजित दस्यु ही कालान्तर में शूद्र ठहराये गये।

(४) दस्युओं के प्रति पृथक्त्व की भावना एवं उच्चता के अहंकार के फलस्वरूप आर्यों ने क्रमशः अपने भीतर भी विभाजन की रेखाएँ खींच दीं, अर्थात् कुछ आर्य जातियाँ भी दस्युओं की श्रेणी में आती चली गयीं।

(५) ब्राह्मण-साहित्य के काल तक ब्राह्मण (अध्ययनाध्यापन एवं पौरोहित्य-कार्य में संलग्न), क्षत्रिय (राजा, सैनिक आदि) एवं वैश्य (शिल्पकार एवं सामान्य जन) विभिन्न वर्गों में बँट गये थे और उनकी जाति का निर्धारण जन्म से मान लिया गया था; इतना ही नहीं, ब्राह्मण क्षत्रिय से उच्च मान लिये गये थे।[१६]

(६) वैदिक काल के बहुत पूर्व चाण्डाल एवं पौल्कस निम्न जाति में उल्लिखित हो चुके थे।

(७) सभ्यता एवं संस्कृति के उत्थान के फलस्वरूप कार्य-विभाजन की उत्पत्ति हुई और कतिपय कलाओं एवं शिल्पकारों के उद्भव के कारण व्यवसायों पर आधारित बहुत-सी उपजातियों की सृष्टि होती चली गयी।

(८) चार वर्णों के अतिरिक्त रथकार के समान कुछ अन्य मध्यवर्ती जातियाँ भी बन गयीं।

(९) कुछ अन्य अनार्य जातियाँ भी थीं, जिनके विषय में यह धारणा बन गयी थी कि मूलतः वे क्षत्रिय थीं, किन्तु अब पदच्युत हो चुकी थीं।

वैदिक काल के अन्त होने के पूर्व निम्नलिखित जातियों का उद्भव हो चुका था। ये जातियाँ विभिन्न व्यवसायों एवं शिल्पों से सम्बन्धित थीं। वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, काठक संहिता (१७।१३), अथर्ववेद, ताण्ड्य ब्राह्मण (३।४), ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यकोपनिषद् के आधार पर ही निम्न सूची उपस्थित की जा रही है। कुछ एक के नाम पहले भी उल्लिखित कर दिये गये हैं और कुछ एक का अर्थ अभी नहीं ज्ञात हो सका है और उनके आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है।

अजापाल (बकरी पालनेवाला)	चर्मम्न	भीमल (कायर ?)
अन्ध्र	चाण्डाल	
अयस्ताप	जम्मक (?)	मणिकार

१६. चार वर्णों का यह सिद्धान्त बौद्ध साहित्य में भी पाया जाता है। किन्तु वहाँ सूची में क्षत्रिय लोग ब्राह्मण से पहले रखे गये हैं।

अयोगू या आयोगू
अविपाल (गड़रिया)
आन्द (?)
इषुकार
उग्र
कण्टककार या कण्टकीकारी (वाजसनेयी संहिता में)
कर्मार
कारि (नर्तक)
कितव
किरात
कीनाश (खेतिहर)
कुलाल या कौलाल
केवर्त
कोशकारी (भाथी फूंकनेवाला)
क्षत्ता
गोपाल (गुवाला)

ज्याकार
तक्षा
दाश
धनुष्कार या धन्वाकार या धन्वकृत्
धैवर
निषाद या नैषाद
पुंश्चलु
पुञ्जिष्ठ
पुण्ड्र
पुलिन्द
पौल्कस
बैन्द (मछली पकड़ने वाला)
भिषक्

मागध
मार्गार
मूतिब
मृगयु
मैनाल
राजयित्री (रंगरेज)
रज्जुसर्ग या सर्ज
रथकार
राजपुत्र
रेभ ((?)
वंशनर्ती
वप (नाई)
वाणिज
वासःपल्पूलि (धोबी)
विदलकारी या विदल
व्रात्य
शबर
शाबल्य (?)
शैलूष
स्वनी (श्वनित)
संगृहीता
सुराकार
सूत
सेलग
हिरण्यकार

धर्मसूत्रों, प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों एवं मेगस्थनीज के अपूर्ण उद्धरणों से पता चलता है कि ईसा के कई शताब्दी पूर्व कतिपय जातियाँ विद्यमान थीं। मेगस्थनीज का वृत्तान्त भ्रान्तिपूर्ण है, किन्तु उसके कथन को हम यों ही नहीं टाल सकते। उसके अनुसार भारत के जन सात जातियों में विभाजित थे---(१) दार्शनिक, (२) कृषक, (३) गोपाल एवं गड़रिया, (४) शिल्पकार, (५) सैनिक, (६) अवेक्षक तथा (७) सभासद एवं करग्राही। इनमें पहला एवं पाँचवाँ वर्ग क्रम से ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जाति के सूचक हैं, दूसरा एवं तीसरा वर्ग वैश्य के, चौथा शूद्र का एवं छठा तथा सातवाँ अध्यक्षों एवं अमात्यों (कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार) के सूचक हैं। अध्यक्ष एवं अमात्य, वास्तव में, जातिसूचक नहीं हो सकते, ये व्यवसाय के परिचायक हैं। सम्भवतः ये पद वंशपरम्परागत थे, अतः मेगस्थनीज को भ्रम हो गया है। मेगस्थनीज ने यह भी कहा है कि एक जाति के लोग दूसरी जाति से विवाह आदि नहीं कर सकते थे और न अपनी जाति के व्यवसाय के अतिरिक्त कोई अन्य व्यवसाय कर सकते थे। यह कथन केवल सिद्धान्त की ओर संकेत करता है न कि व्यवहार की ओर। अपवाद तो सर्वत्र पाये जाते हैं।

प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने श्रुति-सम्मत चार वर्णों से उद्भूत शाखा-प्रशाखाओं की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा है। एक मत से सभी ने स्वीकार किया है कि देश में फैली हुई विभिन्न जातियाँ एक जाति के पुरुषों एवं दूसरी जाति की स्त्रियों के मेल से उत्पन्न हुई हैं। स्मृतियों में कतिपय जातियों एवं उपजातियों का वर्णन है। ये जातियाँ या उपजातियाँ कल्पनात्मक नहीं थीं, प्रत्युत उनके पीछे परम्पराओं एवं रूढियों का इतिहास था। देश के विभिन्न भागों में लिखे गये स्मृति-ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं कि समय-समय पर समाज में प्रचलित आचारों को धार्मिक एवं लोक-सम्मत प्रतिष्ठा देना अनिवार्य सा हो गया था।

सभी धर्मशास्त्रकार, (१) चारों वर्णों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के क्रम से रखते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि (२) एक उच्च जाति का व्यक्ति अपने से निम्न जाति की स्त्री से विवाह कर सकता है, किन्तु कोई निम्न जाति का व्यक्ति अपने से उच्च जाति की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। (३) कुछ स्मृतिकारों ने एक तीसरी स्थापना भी प्रस्तुत की है; यदि एक ही जाति वाले पिता एवं माता से कोई उत्पन्न हो तो वह संतति जन्म से ही उसी जाति की मानी जायगी। जब एक उच्च वर्ण या जाति का व्यक्ति अपने से निम्न जाति की स्त्री से विवाह करता है तो इसे अनुलोम विवाह कहा जाता है (लोम = केश के साथ स्वाभाविक क्रम से—अनुलोम) और इससे उत्पन्न संतति को अनुलोम कहा जाता है। किन्तु जब किसी उच्च जाति की स्त्री का विवाह किसी निम्न जाति या वर्ण के पुरुष से होता है, तो इसे प्रतिलोम (लोम = केश के विपरीत, स्वाभाविक अथवा उचित क्रम के विपरीत) विवाह कहा जाता है और इससे उत्पन्न संतति को प्रतिलोम संतति की संज्ञा मिलती है। वैदिक साहित्य में 'अनुलोम' एवं 'प्रतिलोम' शब्द विवाह के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुए हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।१।१५) एवं कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् (४।१८) में ऐसा आया है कि यदि एक ब्राह्मण ब्रह्मज्ञान के लिए किसी क्षत्रिय के पास जाय तो यह 'प्रतिलोम' गति कही जायगी। सम्भवतः इसी अर्थ को कालान्तर में विवाह के लिए भी प्रयुक्त कर दिया गया।

अब देखना यह है कि अनुलोम या प्रतिलोम नामक सम्बन्ध विवाह है या केवल सम्मिलन मात्र। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।६।१३।१, ३-४) ने अनुलोम विवाह को भी अस्वीकृत किया है। उन्होंने अनुलोम एवं प्रतिलोम जातियों की चर्चा तक नहीं की है। किन्तु गौतम (४।१), वसिष्ठ (१।२४), मनु (३।१२-१३) एवं याज्ञवल्क्य (१।५५ एवं ५७) ने स्वजाति-विवाह को उचित कहा है, किन्तु अनुलोम विवाह को वर्जित नहीं माना है। याज्ञवल्क्य (१।९२) ने स्पष्ट शब्दों में छः अनुलोम जातियों के नाम गिनाये हैं, यथा मूर्धावसिक्त, अम्बष्ठ, निषाद, माहिष्य, उग्र एवं करण। ये जातियाँ उच्च वर्ण के पुरुषों एवं उनसे निम्न वर्ण की स्त्रियों की सन्ततियों से उत्पन्न हुई हैं। मनु (१०।४१) ने लिखा है कि छः अनुलोम जातियाँ द्विजों के सारे क्रिया-संस्कारों को कर सकती हैं, किन्तु प्रतिलोम जातियाँ शूद्र के समान हैं, वे द्विजों के संस्कार आदि नहीं कर सकतीं, चाहे वे ब्राह्मण स्त्री एवं क्षत्रिय पति या वैश्य पति से ही क्यों न उद्भूत हुई हों। कौटिल्य (३।७) ने लिखा है कि चाण्डालों को छोड़कर सभी प्रतिलोम शूद्रवत् हैं। विष्णु (१६।३) ने इन्हें आर्यों द्वारा गर्हित माना है (प्रतिलोमास्त्वार्यविगर्हिताः)। पराशरमाधवीय द्वारा उद्धृत देवल का कहना है कि प्रतिलोम वर्णों से पृथक् एवं पतित हैं। स्मृत्यर्थसार के अनुसार अनुलोम पुत्र एवं मूर्धावसिक्त तथा अन्य अनुलोम जातियाँ द्विजातियाँ हैं और द्विजों के सारे संस्कार कर सकती हैं। कुल्लूक—ऐसे भाष्यकारों ने प्रतिलोमों की भर्त्सना की है। गौतम (४।२०) ने प्रतिलोमों को धर्महीन कहा है। इस कथन का अर्थ मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२६२) में इस प्रकार है——प्रतिलोम लोग उपनयन आदि संस्कार नहीं कर सकते, हाँ वे व्रत, प्रायश्चित्त आदि कर सकते हैं। वसिष्ठ, बौधायन तथा अन्य लेखकों के मत स्पष्ट नहीं हैं, जब वे प्रतिलोमों की चर्चा करते हैं तो यह नहीं विदित हो पाता कि ये सन्ततियाँ विहित विवाह की फलस्वरूप हैं या विधिविरुद्ध हैं या जारज (व्यभिचार की फलस्वरूप) हैं। किन्तु इस विषय में उशना एवं वैखानस स्पष्ट हैं। उशना (५।२-५) के अनुसार ब्राह्मण-स्त्री एवं क्षत्रिय-पुरुष के वैवाहिक संबंध से उत्पन्न पुत्र 'सूत' कहा जाता

है, किन्तु ब्राह्मण नारी एवं क्षत्रिय पुरुष के चोरिकाविवाह (प्रच्छन्न सम्मिलन) से उत्पन्न पुत्र 'रथकार' कहलाता है। स्पष्ट है, अनुलोम के अतिरिक्त प्रतिलोम विवाह भी विहित हो सकता था। उशना के अनुसार एक ब्राह्मण स्त्री क्षत्रिय पुरुष का विधिवत् वरण कर सकती थी और न्यायानुकूल दोनों के विवाह हो सकते थे। विधिवत् विवाह से उत्पन्न पुत्र एवं जारज पुत्र के अन्तर को सूतसंहिता (शिवमाहात्म्य खण्ड, अध्याय १२।१२-४८) ने स्पष्ट समझाया है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।९०) ने कुण्ड, गोलक (मनु० ३।१७४), कानीन, सहोढज नामक जारज सन्तानों को सवर्ण, अनुलोम एवं प्रतिलोम से पृथक् माना है और उन्हें शूद्र कहा है, किन्तु क्षेत्रज को एक पृथक् श्रेणी में रखा है (क्योंकि नियोग-प्रथा स्मृतियों एवं शिष्टाचारों द्वारा विहित मानी गयी है) और उसे माता की जाति में गिना है। अपरार्क (याज्ञ० १।९२) ने कानीन एवं सहोढ को भी ब्राह्मण (यदि जनक को ब्राह्मण सिद्ध किया जा सके तो) माना है; किन्तु विश्वरूप (याज्ञ० २।१३३) ने कानीन एवं गूढज को माता की जाति का माना है, क्योंकि जनक का पता लगाना कठिन है। यही बात सहोढज के विषय में भी लागू है। इस प्रकार के गौण पुत्रों का उल्लेख हम आगे के दायभाग नामक प्रकरण में करेंगे।

यहाँ हम, बहुत ही संक्षेप में, 'वर्ण' एवं 'जाति' शब्द के अन्तर को समझ लें। दोनों शब्दों का प्रयोग बहुधा समान अर्थ में होता रहा है। कभी-कभी दोनों के अर्थों में अन्तर भी पाया जाता रहा है। वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का द्योतक है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है कर्तव्यों पर, समाज या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल देना; न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। किन्तु इसके विपरीत जाति-व्यवस्था जन्म एवं आनुवंशिकता पर बल देती है और बिना कर्तव्यों के आचरणों पर बल दिये केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित है। वैदिक साहित्य में 'जाति' के आधुनिक अर्थ का प्रयोग नहीं हुआ है। निरुक्त में 'जाति' शब्द जाति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (१२।१३)। पाणिनि में भी इसके मूल रूप की व्याख्या है (जात्यन्ताच्छो बन्धुनि, ५।४।९)। मनु (१०।२७,३१) ने 'वर्ण' शब्द को मिश्रित जातियों के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है और कहीं-कहीं (३।१५; ८।१७७; ९।८६ आदि) इसका प्रयोग 'जाति' अर्थ में भी किया है।

अनुलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों की सामाजिक स्थिति के विषय में स्मृतिकारों के मतों में ऐक्य नहीं है। हमें तीन मत प्राप्त होते हैं---(१) यदि एक पुरुष अपने से निम्न पास वाली जाति की स्त्री से विवाह करता है तो उसकी सन्तानों का वर्ण पिता का वर्ण माना जायगा (बौ० ध० सू० १।८।६ एवं १।९।३; अनुशासनपर्व ४८।४; नारद; कौटिल्य ३।७)। गौतम (४।१५) ने कहा है कि एक ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की संतान ब्राह्मण होगी, किन्तु ऐसी बात क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान के साथ तथा वैश्य की शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान के साथ नहीं पायी जाती। (२) दूसरे मत के अनुसार अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तानों की सामाजिक स्थिति पिता से निम्नतर, किन्तु माता से उच्चतर होती है (मनु० १०।६)। (३) तीसरा मत सामान्य मत है; 'अनुलोमास्तु मातृसवर्णाः' (विष्णु० १६।२), अर्थात् अनुलोम सन्तानों के कर्तव्य एवं अधिकार उनकी माता के समान होते हैं। यही बात शंख एवं अपरार्क ने भी कही है। मेधातिथि (मनु० १०।६) ने लिखा है कि पाण्डु, धृतराष्ट्र एवं विदुर क्षेत्रज होने के नाते माता की जाति के थे। प्रतिलोम सन्तानें, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अपने पिता एवं माता की सामाजिक स्थिति से निम्न स्थिति वाली होती हैं।

अति प्राचीन धर्मसूत्रों में बहुत कम वर्णसंकर जातियों का उल्लेख हुआ है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में चाण्डाल, पौल्कस एवं वैण के नाम आये हैं। गौतम ने पाँच अनुलोम जातियों तथा छः प्रतिलोम जातियों के नाम गिनाये हैं। बौधायन गौतम की सूची में रथकार, श्वपाक, वैण, कुक्कुट के नाम जोड़ देते हैं। वसिष्ठ तो बहुत कम नाम लेते हैं। सर्वप्रथम मनु (१०) एवं विष्णुधर्मसूत्र (१६) ने वर्णसंकर जातियों के व्यवसायों की चर्चा की है। मनु ने ६ अनुलोम,

६ प्रतिलोम एवं २० मिश्रित जातियों के साथ २३ व्यवसायों की चर्चा की है। याज्ञवल्क्य ने चार वर्णों के अतिरिक्त १३ अन्य जातियों का उल्लेख किया है। उशना ने ४० जातियों एवं उनके विलक्षण व्यवसायों की चर्चा की है। सभी स्मृतियों की तालिका देखने पर लगभग १०० जातियों के नाम प्रकट हो जाते हैं।

छः अनुलोमों में केवल तीन के नाम मनु ने दिये हैं, यथा अम्बष्ठ, निषाद, उग्र। प्रारम्भिक छः प्रतिलोम हैं--सूत, वैदेहक, चाण्डाल, मागध, क्षत्ता एवं आयोगव। उपजातियों का उद्भव चारों वर्णों एवं अनुलोम तथा प्रतिलोम के सम्मिलन से, एक अनुलोम के पुरुष एवं दूसरे की नारी के सम्मिलन से, प्रतिलोमों के पारस्परिक सम्मिलन से तथा अनुलोम के पुरुष या नारी एवं प्रतिलोम के पुरुष या नारी के सम्मिलन से हुआ। याज्ञवल्क्य (१।९५) ने रथकार को माहिष्य पुरुष एवं करण स्त्री की सन्तान माना है। मनु (१०।१५) ने कहा है कि आवृत एवं आभीर सन्तानें क्रम से ब्राह्मण पुरुष एवं उग्र कन्या एवं ब्राह्मण पुरुष एवं अम्बष्ठ कन्या से उत्पन्न हुई हैं (अर्थात् ब्राह्मण एवं अनुलोम जाति वाली कन्याओं की सन्तानें)। मनु (१०।१९) ने श्वपाक को क्षत्ता पुरुष (प्रतिलोम) एवं उग्र कन्या (अनुलोम) की सन्तति माना है। विश्वरूप (याज्ञ० १।९५) ने ६ अनुलोम, २४ मिश्रित, (६ अनुलोमों एवं ४ वर्णों से मिश्रित), ६ प्रतिलोम एवं २४ मिश्रित (६ प्रतिलोमों एवं ४ वर्णों से मिश्रित) अर्थात् ६० जातियों तथा असंख्य उपजातियों की ओर संकेत किया है। विष्णुधर्मसूत्र (१६।७) ने असंख्य जातियों (संकरसंकराश्चासंख्येयाः) की ओर संकेत करके यह सिद्ध किया है कि आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व भारतीय समाज में असंख्य जातियाँ एवं उपजातियाँ थीं। स्मृतिकारों ने, इसीलिए, उनके मूल निकास के विषय में जानकारी प्राप्त करने का प्रयास ही छोड़ दिया। निबन्धकारों ने भी असंख्य जातियों एवं उपजातियों की ओर संकेत किया है। मेधातिथि (मनु० १०।३१) ने लिखा है कि ६० मिश्रित जातियाँ हैं, इनसे तथा चार वर्णों के पारस्परिक सम्मिलन से बहुभेदी उपजातियाँ बनती चली गयी हैं। मिताक्षरा ने (याज्ञ० १।९५) जातियों की गणना करना ही छोड़ दिया है। माध्यमिक काल के धर्मशास्त्रकारों ने चारों वर्णों के धर्मों की चर्चा करके अन्य जातियों एवं उपजातियों की उपेक्षा कर दी है।

जातियों एवं उपजातियों के नामों की व्याख्या करना बहुत कठिन है। कहीं वे व्यवसाय की सूचक हैं तो कहीं देश-प्रदेश की। स्मृतियों के काल में जातियाँ विशेषतः विभिन्न व्यवसायों की ही परिचायक थीं।

'वर्णसंकर' या केवल 'संकर' क्या है? मनु० (१०।१२,२४) में 'वर्णसंकर' बहुवचन में मिश्रित जातियों का सूचक है, किन्तु अन्यत्र (१०।४० एवं ५।८९) 'संकर' शब्द वर्णों के 'मिश्रण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गौतम (८।३) ने भी 'संकर' शब्द का प्रयोग किया है। 'दोनों (ब्राह्मण एवं राजन्य) पर (मनुष्यों का) सौख्य रक्षण, वर्ण-मिश्रण (वर्णसंकरता), गुणों का (एकत्र) होना (अथवा धर्मपालन) निर्भर करता है।'[१७] नारद का कहना है कि प्रतिलोम जन्म से वर्णसंकर होता है।[१८] किन्तु बृहस्पति ने अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनों जातियों को वर्णसंकर कहा है। बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार जो वर्णसंकर हैं वे व्रात्य हैं।[१९] मिताक्षरा (याज्ञ० १।९६) ने अनुलोम एवं प्रतिलोम संतानों के लिए 'वर्णसंकर' शब्द का प्रयोग किया है। मेधातिथि (मनु० ५।८८) के मतानुसार 'संकरजात' शब्द 'आयोगव' की भाँति प्रतिलोमों का द्योतक है। उनका कहना है कि यद्यपि अनुलोमों में

१७. प्रसूतिरक्षणमसंकरो धर्मः। गौतमधर्मसूत्र ८।३।

१८. प्रातिलोम्येन यज्जन्म स ज्ञेयो वर्णसंकरः। नारद (स्त्रीपुंस, १०२); ब्राह्मणक्षत्रविट्शूद्रा वर्णाश्चान्त्यास्त्रयो द्विजाः। प्रतिलोमानुलोमाश्च ते ज्ञात्वा (ज्ञेया?) वर्णसंकराः॥ बृहस्पतिः (कृत्यकल्पतरु)।

१९. वर्णसंकरादुत्पन्नान् व्रात्यानाहुर्मनीषिणः। बौ० ध० सू० १।९।१६।

भी वर्णसंकरता पायी जाती है, किन्तु वे अपनी माता की जाति के विशेषाधिकारों को प्राप्त कर लेते हैं। स्वयं मनु (१०।२५) अनुलोमों के लिए 'संकरणयोनि' शब्द का प्रयोग नहीं करते। यम ने कहा है कि मर्यादा के लोप होने से अर्थात् विवाह-सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन से वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं। यदि वर्णों का उचित क्रम माना जाय (अनु-लोम अर्थात् ऊँचे वर्ण के पुरुष नीचे वर्ण की नारी से विवाह करें) तो संतानें वर्णत्व प्राप्त करती हैं, किन्तु यदि प्रतिलोम क्रम माना जाय तो यह पातक है।[20] मनु (१०।२४) ने कहा है—'जब किसी वर्ण के सदस्य दूसरे वर्ण की नारियों से सम्भोग करते हैं, ऐसी नारियों से विवाह करते हैं जिनसे नहीं करना चाहिए (यथा सगोत्र कन्या से) तथा अपने वर्णों के कर्तव्यों का पालन नहीं करते हैं, तब वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है।' अनुशासनपर्व (४८।१) में उल्लेख है कि धन, लोभ, काम, वर्ण के अनिश्चय एवं वर्णों के अज्ञान से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है। भगवद्गीता (१।४१-४३) नामक दार्शनिक ग्रन्थ में भी आया है—'जब नारियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं, वर्णसंकरता उपजती है......।

वर्णसंकरता को रोकने के लिए स्मृतिकारों ने राजाओं को उद्बोधित किया है कि वे उन लोगों को, जो वर्णों के लिए बने हुए निश्चित नियमों का उल्लंघन करें, दण्डित करें। गौतम (११।९-१९) ने लिखा है कि शास्त्रों के नियमों के अनुसार राजा को वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करनी चाहिए, और जब वे (वर्णाश्रम) अपने कर्तव्यों से च्युत होने लगें तो उन्हें ऐसा करने से रोका जाय। वसिष्ठ (१९।७-८) ने भी ऐसा ही लिखा है। इसी प्रकार विष्णुधर्मसूत्र (३।३), याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३६१), मार्कण्डेयपुराण (२७), मत्स्यपुराण (२१५।६३) में भी कहा गया है। इसी लिए ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास राजा वासिठीपुत सिरी पुड़मायी (वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमायी) को चारों वर्णों को वर्ण-संकर होने से बचाने के फलस्वरूप प्रशंसा मिली (एपीग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ६०-६१—विनिवर्तितचातुवण-संकरस)। युधिष्ठिर ने भी (वनपर्व १८०।३१-३३) वर्णसंकर आदि की कड़े शब्दों में भर्त्सना की है। स्वामी शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र-भाष्य (१।३।३३) में लिखा है कि उनके काल में वर्ण एवं आश्रम अव्यवस्थित हो गये थे और अपने धर्म के अनुसार नहीं चल पा रहे थे, किन्तु ऐसी बात पूर्व युगों में नहीं थी, क्योंकि ऐसा होने पर धर्मशास्त्रों के विधान आदि निरर्थक ही सिद्ध हुए होते।[21]

गौतम (४।१८-१९), मनु (१०।६४-६५) एवं याज्ञवल्क्य (१।९६) जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष नामक एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इन लोगों के कथनों की व्याख्याओं में विभिन्नता पायी जाती है, किन्तु सामान्य अर्थ एक ही है। गौतम (४।१८) ने लिखा है कि आचार्यों के अनुसार अनुलोम लोग जब इस प्रकार विवाह करते हैं कि प्रत्येक स्तर में जब वर जाति में दुलहिन से उच्चतर या निम्नतर होता है तो वे सातवीं या पाँचवीं पीढ़ी में ऊपर उठते हैं (जात्युत्कर्ष) या नीचे जाते हैं (जात्यपकर्ष)।[22] हरदत्त ने इसे इस प्रकार समझाया है—जब एक ब्राह्मण एक क्षत्रिय नारी से विवाह करता है तो उससे जो कन्या उत्पन्न होती है वह सवर्णा कहलाती है। यदि यह सवर्णा कन्या किसी ब्राह्मण द्वारा विवाहित हो जाय और यह क्रम सात पीढ़ियों तक चलता जाय और सातवीं कन्या किसी ब्राह्मण से विवाह कर ले तो उस सम्बन्ध से जो भी सन्तान उत्पन्न होगी वह ब्राह्मण वर्ण वाली कहलायेगी (यद्यपि पूर्व

२०. मर्यादाया विलोपेन जायते वर्णसंकरः। आनुलोम्येन वर्णत्वं प्रातिलोम्येन पातकम्॥ कृत्यकल्पतरु की हस्तलिखित प्रति (व्यवहार, प्रकीर्णक) में उद्धृत यम का श्लोक।

२१. इदानीमिव च कालान्तरेऽपि अव्यवस्थितप्रायान् वर्णधर्मान् प्रतिजानीत। ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्र-मनर्थकं स्यात्। शांकरभाष्य, वेदान्तसूत्र १।३।३३।

२२. वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वाचार्याः। सृष्ट्यन्तरजातानां च। गौतम० ४।१८।-१९।

पीढ़ियों में केवल पिता ही ब्राह्मण थे, सभी माताएँ ब्राह्मण नहीं थीं, वे सवर्ण थी)। यह **जात्युत्कर्ष** (जाति में उत्कर्ष या उत्थान) कहलाता है। जब कोई ब्राह्मण क्षत्रिय नारी से विवाह करता है और उसे कोई पुत्र उत्पन्न होता है तो वह **सवर्ण** कहलायेगा। यदि वह सवर्ण पुत्र किसी क्षत्रिय कन्या से विवाह करता है और उसे पुत्र उत्पन्न होता है और यह क्रम पाँच पीढ़ियों तक चला जाता है तो जब पाँचवीं पीढ़ी का पुत्र क्षत्रिय कन्या से विवाह करता है तब उसका पुत्र क्षत्रिय वर्ण का कहलायेगा (यद्यपि पूर्व पीढ़ियों में पिता क्षत्रिय से ऊँची जाति का था और माता केवल क्षत्रिय जाति की थी)। इसे **जात्यपकर्ष** (जाति की स्थिति में अपकर्ष या पतन) कहा जाता है। यही नियम क्षत्रिय का वैश्य नारी से तथा वैश्य का शूद्र नारी से विवाह करने पर लागू होता है। यही नियम अनुलोमों के साथ भी चलता है।

मनु के मतानुसार (१०।६४) जब कोई ब्राह्मण किसी शूद्र नारी से विवाह करता है तो उससे उत्पन्न कन्या 'पारशव' कहलाती है और यदि यह पारशव लड़की किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है और पुनः इस सम्मिलन से उत्पन्न लड़की किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो इस प्रकार की सातवीं पीढ़ी ब्राह्मण होगी, अर्थात् जात्युत्कर्ष होगा। ठीक इसके प्रतिकूल यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्रा से विवाह करता है और पुत्र उत्पन्न होता है तो वह पुत्र 'पारशव' कहलायेगा और जब वह पारशव पुत्र किसी शूद्रा से विवाहित होता है और उसका पुत्र पुनः वैसा करता है तो इस प्रकार सातवीं पीढ़ी में पुत्र केवल शूद्र हो जाता है। इसे जात्यपकर्ष कहा जाता है।

गौतम और मनु के मतों में कई भेद स्पष्ट हो जाते हैं—(१) मनु ने जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष दोनों के लिए सात पीढ़ियाँ आवश्यक समझी हैं, किन्तु गौतम ने (हरदत्त के अनुसार) क्रम से सात एवं पाँच पीढ़ियाँ बतायी हैं। (२) गौतम के अनुसार प्रथम से आठवाँ अनुलोम ही जात्युत्कर्ष प्राप्त करता है, किन्तु मनु के अनुसार सातवीं पीढ़ी ही ऐसा कर पाती है। (३) जब आरम्भिक माता-पिता अनुलोम होते हैं तो जात्युत्कर्ष कैसे होता है, इसके विषय में मनु मौन हैं। मनु के भाष्यकारों ने जाति के उत्कर्ष एवं अपकर्ष के विषय में अवधियाँ कम कर दी हैं। मेधातिथि के अनुसार पाँचवीं पीढ़ी में जात्युत्कर्ष सम्भव है। इसी प्रकार जात्यपकर्ष के लिए पाँच पीढ़ियाँ ही पर्याप्त हैं।

याज्ञवल्क्य (१।९६)[23] ने जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष के दो प्रकार बताये हैं, जिनमें एक तो विवाह (मनु एवं गौतम के समान) से उत्पन्न होता है और दूसरा व्यवसाय से। यह जानना चाहिए कि सातवीं एवं पाँचवीं पीढ़ी में जात्युत्कर्ष होता है; यदि व्यवसाय (जाति या वर्ण की वृत्ति या पेशा) में विपरीतता पायी जाती है तो उसमें भी वर्ण के समान ही सातवीं एवं पाँचवीं पीढ़ी में जात्युत्कर्ष पाया जाता है। मेधातिथि ने इसे इस प्रकार समझाया है—यदि कोई ब्राह्मण शूद्र से विवाह करे और उससे कन्या उत्पन्न हो तो वह कन्या **निषादी** कही जायगी, यदि वह निषादी एक ब्राह्मण से विवाहित होती है और पुत्री उत्पन्न करती है और वह पुत्री एक ब्राह्मण से विवाहित होती है और यह क्रम छः पीढ़ियों तक चला जाता है, तो छठी का बच्चा सातवीं पीढ़ी में आकर ब्राह्मण हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई ब्राह्मण किसी वैश्य नारी से विवाह करता है, तो उससे जो कन्या उत्पन्न होगी वह **अम्बष्ठा** कहलायेगी, और यदि यह अम्बष्ठा कन्या किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो इस क्रम से चलकर छठी पीढ़ी से जो सन्तान होगी वह ब्राह्मण कहलायेगी। यदि कोई ब्राह्मण किसी क्षत्रिय नारी से विवाह करे और पुत्री उत्पन्न हो तो वह **मूर्धावसिक्त** कहलायेगी (याज्ञवल्क्य १।९१) और यदि वह मूर्धावसिक्त कन्या किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो पाँचवीं पीढ़ी में इसी क्रम से जो सन्तान होगी वह ब्राह्मण होगी। इसी प्रकार यदि कोई क्षत्रिय किसी शूद्रा से विवाहित होता है तो उससे उत्पन्न कन्या **उग्र** कहलायेगी, और यदि वह क्षत्रिय से विवाह करे तो जात्युत्कर्ष छठी पीढ़ी में हो जायगा।

२३. जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा। व्यत्यये कर्मणा साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्॥ याज्ञ० १।९६।

यदि कोई क्षत्रिय वैश्य नारी से विवाहित होता है तो उससे उत्पन्न कन्या **माहिष्या** कहलायगी और जात्युत्कर्ष पाँचवीं पीढ़ी में होगा। यदि कोई वैश्य शूद्र से विवाह करे तो उससे उत्पन्न कन्या **करणी** कहलायेगी और यदि वह वैश्य से विवाह करे तो पाँचवीं पीढ़ी में जात्युत्कर्ष हो जायगा। चारों वर्णों के लिए कुछ-न-कुछ विशिष्ट वृत्तियाँ या अपने व्यवसाय निर्धारित हैं। आपत्काल में एक वर्ण अपने निकट नीचे के वर्ण का व्यवसाय कर सकता है, किन्तु अपने से ऊँचे वर्ण का व्यवसाय वर्जित है। किन्तु आपत्ति के हट जाने पर पुनः अपनी वृत्ति में लौट आना चाहिए।[२४] इस विषय में हम वसिष्ठ (२।१३-२३), विष्णुधर्मसूत्र (२।१५), याज्ञवल्क्य (१।११८-१२०), गौतम (१०।१-७) आदि को देख सकते हैं। यदि कोई ब्राह्मण शूद्र की वृत्ति अपनाये और उससे उत्पन्न लड़का भी वैसा ही करे तो इस क्रम से आगे चलकर सातवी पीढ़ी की सन्तान शूद्र हो जायगी। यदि कोई ब्राह्मण किसी वैश्य या क्षत्रिय की वृत्ति अपनाये तो इस क्रम से आगे चलकर क्रम से पाँचवीं या छठी पीढ़ी में उसकी सन्तानें क्रम से वैश्य या क्षत्रिय हो जायँगी। इसी प्रकार यदि कोई क्षत्रिय वैश्य या शूद्र की वृत्ति अपनाये तो पाँचवीं या छठी पीढ़ी में उसकी सन्तानें क्रम से वैश्य या शूद्र हो जायँगी। इसी प्रकार एक वैश्य की शूद्र वृत्ति उसकी पाँचवीं पीढ़ी में उसके कुल को शूद्र बना देगी।

बौधायनधर्मसूत्र (१८।१३-१४) में जात्युत्कर्ष का एक दूसरा ही उदाहरण मिलता है—यदि कोई निषाद (एक ब्राह्मण का उसकी शूद्र नारी से उत्पन्न पुत्र) किसी निषादी से विवाह करता है और यह क्रम चलता रहता है तो पाँचवीं पीढ़ी शूद्र की गर्हित स्थिति से छुटकारा पा लेती है और सन्तानों का उपनयन संस्कार हो सकता है अर्थात् उनके लिए वैदिक यज्ञ किये जा सकते हैं।

उपर्युक्त विधानों से जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था की दृढताएँ पर्याप्त मात्रा में शिथिल हो जाती हैं। एक सन्देह उत्पन्न हो सकता है; क्या जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष की विधियाँ (विशेषतः वृत्ति या व्यवसाय-सम्बन्धी) कभी वास्तविक जीवन में कार्यान्वित हुई? पाँच या सात पीढ़ियों तक का वंश-क्रम स्मरण रखना हँसी-खेल नहीं हैं। इसके अतिरिक्त इस विषय में स्वयं स्मृतिकारों में मतैक्य नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि ऐसे विधान केवल आदर्श रूप में ही पड़े रह गये होंगे। मनु एवं याज्ञवल्क्य के कथनानुसार हमें साहित्य, धर्मशास्त्रों, अभिलेखों या शिलालेखों में कोई भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता। शिलालेखों में कहीं-कहीं अन्तर्जातीय विवाह की चर्चाएँ पायी गयीं हैं। कादम्ब कुल आरम्भ में ब्राह्मणकुल था, किन्तु कालान्तर में क्षत्रिय हो गया। वृत्ति-परिवर्तन के कारण ही ऐसा सम्भव हो सका, और आरम्भ के मयूर शर्मा का कुल कालान्तर में वर्मा (क्षत्रियत्व की बोधक) उपाधि धारण करने लगा। महाभारत में हम कुछ राजाओं को ब्राह्मण होते देखते हैं, यथा राजा वीतहव्य ब्राह्मण हो गये (अनुशासनपर्व ३०), आर्ष्टिषेण, सिन्धुद्वीप, देवापि एवं विश्वामित्र सरस्वती के पवित्र तट पर ब्राह्मण हुए (शल्यपर्व ३९।३६-३७)। पुराणों में विश्वामित्र, मान्धाता, सांकृति, कपि, वध्रचश्व, पुरुकुत्स, आर्ष्टिषेण, अजमीढ आदि ब्राह्मण पद प्राप्त करते देखे गये हैं।

धर्मशास्त्र-साहित्य एवं उत्कीर्ण लेखों से विदित होता है कि व्यवसाय-सम्बन्धी जातियाँ व्यवस्थित एवं घनी थीं। इस सम्बन्ध में **श्रेणी, पूग, गण, व्रात** एवं **संघ** शब्दों की जानकारी आवश्यक है। कात्यायन के मतानुसार ये सभी समूह या वर्ग कहे जाते थे।[२५] वैदिक साहित्य में भी ये शब्द आये हैं, किन्तु वहाँ इनका सामान्य अर्थ 'दल' अथ-

२४. अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां यवीयसीं वृत्तिमातिष्ठेरन्। न तु कदाचिज्ज्यायसीम्। वसिष्ठ २।२२-२३।

२५. गणाः पाषण्डपूगाश्च व्राताश्च श्रेणयस्तथा। समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गाख्यास्ते बृहस्पतिः॥ स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहार) में उद्धृत कात्यायन-वचन।

वा वर्ग ही है।[२६] पाणिनि ने **पूग, गण, संघ** (५।२।५२), **व्रात** (५।२।२१) की व्युत्पत्ति आदि की है। पाणिनि के काल तक इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ व्यक्त हो गये थे। महाभाष्य (पाणिनि पर, ५।२।२१) ने **व्रात** को उन लोगों का दल माना है, जो विविध जातियों के थे और उनके कोई विशिष्ट स्थिर व्यवसाय नहीं थे, केवल अपने शरीर के बल (पारिश्रमिक) से ही अपनी जीविका चलाते थे। काशिका ने **पूग** को विविध जातियों के उन लोगों का दल माना है, जो कोई स्थिर व्यवसाय नहीं करते थे, वे केवल धनलोलुप एवं कामी थे। कौटिल्य (७।१) ने एक स्थान पर सैनिकों एवं श्रमिकों में अन्तर बताया है, और दूसरे स्थान पर यह कहा है कि कम्बोज एवं सुराष्ट्र के क्षत्रियों की श्रेणियाँ आयुधजीवी एवं वार्ता (कृषि) जीवी हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र (१६।१५) ने **श्रेणी** एवं विष्णुधर्मसूत्र (५।१६७) ने **गण** का प्रयोग संगठित समाज के अर्थ में किया है। मनु (८।२१९) ने **संघ** का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। विविध भाष्यकारों ने विविध ढंग से इन शब्दों की व्याख्या उपस्थित की है। कात्यायन के अनुसार **नैगम** एक ही नगर के नागरिकों का एक समुदाय है, **व्रात** विविध अस्त्रधारी सैनिकों का एक झुंड है, **पूग** व्यापारियों का एक समुदाय है, **गण** ब्राह्मणों का एक दल है, **संघ** बौद्धों एवं जैनों का एक समाज है, तथा **गुल्म** चाण्डालों एवं श्वपचों का एक समूह है। याज्ञवल्क्य (१।३६१) ने ऐसे **कुलों, जातियों, श्रेणियों** एवं **गणों** को दण्डित करने को कहा है, जो अपने आचार-व्यवहार से च्युत होते हैं। मिताक्षरा ने **श्रेणी** को पान के पत्तों के व्यापारियों का समुदाय कहा है और **गण** को हेलाबुक (घोड़े का व्यापार करनेवाला) कहा है। याज्ञवल्क्य (२।१९२) एव नारद (समयस्यानपाकर्म, २) ने श्रेणी, नैगम, पूग, व्रात, गण के नाम लिये हैं और उनके परम्परा से चले आये हुए व्यवसायों की ओर संकेत किया है। याज्ञवल्क्य (२।३०) ने कहा है कि पूगों एवं श्रेणियों को झगड़ों के अन्वेक्षण करने का पूर्ण अधिकार है और इस विषय में पूग को श्रेणी से उच्च स्थान प्राप्त है। मिताक्षरा ने इस कथन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि पूग एक स्थान की विभिन्न जातियों एवं विभिन्न व्यवसाय वाले लोगों का एक समुदाय है और श्रेणी विविध जातियों के लोगों का समुदाय है, जैसे हेलाबुकों, ताम्बूलिकों, कुविन्दों (जुलाहों) एवं चर्मकारों की श्रेणियाँ। चाहमान विग्रहराज के प्रस्तरलेख में 'हेड़ाविकों को प्रत्येक घोड़े के एक द्रम्म देने' का वृत्तान्त मिलता है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० १२४)। नासिक अभिलेख सं० १५ (एपि० इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ८८) में लिखा है कि आभीर राजा ईश्वरसेन के शासन-काल में १००० कार्षापण कुम्हारों के समुदाय (श्रेणी) में, ५०० कार्षापण तेलियों की श्रेणी में, २००० कार्षापण पानी देनेवालों की श्रेणी (उदक-यन्त्र-श्रेणी) में स्थिर सम्पत्ति के रूप में जमा किये गये, जिससे कि उनके ब्याज से रोगी भिक्षुओं की दवा की जा सके। नासिक के ९वें एवं १२वें शिलालेखों में जुलाहों की श्रेणी का भी उल्लेख है। हुविष्क के शासन-काल के मथुरा के ब्राह्मी शिलालेख में आटा बनानेवालों (समितकर) की श्रेणी की चर्चा है। जुन्नार बौद्ध गुफा के शिलालेख में बांस का काम करनेवालों तथा कांस्यकारों (ताम्र एवं कांसा बनानेवालों) की श्रेणियों में धन जमा करने की चर्चा हुई है। स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र में तेलियों की एक श्रेणी का उल्लेख है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि ईसा के आसपास की शताब्दियों में कुछ जातियों, यथा लकड़िहारों, तेलियों, तमोलियों, जुलाहों आदि के समुदाय इस प्रकार संगठित एवं व्यवस्थित थे कि लोग उनमें निःसंकोच सहस्रों रुपये इस विचार से जमा करते थे कि उनसे ब्याज रूप में दान के लिए धन मिलता रहेगा।

२६. हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वा। ऋ० १।१६३।१०; पूगो वै रुद्रः। तदेनं स्वेन पूगेन समर्धयति। कौषी० ब्राह्मण १६।७; तस्मादु ह वै ब्रह्मचारिसंघं चरन्तं न प्रत्याचक्षीतापि हैतेष्वेवंविध एवं व्रतः स्यादिति हि ब्राह्मणम्। आप० धर्म० सू० १।१।३।२६।

अब हम लगभग ईसापूर्व ५०० से १००० ई० तक की उन सभी जातियों की सूची उपस्थित करेंगे जो स्मृतियों तथा अन्य धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में वर्णित हैं। इस सूची में मुख्यतः मनु, याज्ञवल्क्य, वैखानस स्मार्त-सूत्र (१०।११-१५), उशना, सूतसंहिता (शिवमाहात्म्य-खण्ड, अध्याय १२) आदि की दी हुई बातें ही उद्धृत हैं। निम्नलिखित जातियों में बहुत-सी अब भी ज्यों-की-त्यों पायी जाती हैं।

अन्ध्र—ऐतरेय ब्राह्मण (३३।६) के अनुसार विश्वामित्र ने अपने ५० पुत्रों को, जब वे शुनःशेप को अपना भाई मानने पर तैयार नहीं हुए, शाप दिया कि वे अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब हो जायँ। ये जातियाँ समाज में निम्न स्थान रखती थीं और इनमें बहुधा दस्यु ही पाये जाते थे। मनु (१०।३६) के अनुसार अन्ध्र जाति वैदेहक पिता एवं कारावर माता से उत्पन्न एक उपजाति थी और गाँव के बाहर रहती, जंगली पशुओं को मारकर अपनी जीविका चलाती थी। अशोक के शिलालेख (प्रस्तर-अनुशासन १३) में अन्ध्र लोग पुलिन्दों से सम्बन्धित उल्लिखित हैं। उद्योगपर्व (१६०।१०३) में अन्ध्र (सम्भवतः आन्ध्र देश के निवासी) द्रविड़ों एवं कांच्यों के साथ वर्णित हैं। देवपालदेव के नालन्दा-पत्र में मेद, अन्ध्रक एवं चाण्डाल निम्नतम जातियों में गिने गये हैं (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १७, पृ० ३२१)। उड़ीसा में एक परिगणित जाति है आदि-अन्ध्र (देखिए शेड्यूल्ड कास्ट्स आर्डर आव १९३६)।

अन्त्य—वसिष्ठधर्मसूत्र (१६।३०), मनु (४।७९, ८।६८), याज्ञ० (१।१४८, १९७), अत्रि (२५१), लिखित (९२), आपस्तम्ब (३।१) ने इस शब्द को चाण्डाल ऐसी निम्नतम जातियों का नाम उल्लिखित किया है। इस विषय में हम पुनः 'अस्पृश्य' वाले अध्याय में पढ़ेंगे। इसी अर्थ में 'बाह्य' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (आपस्तम्बधर्मसूत्र ६१।३।९।१८; नारद-ऋणादान, १५५; विष्णुधर्मसूत्र १६।१४)।

अन्त्यज—चाण्डाल आदि निम्नतम जातियों के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। मनु (८।२७९) ने इसे शूद्र के लिए भी प्रयुक्त किया है। स्मृतियों में इसके कई प्रकार पाये जाते हैं। अत्रि (१९९) ने सात अन्त्यजों के नाम लिये हैं, यथा **रजक** (धोबी), **चर्मकार, नट** (नाचनेवाली जाति, दक्षिण में यह **कोल्हाटि** के नाम से विख्यात है), **बुरुड** (बाँस का काम करनेवाला), **कैवर्त** (मछली मारनेवाला), **मेद, भिल्ल**। याज्ञवल्क्य (३।२६५) की व्याख्या में मिताक्षरा ने अन्त्यजों की दो श्रेणियाँ बतायी हैं। पहली श्रेणी में ऊपर्युक्त सात जातियाँ हैं जो दूसरी श्रेणी की जातियों से निम्न हैं। दूसरी श्रेणी में ये जातियाँ हैं—**चाण्डाल, श्वपच** (कुत्ते का मांस खानेवाला), **क्षत्ता, सूत, वैदेहक, मागध,** एवं **आयोगव**। सरस्वतीविलास के अनुसार पितामह ने रजक की सात जातियों एवं अन्य प्रकृति जातियों का वर्णन किया है। क्या प्रकृति जातियों वाली भाषा को ही 'प्राकृत' की संज्ञा दी गयी है? व्यासस्मृति (१।१२-१३) में चर्मकार, भट, भिल्ल, रजक, पुष्कर, नट, विराट, मेद, चाण्डाल, दाश, श्वपच, कोलिक नामक १२ अन्त्यजों के नाम आये हैं। इस स्मृति में गाय का मांस खानेवाली सभी जातियाँ अन्त्यज कही गयी हैं।

अन्तावसायी या अन्त्यावसायी—मनु (४।७९) ने 'अन्त्यों' एवं अन्त्यावसायियों को अलग-अलग लिखा है और (१०।३९) अन्त्यावसायी को चाण्डाल पुरुष एवं निषाद स्त्री की सन्तान कहा है। भाष्यों में ये अछूत और श्मशान के निवासी कहे गये हैं। किन्तु वसिष्ठधर्मसूत्र में अन्त्यावसायी शूद्र पुरुष एवं वैश्य नारी की सन्तान कहा गया है (१८।३)। इसके सामने वेद-पाठ वर्जित है (भारद्वाजश्रौतसूत्र ११।२२।१२)। अनुशासनपर्व (२२।२२) एवं शान्तिपर्व (१४१।२९-३२) में इसकी चर्चा हुई है। नारद (ऋणादान, १८२) ने इसे गवाही के अयोग्य ठहराया है। आधुनिक काल के कुछ ग्रन्थ, यथा जातिविवेक आदि ने आज के डोम को स्मृतियों का अन्त्यावसायी माना है।

अभिषिक्त—इसके विषय में आगे 'मूर्धावसिक्त' के अन्तर्गत पढ़िए।

अम्बष्ठ—इसे भृज्जकण्ठ भी कहा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण (३९।७) में चर्चा है कि राजा आम्बष्ठ्य ने अश्वमेध यज्ञ किया था। पाणिनि (८।३।९७) ने अम्बष्ठ की व्युत्पत्ति बतायी है। पतञ्जलि ने (पाणिनि, ४।१।१७० पर)

आम्बष्ठ्य (राजा ?) शब्द को अम्बष्ठ (एक देश) से सिद्ध किया है। अम्बष्ठों की जाति किसी देश से सम्बन्धित है कि नहीं, यह एक प्रश्न है। कर्णपर्व (६।११) में एक अम्बष्ठ राजा का वर्णन है। बौधायनधर्मसूत्र (१।९।३) मनु (१०।८), याज्ञवल्क्य (१।९१), उशना (३१), नारद (स्त्रीपुंस, ५।१०७) में अम्बष्ठ ब्राह्मण एवं वैश्य नारी की अनुलोम सन्तान कहा गया है। गौतम (४।१४) की व्याख्या करते हुए हरदत्त ने अम्बष्ठ को क्षत्रिय एवं वैश्य नारी की सन्तान कहा है। मनु (१०।४७) ने अम्बष्ठों के लिए दवा-दारू का व्यवसाय बताया है तथा उशना (३१-३२) ने उन्हें कृषक या आग्नेयनर्तक या ध्वजविश्रावक या शल्यजीवी (चीर-फाड़ करनेवाला) कहा है।[२७] हरदत्त ने आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६।१९।१४) की व्याख्या करते हुए अम्बष्ठ और शल्यकृन् को समानार्थक माना है। बंगाल के वैद्य मनु के अम्बष्ठ ही हैं।[२८]

अयस्कार—(लोहार) वैदिक साहित्य में 'अयस्ताप' (अयस् को गर्म करनेवाला) शब्द मिलता है। आगे के कर्मकार एवं कर्मार शब्द भी देखिए। पतञ्जलि (पाणिनि, २।४।१० पर) ने अयस्कार को तक्षा के साथ शूद्र कहा है।

अवरीट—अपरार्क द्वारा उद्धृत देवल के कथन से पता चलता है कि यह एक विवाहित स्त्री तथा उसी जाति के किसी पुरुष के गुप्त प्रेम की सन्तान तथा शूद्र है। शूद्रकमलाकर में भी यही बात पायी जाती है।

अविर—सूतसंहिता के अनुसार यह एक क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है।

आपीत—सूतसंहिता के अनुसार यह एक ब्राह्मण एवं दौष्यंती की सन्तान है।

आभीर—मनु (१०।१५) के अनुसार यह एक ब्राह्मण एवं अम्बष्ठ कन्या की सन्तान है। महाभारत (मौसलपर्व ७।४६-६३ एवं ८।१६-१७) में आया है कि आभीर दस्यु एवं म्लेच्छ हैं, जिन्होंने पंचनद के युद्ध के उपरान्त अर्जुन पर आक्रमण किया और वृष्णि-नारियों को उठा ले गये। सभापर्व (५१।१२) में आभीर पारदों के साथ वर्णित हैं। आश्वमे० पर्व (२९।१५-१६) का कथन है कि आभीर, द्रविड़ आदि ब्राह्मणों से सम्बन्ध न रहने पर शूद्र हो गये। महाभाष्य में वे शूद्रों से पृथक् माने गये हैं। कामसूत्र (५।५।३०) ने कोट्टराज नामक आभीर राजा का उल्लेख किया है। अपने काव्यादर्श (१।३६) में दण्डी ने अपभ्रंश को आभीरों की भाषा कहा है। अमरकोश में आभीर गाय चरानेवाले कहे गये हैं और महाशूद्र की आभीर पत्नी को आभीरी कहा गया है। कालान्तर में आभीर हिन्दू समाज में ले लिये गये, जैसा कि कुछ शिलालेखों से पता चलता है। रुद्रभूति नामक एक आभीर सेनापति ने सन् १८१-८२ ई० में रुद्रदामन के पुत्र रुद्रसिंह के शासन-काल में एक कूप बनवाया (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १६, पृ० २३५)। नासिक की गुफा के १५वें उत्कीर्ण अभिलेख से पता चलता है कि ईश्वरसेन नामक एक आभीर राजा था, जो आभीर शिवदत्त एवं माठरी (माठर गोत्र वाली) का पुत्र था। आजकल आभीर को अहीर कहा जाता है।[२९]

आयोगव—वैदिक साहित्य में 'आयोगू' शब्द आया है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१)। गौतम (४।१५), विष्णुधर्मसूत्र (१६।४), मनु (१०।१२), कौटिल्य (३।७), अनुशासनपर्व (४८।१३) तथा याज्ञवल्क्य (१।९४) के अनुसार

२७. कृष्याजीवो भवेत्तस्य तथैवाग्नेयनर्तकः। ध्वजविश्रावका वापि अम्बष्ठाः शस्त्रजीविनः (शल्यजीविनः ?)।। उशना ३१-३२।

२८. देखिए, रिसली की 'पीपुल आफ इण्डिया,' पृ० ११४।

२९. देखिए J. B. B. R. A, S जि० २१ पृ० ४३०,४३३, एन्थोवेन की 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट आफ बाम्बे', जि० १, पृ० १७।

यह शूद्र पुरुष तथा वैश्य नारी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है, किन्तु बौधायनधर्मसूत्र (१।९।७), उशना (१२), वैखानस (१०।१४) के अनुसार यह वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। मनु (१०।४८) के अनुसार आयोगव की वृत्ति लकड़ी काटना है तथा उशना के अनुसार यह जुलाहा है या ताम्र-कांस्यकार है, या वान उत्पन्न करनेवाला है, या कपड़े का व्यापारी है। विष्णुधर्मसूत्र (१६।८) एवं अग्निपुराण (११५।१५) के अनुसार यह अभिनय-वृत्ति करता है। सह्याद्रिखण्ड (२६।६८-६९) से पता चलता है कि यह पत्थरों, ईंटों का काम करता है, फर्श बनाता है तथा दीवारों पर चूना लगाता है। यह दक्षिण में आजकल पाथर्वट कहलाता है।

आवन्त्य---यह भूर्जकण्ठ (मनु १०।२१) के समान है।

आश्विक---वैखानस (१०।१२) के अनुसार यह क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है और घोड़ों का व्यापार करता है।

आहिण्डिक---मनु (१०।२७) के अनुसार यह निषाद पुरुष एवं वैदेही नारी की सन्तान है अर्थात् दोहरी प्रतिलोम जाति का है। मनु (१०।३६) ने इसे ही चर्मकार का कार्य करने के कारण कारावर कहा है। कुल्लूक ने उशना के मत का उल्लेख करते हुए इसे बन्दीगृह में आक्रामकों से बन्दियों की रक्षा करनेवाला कहा है।

उग्र---इसकी चर्चा वैदिक साहित्य में भी है (छान्दोग्य ५।२४।४; बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।२ तथा ४।३।२२)। बौधायनधर्मसूत्र (१।९५), मनु (१०।९), कौटिल्य (३।७), याज्ञवल्क्य (१।९२), अनुशासनपर्व (४८।७) के अनुसार यह क्षत्रिय पुरुष एवं शूद्र नारी से उत्पन्न अनुलोम सन्तान है। किन्तु उशना (४१) ने इसे ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्र नारी की सन्तान कहा है। गौतम (४।१४) की व्याख्या करते हुए हरदत्त ने उग्र को वैश्य एवं शूद्रा नारी की सन्तान कहा है। मनु (१०।४९) के अनुसार उग्र बिलों में रहनेवाले जीवों को मारकर खानेवाले मनुष्य हैं, किन्तु उशना (४१) के अनुसार ये राजदण्ड को ढोते हैं, जल्लाद का कार्य करते हैं। सह्याद्रिखण्ड एवं शूद्रकमलाकर में उग्र को 'राजपूत' कहा गया है। जातिविवेक में वह 'रावुत' भी कहा गया है।

उद्बन्धक---उशना (१५) के अनुसार यह एक सूनिक एवं क्षत्रिया नारी की सन्तान है, कपड़ा स्वच्छ करने की वृत्ति करता है और अस्पृश्य है। वैखानस (१०।१५) के अनुसार यह एक खनक एवं क्षत्रिया नारी की सन्तान है।

उपकृष्ट---आश्वलायनश्रौतसूत्र (२।१) के अनुसार यह द्विजाति नहीं है, किन्तु अग्न्याधान नामक वैदिक क्रिया कर सकता है। इसके भाष्य में लिखा है कि यह बढ़ई की वृत्ति करनेवाला वैश्य है।

ओड्र---मनु (१०।४३-४४) को देखिए। ओड्र आधुनिक उड़ीसा को कहते हैं।

कटकार---यह उशना (४५) एवं वैखानस (१०।१३) के अनुसार वैश्य पुरुष एवं शूद्र नारी के चोरिक विवाह (गुप्त सम्बन्ध) से उत्पन्न सन्तान है।

करण---यह गौतम (४।१७) एवं याज्ञवल्क्य (१।९२) के अनुसार वैश्य पति एवं शूद्र पत्नी का अनुलोम पुत्र है। मनु (१०।२२) ने लिखा है कि एक क्षत्रिय व्रात्य (जिसका उपनयन संस्कार नहीं हुआ है) का उसी प्रकार की नारी से जब सम्बन्ध होता है तो उसकी सन्तान को झल्ल, मल्ल, निच्छिवि (लिच्छवि ?), नट, करण, खश, द्रविड़ कहते हैं। आदिपर्व (११५।४३) के अनुसार धृतराष्ट्र की वैश्य नारी से युयुत्सु नामक एक करण सन्तान थी। अमरकोश की व्याख्या करते समय क्षीरस्वामी ने कहा है कि करण कायस्थों एवं अध्यक्षों के समाज, राजकर्मचारियों के एक दल का परिचायक है। सह्याद्रिखण्ड (२६।४९-५१) के अनुसार करण चारण या वैतालिक के समान है जो ब्राह्मणों एवं राजाओं का स्तुतिगान करता है और काम-सम्बन्धी विज्ञान का अध्ययन करता है।

कर्मकार---विष्णुधर्मसूत्र (५१।१४) में यह जाति वर्णित है। सम्भवतः यह कर्मार ही है। किन्तु शंख ने दोनों को पृथक्-पृथक् लिखा है।

कर्मार—वैदिक साहित्य (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१) में भी यह शब्द आया है। पाणिनि ने 'कुलालादि' गण (४।३।११८) में इस जाति का उल्लेख किया है। मनु (४।२१५) में भी यह नाम आया है। बंगाल में कर्मार (लोहार) जाति परिगणित जाति है।

कांस्यकार—यह जाति (मराठी में आज का कांसार एवं उत्तरी भारत का कसेरा) तुला-दिव्य के सिलसिले में विष्णुधर्मसूत्र (१०।४) द्वारा एवं नारद (ऋणादान, २७४) द्वारा वर्णित है।

काकवच—घोड़ों को घास लानेवाली जाति (उशना ५०)।

काम्बोज—देखिए मनु (१०।४३-४४)। कम्बोज देश यास्क (निरुक्त २।२) एवं पाणिनि (४।१।१७५) को ज्ञात है। उद्योगपर्व (१६०।१०३), द्रोणपर्व (१२१।१३) ने शकों के साथ काम्बोजों का वर्णन किया है। देखिए **यवन** भी।

कायस्थ—माध्यमिक एवं आधुनिक काल में कायस्थों के उद्गम एवं उनकी सामाजिक स्थिति के विषय में बड़े-बड़े उग्र वाद-विवाद हुए हैं और भारतीय न्यायालयों के निर्णयों द्वारा भी कटुताएँ प्रदर्शित हुई हैं। कलकत्ता हाईकोर्ट ने (भोलानाथ बनाम सम्राट् के मुकदमे में) बंगाल के कायस्थों को शूद्र सिद्ध किया और यहाँ तक लिख दिया कि वे डोम स्त्री से भी विवाह कर सकते हैं। किन्तु प्रिवी कौंसिल ने (असितमोहन बनाम नीरदमोहन के मुकदमे में) इस बात को निरस्त कर दिया। दूसरी ओर इलाहाबाद एवं पटना के हाईकोर्टों ने क्रम से तुलसीदास बनाम बिहारी लाल एवं ईश्वरीप्रसाद बनाम राय हरिप्रसाद के मुकदमों में कायस्थों को द्विज बताया। गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ के धर्मसूत्रों एवं मनुस्मृति में 'कायस्थ' शब्द नहीं आता। विष्णुधर्मसूत्र (७।३) ने एक राजसाक्षिक को कायस्थ द्वारा लिखित कहा है।[30] इससे इतना ही स्पष्ट होता है कि कायस्थ राज्यकर्मचारी था। याज्ञवल्क्य (१।३२२) ने राजा को उद्बोधित किया है कि वह प्रजा को चाटों (दुष्ट लोग), चोरों, दुश्चरित्रों, आततायियों आदि से, विशेषतः कायस्थों से बचाये। मिताक्षरा ने लिखा है कि कायस्थ लोग हिसाब-किताब करनेवाले (गणक), लिपिक, राजाओं के स्नेहपात्र एवं बड़े धूर्त होते हैं। उशना (३५) ने कायस्थों को एक जाति माना है और इसके नाम की एक विचित्र व्युत्पत्ति उपस्थित की है, यथा काक (कौआ) के 'का,' यम के 'य' एवं स्थपति के 'स्थ' शब्दों से 'कायस्थ' बना है; 'काक', 'यम' एवं 'स्थपति' शब्द क्रम से लालच (लोभ), क्रूरता एवं लूट के परिचायक हैं।[31] व्यासस्मृति (१।१०-११) में कायस्थ बेचारे नाइयों, कुम्हारों आदि शूद्रों के साथ परिगणित हुए हैं। सुमन्तु ने लेखक (कायस्थ) का भोजन तेलियों आदि के समान माना है और ब्राह्मणों के लिए अयोग्य समझा है। बृहस्पति ने (स्मृतिचन्द्रिका के व्यवहार में उद्धृत) गणक एवं लेखक को दो व्यक्तियों के रूप में माना है और उन्हें द्विज कहा है। 'लेखक' कायस्थ जाति का द्योतक है कि नहीं, यह नहीं प्रकट हो पाता। मृच्छकटिक (नवाँ अंक) में श्रेष्ठी एवं कायस्थ न्यायाधीश से समन्वित रखे गये हैं। लगता है, बृहस्पति का 'लेखक' शब्द कायस्थ का ही द्योतक है। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में कायस्थ शब्द राजकर्मचारी अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है। किन्तु देश के कुछ भागों में, जैसा कि उशना एवं व्यास के कथन से व्यक्त है, कायस्थों की एक विशिष्ट जाति भी थी।

कारावर—मनु (१०।३६) के अनुसार यह जाति निषाद एवं वैदेही नारी से उत्पन्न हुई है और इसकी वृत्ति है चर्मकारों का व्यवसाय। शूद्रकमलाकर के अनुसार कारावर 'कहार' या 'भोई' कहा जाता है, जो मशाल पकड़ता है और दूसरों के लिए छत्र (छाता या छतरी) लेकर चलता है।

३०. राजाधिकरणे तन्नियुक्तकायस्थकृतं तदध्यक्षकरचिह्नितं राजसाक्षिकम्। विष्णुधर्मसूत्र ७।३।

३१. काकाल्लौल्यं यमात् क्रौर्यं स्थपतेरथ कृन्तनम्। आद्यक्षराणि संगृह्य कायस्थ इति निर्दिशेत्।। उशना ३५।

कारुष—मनु (१०।२३) के अनुसार इसकी उत्पत्ति व्रात्य वैश्य एवं उसी के समान नारी के सम्मिलन से होती है। इस जाति को सुधन्वाचार्य, विजन्मन, मैत्र एवं सात्वत भी कहते हैं।

किरात—वैदिक साहित्य (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१२; अथर्ववेद १०।४।१४) में भी यह नाम आया है। व्यास (१।१०-११) ने इसे शूद्र की एक उपशाखा माना है। मनु (१०।४३-४४) के अनुसार यह शूद्र की स्थिति में आया हुआ क्षत्रिय है। यही बात अनुशासनपर्व (३५।१७-१८) में मेकलों, द्रविड़ों, लाटों, पौण्ड्रों, यवनों आदि के बारे में कही गयी है। कर्णपर्व (७३।२०) में किरात आग्नेय शक्ति के द्योतक माने गये हैं। आश्वमेधिक पर्व (७३।२५) में वर्णन है कि अर्जुन को अश्वमेधीय घोड़े के साथ चलते समय किरातों, यवनों एवं म्लेच्छों ने भेटें दी थीं। अमरकोश में किरात, शबर एवं पुलिन्द म्लेच्छ जाति की उपशाखाएँ कही गयी हैं।

कुक्कुट—बौधायनधर्मसूत्र (१।८।८ एवं १।८।१२) के अनुसार यह क्रम से प्रतिलोम जाति एवं शूद्र तथा निषाद स्त्री की सन्तान कही गयी है।[३२] यही बात मनु (१०।१८) में भी है। कौटिल्य (३।७) में यह उग्र पुरुष एवं निषाद की सन्तान है। शूद्रकमलाकर में उद्धृत आदित्यपुराण के अनुसार कुक्कुट तलवार तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र बनाता है और राजा के लिए मुर्गों की लड़ाई का प्रबन्ध करता है।

कुण्ड—मनु (३।१७४) के अनुसार जीवित ब्राह्मण की पत्नी तथा किसी अन्य ब्राह्मण के गुप्त प्रेम से उत्पन्न सन्तान है।

कुकुन्द—यह सूतसंहिता के अनुसार मागध एवं शूद्र नारी की सन्तान है।

कुम्भकार—पाणिनि के कुलालादि गण (४।३।११८) में यह शब्द आया है। उशना (३२-३३) के अनुसार यह ब्राह्मण एवं वैश्य नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है। वैखानस (१०।१२) उशना की बात मानते हैं और कहते हैं कि ऐसी सन्तान कुम्भकार या नाभि के ऊपर तक बाल बनानेवाली नाई जाति होती है। व्यास (१।१०-११), देवल आदि ने कुम्भकार को शूद्र माना है। मध्यप्रदेश में यह जाति परिगणित जाति है।

कुलाल—वैदिक साहित्य (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१) में यह वर्णित है। पाणिनि (४।३।११८) ने 'कुलालकम्' (कुम्हार द्वारा निर्मित) की व्युत्पत्ति समझायी है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (४।३।१८) में ऐसा आया है कि एक मृत अग्निहोत्री के सभी मिट्टी के बरतन उसके पुत्र द्वारा सँजोये जाने चाहिए। कुम्हारों के दो नाम अर्थात् कुम्भकार एवं कुलाल क्यों प्रसिद्ध हुए, यह अभी तक अज्ञात है।

कुलिक—अपरार्क ने शंख द्वारा वर्णित इस जाति का नाम दिया है और इसे देवलक माना है।

कुशीलव—बौधायन के अनुसार यह अम्बष्ठ पुरुष एवं वैदेहक नारी की सन्तान है। अमरकोश में इसे चारण कहा गया है। कौटिल्य (३।७) ने इसे वैदेहक पुरुष एवं अम्बष्ठ नारी की सन्तान कहा है (बौधायन का सर्वथा विरोधी भाव)। कौटिल्य ने अम्बष्ठ पुरुष एवं वैदेहक नारी की सन्तान को वैण कहा है।

कृत—गौतम (४।१५) के अनुसार वैश्य एवं ब्राह्मणी की सन्तान क्रत है, किन्तु याज्ञवल्क्य (१।९३) तथा अन्य लोगों के मत से इस जाति को वैदेहक कहा जाता है।

कैवर्त—आसाम की एक घाटी में कैवर्त नामक एक परिगणित जाति है। इस विषय में ऊपर अन्त्यज के बारे में जो लिखा है उसे भी पढ़िए। मेधातिथि (मनु० १०।४) ने इसे मिश्रित (संकर) जाति कहा है। मनु (१०।३४)

३२. प्रतिलोमास्त्वायोगवमागधवैणक्षेत्रपुल्कसकुक्कुटवैदेहकचण्डालाः। निषादात्तु तृतीयायां पुल्कसः विपर्यये कुक्कुटः। बौ० ध० सू० १।८।८; ७।११-१२; शूद्रान्निषाद्यां कुक्कुटः। बौ० ध० सू० १।९।१५।

ने कैवर्त को निषाद एवं आयोगव की सन्तान माना है। इसे ही मनु ने मार्गव एवं दास (दाश ?) भी कहा है। कैवर्त लोग नौका-वृत्ति करते हैं। शंकराचार्य (वेदान्तसूत्र २।३।४३) ने दाश एवं कैवर्त को समान माना है। जातकों में कैवर्त को केवत्त (केवट) कहा गया है।

कोलिक—व्यास ने इसे अन्त्यजों में गिना है। मध्यप्रदेश में कोलि एवं उत्तर प्रदेश में कोल परिगणित जाति है।

क्षत्ता—वैदिक साहित्य में भी इसका उल्लेख है। बौधायन (१।९।७), कौटिल्य (३।७), मनु (१०।१२, १३,१६), याज्ञवल्क्य (१।९४) एवं नारद (स्त्रीपुंस, ११२) में इसे शूद्र पिता एवं क्षत्रिय माता की प्रतिलोम संतान कहा गया है। मनु (१०।४९-५०) इसके लिए उग्र एवं पुल्कस की वृत्ति की व्यवस्था करते हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र (१८।२) में यह वैण कहा गया है। अमरकोश ने क्षत्ता के तीन अर्थ किये हैं—रथकार, द्वारपाल तथा इस नाम की जाति। छान्दोग्योपनिषद् (४।१।५,७,८) में इसे द्वारपाल कहा गया है। सह्याद्रिखण्ड (२६।६३-६६) में क्षत्ता को निषाद कहा गया है, जो जालों से मृग पकड़ता है, जंगल में जंगली पशुओं को मारता है तथा रात्रि में लोगों को जताने के लिए घण्टी बजाता है।

खनक—वैखानस (१०।१५) के अनुसार यह आयोगव पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री की सन्तान है और खोदकर अपनी जीविका चलाता है।

खश या खस—मनु (१०।२२) के अनुसार इसका दूसरा नाम है करण। किन्तु मनु (१०।४३-४४) ने खशों को क्षत्रिय जाति का माना है, जो कालान्तर में संस्कारों एवं ब्राह्मणों के सम्पर्क के अभाव के कारण शूद्र की श्रेणी में आ गये। देखिए सभापर्व (५२।३) एवं उद्योगपर्व (१६०।१०३)।

गुहक—सूतसंहिता के अनुसार यह श्वपच पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री की सन्तान है।

गोज—(या गोद) उशना (२८-२९) के अनुसार यह क्षत्रिय पुरुष एवं स्त्री के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है।

गोप—यह आज की ग्वाला जाति (गवली) एवं शूद्र उपजाति है। कामसूत्र (१।५।३७) ने गोपालक जाति का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य (२।४८) ने कहा है कि गोप-पत्नियों का ऋण उनके पतियों द्वारा दिया जाना चाहिए, क्योंकि उनका पेशा एवं कमाई इन स्त्रियों पर ही (उनकी पत्नियों पर ही) निर्भर होती है।

गोलक—ब्राह्मण पुरुष एवं विधवा ब्राह्मणी के चोरिका-विवाह (गुप्त प्रेम) की सन्तान गोलक है। देखिए, मनु (३।१७४), लघु-शातातप (१०५), सूतसंहिता (शिव, १२।१२)।

चक्री—यह शूद्र पुरुष एवं वैश्य स्त्री की सन्तान (उशना २२-२३) है और तेल, खली या नमक का व्यवसाय करती है। सम्भवतः यह तैलिक (तेली) जाति है। हारीत एवं ब्रह्मपुराण के अनुसार यह तिल का व्यवसाय करने वाली जाति है। वैखानस (१०।१३) के अनुसार यह जाति वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मणी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है, और नमक एवं तेल का व्यवसाय करती है।

चर्मकार—यह अन्त्यज है। विष्णुधर्मसूत्र (५१।८), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।३२), पराशर (६।४४) में इसका उल्लेख है। उशना ने इसे शूद्र एवं क्षत्रिय कन्या (४) की तथा वैदेहक एवं ब्राह्मण कन्या (२१) की सन्तान माना है। दूसरी बात वैखानस (१०।१५) में भी पायी जाती है। मनु (४।२१८) ने इसे चर्मविकर्ती माना है। कतिपय स्मृत्यनुसार यह सात अन्त्यजों में एक है। सूतसंहिता के अनुसार यह ब्राह्मण स्त्री से आयोगव की सन्तान है। पश्चिमी भारत में इसे चाम्भार एवं अन्य प्रान्तों में चमार कहा जाता है। यही जाति मोची भी कही जाती है।

चाक्रिक—अमर० के अनुसार यह घण्टी बजानेवाला व्यक्ति है। क्षीरस्वामी ने इसे राजा के आगमन पर घण्टी बजानेवाला और वैतालिक के सदृश कहा है; अपरार्क ने शंख (गद्य) और सुमन्तु का

उल्लेख कर चाक्रिक और तैलिक को पृथक्-पृथक् उपजाति माना है। वैखानस (१०।१४) ने इसे शूद्र पुरुष एवं वैश्य नारी के प्रेम का प्रतिफल माना है और कहा है कि इसकी वृत्ति नमक, तेल एवं खली बेचना है।

चाण्डाल--वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१४, ३।४।१७; छान्दोग्योपनिषद् ५।१०।७)। गौतम (४।१५-१६), वशिष्ठधर्मसूत्र (१८।१), बौधायनधर्मसूत्र (९।७), मनु (१०।१२), याज्ञवल्क्य (१।९३) एवं अनुशासनपर्व (४८।११) के अनुसार यह शूद्र द्वारा ब्राह्मणी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। मनु (१०।१२) ने इसे निम्नतम मनुष्य माना है और याज्ञवल्क्य (१।९३) ने सर्वधर्मबहिष्कृत घोषित किया है। यह कुत्तों एवं कौओं की श्रेणी में रखा गया है (आपस्तम्बधर्मसूत्र) २।४।९।५, गौतम १५।२५, याज्ञवल्क्य १।१०३)।[33] चाण्डाल तीन प्रकार के होते हैं (व्यासस्मृति १।९-१०)--(१) शूद्र एवं ब्राह्मणी से उत्पन्न सन्तान, (२) विधवा-सन्तान एवं (३) सगोत्र विवाह से उत्पन्न सन्तान। यम के अनुसार निम्न प्रकार प्रख्यात हैं--(१) संन्यासी होने के अनन्तर पुनः गृहस्थ होने पर यदि पुत्र उत्पन्न हो तो पुत्र चाण्डाल होता है, (२) सगोत्र कन्या से उत्पन्न सन्तान, एवं (३) शूद्र एवं ब्राह्मणी से उत्पन्न सन्तान। लघुसंहिता (५९) में भी यही बात पायी जाती है। मनु (१०।५१-५६) में आया है कि चाण्डालों एवं श्वपचों को गाँव के बाहर रहना चाहिए, उनके बरतन अग्नि में तपाने पर भी प्रयोग में नहीं लाने चाहिए, उनकी सम्पत्ति कुत्ते एवं गदहे हैं, शवों के कपड़े ही उनके परिधान हैं, उन्हें टूटे-फूटे बरतन में ही भोजन करना चाहिए, उनके आभूषण लोहे के होने चाहिए, उन्हें लगातार घूमते रहना चाहिए, रात्रि में वे नगर या ग्राम के भीतर नहीं आ सकते, उन्हें बिना सम्बन्धियों वाले शवों को ढोना चाहिए, वे राजाज्ञा से जल्लाद का काम करते हैं, वे फाँसी पानेवाले व्यक्तियों के परिधान, गहने एवं शैया ले सकते हैं। उशना (९-१०), विष्णुधर्मसूत्र (१६।११. १४), शान्तिपर्व (१४१।२९-३२) में कुछ इसी प्रकार का वर्णन है। फाहियान (४०५-४११ ई०) ने भी चाण्डालों के विषय में लिखा है कि जब वे नगर या बाजार में घुसते थे तो लकड़ी के किसी टुकड़े (डंडे) से ध्वनि उत्पन्न करते चलते थे, जिससे कि लोगों को उनके प्रवेश की सूचना मिल जाय और स्पर्श न हो सके।[34]

चीन--मनु (१०।४३-४४) के अनुसार यह शूद्रों की स्थिति में उतरा हुआ क्षत्रिय है। सभापर्व (५१।२३), वनपर्व (१७७।१२) एवं उद्योगपर्व (१९।१५) में भी इसका उल्लेख हुआ है।

चूञ्चु--मनु (१०।४८) के अनुसार मेद, अन्ध्र, चुञ्चु एवं मद्गु की वृत्ति है जंगली पशुओं को मारना। कुल्लूक ने चूञ्चु को ब्राह्मण एवं वैदेहक नारी की सन्तान कहा है।

चूचुक--वैखानस (१०।१३) के अनुसार यह वैश्य पुरुष एवं शूद्र नारी की सन्तान है, और इसका व्यवसाय है पान, चीनी आदि का क्रय-विक्रय।

चैलनिर्णेजक (या केवल निर्णेजक)--यह धोबी है (विष्णुधर्मसूत्र ५१।१५, मनु ४।२१६)। विष्णु ने अलग से **रजक** का उल्लेख किया है। हारीत ने लिखा है कि रजक कपड़ा रँगने (रंगरेज) का काम करता है और निर्णेजक कपड़ा धोने का कार्य करता है।

जालोपजीवी--यह कैवर्त के समान जाल द्वारा पशुओं को पकड़ने का व्यवसाय करता है। हारीत ने इसके विषय में लिखा है।

३३. श्वांगाः पतितचंडालग्राम्यसूकरकुक्कुटाः। श्वा च नित्यं विवर्ज्याः स्युः वर्द्धते धर्मतः समाः ॥ देवल (पराशरमाधवीय में उद्धृत)।

३४. देखिए, 'रिकार्ड्स आफ बुद्धिस्ट किंग्डम्स', लेग द्वारा अनूदित, पृ० ४३।

झल्ल--मनु (१०।२२) के अनुसार यह करण एवं खश का दूसरा नाम है।

डोम्ब (डोम)--क्षीरस्वामी एवं अमर० के अनुसार यह श्वपच ही है। पराशर ने श्वपच, डोम्ब एवं चाण्डाल को एक ही श्रेणी में डाला है। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश में यह डोम कहा जाता है।

तक्षा या तक्षक (बढ़ई)--वैदिक साहित्य (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४१) में यह नाम आया है। यह वर्धकि ही है, जैसा कि कायस्थों के वर्णन में हमने देख लिया है। मनु (४।२१०), विष्णुधर्मसूत्र (५१।८), महाभाष्य (पाणिनि पर, २।४।१०) में इसकी चर्चा आयी है। महाभाष्य ने इसे शूद्र माना है और अयस्कारों (लोहारों) की श्रेणी में रखा है। उशना (४३) ने इसे ब्राह्मण एवं सूचक (प्रतिलोम) की सन्तान माना है।

तन्तुवाय (जुलाहा)--इसे कुविन्द (आज का तँतवा बिहार में) भी कहा जाता है। विष्णुधर्मसूत्र (५१।१३), शंख आदि ने इसका उल्लेख किया है। महाभाष्य (पाणिनि पर, २।४।१०) ने इसे शूद्र कहा है।

ताम्बूलिक--यह आज का तमोली (बिहार एवं उत्तर प्रदेश में) है। कामसूत्र (१।५।३७) ने भी इसकी चर्चा की है।

ताम्रोपजीवी--उशना (१४) के अनुसार यह ब्राह्मण स्त्री एवं आयोगव की सन्तान है। वैखानस (१०।१५) ने इसे ताम्र कहा है।

तुन्नवाय (दर्जी)--मनु (४।२१४) ने इसकी चर्चा की है। अपरार्क द्वारा उद्धृत ब्रह्मपुराण में इसे सूचि (सौचिक) कहा गया है।

तैलिक (तेली)--विष्णुधर्मसूत्र (५१।१५), शंख एवं सुमन्तु में इसका उल्लेख है।

दरद--मनु (१०।४४) एवं उद्योगपर्व (४।१५) ने इसका नाम लिया है।

दाश (मछुवा)--वेदान्तसूत्र के अनुसार (२।३।४३) एक उपनिषद् में इसकी चर्चा है। व्यास (१।१२-१३) ने इसे अन्त्यजों में गिना है। मनु (१०।३४) ने मार्गव, दास (दाश?) एवं कैवर्त को समान माना है।

दिवाकीर्त्य--मानवगृह्यसूत्र (२।१४।११) में यह नाम आया है। अमर० ने चाण्डाल एवं नापित को दिवाकीर्ति कहा है।

दौष्मन्त--गौतम (४।१४) के अनुसार यह एक क्षत्रिय पुरुष एवं शूद्र नारी से उत्पन्न अनुलोम जाति है। सूतसंहिता में दौष्यन्त नाम आया है।

द्रविड--मनु (१०।२२) के अनुसार यह करण ही है। मनु (१०।४३-४४) के अनुसार यह शूद्र की स्थिति में आया हुआ एक क्षत्रिय है।

धिग्वण--मनु (१०।१५) के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष और आयोगव नारी की सन्तान है। यह जाति चमड़े का व्यवसाय करती थी (मनु १०।४९)। जातिविवेक में इसे मोचीकार कहा गया है।

धीवर--यह कैवर्त एवं दाश के सदृश है। गौतम (४।१७) के अनुसार यह वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। मध्यप्रदेश के भण्डारा जिले में यह धीमर कहा जाता है। यह मछली पकड़ने का कार्य करता है।

ध्वजी (शराब बेचनेवाला)--अपरार्क द्वारा उद्धृत सुमन्तु एवं हारीत ने इसका उल्लेख किया है। ब्रह्म-पुराण ने इसे शौण्डिक ही माना है।

नट--यह सात अन्त्यजों में परिगणित जाति है। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश एवं पंजाब में यह अछूत जाति है। हारीत ने नट एवं शैलूष में अन्तर बताया है। अपरार्क के अनुसार शैलूष अभिनय-जीवी जाति है, यद्यपि वह नट जाति से भिन्न है। नट जाति अपने खेलों के लिए प्रसिद्ध है। यह रस्सियों एवं जादू के खेलों के लिए सारे भारत में प्रसिद्ध है।

नर्तक—उशना (१९) के अनुसार यह वैश्य नारी एवं रंजक की सन्तान है। बृहस्पति ने नट एवं नर्तकों को अलग-अलग रूप से उल्लिखित किया है। ब्राह्मणों के लिए इनका अन्न अभोज्य था। अत्रि (७।२) ने भी दोनों की पृथक्-पृथक् चर्चा की है।

नापित (नाई)—चूड़ाकर्म संस्कार में शांखायनगृह्यसूत्र (१।२५) में इसका नाम लिया है। उशना (३२-३४) एवं वैखानस (१०।१२) ने इसे ब्राह्मण पुरुष एवं वैश्य नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल माना है। उशना ने इसके नाम की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह नाभि से ऊपर के बाल बनाता है, अतः यह नापित है।[35] वैखानस (१०।१५) ने लिखा है कि यह अम्बष्ठ पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की सन्तान है और नाभि से नीचे के बाल बनाता है। इसी प्रकार कई एक धारणाएँ उल्लिखित मिलती हैं।

निच्छिवि—मनु (१०।२२) के अनुसार यह करण एवं खश का दूसरा नाम है। सम्भवतः यह लिच्छवि या लिच्छिवि का अपभ्रंश है।

निषाद—वैदिक साहित्य में भी यह शब्द आया है (तैत्तिरीय संहिता ४।५।४।२)। निरुक्त (३।८) ने ऋग्वेद (१०।५३।४) के "पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्" की व्याख्या करते हुए कहा है कि औपमन्यव के अनुसार पाँच (जनों) लोगों में चारों वर्णों के साथ पाँचवीं जाति निषाद भी सम्मिलित है। इससे स्पष्ट है कि औपमन्यव ने निषादों को शूद्रों के अतिरिक्त एक पृथक् जाति में परिगणित किया है। बौधायन (१।९।३), वसिष्ठ (१८।८), मनु (१०।८), अनुशासनपर्व (४८।५), याज्ञवल्क्य (१।९१) के अनुसार निषाद ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्र स्त्री से उत्पन्न अनुलोम सन्तान है। इसका दूसरा नाम है पारशव। कतिपय धर्मशास्त्रकारों ने निषादों की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न बातें लिखी हैं। रामायण में निषादों के राजा गुह ने गंगा पार करने में राम की सहायता की थी।

पह्लव—मनु (१०।४३-४४) ने इसे शूद्रों की स्थिति में आया हुआ क्षत्रिय माना है। महाभारत ने पह्लवों, पारदों एवं अन्य अनार्य लोगों का उल्लेख किया है (सभापर्व ३२।१६-१७, उद्योगपर्व ४।१५, भीष्मपर्व २०।१३)।

पाण्डुसोपाक—मनु (१०।३७) के अनुसार यह एक चाण्डाल पुरुष एवं वैदेहक नारी की सन्तान है और बाँसों का व्यवसाय करता है। यह बुरुड ही है।

पारद—जैसा कि पह्लवों की चर्चा करते हुए लिखा गया है, यह महाभारत में अनार्यों एवं म्लेच्छों में परिगणित हुआ है (सभापर्व ३२-१६, ५१।१२, ५२।३; द्रोणपर्व ९३।४२ एवं १२१।१३)। देखिए, 'यवन' भी।

पारशव—आदिपर्व (१०९।२५) में विदुर को पारशव कहा गया है और उनका विवाह पारशव राजा देवक की पुत्री से हुआ था।

पिंगल—सूतसंहिता के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष एवं आयोगव नारी की सन्तान है।

पुण्ड्र या पौण्ड्रक—महाभारत में यह अनार्यों में परिगणित है (द्रोण० ९३।४४, आश्वमेधिक० २९।१५-१६)।

पुलिन्द—वैदिक साहित्य में इसकी चर्चा हुई है (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।६), यह किरातों या शबरों की भाँति पर्वतीय जाति थी। वनपर्व (१४०।२५) में पुलिन्दों, किरातों एवं तंगणों को हिमालयवासी कहा गया है। उशना (१५) ने पुलिन्द को वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की अवैध सन्तान कहा है और पशुओं को पालनेवाला एवं जंगली पशुओं को मारकर खानेवाला कहा है। यह बात वैखानस (१०।१४) में भी है।

पुल्कस (पौल्कस)—यह पुक्कस भी लिखा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य (४।३।२२) में शंकराचार्य ने

३५. नाभेरूर्ध्वं तु वपनं तस्मान्नापित उच्यते। उशना (३४)।

पुल्कस एवं पौल्कस को एक समान कहा है। यह निषाद पुरुष एवं शूद्र नारी की सन्तान है (बौधायन १।९।१४, मनु० १०।१८)। सूतसंहिता एवं वैखानस में यह शराब बनाने और बेचनेवाला कहा गया है।[३६] अग्निपुराण में पुक्कसों को शिकारी कहा गया है। किन्तु धर्मशास्त्रकारों में पुल्कसों की उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है।

पुष्कर---यह एक अन्त्यज है (व्यासस्मृति १।१२)।

पुष्पध---मनु (१०।२१) के अनुसार यह आवन्त्य का दूसरा नाम है।

पौण्ड्रक (या पौण्ड)---देखिए, 'पुण्ड्र'।

पौल्कस---देखिए, ऊपर 'पुल्कस'।

बन्दी---देखिए, नीचे 'वन्दी'।

बर्बर---मेधातिथि (मनु० १०।४) ने बर्बरों को 'संकीर्णयोनि' कहा है। महाभारत में बर्बरों को शक, शबर, यवन, पह्लव आदि अनार्य जातियों में गिना गया है (सभा० ३२।१६-१७, ५१।२३; वन० २५४।१८; द्रोण० १२१।१३; अनुशासन० ३५।१७; शान्ति० ६५।१३)।

बाह्य---देखिए, ऊपर 'अन्त्य'।

बुरुड (बाँस का काम करनेवाला)---यह सात अन्त्यजों में एक है। यह 'वरुड' भी लिखा जाता है। उड़ीसा में यह अछूत जाति है।

भट---व्यास (१।१२) के अनुसार यह अन्त्यज है। देखिए, नीचे 'रंगावतारी'।

भिल्ल---यह अन्त्यज है (अंगिरा, अत्रि १९९, यम ३३)।

भिषक्---उशना (२६) के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय कन्या के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है, और आयुर्वेद को आठ भागों में पढ़कर अथवा ज्योतिष, फलित-ज्योतिष, गणित के द्वारा (२७) अपनी जीविका चलाता है। अपरार्क के अनुसार यह चीर-फाड़ एवं रोगियों की सेवा कर अपनी जीविका चलाता है।

भूप---यह एक वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की संतान है (कृत्यकल्पतरु में उद्धृत यम के अनुसार)।

भूर्जकण्टक---मनु (१०।२१) के अनुसार यह व्रात्य ब्राह्मण एवं ब्राह्मणी की सन्तान है। कई प्रदेशों में यह आवन्त्य या वाटधान एवं पुष्पध या शैख नाम से विख्यात है।

भृज्जकण्ठ (अम्बष्ठ)---गौतम में उल्लिखित कई आचार्यों (४।१७) के अनुसार यह वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मण नारी की सन्तान है।

भोज---सूतसंहिता के अनुसार यह क्षत्रिय स्त्री एवं वैश्य पुरुष की सन्तान है।

मद्गु---मनु (१०।४८) के अनुसार यह जंगली पशुओं को मारकर अपनी जीविका चलाता है। कुल्लूक ने मनु के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह ब्राह्मण एवं बन्दी नारी की सन्तान है। किन्तु वैखानस (१०।१२) के अनुसार यह क्षत्रिय पुरुष एव वैश्य नारी की वैध सन्तान है, और लड़ने का व्यवसाय न करके श्रेष्ठी (व्यापार) का काम करता है।

मणिकार---उशना (३९-४०) के अनुसार यह क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है और मोतियों, सीपियों एवं शंखों का व्यवसाय करता है। सूतसंहिता के अनुसार यह वैश्य पुरुष एवं वैश्य नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है।

३६. शूद्रात्क्षत्रियायां पुल्कसः कृतकां वा वार्क्षीं सुरां हृत्वा पाचको विक्रीणीते। वैखानस १०।१४।

मत्स्यबन्धक (मछुआ)– -उशना (४४) के अनुसार यह तक्षक (बढ़ई) एवं क्षत्रिय नारी की सन्तान है।

मल्ल––मनु (१०।२२) ने इसे झल्ल का पर्यायवाची माना है।

मागध––यह वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की प्रतिलोम सन्तान है (गौतम ४।१५, अनुशासन० ४८।१२, कौटिल्य ३।७, मनु १०।११, १७, याज्ञवल्क्य १।९३)। किन्तु कुछ लोगों ने इसे वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मणी की सन्तान माना है (गौतम ४।१६, उशना ७, वैखानस १०।१३ में वर्णित आचार्यों का मत)। बौधायन (१।९।७) ने इसे शूद्र पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की सन्तान माना है। मनु (१०।४७) ने इसे स्थल-मार्ग का व्यापारी, अनुशासन पर्व (१०।४८) ने स्तुति करनेवाला या बन्दी माना है। सह्याद्रिखण्ड (२६-६०।६२) ने भी इसे अलंकारयुक्त छन्द कहनेवाला बन्दी (बन्दिन्) माना है। वैखानस (१०।१३) ने इसे शूद्र कहा है। उशना (७-८) है इसे ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का स्तुतिकर्ता माना है। पाणिनि (४।१।७०) ने इसे मगध देश का वासी कहा है, किन्तु जाति के अर्थ में नहीं।

माणविक––सूतसंहिता के अनुसार यह शूद्र पुरुष एवं शूद्र नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है।

मातंग––चाण्डाल के समान। कादम्बरी और अमरकोश में मातंग एवं चाण्डाल एक-दूसरे के पर्यायवाची कहे गये हैं। यम (१२) ने भी इसे चाण्डाल के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। बम्बई एवं उड़ीसा में क्रम से मांग एवं मंग नामक अछूत जातियां पायी जाती हैं।

मार्गव––यह कैवर्त (केवट) के समान ही है। देखिए मनु (१०।३४)।

मालाकार या मालिक (माली)––मालाकार व्यासस्मृति (१।१०-११) में आया है। यह आज की माली जाति का द्योतक है।

माहिष्य––गौतम (४।१७) एवं याज्ञवल्क्य (१।९२) में उल्लिखित आचार्यों के अनुसार यह क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य नारी के अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान है। सह्याद्रिखण्ड (२६।४५-४६) के अनुसार यह उपनयन संस्कार का अधिकारी है और इसके व्यवसाय हैं फलित ज्योतिष, भविष्यवाणी करना एवं आगम बताना। सूतसंहिता ने इसे अम्बष्ठ ही कहा है।

मूर्धावसिक्त––गौतम (४।१७) एवं याज्ञवल्क्य (१।९१) में उल्लिखित आचार्यों के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न अनुलोम जाति है। वैखानस (१०।१२) ने ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की वैध सन्तान को सर्वोत्तम अनुलोम माना है और उनके गुप्त प्रेम से उत्पन्न अर्थात् अवैध सन्तान को अभिषिक्त माना है। यदि राज्याभिषेक हो जाय तो वह राजा हो सकता है, नहीं तो आयुर्वेद, भूत-प्रेत-विद्या, ज्योतिष, गणित आदि से अपनी जीविका चलाता है।

मृतप––पाणिनि के महाभाष्य (२।४।१०) में यह शूद्र कहा गया है, जिसका जूठा बरतन अग्नि से भी पवित्र नहीं किया जा सकता। यह चाण्डालों से भिन्न जाति का माना गया है।

मेद––यह सात अन्त्यजों में एक है (देखिए ऊपर 'अन्त्यज')। अत्रि (१९९) ने लिखा है––'रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजाः स्मृताः॥' (देखिए, यम ३३।) कहीं-कहीं 'मेद' के स्थान पर 'म्लेच्छ' शब्द प्रयुक्त हो गया है। मेद का नाम नारद (वाक्पारुष्य, ११) में भी आया है। अनुशासन० (२२।२२) ने मेदों, पुल्कसों एवं अन्तावसायियों के नाम लिये हैं। टीकाकार नीलकण्ठ ने मेदों को मृत पशुओं के मांस-भक्षक कहा है।[३७]

३७. मेदानां पुल्कसानां च तथैवान्तेवसायिनाम् (...वान्तावसायिनाम् ?)। अनुशासन० २२।२२; मृतानां गोमहिष्यादीनां मांसमश्नन्तोः मेदाः। नीलकण्ठ।

मनु (१०।३६) ने मेद को वैदेहक पुरुष एवं निषाद नारी की सन्तान कहा है। मनु (१०।४८) ने इसके व्यवसाय को अन्ध्र, चूञ्चु एवं मद्गु का व्यवसाय अर्थात् जंगली पशुओं को मारना कहा है।

मैत्र--मनु (१०।२३) ने इसे कारुष ही कहा है।

मैत्रेयक--मनु (१०।२३) के अनुसार यह वैदेहक पुरुष एवं आयोगव नारी की सन्तान है। इसकी जीविका है राजाओं एवं बड़े लोगों (धनिकों) की स्तुति करना एवं प्रातःकाल घण्टी बजाना। जातिविवेक ने इसे ढोकनकार कहा है।

म्लेच्छ--सूतसंहिता के अनुसार यह ब्राह्मण नारी एवं वैश्य पुरुष के गुप्त प्रेम की सन्तान है।

यवन--गौतम (४।१७) में उल्लिखित आचार्यों के मत से यह शूद्र पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम जाति है। मनु (१०।४३-४४) ने यवनों को शूद्रों की स्थिति में पतित क्षत्रिय माना है। महाभारत में यवन लोग शकों तथा अन्य अनार्यों के साथ वर्णित हैं (सभापर्व ३२।१६-१७; वनपर्व २५४।१८; उद्योगपर्व १९।२१; भीष्मपर्व २०।१३; द्रोणपर्व ९३।४२ एवं १२१।१३; कर्णपर्व ७३।१९; शान्तिपर्व ६५।१३; स्त्रीपर्व २२।११)। ज्ञात होता है कि सिन्धु एवं सौवीर के राजा जयद्रथ के अन्तःपुर में कम्बोज एवं यवन स्त्रियाँ थीं। पाणिनि (४।१।५९), महाभाष्य (२।४।१०), अशोक-प्रस्तराभिलेख (५ एवं १३), विष्णुपुराण (४।३।२१) में यवनों की चर्चा हुई है।

रंगावतारी (तारक)--मनु (४।२१५) के अनुसार यह शैलूष एवं गायन से भिन्न जाति है। शंख (१७।-३६) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५१।१४) ने भी इसकी चर्चा की है। ब्रह्मपुराण के अनुसार यह नट है जो रंगमंच पर कार्य करता है, वस्त्र एवं मुखाकृतियों के परिवर्तन आदि का व्यवसाय करता है। मैत्री नामक उपनिषद् में नट एवं भट के साथ रंगावतारी का उल्लेख है।[३८]

रजक (धोबी)--बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं बंगाल (धोवा) में धोबी एक अछूत जाति है। कुछ आचार्यों के अनुसार यह सात अन्त्यजों में आता है। वैखानस (१०।१५) के अनुसार यह पुल्कस (या वैदेहक) एवं ब्राह्मण स्त्री की सन्तान है। किन्तु उशना (१८) ने इसे पुल्कस पुरुष एवं वैश्य कन्या की सन्तान माना है। महाभाष्य (२।४।१०) ने इसे शूद्र कहा है।

रञ्जक (रंगसाज)--मनु (४।२१६) ने इसका उल्लेख किया है। उशना (१९) ने इसे शूद्र पुरुष एवं क्षत्रिय नारी के गुप्त प्रेम की सन्तान माना है।

रथकार--वैदिक साहित्य में भी इसकी चर्चा आती है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१)। बौधायनगृह्यसूत्र (२।५।६) एवं भारद्वाजगृह्यसूत्र (१) के अनुसार इसका उपनयन वर्षा ऋतु में होता था। बौधायनधर्मसूत्र (१।९।६) ने इसे वैश्य पुरुष एवं शूद्र नारी के वैध विवाह का प्रतिफल माना है। धर्मशास्त्रकारों ने इसकी उत्पत्ति के विषय में मतभेद प्रकट किया है। इसका व्यवसाय रथ-निर्माण है।

रामक--वसिष्ठधर्मसूत्र (१८।४) ने इसे वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मण नारी की प्रतिलोम सन्तान कहा है। इसी को गौतमधर्मसूत्र (४।१५) एवं बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार क्रम से क्रत एवं वैदेहक कहा जाता है।

लुब्धक--मृग का शिकार करनेवाला। इसको व्याध भी कहते हैं।

लेखक--यदि यह जाति है, तो इसे कायस्थ ही समझना चाहिए। देखिए 'कायस्थ' जाति का विवरण।

३८. ये चान्ये ह चाटजटनटभटप्रव्रजितरंगावतारिणो राजकर्मणि पतितादयः...... तैः सह न संवसेत्। मैत्री-उप० ७।८।

लोहकार (लोहार)—देखिए पीछे, 'कर्मार' नारद (ऋणादान, २८८) ने इसकी चर्चा की है, यथा 'जात्यैव लोहकारो यः कुशलश्चाग्निकर्मणि।' उत्तर प्रदेश एवं बिहार में इसे लोहार कहा जाता है।

वन्दी (वन्दना करनेवाला, भाट, 'बन्दी' भी कहा जाता है)—हारीत ने इसे वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की प्रतिलोम सन्तान कहा है। ब्रह्मपुराण ने इसे लोगों की स्तुति या वन्दना करनेवाला माना है।

वराट—व्यास (१।१२-१३) ने इसे अन्त्यजों में परिगणित किया है।

वरुड (बाँस का काम करनेवाला)—इसे बुरुड भी लिखा जाता है। महाभाष्य (४।१।९७) ने वारुडकि ('वरुड' से बना हुआ) का उदाहरण दिया है। तैत्तिरीय संहिता (४।५।१) में 'विडलकार' (बाँस चीरनेवाला) एवं वाजसनेयी संहिता (३०।८) में 'विडलकारी' शब्दों का प्रयोग हुआ है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में बाँस के काम करनेवालों को धरकार भी कहा जाता है।

वाटधान—मनु (१०।२१) ने इसे आवन्त्य माना है। देखिए ऊपर 'आवन्त्य।'

विजन्मा—मनु (१०।२३) के अनुसार यह कारुष का ही द्योतक है।

वेण (वैण)—मनु (१०।१९) एवं बौधायन (१।९।१३) के अनुसार यह वैदेहक पुरुष एवं अम्बष्ठ नारी की सन्तान है। कौटिल्य (३।७) ने वैण को अम्बष्ठ पुरुष एवं वैदेहक नारी की सन्तान माना है। मनु (१०।४९) ने इसे बाजा बजानेवाला कहा है। कुल्लूक (मनु ४।२१५) ने इसे बुरुड की भाँति बाँस का काम करनेवाला माना है।

वेणुक—उशना (४) ने इसे सूत एवं ब्राह्मणी की प्रतिलोम सन्तान कहा है। वैखानस (१०।१५) ने इसे मद्गु एवं ब्राह्मणी की प्रतिलोम सन्तान कहा है। यह जाति वीणा एवं मुरली बजाने का कार्य करती है। सूतसंहिता ने इसे नाई (नापित) एवं ब्राह्मणी की सन्तान कहा है।

वेलव—सूतसंहिता ने इसे शूद्र पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की सन्तान माना है।

वैदेहक—बौधायन (१।९।८), कौटिल्य (३।७), मनु (१०।११,१३,१७), विष्णु (१६।६), नारद (स्त्रीपुंस, १११), याज्ञ० (१।९३), अनुशासन पर्व (४८।१०) के अनुसार यह वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मण नारी की प्रतिलोम सन्तान है। किन्तु गौतम (४।१५) के अनुसार यह शूद्र पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की सन्तान है। वैखानस (१०।१४) एवं कुछ आचार्यों के मत (गौतम ४।१७ एवं उशना २०) से यह शूद्र पुरुष एवं वैश्य नारी की सन्तान है। मनु (१०।४७) एवं अग्निपुराण (१५१।१४) के अनुसार इसका व्यवसाय है अन्तःपुर की स्त्रियों की रक्षा करना। किन्तु उशना (२०।२१) एवं वैखानस (१०।१४) ने इसे बकरी, भेड़, भैंस चरानेवाला तथा दूध, दही, मक्खन, घी बेचनेवाला कहा है। सूतसंहिता ने वैदेह एवं पुल्कस को समान माना है।

व्याध (शिकारी या बहेलिया)—सुमन्तु, हारीत, याज्ञ० (२।४८), आपस्तम्ब आदि ने इसका उल्लेख किया है।

व्रात्य—आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१, १।२२-१, १।२।१०) तथा अन्य सूत्रों ने व्रात्य को ऐसी जाति वाला कहा है, जिसके पूर्वजों का उपनयन नहीं हुआ हो। किन्तु बौधायन (१।९।१५) में व्रात्य को वर्णसंकर कहा गया है।

शक—मनु (१०।४३-४४) ने शकों को यवनों के साथ वर्णित किया है और उन्हें शूद्रों की श्रेणी के पतित क्षत्रिय माना है। इस विषय में 'यवन' का वर्णन भी पढ़िए। महाभारत में भी इनका वर्णन है (सभा० ३२।१६-१७; उद्योग० ४।१५, १९।२१; १६०।१०३; भीष्म० २०।१३; द्रोण० १२१।१३)। पाणिनि (४।१।१७५) ने 'कम्बोजादि गण' में शक का उल्लेख किया है।

शबर—भिल्ल के समान जंगली आदिवासी। महाभारत में इनका वर्णन है (अनुशासनपर्व ३५।१७, शान्तिपर्व ६५।१३)।

शालिक—सूतसंहिता ने इसे मागध ही माना है। देखिए, ऊपर।

शूलिक——उशना (४२) ने इसे ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्र नारी की अवैध सन्तान कहा है और दण्डित लोगों को शूली देनेवाला घोषित किया है। वैखानस (१०।१३) एवं सूतसंहिता ने इसे क्षत्रिय पुरुष एवं शूद्र नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल माना है।

शैख——मनु (१०।२१) के अनुसार यह आवन्त्य ही है।

शैलूष——विष्णुधर्मसूत्र (५१।१३), मनु (४।२१४), हारीत आदि ने इसे रंगावतारी से भिन्न एवं ब्रह्मपुराण ने इसे नटों के लिए जीविका खोजनेवाला कहा है। आपस्तम्ब (९।३८) ने इसे रजक एवं व्याध की श्रेणी में रखा है। यही बात याज्ञवल्क्य (२।४८) में भी पायी जाती है।

शौण्डिक (सुरा बेचनेवाला)——विष्णु (५१।१५), मनु (४।२१६), याज्ञ० (२।४८), शंख, ब्रह्मपुराण ने इसका उल्लेख किया है।

श्वपच या श्वपाक——व्यास (१।१२-१३) ने इसे अन्त्यजों में परिगणित किया है। पाणिनि (४।३।११८) के 'कुलालादि' में यह आया है। यह उग्र पुरुष एवं क्षत्ता उपजाति की नारी की सन्तान है (बौधायन १।९।-१२, कौटिल्य ३।७)। मनु ने इसे क्षत्ता पुरुष एवं उग्र नारी से उत्पन्न माना है। उशना (११) ने इसे चाण्डाल पुरुष एवं वैश्य नारी की सन्तान कहा है। मनु (१०।५१-५६) के अनुसार चाण्डाल एवं श्वपच एक ही व्यवसाय करते हैं (देखिए, 'चाण्डाल')। ये लोग कुत्ते का मांस खाते हैं और कुत्ते ही इनका धन है (उशना १२)। ये नगरों की सफाई करते हैं और श्मशान में रहते हैं (मनु० १०।५५)। ये नातेदारों से रहित मृतकों को ढोते हैं, जल्लाद का काम करते हैं, आदि-आदि। भगवद्गीता (५।१८) में ये लोग कुत्तों की श्रेणी में रखे गये हैं। मार्कण्डेयपुराण में ये चाण्डाल भी कहे गये हैं, अर्थात् इनमें और चाण्डालों में कोई अन्तर नहीं है। जातिविवेक में ये दक्षिण के महार एवं मंग के समान माने गये हैं।

सात्वत——मनु (१०।२३) ने इसे कारुष ही माना है।

सुधन्वाचार्य——मनु (१०।२३) ने इसे कारुष ही माना है।

सुवर्ण——उशना (२४-२५) के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय नारी के वैध विवाह की सन्तान है। सम्भवतः यहाँ लिखने में त्रुटि हो गयी है और 'सुवर्ण' का 'सवर्ण' होना चाहिए। उसे अथर्ववेद के अनुसार कर्म-संस्कार करना चाहिए, राजा की आज्ञा से घोड़े, हाथी या रथ की सवारी करनी चाहिए। वह सेनापति या वैद्य का काम कर सकता है।

सुवर्णकार या सौवर्णिक या हेमकार (सोनार)——वाजसनेयी संहिता (३०।७) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१४) में हिरण्यकार का उल्लेख हुआ है। विष्णुधर्मसूत्र (१०।४) एवं नारद (ऋणादान, २७४) के अनुसार सोनार तौल नामक दिव्य में तोला करता था। सुमन्तु, शंख आदि ने इसे कर्मकार एवं निषाद की श्रेणी में गिना है। मनु (९।२९२) ने इसे दुष्टों में दुष्ट कहा है (सर्वकण्टकपापिष्ठ)। महाभारत में ऐसा आया है कि परशुराम की क्रोधाग्नि से बचकर कुछ लोगों ने क्षत्रियों, लोहारों एवं सोनारों का काम करना आरम्भ कर दिया।[१९]

सूचक——यह वैश्य पुरुष एवं शूद्र नारी की अनुलोम सन्तान है (उशना ४३)।

१९. द्योकारहेमकारादिजातिं नित्यं समाश्रिताः। शान्तिपर्व ४९।८४। यहाँ 'द्योकार' सम्भवतः 'व्योकार' (लोहार) है। कहीं-कहीं 'द्योकार' के स्थान पर 'ज्याकार' (प्रत्यञ्चा बनानेवाला) पाया जाता है।

सूचिक या सौचिक या सूची—जो सूई से कार्य करता है, अर्थात् दर्जी। यह वैदेहक पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की प्रतिलोम सन्तान है (वैखानस १०।१५ एवं उशना २२) और सूई का अर्थात् सीने-पिरोने का काम करता है। अमरकोश के अनुसार सौचिक भी तुन्नवाय ही है (देखिए ऊपर) और ब्रह्मपुराण में सूची भी तुन्नवाय ही कहा गया है।

सूत—वैदिक साहित्य (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१) में भी यह नाम आया है। यह क्षत्रिय पुरुष एवं ब्राह्मण नारी की प्रतिलोम सन्तान है (गौतम ४।१५; बौधायन १।९।९; वसिष्ठ १८।६; कौटिल्य ३।७; मनु १०।११; नारद, स्त्रीपुंस, ११०; विष्णु १६।६; याज्ञ० १।९३ एवं सूतसंहिता)। स्तुति गान करने वाले सूत से यह भिन्न है, ऐसा कौटिल्य ने स्पष्ट कर दिया है। सूत का व्यवसाय है रथ हाँकना, अर्थात् घोड़ा जोतना, खोलना आदि (मनु १०।४७)। वैखानस (१०।१३) के अनुसार इसका कार्य है राजा को उसके कर्त्तव्यों की याद दिलाना एवं उसके लिए भोजन बनाना। कर्णपर्व (३२।४८) के अनुसार यह ब्राह्मण-क्षत्रियों का परिचारक है। वायुपुराण (जिल्द १।१।३३-३४, जिल्द २।१।१३९) ने इसे राजाओं एवं धनिकों की वंशावली, परम्पराओं की सुरक्षा करनेवाला कहा है। किन्तु यह वेदाध्ययन नहीं कर सकता एवं अपनी जीविका के लिए राजाओं पर आश्रित रहता है और रथों, घोड़ों एवं हाथियों की रखवाली करता है। यह जीविका के लिए दवा देने का कार्य भी कर सकता है। वैखानस (१०।१३) एवं सूतसंहिता में स्पष्ट शब्दों में आया है कि सूत एवं रथकार में अन्तर है, जिनमें सूत तो वैध विवाह की सन्तान है, किन्तु रथकार क्षत्रिय पुरुष एवं ब्राह्मण नारी के गुप्त प्रेम की सन्तान है।

सूनिक या सौनिक (कसाई)—यह आयोगव पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की सन्तान है (उशना १४)। हारीत ने इसे रजक एवं चर्मकार की श्रेणी में रखा है। ब्रह्मपुराण ने इसे 'पशुमारक' कहा है। जातिविवेक के अनुसार यह 'खाटिक)' है।

सैरिन्ध्र—मनु (१०।३२) के अनुसार यह दस्यु पुरुष एवं आयोगव नारी की सन्तान है, पुरुषों एवं नारियों के केश-विन्यास से अपनी जीविका चलाता है। यह दास (उच्छिष्ट भोजन करनेवाला) नहीं है, हाँ, शरीर दबाने का कार्य करता है। पाणिनि (४।३।११८) ने अपने 'कुलालादि गण' में इसे परिगणित किया है। महाभारत में सैरिन्ध्री के रूप में द्रौपदी ने विराट-रानी की ये सेवाएँ की हैं—केशों को सँवारना, लेपन करना, माला बनाना (विराटपर्व ९।१८-१९)। इसी प्रकार दमयन्ती चेदिराज की माता की सैरिन्ध्री बनी थी (वनपर्व ६५।६८-७०)। आदिपर्व के अनुसार सैरिन्ध्र मृगों को मारकर, राजाओं के अन्तःपुरों एवं छुटकारा पायी हुई नारियों की रखवाली करके अपनी जीविका चलाता है (शूद्रकमलाकर में उद्धृत)।

सोपाक—यह चण्डाल (या चाण्डाल) पुरुष एवं पुक्कस नारी की सन्तान है (मनु १०।३८)। यह राजा से दण्डित लोगों को फाँसी देते समय जल्लाद का कार्य करता है।

सौधन्वन—देखिए, कामसूत्र (१।५।३७)। इसे रथकार भी कहा जाता है।

उपर्युक्त जाति-सूची से व्यक्त होता है कि स्मृतियों में वर्णित कतिपय जातियाँ, यथा अम्बष्ठ, मागध, मल्ल एवं वैदेहक, प्रदेशों से सम्बन्धित हैं (अम्ब, मगध, विदेह आदि) तथा कुछ जातियाँ आभीर, किरात एवं शक नामक विशिष्ट जातियों पर आधारित हैं। मनु (१०।४३-४५) एवं महाभारत (अनुशासनपर्व ३३।२१-२३, ३५।१७-१८) ने शकों, यवनों, कम्बोजों, द्रविड़ों, दरदों, शबरों, किरातों आदि को मूलतः क्षत्रिय माना है, किन्तु वे ब्राह्मणों के सम्पर्क से दूर हो जाने के कारण शूद्रों की स्थिति में परिवर्तित हो गये थे। यही बात विष्णुपुराण (४।४।४७-४८) में भी पायी जाती है। अयस्कार, कुम्भकार, चर्मकार, तक्षा, तैलिक, नट, रथकार, वेण आदि

कतिपय व्यवसायों पर आधारित हैं। अति प्राचीन काल में ब्राह्मण लोग कई प्रकार के व्यवसाय करते पाये जाते हैं। ऐसे ब्राह्मणों की सूची, जो अपने स्वाभाविक व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यवसाय करते थे, बहुत लम्बी है (मनु ३।१५१)। इस विषय में पंक्तिपावन-सम्बन्धी विवेचन भी आगे किया जायगा।

अति पाचीन काल से ही ब्राह्मणों में कुछ ऐसे लोग पाये जाते हैं, जो अध्ययनाध्यापन से दूर कोई अन्य व्यवसाय करते थे, किन्तु वे ब्राह्मण कहे जाते रहे हैं। महाभाष्य में तप, वेदाध्ययन एवं जन्म नामक तीन कारणों का उल्लेख है, जो किसी भी ब्राह्मण के लिए आवश्यक ठहराये गये हैं।[४०] महाभारत में यह कई बार आया है कि ब्राह्मण जन्म से ही पूज्य है,[४१] किन्तु कई स्थलों पर जन्म पर आधारित जाति की भर्त्सना भी की गयी है।[४२] उद्योगपर्व (४३।२० एवं ४९), शान्तिपर्व (१८८।१०; १८९।४ एवं ८), वनपर्व (२१६।१४-१५; ३१३।१०८-१११), याज्ञवल्क्य (१।२००), वृद्ध गौतम आदि में नैतिकता, चरित्र आदि दिव्य गुणों वाले व्यक्तियों की ही प्रशंसा की गयी है। कर्म से ही कोई उच्च होता है, न कि जन्म से।[४३] गौतम ने आत्मा के आठ गुणों को परम गौरव दिया है (दया सर्वभूतेषु शान्तिरनसूया शौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहेति), तथापि जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था सभी युगों में बलवती बनी रही और कतिपय आचार्यों ने जाति एवं चरित्र में जाति को ही महत्ता दी।[४४]

मध्य काल के जातिविवेक एवं शूद्रकमलाकर (१७वीं शताब्दी) नामक ग्रन्थों में कुछ और जातियों का वर्णन है, जिनमें कुछ निम्न हैं—

आघासिक या आन्धसिक—वैदेहक पुरुष एवं शूद्र नारी की सन्तान; पका हुआ भोजन बेचनेवाला। इसे रान्धवणु भी कहा जाता है।

आवर्तक—मृज्जकण्ठ पुरुष एवं ब्राह्मण नारी से उत्पन्न।

४०. तपः श्रुतं च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारकम्।। तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः।। पाणिनि के २।२।६ पर महाभाष्य। महाभारत के अनुशासनपर्व (१२१।७) में भी ऐसा ही आया है—तपः......ब्राह्मण्यकारणम्। त्रिभिर्गुणैः समुदितो ततो भवति वै द्विजः।। महाभाष्य में एक अन्य चर्चा भी है—त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च। एतच्छिवं विजानीहि ब्राह्मणाग्रचस्य लक्षणम्।। (जिल्द २, पृ० २२०)

४१. जन्मनैव महाभागे ब्राह्मणो नाम जायते। नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक्।। अनुशासन-पर्व ३५।१; देखिए, वही १४३।६।

४२. सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता। साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप।। वनपर्व १८१। ४२-४३।

४३. सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा। तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।। शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।। शान्तिपर्व १८९।४ एवं ८; और देखिए वनपर्व १८०।२१। न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।। शान्ति० १८८, १०। तस्मात्क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम्। य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया।। उद्योगपर्व ४३।४९; यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः। तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः।। वनपर्व २१६।१४-१५; न जातिः पूज्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः। चण्डालमपि वृत्तस्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।। वृद्धगौतम।

४४. देखिए, पराशरमाधवीय; जातिशीलयोर्मध्ये जात्युत्कर्ष एव प्राधान्येनोपादेयः। शीलं तु यथासम्भवम्।

आहितुण्डिक—निषाद एवं वैदेहक नारी से उत्पन्न। इसे गारुडी भी (मराठी में) कहते हैं।

औरभ्र—मराठी में इसे धंगर कहते हैं। यह भेड़, बकरी चराता है। उत्तर प्रदेश, बिहार में इसे गड़रिया कहा जाता है।

कटधानक—आवर्तक पुरुष एवं ब्राह्मण नारी की सन्तान।

कुन्तलक—यह नापित (नाई) के समान है।

कुरुविन्द—कुम्भकार एवं कुक्कुटी नारी से उत्पन्न। शूद्रकमलाकर के अनुसार यह आज का शाली है।

घोलिक—व्याध पुरुष एवं गारुडी नारी की सन्तान।

दुर्भर—आयोगव एवं धिग्वण नारी की सन्तान। इसे अब डोहोर या डोर कहते हैं।

पौष्टिक—ब्राह्मण एवं निषादी नारी से उत्पन्न। अब इसे कहार या पालकी ढोनेवाला या भोई कहा जाता है।

प्लव—चाण्डाल एवं अन्ध्र नारी की सन्तान। यह आज का 'हाडी' है।

बन्धुल—मैत्रेय एवं जांघिका स्त्री की सन्तान। इसे अब झारेकरी (जो मिट्टी या राख से सोने के क़ण बटोर कर सोनार के पास ले जाता है) कहते हैं।

भस्मांकुर—च्युत शैव संन्यासी एवं शूद्र वेश्या की सन्तान। जातिविवेक में इसे गुरव कहा गया है।

मन्यु—वैश्य एवं क्षत्रिय नारी की सन्तान। इसे तावडिया (चोर पकड़नेवाला) भी कहते हैं।

रोमिक—मल्ल एवं आवर्तक नारी की सन्तान। अब इसे लोणार (नमक बनानेवाला) कहा जाता है।

शालाक्य या शाकल्य—मालाकार और कायस्थ नारी की सन्तान। अब इसे मनियार कहते हैं।

शुद्ध-मार्जक—माण्डलि, जो गा-बजाकर जीविका चलाते हैं।

सिन्वोलक या स्पन्वालिक—शूद्र एवं मागध नारी की सन्तान। इसे रंगारी अर्थात् रंगनेवाला कहा जाता है।

आधुनिक काल में प्रमुख वर्णों में बहुत-सी उपजातियाँ हैं, जो प्रदेश, व्यवसाय, धार्मिक सम्प्रदाय तथा अन्य कारणों से एक दूसरे से भिन्न हैं, उदाहरणार्थ, ब्राह्मण प्रथमतः १० श्रेणियों में विभाजित हैं, जिनमें ५ गौड़ हैं और ५ द्रविड़ हैं।[४५] ये १० ब्राह्मण कतिपय श्रेणियों, उपजातियों एवं वर्गों में विभाजित हैं। द्रविड़ ब्राह्मणों में महाराष्ट्र ब्राह्मण चितपावन (या कोंकणस्थ), कर्हाडे, देशस्थ, देवरुखे आदि कई उपजातियों में विभाजित हैं। कहा जाता है कि गुजरात में ब्राह्मणों की ८४ उपजातियाँ हैं। पुनः एक ही उपजाति में कई विभाजन पाये जाते हैं। पंजाब के सारस्वतों में लगभग ४७० उपविभाग हैं। इसी प्रकार कान्यकुब्जों में भी सैकड़ों श्रेणियाँ हैं। अति प्राचीन काल में भी उत्तर के ब्राह्मणों ने मगध आदि देशों के ब्राह्मणों को ऊँची दृष्टि से नहीं देखा था। मत्स्यपुराण (१६।१६) में आया है कि वैसे ब्राह्मण जो म्लेच्छ देशों में, त्रिशंकु, बर्बर, ओड्र (उड़ीसा), अन्ध्र (तेलंगाना), टक्क, द्रविड़ एवं कोंकण में रहते हैं, उन्हें श्राद्ध के समय निमन्त्रित नहीं करना चाहिए।[४६]

क्षत्रियों में भी कतिपय उपजातियाँ पायी जाती हैं, यथा सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी तथा अग्निकुल वाले। परमारों में ३५, गुहिलोतों में २४, चाहमानों में २६, सोलंकियों में १६ शाखाएँ हैं। इसी प्रकार अन्य वर्णों में भी बहुत-सी शाखाएँ एवं उपशाखाएँ हैं।

४५. **द्राविडाश्चैव तैलंगाः कर्नाटा मध्यदेशगाः। गुर्जराश्चैव पञ्चैते कथ्यन्ते द्राविडा द्विजाः॥ सारस्वताः कान्यकुब्जा उत्कला मैथिलाश्च ये। गौडाश्च पञ्चधा चैव दश विप्राः प्रकीर्तिताः॥ सह्याद्रिखण्ड (स्कन्दपुराण)।**

४६. **कृतघ्नान्नास्तिकांस्तद्वन्म्लेच्छदेशनिवासिनः। त्रिशंकुबर्बरोड्रान्ध्रान् टक्कद्रविड़कोंकणान्॥ मत्स्यपुराण १६।१६।**

अध्याय ३

वर्णों के कर्तव्य, अयोग्यताएँ एवं विशेषाधिकार

धर्मशास्त्र-साहित्य में वर्णों के कर्तव्यों एवं विशेषाधिकारों के विषय में विशिष्ट वर्णन मिलता है। वेदाध्ययन करना, यज्ञ करना एवं दान देना ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए आवश्यक कर्तव्य माने गये हैं। वेदाध्यापन, यज्ञ कराना, दान लेना ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हैं। युद्ध करना एवं प्रजा-जन की रक्षा करना क्षत्रियों के तथा कृषि, पशु-पालन, व्यापार आदि वैश्यों के विशेषाधिकार हैं।[1] प्रथम तीन कर्तव्य अर्थात् अध्ययन करना, यज्ञ करना, दान देना द्विज मात्र के धर्म (कर्तव्य या कर्म) हैं, किन्तु वेदाध्यापन केवल ब्राह्मण की ही वृत्ति (जीविका) मानी गयी है।

वेदाध्ययन--आरम्भिक वैदिक कालों में भी ब्राह्मण एवं विद्या में अभेद्य सम्बन्ध था। ब्रह्मविद्या में ब्राह्मणों ने विशिष्ट गति प्राप्त की थी। कुछ राजाओं ने भी इस विद्या में इतनी महत्ता प्राप्त कर ली थी कि ब्राह्मण लोग उनसे ज्ञान ग्रहण करते थे। शतपथ ब्राह्मण एवं उपनिषदों में कुछ ब्रह्मविद् क्षत्रियों के नाम आते हैं जिनके यहाँ ब्राह्मण लोग शिष्य रूप में उपस्थित होते थे। यथा याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से (शतपथ ब्राह्मण ६।२।१।५), बालाकि गार्ग्य ने काशिराज अजातशत्रु से (बृहदारण्यक २।१ एवं कौषीतकी उपनिषद् ४'), श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवलि से (छान्दोग्योपनिषद् ५।३), पंच ब्राह्मणों ने केकयराज अश्वपति से (छा० ५।२) ज्ञान प्राप्त किया। इससे यह स्पष्ट है कि क्षत्रियों ने ब्रह्मविद्या में इतनी विशेष योग्यता प्राप्त कर ली थी कि ब्राह्मण लोग भी उनके यहाँ पहुँचते थे। इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि क्षत्रिय लोग ब्रह्मविद्या के प्रतिष्ठापक थे, जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान् एवं भारतीयता-तत्त्वविद् श्री ड्यूसेन महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डास सिस्टेम डेस वेदान्त' (सन् १८८३, पृष्ठ १८-१९) में लिखा था। यह धारणा अब निर्मूल सिद्ध की जा चुकी है। उपनिषदों के दर्शन का बीजारोपण ऋग्वेद के मन्त्रों, अथर्ववेद एवं कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों में हो चुका था। उपनिषदों में ऐसे ब्राह्मणों की बहुलता है जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से ब्रह्मविद्या के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डाला है। ऐसा कहने के लिए कोई कारण नहीं है कि जिन कतिपय क्षत्रियों के नाम ब्रह्मविद् के रूप में हमारे सामने आते हैं, केवल वे ही ब्रह्मविद् थे, ब्राह्मण नहीं। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी किसी वैश्य के विषय में वेदाध्ययन का संकेत नहीं मिलता, यद्यपि उनके लिए भी वेदाध्ययन करना आवश्यक था।

निरुक्त (२।४) में विद्यासूक्त नामक चार मन्त्र हैं, जिनमें प्रथम के अनुसार विद्या ब्राह्मणों के पास

१. **द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्। ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। पूर्वेषु नियमस्तु। राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्। वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम्। गौतम० १०।१-३, ७, ५०; और देखिए आपस्तम्ब २।५, १०।५-८; बौधायन १।१०।२-५; वसिष्ठ २।१३-१९; मनु १।८८-९०, १०।७५-७६; याज्ञवल्क्य १।११८-११९; विष्णु २।१०-१५; अत्रि १३-१५; मार्कण्डेयपुराण २८।३-८।**

आयी और सम्पत्ति के समान अपनी रक्षा के लिए उसने प्रार्थना की।[2] पतञ्जलि के महाभाष्य में आया है कि ब्राह्मणों को बिना किसी कारण के धर्म, वेद एवं वेदांगों का अध्ययन करना चाहिए।[3] मनु (४।१४७) के अनुसार ब्राह्मणों के लिए वेदाध्ययन परमावश्यक है, क्योंकि यह परमोच्च धर्म है। याज्ञवल्क्य (१।१९८) ने कहा है कि विधाता ने ब्राह्मणों को वेदों की रक्षा के लिए, देवों एवं पितरों की तुष्टि तथा धर्म की रक्षा के लिए उत्पन्न किया है। अत्रि में भी यही बात पायी जाती है। कुछ आचार्यों (बौधायनगृह्यपरिभाषा १।१०।५-६; तै० सं० २।१।५।५) ने यहाँ तक लिख दिया है कि जिस ब्राह्मण के घर में वेदाध्ययन एवं वेदी (श्रौत क्रिया-संस्कारों के लिए अग्नि-प्रतिष्ठा) का त्याग हो गया हो, वह तीन पीढ़ियों में दुर्ब्राह्मण हो जाता है। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता (२।१।१०।१) में भी संकेत है।

वेदाध्यापन--सम्भवतः आरम्भिक काल में पुत्र अपने पिता से वेद की शिक्षा पाता था। श्वेतकेतु आरुणेय की गाथा (छान्दोग्य० ५।३।१ एवं ६।१।१-२; बृ० उ० ६।२।१) से पता चलता है कि उन्होंने अपने पिता से ही सब वेदों का अध्ययन किया था, इतना ही नहीं, देवों, मनुष्यों एवं असुरों ने अपने पिता प्रजापति से शिक्षा प्राप्त की थी (बृ० उ० ५।२।१)। ऋग्वेद के ७।१०३।५ से पता चलता है कि शिक्षा-पद्धति वाचिक (अलिखित) थी, अर्थात् शिष्य अपने गुरु के शब्दों को दुहराते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल से धर्मशास्त्र-काल तक सर्वत्र वेदाध्यापन-कार्य ब्राह्मणों के हाथ में था। जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है, कुछ क्षत्रिय आचार्य या दार्शनिक भी थे (शतपथब्राह्मण ८।१।४।१० एवं ११।६।२ आदि), किन्तु वे सामान्यतः निम्न प्रतिष्ठा के पात्र थे। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।४।२५-२८) में आया है कि गुरु केवल ब्राह्मण ही हो सकते हैं, किन्तु आपत्काल में, अर्थात् ब्राह्मण-गुरु की अनुपस्थिति में ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य से पढ़ सकता है। ब्राह्मण-शिष्य क्षत्रिय या वैश्य गुरु के पीछे-पीछे चल सकता है, किन्तु पैर दबाने की सेवा या कोई अन्य शरीर-सेवा नहीं कर सकता; पढ़ने के उपरान्त वह गुरु के आगे-आगे जा सकता है। ये ही नियम गौतम (७।१।३), मनु (१०।२, २।२४१) में भी पाये जाते हैं। मनु (२।२४२) ने लिखा है कि एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी किसी अब्राह्मण गुरु के यहाँ ठहर नहीं सकता, भले ही वह किसी शूद्र से कोई उपयोगी या हितकर कला या कौशल सीख ले (२।२३८))। वेदाध्यापन से प्रचुर धन की प्राप्ति सम्भव नहीं थी। केवल ब्राह्मण ही पुरोहित्य कर सकता था। जैमिनि ने लिखा है कि क्षत्रिय या वैश्य ऋत्विक् नहीं हो सकता, अतः सत्र (एक ऐसा यज्ञ जो बहुत दिनों या वर्षों तक चलता रहता है) केवल ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पादित हो सकता है।[4] त्रिशंकु को चाण्डाल हो जाने का शाप मिल चुका था, किन्तु विश्वामित्र ने उसके लिए यज्ञ करने की ठानी, किन्तु रामायण का कहना है कि देवता एवं ऋषि उसकी हवि को स्वीकार नहीं कर सकते थे।[5] किन्तु यह सन्देहास्पद है कि ऐसी स्थिति (कठिन नियम) प्राचीन

२. ये मन्त्र वसिष्ठधर्मसूत्र (२।८-११) में भी मिलते हैं। इनमें तीन (केवल 'अध्यापिता ये' को छोड़कर) विष्णु (२९।९-१० एवं ३०।४७) में भी प्राप्त होते हैं। मनु (२।११४-११५) में दो मन्त्रों का अर्थ आ जाता है।

३. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति। महाभाष्य (जिल्द २, पृ० १५)।

४. ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात्। जैमिनि ६।६।१८; ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्षप्रतिषेधादितरयोः। कात्या० श्रौ० १।२।२८।

५. क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः। कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः॥ बालकाण्ड ५९।१३-१४॥

वैदिक काल में भी थी। ऋग्वेद (१०।९८।७) में आया है कि देवापि शन्तनु का पुरोहित था, निरुक्त (२।१०) से पता चलता है कि देवापि एवं शन्तनु भाई-भाई थे और कुरु की सन्तान थे। निरुक्त के अनुसार वैदिक काल में क्षत्रिय पुरोहित हो सकता था। बहुत-से आधुनिक लेखकों की यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा है कि ब्राह्मण पुरोहित-जाति या पुरोहित हैं। वैदिक काल में सभी ब्राह्मण पुरोहित नहीं थे और न आज ही सब ब्राह्मण मन्दिरों एवं तीर्थस्थानों के पुरोहित या पुजारी हैं। कुछ ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित हो सके और बहुतों ने क्रिया-संस्कारों के लिए ऋत्विक् होना स्वीकार कर लिया। मन्दिरों के पुजारियों की परम्परा पश्चात्कालीन है और आधुनिक काल की भाँति प्राचीन काल में भी पुरोहिती-कर्म निम्न कोटि का कार्य समझा जाता था। मनु (३।१५२) ने लिखा है कि देवलक ब्राह्मण (जो मन्दिर में पूजा करके दक्षिणा लेता है) तीन वर्ष के उपरान्त श्राद्ध एवं देव-पूजा के समय निमन्त्रण पाने का अधिकारी नहीं रह जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मणों की जीविका के कई साधन थे, जिनमें अब तक वेदाध्यापन एवं पौरोहित्य नामक साधनों पर प्रकाश डाला जा चुका है। ब्राह्मणों की जीविका का तीसरा साधन था किसी योग्य या किसी प्रकार के कलंक या दोष से रहित व्यक्ति से दान ग्रहण करना। यम के अनुसार तीनों वर्णों के योग्य व्यक्तियों से प्रतिग्रह लेना (दान-ग्रहण) पुरोहिती या शिक्षा देकर धन प्राप्त करने से कहीं अच्छा है।[६] किन्तु मनु (१०।१०९-१११) के अनुसार अयोग्य व्यक्ति या शूद्र से प्रतिग्रह लेना शिक्षा-कार्य या पुरोहिती से निम्न-तर है। दान लेने या देने के लिए बड़े-बड़े नियमों का विधान है। इस पर हम पुनः विचार करेंगे। बृहदा-रण्यकोपनिषद् (४।१।३७ एवं ५।१४।५-६) से पता चलता है कि इस प्रकार के नियम पर्याप्त रूप से विद्यमान थे।

ब्राह्मण-वृत्ति—पहली बात यह थी कि ब्राह्मणों के जीवन का आदर्श ही था निर्धनता, सादा जीवन, उच्च विचार, धन-सञ्चय से सक्रिय रूप में दूर रहना तथा संस्कृति-सम्बन्धी रक्षण एवं विकास करना। मनु (४।२-३) के अनुसार ब्राह्मणों के लिए यह एक सामान्य नियम था कि वे इतना ही धन प्राप्त करें जिससे वे अपना तथा अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण कर सकें, बिना किसी को कष्ट दिये अपने धार्मिक कर्तव्य कर सकें। मनु (४।७-८) ने पुनः कहा है कि एक ब्राह्मण उतना ही अन्न एकत्र करे जितना कि एक कुसूल या एक कुम्भी में अट सके।[७] 'कुम्भीधान्य' का आदर्श बहुत प्राचीन है, पतञ्जलि के महाभाष्य में भी इसकी चर्चा है (पाणिनि १।३।७)।[८] याज्ञवल्क्य (१।१२८) एवं मनु (१०।११२) ने ब्राह्मणों के लिए यह भी व्यवस्था दी है कि यदि वे

६. प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानां प्रतिग्रहं श्रेष्ठतमं वदन्ति। प्रतिग्रहाच्छुध्यति जप्यहोमैर्याज्यं तु पापैर्न पुनन्ति वेदाः॥

७. भाष्यकारों ने 'कुसूल' और 'कुम्भी' की व्याख्या विभिन्न ढंग से की है। कुल्लूक (मनु ४।७ पर) के मता-नुसार वह ब्राह्मण जिसके पास तीन वर्षों के लिए अन्न है, 'कुसूलधान्य' कहलाता है, और 'कुम्भीधान्य' वह है जिसके पास साल भर के लिए पर्याप्त अन्न है। मेधातिथि का कहना है कि केवल अन्न पर ही रुकावट नहीं है; जिसके पास अन्न या धन तीन वर्षों के लिए है, वह 'कुसूलधान्य' है। गोविन्दराज के अनुसार 'कुसूलधान्य' एवं 'कुम्भीधान्य' वे ब्राह्मण हैं जिनके पास क्रम से १२ और ६ दिनों के लिए अन्न है। मिताक्षरा को गोविन्दराज की व्याख्या मान्य है (याज्ञवल्क्य १।१२८ पर)।

८. कुम्भीधान्यः श्रोत्रिय उच्यते। यस्य कुम्भ्यामेव धान्यं स कुम्भीधान्यः। यस्य पुनः कुम्भ्यां चान्यत्र च नासौ कुम्भीधान्यः।

अपनी जीविका न चला सकें तो फसल कट जाने के बाद खेत में जो धान्ब की बालियाँ गिर पड़ी हों उन्हें चुनकर खायें। दान लेने से यह कष्टकर कार्य अच्छा है। इसे ही मनु ने 'ऋत' की संज्ञा दी है (४।५)। मनु (४।१२, १५, १७), याज्ञवल्क्य (१।१२९), व्यास, महाभारत (अनुशासनपर्व ६१।१९) आदि में ब्राह्मणों के सादे जीवन पर बल दिया गया और उन्हें धन-संग्रह से सदा दूर रहने को उद्वेलित किया गया है।

गौतम (९।६३), याज्ञवल्क्य (१।१००), विष्णुधर्मसूत्र (६१।१) एवं लघु-व्यास (२।८) के अनुसार ब्राह्मण को अपने योगक्षेम (जीविका एवं रक्षण) के लिए राजा या धनिक जन के पास जाना चाहिए। मनु (४।३३), याज्ञवल्क्य (१।१३०) एवं वसिष्ठधर्मसूत्र (१२।२) के अनुसार क्षुधापीड़ित होने पर ब्राह्मण को राजा, अपने शिष्य या सुपात्र के यहाँ सहायता के लिए जाना चाहिए। किन्तु अधार्मिक राजा या दानी से दान ग्रहण करना मना है। यदि उपर्युक्त तीन प्रकार के (राजा, शिष्य या इच्छुक सुपात्र दानी) दाता न मिलें तो अन्य योग्य द्विजातियों के पास जाना चाहिए (गौतम १७।१-२)। यदि यह भी सम्भव न हो तो ब्राह्मण किसी से भी, यहाँ तक कि शूद्र से भी (मनु १०।१०२-१०३) दान ले सकता है। किन्तु शूद्र से दान लेकर यज्ञ या अग्निहोत्र नहीं करना चाहिए, नहीं तो आगामी जन्म में चाण्डाल होना पड़ेगा (मनु ११।२४ एवं ४२, याज्ञ० १।१२७)। इस विषय में मनु (४।२५१), वसिष्ठ (१४।१३), विष्णु (५७।१३), याज्ञ० (१।२१६), गौतम (१८।२४-२५), आपस्तम्ब (१।२।७।२०-२१) आदि के वचनों को देखना चाहिए। स्मृतियों के अनुसार राजाओं का यह कर्त्तव्य था कि वे श्रोत्रियों (वेदज्ञाता ब्राह्मणों) या दरिद्र ब्राह्मणों की जीविका का प्रबन्ध करें (गौतम १०।९-१०, मनु ७।१३४, याज्ञ० ३।४४, अत्रि ४४)। यह आदर्श पालित भी होता था। कार्ले अभिलेख नं० १३ एवं नासिक गुफा अभिलेख नं० १२ से पता चलता है कि उशवदात (ऋषभदत्त) ने एक लाख गौएँ एवं १६ ग्राम प्रभास (एक तीर्थ-स्थान) पर ब्राह्मणों को दिये, उनमें बहुतों के विवाह कराये और प्रति वर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया। बहुत-से दानपत्रों से प्रकट होता है कि राजाओं ने पंचमहायज्ञों, अग्नि-होत्र, वैश्वदेव, बलि एवं चरु के लिए दान आदि देकर अति प्राचीन परम्पराओं का पालन किया था। प्रतिग्रह अर्थात् दान लेने का आदर्श यह था कि ब्राह्मण भरसक इससे दूर रहे तो अत्युत्तम है। दान लेना कभी भी उत्तम नहीं समझा गया है (मनु १।२१३, ४।१८६, ४।१८८-१९१, याज्ञ० १।२००-२०२, वसिष्ठ ६।३२, अनुशासनपर्व)। जिस प्रकार अविद्वान् ब्राह्मण को दान लेना मना था उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति को दान देना भी वर्जित था (शतपथ ब्राह्मण ४।३।४।१५; आपस्तम्ब २।६।१५।९-१०; वसिष्ठ ३।८ एवं ६।३०; मनु ३।१२८, १३२ एवं ४।३१; याज्ञ० १।२०१; दक्ष ३।२६ एवं ३१)। स्मृतियों में स्पष्ट आया है कि जिसने वेद का अध्ययन न किया हो, जो कपटी हो, लालची हो उसे दान देना व्यर्थ है, बल्कि उसे दान देने से नरक मिलता है (मनु ४।१९२-१९४, अत्रि १५२, दक्ष ३।२९)। मनु (११।१-३) ने केवल ९ प्रकार के निर्धन स्नातकों को भोजन, शुल्क आदि देने में प्राथमिकता दी है। यदि कोई बिना माँगे दान दे तो उसे ग्रहण कर लेने की व्यवस्था स्मृतियों में पायी जाती है, यहाँ तक कि बुरे काम करने के अपराधियों से भी बिना माँगा दान ग्रहण करना चाहिए। किन्तु इस विषय में दुराचारिणी स्त्रियों, नपुंसक पुरुषों एवं पतित लोगों (महापातक करनेवालों) से दान लेना वर्जित माना गया है (याज्ञ० १।१२५; मनु ४।२४८-२४९; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।६।१९।११-१४; विष्णुधर्मसूत्र ५७।११)। बहुत-से मनुष्यों से दान लेना मना किया गया है (मनु ४।२०४-२२४, वसिष्ट १४।२-११)।

सन्निकट रहनेवाले विद्वान् पड़ोसी ब्राह्मण को ही दान देने की व्यवस्था की गयी है, किन्तु यदि पास में ब्राह्मण हों और वे अशिक्षित एवं मूर्ख हों तो दूर के योग्य ब्राह्मण को ही दान देना चाहिए (वसिष्ठ ३।९-१०; मनु ८।३९२; व्यास ४।३५-३८; बृहस्पति ६०, लघु शातातप ७६-७९; गोभिलस्मृति २।६६-६९)। देवल

के अनुसार पात्रता पर ध्यान देना परमावश्यक है। जो ब्राह्मण अपने माता-पिता, गुरु के प्रति सत्य हो, जो दरिद्र हो, जो सकरुण हो और हो इन्द्रिय-निग्रही, उसी को दान देना चाहिए (वसिष्ठ ६।२६; याज्ञ० १।२००)। दान लेने वाले और न लेने वाले ब्राह्मणों के विषय में स्मृतियों में पर्याप्त चर्चा है। शान्तिपर्व (१९९) में ब्राह्मणों को दो भागों में बाँटा गया है--(१) प्रवृत्त, जो धन के लिए सभी प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, और (२) निवृत्त, अर्थात् जो प्रतिग्रह (दान लेने) से दूर रहते हैं।

निस्सन्देह प्रतिग्रह ब्राह्मणों का ही विशेषाधिकार था, किन्तु दान किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी को भी दिया जा सकता था। इस विषय में याज्ञ० १।६ पठनीय है। गौतम (५।१८), मनु (७।८५), व्यास (४।४२), दक्ष (३।२२८) ने कहा है कि जन्म से ही ब्राह्मण को, श्रोत्रिय (या आचार्य) को, जिसने सभी वेदों पर अधिकार प्राप्त कर लिया हो उसको जो दान दिया जाता है, वह, अब्राह्मण को दान देने से जो सहस्र या अनन्त गुना पुण्य होता है उससे दुगुना फल देता है।[९] गौतम (५।१९-२०) एवं बौधायन (२।३।१५) ने ऐसी व्यवस्था दी है कि जब कोई ब्राह्मण श्रोत्रिय या वेदपारग गुरु को दक्षिणा देने के लिए, विवाह के लिए, औषधि के लिए, अध्ययन एवं यात्रा के लिए दान माँगे तो यज्ञ करने के उपरान्त दानी को अपने धन की सामर्थ्य के अनुसार दान अवश्य देना चाहिए। मनु (११।१-३) ने भी इस विषय में पर्याप्त चर्चा की है।

आरम्भ में दान एवं प्रतिग्रह-सम्बन्धी सुन्दर आदर्श उपस्थित किये गये थे, किन्तु कालान्तर में ब्राह्मणों की संख्या-वृद्धि, जन-संख्या-वृद्धि दानाभाव, पौरोहित्य कार्य के घट जाने आदि के कारण नियमों में शिथिलता पायी जाने लगी और शिक्षित अथवा अशिक्षित सभी प्रकार के ब्राह्मणों को दान दिया जाने लगा और वे दान लेने भी लगे। इसके लिए स्कन्दपुराण, वृद्ध-गौतमस्मृति आदि में व्यवस्था दी गयी है कि जिस प्रकार अग्नि सभी रूप में पवित्र और देवता है, इसी प्रकार ब्राह्मण है।[१०]

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शिक्षण-कार्य से बहुत थोड़े धन की उपलब्धि हो सकती थी। आज की भाँति प्राचीन काल में राजकीय पाठशालाएँ नहीं थीं, जहाँ पर वेतन-सम्बन्धी स्थिरता प्राप्त होती। उस समय कापीराइट का भी विधान नहीं था कि जिससे अध्यापक-गण पाठ्यक्रम की पुस्तकों के प्रकाशन से धन कमा सकते। ब्राह्मणों का कोई संघ भी नहीं था, जैसा कि एंग्लिकन चर्च में पाया जाता है, जहाँ आर्क बिशप, बिशप एवं अन्य पवित्र पुरुषों का क्रम पाया जाता है। प्राचीन भारत में इच्छा-पत्र (विल) की भी व्यवस्था नहीं थी कि जिससे बहुत-से धनिकों की सम्पत्ति प्राप्त होती। पौरोहित्य के कार्य में कुछ विशेष मिलने की गुंजाइश नहीं थी। श्राद्ध के समय अधिक ब्राह्मणों को निमन्त्रित करने का विधान नहीं था (मनु ३।१२५-१२६, गौतम १५।७-८, याज्ञ० १।२२८)। न तो सभी ब्राह्मण उतनी बुद्धि, स्मृति एवं धैर्य वाले थे कि बारह वर्षों तक वेदाध्ययन करते और विद्वत्ता प्राप्त करते। अध्यापन, पुरोहिती (यजमानी या जजमानी) तथा प्रतिग्रह नामक

९. समद्विगुणसाहस्रानन्त्यानि फलान्यब्राह्मणब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यः। गौ० ५।१८; सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे। प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे॥ मनु० ७।८५; व्यास ४।४२।

१०. दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा प्राकृता वा सुसंस्कृताः। ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः॥...... काणाः कुब्जा वामनाश्च दरिद्रा व्याधितास्तथा। नावमान्या द्विजा प्राज्ञैर्मम रूपा हि ते द्विजाः॥ वृद्ध गौतम; देखिए वनपर्व २००।८८-८९--दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा।...ग्नयः॥ यथा श्मशाने दीप्तौजा पावको नैव दुष्यति। एवं विद्वानविद्वान्वा ब्राह्मणो दैवतं महत्॥ और देखिए, अनुशासनपर्व १५२।१० एवं २३।

वृत्तियाँ सभी ब्राह्मणों की शक्ति के भीतर नहीं थीं, अतः अन्य ब्राह्मण इन तीन वृत्तियों (जीविकाओं) के अतिरिक्त अन्य साधन भी अपनाते थे। धर्मशास्त्रों ने इसके लिए व्यवस्था दी है। गौतम (६।६ एवं ७) ने लिखा है कि यदि ब्राह्मण लोग शिक्षण (अध्यापन), पौरोहित्य एवं प्रतिग्रह या दान से अपनी जीविका न चला सकें तो वे क्षत्रियों की वृत्ति (युद्ध एवं रक्षण कार्य) कर सकते हैं, यदि वह भी सम्भव न हो तो वे वैश्य-वृत्ति भी कर सकते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय लोग वैश्य-वृत्ति कर सकते हैं (गौतम ६।२६)। बौधायन (२।२।७७-७८ एवं ८०) एवं वसिष्ठ (२।२२), मनु (१०।८१-८२), याज्ञ० (३।३५), नारद (ऋणादान, ५६), विष्णु (५४।२८), शंखलिखित आदि ने भी यही बात कुछ उलट-फेर के साथ कही है।[११] किन्तु क्षत्रिय ब्राह्मण-वृत्ति, वैश्य ब्राह्मण-क्षत्रिय-वृत्ति एवं शूद्र ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-वृत्ति नहीं कर सकते थे (वसिष्ठ २।२३; मनु १०।९५)। आपत्काल हट जाने पर उपयुक्त प्रायश्चित्त करके अपनी विशिष्ट वृत्ति की ओर लौट आना चाहिए; ऐसी स्मृति-व्यवस्था है। इतना ही नहीं, अन्य जाति की वृत्ति करने से जो धन की प्राप्ति होती थी, उसे भी त्याग देना पड़ता था (मनु ११।१९२-१९३; विष्णु ५४।३७-३८; याज्ञ० ३।३५; नारद-ऋणादान, ५९।६०)। निम्न वर्ण के लोग उच्च वर्ण की वृत्ति नहीं कर सकते थे, अन्यथा करने पर राजा उनकी सम्पत्ति जप्त कर सकता था (मनु १०।९६)। रामायण में वर्णित शम्बूक की कथा इसी प्रकार की है (७३-७६)। भवभूति के उत्तररामचरित में भी यही मनोभाव झलकता है। यदि कोई शूद्र जप, तप, होम करे या संन्यासी हो जाय या वैदिक मन्त्र पढ़े तो उसे राजा द्वारा प्राणदण्ड दिया जाता था और उसे नैतिक पाप का भागी समझा जाता था।[१२] मनु (१०।९८) का कहना है कि यदि वैश्य अपनी वृत्ति से अपना पालन न कर सके, तो वह शूद्र-वृत्ति कर सकता है, अर्थात् द्विजातियों की सेवा कर सकता है। गौतम (७।२२-२४) के अनुसार आपत्काल में ब्राह्मण अपने कर्मों के अतिरिक्त शूद्र-वृत्ति कर सकता है, किन्तु वह शूद्रों के साथ भोजन नहीं कर सकता, न चौका-बरतन कर सकता और न वर्जित भोजन-सामग्री (लहसुन-प्याज आदि) का प्रयोग कर सकता है (यही बात देखिए मनु ४।४ एवं ६; नारद-ऋणादान, ५७)।

शूद्रों की स्थिति---प्राचीन आचार्यों के अनुसार शूद्रों का विशिष्ट कर्तव्य था द्विजातियों की सेवा करना एवं उनसे भरण-पोषण पाना।[१३] उन्हें क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणों की सेवा करने से अधिक सुख प्राप्त हो सकता था, इसी प्रकार वैश्यों की अपेक्षा क्षत्रियों की सेवा अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होती थी। गौतम (१०।६०-६१), मनु (१०।१२४-१२५) तथा अन्य आचार्यों के अनुसार शूद्र अपने स्वामी द्वारा छोड़े गये पुराने वस्त्र, छाता, चप्पल, चटाइयाँ आदि प्रयोग में लाता था और स्वामी द्वारा त्यक्त उच्छिष्ट भोजन करता था। बुढ़ापे में उसका पालन-पोषण उसका स्वामी ही करता था (गौतम १०।६३)। किन्तु कालान्तर में शूद्र-स्थिति में कुछ सुधार हुआ। यदि

११. आपत्काले मातापितृमतो बहुभृत्यस्यानन्तरका वृत्तिरिति कल्पः। तस्यानन्तरका वृत्तिः क्षात्रोऽभिनिवेशः। एवमप्यजीवन्वैश्यमुपजीवेत्। शंखलिखित।

१२. वध्यो राज्ञा स वै शूद्रो जपहोमपरश्च यः। ततो राष्ट्रस्य हन्तासौ यथा वह्नेश्च वै जलम्॥ जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम्। देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥ अत्रि १९।१३६-१३७; वनपर्व १५०।३६।

१३. शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्। पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन्वर्णे निःश्रेयसं भूयः। आपस्तम्ब १।१।१।७-८; परिचर्या चोत्तरेषाम्। तेभ्यो वृत्तिं लिप्सेत्। तत्र पूर्वं परिचरेत्। गौतम (१०।५७-५९); प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्। शान्तिपर्व ६०।२८; देखिए, वसिष्ठ २।२०; मनु १०।१२१-१२३; याज्ञ० १।१२०; बौधायन १।१०।५; वनपर्व १५०।३६।

वह उच्च वर्णों की सेवा से अपनी या अपने कुटुम्ब की जीविका नहीं चला पाता था तो बढ़ईगिरी, चित्रकारी, पच्चीकारी, रंगसाजी आदि से निर्वाह कर लेता था।[१४] यहाँ तक कि नारद (ऋणादान, ५८) के अनुसार आपत्काल में शूद्र लोग क्षत्रियों एवं वैश्यों का कार्य कर सकते थे। इस विषय में याज्ञवल्क्य भी उसी प्रकार उदार हैं (याज्ञ० १।१२०)। महाभारत भी इस विषय में मौन नहीं है, उसने भी व्यवस्था दी है। लघ्वाश्वलायन (२२।५), हारीत (७।१८९ एवं १९२) ने कृषि-कर्म की व्यवस्था दी है।[१५] कालिकापुराण ने शूद्रों को मधु, चर्म, लाक्षा (लाह), आसव एवं मांस को छोड़कर सब कुछ क्रय-विक्रय करने की आज्ञा दी है। बृहत्पराशर ने आसव एवं मांस बेचना मना किया है। देवल ने लिखा है कि शूद्र द्विजातियों की सेवा करे तथा कृषि, पशुपालन, भार-वहन, क्रय-विक्रय (पण्य-व्यवहार या रोजगारी या सामान का क्रय-विक्रय), चित्रकारी, नृत्य, संगीत, वेणु, वीणा, ढोलक, मृदंग आदि वाद्ययन्त्र वादन का कार्य करे।[१६] गौतम (१०।६४-६५), मनु (१०।१२९) तथा अन्य आचार्यों ने शूद्रों को धनसंचय से मना किया है, क्योंकि उससे ब्राह्मण आदि को कष्ट हो सकता था।

शूद्र कतिपय भागों एवं उपविभागों में विभाजित थे, किन्तु उनके दो प्रमुख विभाग थे; अनिरवसित शूद्र (यथा बढ़ई, लोहार आदि) तथा निरवसित शूद्र (यथा चाण्डाल आदि)। इस विषय में देखिए महाभाष्य (पाणिनि २।४।१०, जिल्द १)। एक अन्य विभाजन के अनुसार शूद्रों के अन्य दो प्रकार हैं--भोज्यान्न (जिनके द्वारा बनाया हुआ भोजन ब्राह्मण कर सके) एवं अभोज्यान्न। प्रथम प्रकार में अपने दास, अपने पशुपालक (गोरखिया या चरवाहा), नाई, कुटुम्ब-मित्र तथा खेती-बारी के साझेदार (याज्ञ० १।१६६) हैं। मिताक्षरा ने कुम्हार को भी इस सूची में रख दिया है। अन्य प्रकार के शूद्रों से ब्राह्मण भोजन नहीं ग्रहण कर सकता था। एक तीसरा शूद्र-विभाजन है; सच्छूद्र (अच्छे आचरण वाले शूद्र) एवं असच्छूद्र। प्रथम प्रकार में वे शूद्र आते थे जो सद् व्यवसाय करते थे, द्विजातियों की सेवा करते थे और मांस एवं आसव का परित्याग कर चुके थे।[१७]

सेनानियों के रूप में ब्राह्मण--बहुत प्राचीन काल से कुछ ब्राह्मणों को युद्ध में रत देखा गया है। पाणिनि (५।२।७१) ने 'ब्राह्मणक' शब्द की व्याख्या में लिखा है कि यह उस देश के लिए प्रयुक्त होता है, जहाँ ब्राह्मण आयुध अर्थात् अस्त्र-शस्त्र की वृत्ति करते हैं। कौटिल्य (९।२) ने ब्राह्मणों की सेना का वर्णन किया है, किन्तु यह भी कहा है कि शत्रु ब्राह्मणों के पैरों पर गिरकर उन्हें अपनी ओर मिला सकता है। आपस्तम्ब (१।१०।२९-७), गौतम (७।६), बौधायन (२।२।८०), वसिष्ठ (३।२४) एवं मनु (८।३४८-३५९) के वचन स्मरणीय हैं।[१८]

१४. शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभुः। वायुपुराण ८।१७१; शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि वाप्यथ। शंखस्मृति १।५; मनु १०।९९-१००।

१५. वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्। शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते॥ शान्तिपर्व २९५।४; शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि वाप्यथ। विक्रयः सर्वपण्यानां शूद्रकर्म उदाहृतम्॥ उशना तथा देखिए लघ्वाश्वलायन २२।५।

१६. शूद्रधर्मो द्विजातिशुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोषणं कर्षणपशुपालनभारोद्वहन-पण्यव्यवहार-चित्रकर्म-नृत्य-गीत-वेणु-वीणामुरजमृदंगवादनादीनि। देवल (मिताक्षरा, याज्ञ० १।१२०)।

१७. न सुरां सन्धयेद्यस्तु आपणेषु गृहेषु च। न विक्रीणाति च तथा सच्छूद्रो हि स उच्यते॥ भविष्यपुराण (ब्राह्मविभाग, अध्याय ४४।३२)।

१८. परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नाददीत। आपस्तम्ब (१।१०।२९।७); प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्र-

आपस्तम्ब ने कहा है कि परीक्षा के लिए भी ब्राह्मण को आयुध नहीं ग्रहण करना चाहिए। आपत्काल में क्षत्रियवृत्ति करना अनुचित नहीं है (गौतम)। बौधायन ने कहा है कि गौओं एवं ब्राह्मणों की रक्षा करने एवं वर्णसंकरता-रोकने के लिए ब्राह्मण एवं वैश्य भी आयुध ग्रहण कर सकते हैं। वर्णाश्रमधर्म पर जब आततायियों का आक्रमण हो, युद्धकाल में गड़बड़ी हो तब तथा आपत्काल में गायों, नारियों, ब्राह्मणों की रक्षा के लिए ब्राह्मणों को अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करना चाहिए (मनु ८।३४८-३४९)। महाभारत में द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा (द्रोण के पुत्र), कृपाचार्य (अश्वत्थामा के मामा) नामक योद्धा ब्राह्मण थे। शल्यपर्व (६५।४२) के अनुसार राजा की आज्ञा से ब्राह्मण को युद्ध करना चाहिए।[१९] जब समाज के विधान टूट जायँ, दस्यु, चोर, डाकू आदि बढ़ जायँ तो सभी वर्णों को आयुध ग्रहण करना चाहिए (शान्तिपर्व ७८।१८)।

अति प्राचीन काल से ही ब्राह्मण सेनापतियों एवं राजकुलस्थापकों के रूप में पाये गये हैं। सेनापति पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण ही था, जिसने अन्तिम मौर्यराज बृहद्रथ से राज्य छीन लिया था (ईसा पूर्व १८४ ई०)। शुंगों के उपरान्त काण्वायनों ने राज्य किया, जिनका संस्थापक था वासुदेव नामक ब्राह्मण जो अन्तिम शुंगराज का मन्त्री था (ईसा पूर्व ७२ ई०)। कदम्बों का संस्थापक मयूरशर्मा ब्राह्मण ही था (काकुस्थवर्मा का तालगुण्ड नामक स्तम्भाभिलेख)। मराठों के पेशवा ब्राह्मण ही थे। मराठा-इतिहास में बहुत-से ब्राह्मण सेनापति एवं सेनानी हुए हैं।

यद्यपि ब्राह्मण आपत्काल में वैश्य-वृत्ति कर सकता था, किन्तु कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, ब्याज पर धन देने आदि के सम्बन्ध में कई एक नियंत्रण थे। गौतम (१०।५-६) ने ब्राह्मण को अपने तथा अपने कुटुम्ब के रक्षण के लिए कृषि, क्रय-विक्रय, ऋण-लेन-देन करने की छूट दी है, किन्तु एक नियन्त्रण पर कि वह ऐसा स्वयं न करके दूसरों द्वारा सम्पादित कराये। वसिष्ठधर्मसूत्र (२।४०) में आया है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अधिक ब्याज पर धन का लेन-देन न करें, क्योंकि ब्याज पर धन देना ब्रह्म हत्या के सदृश है। मनु (१०।११७) ने भी ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को कुसीद (ब्याज पर धन देने के व्यवसाय) से दूर रहने को कहा है, किन्तु जो लोग निकृष्ट कार्य करते हैं, उनसे थोड़ा ब्याज लेने के लिए उन्हें छूट दे दी है। नारद (ऋणादान, १११) ने ब्राह्मणों के लिए कुसीद सर्वथा त्याज्य माना है, यहाँ तक कि बड़ी-से-बड़ी विपत्ति के समय में भी। आपस्तम्ब (१।९।२७।१०) ने कुसीद में प्रवृत्त ब्राह्मण के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है।[२०]

ब्राह्मणों के ऊपर जो उपर्युक्त नियन्त्रण लगे थे, उनका तात्पर्य था उन्हें सरल जीवन की ओर ले जाना, जिससे वे अपने प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति का सुचारु रूप से अध्ययन, रक्षण एवं परिवर्धन कर सकें। इतना ही नहीं, उन्हें स्वार्थ-बुद्धि, अकरुण व्यवहार एवं अनुपल धन-संचय की प्रवृत्तियों से दूर भी तो रहना था।

माददीत। गौतम (७।२५); अथाप्युदाहरन्ति। गवार्थे ब्राह्मणार्थं वा वर्णानां वापि संकरे। गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया॥ बौ० (२।२।८०); आत्मत्राणे वर्णसंवर्गे ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम्। वसिष्ठ (३।२४)।

१९. राज्ञो नियोगाद् योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषतः। वर्तता क्षत्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदुः॥ शल्यपर्व ६५।४।

२०. कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयंकृते। कुसीदं च। गौ० १०।५।६; ब्राह्मणराजन्यौ वार्धुषी न दद्याताम् अथाप्युदाहरन्ति। समर्घं धान्यमुद्धृत्य महर्घं यः प्रयच्छति। स वै वार्धुषिको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः। ब्रह्महत्यां च वृद्धिं च तुलया समतोलयत्। अतिष्ठद् भ्रूणहा कोट्यां वार्धुषिः समकम्पत॥ वसिष्ठ २।४०। देखिए बौधायन-१।५।९३-९४। आपत्स्वपि हि कष्टासु ब्राह्मणस्य न वार्धुषम्। नारद (ऋणादान, ५।१११)। अनार्यां शयने बिभ्रद् ददद् वृद्धिं कषायपः। अब्राह्मण इव वन्दित्वा तृणेष्वासीत पृष्ठतः॥ आपस्तम्ब (१।९।२७।१०)।

ब्राह्मण और कृषि——क्या ब्राह्मण कृषि कर सकते थे? धर्मशास्त्र-साहित्य में इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। वैदिक साहित्य में पूरी छूट है। वहाँ एक स्थान[२१] पर आया है——जुआ मत खेलो, कृषि में लगो, मेरे वचनों पर ध्यान देकर धन का आनन्द लो, कृषि में गायें हैं, तुम्हारी स्त्री है...आदि (जुआरी का गीत)। भूमि, हल-साझा, भूमि-कर्षण के विषय में पर्याप्त संकेत हैं (ऋ० १०।१०१।३, तैत्तिरीय संहिता २।५।५, वाजसनेयी संहिता १२।६७, ऋ० १।११०।५, १।१७६।२, १०।११७।७)। बौधायनधर्मसूत्र का कहना है कि वेदाध्ययन से कृषि का नाश तथा कृषि-प्रेम से वेदाध्ययन का नाश होता है। जो दोनों के लिए समर्थ हों, दोनों करें, जो दोनों न कर सकें, उन्हें कृषि त्याग देनी चाहिए। बौधायन ने पुनः कहा है——ब्राह्मण को प्रातःकाल के भोजन के पूर्व कृषि-कार्य करना चाहिए, उसे ऐसे बैलों को, जिनकी नाक न छिदी हो, जिनके अण्डकोष न निकाल लिये गये हों, जोतना या बार-बार उसकाना चाहिए और तीखी चर्मभेदिका से उन्हें खोदना न चाहिए।[२२] यही बात वसिष्ठ धर्म सूत्र में भी कुछ अन्तर (भेद) से पायी जाती है (२।३२-३४)। वाजसनेयी संहिता भी यही कहती है (१२।७१)। मनु (१०।८३-८४) ने लिखा है कि यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय को अपनी जीविका के प्रश्न को लेकर वैश्य-वृत्ति करनी ही पड़े, तो उन्हें कृषि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे जीवों को पीड़ा होती है और यह दूसरों (मजदूर, बैल आदि) पर आधारित है। मनु ने कृषि को 'प्रमृत' (जीव-हानि में अधिक प्रसिद्ध) कहा है (मनु ४।५)। पराशर ने ब्राह्मणों के लिए कृषि-कर्म वर्जित नहीं माना है, किन्तु उन्होंने बहुत-से नियन्त्रण लगा दिये हैं (२।२-४, ७, १४)।[२३] इस विषय में अपरार्क वृद्ध-हारीत आदि के वचन भी स्मरणीय हैं। वृद्ध-हारीत (७।१७९ एवं १८२) ने कृषिकर्म सबके (सब वर्णों के) लिए उचित माना है।[२४] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि के विषय में आचार्यों के मत विभिन्न युगों में विभिन्न रहे हैं।

विक्रय एवं विनिमय——हमने ऊपर देख लिया है कि आपत्काल में ब्राह्मण वाणिज्य कर सकता है। किन्तु वस्तु-विक्रय के सम्बन्ध में बहुत-सारे नियन्त्रण थे। गौतम (७।८-१४) ने सुगन्धित वस्तुएँ (चन्दन आदि), द्रव पदार्थ (तेल, घी आदि), पका भोजन, तिल, पटसन (सन या पटसन से निर्मित वस्तुएँ, यथा बोरा आदि), क्षौम (सन के बने हुए वस्त्र), मृगचर्म, रँगा एवं स्वच्छ किया हुआ वस्त्र, दूध एवं इससे निर्मित वस्तुएँ (घी, मक्खन, दही आदि) कन्दमूल, पुष्प, फल, जड़ी-बूटी (ओषधि के रूप में), मधु, मांस, घास, जल, विषैली ओषधियाँ (अफीम, विष),

२१. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥ ऋग्वेद १०।३४।१३।

२२. वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी। शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत्॥ बौ० १।५।१०१; प्राक् प्रातराशात्कर्षी स्यात्। अस्यूतनासिकाभ्यां समुष्काभ्यामतुदन्नारया मुहुर्मुहुरभ्युच्छन्दयन्। बौ० २।२।८२-८३।

२३. षट्कर्मनिरतो विप्रः कृषिकर्माणि कारयेत्। हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं मध्यमं स्मृतम्। चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनाम्॥ पराशर २।२; ब्राह्मणस्तु कृषिं कृत्वा महादोषमवाप्नुयात्। राज्ञे दत्त्वा तु षड्भागं देवानां चैकविंशकम्। विप्राणां त्रिंशकं भागं कृषिकर्ता न लिप्यते॥ पराशर २।१२-१३। अपरार्क ने इस अन्तिम श्लोक को बृहस्पति का कहा है। "अष्टागवं धर्म्यहलम्" अत्रि (२२२-२२३), आपस्तम्ब (१।२२-२३), हारीत में भी पाया जाता है।

२४. कृषिस्तु सर्ववर्णानां सामान्यो धर्म उच्यते।...कृषिर्भृतिः पाशुपाल्यं सर्वेषां न निषिध्यन्ते। वृद्ध-हारीत। ७।१७९, १८२।

पशु (मारे जानेवाले), मनुष्य (दास), बाँझ (वन्ध्या या वहिला) गायें, बछवा-बछिया (वत्स-वत्सा), लड़ जाने-वाली गायें आदि वस्तुएँ बेचने को मना किया है। उन्होंने (७।१५) यह भी लिखा है कि कुछ आचार्यों ने ब्राह्मण के लिए भूमि, चावल, जौ, बकरियाँ एवं भेड़, घोड़े, बैल, हाल में ब्यायी हुई गायें एवं गाडी में जोते जानेवाले बैल आदि बेचना मना किया है। वाणिज्य में रत क्षत्रिय के लिए इन वस्तुओं के विक्रय के लिए कोई नियन्त्रण नहीं था। आपस्तम्ब (१।७।२०।१२-१३) ने भी ऐसी ही सूची दी है, किन्तु उन्होंने कुछ वस्तुओं पर रोक भी लगा दी है, यथा चिपकनेवाली वस्तुएँ (श्लेष्म, जैसे लाह), कोमल नाल (तने), खमीर उठी (फेनिल) हुई वस्तुएँ (किण्व, शराब या सुरा आदि), अच्छे कर्म करने के कारण उपाधि, प्रशंसा-पत्र आदि के मिलने की आशा। उन्होंने अन्नों में तिल एवं चावल बेचने पर बहुत कड़ा नियन्त्रण रखा है।[25] बौधायन (२।१।७७-७८) ने भी तिल एवं चावल बेचने के लिए वर्जना की है और कहा है कि जो ऐसा करता है वह अपने पितरों एवं अपने प्राणों को बेचता है। सम्भवतः यह बात इसलिए उठायी गयी कि श्राद्ध एवं तर्पण में तिल का प्रयोग होता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (२।२४-२९) में भी ऐसी ही सूची है, किन्तु अन्य वस्तुएँ भी जोड़ दी गयी हैं, यथा प्रस्तर, नमक रेशम, लोहा, टीन, सीसा, सभी प्रकार के वन्य पशु, एक खुर वाले तथा अयाल वाले पशुओं सहित सभी पालतू पशु, पक्षी एवं दाँत वाले पशु। मनु (१०।९२) के अनुसार ब्राह्मण मांस, लाह, नमक बेचने से तत्क्षण पापी हो जाता है और तीन दिनों तक दूध बेचने से शूद्र हो जाता है। तिल के विषय में बौधायन (२।१।७६), मनु (१०।९१), वसिष्ठ (२।३०) ने एक ही बात लिखी है--यदि कोई तिल को खाने, नहाने में (उसके तेल को) प्रयोग करने या दान देने के अतिरिक्त किसी अन्य काम में लाता है तो वह कृमि (कीड़ा) हो जाता है और अपने पितरों के साथ कुत्ते की विष्ठा में डूब जाता है।[26] किन्तु वसिष्ठ (२।३१), मनु (१०।९०) ने कृषि-कर्म से उत्पन्न तिल को बेचने के लिए कहा है, हाँ, मनु ने केवल धार्मिक कार्यों के लिए ही विक्रय की व्यवस्था दी है। याज्ञ० (३।३९), नारद (ऋणादान, ६६) ने भी कुछ ऐसा ही कहा है। याज्ञ० (३।३६-३८) एवं नारद (ऋणादान, ६१-६३) ने भी वर्जित वस्तुओं की सूचियाँ उपस्थित की हैं। मनु ने उपर्युक्त सूची में मोम, कुश, नील को जोड़ा है, याज्ञवल्क्य ने सोम, पंक, बकरी के ऊन से बने हुए कम्बल, चमरी हिरन के बाल, खली (पिण्याक) को जोड़ दिया है। इसी प्रकार शंख-लिखित, उद्योगपर्व (३८।५), शान्तिपर्व (७८।४-६), हारीत ने वर्जित वस्तुओं की लम्बी-लम्बी सूचियाँ दी हैं।[27] इसी प्रकार याज्ञ० (३।४०), मनु (११।६२), विष्णु (३७।१४), याज्ञ० (३।२३४, २६५), हारीत, लघु शातातप आदि ने वर्जित वस्तुओं के बेचने पर प्रायश्चित्त के लिए भी व्यवस्था दी है।

२५. आपदि व्यवहरेत पण्यानामपण्यानि व्युदस्यन्। मनुष्यान् रसान्रागान् गन्धानन्नं चर्म गवां वशां श्लेष्मोदके तोक्मकिण्वे पिप्पलीमरीचे धान्यं मांसमायुधं सुकृताशां च। तिलतण्डुलांस्त्वेव धान्यस्य विशेषेण न विक्रीणीयात्। आप० १।७।२०।११-१२।

२६. भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद् यदन्यत्कुरुते तिलैः। कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति॥ मनु १०।९१; स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत यम का श्लोक (१।१८०)।

२७. न विक्रीणीयादविक्रेयाणि। तिलतैलदधिक्षौद्रलवणलाक्षामद्यमांसकृतान्नस्त्रीपुरुषहस्त्यश्ववृषभगन्धरसं कृष्णाजिनसोमोदकनीलीविक्रयात्सद्यः पतति ब्राह्मणः। शंखलिखित (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० १११३, एवं स्मृतिचन्द्रिका १।१८०)। अविक्रेयं लवणं पक्वमन्नं दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च। तिला मांसफलमूलानि शाकं रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च॥ उद्योगपर्व ३८।५।

विनिमय के विषय में उपर्युक्त नियमों के समान नियम बनाये गये हैं। वर्जित वस्तुओं का विनिमय भी यथासम्भव वर्जित माना गया है,[२८] किन्तु कुछ विशिष्ट छूटें भी हैं, यथा भोजन का भोजन से, दासों का दासों से, सुगन्धित वस्तुओं का सुगन्धित वस्तुओं से, एक प्रकार का ज्ञान दूसरे प्रकार के ज्ञान से (आप० १।७।२०।१४-१५)। इसी प्रकार कुछ उलट-फेर एवं नयी वस्तुओं को सम्मिलित करके अन्य आचार्यों ने भी नियम दिये हैं, यथा गौतम (७।१६-२१), मनु (१०।९४), वसिष्ठ (२।३७-३९)।

आपत्काल में जीविका-साधन के लिए मनु (१०।११६) ने दस उपक्रम बतलाये हैं—विद्या, कलाएँ एवं शिल्प, पारिश्रमिक पर कार्य, नौकरी, पशु-पालन, वस्तु-विक्रय, कृषि, सन्तोष, भिक्षा एवं कुसीद (ब्याज पर धन देना)।[२९] इनमें सात का वर्णन याज्ञवल्क्य ने भी किया है, किन्तु उन्होंने कुछ अन्य कार्य भी सम्मिलित कर दिये हैं, यथा गाड़ी हाँकना, पर्वत (पहाड़ों की घासों एवं लकड़ियों को बेचना), जल से भरा देश, वृक्ष, झाड़-झंखाड़, राजा (राजा से भिक्षा माँगना)।[३०] चण्डेश्वर के गृहस्थरत्नाकर में उद्धृत छागलेय के अनुसार अनावृष्टि-काल में नौ प्रकार के जीविका-साधन हैं;[३१] गाड़ी, तरकारियों का खेत, गौएँ, मछली पकड़ना, आस्यन्दन (थोड़े ही श्रम से अपनी जीविका चलाना), वन, जल से भरा देश, वृक्ष एवं झाड़-झंखाड़, पर्वत तथा राजा। नारद (ऋणादान, ५०।५५) के मतानुसार तीन प्रकार के जीविका-साधन सभी के लिए समान थे—(१) पैतृक धन, (२) मित्रता या स्नेह का दान तथा (३) (विवाह के समय) जो स्त्री के साथ मिले। नारद के अनुसार तीनों वर्णों में प्रत्येक के लिए तीन विशिष्ट जीविका-साधन थे। ब्राह्मणों के लिए—(१) दान-ग्रहण, (२) पौरोहित्य की दक्षिणा एवं (३) शिक्षण-शुल्क; क्षत्रियों के लिए (१) युद्ध की लूट, (२) कर एवं (३) न्याय-कार्य से उत्पन्न दण्ड-धन; तथा वैश्यों के लिए (१) कृषि, (२) पशु-पालन एवं (३) व्यापार। नारद (ऋणादान, ४४-४७) ने धन को शुक्ल (श्वेत, विशुद्ध), शबल (कृष्ण-श्वेत, मिश्रित) एवं कृष्ण में और इनमें प्रत्येक को सात-सात भागों में बाँटा है। विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय, ५८) ने भी इसी तरह तीन प्रकार बताये हैं। इसके अनुसार (१) पैतृक धन, स्नेह-दान एवं पत्नी के साथ आया हुआ धन श्वेत (विशुद्ध) है, (२) अपने वर्ण से निम्न वर्ण के व्यवसाय से उत्पन्न धन, घूस से या वर्जित वस्तुओं के विक्रय से उत्पन्न धन या उपकार करने से उत्पन्न धन शबल है, तथा (३) निम्नतर वर्णों के व्यवसाय से उत्पन्न धन, जुआ, चोरी, हिंसा या छल से उत्पन्न धन कृष्ण धन है। बौधायन (३।१।५-६) ने १० प्रकार की वृत्तियाँ बतायी हैं और उन्हें ३।२ में समझाया है। मनु (४।४-६) ने ५ प्रकार वर्णित किये हैं—(१) ऋत (अर्थात् खेत में गिरे हुए अन्न पर जीवित रहना), (२) अमृत (जो बिना माँगे मिले), (३) मृत (भिक्षा से प्राप्त), (४) प्रमृत (कृषि) एवं (५) सत्यानृत (वस्तु-विक्रय)। मनु ने श्ववृत्ति (नौकरी, जो कुत्ते (श्वा) के जीवन के समान है) का विरोध किया है। मनु (४।९) ने यह भी लिखा है कि कुछ ब्राह्मणों के जीविका-साधन छः हैं (यथा अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह, कृषि, पशु-पालन एवं व्यापार), कुछ के केवल तीन हैं (यथा प्रथम तीन), कुछ के केवल दो (यथा याजन एवं अध्यापन) और कुछ का केवल एक अर्थात् अध्यापन।

२८. अविहितश्चैतेषां मिथो विनिमयः। अन्नेन चान्नस्य मनुष्याणां च मनुष्यै रसानां च रसैर्गन्धानां च गन्धैर्विद्यया च विद्यानाम्। आप० १।७।२०।१४-१५।

२९. विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः। धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः।। मनु १०।११६।

३०. कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः। सेवानूपं नृपो भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु।। याज्ञ० ३।४२।

३१. शकटं शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम्। अनूपं पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः।। गृह० र०, पृ० ४४९ में छागलेय।

ब्राह्मणों के प्रकार—ब्राह्मणों को वृत्तियों के अनुसार कई प्रकारों में बाँटा गया है। अत्रि (३७३-३८३) ने ब्राह्मणों के दस प्रकार बताये हैं—(१) **देव-ब्राह्मण** (जो प्रति दिन स्नान, सन्ध्या, जप, होम, देव-पूजन, अतिथि-सत्कार एवं वैश्वदेव करता है), (२) **मुनि-ब्राह्मण** (जो वन में रहता है, कन्द, मूल एवं फल पर जीता है और प्रति दिन श्राद्ध करता है), (३) **द्विज-ब्राह्मण** (जो वेदान्त पढ़ता है, सभी प्रकार के अनुरागों एवं आसक्तियों को त्याग चुका है और सांख्य एवं योग के विषय में निमग्न है), (४) **क्षत्र-ब्राह्मण** (जो युद्ध करता है), (५) **वैश्य-ब्राह्मण** (जो कृषि, पशु-पालन एवं व्यापार करे), (६) **शूद्र-ब्राह्मण** (जो लाख, नमक, कुसुम्भ के समान रंग, दूध, घी, मधु, मांस बेचता हो), (७) **निषाद-ब्राह्मण** (जो चोर एवं डाकू हो, चुगली करने वाला, मछली एवं मांस खाने वाला हो), (८) **पशु-ब्राह्मण** (जो ब्रह्म के विषय में कुछ भी न जाने और केवल यज्ञोपवीत अथवा जनेऊ धारण करने का अहंकार करे), (९) **म्लेच्छ-ब्राह्मण** (जो बिना किसी अनुशय के कुओं, तालाबों एवं वाटिकाओं पर अवरोध खड़ा करे या उन्हें नष्ट करे) तथा (१०) **चाण्डाल-ब्राह्मण** (जो मूर्ख है, निर्दिष्ट क्रिया-संस्कारों से शून्य एवं सभी प्रकार के धर्म चारों से अछूता एवं क्रूर है। अत्रि ने परिहासपूर्ण ढंग से यह भी कहा है कि वेदविहीन लोग शास्त्र (व्याकरण, न्याय आदि) पढ़ते हैं, शास्त्रहीन लोग पुराणों का अध्ययन करते हैं, पुराणहीन लोग कृषक होते हैं, जो इनसे भी गये बीते हैं, भागवत (शिव, विष्णु के पुजारी या भक्त) होते हैं।[३२] अपरार्क ने देवल को उद्धृत करते हुए ब्राह्मणों को आठ प्रकारों में बाँटा है—(१) **जाति-ब्राह्मण** (जो केवल ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ हो, जिसने वेद का कोई भी अंश न पढ़ा हो, और न ब्राह्मणोचित कोई कर्तव्य करता हो), (२) **ब्राह्मण** (जिसने वेद का कोई अंश पढ़ लिया हो), (३) **श्रोत्रिय** (जिसने छः अंगों के साथ किसी एक वैदिक शाखा का अध्ययन किया हो और ब्राह्मणों के छः कर्तव्य करता हो), (४) **अनूचान** (जिसे वेद एवं वेदांगों का अर्थ ज्ञात हो, जो पवित्र हृदय का हो और अग्निहोत्र करता हो), (५) **भ्रूण** (जो अनूचान होने के अतिरिक्त यज्ञ करता हो, और यज्ञ के उपरान्त जो बचे उसे अर्थात् प्रसाद खाता हो), (६) **ऋषिकल्प** (जिसे सभी लौकिक ज्ञान एवं वैदिक ज्ञान प्राप्त हो गये हों, और जिसका मन संयम के भीतर हो), (७) **ऋषि** (जो अविवाहित हो, पवित्र जीवन वाला हो, सत्यवादी हो और वरदान या शाप देने योग्य हो), (८) **मुनि** (जिसके लिए मिट्टी या सोना बराबर मूल्य रखते हों, जो निवृत्त हो, आसक्ति या अनुराग से विहीन हो आदि)।[३३] शातातप ने अब्राह्मणों (निन्दित ब्राह्मणों) के छः प्रकार बताये हैं।[३४] अनुशासन-पर्व (३३।११) ने भी कई प्रकार बताये हैं।

३२. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः। पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥ अत्रि० ३८४।

३३. देवल के श्लोक दानरत्नाकर में भी उद्धृत मिलते हैं। वैखानसगृह्य (१।१) ने इन आठ प्रकारों का संक्षिप्त विवेचन किया है—"संस्कृतायां ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातमात्रः पुत्रभात्रः (पुत्रः मात्रः ?)। उपनीतः सावित्र्य-ध्ययनाद् ब्राह्मणः। वेदमधीत्य शारीरैरा पाणिग्रहणात्संस्कृतः पाकयज्ञैरपि यजन् श्रोत्रियः। स्वाध्यायपर आहिता-ग्निर्हविर्यज्ञैरप्यनूचानः। सोमयज्ञैरपि भ्रूणः। संस्कारैरेतैरुपेतो नियमयमाभ्यामृषिकल्पः। सांगचतुर्वेदतपोयोगादृषिः। नारायणपरायणो निर्द्वन्द्वो मुनिरिति। संस्कारविशेषात्पूर्वात्पूर्वात्परो वरीयानिति विज्ञायते।"

३४. अब्राह्मणाश्च षट् प्रोक्ता ऋषिः शातातपोऽब्रवीत्। आद्यो राजाश्रयस्तेषां द्वितीयः क्रयविक्रयी॥ तृतीयो बहुयाज्यः स्याच् चतुर्थो ग्रामयाजकः। पञ्चमस्तु भृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य च। अनागतां तु यः पूर्वां सादित्यां चैव पश्चिमाम्। नोपासीत द्विजः संध्यां स षष्ठोऽब्राह्मणः स्मृतः॥ ऐतरेय ब्राह्मण (३।५) के भाष्य में सायण ने कुछ उलट-फेर के साथ इसे उद्धृत किया है, यथा "चतुर्थोऽश्रौतयाजकः। पंचमो ग्रामयाजी च षष्ठो ब्रह्मबन्धुः स्मृतः॥"

ब्राह्मण तथा निम्नकोटि के व्यवसाय—स्मृतियों के अनुसार कुछ कर्मों के करने और न करने से ब्राह्मण शूद्र के सदृश गिने जाते हैं (बौधायनधर्मसूत्र २।४।२०; वसिष्ठधर्मसूत्र ३।१-२; मनु २।१६८, ८।१०२, १०।९२; पराशर ८।२४ आदि)। जो ब्राह्मण प्रातः एवं सन्ध्या काल की सन्ध्याएँ नहीं करता उसे राजा द्वारा शूद्रोचित कार्य दिया जाना चाहिए।[35] जो ब्राह्मण श्रोत्रिय (वेदज्ञानी) नहीं हैं, जो वेदाध्ययन नहीं करते और जो अग्निहोत्र नहीं करते, वे शूद्र हैं (वसिष्ठ ३।१-२)।[36]

ब्राह्मण तथा भिक्षा—यहाँ अति ही संक्षेप में ब्राह्मण एवं भिक्षा के विषय में भी कुछ लिख देना अपेक्षित है। यथास्थान इस विषय में विस्तारपूर्वक लिखा जायगा। स्मृतियों ने केवल ब्रह्मचारियों एवं यतियों के लिए भिक्षा की व्यवस्था की है। बहुत ही सीमित दशाओं में अन्य लोगों को भी भिक्षा माँगने का अधिकार था। महाभारत में केकय के राजा ने बड़े दर्प के साथ उद्घोष किया है कि उनके राज्य में ब्रह्मचारियों को छोड़कर कोई अन्य भिक्षा नहीं माँगता (शान्तिपर्व ७७।२२)। पञ्च महायज्ञों को करते समय प्रति दिन भोजन-दान करने की व्यवस्था थी (इस विषय में हम पुनः 'वैश्वदेव' के प्रकरण में लिखेंगे)। आपस्तम्ब के अनुसार भिक्षा केवल निम्नलिखित कार्यों के लिए ही माँगी जा सकती है—(१) आचार्य के लिए, (२) अपने (प्रथम) विवाह के लिए, (३) यज्ञ के लिए, (४) अपने माता-पिता के रक्षण के लिए, (५) योग्य पुरुष के कर्तव्यों के विलोप को दूर करने के लिए। ऐसे अवसरों पर लोगों को यथाशक्ति देना चाहिए, और जो केवल अपने सुख के लिए भिक्षा माँगे, उसे नहीं देना चाहिए।[37] भूख से तड़पता हुआ व्यक्ति कुछ माँग सकता है, यथा जोती हुई या अनजोती हुई भूमि, गाय, भेड़ या भेड़ी, और अन्त में सोना, अन्न या पका हुआ भोजन, किन्तु स्नातक को भूख से बेहाल नहीं होना चाहिए, ऐसा विधान है (वसिष्ठ १२।२-३; मनु १०।११४; विष्णु ३।७९-८०)। अध्ययन-समाप्ति के पश्चात् भिक्षाटन करना अशुचिकर माना गया है (बौधायन १।६४)। तीन दिनों तक बुभुक्षित रहने पर मनुष्य अपने से नीची जाति वाले के खलिहान, खेत, घर या कहीं से एक दिन के लिए अन्न बिना कहे (या चुराकर) ले सकता है, किन्तु पूछने पर उसे

३५. सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते। कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत्॥ बौ० २।४।२०।

३६. अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयो शूद्रसधर्माणो भवन्ति। मानवं चात्र श्लोकमुदाहरन्ति। योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ वसिष्ठ ३।१-२; यह श्लोक लघ्वाश्वलायन २२।२३ में भी है; देखिए, वसिष्ठ ५।१० भी तथा लघ्वाश्व० २२।२१-२२; गायत्रीरहितो विप्रः शूद्रादप्यशुचिर्भवेत्। पराशर ८।२४; उसके आगे है—दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः। अग्निकार्यात्परिभ्रष्टाः सन्ध्योपासनवर्जिताः। वेदं चैवानधीयानाः सर्वे ते वृषलाः स्मृताः॥ अध्येतव्योऽप्येकदेशो यदि सर्वं न शक्यते। पराशर १२।३२-३३। अनभ्यासाच्च वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ मनु ५।४।

३७. भिक्षणे निमित्तमाचार्यो विवाहो यज्ञो मातापित्रोर्बुभूर्षाऽर्हतश्च नियमविलोपः। तत्र गुणान् समीक्ष्य यथाशक्ति देयम्। इन्द्रियप्रीत्यर्थस्य तु भिक्षणमनिमित्तम्। तस्मान्न तदाद्रियेत। आपस्तम्ब २।५।१०।१-४; मिलाइए, मनु ४।२५१, ११।१-२; याज्ञ० १।२१६; गौतम ५।१९-२०; शान्तिपर्व १६५।१-२। कृतार्थो यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः। आचार्यपितृकार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथापि च॥ एते वै साधवो दृष्टा ब्राह्मणा धर्मभिक्षवः॥ अंगिरा ने लिखा है—व्याधितस्य दरिद्रस्य कुटुम्बात्प्रच्युतस्य च। अध्वानं प्रतिपन्नस्य भिक्षाचर्या विधीयते॥ अंगिरा (गृहस्थरत्नाकर, पृ० ४५०)।

सच बता देना चाहिए (मनु ११।१६-१७; गौतम १८।२८।३०; याज्ञ० ३।४२)। स्मृतियों में व्यर्थ में भिक्षा माँगना वर्जित माना गया है। इस विषय में शंखलिखित, वसिष्ठ (३।४), पराशर (१।६०) अवलोकनीय हैं।[३८]

ब्राह्मणों की महत्ता—वैदिक काल में भी ब्राह्मण देवतास्वरूप माने जाते थे और केवल जन्म से ही वे अन्य वर्णों से बहुत ऊँचे थे (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।३; शान्तिपर्व ३४३।१३-१४; मनु ४।११७; लिखित ३१; वसिष्ठ ३०।२-५)। धर्मशास्त्रों में भी वैदिक काल में दी गयी महत्ता यथासम्भव स्वीकृत की गयी है। स्मृतियाँ एवं पुराण ब्राह्मणों की महत्ता एवं स्तुति-गान से भरे पड़े हैं। सबका लेखा-जोखा देना यहाँ सम्भव नहीं है। कुछ बानगियाँ ये हैं—देवता तो परोक्षदेवता हैं, किन्तु ब्राह्मण प्रत्यक्षदेवता हैं, यह विश्व ब्राह्मणों द्वारा धारण किया गया है, ब्राह्मणों की कृपा से ही देवता स्वर्ग में स्थित हैं, ब्राह्मणों द्वारा कहे गये शब्द झूठे नहीं होते।[३९] मनु (१।१००) ने ब्राह्मणों को अति उच्च माना है। मनु ने इस विषय में अतिशयोक्तियाँ भी की हैं (९।३१३-३२१), जन्म से ही ब्राह्मण मान-सम्मान के योग्य हैं (११।८४)। पराशर ने कहा है (६।५२-५३) कि व्रतों में, तपों में, यज्ञकर्मों में जो भी दोष हों, वे सभी ब्राह्मणों की स्वीकृति से नष्ट हो जाते हैं; ब्राह्मण जो कुछ बोलते हैं, वह देवता द्वारा बोला जाता है; ब्राह्मण सर्वदेवमय हैं, उनके शब्द अन्यथा नहीं होते।[४०] महाभारत ने बहुधा ब्राह्मणों का गुणगान किया है। आदिपर्व (२८।३-४) के अनुसार ब्राह्मण जब क्रुद्ध कर दिया जाता है तो वह अग्नि, सूर्य, विष एवं शस्त्र हो जाता है; ब्राह्मण सभी जीवों का गुरु है।[४१] वनपर्व (३०३।१६) का कहना है कि ब्राह्मण अति उच्च तेज एवं अति उच्च तप है; ब्राह्मणों को प्रणाम करने के कारण ही सूर्य स्वर्ग में विराजमान है।[४२] अनुशासनपर्व (३३।१७) एवं शान्तिपर्व (५६।२२) में भी ब्राह्मणों की महत्ता का वर्णन है।

ऐसी बात नहीं है कि ब्राह्मणों ने जान-बूझकर अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए तथा अन्य वर्णों से महत्तर होने के लिए धर्मशास्त्रों एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में अपनी स्तुतियाँ कर डाली हैं, क्योंकि जब तक उन्हें अन्य वर्णों द्वारा

३८. भिक्षमाणो वा निमित्तान्तरं ब्रूयात्।....न स्त्रीं नाप्राप्तव्यवहारान्। अपर्याप्तसंनिधानान्। अनुद्दिश्यान्नं भिक्षेत। यदर्थं भिक्षेत तमेवार्थं कुर्यात्। शेषमृत्विग्भ्यो निवेदयेत्। यो वान्यः साधुतमस्तस्मै दद्यात्। शंखलिखित (गृहस्थरत्नाकर, पृ० ४५७); अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः। तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः॥ वसिष्ठ ३।४ एवं पराशर १।६०।

३९. देवाः परोक्षदेवाः प्रत्यक्षदेवा ब्राह्मणाः। ब्राह्मणैर्लोका धार्यन्ते। ब्राह्मणानां प्रसादेन दिवि तिष्ठन्ति देवताः। ब्राह्मणाभिहितं वाक्यं न मिथ्या जायते क्वचित्॥ विष्णुधर्मसूत्र १९। २०-२२। मिलाइए, तैत्तिरीय संहिता १।७।३।१; तैत्तिरीय आरण्यक २।१५; शतपथब्राह्मण १२।४।४।६; ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६।१।६; उत्तररामचरित ५।

४०. व्रतच्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं यज्ञकर्मणि। सर्वं भवति निश्छिद्रं ब्राह्मणैरुपपादितम्॥ ब्राह्मणा यानि भाषन्ते भाषन्ते तानि देवताः। सर्वदेवमया विप्रा न तद्वचनमन्यथा॥ पराशर ६।५२-५३। शातातप में कुछ अन्तर के साथ ये ही श्लोक हैं (१।३०-३१)।

४१. अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः। गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्तितः॥ आदिपर्व २८।३-४; देखिए, आदिपर्व ८१।२३ एवं २५; एवं मत्स्यपुराण ३०।२८ एवं २५।

४२. ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः। ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते॥ वनपर्व ३०३। १६। मिलाइए, शतपथब्राह्मण २।३।१।५; और देखिए, ऋग्वेद २।१५।२-९, ऋग्वेद ४।५०।७-९।

सम्मान न प्राप्त होता और वह शताब्दियों तक अक्षुण्ण न चला जाता तब तक उन्हें इतनी महत्ता नहीं प्राप्त हो सकती थी। ब्राह्मणों को सैनिक बल नहीं प्राप्त था कि वे जो चाहते करते या कराते। यह तो उनकी जीवन-चर्या थी जो उन्हें इतनी महत्ता प्रदान कर सकी। ब्राह्मण ही आर्य-साहित्य के विशाल समुद्र को भरने वाले एवं अक्षुण्ण रखने वाले थे। युगों से जो संस्कृति प्रवाहित होती रही उसके संरक्षक ब्राह्मण ही तो थे। यह मानी हुई बात है कि सभी ब्राह्मण एक-से नहीं थे, किन्तु बहुत-से ऐसे थे जिन पर आर्यजाति की सम्पूर्ण संस्कृति का भार रखा जा सका और उन्होंने उसका विकास, संरक्षण एवं संवर्धन करने में अपनी ओर से कुछ भी उठा न रखा। इसी से आर्य जाति ब्राह्मणों के समक्ष सदैव नत रही है।

ब्राह्मणों के प्रमुख विशेषाधिकार थे शिक्षण-कार्य करना, पौरोहित्य तथा धार्मिक कर्तव्य के रूप में दा -ग्रहण करना। अब हम बहुत संक्षेप में उनके अन्य विशेषाधिकारों का वर्णन करेंगे।

(१) ब्राह्मण सबका गुरु माना जाता था, और यह श्रद्धा-पद उसे जन्म से ही प्राप्त था (आपस्तम्ब १।१।१।५)। वसिष्ठधर्मसूत्र ने भी ब्राह्मण को सर्वोच्च माना है और ऋग्वेद (९०।१२) को अपने पक्ष में उद्धृत किया है।[४३] मनु (१।३१ एवं ९४; १।९३; १०।३) ने ब्राह्मणों की सर्वोच्चता एवं महत्ता का वर्णन कई स्थानों पर किया है। आपस्तम्ब (१।४।१४।२३), मनु (२।१३५) एवं विष्णु (३२।१७) ने लिखा है कि १० वर्ष की अवस्था वाला ब्राह्मण १०० वर्ष वाले क्षत्रिय से अधिक सम्मान पाता है।[४४]

(२) ब्राह्मणों का एक अधिकार था अन्य वर्णों के कर्तव्यों का निर्धारण करना, उनके सम्यक् आचरण की ओर संकेत करना एवं उनके जीविका-साधनों को बताना। राजा ब्राह्मणों द्वारा बताये हुए विधान के अनुसार शासन करता था (वसिष्ठ १।३९-४१; मनु ७।३७, १०।२)। यह बात काठकसंहिता (९।१६), तैत्तिरीय ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण (३७।५) में भी पायी जाती है।[४५] यूनान के दार्शनिक प्लेटो ने दार्शनिकों को ही, जो सर्वगुण-सम्पन्न थे, राजनीतिज्ञों एवं विधान-निर्माताओं में गिना है। प्लेटो के अनुसार सर्वोत्तम लोगों द्वारा निर्मित शासन (अरिस्टोक्रैसी) ही एक आदर्श शासन-व्यवस्था कही जा सकती है।

(३) गौतम (११।१) ने लिखा है कि "राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्", अर्थात् राजा ब्राह्मणों को छोड़कर सबका शासक है। किन्तु मिताक्षरा ने (याज्ञवल्क्य के २।४ की व्याख्या में) कहा है कि ऐसी उक्ति केवल ब्राह्मण की महत्ता बताने वाली है, क्योंकि समुचित कारण मिल जाने पर राजा ब्राह्मणों को भी दण्डित कर सकता है। गौतम के उपर्युक्त कथन की ध्वनि उनके पूर्व के आचार्यों के कथन में भी पायी जाती है, यथा वाजसनेयी संहिता (९।४०) एवं शतपथ ब्रा० (५।४।२।३ एवं ९।४।३।१६)।[४६] सोमपान केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे, क्षत्रिय सोम

४३. चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्। आप० १।१।१।५; प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत इत्यपि निगमो भवति। वसिष्ठ ४।१-२; जातीनां ब्राह्मणः श्रेष्ठः। भीष्मपर्व १२१।३५।

४४. दशवर्षश्च ब्राह्मणः शतवर्षश्च क्षत्रियः। पितापुत्रौ स्म तौ विद्धि तयोस्तु ब्राह्मणः पिता॥ आप० १।४।-१४।२३।

४५. ब्राह्मणो वै प्रजानामुपद्रष्टा। तै० ब्रा० २।२।१ एवं काठकसंहिता ९।।१६। तद्यत्र वै ब्राह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन्वीरो जायते। ऐ० ब्रा० ३७।५।

४६. राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्। गौ० ११।१; न च राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जमिति गौतमवचनाद्ब्राह्मणो दण्ड्य इति मन्तव्यम्। तस्य प्रशंसार्थत्वात्। मिताक्षरा, याज्ञ० २।४ पर।

के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का प्रयोग करते थे (ऐत० ब्रा० ३५।४)।[४७] किन्तु महाभारत में बहुत-से राजा 'सोमप' कहे गये हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि सोम-सम्बन्धी ब्राह्मणोच्चता सर्वमान्य नहीं थी।

(४) गौतम (८।१२-१३) ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मणों को छः प्रकार के दण्ड से मुक्त रखे—(१) उन्हें पीटा न जाय, (२) उन्हें हथकड़ी-बेड़ी न लगायी जाय, (३) उन्हें धन-दण्ड न दिया जाय, (४) उन्हें ग्राम या देश से निकाला न जाय, (५) उनकी भर्त्सना न की जाय एवं (६) उन्हें त्यागा न जाय।[४८] इन छः प्रकार के छुटकारों का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण अवध्य, अबन्ध्य, अदण्डच, अबहिष्कार्य, अपरिवाद्य एवं अपरिहार्य माना जाता था। किन्तु ये छूटें केवल विद्वान् ब्राह्मणों से ही विशेष सम्बन्ध रखती थीं (मिताक्षरा, याज्ञ० २।४)। हरदत्त ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि केवल वे ही विद्वान् ब्राह्मण छुटकारा पा सकते थे जो अनजान में कोई अपराध करते थे। शरीर-दण्ड के विषय में गौतम (१२।४३), मनु (११।९९-१००) बौधायन (१।१०।१८-१९) ने चर्चाएँ की हैं। गौतम के मतानुसार शरीर-दण्ड नहीं देना चाहिए। बौधायन ने प्रथमतः ब्राह्मण को अदण्डनीय माना है, किन्तु अनैतिकता (ब्रह्महत्या, व्यभिचार या अगम्यगमन अर्थात् मातृगमन, स्वसृगमन, दुहितृगमन आदि, सुरापान, सुवर्ण की चोरी) के अपराधी ब्राह्मणों के ललाट पर जलते हुए लोहे के चिह्न से दाग देने तथा देश-निष्कासन की व्यवस्था दी है। ललाट पर विविध अपराधों के लिए कौन-से अंक चिह्नित किये जायँ, इस विषय में कई मत हैं (मनु ९।२३७; मत्स्यपुराण २२७।१६३-१६४; विष्णु ५।४-७)। मनु ने कहा है कि ब्राह्मण को किसी भी दशा में प्राण-दण्ड नहीं देना चाहिए, बल्कि उसकी सारी सम्पत्ति छीनकर उसे देश-निकाला दे देना चाहिए (८।३७९-३८०)। चोरी के मामले में याज्ञवल्क्य (२।२७०), नारद (साहस, १०), शंख के अनुसार ललाटांकन एवं देश-निष्कासन नामक दण्ड उचित माने गये हैं। ब्राह्मण पर धन-दण्ड की व्यवस्था भी पायी जाती है (मनु ८।१२३)। झूठी गवाही देने, बलात्कार एवं व्यभिचार के लिए धन-दण्ड उचित माना गया है (मनु ८।३७८)। सिर मुंड़ाकर, ललाट पर अंक लगाकर तथा गदहे पर चढ़ाकर बस्ती में चारों ओर घुमाकर निकाल बाहर करना अनादर का सबसे बड़ा रूप माना गया है।[४९] कौटिल्य (४।८) ने मनु के समान शरीर-दण्ड को अस्वीकार कर ललाटांकन, देश-निर्वासन तथा खानों में कार्य करने की व्यवस्था दी है। यदि ब्राह्मण राजद्रोह, राजा के अन्तःपुर में प्रवेश, राजा के शत्रुओं को उभाड़ने का अपराध करे तो उसे पानी में डुबा देना चाहिए, ऐसा कौटिल्य ने लिखा है। यदि ब्राह्मण

४७. सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। शतपथ० ५।४।२।३; तस्माद् ब्राह्मणोऽनाद्यः सोमराजा हि भवति। शतपथ० ९।४।३।१६।

४८. यस्तु षड्भिः परिहार्यो राज्ञाऽवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्डचश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति (गौतम ८।१२-१३), तदपि स एष बहुश्रुतो भवति....विनीत इति (गौतम ८।४-११) प्रतिपादितबहुश्रुतविषयं न ब्राह्मणमात्रविषयम्। मिता० याज्ञ० २।४; न शारीरो ब्राह्मणदण्डः। गौतम १२।४३; अवध्यो वै ब्राह्मणः सर्वापराधेषु। ब्राह्मणस्य ब्रह्महत्यागुरुतल्पगमनसुवर्णस्तेयसुरापानेषु कुसिन्धभगशृगालसुराध्वजास्तप्तेनायसा ललाटेऽङ्कयित्वा विषयान्निर्धमनम्। बौ० १।१०।१८-१९; मृच्छकटिक नाटक (९) का यह श्लोक "अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्। राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥" मनु (८।२८०) की ही छाया है।

४९. ब्राह्मणस्य पुनः 'न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः' इति निषेधाद्वधस्थाने शिरोमुण्डनादिकं कर्तव्यम्। ब्राह्मणस्य वधो मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनाङ्कने। ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन तु॥ इति मनुस्मरणात्। मिताक्षरा, याज्ञ० २।३०२; नारद (साहस, १०) में भी यही बात कुछ उलट-फेर के साथ कही गयी है।

भ्रूणहत्या करे, चोरी करे, ब्राह्मण-नारी को शस्त्र से मारे या निर्दोष नारी को मार डाले तो उसे प्राण-दण्ड मिलना चाहिए (कात्यायन, याज्ञ० २।२८१ की व्याख्या में विश्वरूप द्वारा उद्धृत)।[50] राजाओं ने ब्राह्मणों को प्राणदण्ड दिये हैं और हमें मृच्छकटिक (९) में इसका उदाहरण भी मिलता है, जहाँ राजा पालक ने ब्राह्मण चारुदत्त को प्राणदण्ड दिया है।

(५) अधिकांश स्मृतियों के अनुसार श्रोत्रिय (वेदज्ञानी ब्राह्मण) करों से मुक्त था। शतपथ ब्राह्मण के कुछ शब्दों से ध्वनि निकलती है कि उन दिनों भी ब्राह्मण करमुक्त थे (शत० १३।६।२।१८)। यही बात आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२६।१०), वसिष्ठधर्मसूत्र (१९।२३), मनु (७।१३३) में भी पायी जाती है।[51] कौटिल्य (२।१) ने ब्रह्मदेय भूमि को ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय को दानस्वरूप देने को कहा है, और कहा है कि वह भूमि उपजाऊ होनी चाहिए और उस पर किसी प्रकार का धन-दण्ड अथवा कर नहीं लगना चाहिए।[52] ब्राह्मण करमुक्त क्यों रखा जाता था? इसका उत्तर वसिष्ठधर्मसूत्र में मिलता है; ब्राह्मण वेदाध्ययन करता है, वह धार्मिक शील प्राप्त करता है जिसे राजा भी पा लेता है, ब्राह्मण विपत्तियों से रक्षा करता है.....आदि।[53] राजा द्वारा रक्षित श्रोत्रिय जब धार्मिक गुण प्राप्त करता है तो राजा का जीवन, सम्पत्ति एवं राज्य बढ़ता है (मनु ७।१३६; ८।३०५)। यही बात कालिदास ने भी कही है "......तपस्वी लोग अपने तप का छठा भाग राजा को देते हैं और यह एक अक्षय कोश है।"[54] आपस्तम्ब (२।१०।२६।११-१७), वसिष्ठ (१९।२३), मनु (८।३९४), बृहत्पराशर (अध्याय ३) आदि ने ब्राह्मणों के साथ कुछ अन्य लोगों को भी अकर (करमुक्त) माना है। किंतु ऐसे ब्राह्मण, जो खेती ही करते थे, उन्हें कर देना पड़ता था। ब्राह्मणों पर कर के विषय में शान्तिपर्व (७६।२-१०) में मनोरंजक निरूपण दिया गया है। शास्त्रज्ञ एवं सबको एक दृष्टि से देखने वाले ब्राह्मण को ब्रह्मसम कहा जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद के ज्ञाता और अपने कर्तव्यों पर अडिग रहने वाले ब्राह्मण को देवसम कहते हैं (श्लोक २-३)। धार्मिक राजा को चाहिए कि वह अश्रोत्रिय तथा जो यज्ञ न करे उसे कर से मुक्त न करे। कुछ ब्राह्मण क्षत्रसम एवं वैश्यसम होते हैं।[55]

५०. तथा च कात्यायनः। गर्भस्य पातने स्तैन्ये ब्राह्मण्यां शस्त्रपातने। अदुष्टां योषितं हत्वा हन्तव्यो ब्राह्मणोऽपि हि॥ कात्यायन, विश्वरूप द्वारा याज्ञ० २।२८१ में उद्धृत।

५१. अथातो दक्षिणानाम्। मध्यं प्रति राष्ट्रस्य यदन्यद् भूमेश्च ब्राह्मणस्य च वित्तात्। शतपथ० १३।६।२।१८; अकरः श्रोत्रियः। आपस्तम्ब २।१०।२६।१०; राजा तु धर्मेणानुशासत् षष्ठं धनस्य हरेत्। अन्यत्र ब्राह्मणात्। वसिष्ठ १।४२-४३; ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात्। ते हि राज्ञो धर्मकरदाः। विष्णु ३।२६-२७।

५२. ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्। कौटिल्य २।१।

५३. इष्टापूर्तस्य तु षष्ठमंशं भजतीति ह। ब्राह्मणो वेदमाढ्यं करोति ब्राह्मण आपद उद्धरति तस्माद् ब्राह्मणोऽनाद्यः। सोमोऽस्य राजा भवतीति ह। प्रेत्य चाभ्युदयिकमिति ह विज्ञायते। वसिष्ठ १।४४-४६; मिलाइए, शतपथ ब्राह्मण के ये शब्द—सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। शतपथ० ५।४।२।३ एवं तस्माद् ब्राह्मणोऽनाद्यः सोमराजा हि भवति। शतपथ० ९।४।३।१६।

५४. यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्। तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः॥ शाकुन्तल २।१३।

५५. विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः। एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः॥ ऋग्यजुःसामसंपन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः। एते देवसमा...अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः। तान् सर्वान् धार्मिको राजा

(६) पाये गये धन के विषय में अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मणों को अधिक छूट दी गयी थी। यदि कोई विद्वान् ब्राह्मण गुप्त धन पाता था तो वह उसे अपने पास रख सकता था। अन्य वर्णों के लोगों द्वारा पाये गये गुप्त धन को राजा हड़प लेता था, किन्तु यदि प्राप्तिकर्ता सचाई के साथ राजा को पता बता देता था तो उसे छठा भाग मिल जाता था। यदि राजा को स्वयं गुप्त धन प्राप्त होता था तो वह आधा ब्राह्मणों में बाँट देता था (गौतम १०।४३-४५; वसिष्ठ ३।१३-१४; मनु ८।३७-३८; याज्ञवल्क्य २।३४-३५; विष्णु ३।५६-६४ एवं नारद-अस्वामिविक्रय, ७-८)।

(७) यदि कोई ब्राह्मण बिना किसी उत्तराधिकारी के मर जाता था तो उसका धन श्रोत्रियों या ब्राह्मणों में बाँट दिया जाता था (गौतम २८।३९-४०; वसिष्ठ १७।८४-८७; बौधायन १।५।११८-१२२; मनु ९।१८८-१८९; विष्ण १७।१३-१४; शंख)।

(८) अवरुद्ध मार्ग में पहले जाने में ब्राह्मणों को राजा से भी अधिक प्रमुखता प्राप्त थी। गौतम (६।२१-२२) के अनुसार मार्गावरोध के समय सबसे पहले गाड़ी को, तब क्रमशः बूढ़े, रोगी, नारी, स्नातक, राजा को जाने का अवसर देना चाहिए; किन्तु राजा को चाहिए कि वह पहले श्रोत्रिय को जाने दे। अन्य लोगों के मत भी अवलोकनीय है, यथा आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।५-९); वनपर्व १३३।१; अनुशासनपर्व (१०४।२५-२६); बौधायन २।३।५७; शंख, मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० १।११७ में उद्धृत।[५६] वसिष्ठ (१३।५८-६०) ने लिखा है कि गुरु के यहाँ से सद्यः आया हुआ स्नातक राजा से पहले मार्ग पाता है, किन्तु दुलहिन को सबसे पहले मार्ग मिलता है। मनु (२।१३८-१३९) ने भी अपनी सूची दी है और स्नातक को राजा के ऊपर स्थान दिया है। यही बात याज्ञवल्क्य में भी है (१।११७)। इस विषय के लिए देखिए, मार्कण्डेयपुराण (३४।३९-४१) शंख, विष्णु (५।९१) आदि।

(९) अति प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों का शरीर परम पवित्र माना जाता रहा है, और ब्रह्महत्या अधमतम अपराध के रूप में स्वीकृत थी। तैत्तिरीय संहिता (५।३।१२।१-२) में आया है कि अश्वमेध यज्ञ करने वाला ब्राह्मण-हत्या से भी छुटकारा पा जाता है। इस संहिता ने एक स्थान (२।५।१।१) पर लिखा है कि इन्द्र ने विश्वरूप की हत्या करके 'ब्रह्महा' की गर्हित उपाधि धारण की। शतपथ ब्राह्मण (१३।३।१।१) ने भी ब्रह्महत्या को जघन्य अपराध माना है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९) ने ब्रह्महत्या को पाँच महापातकों में गिना है। गौतम (२१।१) ने ब्रह्महत्या करनेवाले को पतितों में सबसे बड़ा माना है, वसिष्ठ (१।२०) ने तो इसे भ्रूणहत्या कहा है, मनु

बलिं विष्टिं च कारयेत्॥....एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपतिः। ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च॥ शान्तिपर्व ७६।२-३,५,९।

५६. चक्रिदशमीस्थानुग्राह्यवधूस्नातकराजभ्यः पथो दानम्। राज्ञा तु श्रोत्रियाय। गौतम ६।२१-२२; राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः। यानस्य भाराभिनिहितस्यातुरस्य स्त्रिया इति सर्वैर्दातव्यः। वर्णज्यायसां चेतरैर्वर्णैः। अशिष्टपतितमत्तोन्मत्तानामात्मस्वस्त्ययनार्थेन सर्वैरेव दातव्यः। आपस्तम्ब २।५।११।५-९; अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्था स्त्रियः पन्था भारवाहस्य पन्थाः। राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः॥ वनपर्व १३३।१; पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च। वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलस्य च॥ अनुशासनपर्व १०४।२५-२६, इसे मिलाइए, बौधायन २।३।५७ से; शंख, मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० १।११७ की व्याख्या में उद्धृत।

(११।५४), विष्णु (३५।१), याज्ञवल्क्य (३।२२७) ने भी ब्रह्महत्या को पाँच महापातकों में गिना है (भ्रूण= वेद के एक अंश का पाठक या गर्भ—वसिष्ठ ध० सू०, गौ० ध० सू०)। मनु ने (८।३८१) ब्रह्महत्या को गर्हिततम पाप माना है।

क्या आततायी, हिंसक या भयानक अपराधी ब्राह्मण का प्राण-हरण किया जा सकता है? इस विषय में स्मृतिकारों एवं निबन्धकारों में बड़ा मतभेद रहा है।[५७] मनु (४।१६२) ने एक सामान्य नियम बना डाला है कि अपने (वेद पढ़ानेवाले) गुरु, व्याख्याता (वेदार्थ बतानेवाले), माता-पिता, अन्य श्रद्धास्पद लोगों, ब्राह्मणों, गायों तथा तप में लगे हुए लोगों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। उन्होंने पुनः लिखा है कि ब्राह्मण की हत्या करने पर कोई प्रायश्चित्त नहीं है (मनु ११।८९)। किन्तु स्वयं मनु (८।३५०-३५१=विष्णु ५।१८९-१९०=मत्स्यपुराण २२७।११५-११७=वृद्ध-हारीत ९।३४९-३५०) ने पुनः कहा है कि आततायी को अवश्य मार डालना चाहिए, भले ही वह गुरु ही क्यों न हो, बच्चा या बूढ़ा या विद्वान् ब्राह्मण ही क्यों न हो। वसिष्ठधर्मसूत्र (३।१५-१८) में छः प्रकार के आततायियों के नाम आये हैं—(१) घर जला देनेवाला, (२) विष देनेवाला, (३) शस्त्र प्रहार करनेवाला, (४) लुटेरा, (५) भूमि छीननेवाला एवं (६) दूसरे की स्त्री छीननेवाला। इस विषय में बौधायन धर्मसूत्र (१।१०।१४) एवं शान्तिपर्व (१५।५५) के वचन भी स्मरणीय हैं। शान्तिपर्व (३४।१७ एवं १९) ने लिखा है कि यदि कोई शस्त्रधारी ब्राह्मण किसी को मारने के लिए रण में आता है तो जिस पर घात किया जाता है वह व्यक्ति उस ब्राह्मण की हत्या कर सकता है, चाहे वह ब्राह्मण वेदान्ती ही क्यों न हो। उद्योगपर्व (१७८।५१-५२), शान्तिपर्व (२२।५-६) भी इस विषय में अवलोकनीय हैं। विष्णुधर्मसूत्र (५।१९१-१९२), मत्स्यपुराण (२२७। ११७-११९) ने आततायियों के सात प्रकार बतलाये हैं। सुमन्तु (मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० २।२१ की व्याख्या में उद्धृत) ने लिखा है कि गाय एवं ब्राह्मण को छोड़कर सभी प्रकार के आततायियों को मार डालने में कोई पाप नहीं है। इसका अर्थ हुआ कि आततायी ब्राह्मण को मारने से पाप लगता है। कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका एवं अन्य निबन्धों में उद्धृत), भृगु एवं बृहस्पति ने भी आततायी ब्राह्मण को अवध्य माना है।[५८] इस विषय में टीकाकारों एवं निबन्धकारों के विश्लेषण में बहुत अन्तर पड़ गया है। याज्ञवल्क्य (३।२२२) की व्याख्या में विश्वरूप ने लिखा है कि वह व्यक्ति ब्राह्मण-हत्या का अपराधी है जो संग्राम में लड़ते हुए ब्राह्मण या आततायी ब्राह्मण को छोड़कर किसी अन्य प्रकार के ब्राह्मण को मारता है, या जो स्वयं अपने (लाभ के) लिए किसी ब्राह्मण को मारता है या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा (उसे धन देकर) मरवाता है। विश्वरूप ने आगे यह भी लिखा है कि धन के लोभ से जो किसी ब्राह्मण को मारता है उसको पाप नहीं लगता, बल्कि उसको पाप लगता है जो मरवाता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि यज्ञ करानेवाले को फल मिलता है न कि यज्ञ करनेवाले ऋत्विक् को। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य (२।११) की व्याख्या में मनु (८।३५०-३५१) का हवाला देते हुए लिखा है कि यदि आत्म-रक्षा के लिए कोई

५७. देखिए, याज्ञवल्क्य ३।२२२ पर विश्वरूप; याज्ञवल्क्य २।२१ मिताक्षरा, अपरार्क (पृ० १०४२-४४) एवं स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहार, पृ० ३१३-१५)।

५८. नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणात्। सुमन्तु (याज्ञ० २।२१ में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत); आततायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मतः। वधस्तत्र तु नैव स्यात्पापे हीने वधो भृगुः॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार, पृ० ३१५); आततायिनमुत्कृष्टं वृत्तस्वाध्यायसंयुतम्। यो न हन्याद्वधप्राप्तं सोऽश्वमेधफलं लभेत्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार, पृ० ३१५)।

किसी आततायी ब्राह्मण को रोक रहा है और असावधानी या त्रुटि से उसे मार डालता है, तो वह राजा द्वारा दण्डित नहीं हो सकता, बल्कि उसे एक हलका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। स्पष्ट है, मिताक्षरा के कथनानुसार आततायी ब्राह्मण को भी मारना मना था। मेधातिथि (मनु ८।३५०-३५१) की भी यही सम्मति है। कुल्लूक (मनु ८ ३५०) ने लिखा है कि यदि भागकर भी अपने प्राण न बचाये जा सकें तो आक्रमणकारी गुरु या ब्राह्मण या किसी भी अन्य आततायी को मारा जा सकता है। अपरार्क (याज्ञ० ३।२२७) ने लिखा है कि आततायी ब्राह्मण को यदि किसी अन्य प्रकार से रोकना असम्भव है तो उसे मार डालने की व्यवस्था शास्त्रों में है, किन्तु यदि उसे दो-एक थप्पड़ मारकर रोका जा सके तब उसका प्राण हर लेना ब्रह्महत्या है। स्मृतिचन्द्रिका में भी कुछ ऐसी ही उक्ति है। व्यवहारमयूख ने कलियुग का सहारा लेकर किसी भी प्रकार के (यहाँ तक कि आततायी) ब्राह्मण की हत्या का विरोध किया है।

(१०) किसी ब्राह्मण को तर्जना देना (डपटना) या मारने की धमकी देना या पीट देना या शरीर से चोट द्वारा रक्त निकाल देना भी बहुत प्राचीन काल से भर्त्सनीय माना जाता रहा है (तैत्तिरीय संहिता ६।१०।१-२)। गौतम (२२।२०-२२) में भी इसी प्रकार का आदेश पाया जाता है।

(११) कुछ अपराधों में अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण को कम दण्ड मिलता था, यथा गौतम (२१।६-१०) ने लिखा है—यदि किसी क्षत्रिय ने ब्राह्मण की भर्त्सना की तो दण्ड एक सौ कार्षापण का होता है, यदि वैश्य ऐसा करे तो १५० कार्षापण का; किन्तु यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय या वैश्य के साथ ऐसा व्यवहार करे तो दण्ड क्रमशः केवल ५० तथा २५ कार्षापण का होता है, किन्तु यदि वह किसी शूद्र के साथ ऐसा करे तो उसे किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जा सकता। इस विषय में मनु (८।२६७-२६८), नारद (वाक्पारुष्य, १५-१६) एवं याज्ञवल्क्य (२।२०६-२०७) के विचार एक-दूसरे से मिलते हैं, किन्तु मनु ने शूद्र की भर्त्सना करनेवाले ब्राह्मण पर १२ कार्षापण के दण्ड की व्यवस्था दी है। कुछ अपराधों में ब्राह्मणों को अधिक दण्ड दिया जाता था, यथा चोरी के मामले में शूद्र पर ८ कार्षापण का, वैश्य पर १६, क्षत्रिय पर ३२ और ब्राह्मण पर ६४, १०० या १२८ कार्षापण का दण्ड लगता था (गौतम २१।१२-१४; मनु ८।३३७-३३८)।

(१२) गौतम (१३।४) के मतानुसार किसी अब्राह्मण द्वारा कोई ब्राह्मण साक्ष्य के लिए नहीं बुलाया जा सकता। यदि वह लेखपत्र में लिखित रूप से साक्षी ठहराया गया हो तो राजा उसे बुला सकता है। नारद (ऋणादान, १५८) के अनुसार तप में लीन श्रोत्रिय लोग, बूढ़े लोग, तपस्वी लोग साक्ष्य के लिए नहीं बुलाये जा सकते। किन्तु गौतम के अनुसार ब्राह्मण द्वारा श्रोत्रिय बुलाया जा सकता है। मनु (८।६५) एवं विष्णुधर्मसूत्र (८।२) ने भी श्रोत्रिय को साक्ष्य देने से मना किया है।

(१३) केवल कुछ ही ब्राह्मण श्राद्ध तथा देव-क्रिया-संस्कार के समय भोजन के लिए बुलाये जा सकते थे (गौतम १५।५ एवं ९; आपस्तम्ब २।७।१७।४; मनु ३।१२४ एवं १२८; याज्ञ० १।२१७, २१९, २२१)।

(१४) कुछ यज्ञ केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे, यथा सौत्रामणी एवं सत्र। किन्तु जैमिनि (६।६।२४-२६) के अनुसार भृगु, शुनक एवं वसिष्ठ गोत्र के ब्राह्मण सत्र भी नहीं कर सकते थे। राजसूय यज्ञ केवल क्षत्रिय ही कर सकते थे।

(१५) ब्राह्मणों के लिए मृत्यु पर शोक करने (सूतक) की अवधियाँ अपेक्षाकृत कम थीं। गौतम (१४।१-४) के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के लिए शोकावधियाँ क्रम से १०, ११, १२ तथा ३० दिनों की थीं। यही बात वसिष्ठ (४।२७-३०), विष्णु (१२।१-४), मनु (५।८३), याज्ञवल्क्य (३।२२) में भी पायी जाती है। कालान्तर में सब के लिए शोकावधि १० दिनों की हो गयीं।

उपर्युक्त विशेषाधिकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य अधिकारों की भी चर्चा हुई है, यथा राजा सर्वप्रथम ब्राह्मण को अपना मुख दिखलाता और उसे प्रणाम करता था (नारद, प्रकीर्णक, ३५-३९); ९ या ७ व्यक्तियों के साथ मिल जाने पर ब्राह्मण को ही सर्वप्रथम मार्ग पाने का अधिकार था; भिक्षा के लिए ब्राह्मण को सबके घर में पहुँचने की छूट थी; ईंधन, पुष्प, जल आदि ब्राह्मण बिना पूछे ग्रहण कर सकता था; दूसरे की स्त्रियों से बात करने का उसे अधिकार प्राप्त था; बिना खेवा दिये ब्राह्मण नदी के आर-पार नाव पर आ-जा सकता था। व्यापार के सिलसिले में उसे 'अकर' (निःशुल्क) नौका-प्रयोग की छूट थी। ब्राह्मण यात्रा करते समय थक जाने पर यदि पास में कुछ न हो तो बिना पूछे दो ईख या दो कन्द आदि खेत से लेकर खा सकता था।

ब्राह्मणों के लिए कुछ बन्धन भी थे, जिनकी चर्चा पहले हो चुकी है।

शूद्रों की अयोग्यताएँ---(१) शूद्र को वेदाध्ययन करने का आदेश नहीं था। इस बात पर बहुत-से स्मृतिकारों एवं निबन्धों ने वैदिक वचन उद्धृत किये हैं। एक श्रुतिवाक्य है---"(विधाता ने) गायत्री (छन्द) से ब्राह्मण को निर्मित किया, त्रिष्टुप् (छन्द) से राजन्य (क्षत्रिय) को, जगती (छन्द) से वैश्य को, किन्तु उसने शूद्र को किसी भी छन्द से निर्मित नहीं किया, अतः शूद्र (उपनयन) संस्कार के लिए अयोग्य है।"[५९] उपनयन के उपरान्त वेदाध्ययन होता है, और वेद केवल तीन वर्णों के उपनयन की चर्चा करता है।[६०] शूद्रों के लिए वेदाध्ययन तो मना ही था, उनके समीप वेदाध्ययन करना भी मना था।[६१] किन्तु अति प्राचीन काल में वेदाध्ययन पर सम्भवतः इतना कड़ा नियन्त्रण नहीं था। छान्दोग्योपनिषद् (४।१-२) में एक कथा आयी है, जिसमें जानश्रुति पौत्रायण एवं रैक्व का वर्णन है और रैक्व ने जानश्रुति को शूद्र कहा है एवं उसे संवर्ग विद्या का ज्ञान कराया है। किन्तु शूद्रों के विरोध में बहुत-सी बातें कही जाती रही हैं। गौतम (१२-४) ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि शूद्र जान-बूझकर स्मरण करने के लिए वेद-पाठ सुने तो उसके कर्णकुहरों को सीसा और लाख से भर देना चाहिए, यदि उसने वेद पर अधिकार कर लिया है तो उसके शरीर को छेद देना चाहिए।[६२]

यद्यपि शूद्रों को वेदाध्ययन करना मना था, किन्तु वे इतिहास (महाभारत आदि) एवं पुराण सुन सकते थे। महाभारत (शान्तिपर्व ३२८।४९) ने लिखा है कि चारों वर्ण किसी ब्राह्मण पाठक से महाभारत सुन सकते हैं।[६३]

५९. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। वसिष्ठ ४।३, अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० २३; अपरार्क ने यम को भी इस प्रकार उद्धृत किया है "न केनचित्समसृजच्छन्दसा तं प्रजापतिः।"

६०. वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यमिति। जैमिनि ने भी यही आधार लिया है (६।१।३३)। शबर ने भी यही माना है। देखिए, आपस्तम्ब (१।१।१।६)।

६१. अथापि यमगीताञ् श्लोकानुदाहरन्ति। श्मशानमेतत्प्रत्यक्षं ये शूद्राः पापचारिणः। तस्माच्छूद्रसमीपे तु नाध्येतव्यं कदाचन॥ वसिष्ठ १८।१३। देखिए गौ० १६।१८।१९; आप० ध० सूत्र १।३।९।९; श्मशानवच्छूद्रपतितौ। याज्ञ० १।१४८; आदिपर्व, ६४।२०।

६२. अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। गौतम १२।४; देखिए मृच्छकटिक ९।२१ 'वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता।'

६३. श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः। शान्तिपर्व ३२८।४९; और देखिए, आदिपर्व ६२।२२ एवं ९५।८७।

भागवत पुराण (१।४।२५) में आया है कि तीनों वेदों को स्त्रियाँ, शूद्र एवं कुब्राह्मण (जो केवल जन्म मात्र से ब्राह्मण हैं) नहीं पढ़ सकते, अतः व्यास ने उन पर दया करके भारत की गाथा लिखी है।[६४] शूद्रकमलाकर (पृ० १३-१४) में कई उदाहरण आये हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि शूद्र स्मृतियों एवं पुराणों को स्वतः नहीं पढ़ सकते थे। स्वयं मनु (२।१६) ने मनुस्मृति को केवल द्विजों द्वारा सुनने को कह दिया है। कल्पतरु तथा कुछ अन्य ग्रन्थों ने शूद्रों के लिए पुराणाध्ययन वैधानिक माना है। वेदान्तसूत्र (१।३।३८) की व्याख्या में शंकराचार्य ने लिखा है कि शूद्रों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है, किन्तु वे (विदुर एवं धर्मव्याध की भाँति, जैसा कि महाभारत में आया है) मोक्ष (सम्यक् ज्ञान का फल) प्राप्त कर सकते हैं। कुछ निबन्धों में एक स्मृति का उद्धरण आया है कि शूद्र वाजसनेयी हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि वे वाजसनेयी शाखा के गृह्यसूत्र की विधि का अनुसरण कर सकते हैं और ब्राह्मण उनके लिए मन्त्रोच्चारण कर देगा।

(२) शूद्र पवित्र अग्नियाँ नहीं जला सकते थे, और न वैदिक यज्ञ कर सकते थे। जैमिनि (१।३।२५-३८) ने इस बात की चर्चा की है। किन्तु बादरि नामक एक प्राचीन आचार्य ने लिखा है कि शूद्र भी वैदिक यज्ञ कर सकते हैं।[६५] भारद्वाज-श्रौतसूत्र (५।२।८) ने कुछ आचार्यों का यह मत प्रकाशित किया है कि शूद्र भी तीनों वैदिक अग्नि जला सकते हैं। कात्यायन-श्रौतसूत्र (१।४।५) ने लिखा है कि केवल लँगड़े-लूले, वेदज्ञान-विहीन, नपुंसक एवं शूद्रों को छोड़कर सभी यज्ञ कर सकते हैं। किन्तु इस सूत्र के टीकाकार ने लिखा है कि कुछ वैदिक वाक्यों से स्पष्ट झलकता है कि शूद्रों को भी वैदिक क्रिया-संस्कार करने का अधिकार था (शतपथ ब्राह्मण १।१।४।१२, १३-८।३।११)। किन्तु कात्यायनश्रौत० (१।१।६) के टीकाकार ने 'शूद्र' शब्द को रथकार जाति (याज्ञ० १।९१) के अर्थ में प्रयुक्त माना है।

शूद्र वैदिक क्रियाएँ नहीं कर सकते थे, किन्तु वे पूर्त धर्म कर सकते थे, अर्थात् कूप, तालाब, मन्दिर, वाटिकाओं आदि का निर्माण तथा ग्रहण आदि अवसरों पर भोजन-दान आदि कर सकते थे।[६६] वे प्रति दिन वाले पंच महायज्ञ साधारण अग्नि में कर सकते थे, श्राद्ध भी कर सकते थे, वे देवताओं को 'नमः' शब्द के साथ संबोधन कर ध्यान कर सकते थे। वे "अग्नये स्वाहा" नहीं कह सकते थे। मनु (१०।१२७) के अनुसार उनके सारे क्रिया-संस्कार बिना वैदिक मन्त्रों के हो सकते हैं। कुछ लोगों के मतानुसार शूद्र वैवाहिक अग्नि नहीं रख सकते थे (मनु ३।६७ एवं याज्ञ० १।९७), किन्तु मेधातिथि, मिताक्षरा (याज्ञ० १।१२१) एवं मदनपारिजात (पृ० ३१) का कहना है कि वे साधारण अग्नि में आहुति दे सकते हैं, विधिवत् उत्पन्न वैवाहिक अग्नि में नहीं। सभी लोग, यहाँ तक कि शूद्र एवं चाण्डाल १३ अक्षरों वाला राम-मन्त्र (श्री राम जय राम जय जय राम) एवं ५ अक्षरों वाला शिव-मन्त्र (नमः शिवाय) उच्चारित कर सकते थे, किन्तु द्विजाति लोग ६ अक्षरों वाला शिव-मन्त्र (ॐ नमः शिवाय) कह सकते थे। इस सम्बन्ध में शूद्र-

६४. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम् ॥ भागवत १।४।२५; देखिए, त्रिकाण्डमण्डन ४।२८, ब्रह्मव्याकरणं कृत्वा हुत्वा वै पावके हविः। शालग्रामशिलां स्पृष्ट्वा शूद्रो गच्छत्यधोगतिम् ॥

६५. निमित्तार्थेन बादरिस्तस्मात्सर्वाधिकारं स्यात्। जैमिनि १।३।२७।

६६. इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्मसाधनौ। अधिकारी भवेच्छूद्रः पूर्तधर्मे न वैदिके ॥ अत्रि ४६; लघुशंख ६; अपरार्क पृ० २४; वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ ग्रहोपरागे यद्दानं सूर्यसंक्रमणेषु च। द्वादश्यादौ च यद्दानं पूर्तमित्यभिधीयते। पहला पद्य महाभारत से तथा दूसरा जातूकर्ण्य से लिया गया है।

कमलाकर (पृ० ३०-३१, जिसमें वराह, वामन एवं भविष्यपुराण के वाक्य उद्धृत हैं) देखा जा सकता है, जहाँ पाञ्चरात्र मत से विष्णुमन्त्र एवं शिव, सूर्य, शक्ति तथा विनायक के मन्त्र कहे जाने का विधान है। वराहपुराण में शूद्र के भागवत (विष्णु-भक्त) के रूप में दीक्षित होने का वर्णन है।

(३) संस्कारों के विषय में स्मृतिकारों में मतैक्य नहीं है। मनु (१०।१२६) के अनुसार यदि शूद्र प्याज या लहसुन खाये तो कोई पाप नहीं है, वह संस्कारों के योग्य नहीं है, उसे न तो धर्म-पालन का कोई अधिकार है और न पालने का कोई आदेश ही है। मनु (४।८०) के कुछ वचन वसिष्ठ (१८-१४), विष्णु (७१।४८-५२) से मिलते-जुलते हैं। लघुविष्णु का कहना है कि शूद्र सर्वसंस्कारों से वर्जित जाति है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।६२) के अनुसार शूद्र व्रत कर सकते हैं, किन्तु बिना होम एवं (वैदिक) मन्त्र के। किन्तु अपरार्क उसी श्लोक की व्याख्या में बिलकुल उलटी बात कहते हैं। शूद्रकमलाकर (पृ० ३८) के अनुसार शूद्र व्रत, उपवास, महादान एवं प्रायश्चित्त कर सकते हैं, किन्तु बिना होम एवं जप के। मनु (१०।१२७) के अनुसार शूद्र लोग बिना मन्त्रोच्चारण के द्विजातियों द्वारा किये जानेवाले सभी धार्मिक कृत्य कर सकते हैं। शंख एवं यम के अनुसार बिना मन्त्रोच्चारण के शूद्रों के लिए संस्कार किये जा सकते हैं। व्यास (१।१७) ने शूद्रों के लिए बिना मन्त्रोच्चारण के दस (गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध एवं विवाह) संस्कारों के विषय में विधान लिखा है। यही बात कुछ कम संस्कारों के लिए गौतम (१०।५१) ने भी कही है।

(४) कुछ अपराधों में शूद्रों को अधिक कड़ा दण्ड दिया जाता था। यदि कोई शूद्र उच्च वर्णों की किसी नारी के साथ व्यभिचार करता था तो उसका लिंग काट लिया जाता और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाती थी (गौतम १।२)। यदि कोई शूद्र किसी धरोहर-रूप में रखी स्त्री के साथ व्यभिचार करता था तो उसे प्राण-दण्ड दिया जाता था। वसिष्ठ (२१।१) एवं मनु (८।३६६) ने कहा है कि यदि शूद्र किसी ब्राह्मण नारी के साथ उसके मन के अनुसार या विरुद्ध सम्भोग करे तो उसे प्राण-दण्ड मिलना चाहिए। किन्तु यदि कोई ब्राह्मण किसी ब्राह्मणी के साथ बलात्कार करे तो उस पर एक सहस्र कार्षापण का दण्ड और जब केवल व्यभिचार करे तो ५०० का दण्ड लगता था (मनु ८।३७८)। यदि कोई ब्राह्मण किसी अरक्षित क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नारी से सम्भोग करे तो उस पर ५०० का दण्ड लगता था (८।३८५)। इसी प्रकार किसी ब्राह्मण की भर्त्सना या गाली-गलौज करने पर शूद्र को शारीरिक दण्ड दिया जाता था या उसकी जीभ काट ली जाती थी (मनु ८।२७०), किन्तु इसी अपराध पर क्षत्रिय या वैश्य को १०० या १५० का दण्ड दिया जाता था। यदि ब्राह्मण किसी शूद्र को दुर्वचन कहे तो उस पर केवल १२ कार्षापण का या कुछ नहीं दण्ड लगता था (मनु ८।२६८)। चोरी के मामले में शूद्र पर कुछ कम दण्ड था।

(५) मृत्यु या जन्म होने पर शूद्र को एक महीने का सूतक लगता था। ब्राह्मणों को इस विषय में केवल १० दिनों का सूतक मनाना पड़ता था।

(६) शूद्र न तो न्यायाधीश हो सकता था और न धर्म का उद्घोष ही कर सकता था (मनु ८।९ एवं २०; याज्ञ० १।३ एवं कात्यायन)।

(७) ब्राह्मण किसी शूद्र से दान नहीं ग्रहण कर सकता था। यह हो भी सकता था तो अत्यन्त कड़े नियन्त्रणों के भीतर।

(८) ब्राह्मण उसी शूद्र के यहाँ भोजन कर सकता था जो उसका पशुपाल, हलवाहा या वंशानुक्रम से मित्र हो, या अपना नाई या दास हो (गौतम १६।६; मनु ४।२५३; विष्णु ५७।१६; याज्ञ० १।१६६; पराशर ९।१९)। आपस्तम्ब (१।५।१६।२२) के अनुसार अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया भोजन ब्राह्मण के लिए वर्जित है, किन्तु उन्होंने शूद्रों को तीन उच्च वर्णों के संरक्षण में भोजन बनाने के लिए आज्ञा दी है, किन्तु इस विषय में उनके

नाखून, केश आदि स्वच्छ होने चाहिए। शूद्र द्वारा उपस्थापित भोजन करने या न करने के विषय में मनु के वचन (४।२११ एवं २२३) अवलोकनीय हैं। बौधायनधर्मसूत्र (२।२।१) ने वृषल (शूद्र) के भोजन को ब्राह्मण के लिए वर्जित माना है। पके हुए भोजन के विषय में क्रमशः नियम और कड़े होते चले गये। शंखस्मृति (१३।४) ने शूद्रों के भोजन पर पलते हुए ब्राह्मणों को पंक्तिदूषक कहा है। पराशर (११।१३) ने आदेश दिया है कि ब्राह्मण किसी शूद्र से घी, तेल, दूध, गुड़ या इनसे बनी हुई वस्तुएँ ग्रहण कर सकता है, किन्तु उन्हें वह नदी के किनारे ही खाये, शूद्र के घर में नहीं। पराशरमाधवीय ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि ऐसा तभी सम्भव है जब कि ब्राह्मण यात्रा में हो और थककर चूर हो गया हो या किसी अन्य उच्च वर्ण से कुछ प्राप्त न हो सके (२।१)। हरदत्त (गौतम १६।६) एवं अपरार्क (याज्ञ० १।१६८) ने भी विपत्ति-काल में शूद्र-प्रदत्त भोजन को वर्जित नहीं माना है।

(९) वही शूद्र, जो पहले ब्राह्मण के घर में रसोइया हो सकता था और ब्राह्मण उसका पकाया हुआ भोजन कर सकता था, क्रमशः अछूत होता चला गया। अनुशासनपर्व में आया है कि शूद्र ब्राह्मण की सेवा जलती हुई अग्नि के समान दूर से करे, किन्तु क्षत्रिय एवं वैश्य स्पर्श करके सेवा कर सकते हैं।[६७] शूद्र का स्पर्श हो जाने पर स्नान, आचमन, प्राणायाम, तप आदि से ही शुद्ध हुआ जा सकता था (अपरार्क, पृ० ११९६)। गृह्यसूत्रों में आया है कि मधुपर्क देते समय अतिथि के पैर को (भले ही वह स्नातक ब्राह्मण ही क्यों न हो) शूद्र पुरुष या नारी धो सकती है (हिरण्यकेशिगृह्य० १।१२।१८-२०)। लगता है, गृह्यसूत्रों के काल में बन्धन बहुत कड़े नहीं थे। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।९-१०) में भी यही बात पायी जाती है।

(१०) शूद्र चारों आश्रमों में केवल गृहस्थाश्रम ही ग्रहण कर सकता है, क्योंकि उसके लिए वेदाध्ययन वर्जित है (अनुशासनपर्व १६५।१०)। शान्तिपर्व (६३।१२-१४) में आया है कि जिस शूद्र ने (उच्च वर्णों की) सेवा की है, जिसने अपना धर्म निबाहा है, जिसे सन्तान उत्पन्न हुई है, जिसका जीवन अल्प रह गया है या जो दसवें स्तर में अर्थात् ९० वर्ष से ऊपर अवस्था का हो गया है, वह चौथे आश्रम को छोड़कर सभी आश्रमों का फल प्राप्त कर सकता है।[६८] मेधातिथि ने मनु (६।९७) की व्याख्या में इन शब्दों की विवेचना की है और कहा है कि शूद्र ब्राह्मण की सेवा कर एवं गृहस्थाश्रम में रहते हुए सन्तानोत्पत्ति करके मोक्ष को छोड़कर सभी कुछ प्राप्त कर सकता है।

(११) शूद्र-जीवन क्षुद्र समझा जाता था। याज्ञवल्क्य (३।२३६) एवं मनु (११।६६)) ने स्त्री, शूद्र, वैश्य एवं क्षत्रिय को मार डालना उपपातक माना है, किन्तु इसके लिए जो प्रायश्चित्त एवं दान की व्यवस्था बतायी गयी है, उससे स्पष्ट है कि शूद्र-जीवन नगण्य-सा था। क्षत्रिय को मारने पर प्रायश्चित्त था छः वर्ष का ब्रह्मचर्य, १००० गायों एवं एक बैल का दान। वैश्य को मारने पर तीन वर्ष का ब्रह्मचर्य, १०० गायों एवं एक बैल का दान था, किन्तु शूद्र को मारने पर प्रायश्चित्त था केवल एक वर्ष का ब्रह्मचर्य एवं १० गायों तथा एक बैल का दान। यही बात गौतम (२२।१४-१६), मनु (११।१२६-१३०) एवं याज्ञवल्क्य (३।२६६-२६७) में भी पायी

६७. दूराच्छूद्रेणोपचर्यो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्। संस्पृश्य परिचर्यस्तु वैश्येन क्षत्रियेण च॥ अनुशासनपर्व ५९।३३।

६८. शुश्रूषोः कृतकार्यस्य कृतसन्तानकर्मणः। अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते॥ अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा। आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्॥ शान्तिपर्व ६३।१२-१४; सर्वे आश्रमास्तु न कर्तव्याः किं तर्हि शुश्रूषयापत्योत्पादनेन च सर्वाश्रमफलं लभते द्विजातीन् शुश्रूषमाणो गार्हस्थ्येन सर्वाश्रमफलं लभते परिव्राजक-फलं मोक्षं वर्जयित्वा। मेधातिथि (मनु ६।९७)।

जाती है। आपस्तम्ब (१।९।२५।१४ एवं १।९।२६।१) ने तो यहाँ तक कहा है कि शूद्र को मार डालने पर इतना ही पातक लगता है जितना कि एक कौआ, सरट (गिरगिट), मोर, चक्रवाक, मराल (राजहंस), भास, मेढक, नकुल (नेवला), गंधमूषक (छछुन्दर), कुत्ता आदि को मार डालने से होता है (मनु ११।१३१)।

यदि शूद्रों की बहुत-सी अयोग्यताएँ थीं तो उन्हें बहुत-सी सुविधाएँ भी दी गयी थीं। कोई भी शूद्र ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के कुछ व्यवसायों को छोड़कर कोई भी व्यवसाय कर सकता था। किन्तु कुछ शूद्र तो राजा भी हुए हैं और कौटिल्य (९।२) ने शूद्रों की सेना के बारे में लिखा है। शूद्र प्रति दिन की अनगिनत क्रियाओं से स्वतन्त्र था। वह विवाह को छोड़कर अन्य संस्कारों के झंझट से दूर था। वह कुछ भी खा-पी सकता था। उसके लिए गोत्र एवं प्रवर का झंझट नहीं था, और न उसे शास्त्र के विरोध में जाने पर कोई जप या तप करना पड़ता था।

अध्याय ४

अस्पृश्यता

भारतीय जाति-व्यवस्था पर लिखनेवाले लेखकों को भारतीय समाजविषयक अस्पृश्यता नामक व्यवस्था के अवलोकन से महान् आश्चर्य होता है। किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि यह बात केवल भारत में ही नहीं पायी गयी है, प्रत्युत इसका परिदर्शन अन्य महाद्वीपों, विशेषतः अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका में भी होता है। आज की अमेरिकी नीग्रो जाति भारतीय अस्पृश्य जाति से भी कई गुनी असह्य अयोग्यताओं एवं नियन्त्रणों से घिरी हुई है।

स्मृतियों में वर्णित अन्त्यजों के नाम आरम्भिक वैदिक साहित्य में भी आये हैं। ऋग्वेद (८।५।३८) में चर्मम्न (खाल या चाम शोधने वाले) एवं वाजसनेयी संहिता में चाण्डाल एवं पौल्कस नाम आये हैं। वप या वप्ता (नाई) शब्द ऋग्वेद में आ चुका है। इसी प्रकार वाजसनेयी संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में विदल-कार या बिडलकार (स्मृतियों में वर्णित बुरुड) शब्द आया है। वाजसनेयी संहिता का वासस्पल्पूली (धोबिन) स्मृतियों के रजक शब्द का ही द्योतक है। किन्तु इन वैदिक शब्दों एवं नामों से कहीं भी यह संकेत नहीं मिलता कि ये अस्पृश्य जातियों के द्योतक हैं। केवल इतना भर ही कहा जा सकता है कि पौल्कस का सम्बन्ध बीभत्सा (वाजसनेयी संहिता ३०।१७) से एवं चाण्डाल का वायु (पुरुषमेध) से था, और पौल्कस इस ढंग से रहते थे कि उनसे घृणा उत्पन्न होती थी तथा चाण्डाल वायु (सम्भवतः श्मशान के खुले मैदान) में रहते थे। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।७) में चाण्डाल की चर्चा है और वह तीन उच्च वर्णों की अपेक्षा सामाजिक स्थिति में अति निम्न था, ऐसा भान होता है। सम्भवतः चाण्डाल छान्दोग्य के काल में शूद्र जाति की निम्नतम शाखाओं में परिगणित था। वह कुत्ते एवं सूअर के सदृश कहा गया है। शतपथब्राह्मण (१२।४।१।४) में यज्ञ के सम्बन्ध में तीन पशु अर्थात् कुत्ते, सूअर एवं भेड़ अपवित्र माने गये हैं। यहाँ पर उसी सूअर की ओर संकेत है, जो गाँव का मल आदि खाता है, क्योंकि मनु (३।२७०) एवं याज्ञवल्क्य (१।२५९) की स्मृतियों से हमें इस बात का पता चलता है कि श्राद्ध में सूअर का मांस पितर लोग बड़े चाव से खाते हैं। अतः उपनिषद् वाले चाण्डाल को हम अस्पृश्य नहीं मान सकते। कुछ कट्टर हिन्दू वैदिक काल में भी चाण्डाल को अस्पृश्य ठहराते हैं और बृहदारण्यकोपनिषद् (१।३) की गाथा का हवाला देते हैं। किन्तु इस गाथा से यह नहीं स्पष्ट किया जा सकता कि चाण्डाल अस्पृश्य थे। म्लेच्छों की भाँति वे "दिशाम् अन्तः" नहीं थे, अर्थात् आर्य जाति की भूमि से बाहर नहीं थे।

अब हम सूत्रों एवं स्मृतियों के साक्षियों का अवलोकन करें। आरम्भिक स्मृतियों का कहना है कि वर्ण केवल चार हैं, पाँच नहीं (मनु १०।४; अनुशासनपर्व ४७।१८)।[1] अतः जब आज कुछ लोग जो पंचमों अर्थात् निषादों, चाण्डालों एवं पौल्कसों की बात करते हैं तो वह स्मृतिसम्मत नहीं है। पाणिनि (२।४।१०) एवं पतञ्जलि से

१. चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः। मनु १०।४; स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते। अनुशासनपर्व ४७।१८।

ज्ञात होता है कि वे चाण्डालों एवं मृतपों को शूद्रों में गिनते थे। मनु (१०।४१) ने घोषणा की है कि सभी प्रतिलोम संतान शूद्र हैं (देखिए शान्तिपर्व १९७।२८ भी)। क्रमशः शूद्रों एवं चाण्डाल आदि जातियों में अन्तर पड़ता गया।

अस्पृश्यता केवल जन्म से ही नहीं उत्पन्न होती, इसके उद्गम के कई स्रोत हैं। भयंकर पापों अर्थात् दुष्कर्मों से लोग जातिनिष्कासित एवं अस्पृश्य हो जा सकते हैं। मनु (९।२३५-२३९) ने लिखा है कि ब्रह्महत्या करनेवाले, ब्राह्मण के सोने की चोरी करनेवाले या सुरापान करनेवाले लोगों को जाति से बाहर कर देना चाहिए, न तो कोई उनके साथ खाये, न उन्हें स्पर्श करे, न उनकी पुरोहिती करे और न उनके साथ कोई विवाह-सम्बन्ध स्थापित करे, वे लोग वैदिक धर्म से विहीन होकर संसार में विचरण करें। अस्पृश्यता उत्पन्न होने का दूसरा स्रोत है धर्म-सम्बन्धी घृणा एवं विद्वेष, जैसा कि अपरार्क (पृ० ९२३) एवं स्मृतिचन्द्रिका (पृ० ११८) ने षट्त्रिंशन्मत एवं ब्रह्माण्डपुराण से उद्धरण लेकर कहा है—"बौद्धों, पाशुपतों, जैनों, लोकायतों, कापिलों (सांख्यों), धर्मच्युत ब्राह्मणों, शैवों एवं नास्तिकों को छूने पर वस्त्र के साथ पानी में स्नान कर लेना चाहिए।" ऐसा ही अपरार्क ने भी कहा है।[2] अस्पृश्यता उत्पन्न होने का तीसरा कारण है कुछ लोगों का, जो साधारणतः अस्पृश्य नहीं हो सकते थे, कुछ विशेष व्यवसायों का पालन करना, यथा देवलक (जो धन के लिए तीन वर्ष तक मूर्ति पूजा करता है), ग्राम के पुरोहित, सोमलता विक्रयकर्ता को स्पर्श करने से वस्त्र-परिधान सहित स्नान करना पड़ता था।[3] चौथा कारण हैं कुछ परिस्थितियों में पड़ जाना, यथा रजस्वला स्त्री के स्पर्श, पुत्रोत्पन्न होने के दस दिन की अवधि में स्पर्श, सूतक में स्पर्श, शवस्पर्श आदि में वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता था (मनु ५।८५)। अस्पृश्यता का पाँचवाँ कारण है म्लेच्छ या कुछ विशिष्ट देशों का निवासी होना। इसके अतिरिक्त स्मृतियों के अनुसार कुछ ऐसे व्यक्ति जो गन्दा व्यवसाय करते थे, अस्पृश्य माने जाते थे, यथा कैवर्त (मछुआ), मृगयु (मृग मारनेवाला), व्याध (शिकारी), सौनिक (कसाई), शाकुनिक (पक्षी पकड़ने वाला या बहेलिया), धोबी, जिन्हें छूने पर स्नान करके ही भोजन किया जा सकता था।[4]

अस्पृश्यता-सम्बन्धी जो विधान बने थे, वे किसी जाति-सम्बन्धी विद्वेष के प्रतिफल नहीं थे, प्रत्युत उनके पीछे मनोवैज्ञानिक या धार्मिक धारणाएँ एवं स्वस्थता-सम्बन्धी विचार थे, जो मोक्ष के लिए परम आवश्यक माने गये थे, क्योंकि अन्तिम छुटकारे (मोक्ष) के लिए शरीर एवं मन से पवित्र एवं स्वच्छ होना अनिवार्य था। आपस्तम्ब (१।५।१५।१६), वसिष्ठ (२३।३३), विष्णु (२२।६९) एवं वृद्धहारीत (११।९९-१०२) ने कुत्ते के स्पर्श

२. षट्त्रिंशन्मतात्—बौद्धान् पाशुपतांश्चैव लोकायतिकनास्तिकान्। विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत्॥ अपरार्क, पृ० ९२३, स्मृतिच० १, पृ० ११८; मिता० (याज्ञ० ३।३०) ने ब्रह्माण्डपुराण से उद्धृत किया है, देखिए वृद्धहारीत ९।३५९, ३६३, ३६४; शान्तिपर्व ७६।६, आह्वायका देवलका नाक्षत्रा ग्रामयाजकाः। एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः॥ चण्डालपुक्कसम्लेच्छभिल्लपारसिकादिकम्। महापातकिनश्चैव स्पृष्ट्वा स्नायात्सचैलकम्॥ वृद्धयाज्ञवल्क्य (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० ९२३)।

३. च्यवनः—श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनं ग्रामयाजकं सोमविक्रयिणं यूपं चितिं चितिकाष्ठं.... शवस्पृशं रजस्वलां महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलमम्भो वगाह्योत्तीर्याग्निमुपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेद् घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिराचामेत्। मिताक्षरा, याज्ञ० ३।३० एवं अपरार्क, पृ० ९२३।

४. कैवर्तमृगयुव्याधसौनिशाकुनिकानपि। रजकं च तथा स्पृष्ट्वा स्नात्वाशनमाचरेत्॥ संवर्त (अपरार्क, पृ० ११९६)।

तथा कुछ वनस्पतियों या ओषधियों के स्पर्श पर स्नान की व्यवस्था बतायी है। आपस्तम्ब (२।४।९।५) ने लिखा है कि वैश्वदेव के उपरान्त प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि वह चाण्डालों, कुत्तों एवं कौओं को भोजन दे। यह बात आज भी वैश्वदेव की समाप्ति के उपरान्त पायी जाती है। प्राचीन हिन्दू लोग अस्वच्छता से भयाकुल रहा करते थे, अतः कुछ व्यवसायों को, यथा झाड़ू देने, चर्मशोधन, श्मशान-रक्षा आदि को बुरे एवं अस्वच्छ व्यवसायों में गिनते थे। इस प्रकार का पृथक्त्व बुरा नहीं माना जा सकता। अस्पृश्यता के भीतर जो मान्यता एवं धारणा पायी जाती है, वह मात्र धार्मिक एवं क्रिया-संस्कार-सम्बन्धी है। हिन्दू के घर में मासिक-धर्म के समय माता, बेटी, बहिन, स्त्री, पतोहू आदि सभी अस्पृश्य मानी जाती हैं। सूतक के समय अपना परम प्रिय मित्र भी अस्पृश्य माना जाता है। एक व्यक्ति अपने पुत्र को भी, जिसका यज्ञोपवीत न किया गया हो, भोजन करने के समय स्पर्श नहीं करता। प्राचीन काल में बहुत-से व्यवसाय वंशानुक्रमिक थे, अतः क्रमशः यह विचार ही घर करता चला गया कि वे लोग, जो ऐसी जाति के होते हैं जो गन्दा व्यवसाय करती है, जन्म से ही अस्पृश्य हैं। आज तो स्थिति यहाँ तक आ गयी है कि चाहे कुछ जातियों के लोग गन्दा व्यवसाय करें या न करें, जन्म से ही अस्पृश्य माने जाते हैं। आश्चर्य है! किन्तु पहले यह बात नहीं थी। आदि काल में व्यवसाय से लोग स्पृश्य या अस्पृश्य माने जाते थे। यह बात कुछ सीमा तक मध्य काल में भी पायी जाती थी, क्योंकि स्मृतिकारों में इस विषय में मतैक्य नहीं पाया जाता। प्राचीन धर्मसूत्रों ने केवल चाण्डाल को ही अस्पृश्य माना है। गौतम (४।१५ एवं २३) ने लिखा है कि चाण्डाल ब्राह्मणी से शूद्र द्वारा उत्पन्न सन्तान है अतः वह प्रतिलोमों में अत्यन्त गर्हित प्रतिलोम है। आपस्तम्ब (२।१।२।८-९) ने लिखा है कि चाण्डालस्पर्श पर सवस्त्र स्नान करना चाहिए, चाण्डाल-संभाषण पर ब्राह्मण से बात कर लेनी चाहिए, चाण्डाल-दर्शन पर सूर्य या चन्द्र या तारों को देख लेना चाहिए।[५] मनु (१०।३६ एवं ५१) ने केवल अन्ध्र, मेद, चाण्डाल एवं श्वपच को गाँव के बाहर तथा अन्त्यावसायी को श्मशान में रहने को कहा है। इससे स्पष्ट है कि अन्य हीन जातियाँ गाँव में रह सकती थीं। अपरार्क द्वारा उद्धृत हारीत का वचन यों है—यदि किसी द्विजाति का कोई अंग (सिर को छोड़कर) रंगरेज, मोची, शिकारी, मछुआ, धोबी, कसाई, नट, अभिनेता जाति के किसी व्यक्ति, तेली, कलवार (सुराजीवी), जल्लाद, ग्राम्य सूकर या मुरगा, कुत्ता से छू जाय तो उसे उस अंग को धोकर एवं जलाचमन करके पवित्र कर लेना चाहिए। मनु (१०।१३) की व्याख्या में मेधातिथि का स्पष्ट कहना है कि प्रतिलोमों में केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य है, अन्य प्रतिलोमों, यथा सूत, मागध, आयोगव, वैदेहक एवं क्षत्ता के स्पर्श से स्नान करना आवश्यक नहीं। यही बात कुल्लूक में भी पायी जाती है। मनु (५।८५) एवं अंगिरा (१५२) ने दिवाकीर्ति (चाण्डाल), उदक्या (रजस्वला), पतित (पाप करने पर जो निष्कासित हो गया हो या कुजाति में आ गया हो), सूतिका (पुत्रोत्पत्ति करने पर नारी), शव और शव को छू लेनेवाले को छूने पर स्नान की व्यवस्था दी है। अतः मनु के मत से केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य है। किन्तु कालान्तर में अस्पृश्यता ने कुछ अन्य जातियों को भी स्पर्श कर लिया। कुछ कट्टर स्मृतिकारों ने तो यहाँ तक लिख दिया कि शूद्र के स्पर्श से द्विजों को स्नान कर लेना चाहिए।

'अस्पृश्य' शब्द का प्रयोग विष्णुधर्मसूत्र (१०४) एवं कात्यायन ने किया है। चाण्डालों, म्लेच्छों, पारसीकों को अस्पृश्यों की श्रेणी में रखा गया है, यह बात उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गयी होगी। अत्रि (२६७-२६९) ने लिखा है कि यदि द्विज चाण्डाल, पतित, म्लेच्छ, सुरापात्र, रजस्वला को स्पर्श कर ले तो (उसे बिना स्नान किये) भोजन

५. यथा चाण्डालोपस्पर्शने संभाषायां दर्शने च दोषस्तत्र प्रायश्चित्तम्। अवगाहनमपामुपस्पर्शने संभाषायां ब्राह्मणसम्भाषणं दर्शने ज्योतिषां दर्शनम्। आपस्तम्ब २।१।२।८-९।

नहीं करना चाहिए, यदि भोजन करते समय स्पर्श हो जाय तो भोजन करना बन्द कर देना चाहिए और भोजन को फेंककर स्नान कर लेना चाहिए।[६] बात करने के विषय में विष्णुधर्मसूत्र (२२ एवं ७६) को देखिए। आजकल अन्त्यजों में म्लेच्छों, धोबियों, बाँस का काम करने वालों (घरकारों), मल्लाहों, नटों को कुछ प्रान्तों में अस्पृश्य नहीं माना जाता। यही बात मेधातिथि एवं कुल्लूक के समय में पायी जाती थी।

विभेद की भावना एवं संस्कारोचित पवित्रता की धारणा ने अन्त्यजों एवं कुछ हीन जातियों को अस्पृश्य बना डाला। प्राचीन स्मृतियों से यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि चाण्डालों की छाया अपवित्र मानी जाती रही है। मनु और विष्णुधर्मसूत्र (२३।५२) ने लिखा है कि मक्खियों, हौज़ की बूंदों, (मनुष्य की) छाया, गाय, अश्व, सूर्यकिरण, धूल, पृथिवी, हवा एवं अग्नि को पवित्र मानना चाहिए। याज्ञवल्क्य (१।९३) एवं मार्कण्डेयपुराण (३५।२१) में भी यही बात पायी जाती है। मनु (४।१३०) ने लिखा है कि किसी देवता, अपने गुरु, राजा, स्नातक, अपने अध्यापक, भूरी गाय, वेदाध्यायी की छाया को जान-बूझकर पार नहीं करना चाहिए। यहाँ पर चाण्डाल की छाया की कोई चर्चा नहीं हुई है। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने यह नहीं लिखा है कि चाण्डाल की छाया अपवित्र है। अपरार्क ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ यह है कि चाण्डाल या पतित की छाया अपवित्र नहीं है। आगे चलकर क्रमशः कुछ स्मृतियों ने चाण्डाल की छाया को अपवित्र मान लिया और ब्राह्मण को छाया-स्पर्श से स्नान करना आवश्यक माना गया। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३०) ने व्याघ्रपाद का श्लोक उद्धृत किया है, जिसका अर्थ है कि यदि चाण्डाल या पतित गाय की पूँछ के बराबर की दूरी पर आ जायँ तो हमें स्नान करना चाहिए। कुछ ऐसी ही बात बृहस्पति ने भी कही है।[७]

याज्ञवल्क्य (१।१९४) ने लिखा है कि यदि सड़क पर चाण्डाल चले तो वह चन्द्र तथा सूर्य की किरणों एवं हवा से पवित्र हो जाती है। उन्होंने (१।१९७) पुनः लिखा है कि यदि जनमार्ग या कच्चे मकान पर चाण्डाल, कुत्ते एवं कौए आ जायँ तो उसकी मिट्टी एवं जल हवा के स्पर्श से पवित्र हो जायँगे। इस प्रकार के नियमों से स्पष्ट है कि स्मृतियों के जनमार्ग-सम्बन्धी प्रतिबन्ध तर्कयुक्त ही हैं, मलावार के ब्राह्मणों तथा दक्षिण भारत के कुछ स्थानों की भाँति वे कठोर नहीं हैं। मलावार में उच्च वर्णों एवं अस्पृश्यों के पृथक्-पृथक् मार्ग रहे हैं।

स्मृतिकारों ने कुछ जातियों की अस्पृश्यता के विषय में सामान्य नियमों में अपवाद भी बताये हैं। अत्रि (२४९) ने लिखा है कि मन्दिर, देवयात्रा, विवाह, यज्ञ एवं सभी उत्सवों में किसी अस्पृश्य का स्पर्श अस्पृश्यता का द्योतक नहीं हो सकता। यही बात शातातप, बृहस्पति आदि ने भी कही है।[८] स्मृत्यर्थसार ने उन स्थानों के नाम गिनाये

६. चाण्डालं पतितं म्लेच्छं मद्यभाण्डं रजस्वलाम्। द्विजः स्पृष्ट्वा न भुञ्जीत भुञ्जानो यदि संस्पृशेत्। अतः परं न भुञ्जीत त्यक्त्वान्नं स्नानमाचरेत्॥ अत्रि २६७-२६९ (आनन्दाश्रम संस्करण)।

७. यस्तु छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति। तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुध्यति॥ अत्रि २८८-२८९, अंगिरा, याज्ञ० ३।३० में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत, अपरार्क, पृष्ठ ९२३; अपरार्क (पृ० ११९५) ने ऐसा श्लोक शातातप का कहा है। औशनसस्मृति ने भी यही बात कही है। युगं च द्वियुगं चैव त्रियुगं च चतुर्युगम्। चण्डालसूतिकोदक्यापतितानामधः क्रमात्॥ बृहस्पति (याज्ञ० ३।३० पर मिताक्षरा की व्याख्या में उद्धृत); सूतिकापतितोदक्याश्चण्डालश्च चतुर्थकः। यथाक्रमं परिहरेदेकद्वित्रिचतुर्थकम्॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृष्ठ १७ में उद्धृत)।

८. देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च। उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते॥ अत्रि २४९। ग्रामे तु यत्र संस्पृष्टिर्यात्रायां कलहादिषु। ग्रामसन्दूषणे चैव स्पृष्टिदोषो न विद्यते॥ शातातप (स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० ११९ में उद्धृत)।

हैं जहाँ छुआछूत का कोई भेद नहीं माना जाता—संग्राम में, हाट (बाजार) के मार्ग में, धार्मिक जुलूसों, मन्दिरों, उत्सवों, यज्ञों, पूत स्थलों, आपत्तियों में, ग्राम या देश पर आक्रमण होने पर, बड़े जलाशय के किनारे, महान् पुरुषों की उपस्थिति में, अचानक अग्नि लग जाने पर या महान् विपत्ति पड़ने पर स्पर्शास्पर्श पर ध्यान नहीं दिया जाता।[९] स्मृत्यर्थसार ने अस्पृश्यों द्वारा मन्दिर-प्रवेश की बात भी लिखी है, यह आश्चर्य का विषय है।

विष्णुधर्मसूत्र (५।१०४) के अनुसार तीन उच्च वर्णों का स्पर्श करने पर अस्पृश्य को पीटे जाने का दण्ड मिलता था। किन्तु याज्ञवल्क्य (२।२३४) ने चाण्डाल द्वारा ऐसा किये जाने पर केवल १०० पण के दण्ड की व्यवस्था दी है। अस्पृश्यों के कुओं या बरतनों में पानी पीने पर, उनका दिया हुआ पका-पकाया या बिना पकाया हुआ भोजन ग्रहण करने पर, उनके साथ रहने पर या अछूत नारी के साथ संभोग करने पर शुद्धि और प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी गयी है, जिसे हम प्रायश्चित्त के प्रकरण में पढ़ेंगे।

तथाकथित अछूत लोग पूजा कर सकते थे। जब यह कहा जाता है कि प्रतिलोम लोग धर्महीन हैं (याज्ञ० १।९३, गौतम ४।१०) तो इसका तात्पर्य यह है कि वे उपनयन आदि वैदिक क्रिया-संस्कार नहीं कर सकते; वास्तव में वे देवताओं की पूजा कर सकते थे। निर्णयसिन्धु द्वारा उद्धृत देवीपुराण के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि अन्त्यज लोग भैरव का मन्दिर बना सकते थे। भागवत पुराण (१०।७०) में आया है कि अन्त्यावसायी लोग हरि के नाम या स्तुतियों को सुनकर उनके नाम का कीर्तनकर, उनका ध्यान कर पवित्र हो सकते हैं, किन्तु जो उनकी मूर्तियों को देखें या स्पर्श करें वे अपेक्षाकृत अधिक पवित्र हो सकते हैं। दक्षिण भारत में आलवार वैष्णव सन्तों में तिरुप्पाण आलवार अछूत जाति के थे और नम्मालवार तो वेल्लाल थे। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।१६२) ने लिखा है कि प्रतिलोम जातियाँ (जिनमें चाण्डाल भी सम्मिलित हैं) व्रत कर सकती हैं।[१०]

स्वतन्त्र भारत में अन्य सामाजिक प्रश्नों एवं समस्याओं के समाधान के साथ अस्पृश्यता के प्रश्न का भी समाधान होता जा रहा है। महात्मा गान्धी के प्रयत्नों के फलस्वरूप हरिजनों को राजनीतिक सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं। आज उन्हें बहुत बढ़ावा दिया जाने लगा है। राजकीय कानूनों के बल पर हरिजन लोग मन्दिर-प्रवेश भी कर रहे हैं। आशा की जाती है कि कुछ वर्षों में अस्पृश्यता नामक कलंक भारत देश से मिट जायगा।

९. संग्रामे हट्टमार्गे च यात्रादेवगृहेषु च। उत्सवक्रतुतीर्थेषु विप्लवे ग्रामदेशयोः॥ महाजलसमीपेषु महाजनवरेषु च। अग्न्युत्पाते महापत्सु स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति॥ प्राप्यकारीन्द्रियं स्पष्टमस्पृष्टि त्वितरेन्द्रियम्। तयोश्च विषयं प्राहुः स्पृष्टास्पृष्ट्यभिधानतः॥ स्मृत्यर्थसार, पृ० ७९।

१०. अतः स्त्रीशूद्रयोः प्रतिलोमजानां च त्रैवर्णिकवद् व्रताधिकार इति सिद्धम्। यत्तु गौतमवचनं प्रतिलोमा धर्महीना इति, तदुपनयनादिविशिष्टधर्माभिप्रायम्। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ३।२६२)।

अध्याय ५

दासप्रथा

पुराकालीन सभी देशों और तथाकथित उन्नत एवं सभ्य राष्ट्रों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में दासप्रथा या गुलामी एक स्थायी प्रथा के रूप से प्रचलित थी। बेबीलोन, मिस्र, यूनान, रोम तथा अन्य यूरोपीय राष्ट्रों में दासत्व पाया जाता था।[1] इंग्लैण्ड एवं संयुक्त राज्य अमेरिका ने दासों के व्यापार में अमानुषिकता का जघन्य उदाहरण उपस्थित कर दिया। इतिहास, समाज-शास्त्र, आचार-शास्त्र, मानव-शास्त्र आदि सामाजिक विषयों के विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है कि अपने को अति सभ्य कहनेवाले ईसाई देश इंग्लैण्ड एवं अमेरिका ने दासों के व्यापार द्वारा मानवता का हनन युगों तक किया। वे बड़ी नृशंसता के साथ अफ्रीका के मूल निवासियों को जहाजों में भर-भरकर यत्र-तत्र ले गये और खानों एवं खेतों में काम करने के लिए उनका क्रय-विक्रय किया। अधिकांश वे जलमार्ग में ही मर जाते थे और जो बचते उनको पशुओं के समान रखा जाता था। आधुनिक युग में दासता का यह उदाहरण सभ्य मानवता का कलंक है। आश्चर्य तो यह है कि दासत्व की इस प्रथा पर मसीह के धर्मावलम्बी राष्ट्रों ने राजकीय मुहर दे डाली और परम आश्चर्य यह है कि कृपालु एवं करुण भावप्रेरित ईसाई धर्म के बहुत-से ठेकेदारों ने, जिनमें कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट दोनों सम्मिलित थे, इस प्रथा को मान्यता दी![2] ब्रिटिश राज्य में सन् १८३३ में तथा ब्रिटिश भारत में सन् १८४३ में दासप्रथा के विरुद्ध नियम स्वीकृत हुए।

हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि ऋग्वेद का 'दास' शब्द आर्यों के शत्रुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह सम्भव है कि जब दास लोग पराजित होकर बन्दी हो गये तो वे गुलाम के रूप में परिणत हो गये। ऋग्वेद के कई मन्त्रों में दासत्व की झलक मिलती है; "तू ने मुझे एक सौ गधों, एक सौ ऊन वाली भेड़ों और एक सौ दासों की भेट

१. प्राक्कालीन लोगों द्वारा दासत्व (गुलामी की प्रथा) जीवन का एक स्थिर एवं स्वीकृत तत्त्व माना जाता था और तब इसमें कोई नैतिक समस्या नहीं उलझी हुई थी। बेबीलोन क्षेत्र की सुमेर संस्कृति में दासता एक स्वीकृत संस्था मानी जाती थी, जैसा कि ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी के सुमेर-विधान से पता चलता है। देखिए, इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, भाग १४, पृ० ७४।

२. "This system of slavery, which at least in the British Colonies and slave states surpassed in cruelty the slavery of any pagan country ancient and modern, was not only recognised by Christian Governments, but was supported by the large bulk of the clergy, Catholic and Protestant alike." Vide "Origin and Development of the moral ideas" Vol. I, p. 711 (1912) by Westermarck.

दी" (ऋ० ८।५६।३)। इस प्रकार कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[3] तैत्तिरीय संहिता (२।२।६।३; ७।५।१०।१) एवं उपनिषदों में भी दासियों की चर्चा है।[4] ऐतरेय ब्राह्मण (३९।८) में आया है कि एक राजा ने राज्याभिषेक करानेवाले पुरोहित को १०,००० दासियाँ एवं १०,००० हाथी दिये। कठोपनिषद् (१।१।२५) में भी दासियों की चर्चा है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२३) में आया है कि जनक ने याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या सीख लेने के पश्चात् उनसे कहा कि "मैं विदेहों के साथ अपने को आप के लिए दास होने के हेतु दान-स्वरूप दे रहा हूँ।" छान्दोग्योपनिषद् में आया है—"इस संसार में लोग गायों एवं घोड़ों, हाथियों एवं सोने, पत्नियों एवं दासियों, खेतों एवं घरों को महिमा कहते हैं (७।२४।२)।" इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के ५।१३।२ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के ६।२।७ में भी दासियों की चर्चा है। इन चर्चाओं से पता चलता है कि वैदिक काल में पुरुष एवं नारियों का दान हुआ करता था और भेटस्वरूप दिये गये लोग दास माने जाते थे।

यद्यपि मनु (१।९१ एवं ८।४१३ एवं ४१४) ने आदेशित किया है कि शूद्रों का मुख्य कर्तव्य है उच्च वर्णों की सेवा करना, किन्तु इससे यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि शूद्र दास हैं। जैमिनि (६।७।६) ने शूद्र के दान की आज्ञा नहीं दी है।

गृह्यसूत्रों में माननीय अतिथियों के चरण धोने के लिए दासों के प्रयोग की चर्चा हुई है, किन्तु स्वामी को दासों के साथ मानवीय व्यवहार करने का आदेश दिया गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।११) में आया है कि अचानक अतिथि के आ जाने पर अपने को, स्त्री या पुत्र को भूखा रखा जा सकता है, किन्तु उस दास को नहीं, जो सेवा करता है। महाभारत में दासों एवं दासियों के दान की प्रभूत चर्चा हुई है (सभापर्व ५२।४५; वनपर्व २३३।४३ एवं विराटपर्व १८।२१ में ८८००० स्नातकों में प्रत्येक स्नातक के लिए ३० दासियों के दान की चर्चा है)। वैन्य ने अत्रि को एक सहस्र सुन्दर दासियाँ दीं (वनपर्व १८५।३४; द्रोणपर्व ५७।५-९)। मनु (८।२९९-३००) ने शारीरिक दण्ड की व्यवस्था में दास एवं पुत्र को एक ही श्रेणी में रखा है।

मेगस्थनीज ने दासत्व के विषय में चर्चा नहीं की है। वह अपने देश यूनान के दासों से भली भाँति परिचित था, अतः यदि भारत में उन दिनों, अर्थात् ईसापूर्व चौथी शताब्दी में, दासों की बहुलता होती तो वह भारतीय दासों की चर्चा अवश्य करता। उसने लिखा है कि भारतीय दास नहीं रखते (देखिए मैक्रिंडिल, पृ० ७१ एवं स्ट्रैबो १५।१।५४)। किन्तु उन दिनों दास थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अशोक ने अपने नवें शिलाभिलेख के प्रज्ञापन में दासों एवं नौकरों की स्पष्ट चर्चा की है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (३।१३) में दासों की महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं के

३. शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम्। शतं दासाँ अति स्रजः॥ ऋ० ८।५६।३; यो मे हिरण्यसन्दृशो दश राज्ञो अमंहत। अधस्पदा इच्चैद्यस्य कृष्टयश्चर्मम्ना अभितो जनाः॥ ऋ० ८।५।३८; अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्। ऋ० ८।१९।३६।

४. उदकुम्भानधिनिधाय दास्यो मार्जालीयं परिनृत्यन्ति पदो निघ्नतीरिदं मधु गायन्त्यो मधु वै देवानां परममन्नाद्यम्। तै० सं० ७।५।१०।१; आत्मनो वा एष मात्रामाप्नोति यो उभयादत्प्रतिगृह्णात्यश्वं वा पुरुषं वा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेदुभयादत्प्रतिगृह्य। तै० सं० २।२।६।३; सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्याय। बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२३; गो-अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। छान्दोग्योपनिषद् ७।२४।२।

विषय में वर्णन है।[५] कौटिल्य ने कई प्रकार के दासों का वर्णन किया है, यथा—ध्वजाहृत (युद्ध में बन्दी), आत्म-विक्रयी (अपने को बेचनेवाला), उदरदास (या गर्भदास, जो दास द्वारा दासी से उत्पन्न हो), आहितिक (ऋण के) कारण बना हुआ), दण्डप्रणित (राजदण्ड के कारण)। मनु ने सात प्रकार के दासों का वर्णन किया है, यथा—(१) युद्धबन्दी, (२) भोजन के लिए बना हुआ, (३) दासीपुत्र, (४) खरीदा हुआ, (५) माता या पिता द्वारा दिया हुआ, (६) वसीयत में प्राप्त, (७) राजदण्ड भुगतान के लिए बना हुआ (मनु ८।४१५)।

नारद (अभ्युपेत्याशुश्रूषा) एवं कात्यायन ने दासत्व के विषय में विस्तार के साथ लिखा है। नारद ने शुश्रूषक (जो दूसरे की सेवा करता है) को पाँच वर्गों में बाँटा है—(१) वैदिक छात्र, (२) अन्तेवासी (नवसिखुवा), (३) अधिकर्मकृत् (मेट या काम करनेवालों को देखनेवाला), (४) भृतक (नौकर, वेतन पर काम करनेवाला) एवं (५) दास। इनमें प्रथम चार को कर्मकर कहा जाता था और वे सभी पवित्र कामों को करने के लिए बुलाये जाते थे। किन्तु दासों को सभी प्रकार के कार्य करने पड़ते थे, यथा घर बुहारना, गन्दे गड्ढों, मार्ग, गोबर-स्थलों को स्वच्छ करना, गुप्तांगों को खुजलाना या स्पर्श करना, मलमूत्र फेंकना आदि (श्लोक ६।७)। नारद ने दासों के १५ प्रकार बताये हैं, यथा (१) घर में उत्पन्न, (२) खरीदा हुआ, (३) दान या किसी अन्य प्रकार से प्राप्त, (४) वसीयत में प्राप्त, (५) अकाल में रक्षित, (६) किसी अन्य स्वामी द्वारा प्रतिश्रुत, (७) बड़े ऋण से युक्त, (८) युद्धबन्दी, (९) बाजी में विजित, (१०) 'मैं आपका हूँ' कहकर दासत्व ग्रहण करनेवाला, (११) संन्यास से च्युत, (१२) जो अपने से कुछ दिनों के लिए दास बने, (१३) भोजन के लिए बना हुआ, (१४) दासी के प्रेम से आकृष्ट दास (बडवाहृत) एवं (१५) अपने को बेच देनेवाला।

नारद (श्लोक ३०) एवं याज्ञवल्क्य (२।१८२) ने दासों के विषय में एक विधान यह बताया है कि यदि वे अपने स्वामी को किसी आसन्न प्राणलेवा कठिनाई से बचा लें तो वे छूट सकते हैं और (नारद ने जोड़ दिया है) पुत्र की भाँति वसीयत में भाग पा सकते हैं। संन्यासपतित व्यक्ति राजा का दास होता है (याज्ञ० २।१८३)। याज्ञवल्क्य (२।१८३) तथा नारद (३९) के मत से वर्णों के अनुसार ही दास बन सकते हैं, यथा ब्राह्मण के अतिरिक्त तीनों वर्ण ब्राह्मण के, वैश्य या शूद्र क्षत्रिय के दास हो सकते हैं, किन्तु क्षत्रिय किसी वैश्य या शूद्र का या वैश्य शूद्र का दास नहीं हो सकता।[६] कात्यायन के अनुसार ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का भी दास नहीं हो सकता, किन्तु यदि वह होना ही चाहे तो किसी चरित्रवान् एवं वैदिक ब्राह्मण का ही, और वह भी केवल पवित्र कार्य करने के लिए हो सकता है। कात्यायन ने यह भी लिखा है (७२१) कि संन्यास-च्युत ब्राह्मण को राज्य से निकाल बाहर करना चाहिए, किन्तु संन्यास-भ्रष्ट क्षत्रिय एवं वैश्य व्यक्ति राजा का दास होता है। दक्ष (७।३३) ने तो यह भी लिखा है कि संन्यास-च्युत ब्राह्मण के मस्तक पर कुत्ते के पैर का चिह्न अंकित कर देना चाहिए।

कौटिल्य (३।१३) एवं कात्यायन (७२३) के अनुसार यदि स्वामी दासी से मैथुन करे और सन्तानोत्पत्ति हो जाय तो दासी एवं पुत्र को दासत्व से छुटकारा मिल जाता है।

व्यवहारमयूख (पृ० ११४) में आया है कि यदि गोद लिये गये व्यक्तियों के चूड़ाकरण एवं उपनयन संस्कार

५. म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः। कौटिल्य ३।१३।

६. स्वतन्त्रस्यात्मनो दानाद् दासत्वं दासवद् भृगुः। त्रिषु वर्णेषु विज्ञेयं दास्यं विप्रस्य न क्वचित्॥ वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः। अपरार्क (पृ० ७८६) द्वारा उद्धृत कात्यायन; मिलाइए नारद (अभ्यु० ३९)।

गोद लेनेवाले के गोत्र के अनुसार हुए हों तो वे गोद लेनेवाले के पुत्र होते हैं, अन्यथा ऐसे लोग गोद लेनेवाले के दास होते हैं।

नारद (ऋणादान, १२) एवं कात्यायन ने घोषित किया है कि किसी वैदिक छात्र, शिक्षार्थी, दास, स्त्री, नौकर या कर्मकर (मजदूर) द्वारा अपने कुटुम्ब के भरण-पोषणार्थ लिया गया धन गृहस्वामी को देना चाहिएँ, भले ही यह धन उसकी अनुपस्थिति में ही क्यों न लिया गया हो।

मनु (८।७०) एवं उशना ने अन्य गवाहों के अभाव में नाबालिग, बूढ़े आदमी, स्त्री, छात्र, सगे सम्बन्धी, दास एवं नौकर को भी गवाह माना है।

अध्याय ६

संस्कार

'संस्कार' शब्द प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, किन्तु 'सम्' के साथ 'कृ' धातु तथा 'संस्कृत' शब्द बहुधा मिल जाते हैं। ऋग्वेद (५।७६।२) में 'संस्कृत' शब्द घर्म (बरतन) के लिए प्रयुक्त हुआ है, यथा "दोनों अश्विन् पवित्र हुए बरतन को हानि नहीं पहुँचाते।" ऋग्वेद (६।२८।४) में 'संस्कृतत्र' तथा (८।३९।९) 'रणाय संस्कृतः' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शतपथ-ब्राह्मण में (१।१।४।१०) आया है—'स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह।' पुनः वहीं (३।२।१।२२) आया है—'तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति', अर्थात् 'अतः स्त्री किसी संस्कृत (सुगठित) घर में खड़े पुरुष के पास पहुँचती है' (देखिए इसी प्रकार के प्रयोग में वाजसनेयी संहिता ४।३४)। छान्दोग्योपनिषद् में आया है—'तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तिनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होता' (४।१६।१-२), अर्थात् 'उस यज्ञ की दो विधियाँ हैं, मन से या वाणी से, ब्रह्मा उनमें से एक को अपने मन से बनाता या चमकाता है।' जैमिनि के सूत्रों में संस्कार शब्द अनेक बार आया है (३।१।३; ३।२।१५; ३।८।३; ९।२।९, ४२,४४,; ९।३।२५; ९।४।३३; ९।४।५० एवं ५४; १०।१।२ एवं ११ आदि) और सभी स्थलों पर यह यज्ञ के पवित्र या निर्मल कार्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा ज्योतिष्टोम यज्ञ में सिर के केश मुँड़ाने, दाँत स्वच्छ करने, नाखून कटाने के अर्थ में (३।८।३) ; या प्रोक्षण (जल छिड़कने) के अर्थ में (९।३।२५), आदि। जैमिनि के ६।१।३५ में 'संस्कार' शब्द उपनयन के लिए प्रयुक्त हुआ है। ३।१।३ की व्याख्या में शबर ने 'संस्कार' शब्द का अर्थ बताया है कि "संस्कारो नाम स भवति यस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य", अर्थात् संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है। तन्त्रवार्तिक के अनुसार "योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते", अर्थात् संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। यह योग्यता दो प्रकार की होती है; पाप-मोचन से उत्पन्न योग्यता तथा नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता। संस्कारों से नवीन गुणों की प्राप्ति तथा तप से पापों या दोषों का मार्जन होता है। वीरमित्रोदय ने संस्कार की परिभाषा यों की है—यह एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्रविहित क्रियाओं के करने से उत्पन्न होती है।.....यह योग्यता दो प्रकार की है—(१) जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य क्रियाओं (यथा उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन आरम्भ होता है) के योग्य हो जाता है, तथा (२) दोष (यथा जातकर्म संस्कार से वीर्य एवं गर्भाशय का दोष मोचन होता है) से मुक्त हो जाता है। संस्कार शब्द गृह्यसूत्रों में नहीं मिलता (वैखानस में मिलता है), किन्तु यह धर्मसूत्रों में आया है (देखिए गौतमधर्मसूत्र ८।८; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।१।९ एवं वसिष्ठधर्मसूत्र ४।१)।

संस्कारों के विवेचन में हम निम्न बातों पर विचार करेंगे—संस्कारों का उद्देश्य, संस्कारों की कोटियाँ, संस्कारों की संख्या, प्रत्येक संस्कार की विधि तथा वे व्यक्ति जो उन्हें कर सकते हैं एवं वे व्यक्ति जिनके लिए वे किये जाते हैं।

संस्कारों का उद्देश्य—मनु (२।२७-२८) के अनुसार द्विजातियों में माता-पिता के वीर्य एवं गर्भाशय के दोषों को गर्भाधान-समय के होम तथा जातकर्म (जन्म के समय के संस्कार) से, चौल (मुण्डन संस्कार) से तथा मूंज

की मेखला पहनने (उपनयन) से दूर किया जाता है। वेदाध्ययन, व्रत, होम, त्रैविद्य व्रत, पूजा, सन्तानोत्पत्ति, पंचमहायज्ञों तथा वैदिक यज्ञों से मानवशरीर ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है। याज्ञवल्क्य (१।१३) का मत है कि संस्कार करने से बीज-गर्भ से उत्पन्न दोष मिट जाते हैं। निबन्धकारों तथा व्याख्याकारों ने मनु एवं याज्ञवल्क्य की इन बातों को कई प्रकार से कहा है। संस्कारतत्त्व में उद्धृत हारीत[1] के अनुसार जब कोई व्यक्ति गर्भाधान की विधि के अनुसार संभोग करता है, तो वह अपनी पत्नी में वेदाध्ययन के योग्य भ्रूण स्थापित करता है, पुंसवन संस्कार द्वारा वह गर्भ को पुरुष या नर बनाता है, सीमन्तोन्नयन संस्कार द्वारा माता-पिता से उत्पन्न दोष दूर करता है, बीज, रक्त एवं भ्रूण से उत्पन्न दोष जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण एवं समावर्तन से दूर होते हैं। इन आठ प्रकार के संस्कारों से, अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण एवं समावर्तन से पवित्रता की उत्पत्ति होती है।

यदि हम संस्कारों की संख्या पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि उनके उद्देश्य अनेक थे। उपनयन जैसे संस्कारों का सम्बन्ध था आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्यों से, उनसे गुणसम्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित होता था, वेदाध्ययन का मार्ग खुलता था तथा अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती थीं। उनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी था, संस्कार करनेवाला व्यक्ति एक नये जीवन का आरम्भ करता था, जिसके लिए वह नियमों के पालन के लिए प्रतिश्रुत होता था। नामकरण, अन्नप्राशन एवं निष्क्रमण ऐसे संस्कारों का केवल लौकिक महत्त्व था, उनसे केवल प्यार, स्नेह एवं उत्सवों की प्रधानता मात्र झलकती है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन ऐसे संस्कारों का महत्त्व रहस्यात्मक एवं प्रतीकात्मक था। विवाह-संस्कार का महत्त्व था दो व्यक्तियों को आत्मनिग्रह, आत्म-त्याग एवं परस्पर सहयोग की भूमि पर लाकर समाज को चलते जाने देना।

संस्कारों की कोटियाँ—हारीत के अनुसार संस्कारों की दो कोटियाँ हैं; (१) ब्राह्म एवं (२) दैव। गर्भाधान ऐसे संस्कार जो केवल स्मृतियों में वर्णित हैं, ब्राह्म कहे जाते हैं। इनको सम्पादित करनेवाले लोग ऋषियों के समकक्ष आ जाते हैं। पाकयज्ञ (पकाये हुए भोजन की आहुतियाँ), यज्ञ (होमाहुतियाँ) एवं सोमयज्ञ आदि दैव संस्कार कहे जाते हैं। श्रौतसूत्रों में अन्तिम दो का वर्णन पाया जाता है और उनका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे।

संस्कारों की संख्या—संस्कारों की संख्या के विषय में स्मृतिकारों में मतभेद रहा है। गौतम (८।१४-२४) ने ४० संस्कारों एवं आत्मा के आठ शील-गुणों का वर्णन किया है। ४० संस्कार ये हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन (कुल ८), वेद के ४ व्रत, स्नान (या समावर्तन), विवाह, पंच महायज्ञ (देव, पितृ, मनुष्य, भूत एवं ब्रह्म के लिए), ७ पाकयज्ञ (अष्टका, पार्वण-स्थालीपाक, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी), ७ हविर्यज्ञ जिनमें होम होता है, किन्तु सोम नहीं (अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध एवं सौत्रामणी), ७ सोमयज्ञ (अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम)। शंख एवं मिताक्षरा (२।४) की सुबोधिनी गौतम की संख्या को मानते हैं। वैखानस ने १८ शारीर संस्कारों के नाम गिनाये हैं (जिनमें उत्थान, प्रवासागमन, पिण्डवर्धन भी सम्मिलित हैं, जिन्हें कहीं भी संस्कारों की कोटि में नहीं गिना गया है) तथा २२ यज्ञों का वर्णन किया है (पंच आह्निक यज्ञ, सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ एवं सात

१. गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं संदधाति। पुंसवनात्पुंसीकरोति। फलस्थापनान्मातापितृजं पाप्मानमपोहति। रेतोरक्तगर्भोपघातः पञ्चगुणो जातकर्मणा प्रथममपोहति नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेन तृतीयं चूडाकरणेन चतुर्थं स्नापनेन पञ्चममेतैरष्टाभिः संस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवतीति। संस्कारतत्त्व (पृ० ८५७)।

सोमयज्ञ; यहाँ पंच आह्निक यज्ञों को एक ही माना गया है, अतः कुल मिलाकर २२ यज्ञ हुए)। गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में अधिकांश इतनी लम्बी संख्या नहीं मिलती। अंगिरा ने (संस्कारमयूख एवं संस्कारप्रकाश तथा अन्य निबन्धों में उद्धृत) २५ संस्कार गिनाये हैं। इनमें गौतम के गर्भाधान से लेकर पाँच आह्निक यज्ञों (जिन्हें अंगिरा ने आगे चलकर एक ही संस्कार गिना है) तक तथा नामकरण के उपरान्त निष्क्रमण जोड़ा गया है। इनके अतिरिक्त अंगिरा ने विष्णुबलि, आग्रयण, अष्टका, श्रावणी, आश्वयुजी, मार्गशीर्षी (आग्रहायणी के समान), पार्वण, उत्सर्ग एवं उपाकर्म को शेष संस्कारों में गिना है। व्यास (१।१४-१५) ने १६ संस्कार गिनाये हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णुधर्मसूत्र ने कोई संख्या नहीं दी है, प्रत्युत निषेक (गर्भाधान) से श्मशान (अन्त्येष्टि) तक के संस्कारों की ओर संकेत किया है। गौतम एवं कई गृह्यसूत्रों ने अन्त्येष्टि को गिना ही नहीं है। निबन्धों में अधिकांश ने सोलह प्रमुख संस्कारों की संख्या दी है, यथा—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विष्णुबलि, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, वेदव्रत-चतुष्टय, समावर्तन एवं विवाह। स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत जातूकर्ण्य में ये १६ संस्कार वर्णित हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, मौञ्जी (उपनयन), व्रत (४), गोदान, समावर्तन, विवाह एवं अन्त्येष्टि। व्यास की दी हुई तालिका से इसमें कुछ अन्तर है।

गृह्यसूत्रों में संस्कारों का वर्णन दो अनुक्रमों में हुआ है। अधिकांश विवाह से आरम्भ कर समावर्तन तक चले आते हैं। हिरण्यकेशिगृह्य, भारद्वाजगृह्य एवं मानवगृह्यसूत्र उपनयन से आरम्भ करते हैं। कुछ संस्कार, यथा कर्णवेध एवं विद्यारम्भ गृह्यसूत्रों में नहीं वर्णित हैं। ये कुछ कालान्तर वाली स्मृतियों एवं पुराणों में ही उल्लिखित हुए हैं। अब हम नीचे संस्कारों का अति संक्षिप्त विवरण उपस्थित करेंगे।

ऋतु-संगमन—वैखानस (१।१) ने इसे गर्भाधान से पृथक् संस्कार माना है। यह इसे निषेक भी कहता है (६।२) और इसका वर्णन ३।९ में करता है। गर्भाधान का वर्णन ३।१० में हुआ है। वैखानस ने संस्कारों का वर्णन निषेक से आरम्भ किया है।

गर्भाधान (निषेक), चतुर्थीकर्म या होम—मनु (२।१६ एवं २६), याज्ञवल्क्य (१।१०-११), विष्णुधर्मसूत्र (२।३ एवं २७।१) ने निषेक को गर्भाधान के समान माना है। शांखायनगृह्यसूत्र (१।१८-१९), पारस्करगृह्यसूत्र (१।११) तथा आपस्तम्बगृह्यसूत्र (८।१०-११) के मत में चतुर्थी-कर्म या चतुर्थी-होम की क्रिया वैसी ही होती है जो अन्यत्र गर्भाधान में पायी जाती है तथा गर्भाधान के लिए पृथक् वर्णन नहीं पाया जाता। किन्तु बौधायनगृह्यसूत्र (४।६।१), काठकगृह्यसूत्र (३०।८), गौतम (८।१४) एवं याज्ञवल्क्य (१।११) में गर्भाधान शब्द का प्रयोग पाया जाता है। वैखानस (३।१०) के अनुसार गर्भाधान की संस्कार-क्रिया निषेक या ऋतु-संगमन (मासिक प्रवाह के उपरान्त विवाहित जोड़े के संयोग) के उपरान्त की जाती है और वह गर्भाधान को दृढ़ करती है।

पुंसवन—यह सभी गृह्यसूत्रों में पाया जाता है; गौतम एवं याज्ञवल्क्य (१।११) में भी।

गर्भरक्षण—शांखायनगृह्यसूत्र (१।२१) में इसकी चर्चा हुई है। यह अनवलोभन के समान है जो आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१३।१) के अनुसार उपनिषद् में वर्णित है और आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१३।५-७) ने जिसका स्वयं वर्णन किया है।

सीमन्तोन्नयन—यह संस्कार सभी धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में उल्लिखित है। याज्ञवल्क्य (१।११) ने केवल सीमन्त शब्द का व्यवहार किया है।

विष्णुबलि—इसकी चर्चा बौधायनगृह्यसूत्र (१।१०।१३-१७ तथा १।११।२), वैखानस (३।१३) एवं अंगिरा ने की है किन्तु गौतम तथा अन्य प्राचीन सूत्रकारों ने इसकी चर्चा नहीं की है।

सोष्यन्ती-कर्म या होम—खादिर एवं गोभिल द्वारा यह उल्लिखित है। इसे काठकगृह्यसूत्र में सोष्यन्ती-सवन,

आपस्तम्बगृह्यसूत्र एवं भारद्वाजगृह्यसूत्र में **क्षिप्रसुवन** तथा हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र में **क्षिप्रसवन** कहा गया है। बृह-स्मृति (संस्कारप्रकाश में उद्धृत, पृ० १३९) में भी इसकी चर्चा है।

जातकर्म—*इसकी चर्चा सभी सूत्रों एवं स्मृतियों में हुई है।*

उत्थान—केवल वैखानस (३।१८) एवं शांखायनगृह्यसूत्र (१।२५) ने इसकी चर्चा की है।

नामकरण—सभी स्मृतियों में वर्णित है।

निष्क्रमण या उपनिष्क्रमण या आदित्यदर्शन या निर्णयन—याज्ञवल्क्य (१।१२) पारस्करगृह्यसूत्र (१।१७) तथा मनु (२।३४) ने इसे क्रम से निष्क्रमण, निष्क्रमणिका तथा निष्क्रमण कहा है। किन्तु कौशिक-सूत्र (५८।१८), बौधायनगृह्यसूत्र (२।२), मानवगृह्यसूत्र (१।१९।१) ने क्रम से इसे निर्णयन, उपनिष्क्रमण एवं आदित्यदर्शन कहा है। विष्णुधर्मसूत्र (२७।१०) एवं शंख (२।५) ने भी इसे आदित्यदर्शन कहा है। गौतम, आप-स्तम्बगृह्यसूत्र तथा कुछ अन्य सूत्र इसका नाम ही नहीं लेते।

कर्णवेध—सभी प्राचीन सूत्रों में इसका नाम नहीं आता। व्यासस्मृति (१।१९), बौधायनगृह्यशेषसूत्र (१।१२।१) एवं कात्यायन-सूत्र ने इसकी चर्चा की है।

अन्नप्राशन—प्रायः सभी स्मृतियों ने इसका उल्लेख किया है।

वर्षवर्धन या अब्दपूर्ति—गोभिल, शांखायन, पारस्कर एवं बौधायन ने इसका नाम लिया है।

चौल या चूड़ाकर्म या चूड़ाकरण—सभी स्मृतियों में वर्णित है।

विद्यारम्भ—किसी भी स्मृति में वर्णित नहीं है, केवल अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत मार्कण्डेय पुराण में उल्लिखित है।

उपनयन—सभी स्मृतियों में वर्णित है। व्यास (१।१४) ने इसका व्रतादेश नाम दिया है।

व्रत (चार)—अधिकांशतया सभी गृह्यसूत्रों में वर्णित हैं।

केशान्त या गोदान—अधिकांशतः सभी धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में उल्लिखित है।

समावर्तन या स्नान—इन दोनों के विषय में कई मत हैं। मनु (३।४) ने छात्र-जीवनोपरान्त के स्नान को समावर्तन से भिन्न माना है। गौतम, आपस्तम्बगृह्यसूत्र (५।१२-१३), हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (१।९।१), याज्ञवल्क्य (१।५१), पारस्करगृह्यसूत्र (२।६-७) ने **स्नान** शब्द को दोनों अर्थात् छात्र-जीवन के उपरान्त स्नान तथा गुरु-गृह से लौटने की क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त किया है। किन्तु आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।८।१), बौधायनगृह्यसूत्र (२।६।१), शांखायनगृह्यसूत्र (३।१) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।७।१५ एवं ३१) ने समावर्तन शब्द का प्रयोग किया है।

विवाह—सभी में संस्कार रूप में वर्णित है।

महायज्ञ—प्रति दिन के पाँच यज्ञों के नाम गौतम, अंगिरा तथा अन्य ग्रन्थों में आते हैं।

उत्सर्ग (वेदाध्ययन का किसी-किसी ऋतु में त्याग)—वैखानस (१।१) एवं अंगिरा ने इसे संस्कार रूप में उल्लिखित किया है।

उपाकर्म (वेदाध्ययन का वार्षिक आरम्भ)—वैखानस (१।१) एवं अंगिरा में वर्णित है।

अन्त्येष्टि—मनु (२।१६) एवं याज्ञवल्क्य (१।१०) ने इसकी चर्चा की है।

शास्त्रों में ऐसा आया है कि जातकर्म से लेकर चूड़ाकर्म तक के संस्कारों के कृत्य द्विजातियों के पुरुष-वर्ग में वैदिक मन्त्रों के साथ किन्तु नारी-वर्ग में बिना वैदिक मन्त्रों के किये जायँ (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१५।१२, १।१६।६, १।१७।१८; मनु २।६६ एवं याज्ञवल्क्य १।१३)। किन्तु तीन उच्च वर्णों के नारी-वर्ग के विवाह में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता है (मनु २।६७ एवं याज्ञवल्क्य १।१३)।

संस्कार एवं वर्ण—द्विजातियों में गर्भाधान से लेकर उपनयन तक के संस्कार अनिवार्य माने गये हैं तथा स्नान एवं विवाह नामक संस्कार अनिवार्य नहीं हैं, क्योंकि एक व्यक्ति छात्र-जीवन के उपरान्त संन्यासी भी हो सकता है (जाबालोपनिषद्)। संस्कारप्रकाश ने क्लीब बच्चों के लिए संस्कारों की आवश्यकता नहीं मानी है।

क्या शूद्रों के लिए कोई संस्कार है? व्यास ने कहा है कि शूद्र लोग बिना वैदिक मन्त्रों के गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध एवं विवाह नामक संस्कार कर सकते हैं। किन्तु बैजवापगृह्यसूत्र में गर्भाधान (निषेक) से लेकर चौल तक के सात संस्कार शूद्रों के लिए मान्य हैं। अपरार्क (याज्ञ० १।११-१२ पर) के अनुसार अर्भाधान से चौल तक के आठ संस्कार सभी वर्णों के लिए (शूद्रों के लिए भी) मान्य हैं। किन्तु मदनरत्न, रूपनारायण तथा निर्णयसिन्धु में उद्धृत हरिहर-भाष्य के मत से शूद्र लोग केवल छः संस्कार, यथा—जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ा एवं विवाह तथा पंचाह्निक (प्रति दिन के पाँच) महायज्ञ कर सकते हैं। रघुनन्दन के शूद्रकृत्यतत्त्व में लिखा है कि शूद्र के लिए पुराणों के मन्त्र ब्राह्मण द्वारा उच्चरित हो सकते हैं, शूद्र केवल "नमः" कह सकता है। निर्णयसिन्धु ने भी यही बात कही है। ब्रह्मपुराण के अनुसार शूद्रों के लिए केवल विवाह का संस्कार मान्य है। निर्णयसिन्धु ने मत-वैभिन्न्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि उदार मत सत्-शूद्रों के लिए तथा अनुदार मत असत्-शूद्रों के लिए है। उसने यह भी कहा है कि विभिन्न देशों में विभिन्न नियम हैं।

संस्कार-विधि—आधुनिक समय में गर्भाधान, उपनयन एवं विवाह नामक संस्कारों को छोड़कर अन्य संस्कार बहुधा नहीं किये जा रहे हैं। आश्चर्य तो यह है कि ब्राह्मण लोग भी इन्हें छोड़ते जा रहे हैं। अब कहीं-कहीं गर्भाधान भी त्यागा-सा जा चुका है। नामकरण एवं अन्नप्राशन संस्कार मनाये जाते हैं, किन्तु बिना मन्त्रोच्चारण तथा पुरोहित को बुलाये। अधिकतर चौल उपनयन के दिन तथा समावर्तन उपनयन के कुछ दिनों के उपरान्त किये जाते हैं। बंगाल ऐसे प्रान्तों में जातकर्म तथा अन्नप्राशन एक ही दिन सम्पादित होते हैं। स्मृत्यर्थसार का कहना है कि उपनयन को छोड़कर यदि अन्य संस्कार निर्दिष्ट समय पर न किये जायँ तो व्याहृतिहोम[2] के उपरान्त ही वे सम्पादित हो सकते हैं। यदि किसी आपत्ति के कारण कोई संस्कार न सम्पादित हो सका हो तो पादकृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त करना आवश्यक माना जाता है। इसी प्रकार समय पर चौल न करने पर अर्ध-कृच्छ्र करना पड़ता है। यदि बिना आपत्ति के जान-बूझकर संस्कार न किये जायँ तो दूना प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस विषय में निर्णयसिन्धु ने शौनक के श्लोक उद्धृत किये हैं।[3] निर्णयसिन्धु ने कई मतों का उद्धरण दिया है। एक के अनुसार प्रायश्चित्त के उपरान्त छोड़े हुए संस्कार पुनः नहीं किये जाने चाहिए, दूसरे मत के अनुसार सभी छोड़े हुए संस्कार एक बार ही कर लिये जा सकते हैं और तीसरे मत से छोड़ा हुआ चौलकर्म उपनयन के साथ सम्पादित हो सकता है। धर्मसिन्धु (तृतीय परिच्छेद, पूर्वार्ध) ने उपर्युक्त प्रायश्चित्तों के स्थान पर अपेक्षाकृत सरल प्रायश्चित्त बताये हैं, यथा एक प्राजापत्य तीन पादकृच्छ्रों के बराबर है, प्राजापत्य के स्थान पर

२. भूः, भुवः, स्वः (या सुवः) नामक रहस्यात्मक शब्दों के उच्चारण के साथ विमलीकृत मक्खन की आहुति देना व्याहृति-होम कहलाता है।

३. अथ संस्कारलोपे शौनकः—आरभ्याधानमाचौलात् कालेऽतीते तु कर्मणाम्। व्याहृत्याग्नि तु संस्कृत्य हुत्वा कर्म यथाक्रमम्॥ एतेष्वेकैकलोपे तु पादकृच्छ्रं समाचरेत्। चूडायामर्धकृच्छ्रं स्यादापदि त्वेवमीरितम्। अनापदि तु सर्वत्र द्विगुणं द्विगुणं चरेत्॥ निर्णयसिन्धु, ३ पूर्वार्ध; स्मृ० मु० (वर्णाश्रमधर्म, पृ० ९९)।

एक गाय का दान तथा गाय के अभाव में एक सोने का निष्क (३२० गुञ्जा), पूरा या आधा या चौथाई भाग दिया जा सकता है। दरिद्र व्यक्ति चाँदी के निष्क का भाग या उसी मूल्य का अन्न दे सकता है। क्रमशः इन सरल परिहारों (प्रत्याम्नायों) के कारण लोगों ने उपनयन एवं विवाह को छोड़कर अन्य संस्कार करना छोड़ दिया। आधुनिक काल में संस्कारों के न करने से प्रायश्चित्त का स्वरूप चौल तक के लिए प्रति संस्कार चार आना दान रह गया है तथा आठ आना दान चौल के लिए रह गया है।[4]

अब हम संक्षेप में संस्कारों का विवेचन उपस्थित करेंगे। संस्कारों के विषय में गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में सामग्रियाँ भरी पड़ी हैं, किन्तु रघुनन्दन के संस्कारतत्त्व, नीलकण्ठ के संस्कारमयूख, मित्र मिश्र के संस्कारप्रकाश, अनन्तदेव के संस्कारकौस्तुभ तथा गोपीनाथ के संस्काररत्नमाला नामक निबन्धों में भी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। उपनयन एवं विवाह के विषय में विवेचन कुछ विस्तार के साथ होगा।

गर्भाधान

अथर्ववेद का ५।२५वाँ कांड गर्भाधान के क्रिया-संस्कार से सम्बन्धित ज्ञात होता है। अथर्ववेद के इस अंश के तीसरे एवं पाँचवें मन्त्र से, जो बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।२१) में उद्धृत हैं, गर्भाधान के कृत्य पर प्रकाश मिलता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१३।१) में स्पष्ट वर्णन है कि उपनिषद् में गर्भलंभन (गर्भ धारण करना), पुंसवन (पुरुष बच्चा प्राप्त करना) एवं अनवलोभन (भ्रूण को आपत्तियों से बचाना) के विषय में कृत्य वर्णित हैं। सम्भवतः यह संकेत बृहदारण्यकोपनिषद् की ओर ही है।

चतुर्थी-कर्म का कृत्य शांखायनगृह्यसूत्र (१।१८-१९) में इस प्रकार वर्णित है—विवाह के तीन रात उपरान्त, चौथी रात को पति अग्नि में पके हुए भोजन की आठ आहुतियाँ अग्नि, वायु, सूर्य (तीनों के लिए एक ही मन्त्र), अर्यमा, वरुण, पूषा (तीनों के लिए एक ही मन्त्र), प्रजापति (ऋग्वेद १०।१२१।१० का मन्त्र) एवं (अग्नि) स्विष्टकृत् को देता है। इसके उपरान्त वह 'अध्यण्डा' की जड़ को कूटकर उसके जल को पत्नी की नाक में छिड़कता है (ऋग्वेद के १०।८५।२१-२२ मन्त्रों के साथ प्रत्येक मन्त्र के उपरान्त 'स्वाहा' कहकर)। तब वह पत्नी को छूता है। संभोग करते समय 'तू गन्धर्व विश्वावसु का मुख हो' कहता है। पुनः वह 'श्वास में, हे! (पत्नी का नाम लेकर) वीर्य डालता हूँ' कहता है एवं यह भी कि "जिस प्रकार पृथिवी में अग्नि है.....आदि.....उसी प्रकार एक नर भ्रूण गर्भाशय में प्रवेश करे, उसी प्रकार जैसे तरकस में बाण घुसता है, यह दस मास के उपरान्त एक पुरुष उत्पन्न हो।"[5] पारस्करगृह्यसूत्र (१।११) में भी यही विधि कही गयी है।

४. देखिए, मदनपारिजात (पृ० ७५२ कृच्छ्रप्रत्याम्नाय); संस्कारकौस्तुभ (पृष्ठ १४१-१४२ अन्य प्रत्याम्नायों के लिए)। आजकल उपनयन के समय देर में संस्कार-सम्पादन के लिए निम्न संकल्प है—अमुकशर्मणः मम पुत्रस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयन-जातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलान्तानां संस्काराणां कालातिपत्तिजनित (या लोपजनित) प्रत्यवायपरिहारार्थं प्रतिसंस्कारं पादकृच्छ्रात्मकप्रायश्चित्तं चूडाया अर्धकृच्छ्रात्मकं प्रतिकृच्छ्रं गोमूल्यरजतनिष्कपादपादप्रत्याम्नायद्वाराहमाचरिष्ये।

५. मन्त्रः—"आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्। आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥" अथर्ववेद ३।२३।२। यह हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (१।७।२५।१) में भी है।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र (८।१०-११) तथा गोभिल (२।५) ने भी संक्षेप में यही विधि लिखी है, किन्तु उनके मन्त्र मन्त्र-पाठ वाले है। आधुनिक लोग आश्चर्य प्रकट कर सकते हैं कि संभोग के समय भी मन्त्रोच्चारण होता था। किन्तु उन्हें जानना चाहिए कि प्राचीन समय में प्रत्येक कृत्य धार्मिक समझा जाता था। आत्रेय (हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र १।७।२५।३) के अनुसार जीवन भर प्रत्येक संभोग के समय मन्त्रों का उच्चारण होना चाहिए, किन्तु बादरायण के अनुसार यह केवल प्रथम संभोग तथा प्रत्येक मासिक प्रवाह के उपरान्त होना चाहिए। वैखानस (३।९) ने इस कृत्य को ऋतु-संगमन कहा है (आपस्तम्बगृह्यसूत्र एवं हिरण्यकेशिगृह्य०)।

स्मृतियों एवं निबन्धों के कुछ विस्तारों का संक्षेप में वर्णन अपेक्षित है। मनु (३।४६) एवं याज्ञवल्क्य (१।७९) के अनुसार गर्भधारण का स्वाभाविक समय है मासिक प्रवाह की अभिव्यक्ति के उपरान्त सोलह रातें। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (९।१) के अनुसार मासिक प्रवाह की चौथी रात से सोलहवीं रात तक युग्मता वाली (समता वाली) रातें नर बच्चे (लड़के) के लिए उपयुक्त हैं। यही बात हारीत ने भी कही है। इन दोनों के मत से चौथी रात गर्भाधान के लिए उपयुक्त है। मनु (३।४७) एवं याज्ञवल्क्य (१।७९) ने प्रथम चार रातें छोड़ दी हैं। कात्यायन, पराशर (७।१७) तथा अन्य लोगों के मत से रजस्वला चौथे दिन स्नान करके विमल होती है। लघु-आश्वलायन (३।१) के अनुसार चौथे दिन के उपरान्त रक्त के प्रथम प्रकटीकरण पर गर्भाधान संस्कार करना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका का निर्देश है कि प्रवाह की पूर्ण समाप्ति पर चौथा दिन उपयुक्त है। मनु (४।१२८) एवं याज्ञवल्क्य (१।७९) के अनुसार गर्भाधान के लिए अमावास्या एवं पूर्णमासी वाले दिनों तथा अष्टमी एवं चतुर्दशी के दिनों को छोड़ देना चाहिए। याज्ञवल्क्य (१।८०) ने ज्योतिष-सम्बन्धी विस्तार भी दिया है, यथा मूल एवं मघा नक्षत्रों को भी छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार निबन्धों ने बहुत-से महीनों, तिथियों, सप्ताहों, नक्षत्रों, वस्त्र-वर्णों आदि को अशुभ माना है और उनके लिए शान्ति की व्यवस्था की है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र, मनु (३।४८), याज्ञवल्क्य (१।७९) एवं वैखानस (३।९) ने लिखा है कि लड़के की उत्पत्ति के लिए मासिक धर्म के चौथे दिन के उपरान्त सम दिनों में तथा लड़की के लिए विषम दिनों में संभोग करना चाहिए। भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।२०) में आया है कि रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नानोपरान्त श्वेत वस्त्र धारण करे, आभूषण पहने तथा योग्य ब्राह्मणों से बातें करे। वैखानस (३।९) ने लिखा है कि वह अंगराग लेप करे, किसी नारी या शूद्र से बातें न करे, पति को छोड़कर किसी अन्य को न देखे, क्योंकि स्नानोपरान्त वह जिसे देखेगी, उसी के समान उसकी सन्तान होगी। यही बात शंख-लिखित में भी पायी जाती है—"रजस्वला नारियाँ उस अवधि में जिन्हें देखती हैं उन्हीं के गुण उनकी सन्तानों में आ जाते हैं।"

क्या गर्भाधान गर्भ (भ्रूणस्थित बच्चे) का संस्कार है या स्त्री का? याज्ञवल्क्य (१।११) की व्याख्या में विश्वरूप ने लिखा है कि सीमन्तोन्नयन संस्कार को छोड़कर सभी संस्कार बार-बार सम्पादित होते हैं, क्योंकि वे गर्भ के संस्कार हैं, किन्तु सीमन्तोन्नयन केवल एक बार सम्पादित होता है, क्योंकि यह स्त्री से सम्बन्धित है। यही बात लघु-आश्वलायन (४।१७) में भी पायी जाती है। किन्तु मनु (२।१६) की व्याख्या में मेधातिथि ने लिखा है कि विवाहोपरान्त, कुछ लोगों के मत से, प्रथम संभोग के समय ही गर्भाधान संस्कार किया जाना चाहिए, किन्तु अन्य लोगों के मत से जब तक गर्भ धारण न हो जाय तब तक प्रत्येक रक्तप्रवाह के उपरान्त उसे किया जाना चाहिए। कालान्तर वाले लेखकों एवं ग्रन्थों का कहना है (यथा मिताक्षरा, याज्ञ०, १।११, स्मृति-चन्द्रिका एवं संस्कारतत्त्व) कि गर्भाधान, पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन स्त्री के संस्कार हैं और केवल एक बार सम्पादित होने चाहिए। हारीत ने भी यही कहा है। अपरार्क ने कहा है कि सीमन्तोन्नयन एक ही बार होता है, किन्तु पुंसवन प्रत्येक गर्भाधान पर किया जाता है। यही बात संस्कारमयूख, संस्कारप्रकाश एवं पारस्कर-

गृह्यसूत्र (१।१५) में भी पायी जाती है। स्मृतिचन्द्रिका ने विष्णु का हवाला देकर लिखा है कि प्रत्येक गर्भाधान के उपरान्त सीमन्तोन्नयन भी दुहराया जाना चाहिए।

कुल्लूक (मनु २।२७), स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १४) एवं अन्य ग्रन्थों के अनुसार गर्भाधान संस्कार होम के रूप में नहीं सम्पादित होता। धर्मसिन्धु का कहना है कि जब मासिक धर्म के प्रथम प्रकटीकरण पर गर्भाधान हो जाता है तो संस्कार का सम्पादन गृह्य अग्नि में होना चाहिए, किन्तु दूसरे या कालान्तर वाले मासिक धर्म पर जब संभोग होता है तो होम नहीं होता। संस्कारकौस्तुभ (पृ० ५९) ने होम की व्यवस्था दी है और पके हुए भोजन की आहुति प्रजापति को तथा आज्य की सात आहुतियाँ अग्नि को देने को कहा है और तीन आहुतियाँ "विष्णुर्योनिम्०" (ऋग्वेद १०।१८४-१-३) के साथ, तीन आहुतियाँ "नेजमेष०" (आपस्तम्ब मन्त्रपाठ १।१२।७-९) के साथ तथा एक "प्रजापतेन०" (ऋग्वेद १०।१२१।१०) के साथ दी जानी चाहिए।

पति की अनुपस्थिति में गर्भाधान को छोड़कर सभी संस्कार किसी सम्बन्धी द्वारा किये जा सकते हैं (संस्कारप्रकाश, पृ० १६५)।

संस्कार एवं होम

बहुत-सी धार्मिक विधियों एवं कृत्यों में होम आवश्यक माना गया है, अतः गृह्यसूत्रों ने होम का एक नमूना दिया है। हम यहाँ पर आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।३१) से एक उद्धरण उपस्थित करते हैं। कई गृह्यसूत्रों एवं धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में कुछ मतभेद भी है।

"(१) जहाँ यज्ञ करना हो वहाँ एक बाण की लम्बाई-चौड़ाई में भूमि को कुछ ऊँचा उठाकर (मिट्टी या बालू से) गोबर से लीप देना चाहिए (इसे स्थण्डिल कहते हैं)। इसके उपरान्त यज्ञ करनेवाले को स्थण्डिल पर (छः) रेखाएँ खींच देनी चाहिएँ, जिनमें एक (स्थण्डिल के उस भाग से जहाँ अग्नि रखी जाती है) पश्चिम ओर हो किन्तु उत्तर की ओर घूमी हुई होनी चाहिए, दो पूर्व की ओर किन्तु पहली रेखा के दोनों छोरों पर अलग-अलग, तीन (दोनों के) मध्य में। इसके उपरान्त पवित्र स्थण्डिल पर जल छिड़कना चाहिए, उस पर अग्नि रखनी चाहिए, दो या तीन समिधाएँ अग्नि पर रख देनी चाहिएँ। इसके उपरान्त परिसमूहन (अग्नि के चतुर्दिक् झाड़-पोंछ) करना चाहिए, तब परिस्तरण करना चाहिए अर्थात् चतुर्दिक् कुश बिछा देने चाहिए (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर में)। इस प्रकार सभी कृत्य, यथा परिसमूहन, परिस्तरण आदि उत्तर में ही समाप्त होने चाहिए। तब यज्ञ करनेवाले को अग्नि के चतुर्दिक् थोड़ा जल छिड़कना चाहिए। (२) तब दो कुशों से आज्य (घृत) को पवित्र किया जाता है। (३) बिना नोक टूटे दो कुश (जिनमें कोई और नवीन शाखा न निकली हो, और जो अँगूठे से लेकर चौथी अँगुली तक के बित्ते की नाप के हों) लेकर खुले हाथ से आज्य को पवित्र करना चाहिए, पहले पश्चिम तब पूर्व में, और कहना चाहिए—"सविता की प्रेरणा से मैं इस बिना क्षत वाले पवित्र से तुम्हें पवित्र करता हूँ, वसु की किरणों से तुम्हें पवित्र करता हूँ।" एक बार इस मन्त्र को जोर से और दो बार मौन रूप से कहना चाहिए। (४) कुश के परिस्तरण का अग्नि के चतुर्दिक् रखना आज्य-होम (वह होम जिसमें अग्नि को केवल आज्य की आहुति दी जाती है) में हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। (५) उसी प्रकार पाकयज्ञों में दो आज्य-अंश दिये या नहीं भी दिये जा सकते हैं। (६) सभी पाकयज्ञों में ब्रह्मा पुरोहित रखना भी वैकल्पिक है, किन्तु धन्वन्तरि एवं शूलगव यज्ञों में ब्रह्मा पुरोहित आवश्यक है। (७) तब यज्ञ करने वाला कहता है—"इस देवता को स्वाहा"! (८) जब किसी विशिष्ट देवता की ओर निर्देश न हो तो अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, विश्वे-देव (सभी देवता) एवं ब्रह्मा होम योग्य मान लिये जाते हैं। अन्त में स्विष्टकृत् अग्नि को आहुति दी जाती है।"

शांखायन-गृह्यसूत्र (१।७) में होम-विधि (१।७।६-७) कुछ अधिक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण अन्तरों के साथ पायी जाती है। यज्ञ करनेवाला वेदी के मध्य में एक रेखा दक्षिण से उत्तर की ओर खींचता है, केवल तीन रेखाएँ ऊपर खींची जाती हैं, जिनमें एक इसके दक्षिण, एक मध्य में तथा तीसरी उत्तर में (अर्थात् केवल ४ रेखाएँ, आश्वलायन की भाँति ६ रेखाएँ नहीं)। शांखायन (१।९।६-७) के अनुसार ब्रह्मा पुरोहित का आसन स्थण्डिल के दक्षिण में होता है और उन्हें फूलों से सम्मानित किया जाता है। इसी प्रकार कुछ अन्य अन्तर भी हैं। पारस्करगृह्यसूत्र (१।१) एवं खादिरगृह्यसूत्र (१।२) में बहुत ही संक्षेप में होम का नमूना दिया हुआ है। गोभिल (१।१।९-११ १।५।१३-२०, १।७।९, १।८।२१) एवं हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (१।१।९-१। ३।७) में होम-विधि बड़े विस्तार से वर्णित है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र में सभी प्रकार के होमों में पायी जाने वाली विधि का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है।

प्रमुख चार ऋत्विकों में केवल ब्रह्मा को उन्हीं यज्ञों में महत्ता दी गयी है जो गृह्याग्नि में सम्पादित होते हैं और जिन्हें पाकयज्ञ कहा जाता है और जहाँ होता ही यजमान रहता है। होम की अन्य बातों का अनुक्रम यों है—उपलेपन (गोबर से लीपना), बालू या मिट्टी से स्थण्डिल को सँवारना, एक समिधा से स्थण्डिल पर रेखाएँ खींचना, समिधा को रेखाओं पर पूर्व ओर नोक करके रखना, स्थण्डिल के उत्तर और पूर्व में पानी छिड़कना, स्थण्डिल के बाहर रेखा खींचनेवाली समिधा को उत्तर-पूर्व के कोण में रखना, होता द्वारा आचमन करना, होता के सामने स्थण्डिल पर अग्नि (घर्षण से उत्पन्न कर, या किसी श्रोत्रिय से माँगकर या किसी से भी माँगकर) रखना, दो या तीन समिधाएँ अग्नि पर रखना, इध्म (१५ समिधाएँ) एवं कुशों का एक गुच्छ तैयार रखना। इसके उपरान्त परिसमूहन (उत्तर-पूर्व ओर से जलपूर्ण हाथ द्वारा अग्नि के चतुर्दिक् पोंछना), तब परिस्तरण (वेदी के चतुर्दिक् प्रथम पूर्व, फिर दक्षिण, तब पश्चिम और तब उत्तर की ओर से कुश फैलाना), तब मौन पर्युक्षण (अग्नि के चतुर्दिक् जल छिड़कना, प्रत्येक बार पृथक्-पृथक् जल ग्रहण करके), तब अपः-प्रणयन (अग्नि के उत्तर कांस्य या मिट्टी के बरतन में जल ले जाना), तब आज्योत्पवन (दो कुशों की नोक से एक बार मन्त्र से और दो बार मौन रूप से आज्य को पवित्र करना), तब आज्य के दो आघार (लगातार धार गिराना) तथा दो आहुति देना। तदुपरान्त सूत्रों में निर्दिष्ट ढंग से प्रमुख हवन किया जाता है और अन्त में स्विष्टकृत् अग्नि को अन्तिम आहुति दी जाती है। ओम् से आरम्भ कर एवं स्वाहा से अन्त कर मन्त्र दुहराकर आहुतियाँ दी जाती हैं और कहा जाता है कि "यह इस या उस देवता के लिए है, मेरे लिए नहीं।"

आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।४) ने जोड़ा है कि चौल, उपनयन, गोदान एवं विवाह में ऋग्वेद (९।६६।१०-१२) के तीन मन्त्रों के साथ आज्य की चार आहुतियाँ दी जाती हैं, यथा—अग्नि, तू जीवन को पवित्र बनाता है... आदि। मन्त्र के स्थान पर व्याहृतियों या दोनों, अर्थात् वैदिक मन्त्रों एवं व्याहृतियों (भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा) का व्यवहार किया जा सकता है, अर्थात् आठ आहुतियां दी जाती हैं।

आधुनिक काल में स्थण्डिल पर पानी छिड़कने के उपरान्त, उस पर अग्नि रखी जाती है और संस्कारों के अनुसार अग्नि के विभिन्न नाम माने जाते हैं, यथा उपनयन एवं विवाह में उसे क्रम से **समुद्भव एवं योजक** कहा जाता है। तब ईंधन पर पवित्र जल छिड़ककर उसे अग्नि पर रखा जाता है और उसे ज्वाला में परिवर्तित करके प्रार्थना की जाती है, यथा "अग्ने वैश्वानर शाण्डिल्यगोत्र मेषध्वज, मम सम्मुखो वरदो भव।" इसके उपरान्त परिसमूहन एवं अन्य ऊपर वर्णित क्रियाएँ चलती हैं।

जिस प्रकार अधिकांश गृह्य-कृत्यों में होम आवश्यक माना जाता है, उसी प्रकार प्रायः सभी कृत्यों में कुछ बातें एक-सी पायी जाती हैं। आचमन, प्राणायाम, देश-काल की ओर संकेत एवं संकल्प सबमें पाये जाते हैं। इसके उपरान्त मध्य काल के धर्मशास्त्र-ग्रन्थों के अनुसार, गणपति-पूजन, पुण्याहवाचन, मातृका-पूजन एवं नान्दीश्राद्ध

होता है। कुछ लोगों के मत से सबमें एक ही संकल्प होता है, किन्तु कुछ लोगों के मत से प्रत्येक पुण्याहवाचन, मातृकापूजन एवं नान्दीश्राद्ध के लिए पृथक्-पृथक् संकल्प होते हैं। सभी प्रकार के कृत्यों में होता या कर्ता सर्वप्रथम स्नान करता है, शिखा बांधता है, थोड़े से स्थान को गोबर से लिपवा कर उस पर रंगीन पदार्थों से रेखाएँ बनवाता है, जहाँ पानी से भरे दो मंगल-कलश रख दिये जाते हैं जिन पर ढक्कन रखा रहता है। आवश्यक वस्तुएँ स्थान के उत्तर में रख दी जाती हैं। दो लकड़ी के पीढ़े पश्चिम दिशा में रख दिये जाते हैं, जिनमें एक पर कर्ता पूर्वाभिमुख बैठता है और दूसरे पर दाहिनी ओर उसकी पत्नी बैठती है, किन्तु यदि पुत्र के लिए कृत्य किया जा रहा हो तो पति पत्नी की दाहिनी ओर बैठता है। पत्नी से दक्षिण थोड़ी दूर हटकर ब्राह्मण लोग उत्तराभिमुख बैठते हैं तथा कर्ता आचमन करता है। वार्षिक श्राद्ध आदि को छोड़कर सभी संस्कार एवं कृत्य किसी पूर्व-निश्चित तिथि को ही किये जाते हैं।

गणपति-पूजन

इस पूजन में हस्तिमुख देवता गणेश की उपस्थिति का आवाहन एक मुट्ठी चावल के साथ पान के एक पत्ते पर या गोबर के एक छोटे पिण्ड पर किया जाता है। ऋग्वेद में 'गणपति' शब्द का प्रयोग ब्रह्मणस्पति (प्रार्थना के स्वामी या पवित्र स्तवन के देवता) की एक उपाधि के रूप में आया है? ऋग्वेद (२।२३।१) का मन्त्र "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" जो गणेश के आवाहन के लिए प्रयुक्त होता है, ब्रह्मणस्पति का ही मन्त्र है। ऋग्वेद (१०।११२। ९) में इन्द्र को गणपति के रूप में सम्बोधित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता (४।१।२।२) एवं वाजसनेयी संहिता में पशु (विशेषतः अश्व) रुद्र के गाणपत्य कहे गये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (४।४) में स्पष्ट आया है कि "गणानां त्वा" नामक मन्त्र ब्रह्मणस्पति को सम्बोधित है। वाजसनेयी संहिता (१६।२५) में बहुवचन (गणपतिभ्यश्च वो नमः) तथा एकवचन (गणपतये स्वाहा) दोनों रूपों का प्रयोग हुआ है। मध्य काल में गणेश का जो विलक्षण रूप (हस्तिमुख, निकली हुई तोंद या लम्बोदर, चूहा वाहन) वर्णित है, वह वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता। वाजसनेयी संहिता (३।५७) में चूहे (मूषक) को रुद्र का पशु, अर्थात् 'रुद्र को दिया जानेवाला पशु' कहा गया है। गृह्य एवं धर्मसूत्रों में धार्मिक कृत्यों के समय गणेशपूजन की ओर कोई संकेत नहीं मिलता। स्पष्ट है, गणेश-पूजा कालान्तर का कृत्य है। बौधायनधर्मसूत्र (२।५।८३-९०) में देवतर्पण में विघ्न, विनायक, वीर, स्थूल, वरद, हस्तिमुख, वक्रतुण्ड, एकदन्त एवं लम्बोदर का उल्लेख पाया जाता है। किन्तु यह अंश क्षेपक-सा लगता है। ये विभिन्न उपाधियाँ विनायक की हैं (बौधायन-गृह्यशेषसूत्र ३।१०।६)। मानवगृह्य० (२।४) में विनायक चार माने गये हैं—शालकटंकट, कूष्माण्ड-राजपुत्र, उस्मित एवं देवयजन। ये दुष्ट आत्माएँ (प्रेतात्माएँ) हैं और जब ये लोगों को पकड़ लेती हैं, उन्हें दुःस्वप्न आते हैं और बड़े भयंकर अशोभन दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। यथा मुण्डित-शिर व्यक्ति, लम्बी जटा वाले व्यक्ति, पीत वस्त्र वाले व्यक्ति, ऊँट, गदहे, शूकर, चाण्डाल। उनके प्रभाव से योग्य राजकुमार राज्य नहीं पाते, शुभ लक्षणों वाली सुन्दरियाँ पति नहीं पातीं, विवाहित नारियों को सन्तान नहीं होतीं, गुणशीला नारियों की सन्तान शैशवावस्था में ही मर जाती हैं कृषकों की कृषि नष्ट हो जाती है। आदि-आदि। अतः मानवगृह्य ने विनायक की बाधा से मुक्ति पाने के लिए पूजन की क्रियाओं का वर्णन किया है। बैजवापगृह्य (अपरार्क, याज्ञ० १।२७५) ने मित, सम्मित, शालकटंकट एवं कूष्माण्डराजपुत्र नामक चार विनायकों का वर्णन किया है और ऊपर वर्णित उनकी बाधा की चर्चा की है। इन दोनों वर्णनों से विनायक-सम्प्रदाय के विकास की प्रथमावस्था का परिचय मिलता है। आरम्भ के विनायक दुरात्माओं के रूप में वर्णित हैं, जो भयंकरता एवं भाँति-भाँति का अवरोध खड़ा करते हैं। लगता है, इस (विनायक) सम्प्रदाय में रुद्र के भयंकर स्वरूपों एवं आदिवासी जातियों के धार्मिक कृत्यों का समावेश हो गया है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में विनायक-सम्प्रदाय के कालान्तरीय स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है (१।२७१-२७४)। विनायक को (याज्ञ० १।२७१) गणों के स्वामी के रूप में ब्रह्मा एवं रुद्र द्वारा नियुक्त दर्शाया गया है। वे न केवल अवरोध उत्पन्न करनेवाले, प्रत्युत मनुष्यों के क्रियासंस्कारों में सफलता देनेवाले कहे गये हैं। याज्ञवल्क्य ने मानवगृह्य में उल्लिखित विनायक की बाधा का भी वर्णन किया है। याज्ञवल्क्य (१।२८५) के अनुसार विनायक के चार नाम हैं—मित, सम्मित, शालकटंकट एवं कूष्माण्डराजपुत्र और उनकी माता का नाम है अम्बिका। विश्वरूप एवं अपरार्क ने तो विनायक के चार ही नाम बताये हैं, किन्तु मिताक्षरा ने शालकटंकट एवं कूष्माण्डराजपुत्र को दो-दो भागों में तोड़कर छः नाम गिनाये हैं, यथा—मित, सम्मित, शाल, कटंकट, कूष्माण्ड एवं राजपुत्र। अमरकोश की व्याख्या में क्षीरस्वामी ने स्पष्ट रूप से 'हेरम्ब' शब्द को देश्य कहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि गणेश वैदिक देवों की पंक्ति में किसी देशोद्भव जाति से आये और रुद्र (शिव) के साथ जुड़ गये। याज्ञवल्क्य ने विनायक की प्रसिद्ध उपाधियों की चर्चा नहीं की है, यथा—एकदन्त, हेरम्ब, गजानन, लम्बोदर आदि। बौधायनगृह्यशेषसूत्र (३।१०) ने विनायक की आराधना के लिए भिन्न ढंग अपनाया है और उसे भूतनाथ, हस्तिमुख, विघ्नेश्वर कहा है एवं 'अपूप' तथा 'मोदक' की आहुतियों की चर्चा की है। स्पष्ट है, याज्ञवल्क्य की अपेक्षा बौधायन मध्य काल के धर्मशास्त्रकारों के अधिक समीप लगते हैं। गणेश महाभारत के आदिपर्व में व्यास के लिपिक के रूप में आते हैं, किन्तु यह बात महाभारत के कुछ संस्करणों में नहीं पायी जाती। वनपर्व (६५।२३) एवं अनुशासनपर्व (१५०।२५) में वर्णित विनायक मानवगृह्य के विनायक के समान ही हैं।

गोभिलस्मृति (१।१३) के अनुसार सभी कृत्यों के आरम्भ में गणाधीश के साथ 'मातृका' की पूजा होनी चाहिए। ईसा की पाँचवीं एवं छठी शताब्दियों के उपरान्त ही गणेश एवं उनकी पूजा से सम्बन्धित सारी प्रसिद्ध विशिष्टताएँ स्पष्ट हो सकी थीं। महाकवि कालिदास ने गणेश की चर्चा नहीं की है। गाथासप्तशती में गणेश का उल्लेख है (४।७२ एवं ५।३)। अपने हर्षचरित में बाण ने (४ उच्छ्वास, प्र० २) गणाधिप की लम्बी सूँड़ की चर्चा की है और भैरवाचार्य (हर्षचरित ३) के उल्लेख में विनायक को बाधाओं एवं विद्या से सम्बन्धित माना है तथा उनके शरीर में हाथी का सिर माना है। वामनपुराण (अध्याय ५४) में विनायक के जन्म के विषय में एक विचित्र गाथा का वर्णन पाया जाता है।

महावीरचरित्र (२।३८) में हेरम्ब की सूँड़ का उल्लेख है। मत्स्यपुराण (अध्याय २६०।५२-५५) ने विनायक की मूर्ति के निर्माण की विधि बतायी है। अपरार्क ने मत्स्यपुराण (२८९।७) को उद्धृत कर महाभूतघट नामक महादान की चर्चा में विनायक को मूषक (चूहे) की सवारी पर प्रदर्शित किया है। भाद्रपद चतुर्थी की गणेश-पूजा के विषय में कृत्यरत्नाकर ने भविष्यपुराण से उद्धरण दिया है। इस विषय में अग्निपुराण के ७१वें एवं ३१३वें अध्यायों को देखना आवश्यक है। भास्करवर्मा (सातवीं शताब्दी) के निधानपुर के अभिलेख में गणपति का नाम आता है।

गणपतिपूजन में ऋग्वेद (२।२३।१) की "गणानां त्वा गणपतिम्" नामक स्तुति की जाती है तथा "ओम् महागणपतये नमो नमः निर्विघ्नं कुरु" नामक शब्दों से प्रणाम किया जाता है।

पुण्याहवाचन

यद्यपि संस्काररत्नमाला जैसे कतिपय निबन्धों में पुण्याहवाचन का बृहत् वर्णन पाया जाता है, किन्तु अति प्राचीन काल में यह बहुत ही सीधा-सादा कृत्य था। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१३।८) में आया है कि सभी शुभ कृत्यों में (यथा विवाह में) सभी वाक्य "ओम्" से आरम्भ होते हैं, और "पुण्याहम्", "स्वस्ति" एवं "ऋद्धिम्" का उच्चारण किया जाता है। क्रिया-संस्कार या कृत्य करनेवाला व्यक्ति उपस्थित ब्राह्मणों को गन्ध, पुष्प एवं ताम्बूल (पान) से सम्मा-

नित करता है और हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है कि "अमुक नाम्नः मम करिष्यमाणविवाहाख्याय कर्मणे स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु" अर्थात् आप इस कृत्य के दिन को शुभ घोषित करें, जिसे अमुक नाम वाला मैं करने जा रहा हूँ; और तब ब्राह्मण उत्तर देते हैं—"ओम् स्वस्ति" अर्थात् ओम् शुभ हो। 'स्वस्ति', 'पुण्याहम्' एवं 'ऋद्धिम्' तीनों के साथ यही क्रिया होती है और तीन-तीन बार दुहरायी जाती है।

मातृका-पूजन

सूत्रों में 'मातृका' (माता देवियों) की चर्चा नहीं पायी जाती। किन्तु कतिपय साधनों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में मातृकापूजन होता था। मृच्छकटिक नाटक में चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय से मातृका के लिए बलि की चर्चा करता है। गोभिल-स्मृति (१।११-१२) ने १४ मातृकाओं के नाम गिनाये हैं, यथा—गौरी, पद्मा, शची, मेधा, सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, धृति, पुष्टि, तुष्टि तथा अपनी देवी (अभीष्ट देवता)। मार्कण्डेय० (८८।११-२० एवं ३३) में मातृगण के नाम से सात माताओं (मातृकाओं) के नाम आये हैं। मत्स्यपुराण (१७९।९-३२) में एक सौ से अधिक माता-देवियों के नाम आये हैं, यथा माहेश्वरी, ब्राह्मी, कौमारी, चामुण्डा आदि। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (५८।५६) में मातृ-देवियों की मूर्तियों की ओर संकेत है। कादम्बरी के लेखक बाण ने भी माता-देवियों की चर्चा करते हुए उनके टूटे-फूटे मन्दिरों का उल्लेख किया है। कृत्यरत्नाकर ने सात माताओं की मूर्तियों की चर्चा की है तथा देवीपुराण ने मातृका-पूजन की चर्चा करते हुए उनके प्रिय पुष्पों के नाम बताये हैं। स्कन्दगुप्त के विहार-स्थित प्रस्तर-स्तम्भ के अभिलेख में मातृका-पूजन का उल्लेख है। चालुक्य राजा सात माताओं के प्रियभक्त कहे गये हैं। कदम्ब राजा भी कार्तिकेय स्वामी एवं मातृगण के पुजारी कहे गये हैं। विश्ववर्मा के मन्त्री मयूराक्ष ने माताओं के लिए मन्दिर बनवाये थे (सन् ४२३-२४)।[६]

मातृका-पूजन की परिपाटी कब से प्रारम्भ हुई? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। किन्तु गृह्यसूत्रों में यह वर्णित नहीं है। सर जान मार्शल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों में, जो मोहनजोदड़ो के विषय में लिखे गये हैं (जिल्द १, पृ० ७ एवं ४९-५२ एवं चित्र १२, ५४ एवं ५५), माता-देवियों की आकृति की ओर संकेत किया है। उनका कहना है कि आर्यों ने कालान्तर में मातृका-पूजन की परिपाटी मोहनजोदड़ो के निवासियों से सीखी, और शिव की पत्नी दुर्गा का पूजन इस प्रकार वैदिक धर्म में प्रविष्ट हो सका। ऋग्वेद (९।१०२।४) में सोम बनाने के वर्णन में सात माताओं का उल्लेख है (सम्भवतः यहाँ ये सात माताएँ सात मात्राएँ (छन्द आदि) या सात नदियाँ हैं)।

नान्दी-श्राद्ध

इस पर हम श्राद्ध के प्रकरण में पढ़ेंगे।

पुंसवन

इस संस्कार को यह नाम इसलिए दिया गया है कि इसके करने से पुत्रोत्पत्ति होती है (पुमान् प्रसूयते येन

६. उपर्युक्त अभिलेखों के लिए देखिए क्रम से (१) गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० ४७, ४९, (२) इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० ७३ एवं एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृ० १०० (६०० ई०), (३) इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ६ पृष्ठ २५ एवं (४) गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० ७४।

तत् पुंसवनमीरितम्—संस्कारप्रकाश)। 'पुंसवन' शब्द अथर्ववेद (६।११।१) में आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है "लड़के को जन्म देना।" आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१३।२-७) ने इस संस्कार का वर्णन यों किया है—गर्भ के तीसरे महीने तिष्य (अर्थात् पुष्य) नक्षत्र के दिन स्त्री को गत पुनर्वसु नक्षत्र में उपवास कर लेने के उपरान्त अपने-से ही रंग के बछड़े वाली गाय के दही में दो कण शिम्बिक (सेम) एवं जौ का एक कण देना चाहिए (एक चुल्लू दही में दो सेम एवं एक जौ तीन बार देने चाहिए)। यह पूछने पर कि "तुम क्या पी रही हो", "तुम क्या पी रही हो," स्त्री बोलेगी—"पुंसवन" (पुत्र की उत्पत्ति), "पुंसवन"। इस प्रकार पति दही, दो सेम एवं एक जौ के दाने के साथ तीन बार क्रियाएँ करता है।

पुंसवन के वर्णन में कुछ धर्मशास्त्रकारों में मतभेद भी है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र, हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एवं भारद्वाज-गृह्यसूत्र के मत में पुंसवन का संस्कार सीमन्तोन्नयन के उपरान्त होता है। आपस्तम्ब तो इसे गर्भ के स्पष्ट हो जाने पर ही करने को कहता है। पारस्कर एवं बैजवाप, जातूकर्ण्य, गोभिल, खादिर आदि में समय आदि पर मतैक्य नहीं है। याज्ञवल्क्य (१।११), पारस्कर (१।१४), विष्णुधर्मसूत्र, बृहस्पति आदि ने कहा है कि जब भ्रूण हिलने डुलने लगे तब यह क्रिया करनी चाहिए। कुछ लोगों ने कुछ नक्षत्रों को पुरुष नक्षत्र माना है, यथा स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत एक श्लोक में हस्त, मूल, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशिरा एवं पुष्य पुरुष नक्षत्र कहे गये हैं। संस्कारमयूख में लिखित नारदीय के अनुसार रोहिणी, पूर्वाभाद्रपदा एवं उत्तराभाद्रपदा भी पुरुष नक्षत्र हैं। वसिष्ठ के अनुसार स्वाति, अनुराधा एवं अश्विनी भी पुरुष नक्षत्र हैं। इस प्रकार कई मत हैं, जिनके विस्तार में पड़ना यहाँ अपेक्षित नहीं है। काठक-गृह्यसूत्र (३२।२) ने गर्भाधान के पाँचवे तथा मानवगृह्यसूत्र ने आठवें मास के उपरान्त पुंसवन करने का निर्देश किया है। बहुत-से गृह्यसूत्रों ने न्यग्रोध की कोपलों (नये पत्तों) को कूटकर स्त्री के दायें नथुने में निचोड़ने को कहा है। सूत्रकारों ने इस विषय में जो मंत्रोच्चारण बताये हैं, उनमें भी विभेद है। अतः मन्त्रों का विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो सकता है कि पुंसवन संस्कार में धार्मिक (होम तथा पुत्र-प्राप्ति प्राचीन काल से ही मान्य है), प्रतीकात्मक (सेम एवं जौ के साथ दही का पीना) एवं ओषधि-सम्बन्धी (स्त्री की नाक में कोई पदार्थ डालना) तत्त्व पाये जाते हैं। पारस्कर (१।१४) ने पत्नी की गोद में कछुए के पित्त (माय्) को रखने का निर्देश क्यों किया है; समझ में नहीं आता।

संस्काररत्नमाला जैसे कालान्तर वाले ग्रन्थों ने पुंसवन के लिए होम की भी व्यवस्था की है और कहा है कि पति के अभाव में देवर भी इस कृत्य को कर सकता है, किन्तु तब वह गृह्याग्नि (भोजनगृह की अग्नि) में ही किया जाता है। यही बात सीमन्तोन्नयन के विषय में भी लागू है।

अनवलोभन या गर्भरक्षण

यह कृत्य स्पष्टतया पुंसवन का एक भाग है। आश्वलायनगृह्यसूत्र ने (उपनिषद् में वर्णित) इन दोनों को पृथक्-पृथक् माना है। बैजवापगृह्यसूत्र ने कहा है—पुंसवन एवं अनवलोभन को कृष्ण पक्ष के चन्द्र की चतुर्दशी को शुभ घड़ियों में, जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र के साथ हो, करना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि दोनों का मनाना एक ही दिन होता था। इन दोनों संस्कारों का तात्पर्य यह है कि इनके करने से गर्भपात नहीं होता। आश्वलायन-गृह्यसूत्र (१।१३।५-७) ने इसका वर्णन यों किया है—"तब वह किसी गोल घर की छाया में पत्नी के दाहिने नथुने में किसी न सूखी हुई जड़ी का रस डाले। कुछ आचार्यों के मत से 'प्रजावत्' एवं 'जीवपुत्र' नामक मन्त्रों का उच्चारण

मी होना चाहिए।[७] तब पके हुए अन्न की आहुति प्रजापति को देकर उसे अपनी स्त्री के हृदय के पास का स्थल छूना चाहिए और प्रजापति से प्रार्थना करनी चाहिए--अहो! आपके हृदय में क्या छिपा है, मैं उसे समझता हूँ...मेरे पुत्र को चोट न पहुँचे......।"

उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि दूर्वा-रस का स्त्री की नाक में डालना, उसके हृदय को स्पर्श करना एवं देवताओं को भ्रूण की रक्षा के लिए प्रसन्न करना आदि कर्म इस संस्कार के विशिष्ट लक्षण हैं।

शौनक-कारिका के अनुसार इस संस्कार को अनवलोभन कहा जाता है, जिसके अनुसार भ्रूण निर्विघ्न रहता है और गिरता नहीं। स्मृत्यर्थसार के अनुसार यह चौथे मास में किया जाता है। लघु-आश्वलायन (४।१-२) के अनुसार अनवलोभन एवं सीमन्तोन्नयन गर्भाधान के चौथे, छठे या आठवें मास में मनाये जाते हैं।

शांखायनगृह्यसूत्र (१।२१।१-३) ने गर्भरक्षण कृत्य के विषय में लिखा है—चौथे मास में गर्भरक्षण कृत्य किया जाता है। पके हुए अन्न की छः आहुतियाँ अग्नि में डाली जाती हैं और "ब्रह्मणाग्नि"० नामक मन्त्रों (ऋक् १०।१६२) को "स्वाहा" के साथ उच्चारित किया जाता है और स्त्री के अंगों पर निर्मलीकृत घृत छिड़का जाता या चुपड़ा जाता है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार यह कृत्य प्रत्येक गर्भाधान के उपरान्त किया जाना चाहिए। किन्तु बहुत-से ग्रन्थकारों ने इसे पुंसवन की भाँति एक ही बार करने को कहा है।

सीमन्तोन्नयन

इस संस्कार का वर्णन आश्वलायन (१।१४।१-९), शांखायन (१।२२), हिरण्यकेशीय (२।१), बौधायन (१।१०), भारद्वाज (१।२१), गोभिल (२।७।१-१२), खादिर (२।२।२४-२८), पारस्कर (१।१५), काठक (३१।१-५) एवं वैखानस (३।१२) नामक गृह्यसूत्रों में पाया जाता है। 'सीमन्तोन्नयन' शब्द का अर्थ है "(स्त्री के) केशों को ऊपर विभाजित करना।" याज्ञवल्क्य (१।११) एवं व्यास (१।१८) ने इस संस्कार को केवल 'सीमन्त' की संज्ञा दी है, गोभिल (२।७।१), मानवगृह्यसूत्र (१।१२।२) एवं काठकगृह्यसूत्र (३१।१) ने इसे 'सीमन्तकरण' कहा है, किन्तु आपस्तम्बगृह्यसूत्र एवं भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।२१) ने इसे पुंसवन के पहले ही उल्लिखित किया है। आश्वलायन ने इसका वर्णन यों किया है—गर्भाधान के चौथे मास में सीमन्तोन्नयन (कृत्य) करना चाहिए। क्षय होते हुए चन्द्र की चतुर्दशी के दिन जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र के साथ हो (या नारायण के अनुसार कम-से-कम जिस नक्षत्र का नाम पुंल्लिग में हो) इसे करना चाहिए। तब अग्नि स्थापना की जाती है (अर्थात् आज्यभागों की आहुतियों तक होम किया जाता है)। फिर अग्नि के पश्चिम बैल (वृष) का चर्म रख दिया जाता है, जिसकी गरदन पूर्व ओर और बाल ऊपर रहते हैं तथा आज्य (निर्मलीकृत घृत) की आठ आहुतियाँ दी जाती हैं। संस्कारकर्ता की स्त्री चर्म पर बैठकर पति का हाथ पकड़ लेती है और मन्त्रोच्चारण किया जाता है, यथा —अथर्ववेद (७।१७।२-३)

७. नारायण ने व्याख्या की है कि जड़ी "दूर्वा" ही है, जो बहुत पुराने काल से प्रयोग में लायी जाती रही है। इस जड़ी का रस नाक में मौन रूप से या मन्त्रोच्चारण के साथ डाला जा सकता है। दोनों मन्त्र ये हैं—आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम्। आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥ अग्निरैतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात्॥ इसमें प्रथम अथर्ववेद (३।२३।२) का और दूसरा आपस्तम्बीयमन्त्रपाठ (१।४।७) का है।

के दो मन्त्र, ऋग्वेद (२।३२।४-५) के दो तथा "नेजमेष०" नामक तीन मन्त्र (ऋग्वेद १०।१८४ के पश्चात् वाला एक खिलसूक्त एवं आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ १।१२।७-९)। तब संस्कारकर्ता स्त्री के (मस्तक के ऊपर के) बालों को, कच्चे फलों की सम संख्या से तथा साही (शल्लकी) के तीन रंग वाले काँटे तथा कुश के तीन गुच्छों के साथ ऊपर करता है और चार बार "भूर् भुवः, स्वः, ओम्" का उच्चारण करता है। इसके उपरान्त वह दो वीणावादकों को सोम राजा की प्रशंसा में गाने का आदेश देता है। वीणावादक यह गाथा गाते हैं—'हमारे राजा सोम मानव जाति को आशीर्वाद दें। इस (नदी) का पहिया (राज्य) स्थिर है, जहाँ वे रहते हैं। आप उन्हें उनकी पति एवं पुत्र वाली बूढ़ी ब्राह्मण स्त्रियाँ जो कहती हैं करने दीजिए।' इस कृत्य के बारे में आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ में जो १३ मन्त्र आते हैं, वे सभी ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं तैत्तिरीय संहिता में पाये जाते हैं।

इस संस्कार में सर्वप्रथम मन्त्रों के साथ होम होता है। किन्तु इस संस्कार का केवल सामाजिक एवं औत्सविक महत्त्व है, क्योंकि यह केवल गर्भिणी को प्रसन्न रखने के लिए है। गृह्यसूत्रों में इसके विस्तार के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। दो-एक मत इस प्रकार हैं—काठक ने तीसरे, मानव ने तीसरे, छठे या आठवें, आश्वलायन ने चौथे, आपस्तम्ब एवं हिरण्यकेशी ने क्रम से चौथे एवं छठे तथा पारस्कर, याज्ञवल्क्य (१।११), विष्णुधर्मसूत्र (२८।३) और शंख ने छठे, आठवें मास को इसके लिए माना है। स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत शंख-मत के अनुसार सीमन्तोन्नयन संस्कार भ्रूण के हिलने-डुलने से लेकर जन्म होने तक किया जा सकता है। आश्वलायन, शांखायन एवं हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रों के अनुसार चन्द्र का किसी पुरुष नक्षत्र के साथ जुड़ा होना परम आवश्यक है। हिरण्यकेशी ने कहा है कि संस्कार गोल स्थल में होना चाहिए। आश्वलायन ने गर्भवती स्त्री को बैल के चर्म (खाल) पर बैठाया है, किन्तु पारस्कर ने मुलायम कुर्सी या आसन की व्यवस्था की है। कितनी आहुतियाँ दी जायें, इस विषय में भी मतैक्य नहीं है। गोभिल, खादिर, भारद्वाज, पारस्कर एवं शांखायन ने पके चावल और उस पर घृत या तिल रखने की व्यवस्था दी है और गर्भिणी को उसे देखने को कहा है। गर्भिणी से पूछा जाता है कि क्या देख रही हो? वह कहती है कि मैं सन्तान देख रही हूँ। अधिकांश में सभी गृह्यसूत्रों ने यह कहा है कि स्त्री के केशों को ऊपर उठाते समय पति कच्चे फलों के गुच्छे (गोभिल, पारस्कर, शांखायन ने इसे उदुम्बर फल माना है) का, साही के तीन धारी (रंग) वाले काँटे का तथा तीन कुशों का प्रयोग करता है। इस प्रकार के विस्तार में बहुत-सी विभिन्नताएँ पायी जाती हैं, कोई किसी फल का नाम बताता है, कोई तीन बार तो कोई छः बार केश उठाने को कहता है, कोई माला पहनाने को कहता है तो कोई आभूषण की चर्चा करता है।

मानवगृह्यसूत्र (१।१२।२) ने सीमन्तोन्नयन की चर्चा विवाह-संस्कार में भी की है। लघु-आश्वलायन (४।८-१६) ने आश्वलायनगृह्यसूत्र का बड़ा सुन्दर संक्षेप किया है।

आपस्तम्ब, बौधायन, भारद्वाज एवं पारस्कर ने स्पष्ट लिखा है कि यह केवल एक बार प्रथम गर्भाधान के समय मनाया जाना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार यह संस्कार स्त्री का है, किन्तु अन्य लोगों ने इसे भ्रूण का माना है और इसे प्रति गर्भाधान के लिए आवश्यक बतलाया है। कालान्तर में यह संस्कार समाप्तप्राय हो गया, क्योंकि मनु ने इसका नाम तक नहीं लिया है। याज्ञवल्क्य ने नाम ले लिया है।

विष्णुबलि

वसिष्ठ के अनुसार यह कृत्य गर्भाधान के आठवें मास में किया जाना चाहिए। यह उसी मत से जब शुक्ल पक्ष के चन्द्र के साथ श्रवण, रोहिणी या पुरुष नक्षत्र हो और तिथियाँ हों दूसरी, सातवीं या द्वादशी, तब किया जाना चाहिए। भ्रूण की बाधाओं को दूर करने तथा सन्तानोत्पत्ति में रक्षा के लिए यह कृत्य किया जाता है। इसे प्रत्येक

गर्भाधान पर किया जाता था। एक दिन पूर्व नान्दीश्राद्ध की व्यवस्था की गयी है। इसके उपरान्त अग्नि-होम आज्य-भाग तक किया जाता है। अग्नि के दक्षिण कमल या स्वस्तिक के चिह्न के आकार का एक अन्य स्थण्डिल बनाया जाता है, जिस पर विष्णु को पके हुए चावल की (घृत के साथ) ६४ आहुतियाँ दी जाती हैं। कुछ लोग विष्णु को न देकर अग्नि को ही आहुति देते हैं। इसमें मन्त्रों का उच्चारण होता है (ऋग्वेद १।२२।१६-२१; १।१५४।-१-६; ६।६९।१-८; ७।१०४।११; १०।९०।१-१६; १०।१८४।१-३)। अग्नि के उत्तर-पूर्व में एक वर्गाकार स्थल पर गोबर लीपकर उसे श्वेत मिट्टी से ६४ वर्गों में बाँटकर, पके हुए चावल की ६४ आहुतियाँ दी जाती हैं। उपर्युक्त मन्त्रों का ही उच्चारण होता है। ६४ आहुतियों के ऊपर एक आहुति विष्णु के लिए रहती है और "नमो नारायणाय" का उच्चारण किया जाता है। पति तथा पत्नी पृथक्-पृथक् उसी चावल के दो पिण्ड खाते हैं। इसके उपरान्त अग्नि स्विष्टकृत् को बलि दी जाती है। ब्राह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा दी जाती है। वैखानस (३।१३) ने विष्णुबलि का एक भिन्न रूप उपस्थित किया है। सर्वप्रथम अग्नि तथा अन्य देवतागण प्रणिधि-पात्र के उत्तर बुलाये जाते हैं और अन्त में 'पुरुष' चार बार "ओम् भूः, ओम् भुवः, ओम् स्वः, ओम् भूर्भुवः स्वः" के साथ बुलाया जाता है। तब अग्नि के पूर्व में संस्कारकर्ता कुशों पर केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर के नाम से विष्णु का आवाहन करता है। इसके उपरान्त विष्णु को मन्त्रों के साथ स्नान कराया जाता है (मन्त्र ये है "आपः०"—तैत्तिरीय संहिता ४।१।५।११, ऋग्वेद १०।९।१-३, "हिरण्यवर्णाः०"—तैत्तिरीय संहिता ५।६।१ तथा वह अध्याय जिसका आरम्भ "पवमानः" से होता है)। विष्णु की पूजा बारहों नामों द्वारा चन्दन पुष्प आदि से की जाती है: नव घृत की "अतो देवा" (ऋग्वेद १।२२।१६-२१), "विष्णोर्नुकम्" (ऋग्वेद १।१५४।-१-७), "तदस्य प्रियम्" (तैत्तिरीय संहिता २।४।६, ऋग्वेद १।१५४।५), "प्रतद्विष्णुः" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २।४।३, ऋग्वेद १।१५४।२), "परो मात्रया" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।३), "विचक्रमे त्रिर्देवाः" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।३) नामक मन्त्रों के साथ १२ आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके उपरान्त संस्कारकर्ता दूध में पकाये हुए चावल की बलि की, जिस पर आज्य रखा रहता है, घोषणा करता है और १२ नामों को दुहराता हुआ १२ मन्त्रों के साथ (ऋग्वेद १।२२।१६-२१ एवं ऋग्वेद १।१५४।१-६) बलि देता है। इसके उपरान्त वह चारों वेदों से मन्त्र लेकर देवताओं की स्तुति करके झुकता है और बारहों नामों से "नमः" शब्द के साथ प्रणाम करता है। अन्त में चावलों का जो भाग शेष रहता है उसे स्त्री खा लेती है।

सोष्यन्तीकर्म

इस संस्कार की चर्चा आपस्तम्बगृह्यसूत्र (१४।१३-१५), हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (२।२।८, २।३।१), भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।२२), गोभिलगृह्यसूत्र (२।७।१३-१४), खादिरगृह्यसूत्र (२।२।२९-३०), पारस्करगृह्यसूत्र (१।१६), काठकगृह्यसूत्र (३३।१-३) में हुई है, अतः यह अति प्राचीन संस्कार है। इस संस्कार का अर्थ है "एक ऐसी नारी के लिए संस्कार जो अभी बच्चा जननेवाली हो" अर्थात् बच्चा जननेवाली नारी के लिए संस्कार या कृत्य। ऋग्वेद (५।७८।७-९) में इसके प्रारम्भिकतम संकेत पाये जाते हैं—"जिस प्रकार वायु झील को सब ओर से हिला देता है, उसी प्रकार दसवें महीने में भ्रूण हिले और बाहर चला आये। जिस प्रकार वायु, वन एवं समुद्र गति में हैं, उसी प्रकार हे भ्रूण, तुम दसवें मास में हो, बाहर चले आओ। पुत्र, माँ के अन्तः में दस मास सोने के उपरान्त बाहर आओ, जीवितावस्था में चले आओ, सुरक्षित चले आओ, माँ भी जीवित रहे।" बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।२३) ने भी इस संस्कार की चर्चा की है, आपस्तम्बगृह्यसूत्र ने भी उल्लेख किया है। विस्तार के विषय में गृह्यसूत्रों

में कुछ अन्तर पाया जाता है। इस संस्कार के विषय में जितने भी गृह्यसूत्रों के नाम दिये गये हैं, उन सभी में कुछ-न-कुछ अन्तर पाया जाता है।

जातकर्म

यह कृत्य अत्यन्त प्राचीन है। तैत्तिरीयसंहिता (२।२।५।३-४) में हम पढ़ते हैं—"जब किसी को पुत्र उत्पन्न हो तो उसे १२ विभिन्न पात्रों में पकी हुई रोटी (पुरोडाश) की बलि वैश्वानर को देनी चाहिए....। वह पुत्र जिसके लिए यह 'इष्टि' की जाती है, पवित्र, गौरवपूर्ण, धनधान्य से सम्पूर्ण, वीर एवं पशु वाला होता है।" इससे स्पष्ट है कि लड़के के जन्म पर वैश्वानरेष्टि कृत्य किया जाता था। जैमिनि (४।३।३८) ने इसकी व्याख्या की है और कहा है कि यह इष्टि पुत्र के लिए है न कि पिता के लिए। शबर ने अपने भाष्य में कहा है कि जातकर्म के उपरान्त यह इष्टि करनी चाहिए (पुत्र की उत्पत्ति के तुरन्त पश्चात् ही नहीं), जन्म के दस दिनों के उपरान्त पूर्णमासी या अमावस्या दिवस को इसे करना चाहिए। शतपथब्राह्मण ने नालच्छेदन (सद्यः जात बच्चे की नाभि से निकला हुआ स्नायु-मृणाल, जो गर्भाशय से लगा रहता है) के पूर्व के एक कृत्य का वर्णन किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।२) में भी इस कृत्य की ओर संकेत है, यथा "जब पुत्र की उत्पत्ति होती है, तब उसे सर्वप्रथम विमलीकृत मक्खन चटाना चाहिए, तब माँ के स्तन का स्पर्श कराना चाहिए।" इस उपनिषद् के अन्त में (६।४।२४-२८) जातकर्म का एक विस्तारपूर्ण वर्णन है—पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त अग्नि प्रज्वलित की जाती है। तदुपरान्त बच्चे को किसी की गोद में रखकर, दही को घी से मिलाकर एवं उसे कांस्यपात्र में रखकर इन मन्त्रों को पढ़ा जाता है—"मैं एक सहस्र सन्तानों को समृद्धि के साथ पाल सकूँ, सन्तान-पशु-वृद्धि में कोई अवरोध न उपस्थित हो, स्वाहा; मैं आपको अपने प्राण दे रहा हूँ, स्वाहा; जो कुछ मैंने इस कर्म में अधिक किया हो या कम किया हो, उसे अग्नि देवता, जिन्हें स्विष्टकृत् कहा जाता है, भरपूर एवं अच्छा किया हुआ बनायें तथा हमारे द्वारा भली प्रकार सम्पादित समझें।" इसके पश्चात् अपने मुख को बच्चे के दायें कान की ओर घुमाकर वह "वाक्" शब्द तीन बार उच्चारित करता है। तब दही, घृत एवं मधु मिलाकर सोने के चम्मच से बच्चे को पिलाता है और इन मन्त्रों को कहता है—"मैं तुम में भूः रखता हूँ, भुवः रखता हूँ, स्वः रखता हूँ और तुममें भूर्भुवः स्वः, सभी को एक साथ रखता हूँ।" तब वह नवजात शिशु को "तू वेद है" ऐसा कहकर नाम रखता है। यही उसका गुप्त नाम हो जाता है। तब वह शिशु को उसकी माँ को देता है और उसे ऋग्वेद के मन्त्र (१।१६४।४९) के साथ माँ का स्तन देता है। इसके उपरान्त वह बच्चे की माँ को मन्त्रों के साथ सम्बोधित करता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि बृहदारण्यकोपनिषद् में जातकर्म संस्कार के निम्नलिखित भाग हैं—(१) दही एवं घृत का मन्त्रों के साथ होम; (२) बच्चे के दाहिने कान में 'वाक्' शब्द को तीन बार कहना; (३) सुनहले चम्मच या शलाका से बच्चे को दही, मधु एवं घृत चटाना; (४) बच्चे को एक गुप्त नाम देना (नाम-करण); (५) बच्चे को माँ के स्तन पर रखना; (६) माता को मन्त्रों द्वारा सम्बोधित करना। शतपथब्राह्मण ने एक और बात जोड़ दी है; यथा—पाँच ब्राह्मणों द्वारा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊपर की दिशाओं से बच्चे के ऊपर साँस लेना। यह कार्य केवल पिता भी कर सकता है।

जातकर्म के विस्तार के विषय में गृह्यसूत्रों में बहुत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। कुछ गृह्यसूत्रों में उपर्युक्त सातों बातों की और कुछ में दो-एक कम की चर्चा हुई है। विभिन्न शाखाओं के अनुसार वैदिक मन्त्रों में भी भेद पाया जाता है।

जन्म के उपरान्त ही यह संस्कार होना चाहिए। किन्तु इसके करने के ढंग में मतैक्य नहीं है। आश्वलायन

गृह्यसूत्र (१।१५।२) के अनुसार यह कृत्य किसी अन्य व्यक्ति द्वारा (माँ एवं दाई को छोड़कर) स्पर्श होने के पूर्व किया जाना चाहिए। पारस्करगृह्यसूत्र (१।१६) के अनुसार नाल काटने से पूर्व यह संस्कार हो जाना चाहिए। यही बात गोभिल (२।७।१७) एवं खादिर (२।२।३२) में भी पायी जाती है।

आश्वलायन एवं शांखायन ने जन्म के समय गुप्त नाम रखने को कहा है, किन्तु अलग से नामकरण संस्कार की चर्चा नहीं की है। शांखायनगृह्यसूत्र (१।२४।६) ने जन्म के दसवें दिन व्यावहारिक नाम रखने को कहा है। अब हम नीचे इस संस्कार के विभिन्न भागों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(१) **होम**—जन्म के समय इसका वर्णन बृहदारण्यक०, मानव एवं काठकगृह्यसूत्र में पाया जाता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र के परिशिष्ट (१।२६) में आया है कि अग्नि तथा अन्य देवताओं के लिए होम करना चाहिए। होम के उपरान्त ही बच्चे को मधु एवं घृत देना चाहिए। इसके उपरान्त अग्नि को आहुति देनी चाहिए। गोभिल एवं खादिर ने इसे सोष्यन्तीकर्म में अर्थात् जन्म के पूर्व करने को कहा है। बौधायनगृह्यसूत्र (२।१।१३) में इसे सम्पूर्ण कृत्य के उपरान्त करने को कहा गया है। आश्वलायन, शांखायन आदि ने इसे छोड़ दिया है। पारस्करगृह्य० (१।१६), हिरण्यकेशिगृह्य०, भारद्वाजगृह्य० (१।२६) ने लिखा है कि औपासन (गृह्य) अग्नि को हटाकर सूतिकाग्नि स्थापित करनी चाहिए। सूतिकाग्नि को उत्तपनीय भी कहा गया है। यह अग्नि सूतिका-गृह (जहाँ शिशु के साथ उसकी माँ रहती है) के द्वार पर रखी जाती है। वैखानस (३।१५) ने इस अग्नि को जातकाग्नि एवं उत्तपनीय कहा है। इन मतों के अनुसार जन्म के समय इस अग्नि में श्वेत रंग की सरसों तथा चावल डालने चाहिए और यह कृत्य जन्म के उपरान्त दस दिनों तक प्रत्येक प्रातः एवं सन्ध्या में मन्त्रों के साथ किया जाना चाहिए।

(२) **मेधाजनन**—इसके दो अर्थ हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में यह शब्द नहीं मिलता। आश्वलायन एवं शांखायन (१।२४।९) में शिशु के दाहिने कान में मन्त्रोच्चारण को मेधा-जनन कहा गया है। किन्तु वैखानस, हिरण्यकेशी, गोभिल में मेधाजनन को दाहिने कान में कुछ कहने के स्थान पर बच्चे को दही, घृत आदि खिलाना कहा गया है। क्या खिलाया जाय या क्या न खिलाया जाय, इस विषय में भी मतैक्य नहीं है। कालान्तर के ग्रन्थों ने, यथा—संस्कारमयूख ने मधु एवं घृत का दिया जाना जातकर्म संस्कार का एक प्रमुख अंग माना है।

(३) **आयुष्य**—कुछ सूत्रों ने जातकर्म के सिलसिले में आयुष्य नामक कृत्य का भी उल्लेख किया है। यह है बच्चे की नाभि पर मन्त्रोच्चारण करना, या लम्बी आयु के लिए दाहिने कान या नाभि पर कुछ कहना। आश्वलायन ने दही एवं घृत खिलाते समय इसी बात की ओर संकेत किया है। भारद्वाज०, मानवगृह्य०, काठक० आदि ने भी यही बात कही है।

(४) **अंसाभिमर्शन (बच्चे के कन्धे या दोनों कन्धों को छूना)**—आपस्तम्ब ने लिखा है कि पिता 'वात्सप्र' अनुवाक के साथ बच्चे को छूता है। पारस्कर, भारद्वाज आदि ने बच्चे को दो बार छूने को कहा है, एक बार वात्सप्र अनुवाक (वाज० १२।१८-२९; तैत्ति० ४।२।२) के साथ तथा दूसरी बार "पत्थर (जैसा दृढ) हो, कुल्हाड़ी (जैसा पर-घातक) हो" के साथ। कुछ सूत्रों में यह क्रिया छोड़ दी गयी है।

(५) **मात्रभिमन्त्रण (माता को सम्बोधित करना)**—पिता द्वारा माता वैदिक मन्त्रों से सम्बोधित होती है। बहुत-से सूत्रों में इसकी चर्चा नहीं हुई है। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र में एक दूसरा मन्त्र रखा गया है।

(६) **पञ्च-ब्राह्मणस्थापन**—शतपथ० में आया है कि पाँच ब्राह्मण या केवल पिता शिशु के उपर साँस लेता है। पारस्कर में भी यही बात है (पाँच ब्राह्मण पूर्व से क्रमशः प्राण, व्यान, अपान, उदान एवं समान को दुहराएँगे)। शांखायन ने केवल पिता को ही तीन बार बच्चे के ऊपर साँस लेने को कहा है। यह तीन संख्या तीन वेदों की ओर संकेत करती है। बहुत-से सूत्रों ने इसका उल्लेख ही नहीं किया है।

(७) **स्तन-प्रतिधान या स्तनप्रदान**—इसके द्वारा बच्चे को स्तनपान कराने की क्रिया की जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्, पारस्कर०, वाजसनेयी संहिता, आपस्तम्ब०, भारद्वाज० आदि ने इसकी चर्चा की है। कहीं एक स्तन के लिए और कहीं दोनों के लिए मन्त्रोच्चारण की व्यवस्था की गयी है।

(८) **देशाभिमन्त्रण (देशाभिमर्शन)**—जहाँ शिशु उत्पन्न होता है, उस स्थान को छूना तथा पृथिवी को सम्बोधित करना होता है। पारस्कर० भारद्वाज० एवं हिरण्यकेशि० में यह वर्णित है।

(९) **नामकरण (बच्चे का नाम रखना)**—जन्म के दिन ही बृहदारण्यकोपनिषद्, आश्वलायन, शांखायन, गोभिल, खादिर तथा अन्य धर्मशास्त्रकारों ने नाम रखने की बात चलायी है। आश्वलायन (१।१५।४ एवं १०) ने दो नामों की बात कही है, जिनमें एक को सभी लोग नाम सकते हैं, किन्तु दूसरे को उपनयन तक केवल माता-पिता ही जान सकते हैं। सर्वसाधारण की जानकारी वाले नाम के लिए विस्तार के साथ नियमादि बताये गये हैं। शांखायन ने गुप्त नाम के लिए विस्तार से विधान बताया है और साधारण नाम के लिए जन्म के उपरान्त दसवाँ दिन ही उपयुक्त माना है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (१५।२-३ एवं ८) ने जन्म के समय नक्षत्र के अनुसार गुप्त नाम रखने की तथा दसवें दिन वास्तविक नाम रखने की व्यवस्था दी है। गोभिल एवं खादिर ने सोष्यन्तीकर्म में नाम रखने को कहा है, और कहा है कि यह नाम गुप्त है।

(१०) **भूत-प्रेतों को भगाना**—आश्वलायन एवं शांखायन इस विषय में मौन हैं। बहुत से सूत्रों ने इस विषय में लम्बी चर्चाएँ की हैं और ऐन्द्रजालिक मन्त्रों के उच्चारण की व्यवस्था दी है। आपस्तम्ब ने सरसों के बीज एवं धान की भूसी को आठ मन्त्रों के साथ अग्नि में तीन बार डालने को कहा है। कुछ अन्तरों के साथ यही बात भारद्वाज, पारस्कर आदि में भी है।

इसी सिलसिले में कुछ गौण बातों की चर्चा भी हो जानी चाहिए। बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी एवं वैखानस ने स्पष्ट लिखा है कि शिशु को स्नान करा देना चाहिए। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एवं वैखानस में परशु (फरसा), सोना तथा प्रस्तर रखने की व्यवस्था है, जो शक्ति के प्रतीक हैं, इसी प्रकार पारस्कर, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, भारद्वाज एवं वैखानस में जलपूर्ण पात्र को जच्चा और बच्चे के सिर की ओर रखने को कहा गया है। इन सूत्रों में वैखानस को छोड़कर किसी में भी ज्योतिष-सम्बन्धी बातें नहीं उल्लिखित हैं। वैखानस (३।१४) ने लिखा है कि जब बच्चे की नाक दिखाई पड़ जाय, ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति की जाँच कर लेनी चाहिए और भविष्य कथन के अनुसार ही आगे चलकर उसका पालन-पोषण करना चाहिए, जिससे कि वह सम्भावित शुभ गुणों का विकास कर सके। आपस्तम्ब एवं बौधायन के अनुसार मधु, दही एवं घृत के शेषांश को अपवित्र स्थानों में नहीं फेंकना चाहिए, उन्हें गौशाला में रख देना चाहिए। यह कृत्य क्रमशः अप्रचलित होता चला गया। सम्भवतः नवजात शिशु के साथ इतना लम्बा-चौड़ा संस्कार सुविधाजनक नहीं जँचा, क्योंकि हमें आज ये बातें केवल ग्रन्थों में ही मिलती हैं।

स्मृतिचन्द्रिका ने हारीत, शंख, जैमिनि का उद्धरण देते हुए कहा है कि नाल कटने के पूर्व अशौच नहीं माना जाता। तब तक संस्कार किया जा सकता है; तिल, सोना, परिधान, धान्य आदि का दान किया जा सकता है। कुछ सूत्रों के अनुसार पिता को जातकर्म करने के पहले स्नान कर लेना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका ने प्रचेता, व्यास तथा अन्य लोगों का मत प्रकट करते हुए लिखा है कि जातकर्म में नान्दीश्राद्ध भी कर लेना चाहिए। धर्मसिन्धु के अनुसार इसमें स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन एवं मातृकापूजन किया जाना आवश्यक है।

मध्यकाल के निबन्धकारों ने कृष्णपक्ष की चतुर्दशी, अमावस्या, मूल, आश्लेषा मघा एवं ज्येष्ठा नक्षत्रों तथा अन्य ज्योतिष-सम्बन्धी क्रूर समयों, यथा व्यतीपात, वैधृति, संक्रान्ति में सन्तानोत्पत्ति से उत्पन्न प्रभावों को दूर करने

के लिए शान्ति-कृत्यों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इन बातों पर यहाँ प्रकाश नहीं डाला जायगा। कुछ बातों पर हम शान्ति एवं मुहूर्त के प्रकरणों में पढ़ लेंगे।

आधुनिक काल में पाँचवें या छठे दिन कुछ कृत्य किये जाते हैं, जिनके विषय में सूत्रों में कोई चर्चा नहीं हुई है। सम्भवतः ये कृत्य पौराणिक हैं, क्योंकि निर्णयसिन्धु, संस्कारमयूख तथा अन्य ग्रन्थों में एतद्विषयक श्लोक मार्कण्डेय पुराण, व्यास एवं नारद के ही पाये जाते हैं। पाँचवें या छठे दिन (छठी के दिन) पिता या अन्य सम्बन्धी लोग रात्रि के प्रथम प्रहर में स्नान करते हैं, तब गणेश तथा अन्य जन्मदा नामक गौण देवताओं का मुट्ठी भर चावलों में आवाहन करते हैं, इसी प्रकार षष्ठीदेवी एवं भगवती (दुर्गा) का भी आवाहन किया जाता है और सोलह उपचारों के साथ उनकी पूजा की जाती है। तब एक या कई ब्राह्मणों को ताम्बूल एवं दक्षिणा दी जाती है और घर तथा कुटुम्ब के लोग रात्रि भर गाना गा-गाकर जागते हैं (भूत-प्रेतों को भगाने के लिए)। मार्कण्डेयपुराण में आया है कि कुछ मनुष्यों को अस्त्र-शस्त्र से सज्जित होकर रात्रि भर रक्षा करनी चाहिए। कालान्तर में बुरे नक्षत्रों के प्रभावों की मर्यादा इतनी बढ़ा दी गयी कि कतिपय जन्मों में कुछ शिशुओं को त्याग देने तथा आठ वर्ष तक मुख न देखने तक की व्यवस्था की गयी। इस विषय में नित्याचारपद्धति (पृ० २४४-२५५) पठनीय है।

उत्थान (बच्चे का शय्या से उठना)—वैखानस (३।१८) के अनुसार १०वें या १२वें दिन पिता केश बनवाता है, स्नान करता है, गृह स्वच्छ कराता है, तथा किसी अन्य गोत्र वाले व्यक्ति द्वारा जातकाग्नि में पृथिवी के लिए यज्ञ कराता है। इसके उपरान्त औपासन (गृह्याग्नि) को मँगाता है, धाता को आहुति देता है, वरुण को पाँच आहुति देता है और ब्राह्मणों को खिलाता है। शांखायनगृह्यसूत्र (१।२५) ने इस विषय में बड़ा विस्तार किया है जिसका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है। इस प्रकार सूतकाग्नि हट जाने पर औपासन (गृह की अग्नि) की स्थापना होती है और बच्चे की माँ बच्चे के बिस्तर से उठने पर अन्य पवित्र कामों के योग्य समझी जाने लगती है।

नामकरण

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से व्यक्त हो चुका है, यह संस्कार शिशु के नाम रखने से सम्बन्धित है। विषय में विस्तार के साथ निम्न ग्रन्थ पठनीय हैं—आपस्तम्बगृह्यसूत्र (१५।८-११), आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१५।४-१०), बौधायनगृह्यसूत्र (२।१।२३-३१), भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।२६), गोभिलगृह्यसूत्र (२।८।८-१८), हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (२।४।६-१५), काठकगृह्यसूत्र (३४।१-२ एवं ३६।३-४), कौशिकसूत्र (५८।१३-१७), मानवगृह्यसूत्र (१।१८।१), शांखायनगृह्यसूत्र (१।२४।४-६), वैखानस (३।१९) एवं वाराहगृह्यसूत्र (२)।

नाम रखने की तिथि के विषय में बड़ा मतभेद रहा है। प्राचीन साहित्य, सूत्रों एवं स्मृतियों में अनेक तिथियों की चर्चा है। कुछ मत निम्न हैं—

(क) गोभिल एवं खादिर के मतानुसार सोष्यन्तीकर्म में भी नाम रखा जा सकता है।

(ख) बृहदारण्यकोपनिषद्, आश्वलायन, शांखायन, काठक आदि के मत से जन्म के दिन ही नाम रखने की व्यवस्था है। शतपथब्राह्मण ने भी ऐसा ही कहा है,[८] पतञ्जलि के महाभाष्य में भी ऐसी ही चर्चा है—"लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वाते देवदत्तो यज्ञदत्त इति। तयोरुपचारादन्येऽपि जानन्तीयमस्य संज्ञेति।"

८. तस्मात्पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्पाप्मानमेवास्य तदपहन्त्यपि द्वितीयमपि तृतीयम्। शतपथ० ६।१।३।९।

(ग) आपस्तम्ब, बौधायन, भारद्वाज एवं पारस्कर ने नामकरण के लिए दसवाँ दिन माना है।

(घ) याज्ञवल्क्य (१।१२) ने जन्म के ११वें दिन नामकरण की व्यवस्था दी है।

(ङ) बौधायनगृह्यसूत्र (२।१।२३) में १०वाँ या १२वाँ दिन तथा हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र में १२वाँ दिन माना गया है। वैखानस के अनुसार माता १०वें या १२वें दिन सूतिकागृह छोड़ती है और नामकरण की चर्चा करती है। मनु (२।३०) के मत से १०वाँ या १२वाँ दिन या कोई शुभ तिथि (मुहूर्त एवं नक्षत्र के साथ) ठीक मानी जानी चाहिए।

(च) गोभिल (२।८।८) एवं खादिर के अनुसार दस रातों, सौ रातों या एक वर्ष के उपरान्त नामकरण किसी भी दिन सम्पादित हो सकता है। लघु-आश्वलायन (६।१) ने ११वाँ, १२वाँ या १६वाँ दिन अच्छा कहा है। अपरार्क ने गृह्यपरिशिष्ट के अनुसार दसवीं रात्रि, सौवीं रात्रि या साल भर के उपरान्त ही नाम का काल ठीक माना है। भविष्यत्पुराण ने १०वीं या १२वीं या १८वीं या १ मास के उपरान्त की तिथि की व्यवस्था दी है। बाण ने कादम्बरी में लिखा है कि तारापीड ने अपने पुत्र चन्द्रापीड का नाम दसवें दिन रखा (पूर्वभाग, अनुच्छेद ६८)।

टीकाकारों को इन विभिन्न मतों से कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विश्वरूप ने १०वीं रात्रि के उपरान्त तथा कुल्लूक (मनु २।३०) ने ११वें दिन (विश्वरूप के समान ही) नामकरण की तिथि मानी है। मेधातिथि ने १०वें एवं १२वें दिन के पूर्व नामकरण की तिथि नहीं मानी। अपरार्क ने लिखा है कि लोग अपने-अपने गृह्यसूत्र के अनुसार तिथि का निर्णय करें। आधुनिक काल में नामकरण जन्म के १२वें दिन बिना किसी वैदिक मन्त्रोच्चारण के मना लिया जाता है। स्त्रियाँ एकत्र होती हैं और पुरुषों से परामर्श कर नाम घोषित कर देती हैं और बच्चे को पालने पर डाल देती हैं। कहीं-कहीं अब भी यह संस्कार विधिवत् किया जाता है, किन्तु अब इसका प्रचलन एक प्रकार से उठ गया है।

ऋग्वेद में एक चौथे नाम की चर्चा हुई है (८।८०।९), जो एक यज्ञ कर्म के उपरान्त रखा जाता है। सायण के मतानुसार चार नाम हैं, नाक्षत्र नाम (जिस नक्षत्र में बच्चा उत्पन्न होता है उस पर), गुप्त नाम, सर्वसाधारण को ज्ञात नाम तथा कोई यज्ञकर्म सम्पादित करने पर रखा गया नाम, यथा सोमयाजी, अर्थात् सोमयाग करने से उत्पन्न नाम। ऋग्वेद के मन्त्र १०।५४।४ में चार नामों की ओर संकेत है, एवं ९।७५।२ में तीसरे नाम की चर्चा हुई है। ऋग्वेद (९।८७।३, १०।५५।१-२) में गुप्त नाम की ओर स्पष्ट निर्देश है। शतपथब्राह्मण (३।६।२।२४) में भी पिता द्वारा रखे गये तीसरे नाम का उल्लेख हुआ है। शतपथब्राह्मण (२।१।२।११) में आया है—"अर्जुन इन्द्र का गुप्त नाम है, और फाल्गुनी नक्षत्रों का स्वामी इन्द्र है, अतः वे वास्तव में 'आर्जुन्य' हैं, किन्तु वे अप्रत्यक्ष रूप से 'फाल्गुन्य' कहे जाते हैं।" गुप्त या गुह्य नाम किस प्रकार रखा जाता था, यह वैदिक साहित्य से स्पष्ट नहीं हो पाता।

तीन नामों के उदाहरण वैदिक साहित्य में इस प्रकार हैं, यथा त्रसदस्यु (अपना नाम), पौरुकुत्स्य (पुरुकुत्स का पुत्र), गैरिक्षित (गिरिक्षिति का वंशज)। ये नाम ऋग्वेद (५।३३।८) में मिल जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।५) में शुनश्शेप को आजीगर्ति (अजीगर्त का पुत्र) एवं आंगिरस (गोत्र नाम) कहा गया है। राजा हरिश्चन्द्र को वहीं (ऐतरेयब्राह्मण ३३।१) वैधस (वेधस् का पुत्र) एवं ऐक्ष्वाक (इक्ष्वाकु का वंशज) कहा गया है। शतपथब्राह्मण (१३।५।४।१) में इन्द्रोत दैवाप (देवापि का पुत्र) शौनक (गोत्र नाम) जनमेजय का पुरोहित कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् (५।३।१ एवं ७) में श्वेतकेतु आरुणेय (आरुणि के पुत्र) को गौतम (गोत्र नाम) कहा गया है। कठोपनिषद् में नचिकेता वाजश्रवस का पुत्र है और गौतम (गोत्र नाम) नाम से सम्बोधित है।

बहुधा वैदिक साहित्य में व्यक्ति दो नामों से सम्बोधित हैं। कुछ तो अपने एवं गोत्र के नाम से विख्यात हैं, यथा मेध्यातिथि काण्व (ऋ० ८।२।४०), हिरण्यस्तूप आंगिरस (ऋ० १०।१४९।५), वत्सप्री भालन्दन (तैत्ति० ५।२।१।६), बालाकि गार्ग्य (बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।१), च्यवन भार्गव (ऐतरेयब्राह्मण ३९।८)। कुछ व्यक्ति

अपने नाम तथा अपने देश के नाम से उल्लिखित हैं, यथा कशु चैद्य (ऋ० ८।५।३७), भीम वैदर्भ (ऐत० ३५।८), दुर्मुख पाञ्चाल (ऐत० ३९।२३), जनक वैदेह, अजातशत्रु काश्य (बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।१)। कहीं-कहीं माता के नाम से भी नामकरण हो गया है, दीर्घतमा मामतेय (ऋ० १।१५८।६), कुत्स आर्जुनेय (अर्जुनी का पुत्र, ऋ० ४।२६।१, ७।१९।२, ८।१।११), कक्षीवान् औशिज (उशिक् नामक स्त्री का पुत्र, ऋ० १।१८।१, वाजसनेयी संहिता, ३।२८), प्रह्लाद कायाधव (कयाधू का पुत्र, तैत्ति० १।५।१०), महिदास ऐतरेय (इतरा का पुत्र, छान्दोग्योपनिषद् ३।१६।७)। बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्त में ४० ऋषियों के नामों में माताओं के नाम का सम्बन्ध है। माता के नाम या माता के पिता के गोत्र के नाम के साथ नाम रखने की परिपाटी कालान्तर में भी चलती रही। ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में बहुधा नामों के साथ पिता के नामों का सम्बन्ध पाया जाता है, यथा—अम्बरीष, ऋज्राश्व, सहदेव एवं सुराधस् को वार्षागिर (वृषागिर के पुत्र, ऋ० १।१००।१७), राजा सुदास को पैजवन कहा गया है (पिजवन का पुत्र, ऋ० ७।१८।२२), देवापि को आर्ष्टिषेण कहा गया है (ऋष्टिषेण का पुत्र, ऋ० १०।९८।५-६); इसी प्रकार देखिए शम्यु बार्हस्पत्य (तैत्तिरीयसंहिता २।६।१०), भृगु वारुणि (ऐतरेय ब्राह्मण १३।१० एवं तैत्तिरीयसंहिता ३।१), भरत दौष्यन्ति (शतपथब्राह्मण १३।५।४।११, ऐतरेय ब्राह्मण ३९।९), नाभानेदिष्ठ मानव (ऐतरेय ब्राह्मण २२।९)।

नामों के विषय में प्रमुख नियमों का निर्धारण गृह्यसूत्रों द्वारा ही हुआ है (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१५।४-१०)।[१] शांखायनगृह्यसूत्र में जो नियम हैं वे आश्वलायनगृह्यसूत्र से भिन्न हैं। हम नीचे कतिपय नियमों का उद्घाटन करते हैं—

(१) सभी गृह्यसूत्रों में सर्वप्रथम नियम यह है कि पुरुष का नाम दो या चार अक्षरों का या सम संख्या वाला होना चाहिए। वैदिक साहित्य में ये नाम हैं—बक, त्रित, कुत्स, भृगु या त्रसदस्यु, पुरुकुत्स, मेध्यातिथि, ब्रह्मदत्त आदि। किन्तु तीन अक्षरों के नामों का, यथा कवष, च्यवन, भरत आदि एवं पाँच अक्षरों के नामों, यथा नाभा, नेदिष्ठ, हिरण्यस्तूप आदि का अभाव नहीं पाया जाता। बैजवापगृह्यसूत्र में एक, दो, तीन, चार या किसी भी संख्या के नामों का समर्थन पाया गया है। शांखायन ने छः अक्षरों एवं बौधायन ने (२।१।२५) ६ या ८ अक्षरों वाले नामों का भी समर्थन किया है।

(२) सभी गृह्यसूत्रों में यह नियम पाया जाता है कि नाम का आरम्भ उच्चारण करने योग्य तथा बीच में अर्धस्वर वाला अवश्य हो। महाभाष्य में याज्ञिकों के प्राचीन उद्धरण से भी यही बात झलकती है।

(३) कुछ सूत्रों में ऐसा आया है कि नाम के अन्त में विसर्ग हो किन्तु उसके पूर्व दीर्घ स्वर अवश्य होना चाहिए (आप०, भारद्वाज०, हिरण्य०, पारस्कर० आदि)। आश्वलायन ने विसर्ग का अन्त में होना स्वीकार किया है। वैखानस एवं गोभिल ने विसर्ग या दीर्घ स्वर के साथ अन्त होना स्वीकार किया है। सम्भवतः ये नियम सुदास, दीर्घतमाः, पृथुश्रवाः आदि ऋग्वेदीय नामों के आधार पर बने हैं।

(४) आपस्तम्ब ने लिखा है कि नाम के दो भाग होने चाहिए, जिनमें पहला संज्ञा हो और दूसरा क्रियात्मक हो, यथा ब्रह्मदत्त, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि।

१. नाम चास्मै दधुः घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम्। चतुरक्षरं वा। द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः। युग्मानि त्वेव पुंसाम्। अयुजानि स्त्रीणाम्। अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विद्यातामोपनयनात्। आश्व० गृ० १।१५।४-१०।

(५) कुछ गृह्यसूत्रों ने, यथा पारस्कर, गोभिल, शांखायन, बैजवाप, वाराह आदि ने लिखा है कि नाम 'कृत्' से बनना चाहिए न कि तद्धित से।

(६) आपस्तम्ब एवं हिरण्यकेशि० का कहना है कि नाम में 'सु' उपसर्ग होना चाहिए, यथा—सुजात, सुदर्शन, सुकेशा।

(७) बौधायन० के अनुसार नाम किसी ऋषि, देवता या पूर्वपुरुष से निःसृत होना चाहिए। मानवगृह्यसूत्र ने देवता का नाम वर्जित माना है, किन्तु देवता के नाम से निर्मित वासिष्ठ, नारद आदि नामों को स्वीकार किया है। विष्णु, शिव आदि नाम भी प्रचलित रहे हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० १।१२) में शंख का उद्धरण है, जिससे पता चलता है कि नाम का सम्बन्ध कुलदेवता से होना चाहिए। आधुनिक काल में बहुधा लोगों के नाम देवताओं, शूरवीरों या देवताओं के अवतारों से सम्बन्धित पाये जाते हैं। किन्तु वैदिक काल में मनुष्यों के नाम देवताओं के नामों से सम्बन्धित नहीं पाये जाते। दो-एक अपवाद भी हैं, यथा भृगु (तैत्तिरीयोपनिषद्, ३।१) ने अपने पिता वरुण से विद्याध्ययन किया था, सौर्यायणि गार्ग्य का नाम सूर्य से सम्बन्धित है। देवताओं से निःसृत नाम अवश्य पाये जाते हैं, यथा इन्द्रोत (इन्द्र+ऊत, रक्षित), इन्द्रद्युम्न आदि। महाभाष्य में उल्लिखित नाम, यथा देवदत्त, यज्ञदत्त, वायुदत्त, विष्णुमित्र, बृहस्पतिदत्तक, (बृहस्पतिक), प्रजापतिदत्तक (प्रजापतिक), भानुदत्तक (भानुक) मानवगृह्यसूत्र के नियम का प्रतिपादन करते हैं।

(८) बौधायन, पारस्कर, गोभिल एवं महाभाष्य द्वारा उद्धृत याज्ञिकों के नियम के अनुसार बच्चे का नाम पिता के किसी पूर्वज का ही होना चाहिए। किन्तु पिता का नाम पुत्र का नाम नहीं होना चाहिए (मानवगृह्यसूत्र, १।१८)।

(९) पारस्कर एवं मानव को छोड़कर सभी गृह्यसूत्र यह स्वीकार करते हैं कि गुह्य नाम सोष्यन्तीकर्म में (गोभिल एवं खादिर के मत से), जन्म के समय (आश्वलायन एवं काठक के मत से) तथा नामकरण के समय १०वें या १२वें दिन (आपस्तम्ब, बौधायन एवं भारद्वाज के मत से) रखा जाना चाहिए। हिरण्यकेशि० एवं वैखानस के मतानुसार गुह्य (गुप्त) नाम जन्म के समय के नक्षत्र से सम्बन्धित होना चाहिए। आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार गुप्त नाम अभिवादनीय (जो उपनयन तक केवल माता-पिता को ज्ञात रहता है, जिसे श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते समय बच्चा स्वयं प्रयोग में लाता है) कहा जाता है; किन्तु ऐसा क्यों, इस पर प्रकाश नहीं मिलता। गोभिल, खादिर, वाराह एवं मानव ने अभिवादनीय नाम की चर्चा की है। गोभिल के मत से यह नाम उपनयन के समय आचार्य द्वारा दिया जाना चाहिए और जन्म के समय के नक्षत्र या उस नक्षत्र के देवता से सम्बन्धित होना चाहिए। कुछ लोगों के मत से, जैसा कि गोभिल ने लिखा है, अभिवादनीय नाम बच्चे के गोत्र से सम्बन्धित होना चाहिए, यथा गार्ग्य, शाण्डिल्य, गौतम आदि। वैदिक यज्ञों में नाक्षत्र नाम की महत्ता थी।[10]

१०. नक्षत्रदेवता ह्येता एताभिर्यज्ञकर्मणि। यजमानस्य शास्त्रज्ञैर्नाम नक्षत्रजं स्मृतम्॥ वेदांगज्योतिष (ऋ०), श्लोक २८। वैदिक साहित्य एवं वेदांगज्योतिष में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से अपभरणी तक होती है, न कि अश्विनी से रेवती तक, जैसा कि माध्यमिक एवं आधुनिक काल में पाया जाता है। नक्षत्र और नक्षत्रदेवता ये हैं—(अथर्ववेद, १९।७।२५, तैत्तिरीय संहिता, ४।४।१० एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण, १।५।१ तथा ३।१।१ में प्राचीनतम तालिका मिलती है) कृत्तिका—अग्नि, रोहिणी—प्रजापति, मृगशीर्ष या मृगशिरः (इन्वका, तै० सं० में)—सोम, आर्द्रा (तै० सं० में बाहु)—रुद्र, पुनर्वसु—अदिति, तिष्य (पुष्य, अथर्ववेद में)—बृहस्पति, आश्रेषा (तै० सं० में आश्लेषा)—सर्प,

वैदिक साहित्य में सैकड़ों नाम मिलते हैं, किन्तु उनमें कोई भी सीधे ढंग से नक्षत्रों से सम्बन्धित नहीं जँचता। शतपथब्राह्मण (६।२।१।३७) में आषाढि सौश्रोमतेय (अषाढ एवं सुश्रोमता का पुत्र) नाम आया है। यहाँ सम्भवतः अषाढ अषाढा नक्षत्र से सम्बन्धित है। लगता है, ब्राह्मण-काल में नाक्षत्र नाम गुह्यनाम थे, कालान्तर में नाक्षत्र नाम गुह्य न रह सके और व्यवहार में आने लगे। ईसा की कई शताब्दियों पहले नाक्षत्र नाम प्रचलित हो चुके थे। पाणिनि (जो ई० पू० ३०० के पश्चात् नहीं आ सकते) ने इस विषय में कई नियम बताये हैं (४।३।३४-३७ एवं ७।३।१८)। उन्होंने श्रविष्ठा, फाल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, अषाढा एवं बहुला (कृत्तिका) से बने नामों की चर्चा की है, यथा श्राविष्ठ, फाल्गुन आदि। रुद्रदामन् के जूनागढ़ अभिलेख (१५० ई०) में चन्द्रगुप्त मौर्य के साले का नाम पुष्यगुप्त है। स्पष्ट है, ई० पू० चौथी शताब्दी में नक्षत्राश्रय नाम रखे जाते थे। महाभाष्य में भी तिष्य, पुनर्वसु, चित्रा, रेवती, रोहिणी नामक नाम हैं। महाभाष्य में शुंग-वंश के संस्थापक पुष्यमित्र का भी नाम लिया गया है। बौद्ध लोग भी नाक्षत्र नाम रखते थे, यथा मोग्गलिपुत तिस्स (यहाँ गोत्र-नाम एवं नाक्षत्र नाम दोनों प्रयुक्त हुए हैं), परिव्राजक पोट्ठपदा (प्रोष्ठपदा), अषाड, फगुन, स्वातिगुत्त, पुसरखित (साँची अभिलेख)। आगे चलकर भी नाक्षत्र नाम पाये जाते हैं। कभी-कभी नक्षत्रदेवता से सम्बन्धित नाम भी रखे जाते थे, यथा आग्नेय (कृत्तिका नक्षत्र में जन्म के कारण; कृत्तिका के देवता हैं अग्नि), मैत्र (अनुराधा नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण)। आजकल सीधे ढंग से देवताओं एवं अवतारों के नाम रखे जाते हैं, यथा रामचन्द्र, नृसिंहदेव, शिवशंकर, पार्वती, सीता आदि।

मध्यकाल के धर्मशास्त्र-ग्रन्थों एवं ज्योतिष-ग्रन्थों में नक्षत्रों से सम्बन्धित दूसरे प्रकार के नाम भी आते हैं। २७ नक्षत्रों में से प्रत्येक चार पादों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक पाद के लिए एक विशिष्ट अक्षर दे दिया गया है (यथा चू, चे, चो एवं ला अश्विनी के लिए हैं)। इन पादों में जन्म लेने पर नाम इन्हीं अक्षरों से आरम्भ होते हैं, यथा--चूड़ामणि, चेदीश, चोलेश तथा लक्ष्मण। ये नाम गुह्य नाम हैं और आज भी उपनयन के समय ब्रह्मचारी के कान में या सन्ध्या-पूजा में उच्चरित होते हैं।

आधुनिक काल के संस्कारप्रकाश ऐसे ग्रन्थों में चार प्रकार के नाम वर्णित हैं, यथा--देवतानाम, मासनाम, नाक्षत्र नाम एवं व्यावहारिक नाम। पहले नाम से स्पष्ट है कि यह नामधारी उस देवता का भक्त है। निर्णयसिन्धु ने मास-सम्बन्धी १२ नामों के लिए एक श्लोक का उद्धरण दिया है, जिसमें जन्म के महीने को प्रमुखता दी गयी है।[11] महीनों का आरम्भ मार्गशीर्ष या चैत्र से होता है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में विष्णु के बारह नाम बारह

मघा--पितर, फल्गुनी (पूर्वा)--अर्यमा, फल्गुनी (उत्तरा)--भग, हस्त--सविता, चित्रा--त्वष्टा, निष्ट्या (स्वाति, अथर्ववेद में)--वायु, विशाखे--इन्द्राग्नी, अनूराधा (अनुराधा)--मित्र, ज्येष्ठा (रोहिणी, तै० सं० में)--इन्द्र, मूल (विचृतौ, तै० सं० में)--पितर (निर्ऋति, ब्राह्मणों, शांखायन गृह्यसूत्र में एवं प्रजापति), अषाढा (पूर्वा)--आपः, अषाढा (उत्तरा)--विश्वेदेव, श्रोणा (अथर्ववेद में श्रवण)--विष्णु, श्रविष्ठा (धनिष्ठा)--वसु, शतभिषक्--वरुण (तै० सं० में इन्द्र), प्रोष्ठपदा (पूर्वा भाद्रपदा)--अजएकपाद्, प्रोष्ठपाद (उत्तरा भाद्रपदा)--अहिर्बुध्न्य, रेवती--पूषा, अश्वयुक् (अश्विनी)--अश्विनौ, अपभरणी (भरणी, अथर्ववेद में)--यम।

११. स्मृतिसंग्रहे--कृष्णोऽनन्तोऽच्युतश्चक्री वैकुण्ठोऽथ जनार्दनः। उपेन्द्रो यज्ञपुरुषो वासुदेवस्तथा हरिः॥ योगीशः पुण्डरीकाक्षो मासनामान्यनुक्रमात्॥ अत्र मार्गशीर्षादिश्चैत्रादिर्वा क्रम इति मदनरत्ने। निर्णयसिन्धु, परिच्छेद ३ पूर्वार्ध।

महीनों से सम्बन्धित हैं, यथा केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर।

लड़कियों के नाम के विषय में भी विशिष्ट नियम बने थे। बहुत-से गृह्यसूत्रों में ऐसा आया है कि लड़कियों के नाम में सम मात्रा के अक्षर होने चाहिए, किन्तु मानवगृह्यसूत्र (१।१८) ने स्पष्ट लिखा है कि उनके नामों में तीन तीन अक्षर होने चाहिए। पारस्कर० एवं वाराहगृह्य० ने लिखा है कि लड़कियों के नाम के अन्त में 'आ' की मात्रा होनी चाहिए। गोभिल एवं मानव के मत से अन्त 'दा' में होना चाहिए (सत्यदा, वसुदा, यशोदा, नर्मदा)। शंख-लिखित एवं बैजवाप के अनुसार अन्त 'ई' में होना चाहिए। किन्तु बौधायन ने लिखा है कि अन्त दीर्घ स्वर के साथ होना चाहिए। मनु (२।३३) के मत से अन्त लम्बे स्वर (दीर्घ) में होना चाहिए। इसी प्रकार कई विभिन्न मत मिलते हैं। आजकल लड़कियों के नाम नदियों पर मिलते हैं, यथा—सिन्धु, जाह्नवी, यमुना, ताप्ती, नर्मदा, गोदा, कृष्णा, कावेरी आदि।

मनु ने गृह्यसूत्रों के जटिल नियमों का परित्याग कर दिया है। उन्होंने नामकरण के दो सरल नियम दिये हैं; (१) सभी वर्णों के नाम शुभसूचक, शक्तिबोधक, शान्तिदायक होने चाहिए (२।३१-३२); (२) ब्राह्मणों एवं अन्य वर्णों के नाम के साथ एक उपपद होना चाहिए, जिससे शर्म (प्रसन्नता), रक्षा, पुष्टि एवं प्रेष्य का संकेत मिले। पारस्कर को छोड़कर किसी अन्य गृह्यसूत्र में ब्राह्मणों या अन्य लोगों के नामों के आगे शर्मा आदि का जोड़ा जाना नहीं लिखा गया है। महाभाष्य में इन्द्रवर्मा, इन्द्रपालित आदि नाम मिलते हैं,[१२] जिनमें प्रथम राजन्य अर्थात् क्षत्रिय का तथा दूसरा वैश्य का है। यम के अनुसार ब्राह्मणों की नामोपाधि शर्मा या देव, क्षत्रिय की वर्मा या त्रात, वैश्य की भूति या दत्त तथा शूद्र की दास है। किन्तु इस नियम का पालन सदा पाया नहीं गया। तालगुण्ड अभिलेख में कदम्ब-वंश का संस्थापक ब्राह्मण था और उसका नाम था मयूर शर्मा, किन्तु उसके वंशजों ने क्षत्रियों की भाँति वर्मा नामोपाधि धारण की थी।

यहाँ पर मातृ-गोत्रनाम के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना आवश्यक है। वैदिक साहित्य का हवाला पहले ही दिया जा चुका है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।५।१) का कहना है कि वर या कन्या के चुनाव में पिता एवं माता के वंश की परीक्षा कर लेनी चाहिए। आश्वलायनश्रौतसूत्र में आया है कि दशपेय कर्म में चमसभक्षण के समय ब्राह्मण के माता तथा पिता दोनों दस पीढ़ियों तक विद्या, पवित्रता आदि गुणों में पूर्ण होने चाहिए। याज्ञवल्क्य (१।५४) ने लिखा है कि कन्या के चुनाव में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि उसका वंश श्रोत्रिय हो और दस पीढ़ियों तक विद्या एवं चरित्र के लिए प्रसिद्ध हो। अतः माता या माता के पिता के नाम से सम्बन्धित नाम का अर्थ यह है कि वह अच्छे वंश का सूचक है। नासिक अभिलेख (नं० २) में सिरि (श्री) पुलुमायी को वासिठीपुत्त कहा गया है। इसी प्रकार आभीर राजा ईश्वरसेन माठरीपुत्र कहा गया है। एक मिथिएन अभिलेख में "भार्गवी के पुत्र" की ओर संकेत किया गया है। इन नामों से तात्पर्य है माता के प्रसिद्ध कुल की ओर संकेत करना। कालान्तर के लेखक अपने मातृगोत्र का भी नाम लेते हैं, यथा भवभूति (७००-७५० ई०) ने अपने को काश्यप एवं

१२. नक्षत्रनामा नदीनामा वृक्षनामाश्च गर्हिताः। आप० गृ० ३।१३; शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य। पारस्कर १।१७। बौधायनगृह्यशेषसूत्र (१।११।१०) में आया है—"अथाप्युदाहरन्ति—शर्मान्तं ब्राह्मणस्य, वर्मान्तं क्षत्रियस्य, गुप्तान्तं वैश्यस्य, भृत्यदासान्तं शूद्रस्य दासान्तमेव वा।" यम—शर्मा देवश्च विप्रस्य वर्मा त्राता च भूभुजः। भूतिर्दत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्॥

अपनी माता को जातुकर्णी कहा है। महाभाष्य की कारिका से हम पाते हैं कि वैयाकरण पाणिनि दाक्षी के पुत्र थे।

आश्वलायनगृह्यसूत्र ने नामकरण का वर्णन नहीं किया है। बहुत-से गृह्यसूत्रों ने ऐसा लिखा है कि सूतिकाग्नि को हटाकर औपासन (गृह्य) अग्नि में नामकरण के लिए होम करना चाहिए। भारद्वाज० ने जया, अभ्यातान एवं राष्ट्रभृत् मन्त्रों के दुहराने तथा घृत की आठ आहुतियाँ मन्त्रों के साथ दिये जाने की बात चलायी है। यही बात हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र में भी है (२।४।६-१४)। इस गृह्यसूत्र ने दो नामों की चर्चा की है, अर्थात् एक गुह्यनाम तथा दूसरा साधारण नाम। इसने १२ आहुतियों की चर्चा की है, जिनमें ४ मातृकाओं को, ४ अनुमति को, २ राका को एवं २ सिनीवाली को दी जाती हैं। कुछ मतों से एक तेरहवीं आहुति है कुहू की।

कालान्तर के धर्मशास्त्रकारों ने बहुत विस्तार के साथ यह संस्कार-क्रिया करने को लिखा है। गोद में बच्चे को रखकर माता पति के दाहिने बैठती है। कुछ लोगों के मत से माता ही गुह्य नाम रखती है, और धान की भूसी को काँसे के बरतन में छिड़ककर सोने की लेखनी से "श्रीगणेशाय नमः" लिखती है और तब बच्चे के चार नाम लिखती है, यथा कुलदेवतानाम (जैसे योगेश्वरीभक्त), मासनाम, व्यावहारिक नाम तथा नाक्षत्र नाम।

कुछ सूत्रों में नामकरण के उपरान्त कुछ अन्य विस्तार भी पाये जाते हैं। यात्रा से लौटने पर पिता पुत्र के सिर को हाथ से छूकर नाम के साथ कहता है—"अंगादंगात्..." और उसे तीन बार सूंघता है। पुत्री के लिए यह नहीं होता, यथा माथा सूंघना या मन्त्रोच्चारण; केवल गद्य में ही कुछ कहना होता है। इससे स्पष्ट है कि पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्त्व दिया जाता था, यद्यपि पुत्री को बिल्कुल निरादृत नहीं समझा गया है।

कर्णवेध

आधुनिक काल में जन्म के बारहवें दिन यह किया जाता है। बौधायनगृह्यसूत्र (१।१२) में कर्णवेध ७वें या ८वें मास में करने को कहा गया है, किन्तु बृहस्पति के अनुसार यह जन्म के १०वें, १२वें या १६वें दिन या ७वें या १०वें मास में करना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका में बहुत ही संक्षेप में यह लिखा गया है। कर्णवेध के उपरान्त ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। आधुनिक काल में यह कार्य सोनार करता है। बच्चे के कान के लटकते हुए भाग में पतले तार से छेद कर उसे गोलाकार बाँध दिया जाता है। लड़की के कर्णवेध में पहले बायाँ कान छेदा जाता है। निरुक्त (२।४) से पता चलता है कि प्राचीन काल में भी यह संस्कार किया जाता था। वहाँ आया है—जो (गुरु) कान को सत्य के साथ छेदता है, बिना पीड़ा दिये जो अमृत ढालता है, वह अपने माता एवं पिता के समान है।[13]

निष्क्रमण

यह एक छोटा कृत्य है। पारस्करगृह्यसूत्र (१।१७) में बहुत ही संक्षेप में इसका वर्णन आया है। गोभिल (२।८।१-७), खादिर० (२।३।१-५), बौधायन० (१।१२), मानव० (१।१९।१-६), काठक० (३७-३८) में वर्णन

१३. य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कृण्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह।। निरुक्त (२।४)। यह श्लोक वसिष्ठ० (२।१०) एवं विष्णुधर्मसूत्र (३०।४७) में भी आया है। देखिए शान्तिपर्व (१०८।२२-२३) एवं मनु (२।१४४)।

मिलता है। बहुतों के मत से यह जन्म के चौथे मास में किया जाता है। अपरार्क के कथनानुसार एक पुराण के मत से यह जन्म के १२वें दिन या चौथे मास में किया जाता है। इसमें पिता सूर्य की पूजा करता है। पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार पिता पुत्र को सूर्य की ओर दिखाता है और मन्त्रोच्चारण करता है। बौधायन में आठ आहुतियों वाला होम भी वर्णित है। गोभिल ने चन्द्रदर्शन की भी बात उठायी है। यम ने लिखा है कि सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन क्रम से तीसरे एवं चौथे मास में होना चाहिए। इसी प्रकार अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी अपने मत प्रकाशित किये हैं, जिनका उल्लेख यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं हो रहा है।

अन्नप्राशन

इस विषय में देखिए आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१६।१-६), शांखायनगृह्यसूत्र (१-२७), आपस्तम्बगृह्यसूत्र (१६।१-२), पारस्करगृह्यसूत्र (१।१९), हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (२।५।१-३), काठकगृह्यसूत्र (३९।१।२), भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।२७), मानवगृह्यसूत्र (१।२०।१।६) तथा वैखानस० (२-३२)। गोभिल एवं खादिर ने इस संस्कार को छोड़ दिया है। बहुत-सी स्मृतियों ने इसके लिए छठा महीना उपयुक्त माना है। मानव ने पाँचवाँ या छठा, शंख ने १२वाँ या छठा मास उपयुक्त समझा है। काठक ने छठा मास या जब प्रथम दाँत निकले तब इसके लिए ठीक समय माना है। शांखायन० एवं पारस्कर० ने विस्तार के साथ इसका वर्णन किया है। शांखायन० ने लिखा है कि पिता को बकरे, तीतर या मछली का मांस या भात दही, घृत तथा मधु में मिलाकर महाव्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) के साथ बच्चे को खिलाना चाहिए। उपर्युक्त चारों व्यंजन क्रम से पुष्टता, प्रकाश, तीक्ष्णता या धन-धान्य के प्रतीक माने जाते हैं। इसके उपरान्त पिता अग्नि में आहुतियाँ डालता है और ऋग्वेद के चार मन्त्र (४।१२। ४-७) पढ़ता है। अवशेष भोजन को माता खा लेती है। आश्वलायन में भी ये ही बातें हैं, केवल मछली का वर्णन वहाँ नहीं है। इसी प्रकार अन्य गृह्यसूत्रों में भी कुछ मतभेद के साथ विस्तार पाया जाता है। कुछ लेखकों ने बच्चे को खिलाने के साथ होम, ब्राह्मण-भोजन एवं आशीर्वचन की भी चर्चाएँ की हैं। संस्कारप्रकाश एवं संस्काररत्नमाला में इस संस्कार का विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है। एक मनोरंजक बात की चर्चा अपरार्क ने मार्कण्डेयपुराण के उद्धरण में की है। उत्सव के दिन पूजित देवताओं के समक्ष सभी प्रकार की कलाओं एवं शिल्पों से सम्बन्धित यन्त्रादि रख दिये जाते हैं और बच्चे को स्वतन्त्र रूप से उन पर छोड़ दिया जाता है। बच्चा जिस वस्तु को सर्वप्रथम पकड़ लेता है, उसे उसी शिल्प या पेशे में पारंगत होने के लिए पहले से ही समझ लिया जाता है।

वर्षवर्धन या अब्दपूर्ति

कुछ सूत्रों में प्रत्येक मास में शिशु के जन्मदिन पर कुछ कृत्य करने को कहा गया है। ऐसा वर्ष भर तक तथा उसके उपरान्त जीवन भर वर्ष में एक बार जन्मदिवस मनाने को कहा गया है।[१४] बौधायनगृह्यसूत्र (३।७) ने लिखा है—आयुष्यचरु के लिए (जीवन भर) प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक छठे मास, प्रत्येक चौथे मास, प्रत्येक ऋतु या प्रत्येक मास

१४. कुमारस्य मासि मासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्वसु अग्नीन्द्रौ द्यावापृथिव्यौ विश्वान्देवांश्च यजेत्। दैवतमिष्ट्वा तिथिं नक्षत्रं च यजेत्। गोभिलगृह्यसूत्र २।८।१९-२०। आषाढ़, कार्तिक एवं फाल्गुन की अमावस्याओं का सांवत्सरिकपर्व कहा जाता है। देखिए शांखायनगृह्यसूत्र (१।२५।१०-११)।

जन्म के नक्षत्रदिन में भात की आहुति देनी चाहिए।[15] काठकगृह्यसूत्र (३६।१२ एवं १४) ने नामकरण के उपरान्त वर्ष भर प्रति मास होम करने की व्यवस्था दी है। यह होम वैसा ही किया जाता है जैसा कि नामकरण या जातकर्म के समय किया जाता है। वर्ष के अन्त में बकरे तथा भेड़ का मांस अग्नि एवं धन्वन्तरि को दिया जाता है तथा ब्राह्मणों को घृत मिलाकर भोजन दिया जाता है। वैखानस (३।२०-२१) ने विस्तार के साथ वर्ष-वर्धन का वर्णन किया है। उन्होंने इसे प्रति वर्ष करने को कहा है और लिखा है कि जन्मनक्षत्र के देवता ही प्रमुख देवता माने जाते हैं; और उनके उपरान्त अन्य नक्षत्रों की पूजा की जाती है। व्याहृति (भूः स्वाहा) के साथ आहुति दी जाती है और तब धाता की पूजा होती है। इस गृह्यसूत्र ने उपनयन तक के सभी उत्सवों के कृत्यों का वर्णन किया है और तदुपरान्त वेदाध्ययन की समाप्ति पर, विवाह के उपरान्त विवाह-दिन पर तथा अग्निष्टोम जैसे कृत्यों के स्मृतिदिन में जो कुछ किया जाना चाहिए, सब की चर्चा की है। जब व्यक्ति ८० वर्ष एवं ८ मास का हो जाता है तो वह 'ब्रह्मशरीर' कहलाता है, क्योंकि तब तक वह १००० पूर्ण चन्द्र देख चुका रहता है। इसके लिए बहुत-से कृत्यों का वर्णन है, जिन्हें हम स्थानाभाव के कारण उल्लिखित करने में असमर्थ हैं। विवाहवर्ष-दिन के लिए वैखानस ने लिखा है कि ऐसे समय स्त्रियाँ जो परंपरागत शिष्टाचार कहें वही करना चाहिए।[16] अपरार्क ने मार्कण्डेय को उद्धृत कर लिखा है कि प्रति वर्ष जन्म के दिन महोत्सव करना चाहिए, जिसमें अपने गुरुजनों, अग्नि, देवों, प्रजापति, पितरों, अपने जन्म-नक्षत्र एवं ब्राह्मणों का सत्कार करना चाहिए। कृत्यरत्नाकर एवं नित्याचारपद्धति ने भी अपरार्क की बात कही है और इतना और जोड़ दिया है कि उस दिन मार्कण्डेय (अमर देवता) एवं अन्य सात चिरंजीवियों की पूजा करनी चाहिए।[17] नित्याचार-पद्धति ने राजा के लिए अभिषेक-दिवस मनाने को लिखा है। निर्णयसिन्धु तथा संस्कारप्रकाश ने इस उत्सव को "अब्द-पूर्ति" कहा है। संस्काररत्नमाला ने इसे "आयुर्वर्धापन" कहा है। आधुनिक काल में कहीं-कहीं स्त्रियाँ अपने बच्चों का जन्म-दिवस मनाती हैं और घर के प्रमुख खम्भे या दही मथनेवाली मथानी से बच्चे को सटा देती हैं।

चौल, चूड़ाकर्म या चूड़ाकरण

सभी धर्मशास्त्रकारों ने इस संस्कार का वर्णन किया है। 'चूड़ा' का तात्पर्य है बाल-गुच्छ, जो मुण्डित सिर पर रखा जाता है, इसे 'शिखा' भी कहते हैं। अतः चूड़ाकर्म या चूड़ाकरण वह कृत्य है जिसमें जन्म के उपरान्त पहली बार सिर पर एक बाल-गुच्छ (शिखा) रखा जाता है। 'चूड़ा' से ही 'चौल' बना है, क्योंकि उच्चारण में 'ड़' का 'ल' हो जाना सहज माना गया है।

बहुत-से धर्मशास्त्रकारों के मत से जन्म के उपरान्त तीसरे वर्ष चौल कर देना चाहिए। बौधायन० (२।४),

१५. आहुतानुकृतिरायुष्यचरुः। संवत्सरे षट्सु षट्सु मासेषु चतुर्षु चतुर्षु ऋतावृतौ मासि मासि वा कुमारस्य जन्मनक्षत्रे क्रियेत। बौधायनगृह्यसूत्र ३।७।१-२।

१६. यदह्नि विवाहो भवति मासिके वार्षिके चाह्नि तस्मिन् यत्स्त्रिय आहुः पारंपर्यागतं शिष्टाचारं तत्तत् करोति। वैखानस ३।२१। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१।१।७) ने भी विवाह-दिन के कृत्य का वर्णन किया है, यथा—यच्चैनयोः प्रियं स्यात्तदेतस्मिन्नहनि भुञ्जीयाताम्।

१७. नित्याचारपद्धति में आया है—"अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च बिभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥ सप्तैतान् यः स्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्। जीवेद्वर्षशतं साग्रं सर्वव्याधिविवर्जितः॥" निर्णय-सिन्धु ने कृत्यचिन्तामणि से मार्कण्डेय के विषय में बहुत-से श्लोक उद्धृत किये हैं।

पारस्कर० (२।१), मनु (२।३५), वैखानस० (३।२३) ने लिखा है कि इसे पहले या तीसरे वर्ष कर देना चाहिए। आश्वलायन० एवं वाराह० के अनुसार इसे तीसरे वर्ष या कुटुम्ब की परम्परा के अनुसार जब हो, कर डालना चाहिए। पारस्कर ने भी कुल-परम्परा की बात उठायी है। याज्ञवल्क्य ने भी किसी निश्चित समय की बात न कहकर कुल-परम्परा को ही मान्यता दी है। यम (अपरार्क द्वारा उद्धृत) ने दूसरे या तीसरे वर्ष की व्यवस्था दी है, किन्तु शंख-लिखित ने तीसरा या पाँचवाँ वर्ष ठीक माना है। संस्कारप्रकाश में उद्धृत षड्गुरुशिष्य एवं नारायण (आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।१७।१ के टीकाकार) ने इसे उपनयन के समय करने को कहा है। तीन वर्ष वाले मत के लिए निम्न धर्म-शास्त्रकार द्रष्टव्य हैं—आश्वलायन० (१।१७।१-१८), आपस्तम्ब० (१६।३-११), गोभिल (२।९।१-२९), हिरण्यकेशि० (२।६।१-१५), काठक० (४०), खादिर० (२।३।१६-३३), पारस्कर० (१।२), शांखायन० (१।२८), बौधायन० (२।४), मानव० (१।२१) एवं वैखानस० (४।२३)।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह संस्कार वैदिक काल में होता था कि नहीं। भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।२८) एवं मनु (२।३५) ने एक वैदिक मन्त्र (ऋ० ४।७५।१७ या तैत्तिरीय संहिता ४।६।४।५) उद्धृत करके कहा है कि इसमें चौलकर्म की ओर स्पष्ट संकेत है।[१८]

इस कृत्य में प्रमुख कार्य है बच्चे के सिर के केश काटना। इसके साथ होम, ब्राह्मण-भोजन, आशीर्वचन-ग्रहण, दक्षिणादान आदि कृत्य किये जाते हैं। कटे हुए केश गुप्त रूप से इस प्रकार हटा दिये जाते हैं कि कोई उन्हें पा नहीं सके।

इस संस्कार के लिए शुभ मुहूर्त निकाला जाता है। इसका व्यवस्थित एवं विस्तृत वर्णन आश्वलायन, गोभिल, वाराह एवं पारस्कर (२।१) में पाया जाता है। निम्नलिखित सामग्रियों की आवश्यकता होती है (१) अग्नि के उत्तर चार बरतनों में अलग-अलग चावल, जौ, उरद एवं तिल रखे जाते हैं (आश्व० १।१७।२)। गोभिल (२।९।६-७) के मत से ये बरतन केवल पूर्व दिशा में रखे जाते हैं। गोभिल एवं शांखायन के मतानुसार अन्त में ये अन्न-सहित नाई को दे दिये जाते हैं। (२) अग्नि के पश्चिम माता बच्चे को गोद में लेकर बैठती है। दो बरतन, जिनमें से एक में बैल का गोबर तथा दूसरे में शमी की पत्तियाँ भरी रहती हैं, पश्चिम में रख दिये जाते हैं। (३) माता के दाहिने पिता कुश के २१ गुच्छों के साथ, जिन्हें ब्रह्मा पुरोहित भी पकड़े रह सकता है, बैठता है।[१९] (४) गर्म या शीतल जल। (५) छुरा या उदुम्बर लकड़ी का बना छुरा। (६) एक दर्पण। गोभिल एवं खादिर के मत से नाई, गर्म जल, दर्पण, छुरा एवं कुश आदि अग्नि के दक्षिण तथा बैल का गोबर एवं तिलमिश्रित चावल अग्नि के उत्तर रखे जाने चाहिए। आश्वलायन० पारस्कर०, काठक एवं मानव के मत से छुरा लोहे का होना चाहिए।

कतिपय सूत्रों ने इस संस्कार के विभिन्न कृत्यों में विभिन्न मन्त्रों के उच्चारण की बातें की हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ उद्धृत करने में असमर्थ हैं। आरम्भ में पिता ही क्षौरकर्म करता है, क्योंकि कुछ सूत्रों ने, यथा बौधायन एवं शांखायन ने इस उत्सव में नाई का नाम नहीं लिया है। किन्तु आगे चलकर नाई भी सम्मिलित कर लिया गया

१८. अथास्य सांवत्सरिकस्य चौडं कुर्वन्ति यथार्षि यथोपज्ञं वा। विज्ञायते च। यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव। इति बहुशिखा इवेति। भारद्वाज० १।२८।

१९. चार बार दाहिने और तीन बार बायें सिर-भाग में केश काटे जाते हैं और प्रति बार तीन कुश-गुच्छों की आवश्यकता पड़ती है, अतः २१ गुच्छों की संख्या दी गयी है।

और पिता केवल होम एवं मन्त्रोच्चारण करने लगा और नाई क्षौरकर्म।[20] क्षौरकर्म मन्त्रों के साथ किया जाता है।

कुछ सूत्रों के अनुसार कटे हुए केश बैल के गोबर में रखकर गौशाला में गाड़ दिये जाते हैं, या तालाब या कहीं आस-पास जल में फेंक दिये या उदुम्बर पेड़ की जड़ में गाड़ दिये जाते हैं, दर्भमूल में (बौधायन०, भारद्वाज०, गोभिल०) या जंगल में (गोभिल) रख दिये जाते हैं। मानवगृह्यसूत्र में लिखा है कि कटे हुए केश किसी मित्र द्वारा एकत्र कर लिये जाते हैं।

सिर के किस भाग में और कितने केश छोड़ दिये जाने चाहिए? इस विषय में मतभेद है। बौधायनगृह्य-सूत्र के अनुसार सिर पर तीन या पाँच केश-गुच्छ छोड़े जा सकते हैं, जैसा कि कुलपरम्परा के अनुसार होता है। किन्तु कुछ ऋषियों के अनुसार पिता द्वारा आदृत प्रवरों की संख्या के अनुसार ही केश छोड़े जाने चाहिए।[21] आश्वलायन० एवं पारस्कर० के अनुसार केश कुलधर्म के अनुसार रखे जाने चाहिए। आपस्तम्बगृह्य० के अनुसार शिखा-संख्या प्रवर-संख्या या कुलधर्म के अनुसार होनी चाहिए। काठकगृह्य० कहता है कि वसिष्ठ गोत्र वाले सिर की दाहिनी ओर, भृगु-वाले पूरे सिर में, अत्रि गोत्र तथा काश्यप गोत्र वाले दोनों ओर, आंगिरस वाले पाँच तथा अगस्त्य, विश्वामित्र आदि गोत्र वाले बिना किसी स्पष्ट संख्या के शिखा रख लेते हैं, क्योंकि यह शुभ और कुलधर्मानुकूल है।[22]

आजकल हिन्दुओं का एक लक्षण है शिखा। किन्तु कुछ दिनों से शौकीन तबियत वाले हिन्दू शिखा रखने में लजाते हैं। देवल ऋषि ने लिखा है कि बिना यज्ञोपवीत एवं शिखा के कोई भी धार्मिक कृत्य नहीं करना चाहिए। बिना इन दोनों के किया हुआ धार्मिक कृत्य न किया हुआ समझना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति घृणावश, मूर्खतावश या अबोधता के कारण शिखा कटा लेता है तो उसका पापमोचन तप्तकृच्छ्र प्रायश्चित्त से ही सम्भव है।[23]

आश्वलायनगृह्य० (१।१७।१८) के मत से लड़कियों का भी चूड़ाकरण होना चाहिए, किन्तु वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं होना चाहिए। मनु (२।६६) एवं याज्ञवल्क्य (१।१३) ने जातकर्म से चौल तक के सभी संस्कारों को लड़कियों के लिए उचित माना है, किन्तु इनमें वैदिक मन्त्रों का उच्चारण मना किया है। मित्र मिश्र ने लिखा है कि लड़कियों का चौल भी होना चाहिए। कुलधर्म के अनुसार पूरा सिर मुण्डित होना चाहिए, या शिखा रखनी चाहिए,

२०. तेन यश्चूडानां कारयिता पित्रादिः स एव वपनकर्तेति सिद्धं भवति। इदानीं तु तादृशशिक्षाया अभावाल्लोकविद्विष्टत्वाच्च समन्त्रकं चेष्टामात्रं कृत्वा नापितेन वपनं कारयन्ति शिष्टाः॥ संस्काररत्नमाला—पृ० ९०१।

२१. अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः स्यात्। यथर्षि शिखां निदधातीत्येके। बौ० गृ० २।४। बहुत से गोत्रों के ऋषि या प्रवर बहुधा तीन होते हैं, किन्तु कुछ गोत्रों के एक, दो या पाँच प्रवर होते हैं। किन्तु चार की संख्या नहीं पायी जाती। विवाह के प्रकरण में हम प्रवरों के बारे में पुनः पढ़ेंगे।

२२. दक्षिणतः कपुजा वसिष्ठानाम्। उभयतोऽत्रिकाश्यपानाम्। मुण्डा भृगवः। पञ्चचूडा अंगिरसः। वाजि-(राजि?) मेके। मंगलार्थं शिखिनोऽन्ये यथाकुलधर्मं वा। काठकगृह्य० (४०।२-८)। अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका ने भी इसे उद्धृत किया है।

२३. सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥ शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा। तप्तकृच्छ्रेण शुध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥ हारीत।

या केश काटे ही नहीं जायँ।[२४] कुछ जातियों में आज भी बच्चों के केश एक बार बना दिये जाते हैं, क्योंकि गर्भ वाले बाल अपवित्र माने जाते हैं।

विद्यारम्भ

तीसरे वर्ष (चौल संस्कार के समय) से आठवें वर्ष (ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार के समय) तक बच्चों की शिक्षा के विषय में गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र सर्वथा मौन हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस ओर एक हलका प्रकाश मिल जाता है। ऐसा आया है कि चौल के उपरान्त राजकुमार को लिखना एवं अंकगणित सीखना पड़ता था और उपनयन के उपरान्त उसे वेद, आन्वीक्षिकी (तत्त्वज्ञान), वार्ता (कृषि एवं धन-विज्ञान) एवं दण्डनीति (शासन-कला) १६ वर्ष तक पढ़नी पड़ती थीं और तभी गोदान के उपरान्त उसका विवाह होता था।[२५] कालिदास ने रघुवंश (३।२८) में लिखा है कि अज ने पहले अक्षर सीखे और तब वह संस्कृत-साहित्य के सिन्धु में उतरा। बाण ने सम्भवतः अर्थशास्त्र की बात ही दुहरायी है। बाण की कादम्बरी में राजकुमार चन्द्रापीड ने विद्यामन्दिर में छः वर्ष की अवस्था में प्रवेश किया और वहाँ १६ वर्ष की अवस्था तक रहकर सभी प्रकार की कलाओं एवं विज्ञानों का अध्ययन किया। उत्तररामचरित (अंक २) में आया है कि कुश एवं लव ने चौल के उपरान्त एवं उपनयन के पूर्व वेद के अतिरिक्त अन्य विद्याएँ सीखीं।

लगता है, ईसा की आरम्भिक शताब्दियों से विद्यारम्भ नामक संस्कार सम्पादित किया जाने लगा था। अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका ने मार्कण्डेयपुराण के श्लोक उद्धृत करके विद्यारम्भ का वर्णन किया है।[२६] बच्चे के पाँचवें वर्ष कार्तिक शुक्लपक्ष के बारहवें दिन से आषाढ़ शुक्लपक्ष के ११वें दिन तक किसी दिन, किन्तु प्रथम, छठी, १५वीं तथा रिक्ता तिथियों (चौथी, नवीं एवं चौदहवीं) को तथा शनिवार एवं मंगलवार को छोड़कर विद्यारम्भ संस्कार करना चाहिए। हरि (विष्णु), लक्ष्मी, सरस्वती, सूत्रकारों, कुलविद्या की पूजा करके अग्नि में घृत की आहुतियाँ देनी चाहिए। इसके उपरान्त दक्षिणा आदि से ब्राह्मणों का सत्कार करना चाहिए। अध्यापक को पूर्व दिशा में तथा बच्चे को पश्चिम दिशा में बैठाना चाहिए। इसके उपरान्त गुरु पढ़ाना आरम्भ करता है और बच्चा ब्राह्मणों

२४. कुमारीचौलेऽपि यथाकुलधर्ममित्यनुवर्तते। ततश्च सर्वमुण्डनं शिखाधारणम् अमुण्डनमेव वेति सिध्यति। संस्कारप्रकाश पृ० ३१७। एतच्च स्त्रीणामपि। 'स्त्रीशूद्रौ तु शिखां छित्त्वा क्रोधाद् वैराग्यतोऽपि वा। प्राजापत्यं प्रकुर्वीताम्' इति प्रायश्चित्तविधिबलात्। एतत्परिग्रहपक्षे। अत्र देशभेदाद् व्यवस्था द्रष्टव्या। स्त्रीणां केशधारणमेव शिखाधारणम्। एतच्चामन्त्रकमेव स्त्रीणां कार्यम्।...होमोऽपि न। संस्काररत्नमाला पृ० ९०४।

२५. वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुंजीत। वृत्तोपनयनस्त्रयीमान्वीक्षिकीं च शिष्टेभ्यो वार्तामध्यक्षेभ्यो दण्डनीतिं वक्तृप्रवक्तृभ्यः। ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात्। अतो गोदानं दारकर्म च। अर्थशास्त्र (१।५)।

२६. प्राप्तेऽथ पञ्चमे वर्षे अप्रसुप्ते जनार्दने। षष्ठीं प्रतिपदं चैव वर्जयित्वा तथाष्टमीम्॥ रिक्तां पञ्चदशीं चैव सौरभौमदिनं तथा। एवं सुनिश्चिते काले विद्यारम्भं तु कारयेत्॥ पूजयित्वा हरिं लक्ष्मीं देवीं चैव सरस्वतीम्। स्वविद्यासूत्रकारांश्च स्वां विद्यां च विशेषतः॥ एतेषामेव देवानां नाम्ना तु जुहुयाद् घृतम्। दक्षिणाभिर्द्विजेन्द्राणां कर्तव्यं चात्र पूजनम्॥ प्राङ्मुखो गुरुरासीनो वारुणाशामुखं शिशुः। अध्यापयेत प्रथमं द्विजाशीर्भिः सुपूजितम्॥ ततः प्रभृत्यनध्यायान्वर्जनीयान् विवर्जयेत्। अपरार्क (पृ० ३०-३१)। संस्कारप्रकाश में उद्धृत विष्णुधर्मोत्तर में आया है---"आषाढ शुक्लद्वादश्यां शयनं कुरुते हरिः। निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः संपूज्यते हरिः॥"

का आशीर्वाद ग्रहण करता है। अनध्याय के दिनों में शिक्षण नहीं किया जाता। अनध्याय के विषय में हम आगे पढ़ेंगे।

संस्कारप्रकाश एवं संस्काररत्नमाला में ज्योतिष-सम्बन्धी लम्बी चर्चाएँ हैं। विश्वामित्र, देवल तथा अन्य ऋषियों की बातें उद्धृत करके संस्कारप्रकाश ने लिखा है कि विद्यारम्भ पाँचवें वर्ष तथा कम-से-कम उपनयन के पूर्व अवश्य कर डालना चाहिए। इसने नृसिंह को उद्धृत करके कहा है कि सरस्वती तथा गणपति की पूजा के उपरान्त गुरु की पूजा करनी चाहिए। आधुनिक काल में लिखना सीखना किसी शुभ मुहूर्त में आरम्भ कर दिया जाता है, यह शुभ मुहूर्त बहुधा आश्विन मास के शुक्लपक्ष की विजयादशमी तिथि को पड़ता है। सरस्वती एवं गणपति के पूजन के उपरान्त गुरु का सम्मान किया जाता है, और बच्चा "ओम् नमः सिद्धम्" दुहराता है और पट्टी पर लिखता है। इसके उपरान्त उसे अ, आ...इत्यादि अक्षर सिखाये जाते हैं। संस्काररत्नमाला ने इस संस्कार का 'अक्षरस्वीकार' नाम दिया है, जो उपयुक्त ही है। पारिजात में उद्धृत बातों के अनुसार संस्काररत्नमाला ने होम तथा सरस्वती, हरि, लक्ष्मी, विघ्नेश (गणपति), सूत्रकारों एवं स्वविद्या के पूजन की चर्चा की है।

अध्याय ७

उपनयन

'उपनयन' का अर्थ है "पास या सन्निकट ले जाना।" किन्तु किसके पास ले जाना? सम्भवतः आरम्भ में इसका तात्पर्य था "आचार्य के पास (शिक्षण के लिए) ले जाना।" हो सकता है; इसका तात्पर्य रहा हो नवशिष्य को विद्यार्थीपन की अवस्था तक पहुँचा देना। कुछ गृह्यसूत्रों से ऐसा आभास मिल जाता है, यथा हिरण्यकेशि० (१।५।२) के अनुसार; तब गुरु बच्चे से यह कहलवाता है "मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हो गया हूँ। मुझे इसके पास ले चलिए। सविता देवता द्वारा प्रेरित मुझे ब्रह्मचारी होने दीजिए।"[1] मानव० एवं काठक० ने 'उपनयन' के स्थान पर 'उपायन' शब्द का प्रयोग किया है। काठक के टीकाकार आदित्यदर्शन ने कहा है कि उपानय, उपनयन, मौञ्जीबन्धन, बटुकरण, व्रतबन्ध समानार्थक हैं।

इस संस्कार के उद्गम एवं विकास के विषय में कुछ चर्चा हो जाना आवश्यक है, क्योंकि यह संस्कार सब संस्कारों में अति महत्त्वपूर्ण माना गया है। उपनयन संस्कार का मूल भारतीय एवं ईरानी है, क्योंकि प्राचीन जोरॉस्ट्रिएन (पारसी) शास्त्रों के अनुसार पवित्र मेखला एवं अधोवसन (लुंगी) का सम्बन्ध आधुनिक पारसियों से भी है। किन्तु इस विषय में हम प्रवेश नहीं करेंगे। हम अपने को भारतीय साहित्य तक ही सीमित रखेंगे। ऋग्वेद (१०।१०९।५) में 'ब्रह्मचारी' शब्द आया है।[2] 'उपनयन' शब्द दो प्रकार से समझाया जा सकता है—[3] (१) (बच्चे को)

१. अथैनमभिव्याहारयति। ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व ब्रह्मचारी भवानि देवेन सवित्रा प्रसूतः। हिरण्यकेशि० (१।५।२); ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति ब्रह्मचार्यसानीति च। पार० २।२; और देखिए गोभिल० (२।१०।२१)। "ब्रह्मचर्यमागाम्" एवं "ब्रह्मचार्यसानि" शतपथ० (११।५।४।१) में भी आये हैं; और देखिए आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ (२।३।२६) "ब्रह्मचर्यं... प्रसूतः।" याज्ञवल्क्य (१।१४) की व्याख्या में विश्वरूप ने लिखा है—"वेदाध्ययनायाचार्यसमीपे नयनमुपनयनं तदेवोपनायनमित्युक्तं छन्दोनुरोधात्। तदर्थं वा कर्म।" हिरण्यकेशि० (१।१।१) पर मातृदत्त को भी देखिए।

२. ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमंगम्। तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः॥ ऋग्वेद १०।१०९।५; अथर्ववेद ५।१७।५। सोम की ओर संकेत से ऋग्वेद (१०।८५।४५) का 'सोमो ददद् गन्धर्वाय' स्मरण हो आता है। किसी मानवीय वर से परिणय होने के पूर्व प्रत्येक कुमारी सोम, गन्धर्व एवं अग्नि के रक्षण के भीतर कल्पित मानी गयी है।

३. तत्रोपनयनशब्दः कर्मनामधेयम्।...तच्च यौगिकमुद्भिद्न्यायात्। योगश्च भावव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वेत्याह भारुचिः। स यथा—उपसमीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयनम्। समीपे आचार्यादीनां नीयते बटुर्येन तदुपनयनमिति वा।...तत्र च भावव्युत्पत्तिरेव साधीयसीति गम्यते। श्रौतार्थविधिसंभवात्। संस्कारप्रकाश, पृ० ३३४।

आचार्य के सन्निकट ले जाना, (२) वह संस्कार या कृत्य जिसके द्वारा बालक आचार्य के पास ले जाया जाता है। पहला अर्थ आरम्भिक है, किन्तु कालान्तर में जब विस्तारपूर्वक यह कृत्य किया जाने लगा तो दूसरा अर्थ भी प्रयुक्त हो गया। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।१९) ने दूसरा अर्थ लिया है। उसके अनुसार उपनयन एक संस्कार है जो उसके लिए किया जाता है, जो विद्या सीखना चाहता है; "यह ऐसा संस्कार है जो विद्या सीखने वाले को गायत्री मन्त्र सिखाकर किया जाता है।" स्पष्ट है, उपनयन प्रमुखतया गायत्री-उपदेश (पवित्र गायत्री मन्त्र का उपदेश) है। इस विषय में जैमिनि० (६।१।३५) भी द्रष्टव्य है।[४]

ऋग्वेद (३।८।४) से पता चलता है कि गृह्यसूत्रों में वर्णित उपनयन संस्कार के कुछ लक्षण उस समय भी विदित थे।[५] वहाँ एक युवक के समान यूप (बलि-स्तम्भ) की प्रशंसा की गयी है;..."यहाँ युवक आ रहा है, वह भली भाँति सज्जित है (युवक मेखला द्वारा तथा यूप रशना द्वारा); वह, जब उत्पन्न हुआ, महत्ता प्राप्त करता है; हे चतुर ऋषियो, आप अपने हृदयों में देवों के प्रति श्रद्धा रखते हैं और स्वस्थ विचार वाले हैं, इसे ऊपर उठाइए।" यहाँ "उन्नयन्ति" में वही धातु है, जो उपनयन में है। बहुत-से गृह्यसूत्रों ने इस मन्त्र को उद्धृत किया है, यथा—आश्वलायन० (१।२०।८), पारस्कर० (२।२)। तैत्तिरीय संहिता (३।१०।५) में तीन ऋणों के वर्णन में 'ब्रह्मचारी' एवं 'ब्रह्मचर्य' शब्द आये हैं—"ब्राह्मण जब जन्म लेता है तो तीन वर्गों के व्यक्तियों का ऋणी होता है; ब्रह्मचर्य में ऋषियों के प्रति (ऋणी होता है), यज्ञ में देवों के प्रति तथा सन्तति में पितरों के प्रति; जिसको पुत्र होता है, जो यज्ञ करता है और जो ब्रह्मचारी रूप में गुरु के पास रहता है, वह अनृणी हो जाता है।"[६]

उपनयन एवं ब्रह्मचर्य के लक्षणों पर प्रकाश वेदों एवं ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध हो जाता है। अथर्ववेद (११।७।१-२६) का एक पूरा सूक्त ब्रह्मचारी (वैदिक छात्र) एवं ब्रह्मचर्य के विषय में अतिशयोक्ति की प्रशंसा से पूर्ण है।[७]

४. संस्कारस्य तदर्थत्वाद् विद्यायां पुरुषश्रुतिः। जैमिनि ६।१।३५; 'विद्यायामेवैषा श्रुतिः (वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत)। उपनयनस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात्। विद्यार्थमुपाध्यायस्य समीपमानीयते नादृष्टार्थं नापि कटं कुडचं वा कर्तुम्। दृष्टार्थमेव सैषा विद्यायां पुरुषश्रुतिः। कथमवगम्यते। आचार्यकरणमेतदवगम्यते। कुतः। आत्मनेपददर्शनात्।' शबर।

५. युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान्भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥ ऋग्वेद, ३।८।४। आश्वलायनगृह्य० (१।१९।८) के अनुसार बच्चे को अलंकृत किया जाता है और नये वस्त्र दिये जाते हैं 'अलंकृतं कुमारं...अहतेन वाससा संवीतं'...आदि; एवं देखिए १।२०।८—'युवा सुवासाः परिवीत आगादित्यर्धर्चेनैनं प्रदक्षिणमावर्तयेत्।'

६. जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी। तै० संहिता ६।३।१०।५।

७. ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥ अथर्ववेद ११।७।१। गोपथब्राह्मण (२।१) में यह श्लोक व्याख्यायित है। आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। अथर्ववेद ११।७।३; यही भावना आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।१६-१८) में भी पायी जाती है, यथा—स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः। शतपथब्राह्मण (११।५।४।१२) से मिलाइए—आचार्यो गर्भीभवति हस्तमाधाय दक्षिणम्। तृतीयस्यां स जायते सावित्र्या सह ब्राह्मणः॥ ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। अथर्ववेद ११।७।६।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१०।११) में भारद्वाज के विषय में एक गाथा है, जिसमें कहा गया है कि भरद्वाज अपनी आयु के तीन भागों (७५ वर्षों) तक ब्रह्मचारी रहे। उनसे इन्द्र ने कहा था कि उन्होंने इतने वर्षों तक वेदों के बहुत ही कम अंश (३ पर्वतों की ढेरी में से ३ मुट्ठियाँ) सीखे हैं, क्योंकि वेद तो असीम हैं। मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की गाथा से पता चलता है कि वे अपने गुरु के यहाँ ब्रह्मचारी रूप से रहते थे, तभी उन्हें पिता की सम्पत्ति का कोई भाग नहीं मिला (ऐतरेय ब्राह्मण २२।९ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।९।१५)। गृह्यसूत्रों में वर्णित ब्रह्मचर्य-जीवन के विषय में शतपथ-ब्राह्मण (११।५।४) में भी बहुत-कुछ प्राप्त होता है, जो बहुत ही संक्षेप में यों है—बालक कहता है—'मैं ब्रह्मचर्य के लिए आया हूँ' और 'मुझे ब्रह्मचारी हो जाने दीजिए।' गुरु पूछता है—'तुम्हारा नाम क्या है?' तब गुरु (आचार्य) उसे पास में ले लेता है (उप नयति)। तब गुरु बच्चे का हाथ पकड़ लेता है और कहता है—'तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि तुम्हारे गुरु हैं, मैं तुम्हारा गुरु हूँ' (यहाँ पर गुरु उसका नाम लेकर सम्बोधित करता है)। तब वह बालक को भूतों को दे देता है, अर्थात् भौतिक तत्त्वों में नियोजित कर देता है। गुरु शिक्षा देता है 'जल पिओ, काम करो (गुरु के घर में), अग्नि में समिधा डालो, (दिन में) न सोओ।' वह सावित्री मन्त्र दुहराता है। पहले बच्चे के आने के एक वर्ष उपरान्त सावित्री का पाठ होता था, फिर ६ मासों, २४ दिनों, १२ दिनों, ३ दिनों के उपरान्त। किन्तु ब्राह्मण बच्चे के लिए उपनयन के दिन ही पाठ किया जाता था, पहले प्रत्येक पाद अलग-अलग फिर आधा और तब पूरा मन्त्र दुहराया जाता था। ब्रह्मचारी हो जाने पर मधु खाना वर्जित हो जाता था (शतपथब्राह्मण ११।५।४।१-१७)।

शतपथब्राह्मण (५।१।५।१७) एवं तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११) में 'अन्तेवासी' (जो गुरु के पास रहता है) शब्द आया है। शतपथब्राह्मण (११।३।३।२) का कथन है "जो ब्रह्मचर्य ग्रहण करता है, वह लम्बे समय की यज्ञावधि ग्रहण करता है।" गोपथब्राह्मण (२।३), बौधायनधर्मसूत्र (१।२।५३) आदि में भी ब्रह्मचर्य-जीवन की ओर संकेत मिलता है।

पारिक्षित जनमेजय हंसों (आहवनीय एवं दक्षिण नामक अग्नियों) से पूछते हैं—पवित्र क्या है? तो वे दोनों उत्तर देते हैं—ब्रह्मचर्य (पवित्र) है (गोपथ० २।५)। गोपथ ब्राह्मण (२।५) के अनुसार सभी वेदों के पूर्ण पाण्डित्य के लिए ४८ वर्ष का छात्र-जीवन आवश्यक है। अतः प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष की अवधि निश्चित सी थी। ब्रह्मचारी की भिक्षा-वृत्ति, उसके सरल जीवन आदि पर गोपथब्राह्मण प्रभूत प्रकाश डालता है (गोपथब्राह्मण २।७)।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि आरम्भिक काल में उपनयन अपेक्षाकृत पर्याप्त सरल था। भावी विद्यार्थी समिधा काष्ठ के साथ (हाथ में लिये हुए) गुरु के पास आता था और उनसे अपनी अभिकांक्षा प्रकट कर ब्रह्मचारी रूप में उनके साथ ही रहने देने की प्रार्थना करता था। गृह्यसूत्रों में वर्णित विस्तृत क्रिया-संस्कार पहले नहीं प्रचलित थे। कठोपनिषद् (१।१।१५), मुण्डकोपनिषद् (२।१।७), छान्दोग्योपनिषद् (६।१।१) एवं अन्य उपनिषदों में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग हुआ है। छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक सम्भवतः सबसे प्राचीन उपनिषद् हैं। ये दोनों मूल्यवान् वृत्तान्त उपस्थित करती हैं। उपनिषदों के काल में ही कुछ कृत्य अवश्य प्रचलित थे, जैसा कि छान्दोग्य०[८] (५।११।७) से ज्ञात होता है। जब प्राचीनशाल औपमन्यव एवं अन्य चार विद्यार्थी अपने हाथों में समिधा लेकर अश्वपति कैकय के पास

८. दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति। शतपथ० ११।३।३।२। बौधायनधर्मसूत्र (१।२।५२) में भी यह उद्धृत है। "अपोऽशान" शब्द का भोजन करने के पूर्व एवं अन्त में "अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा" एवं "अमृतापिधानमसि स्वाहा" नामक शब्दों के साथ जलाचमन की ओर संकेत है। देखिए संस्कारतत्त्व पृ० ८९३। ये दोनों मन्त्र आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ (२।१०।३-४) में आये हैं।

पहुँचे तो वे (अश्वपति) उनसे बिना उपनयन की क्रियाएँ किये ही बातें करने लगे। जब सत्यकाम जाबाल ने अपने गोत्र का सच्चा परिचय दे दिया तो गौतम हारिद्रुमत ने कहा—"हे प्यारे बच्चे, जाओ समिधा ले आओ, मैं तुम्हें दीक्षित करूँगा। तुम सत्य से हटे नहीं" (छान्दोग्य० ४।४।५)।[९] अति प्राचीन काल में सम्भवतः पिता ही अपने पुत्र को पढ़ाता था।[१०] किन्तु तैत्तिरीयसंहिता एवं ब्राह्मणों के कालों से पता चलता है कि छात्र साधारणतः गुरु के पास जाते थे और उसके यहाँ रहते थे। उद्दालक आरुणि ने, जो स्वयं ब्रह्मचारी एवं पहुँचे हुए दार्शनिक थे, अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मचारी रूप से वेदाध्ययन के लिए गुरु के पास जाने को प्रेरित किया।[११] छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मचर्याश्रम का भी वर्णन हुआ है, जहाँ पर विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) अपने अन्तिम दिन तक गुरुगेह में रहकर शरीर को सुखाता रहा है (छा० २।२३।१), यहाँ पर नैष्ठिक ब्रह्मचारी की ओर संकेत है। इस उपनिषद् में गोत्र-नाम (४।४।४), भिक्षा-वृत्ति (४।३।५), अग्नि-रक्षा (४।१०।१-२), पशु-पालन (४।४।५) का भी वर्णन है। उपनयन करने की अवस्था पर औपनिषदिक प्रकाश नहीं प्राप्त होता, यद्यपि हमें यह ज्ञात है कि श्वेतकेतु ने जब ब्रह्मचर्य धारण किया तो उनकी अवस्था १२ वर्ष की थी। साधारणतः विद्यार्थी-जीवन १२ वर्ष का था (छान्दोग्य० २।२३।१, ४।१०।१ तथा ६।१।२), यद्यपि इन्द्र के ब्रह्मचर्य की अवधि १०१ वर्ष की थी (छान्दोग्य० ८।२।३)। एक स्थान पर छान्दोग्योपनिषद् (२।२३।१) ने जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य की चर्चा की है।

अब हम सूत्रों एवं स्मृतियों में वर्णित उपनयनसंस्कार का वर्णन करेंगे। इस विषय में एक बात स्मरणीय है कि इस संस्कार से सम्बन्धित सभी बातें सभी स्मृतियों में नहीं पायी जातीं और न उनमें विविध विषयों का एक अनुक्रम में वर्णन ही पाया जाता है। इतना ही नहीं, वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के विषय में सभी सूत्र एकमत नहीं हैं। अब हम क्रम से उपनयन संस्कार के विविध रूपों पर प्रकाश डालेंगे।

उपनयन के लिए उचित अवस्था एवं काल

आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१९।१-६) के मत से ब्राह्मणकुमार का उपनयन गर्भाधान या जन्म से लेकर आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ११वें वर्ष में एवं वैश्य का १२वें वर्ष में होना चाहिए; यही नहीं, क्रम से १६वें, २२वें एवं २४वें वर्ष तक भी उपनयन का समय बना रहता है।[१२] आपस्तम्ब (१०।२), शांखायन (२।१), बौधायन (२।५।२), भारद्वाज

९. ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच। छान्दोग्य० ५।२।७; समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति। छान्दोग्य० ४।४।५; उपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास। बृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।७।

१०. देखिए बृह० उ० ६।२।१ "अनुशिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच।" याज्ञवल्क्य (१।१५) की टीका में विश्वरूप ने लिखा है—गुरुग्रहणं तु मुख्यं पितुरुपनेतृत्वमिति। तथा च श्रुतिः। तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुरिति। आचार्योपनयनं तु ब्राह्मणस्यानुकल्पः।

११. श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं...स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तं ह पितोवाच श्वेतकेतो...उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवति। छान्दोग्य० ६।१।१।१-२।

१२. अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। गर्भाष्टमे वा। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्। आ षोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आ द्वाविंशात्क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य। आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१९।१-६।

(१।१) एवं गोभिल (२।१०) गृह्यसूत्र तथा याज्ञवल्क्य (१।१४), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।१९) स्पष्ट कहते हैं कि वर्षों की गणना गर्भाधान से होनी चाहिए। यही बात महाभाष्य में भी है। पारस्करगृह्यसूत्र (२।२) के मत से उपनयन गर्भाधान या जन्म से आठवें वर्ष में होना चाहिए, किन्तु इस विषय में कुलधर्म का पालन भी करना चाहिए। याज्ञवल्क्य (१।१४) ने भी कुलधर्म की बात चलायी है। शांखायनगृह्यसूत्र (२।१।१) ने गर्भाधान से ८वाँ या १०वाँ वर्ष, मानव (१।२२।१) ने ७वाँ या ९वाँ वर्ष, काठक (४१।१-३) ने तीनों वर्णों के लिए क्रम से ७वाँ, ९वाँ एवं ११वाँ वर्ष स्वीकृत किया है। कुछ स्मृतियों ने कम अवस्था में ही उपनयन होना स्वीकार किया है, यथा गौतम (१।६-८) ने ५वाँ वर्ष या ९वाँ वर्ष, मनु (२।३७) ने ५वाँ (ब्राह्मण के लिए), ६ठा (क्षत्रिय के लिए) एवं ८वाँ (वैश्य के लिए) स्वीकृत किया है; किन्तु यह छूट केवल क्रम से आध्यात्मिक, सैनिक एवं धन-संग्रह की महत्ता के लिए ही दी गयी है। आध्यात्मिकता, लम्बी आयु एवं धन की अभिकांक्षा वाले ब्राह्मण पिता के लिए पुत्र का उपनयन गर्भाधान से ५वें, ८वें एवं ९वें वर्ष में भी किया जा सकता है (वैखानस ३।३)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।२१) एवं बौधायन गृह्यसूत्र (२।५) ने आध्यात्मिक महत्ता, लम्बी आयु, दीप्ति, पर्याप्त भोजन, शारीरिक बल एवं पशु के लिए क्रम से ७वाँ, ८वाँ, ९वाँ, १०वाँ, ११वाँ एवं १२वाँ वर्ष स्वीकृत किया है।

अतः जन्म से ८वाँ, ११वाँ एवं १२वाँ वर्ष क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए प्रमुख समय माना जाता रहा है। ५वें वर्ष से ११वें वर्ष तक ब्राह्मणों के लिए गौण, ९वें वर्ष से १६ वर्ष तक क्षत्रियों के लिए गौण माना जाता रहा है। ब्राह्मणों के लिए १२वें से १६वें तक गौणतर काल तथा १६वें के उपरान्त गौणतम काल माना गया है (देखिए संस्कारप्रकाश, पृ० ३४२)।

आपस्तम्बगृह्य० एवं आपस्तम्बधर्म० (१।१।१।१९), हिरण्यकेशिगृह्य० (१।१) एवं वैखानस के मत से तीनों वर्णों के लिए क्रम से शुभ मुहूर्त पड़ते हैं वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद् के दिन। भारद्वाज० (१।१) के अनुसार वसन्त ब्राह्मण के लिए, ग्रीष्म या हेमन्त क्षत्रिय के लिए, शरद् वैश्य के लिए, वर्षा बढ़ई के लिए या शिशिर सभी के लिए मान्य है। भारद्वाज ने वहीं यह भी कहा है कि उपनयन मास के शुक्लपक्ष में किसी शुभ नक्षत्र में, भरसक पुरुष नक्षत्र में करना चाहिए।

कालान्तर के धर्मशास्त्रकारों ने उपनयन के लिए मासों, तिथियों एवं दिनों के विषय में ज्योतिष-सम्बन्धी विधान बड़े विस्तार के साथ दिये हैं, जिन पर लिखना यहाँ उचित एवं आवश्यक नहीं जान पड़ता। किन्तु थोड़ा-बहुत लिख देना आवश्यक है, क्योंकि आजकल ये ही विधान मान्य हैं। वृद्धगार्ग्य ने लिखा है कि माघ से लेकर छः मास उपनयन के लिए उपयुक्त हैं, किन्तु अन्य लोगों ने माघ से लेकर पाँच मास ही उपयुक्त ठहराये हैं। प्रथम, चौथी, सातवीं, आठवीं, नवीं, तेरहवीं, चौदहवीं, पूर्णमासी एवं अमावस की तिथियाँ बहुधा छोड़ दी जाती हैं। जब शुक्र सूर्य के बहुत पास हो और देखा न जा सके, जब सूर्य राशि के प्रथम अंश में हो, अनध्याय के दिनों में तथा गलग्रह में उपनयन नहीं करना चाहिए।[13] बृहस्पति, शुक्र, मंगल एवं बुध क्रम से ऋग्वेद एवं अन्य वेदों के देवता माने जाते हैं। अतः इन वेदों के अध्ययन-कर्ताओं का उनके देवों के वारों में ही उपनयन होना चाहिए। सप्ताह में बुध, बृहस्पति एवं शुक्र सर्वोत्तम दिन हैं, रविवार मध्यम तथा सोमवार बहुत कम योग्य है। किन्तु मंगल एवं शनिवार निषिद्ध माने जाते हैं (सामवेद के छात्रों एवं क्षत्रियों के लिए मंगल मान्य है)। नक्षत्रों में हस्त, चित्रा, स्वाति, पुष्य, धनिष्ठा, अश्विनी, मृगशिरा, पुनर्वसु,

१३. नष्टे चन्द्रेऽस्तगे शुक्रे निरंशे चैव भास्करे। कर्तव्यमौपनयनं नानध्याये गलग्रहे॥. . .त्रयोदशीचतुष्कं तु सप्तम्यादित्रयं तथा। चतुर्थ्येकादशी प्रोक्ता अष्टावेते गलग्रहाः॥ स्मृतिचन्द्रिका, जिल्द १, पृ० २७।

श्रवण एव रेवती अच्छे माने जाते हैं। विशिष्ट वेद वालों के लिए नक्षत्र-सम्बन्धी अन्य नियमों की चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है। एक नियम यह है कि भरणी, कृत्तिका, मघा, विशाखा, ज्येष्ठा, शततारका को छोड़कर सभी अन्य नक्षत्र सबके लिए अच्छे हैं। लड़के की कुण्डली के लिए चन्द्र एवं बृहस्पति ज्योतिष-रूप से शक्तिशाली होने चाहिए। बृहस्पति का सम्बन्ध ज्ञान एवं सुख से है, अतः उपनयन के लिए उसकी परम महत्ता गायी गयी है। यदि बृहस्पति एवं शुक्र न दिखाई पड़ें तो उपनयन नहीं किया जा सकता। अन्य ज्योतिष-सम्बन्धी नियमों का उद्घाटन यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं किया जायगा।

वस्त्र

ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था, जिनमें एक अधोभाग के लिए (वासस्) और दूसरा ऊपरी भाग के लिए (उत्तरीय)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।२।३९-१।१।३।१-२) के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ब्रह्मचारी के लिए वस्त्र क्रम से पटुआ के सूत का, सन के सूत का एवं मृगचर्म का होता था। कुछ धर्मशास्त्रकारों के मत से अधोभाग का वस्त्र रुई के सूत का (ब्राह्मणों के लिए लाल रंग, क्षत्रियों के लिए मजीठ रंग एवं वैश्यों के लिए हल्दी रंग) होना चाहिए। वस्त्र के विषय में बहुत मतभेद है।[14] आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।३।७-८) ने सभी वर्णों के लिए भेड़ का चर्म (उत्तरीय के लिए) या कम्बल विकल्प रूप से स्वीकार कर लिया है।

अधोभाग या ऊपरी भाग के परिधान के विषय में ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी संकेत मिलता है (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।३।९)। जो वैदिक ज्ञान बढ़ाना चाहे उसके अधोवस्त्र एवं उत्तरीय मृगचर्म के, जो सैनिक शक्ति चाहे उसके लिए रुई का वस्त्र और जो दोनों चाहे वह दोनों प्रकार के वस्त्रों का उपयोग करे।[15]

दण्ड

दण्ड किस वृक्ष का बनाया जाय, इस विषय में भी बहुत मतभेद रहा है। आश्वलायनगृह्य० (१।१९।१३ एवं १।२०।१) के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रम से पलाश, उदुम्बर एवं बिल्व का दण्ड होना चाहिए, या कोई भी वर्ण इनमें से किसी एक का दण्ड बना सकता है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (११।१५-१६) के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रम से पलाश, न्यग्रोध की शाखा (जिसका निचला भाग दण्ड का ऊपरी भाग माना जाय) एवं बदर या उदुम्बर का दण्ड होना चाहिए। यही बात आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।२।३८) में भी पायी जाती है। इसी प्रकार बहुत से मत हैं जिनका उद्घाटन अनावश्यक है (देखिए गौतम १।२१; बौधायनधर्मसूत्र २।५।१७; गौतम १।२२-२३; पारस्करगृह्यसूत्र २।५; काठकगृह्यसूत्र ४१।२२; मनु २।४५ आदि)।

१४. वासः। शाणीक्षौमाजिनानि। काषायं चैके वस्त्रमुपदिशन्ति। मांजिष्ठं राजन्यस्य। हारिद्रं वैश्यस्य। आप० ध० १।१।२।३९-४१-१।१।३।१-२; शुक्लमहतं वासो ब्राह्मणस्य, मांजिष्ठं क्षत्रियस्य। हारिद्रं कौशेयं वा वैश्यस्य। सर्वेषां वा तान्तवमरक्तम्। वसिष्ठ० ११।६४-६७। देखिए पारस्कर (२।५)—ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य रौरवं राजन्यस्याजं गव्यं वा वैश्यस्य सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात्।

१५. ब्रह्मवृद्धिमिच्छन्नजिनान्येव वसीत क्षत्रवृद्धिमिच्छन्वस्त्राण्येवोभयवृद्धिमिच्छन्नुभयमिति हि ब्राह्मणम्। अजिनं त्वेवोत्तरं धारयेत्। आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।३।९-१०। मिलाइए भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।१)—यदजिनं धारयेद-ब्रह्मवर्चसवद्वासो धारयेत्सत्रं वर्धयेदुभयं धार्यमुभयोर्वृद्ध्या इति विज्ञायते; मिलाइए गोपथब्राह्मण (२।४)—न तान्तवं वसीत यस्तान्तवं वस्ते क्षत्रं वर्धते न ब्रह्म तस्मात्तान्तवं न वसीत ब्रह्म वर्धतां मा क्षत्रमिति।

पूर्वकाल में सहारे के लिए, आचार्य के पशुओं को नियन्त्रण में रखने के लिए, रात्रि में जाने पर सुरक्षा के लिए एवं नदी में प्रवेश करते समय पथप्रदर्शन के लिए दण्ड की आवश्यकता पड़ती थी।[16]

बालक के वर्ण के अनुसार दण्ड की लम्बाई में अन्तर था। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१९।१३), गौतम (१। २५), वसिष्ठधर्मसूत्र (११।५५-५७), पारस्करगृह्यसूत्र (२।५), मनु (२।४६) के मतों से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का दण्ड क्रम से सिर तक, मस्तक तक एवं नाक तक लम्बा होना चाहिए। शांखायनगृह्यसूत्र (२।१।२१-२३) ने इस अनुक्रम को उलट दिया है, अर्थात् इसके अनुसार ब्राह्मण का दण्ड सबसे छोटा एवं वैश्य का सबसे बड़ा होना चाहिए। गौतम (१।२६) का कहना है कि दण्ड घुना हुआ नहीं होना चाहिए। उसकी छाल लगी रहनी चाहिए, ऊपरी भाग टेढ़ा होना चाहिए। किन्तु मनु (२।४७) के अनुसार दण्ड सीधा, सुन्दर एवं अग्निस्पर्श से रहित होना चाहिए। शांखायनगृह्यसूत्र (२।१३।२-३) के अनुसार ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह किसी को अपने एवं दण्ड के बीच से निकलने न दे, यदि दण्ड, मेखला एवं यज्ञोपवीत टूट जायँ तो उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए (वैसा ही जैसा कि विवाह के समय वर-यात्रा का रथ टूटने पर किया जाता है)। ब्रह्मचर्य के अन्त में यज्ञोपवीत, दण्ड, मेखला एवं मृगचर्म को जल में त्याग देना चाहिए। ऐसा करते समय वरुण के मन्त्र (ऋग्वेद १।२४।६) का पाठ करना चाहिए या केवल 'ओम्' का उच्चारण करना चाहिए।[17] मनु (२।६४) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२७।२९) ने भी यही बात कही है।

मेखला

गौतम (१।१५), आश्वलायनगृह्य० (१।१९।११), बौधायनगृह्य० (२।५।१३), मनु (२।४२), काठकगृह्य० (४१।१२), भारद्वाज० (१।२) तथा अन्य लोगों के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य बच्चे के लिए क्रम से मुञ्ज, मूर्वा (जिससे प्रत्यंचा बनती है) एवं पटुआ की मेखला (करधनी) होनी चाहिए। मनु (२।४२-४३) ने पारस्करगृह्यसूत्र एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।२।३५-३७)[18] की भाँति ही नियम कहे हैं किन्तु विकल्प से कहा है कि क्षत्रियों के लिए मूंज तथा लोह से गुंथी हुई हो सकती है तथा वैश्यों के लिए सूत का धागा या जुए की रस्सी या तामल (सन) की छाल का धागा हो सकता है। बौधायनगृह्य० (२।५।१३) ने मूंज की मेखला सबके लिए मान्य कही है। मेखला में कितनी गाँठें होनी चाहिए, यह प्रवरों की संख्या पर निर्भर है।

उपनयन-विधि

आश्वलायनगृह्यसूत्र में उपनयन संस्कार का संक्षिप्त विवरण दिया हुआ है, जो पठनीय है। स्थानाभाव के कारण वह वर्णन यहाँ उपस्थित नहीं किया जा रहा है। उपनयन-विधि का विस्तार आपस्तम्बगृह्यसूत्र, हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एवं गोभिलगृह्यसूत्र में पाया जाता है। कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं, जिससे मतैक्य एवं मतान्तर पर कुछ

१६. दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्। याज्ञवल्क्य १।२९; तत्र दण्डस्य कार्यमवलम्बनं गवादिनिवारणं तमोवगाहनमप्सु प्रवेशनमित्यादि। अपरार्क।

१७. उपवीतं च दण्डे बध्नाति। तदप्येतत्। यज्ञोपवीतदण्डं च मेखलामजिनं तथा। जुहुयादप्सु व्रते पूर्णे वारुण्यर्चा रसेन। शांखायनगृह्य० २।१९-२१; 'रस' का अर्थ है 'ओम्'।

१८. ज्या राजन्यस्य मौञ्जी वायोमिश्रिता। आवीसूत्रं वैश्यस्य। सैरी तामली वेत्येके। आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।२।३४-३७। गोभिल (२।१०।१०) की टीका में तामल को शण (सन) कहा गया है।

प्रकाश पड़ जाय। आश्वलायन एवं आपस्तम्ब तथा कुछ अन्य सूत्रकारों ने जनेऊ के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु हिरण्यकेशि० (१।२।६), भारद्वाज० (१।३) एवं मानव० (१।२२।३) ने होम के पूर्व यज्ञोपवीत धारण करना बतलाया है। बौधायन० (२।५।७) का कहना है कि यज्ञोपवीत पाने के उपरान्त ही बटुक "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥" नामक अति प्रसिद्ध मन्त्र का उच्चारण करता है। वैखानस स्मार्त (२।५) का कहना है कि आचार्य बटुक को उत्तरीय देता है और "परीदं वासः" का उच्चारण करता है, पवित्र जनेऊ को "यज्ञोपवीतम्" मन्त्र के साथ तथा कृष्ण मृगचर्म को "मित्रस्य चक्षुः" कहकर देता है। पारस्कर के टीकाकार कर्क एवं हरिहर के अनुसार मेखला बाँध लेने के उपरान्त बटुक को आचार्य यज्ञोपवीत देता है। यही बात संस्कारतत्त्व (पृष्ठ ९३४) में भी पायी जाती है। संस्काररत्नमाला ने होम के पूर्व यज्ञोपवीत पहनने को कहा है। यज्ञोपवीत के उद्गम एवं विकास के विषय में हम आगे पढ़ेंगे। इस अवसर पर धर्मशास्त्रकारों ने चौल-कर्म कर लेने को कहा है। आरम्भिक काल में चौलकर्म स्वयं आचार्य करता था। निम्नलिखित विधियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं—

(क) आपस्तम्बगृह्यसूत्र (१०।९), मानव० (१।२३।१२), बौधायन० (२।५।१०), खादिर० (२।४) एवं भारद्वाज० (१।८) ने बटुक को होम के उपरान्त अग्नि के उत्तर दाहिने पैर से प्रस्तर पर चढ़ने को कहा है। प्रस्तर पर पैर रखना दृढ निश्चय का द्योतक है।

(ख) मानव० (१।२२।३) एवं खादिर० (४१।१०) ने होम के उपरान्त "दधिक्राव्णो अकारिषम्" (ऋ० ४।३९।६, तैत्तिरीयसंहिता १।५।४।११) मन्त्र को दुहराते हुए दधि तीन बार खाने को कहा है।

(ग) पारस्करगृह्यसूत्र (२।२), भारद्वाज० (१।७), आपस्तम्ब० (२।१-४), आपस्तम्ब-मन्त्रपाठ (२।३। २७-३०), बौधायनगृ० (२।५।२५, शाट्यायनक को उद्धृत कर), मानव० (१।२२।४-५) एवं खादिर० (२।४। १२) के मत से बटुक से आचार्य उसका नाम पूछता है और वह बताता है। आचार्य उससे यह भी पूछता है "तुम किसके ब्रह्मचारी हो?"

सभी स्मृतियों में यह बात पायी जाती है कि उपनयन तीनों वर्णों में होता था। उपनयन-विधि के विषय में बहुत से भेद-विभेद हैं, जिनकी चर्चा करना यहाँ अनावश्यक है। कालान्तर के लेखकों ने मन्त्रों को जोड़-जोड़कर विस्तार बढ़ा दिया है।

यज्ञोपवीत

प्राचीन काल से अब तक यज्ञोपवीत का क्या इतिहास रहा है, इस पर थोड़ा सा लिख देना परम आवश्यक है। प्राचीनतम संकेत तैत्तिरीय संहिता (२।५।२।१) में मिलता है—"निवीत शब्द मनुष्यों, प्राचीनावीत पितरों एवं उपवीत देवताओं के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है; वह जो उपवीत ढंग से अर्थात् बायें कंधे से लटकता है, अतः वह देवताओं के लिए संकेत करता है।"[१९] तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।६।८) में आया है—"प्राचीनावीत ढंग से होकर वह दक्षिण की ओर आहुति देता है, क्योंकि पितरों के लिए कृत्य दक्षिण की ओर ही किये जाते हैं। इसके विपरीत उपवीत ढंग से उत्तर की ओर आहुति देनी चाहिए; देवता एवं पितर इसी प्रकार पूजित होते हैं।" निवीत, प्राचीनावीत एवं उपवीत शब्द

१९. निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानाम्। उप व्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते। तै० सं० २।५।११।१।

गोभिलगृह्यसूत्र (१।२।२-४) में समझाये गये हैं, यथा "दाहिने हाथ को उठाकर, सिर को (उपवीत के) बीच में डालकर वह सूत्र को बाँयें कंधे पर इस प्रकार लटकाता है कि वह दाहिनी ओर लटकता है; इस प्रकार वह यज्ञोपवीती हो जाता है। बाँयें हाथ को निकालकर (उपवीत के) बीच में सिर को डालकर वह सूत्र को दाहिने कंधे पर इस प्रकार रखता है कि वह बाँयीं ओर लटकता है, इस प्रकार वह प्राचीनावीती हो जाता है। जब पितरों को पिण्डदान किया जाता है, तभी प्राचीनावीती हुआ जाता है।" यही बात खादिर० (१।१।८-९), मनु (२।६३), बौधायन-गृह्यपरिभाषा-सूत्र (२।२।७ एवं १०) तथा वैखानस (१।५) में भी पायी जाती है। बौधायनगृह्यसूत्र (२।२।३) का कहना है—"जब यह कंधों पर रखा जाता है तो दोनों कंधे एवं छाती (हृदय के नीचे किन्तु नाभि के ऊपर) तक रहते हुए दोनों हाथों के अंगूठों से पकड़ा जाता है, इसे ही निवीत कहा जाता है। ऋषि-तर्पण में, संभोग में, बच्चों के संस्कारों के समय (किन्तु होम करते समय नहीं), मलमूत्र त्याग करते समय, शव ढोते समय, यानी केवल मनुष्यों के लिए किये जाने वाले कार्यों में निवीत का प्रयोग होता है। गरदन में लटकने वाले को ही निवीत कहते हैं।" निवीत, प्राचीनावीत एवं उपवीत के विषय में शतपथब्राह्मण (२।४।२।१) भी अवलोकनीय है। यह बात जानने योग्य है कि उस समय इस ढंग से शरीर को परिधान से ढका जाता था, यज्ञोपवीत या निवीत या प्राचीनावीत को (सूत्र के रूप में) पहनने के ढंग का कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। इससे प्रकट होता है कि पुरुष लोग देवों की पूजा में परिधान धारण करते थे, न कि सूत्रों से बना हुआ कोई जनेऊ आदि पहनते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१०।९) में आया है कि जब वाक् (वाणी) की देवी देवभाग गौतम के समक्ष उपस्थित हुई तो उन्होंने यज्ञोपवीत धारण किया और "नमो नमः" शब्द के साथ देवी के समक्ष गिर पड़े, अर्थात् झुककर या दण्डवत् गिरकर प्रणाम किया।[20]

तैत्तिरीय आरण्यक (२।१) से पता चलता है कि प्राचीन काल में उपवीत के लिए काले हरिण का चर्म या वस्त्र उपयोग में लाया जाता था। ऐसा आया है—"जो यज्ञोपवीत धारण करके यज्ञ करता है उसका यज्ञ फैलता है, जो यज्ञोपवीत नहीं धारण करता उसका यज्ञ ऐसा नहीं होता, यज्ञोपवीत धारण करके, ब्राह्मण जो कुछ पढ़ता है, वह यज्ञ है। अतः अध्ययन, यज्ञ या आचार्य-कार्य करते समय यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। मृगचर्म या वस्त्र दाहिनी ओर धारण कर दाहिना हाथ उठाकर तथा बाँयाँ गिराकर ही यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, जब यह ढंग उलट दिया जाता है तो इसे प्राचीनावीत कहते हैं और संवीत स्थिति मनुष्यों के लिए ही होती है।" स्पष्ट है कि यहाँ उपवीत के लिए कोई सूत्र नहीं है, प्रत्युत मृगचर्म या वस्त्र है। पराशरमाधवीय (भाग १, पृ० १७३) ने उपर्युक्त कथन का एक भाग उद्धृत करते हुए लिखा है कि तैत्तिरीयारण्यक के अनुसार मृगचर्म या रुई के वस्त्र में से कोई एक धारण करने पर कोई उपवीती बन सकता है। कुछ सूत्रकारों एवं टीकाकारों से संकेत मिलता है कि उपवीत में वस्त्र का प्रयोग होता था। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।४।२२-२३) का कहना है कि गृहस्थ को उत्तरीय धारण करना चाहिए, किन्तु वस्त्र के अभाव में सूत्र भी उपयोग में लाये जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि मौलिक रूप में उपवीत का तात्पर्य था ऊपरी वस्त्र, न कि केवल सूत्रों की डोरी। एक स्थान पर (२।८।१९।१२) इसी सूत्र ने यह भी लिखा है—"(जो श्राद्ध का भोजन खाये) उसे बायें कंधे पर उत्तरीय डालकर उसे दाहिनी ओर लटकाकर खाना चाहिए।" हरदत्त ने इसकी व्याख्या दो प्रकार से की है—(१) श्राद्ध-भोजन करते समय यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए अर्थात् उसे उत्तरीय बाय कंधे पर तथा दाहिने हाथ के नीचे लटकता हुआ रखना चाहिए: इसका एक तात्पर्य यह हुआ कि ब्राह्मण को आपस्तम्ब

२०. एतावति ह गौतमो यज्ञोपवीतं कृत्वा अधो निपपात नमो नम इति। तै० ब्रा० ३।१०।९। सायण का कहना है—"स्वकीयेन वस्त्रेण यज्ञोपवीतं कृत्वा।"

धर्मसूत्र (२।२।४।२३) पर विश्वास करके श्राद्ध-भोजन के समय पवित्र सूत्र धारण नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे उसी रूप में वस्त्र धारण करना चाहिए और सूत्र का त्याग कर देना चाहिए; (२) दूसरा मत यह है कि उसे उपवीत ढंग से पवित्र सूत्र एवं वस्त्र दोनों धारण करने चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१५।१) ने व्यवस्था दी है कि एक व्यक्ति को गुरुजनों, श्रद्धास्पदों, अतिथियों की प्रतीक्षा करते समय या उनकी पूजा करते समय, होम के समय, जप करते हुए, भोजन, आचमन एवं वैदिक अध्ययन के समय यज्ञोपवीती होना चाहिए। इस पर हरदत्त ने यों व्याख्या की है—यज्ञोपवीत का अर्थ है एक विशिष्ट ढंग से उत्तरीय धारण करना, यदि किसी के पास उत्तरीय (ऊपरी अंग के लिए) न हो तो उसे आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।४।२३) में वर्णित ढंग काम में लाना चाहिए; अन्य समयों में यज्ञोपवीत की आवश्यकता नहीं है।[21]

गोभिलगृह्यसूत्र (१।२।१) में आया है कि विद्यार्थी यज्ञोपवीत के रूप में सूत्रों की डोरी, वस्त्र या कुश की रस्सी धारण करता है।[22] इससे स्पष्ट है कि गोभिल के काल में जनेऊ का रूप प्रचलित था और वह यज्ञोपवीत का उचित रूप माना जाने लगा था, किन्तु वही अन्तिम रूप नहीं था, उसके स्थान पर वस्त्र भी धारण किया जा सकता था। बहुत-से गृह्यसूत्रों में सूत्र रूप में यज्ञोपवीत का वर्णन नहीं मिलता और न उसे पहनते समय किसी वैदिक मन्त्र की आवश्यकता ही समझी गयी (जब कि उपनयन-सम्बन्धी अन्य कृत्यों के लिए वैदिक मन्त्रों की भरमार पायी जाती है)। अतः ऐसी कल्पना करना उचित ही है कि बहुत प्राचीन काल में सूत्र धारण नहीं किया जाता था; आरम्भ में उत्तरीय ही धारण किया जाता था। आगे चलकर सूत्र भी, जिसे हम जनेऊ कहते हैं, प्रयोग में आने लगा। "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्" वाला मन्त्र केवल बौधायनगृह्यसूत्र (२।५।७-८ एवं वैखानस २।५) में मिलता है, यह प्राचीनतम धर्मशास्त्र ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। मनु (२।४४) ने भी उपवीत के विषय में चर्चा चलायी है।

यज्ञोपवीत के विषय में कई नियम बने हैं।[23] यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं, जिनमें प्रत्येक सूत्र में नौ धागे (तन्तु)

२१. नित्यमुत्तरं वासः कार्यम्। अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थे। आप० धर्म० २।२।४।२२-२३; सोत्तराच्छादनश्चैव यज्ञोपवीती भुञ्जीत। आप० धर्म० २।८।१९।१२; हरदत्त ने व्याख्या की है—"उत्तराच्छादनमुपरिवासः, तेन यज्ञोपवीतेन यज्ञोपवीतं कृत्वा भुञ्जीत। नास्य भोजने 'अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थे' इत्ययं कल्पो भवतीत्येके। समुच्चय इत्यन्ये"; यज्ञोपवीती द्विवस्त्रः। अधोनिवीतस्त्वेकवस्त्रः। आप० धर्म० १।२।६।१८-१९; उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजने आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात्। आप० धर्म० १।५।१५।१, हरदत्त ने लिखा है—"वासोविन्यासविशेषो यज्ञोपवीतम्। दक्षिणं बाहुमुद्धरत इति ब्राह्मणविहितम्। वाससोऽसंभवेऽनुकल्पं वक्ष्यति—अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थं इति। एषु विधानात् कालान्तरे नावश्यंभावः।" देखिए औशनसस्मृति—'अग्न्यगारे गवां गोष्ठे होमे जप्ये तथैव च। स्वाध्याये भोजने नित्यं ब्राह्मणानां च संनिधौ। उपासने गुरूणां च संध्ययोरुभयोरपि। उपवीती भवेन्नित्यं विधिरेष सनातनः॥'

२२. यज्ञोपवीतं कुरुते वस्त्रं वापि वा कुशरज्जुमेव। गोभिल गृ० (१।२।१); सूत्रमपि वस्त्राभावाद्वेदितव्यमिति। अपि वाससा यज्ञोपवीतार्थान् कुर्यात्तदभावे त्रिवृता सूत्रेणेति ऋष्यशृंगस्मरणात्। स्मृतिचन्द्रिका, जिल्द १, पृ० ३२।

२३. देखिए स्मृत्यर्थसार, पृ० ४ एवं संस्कारप्रकाश, पृ० ४१६-४१८, जहाँ उपवीत के निर्माण एवं निर्माता के विषय में चर्चा की गयी है। सौभाग्यवती नारी द्वारा निर्मित उपवीत विधवा द्वारा निर्मित उपवीत से अच्छा माना जाता था। आचाररत्न में उद्धृत मदनरत्न ने मनु (२।४४) के ऊर्ध्ववृत को इस प्रकार समझाया है—'करेण दक्षिणेनोर्ध्वंगतेन त्रिगुणीकृतम्। वलितं मानवे शास्त्रे सूत्रमूर्ध्ववृतं स्मृतम्॥' (पृ० २)।

होते हैं, जो भली भाँति बटे एवं माँजे हुए रहते हैं।[२४] देवल ने नौ तन्तुओं (धागों) के नौ देवताओं के नाम लिखे हैं, यथा ओंकार, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, सूर्य एवं विश्वेदेव।[२५] यज्ञोपवीत केवल नाभि तक, उसके आगे नहीं और न छाती के ऊपर तक होना चाहिए।[२६] मनु (२।४४) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२७।१९) के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए यज्ञोपवीत क्रम से रुई, शण (सन) एवं ऊन का होना चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र (१।५।५) एवं गोभिलगृह्यसूत्र (१।२।१) के अनुसार यज्ञोपवीत रुई या कुश का होना चाहिए; किन्तु देवल के अनुसार सभी द्विजातियों का यज्ञोपवीत कपास (रुई), क्षुमा (अलसी या तीसी), गाय की पूंछ के बाल, पटसन वृक्ष की छाल या कुश का होना चाहिए। इनमें से जो भी सुविधा से प्राप्त हो सके उसका यज्ञोपवीत बन सकता है।[२७]

यज्ञोपवीत की संख्या में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन पाया जाता था। ब्रह्मचारी केवल एक यज्ञोपवीत धारण करता था और संन्यासी, यदि वह पहने तो, केवल एक ही धारण कर सकता था। स्नातक (जो ब्रह्मचर्य के उपरान्त गुरुगेह से अपने माता-पिता के घर चला आता था) एवं गृहस्थ दो यज्ञोपवीत तथा जो दीर्घ जीवन चाहे वह दो से अधिक यज्ञोपवीत पहन सकता था।[२८] जिस प्रकार से आज हम यज्ञोपवीत धारण करते हैं, वैसा प्राचीन काल में नियम था या नहीं, स्पष्ट रूप से कह नहीं सकते, किन्तु ईसा के बहुत पहले यह ब्राह्मणों के लिए अपरिहार्य नियम था कि वे कोई कृत्य करते समय यज्ञोपवीत धारण करें, अपनी शिखा बाँध रखें, क्योंकि बिना इसके किया हुआ कर्म मान्य नहीं हो सकता। वसिष्ठ (८।९) एवं बौधायनधर्मसूत्र (२।२।१) के अनुसार पुरुष को सदा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। उद्योगपर्व (महाभारत) का ४०।२५ भी पठनीय है।[२९] यदि कोई ब्राह्मण बिना यज्ञोपवीत धारण किये भोजन कर ले

२४. कौशं सूत्रं वा त्रिस्त्रिवृद्यज्ञोपवीतम्। आ नाभेः। बौ० ध० १।५।५; उक्तं देवलेन—यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतन्तुकम्—इति। स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० ३१।

२५. अत्र प्रतितन्तु देवताभेदमाह देवलः। ओंकारः प्रथमस्तन्तुर्द्वितीयोऽग्निस्तथैव च। तृतीयो नागदैवत्यश्चतुर्थो सोमदैवतः॥ पञ्चमः पितृदैवत्यः षष्ठश्चैव प्रजापतिः। सप्तमो वायुदैवत्यः सूर्यश्चाष्टम एव च॥ नवमः सर्वदैवत्य इत्येते नव तन्तवः॥ स्मृतिच०, भाग १, पृ० ३१।

२६. कात्यायनस्तु परिमाणान्तरमाह। पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्। तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्...देवल। स्तनादूर्ध्वमधो नाभेर्न कर्तव्यं कथंचन। स्मृतिचन्द्रिका, वही, पृ० ३१।

२७. कार्पासक्षौमगोबालशणवल्कतृणोद्भवम्। सदा सम्भवतः कार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥ पराशरमाधवीय (१।२) एवं वृद्ध हारीत (७।४७-४८) में यही बात पायी जाती है।

२८. स्नातकानां तु नित्यं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम्। यज्ञोपवीते द्वे यष्टिः सोदकश्च कमण्डलुः॥ वसिष्ठ १२।१४; विष्णुधर्मसूत्र ७१।१३-१५ में भी यही बात है। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य (१।१३३) की व्याख्या में वसिष्ठ को उद्धृत किया है। मिलाइए मनु ४-३६; एकैकमुपवीतं तु यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। गृहिणां च वनस्थानामुपवीतद्वयं स्मृतम्॥ सोत्तरीयं त्रयं वापि बिभृयाच्छुभतन्तु वा। वृद्ध हारीत ८।४४-४५। देखिए देवल (स्मृतिच० में उद्धृत, भाग १, पृ० ३२) त्रीणि चत्वारि पञ्चाष्ट गृहिणः स्युर्दशापि वा। सर्वैर्वा शुचिभिर्धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥ संस्कारमयूख में उद्धृत कश्यप।

२९. नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी। ऋतौ च गच्छन् विधिवच्च जुह्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्॥ वसिष्ठ (८।९), बौधायनधर्मसूत्र (२।२।१), उद्योगपर्व (४०।२५) तन्त्रवार्तिक, पृ० ८९६ में प्रथम पाद उद्धृत है।

तो उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता था, यथा—स्नान करना, प्रार्थना एवं उपवास करना (देखिए लघुहारीत २३)। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२९२) ने मल-मूत्र त्याग के समय दाहिने कान पर यज्ञोपवीत (याज्ञ० १।१६) न रखने के कारण प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है। मनु (४।६६) ने दूसरे का यज्ञोपवीत पहनने के लिए मना किया है। याज्ञवल्क्य (१।१६ एवं १३३) तथा अन्य स्मृतियों ने यज्ञोपवीत को ब्रह्मसूत्र कहा है।

क्या स्त्रियों का उपनयन होता था? क्या वे यज्ञोपवीत धारण करती थीं? इस विषय में कुछ स्मृतियों में निर्देश मिलते हैं।[30] स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत हारीतधर्मसूत्र तथा अन्य निबन्धों में निम्न बात पायी जाती है—स्त्रियों के दो प्रकार हैं; (१) ब्रह्मवादिनी (ज्ञानिनी) एवं (२) सद्योवधू (जो सीधे विवाह कर लेती हैं); इनमें ब्रह्मवादिनी को उपनयन करना, अग्निसेवा करना, वेदाध्ययन करना, अपने गृह में ही भिक्षाटन करना पड़ता था, किन्तु सद्योवधुओं का विवाह के समय केवल उपनयन कर दिया जाता था। गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार (२।१।१९) लड़कियों को उपनयन के प्रतीक के रूप में यज्ञोपवीत धारण करना पड़ता था।[31] आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।८) ने समावर्तन के प्रसंग में लिखा है—"अपने दोनों हाथों में लेप (उबटन) लगाकर ब्राह्मण अपने मुख को, क्षत्रिय अपनी दोनों बाहुओं को, वैश्य अपने पेट को, स्त्री अपने गर्भस्थान को तथा जो दौड़ लगाकर अपनी जीविका चलाते हैं (सरणजीवी) वे अपनी जाँघों को लिप्त करें।"[32] महाभारत (वनपर्व ३०५।२०) में आया है कि एक ब्राह्मण ने पाण्डवों की माता को अथर्वशीर्ष के मन्त्र पढ़ाये थे।[33] हारीत ने व्यवस्था दी है कि मासिक धर्म चालू होने के पूर्व ही स्त्रियों का समावर्तन हो जाना चाहिए।[34] अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मवादिनी नारियों का उपनयन गर्भाधान के आठवें वर्ष होता था, वे वेदाध्ययन करती थीं और उनका छात्रा-जीवन रजस्वला होने के (युवा हो जाने के) पूर्व समाप्त हो जाता था। यम ने भी लिखा है कि प्राचीन काल में मूंज की मेखला बाँधना (उपनयन) नारियों के लिए भी एक नियम था, उन्हें वेद पढ़ाया जाता था, वे सावित्री (पवित्र गायत्री मन्त्र) का उच्चारण करती थीं, उन्हें उनके पिता, चाचा या भाई पढ़ा सकते थे, अन्य कोई बाहरी पुरुष नहीं पढ़ा सकता था, वे गृह में ही भिक्षा माँग सकती थीं, उन्हें मृगचर्म, वल्कल वसन नहीं पहनना पड़ता था और न वे जटाएँ रखती थीं।[35] मनु को भी यह बात ज्ञात थी। जातकर्म से लेकर उपनयन तक के संस्कारों के विषय में चर्चा

३०. यत्तु हारीतेनोक्तं द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः। स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० २४ में उद्धृत) एवं संस्कारमयूख, पृ० ४०२।

३१. "प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत् सोमो ददद् गन्धर्वायेति।" गोभिलगृह्यसूत्र २।१।१९; इसकी टीका में आया है—"यज्ञोपवीतवत्कृतोत्तरीयाम्"; "न तु यज्ञोपवीतिनीमित्यनेन स्त्रीणामपि कर्मांगत्वेन यज्ञोपवीतधारणमिति हरिशर्मोक्तं युक्तं स्त्रीणां यज्ञोपवीतधारणानुपपत्तेः।" संस्कारतत्त्व, पृ० ८९६।

३२. अनुलेपनेन पाणी प्रलिप्य मुखमग्रे ब्राह्मणोऽनुलिम्पेत्। बाहू राजन्यः। उदरं वैश्यः। उपस्थं स्त्री। ऊरू सरणजीविनः। आश्व० ३।८।२।

३३. ततस्तामनवद्यांगीं ग्राहयामास स द्विजः। मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम्॥ वनपर्व ३०५।२०।

३४. प्राग्रजसः समावर्तनम् इति हारीतोक्त्या। संस्कारप्रकाश, पृ० ४०४।

३५. यमोपि। पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥ पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः। स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षचर्या विधीयते॥ वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च॥ संस्कारप्रकाश पृ० ४०२-४०३; स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० २४) में ये श्लोक मनु के कहे गये हैं।

करके मनु (२।६६) ने यह निष्कर्ष निकाला है "ये कृत्य नारियों के लिए भी ज्यों-के-त्यों किये जाते थे, किन्तु बिना मन्त्रों के, परन्तु केवल विवाह के संस्कार में स्त्रियों के लिए वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता था।" इससे स्पष्ट है कि मनु के काल में स्त्रियों का उपनयन नहीं होता था, किन्तु प्राचीन काल में यह होता था, यह स्पष्ट हो जाता है। बाणभट्ट की कादम्बरी में महाश्वेता (जो तप कर रही थी) के बारे में ऐसा आया है कि उसका शरीर ब्रह्मसूत्र पहनने के कारण पवित्र हो गया था (ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्)। यहाँ ब्रह्मसूत्र का अर्थ है यज्ञोपवीत। संस्कारप्रकाश में ऐसा आया है कि परमात्मा यज्ञ कहलाता है, और यज्ञोपवीत नाम इसलिए पड़ा कि यह परमात्मा को मिलाने वाला है (यह उनके लिए किये गये यज्ञ में प्रयुक्त होता है)।[३६]

तीनों वर्णों के लोगों के लिए यज्ञोपवीत की व्यवस्था थी, किन्तु क्षत्रियों एवं वैश्यों ने इसके प्रयोग को सर्वथा छोड़ दिया या सदा पहनना न चाहा, अतः बहुत पहले से ब्राह्मणों के लिए ही यज्ञोपवीत की विशिष्ट मान्यता थी। कालिदास ने रघुवंश (११।६४) में कुपित परशुराम के वर्णन में लिखा है कि उपवीत तो पितृ-परम्परा से उन्हें मिला है किन्तु धनुष धारण करना माता के वंश से (क्योंकि माता क्षत्रिय वंश की थी)।[३७] इस उक्ति से स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोग उपवीत सदा नहीं पहनते थे और उपवीत ब्राह्मणों के लिए एक विशिष्ट लक्षण हो गया था। वेणीसंहार (३) में कर्ण के इस कथन पर कि वह अश्वत्थामा के पैर को उसके ब्राह्मण होने के नाते नहीं काटेगा, अश्वत्थामा ने कहा; मैं अपनी जाति छोड़ता हूँ।[३८] (लो मैं अपना उपवीत छोड़ता हूँ), इससे स्पष्ट होता है कि वेणीसंहार (कम-से-कम ६०० ई०) के समय में यज्ञोपवीत ब्राह्मणजाति का एक विशिष्ट लक्षण हो गया था।

संस्काररत्नमाला में उद्धृत बौधायनसूत्र के अनुसार किसी ब्राह्मण या उसकी कुमारी कन्या द्वारा काता हुआ सूत लाया जाता है, तब "भूः" के साथ किसी व्यक्ति द्वारा उसे ९६ अंगुल नाप लिया जाता है, इसी प्रकार पुनः दो बार "भुवः" एवं "स्वः" के साथ ९६ अंगुल नापा जाता है। तब इस प्रकार नापा हुआ सूत पलाश की पत्ती पर रखा जाता है और तीन मन्त्रों 'आपो हि ष्ठा' (ऋग्वेद १०।९।१-३), चार मंत्रों 'हिरण्यवर्णाः' (तैत्तिरीयसंहिता ५।६।१ एवं अथर्ववेद १।३३।१-४) एवं 'पवमानः सुवर्जनः' (तैत्तिरीय ब्राह्मण १।४।८) से प्रारम्भ होने वाले अनुवाक तथा गायत्री के साथ उस पर जल छिड़का जाता है। इसके उपरान्त बायें हाथ में सूत लेकर दोनों हाथों से तीन बार ताली के रूप में ठोक दिया जाता है, तब वह 'भूर्ग्निं च' (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।२) के तीन मन्त्रों के साथ तिहरा मोड़ा जाता है। इसके उपरान्त 'भूर्भुवः स्वश्चन्द्रमस च' (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।२) के पठन के साथ गाँठ बाँधी जाती है। नौ तन्तुओं के साथ नौ देवताओं का आवाहन किया जाता है; तब 'देवस्य त्वा' नामक मन्त्र के साथ उपवीत उठा लिया जाता है। फिर 'उद्वयं तमसस्परि' (ऋग्वेद १।५०।१०) के साथ उसे सूर्य को दिखाया जाता है। इसके उपरान्त 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' के साथ यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। इसके उपरान्त गायत्री का जप करके आचमन किया जाता है।

आधुनिक काल में पुराना हो जाने पर या अशुद्ध हो जाने, कट या टूट जाने पर जब नवीन यज्ञोपवीत धारण किया जाता है तो संक्षिप्त कृत्य इस प्रकार का होता है—यज्ञोपवीत पर तीन 'आपो हिष्ठा' (ऋग्वेद १०।९।१-३) मन्त्रों के साथ जल छिड़का जाता है। इसके उपरान्त दस बार गायत्री (प्रति बार व्याहृतियों, अर्थात "ओम् भूर्भुवः

३६. यज्ञार्थः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः। उपवीतं ततोऽस्येदं तस्माद्यज्ञोपवीतकम्॥ सं०प्र०, पृ० ४१९।

३७. पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्। रघुवंश (११।६४)।

३८. जात्या चेदवध्योऽहमियं सा जातिः परित्यक्ता। वेणीसंहार, ३।

स्वः" के साथ) दुहरायी जाती है और तब 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' के साथ यज्ञोपवीत धारण किया जाता है।

बौधायनगृह्यशेषसूत्र (२।८।१-१२) ने क्षत्रियों, वैश्यों, अम्बष्ठों एवं करणों (वैश्य एवं शूद्र नारी से उत्पन्न) के उपनयन-संस्कार के कुछ अन्तरों पर प्रकाश डाला है, किन्तु उसके विस्तार में जाना यहाँ आवश्यक नहीं है।

अन्धे, बहरे, गूंगे आदि का उपनयन

क्या अन्धे, बहरे, गूंगे, मूर्ख लोगों का उपनयन होता था? जैमिनि (६।१।४१-४२) के अनुसार अंगहीनों को अग्निहोत्र नहीं करना चाहिए, किन्तु यह अयोग्यता दोष न अच्छा हो सकने पर ही लागू होती है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१४।१), गौतम (२८।४१-४२), वसिष्ठ (१७।५२-५४), मनु (९।२०१), याज्ञवल्क्य (२ १४०-१४१), विष्णुधर्मसूत्र (१५।३२) के अनुसार जो नपुंसक, पतित, जन्म से अन्धा या बधिर हो, लूला लंगड़ा हो, जो असाध्य रोगों से पीड़ित हो उसे विभाजन के समय सम्पत्ति नहीं मिल सकती, हाँ उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध होना चाहिए। किन्तु ऐसे लोग विवाह कर सकते थे। बिना उपनयन के विवाह कैसे हो सकता है? अतः स्पष्ट है; अंधों, बधिरों, गूंगों आदि का उपनयन होता रहा होगा। बौधायनगृह्यशेषसूत्र (२।९) ने इन लोगों में कुछ के लिए अर्थात् बहरों, गूंगों एवं मूर्खों के लिए उपनयन की एक विशिष्ट पद्धति निकाली है। इन लोगों के विषय में समिधा देना, प्रस्तर पर चढ़ना, वस्त्रधारण, मेखला-बन्धन, मृगचर्म एवं दण्ड लेना मौन रूप से होता है और बालक अपना नाम नहीं लेता, केवल आचार्य ही पक्व भोजन एवं घृत की आहुति देता है और सब मन्त्र मन ही मन पढ़ता है। सूत्र का कहना है कि यही विधि नपुंसक, अन्धे, पागल तथा मूर्च्छा, मिर्गी, कुष्ठ (श्वेत या कृष्ण) आदि रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए भी लागू होती है।[39] निर्णयसिन्धु ने प्रयोगपारिजात में लिखित ब्रह्मपुराण के कथन को उद्धृत कर उपर्युक्त बात ही लिखी है। संस्कारप्रकाश (पृ० ३९९-४०१) एवं गोपीनाथ की संस्काररत्नमाला (पृ० २७३-७४) में भी यही बात पायी जाती है। मनु (२।१७४), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१३।१), मनु (१०।५) याज्ञवल्क्य (१।९० एवं ९२) ने स्पष्ट शब्दों में कुण्ड एवं गोलक सन्तानों के लिए भी उपर्युक्त व्यवस्था मानी है। कुण्ड वह सन्तान है जो पति के रहते किसी अन्य पुरुष से उत्पन्न होती है तथा गोलक पति की मृत्यु के उपरान्त किसी अन्य पुरुष से उत्पन्न होता है। मनु ने कुण्डों एवं गोलकों को श्राद्ध के समय निमन्त्रित करना मना किया है (३।१५६)।

वर्णसंकरों के उपनयन के प्रश्न के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। मनु (१०।४१) ने छः अनुलोमों को द्विजों की क्रियाओं के योग्य माना है। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।९२ एवं ९५) का कहना है कि माता की जाति के अनुसार ही अनुलोमों के कृत्य सम्पादित होने चाहिए और इन अनुलोमों से उत्पन्न वर्णसंकरों की सन्तानें भी उपनयन के योग्य ठहरती हैं। बौधायनगृह्यशेषसूत्र (२।८) ने क्षत्रियों, वैश्यों एवं वर्णसंकरों, यथा रथकारों, अम्बष्ठों आदि के लिए उपनयन-नियम लिखे हैं। मनु (४।४१) के अनुसार सभी प्रतिलोम शूद्र हैं, यहाँ तक कि ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्र नारी की सन्तान यद्यपि अनुलोम है किन्तु प्रतिलोम के समान ही है। शूद्र केवल एक जाति है द्विजाति नहीं (गौतम १०।५१)। प्रतिलोमों (शूद्रों) का भी उपनयन नहीं किया जाता।

३९. षण्डजडक्लीबान्धव्यसनिव्याधितोन्मत्तहीनांगबधिराधिकांगामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिदीर्घरोगिणश्चैतेन व्याख्याता इत्येके। बौधायनगृह्यशेषसूत्र २।९।१४।

उपनयन-संस्कार की महत्ता इतनी बढ़ गयी कि कुछ प्राचीन ग्रन्थों ने अश्वत्थ वृक्ष के उपनयन की चर्चा कर डाली है (बौधायनगृह्यशेषसूत्र २।१०)। आज कल यह उपनयन बहुत कम देखने में आता है। अश्वत्थ के पश्चिम होम किया जाता है, पुंसवन से आगे के संस्कार किये जाते हैं (अनुकृति के आधार पर ही) किन्तु व्याहृतियों के साथ ही; ऋग्वेद (३।८।११) के "वनस्पते०" के साथ वृक्ष का स्पर्श होता है। वृक्ष और पूजक के बीच में एक वस्त्र-खण्ड रखा जाता है, तब आठ शुभ श्लोक (मंगलाष्टक) कहे जाते हैं, तब वस्त्र हटा दिया जाता है और ध्रुवसूक्त (ऋग्वेद १०। ७२।१-९) नामक स्तुतिगान होता है। इसके उपरान्त वस्त्र-खण्ड, यज्ञोपवीत, मेखला, दण्ड एवं मृगचर्म मन्त्रों के साथ चढ़ा दिये जाते हैं और वृक्ष को स्पर्श करके गायत्री मन्त्र पढ़ा जाता है।

सावित्री-उपदेश

शतपथब्राह्मण (११।५।४।१-१७) से पता चलता है कि उपनयन के एक वर्ष, छः मास, २४, १२ या ३ दिन के उपरान्त गुरु (आचार्य) द्वारा पवित्र गायत्री मन्त्र का उपदेश ब्रह्मचारी के लिए किया जाता था, किन्तु ब्राह्मण ब्रह्मचारियों के लिए गायत्री उपदेश तुरंत कर दिया जाता था। यह नियम इसलिए था कि कुछ पढ़ लिख लेने के उपरान्त ही ठीक से उच्चारण सम्भव था। शांखायनगृह्यसूत्र (२।५), मानवगृह्यसूत्र (१।२२।१५), भारद्वाज-गृह्यसूत्र (१।९), पारस्करगृह्यसूत्र (२।३) में भी यही नियम पाया जाता है। किन्तु सामान्य नियम तो यह था कि उपनयन के दिन ही गायत्री का उपदेश होता रहा है। अधिकांश सूत्रों के मतानुसार आचार्य अग्नि के उत्तर पूर्वाभिमुख होता है और ब्रह्मचारी पश्चिम-मुख बैठकर आचार्य से पवित्र सावित्री मन्त्र सुनाने को कहता है, तब आचार्य पहले एक पाद, तब दो पाद और फिर पूर्ण मन्त्र सिखाता है। बौधायनगृह्यसूत्र (२।५।३४-३७) के अनुसार ब्रह्मचारी अग्नि में पलाश की या किसी अन्य यज्ञोचित वृक्ष की चार लकड़ियाँ घी में डुबोकर डालता है और अग्नि, वायु, आदित्य एवं व्रत के स्वामी के लिए मन्त्रोच्चारण करता है और आहुति देते समय स्वाहा कहता है। सूत्रों एवं टीकाओं में गायत्री के उपदेश के विषय में बहुत-से जटिल नियम हैं, किन्तु ये जटिल नियम एवं अन्तर व्याहृतियों (भूर्भुवः स्वः) के स्थान को लेकर उत्पन्न हो गये हैं।[40] आपस्तम्बगृह्यसूत्र (२।२) से सुदर्शन के दो उदाहरण यहाँ टिप्पणी में दिये जाते हैं।[41]

४०. भूः, भुवः एवं स्वः नामक रहस्यात्मक शब्द कभी-कभी महाव्याहृतियाँ कहे जाते हैं (गोभिलगृह्यसूत्र २।१०।४०; मनु २।८१)। इन्हें केवल व्याहृतियाँ भी कहा जाता है। देखिए तैत्तिरीयोपनिषद् १।५।१, जहाँ महः को चौथी व्याहृति कहा गया है। व्याहृतियों की संख्या सामान्यतः ७ है; भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्यम् (वसिष्ठ २५।९, वैखानस ७।९)। गौतम (१।५२ एवं २५।८) ने ये ५ व्याहृति लिखी हैं, यथा—भूः, भुवः, स्वः, पुरुषः एवं सत्यम्। व्याहृतिसाम में भी पाँच ही नाम आये हैं, किन्तु वहाँ पुरुष सबसे अन्त में आया है।

४१. व्याहृतीर्विहृताः पादादिष्वन्तेषु वा तयर्धर्चयोरुत्तमां कृत्स्नायाम्। आप० गृह्य० २।२; जिस पर सुदर्शन का कहना है—'ओं भूस्तत्सवितुर्वरेण्यम्। ओं भुवः भर्गो देवस्य धीमहि। ओं सुवः धियो यो नः प्रचोदयात्। ओं भूस्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। ओं भुवः धियो यो नः प्रचोदयात्। ओं सुवः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।'—यह पहली विधि है। दूसरी विधि है व्याहृतियों को अन्त में रख देना, यथा—'ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भूः। ओं भर्गो देवस्य धीमहि भुवः। ओं धियो यो नः प्रचोदयात् सुवः। ओं तत्सवितुर्वरेण्यं...धीमहि भूः। ओं धियो यो नः प्रचोदयात् भुवः। ओं तत्सवितु...यात् सुवः।' मिलाइए, भारद्वाजगृह्य० १।९; बौधायनगृ० २।५।४०। 'स्वः' अधिकतर "सुवः" कहा गया है। ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्।...ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति।

'ओम्' शब्द प्राचीन काल से ही परम पवित्र माना जाता रहा है और परमात्मा का प्रतीक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।११) में ओंकार की स्तुति पायी जाती है और वहाँ ऋग्वेद का मन्त्र (१।१६४।३९) उद्धृत किया गया है, यथा—"ऋचो अक्षरे परमे..आदि"। यहाँ 'अक्षर' का अर्थ "ओंकार" किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् (१।८) के अनुसार 'ओम्' शब्द 'ब्रह्म' है, 'ओम्' यह सब (सम्पूर्ण विश्व) है। ब्राह्मण जब वेदाध्ययन के पूर्व 'ओम्' शब्द का उच्चारण करता है तो उसके पीछे यही भावना रहती है कि वह ब्रह्म के सन्निकट पहुँच सके। 'ओम्' को प्रणव कहा गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१३।६) के अनुसार "ओंकार स्वर्ग का द्वार है, अतः जिसे वेदाध्ययन करना हो उसे प्रथम 'ओम्' कहना चाहिए।" मनु (२।७४) का कहना है कि प्रतिदिन वेदाध्ययन के आरम्भ एवं अन्त में प्रणव दुहराना चाहिए, 'ओम्' के तीन अक्षर अर्थात् 'अ', 'उ' एवं 'म्' तथा तीन व्याहृतियाँ प्रजापति द्वारा तीनों वेदों से साररूप में खींच ली गयी हैं। मेधातिथि (मनु २।७४) के अनुसार विद्यार्थी को वेदाध्ययन के आरम्भ में तथा गृहस्थ को ब्रह्म-यज्ञ में 'ओम्' का उच्चारण अवश्य करना चाहिए, किन्तु जप में यह आवश्यक नहीं है। मार्कण्डेयपुराण (४२), वायु-पुराण (२०), वृद्धहारीतस्मृति (६।५९-६२) तथा कतिपय अन्य स्मृतियों में 'ओम्' शब्द के तीनों अक्षरों को अत्युक्ति के साथ विष्णु, लक्ष्मी एवं जीव के तथा तीनों वेदों, तीनों लोकों के समनुरूप माना गया है। कठोपनिषद् (१।२।१५-१७) में 'ओम्' को तीनों वेदों का अन्त (परिणाम), ब्रह्मज्ञान का उद्गम एवं ब्रह्म का प्रतीक माना गया है।

गायत्री का पवित्र मन्त्र ऋग्वेद की ऋचा है (३।६२।१०) और यह अन्य वेदों में भी उपलब्ध है। यह सविता (सूर्य) को सम्बोधित किया गया है, किन्तु इसे सभी प्रकार के जीवों एवं पदार्थों के उद्गम एवं प्रेरक की स्तुति के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—"हम दिव्य सविता के, जो हमारी धी (बुद्धि या मनीषा) को उत्तेजित करे, देदीप्यमान तेज का ध्यान करते हैं।" कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी प्रकार के विद्यार्थियों के लिए एक ही प्रकार का मन्त्र प्रकल्पित है, किन्तु कुछ अन्य गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मणों के लिए सावित्री मन्त्र (प्रत्येक पाद में ८ अक्षर वाले) गायत्री छंद में तथा क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए (प्रत्येक पाद में ११ अक्षर वाले) त्रिष्टुप् या (प्रत्येक पाद में १२ अक्षर वाले) जगती छन्दों में होना चाहिए। यहाँ पर भी कुछ अन्तर रखा गया है। काठक-गृह्यसूत्र (४१।२०) के टीकाकारों के अनुसार "अदब्धेभिः सविता" (काठक ४।१०) एवं "विश्वा रूपाणि" (काठक १६।८) नामक मन्त्र क्रम से क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए कहे गये हैं। शांखायनगृह्यसूत्र (२।५।४-६) के टीकाकार के अनुसार "आ कृष्णेन रजसा" (ऋ० १।३५।२) मन्त्र त्रिष्टुप् में क्षत्रिय के लिए तथा "हिरण्यपाणिः सविता" (ऋ० १।३५।९) या "हंसः शुचिषद्" (ऋ० ४।४०।५) मन्त्र जगती में वैश्य के लिए कहा गया है। वाराहगृह्यसूत्र (५) के अनुसार "देवो याति सविता" एवं "युञ्जते मनः" (ऋ० ५।८१।१) क्रम से त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द हैं और वे क्रम से क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए कहे गये हैं। इसी प्रकार कई एक अन्तर पाये जाते हैं (तैत्तिरीय संहिता १।७।७।१, काठक १३।१४ आदि)। सावित्री मन्त्र ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रम से गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती में हो, यह एक

ब्रह्मैवाप्नोति। तै० उ० १।८; योगसूत्र (१।२७) ने लिखा है "तस्य वाचकः प्रणवः।". 'ओंकारः स्वर्गद्वारं तस्माद् ब्रह्माध्येष्यमाण एतदादि प्रतिपद्येत।' आपस्तम्बधर्मसूत्र १।४।१३।६। मनु (२।७४) की व्याख्या में मेधातिथि ने लिखा है—"सर्वदाग्रहणमध्ययनविधिमात्रधर्मो यथा स्यात्।...अतो होममन्त्रजपशास्त्रानुवचनयाज्यादीनामारम्भे नास्ति प्रणवोऽन्यत्रापि उदाहरणार्थे वैदिकवाक्यव्याहारे।" माण्डूक्योपनिषद् (१२) एवं गौडपाद की कारिकाओं (१।२४-२९) में ओंकार परब्रह्म कहा गया है।

अति प्राचीन विधि रही है।[४२] पारस्करगृह्यसूत्र (२।३) के मत से सभी वर्ण गायत्री या सावित्री मन्त्र को क्रम से गायत्री, त्रिष्टुप् या जगती छन्द में पढ़ सकते हैं। गायत्री मन्त्र (ऋग्वेद ३।६२।१०) क्यों प्रसिद्ध हो गया, यह कहना कठिन है। बहुत सम्भव है, इस मन्त्र में बुद्धि (धी) की विभुता से विश्व के उद्भव की ओर जो संकेत मिलता है एवं इसमें जो महती सरलता पायी जाती है, इसी से इसे अति प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी। गोपथब्राह्मण (१।३२-३३) ने गायत्री मन्त्र की व्याख्या कई प्रकार से की है। तैत्तिरीयारण्यक (२।११) में आया है कि "भूः, भुवः, स्वः नामक रहस्यमय शब्द वाणी के सत्य (सार) हैं, तथा गायत्री में सविता का अर्थ है वह जो श्री या महत्ता को उत्पन्न करता है।" अथर्ववेद (१९।७१।१) ने इसे 'वेदमाता' कहा है और स्तुति में कहा है—"यह स्तुति करने वाले को लम्बी आयु, यश, सन्तान, पशु आदि दे।" बृहदारण्यकोपनिषद् (१४।१-६), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।१०), मनु (२।७७-८३), विष्णुधर्मसूत्र (५५-११-१७), शंखस्मृति (१२), संवर्त (२१६-२२३), बृहत्पराशर (५) तथा अन्य ग्रन्थों में गायत्री की प्रभूत महत्ता गायी गयी है। पराशर (५।१) ने इसे वेदमाता कहा है। गायत्री के जप से शुचिता प्राप्त होती है (शंखस्मृति १२।१२; मनु २।१०४; बौधायनधर्मसूत्र २।४।७-९; वसिष्ठधर्मसूत्र २६।१५)।

ब्रह्मचारी के धर्म

ब्रह्मचारियों के लिए कुछ नियम बने हैं, जिन्हें हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं; जिनमें प्रथम प्रकार के वे नियम हैं जिन्हें ब्रह्मचारी अल्प काल तक ही मानते हैं और दूसरे प्रकार के वे नियम, जो छात्र-जीवन तक माने जाते हैं। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२२।१७) के अनुसार ब्रह्मचारी को उपनयन के उपरान्त तीन रातों, या बारह रातों, या एक वर्ष तक क्षार, लवण नहीं खाना चाहिए और पृथ्वी पर शयन करना चाहिए। यही बात बौधायन गृ० (२।५।५५) में भी पायी जाती है (यहाँ तीन दिनों तक प्रज्वलित अग्नि रखने का भी विधान है)। इस विषय में भारद्वाजगृ० (१।१०), पारस्करगृ० (२।५), खादिरगृ० (२।४।३३), हिरण्यकेशिगृ० (१।८।२), मनु (२।१०८ एवं १७६) आदि स्थल अवलोकनीय हैं, जहाँ पर कुछ विभिन्नताओं के साथ ब्रह्मचारियों के नियम बताये गये हैं। मनु (२।१०८ एवं १७६) के अनुसार अग्नि में समिधा डालना, भिक्षा माँगना, भू-शयन, गुरु के लिए काम करना, प्रति दिन स्नान करना, देवों-ऋषियों-पितरों का तर्पण करना आदि ब्रह्मचारियों का धर्म है। ये कार्य अल्पकालीन माने गये हैं।

पूर्ण छात्र-जीवन के नियम हम शतपथब्राह्मण (११।५।४।१-१७), आश्वलायनगृह्य० (१।२२।२), पारस्करगृह्य० (२।३), आपस्तम्बमन्त्रपाठ (२।६।१४), काठकगृह्य० (४१।१७) आदि में पा सकते हैं। ये कार्य हैं—आचमन, गुरुशुश्रूषा, वाक्संयम (मौन) समिधाधान। सूत्रों एवं स्मृतियों में इन नियमों के पालन की विधियाँ भी पायी जाती हैं (गौतम २।१०-४०, शांखायनगृ० २।६।८, गोभिल० ३।१।२७, खादिर० २।५।१०-१६, हिरण्य० ८।१-७, आपस्तम्बधर्म० १।१।३।११-१ एवं २।७।३०, बौधायनधर्म० १।२७, मनु २।४९-२४९, याज्ञवल्क्य १।१६-३२ आदि)। अग्निपरिचर्या (अग्नि-होम), भिक्षा, सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन का समय एवं विधि, कुछ खाद्यों एवं पेयों एवं गीतों का वर्जन, गुरुशुश्रूषा (गुरु तथा गुरुकुल एवं अन्य गुरुजनों की सेवा) एवं ब्रह्मचारी के अन्य व्रतों के विषय में ही नियम एवं विधियाँ बतायी गयी हैं। कुछ अन्य बातों पर विचार करने के उपरान्त इनका वर्णन हम कुछ विस्तार के साथ करेंगे।

४२. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। वसिष्ठ ४।३।

उपनयन के चौथे दिन एक कृत्य किया जाता था जिसका नाम था मेधा-जनन (बुद्धि की उत्पत्ति), जिसके द्वारा यह समझा जाता था कि ब्रह्मचारी की बुद्धि वेदाध्ययन के योग्य हो गयी है (आश्वलायनगृह्य सूत्र १।२२।१८-१९), भारद्वाजगृह्य० (१।१०), मानवगृह्य० (१।२२।१७), काठकगृह्य० (४१।१८) एवं संस्कारप्रकाश (पृ० ४४४-४६) में भी यह कृत्य पाया जाता है। इस कृत्य के विस्तार में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

उपनयन के समय प्रज्वलित अग्नि को समिधा दे-देकर तीन दिनों तक रखना पड़ता था। इसके उपरान्त साधारण अग्नि में समिधा डाली जाती थीं। प्रति दिन प्रातः एवं सायं छः समिधा दी जाती थीं। इस विषय में बौधायनगृह्य० (२।५।५५-५७), आपस्तम्बगृह्य० (२।२२), आश्वलायनगृह्य० (१।२०।१०-१।२१।४), शांखायन गृह्य० (२।१०), मनु (२।१८६), याज्ञवल्क्य (१।२५), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।४।१७) आदि अवलोकनीय हैं। विशेष विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

समिधा के विषय में भी थोड़ी जानकारी आवश्यक है। समिधा पलाश की या किसी अन्य यज्ञवृक्ष की होनी चाहिए। इन वृक्षों के नाम दिये गये हैं—पलाश, अश्वत्थ, न्यग्रोध, प्लक्ष, वैकंकत, उदुम्बर, बिल्व, चन्दन, सरल, शाल, देवदारु एवं खदिर।[४३] वायुपुराण ने सर्वप्रथम स्थान पलाश को दिया है, उसके उपरान्त क्रम से खदिर, शमी, रोहितक, अश्वत्थ, अर्क या वेतस को स्थान दिया है। त्रिकाण्डमण्डन (२।८२-८४) ने इस विषय में कई नियम दिये हैं। इसके अनुसार समिधा के लिए पलाश एवं खदिर के वृक्ष सर्वश्रेष्ठ हैं और कोविदार, विभीतक, कपित्थ, करभ, राजवृक्ष, शकद्रुम, नीप, निम्ब, करञ्ज, तिलक, श्लेष्मातक या शाल्मलि कभी भी प्रयोग में लाने योग्य नहीं हैं। अँगूठे से मोटी समिधा नहीं होनी चाहिए। इसे छीलना नहीं चाहिए। इसमें कोई कीड़ा लगा हुआ नहीं होना चाहिए और न यह घुनी हुई होनी चाहिए। इसके टुकड़े नहीं होने चाहिए। यह एक प्रादेश (अँगूठे से लेकर तर्जनी तक) से न बड़ी और न छोटी होनी चाहिए। इसमें पत्तियाँ नहीं होनी चाहिए और पर्याप्त मजबूत होनी चाहिए।

भिक्षा

आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२२।७-८) ने भिक्षा के विषय में कहा है कि ब्रह्मचारी को ऐसे पुरुष या स्त्री से भिक्षा माँगनी चाहिए जो निषेध न करे और माँगते समय ब्रह्मचारी को कहना चाहिए 'महोदय, भोजन दीजिए'। अन्य धर्मशास्त्रकारों ने विस्तृत विवरण उपस्थित किये हैं। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र ने लिखा है—"आचार्य सर्व प्रथम दण्ड देता है, उसके उपरान्त भिक्षा-पात्र देकर कहता है—जाओ बाहर और भिक्षा माँग लाओ। पहले वह माता से, तब अन्य दयालु घरों से भिक्षा माँगता है। वह भिक्षा माँगकर गुरु को लाकर देता है, कहता है, 'यह भिक्षा है'। गुरु ग्रहण करता है, 'यह अच्छी भिक्षा है।" बौधायनगृह्यसूत्र (२।५।४७-५३) ने भी नियम दिये हैं,[४४] यथा—ब्राह्मण

४३. पलाशाश्वत्थन्यग्रोधप्लक्षवैकंकतोद्भवाः। अश्वत्थोदुम्बरौ बिल्वश्चन्दनः सरलस्तथा। शालश्च देवदारुश्च खदिरश्चेति यज्ञियाः॥ ब्रह्मपुराण (कृत्यरत्नाकर, पृ० ६१ में उद्धृत)।

४४. अथास्मै अरिक्तं पात्रं प्रयच्छन्नाह। मातरमेवाग्रे भिक्षस्वेति। स मातरमेवाग्रे भिक्षते। भवति भिक्षां देहीति ब्राह्मणो भिक्षेत। भिक्षां भवति देहीति राजन्यः। देहि भिक्षां भवतीति वैश्यः। तत्समाहृत्याचार्याय प्राह भैक्षमिदमिति। तत्सुभैक्षमितीतरः प्रतिगृह्णाति। (बौ० गृ० २।५।४७-५३)।

ब्रह्मचारी इन शब्दों के साथ भिक्षा माँगता है, 'भवति भिक्षां देहि' (भद्रे, मुझे भोजन दीजिए), किन्तु क्षत्रिय एवं वैश्य ब्रह्मचारी को क्रम से 'भिक्षा भवति देहि' एवं 'देहि भिक्षां भवति' कहना चाहिए। यही बात बौधायनधर्मसूत्र (१।२।१७), मनु (२।४९), याज्ञवल्क्य (१।३०) तथा अन्य लोगों ने भी कही है (देखिए शांखायन गृ० २।६।५-८; गोभिलगृ० २।१०।४२-४४; खादिरगृ० २।४।२८-३१)। मनु (२।५) के अनुसार सर्वप्रथम माता से, तब बहिन से या मौसी से माँगना चाहिए। ब्रह्मचारी को भिक्षा देने में कोई आनाकानी नहीं कर सकता था, क्योंकि ऐसा करने पर किये गये सत्कार्यों से उत्पन्न गुण, यज्ञादि से उत्पन्न पुण्य, सन्तान, पशु आध्यात्मिक यश आदि का नाश हो जाता है। यदि कहीं अन्यत्र भिक्षा न मिले तो ब्रह्मचारी को अपने घर से, अपने गुरुजनों (मामा आदि) से, सम्बन्धियों से और अन्त में अपने गुरु से भिक्षा माँगनी चाहिए।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।३।२५) के अनुसार ब्रह्मचारी अपपात्रों (चाण्डाल आदि) एवं अभिशस्तों (अपराधियों) को छोड़कर किसी से भी भोजन माँग सकता है। यही बात गौतम (२।४१) में भी है। इस विषय में मनु (२।१८३ एवं १८५), याज्ञवल्क्य (१।२९), औशनस आदि के मत अवलोकनीय हैं। शूद्रों से भोजन माँगना सर्वत्र वर्जित माना गया है। पराशरमाधवीय (१।२) ने लिखा है कि आपत्काल में भी शूद्र के यहाँ का पका भोजन भिक्षा रूप में नहीं लेना चाहिए।

मनु (२।१८९), बौधायनधर्मसूत्र (१।५।५६) एवं याज्ञवल्क्य (१।१८७) ने भिक्षा से प्राप्त भोजन को शुद्ध माना है। भिक्षा से प्राप्त भोजन पर रहनेवाले ब्रह्मचारी को उपवास का फल पानेवाला कहा गया है (मनु २।१८८ एवं बृहत्पराशर पृ० १३०)। ब्रह्मचारी को थोड़ा-थोड़ा करके कई गृहों से भोजन माँगना चाहिए। केवल देवपूजन या पितरों के श्राद्ध-काल में ही किसी एक व्यक्ति के यहाँ भरपेट भोजन ग्रहण करना चाहिए (मनु २।१८८-१८९ एवं याज्ञ० १।३२)।

गौतम (५।१६) ने लिखा है कि प्रति दिन वैश्वदेव के यज्ञ एवं भूतों की बलि के उपरान्त गृहस्थ को 'स्वस्ति' शब्द एवं जल के साथ भिक्षा देनी चाहिए। मनु (३।९४) एवं याज्ञवल्क्य (१।१०८) ने कहा है कि यतियों एवं ब्रह्मचारियों को भिक्षा (भोजन) आदर एवं स्वागत के साथ देनी चाहिए। मिताक्षरा ने एक कौर (ग्रास) की भिक्षा की बात चलायी है (याज्ञ० १।१०८)। एक कौर (ग्रास) मयूर (मोर) के अण्डे के बराबर होता है। एक पुष्कल चार ग्रास के बराबर, हन्त चार पुष्कल के बराबर तथा अग्र तीन हन्त के बराबर होता है।[४५]

प्राचीन काल में प्रति दिन अग्नि में समिधा डालना (होम) तथा भिक्षा माँगना इतना आवश्यक माना जाता था कि यदि कोई ब्रह्मचारी लगातार सात दिनों तक बिना कारण (बीमारी आदि) के यह सब नहीं करता था तो उसे वही प्रायश्चित्त करना पड़ता था जो ब्रह्मचारी रूप में सम्भोग करने पर किया जाता था। इस विषय में देखिए बौधायनधर्मसूत्र (१।२।५४), मनु (२।१८७) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२८।५२।)

भिक्षा केवल अपने लिए नहीं माँगी जाती थी। ब्रह्मचारी भिक्षा लाकर गुरु को निवेदन करता था और गुरु के आदेश के अनुसार ही उसे ग्रहण करता था। गुरु की अनुपस्थिति में वह गुरुपत्नी या गुरु-पुत्र को निवेदन करता था। यदि ऐसा कोई न मिले तो वह ज्ञानी ब्राह्मणों से जाकर वैसा ही कहता था और उनके आदेशानुसार खाता था (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।३।३१-३५, मनु २।५१)। ब्रह्मचारी जूठा नहीं छोड़ता था और पात्र को धोकर रख

४५. भिक्षा च ग्राससंमिता। ग्रासश्च मयूराण्डपरिमाणः। ग्रासमात्रा भवेद् भिक्षा पुष्कलं तच्चतुर्गुणम्। हन्तस्तु तैश्चतुर्भिः स्यादग्रं तत् त्रिगुणं भवेत्॥ इति शातातपस्मरणात्। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।१०८)।

देता था। बचा हुआ शुद्ध भोजन गाड़ दिया जाता था, या बहा दिया जाता था या गुरु के शूद्र नौकर को दे दिया जाता था।

ब्रह्मचारी समिधा लाने एवं भिक्षा माँगने के अतिरिक्त गुरु के लिए पात्रों में जल भरता था, पुष्प एकत्र करता था, गोबर, मिट्टी, कुश आदि जुटाता था (मनु २।१८२)।

सन्ध्या

उपनयन के दिन प्रातः सन्ध्या नहीं की जाती। जैमिनि के अनुसार गायत्री मन्त्र बतलाने के पूर्व कोई सन्ध्या नहीं होती। अतः उपनयन के दिन दोपहर से सन्ध्या का आरम्भ होता है। इस कार्य को सानान्यतः 'सन्ध्योपासना' या 'सन्ध्यावन्दन' या केवल सन्ध्या कहा जाता है। उपनयन के दिन केवल गायत्री मंत्र से ही सन्ध्या की जाती है। 'सन्ध्या' शब्द केवल रात एवं दिन के सन्धिकाल का द्योतक मात्र नहीं है, प्रत्युत यह प्रार्थना या स्तुति का भी, जो प्रातः या सायं की जाती है, द्योतक है। यह कभी-कभी दिन में तीन बार अर्थात् प्रातः, दोपहर एवं सायं होती थी। अत्रि ने लिखा है—"आत्मज्ञानी द्विज को सन्ध्या तीन बार करनी चाहिए। इन तीन सन्ध्याओं को क्रम से गायत्री (प्रातःकालीन), सावित्री (मध्याह्नकालीन) एवं सरस्वती (सायकालीन) कहा जाता है, ऐसा योगयाज्ञवल्क्य का मत है।" सामान्यतः सन्ध्या दो बार ही (प्रातः एवं सायं) की जाती है (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।७, आपस्तम्बधर्म० १।११।३०।८, गौतम २।१७, मनु २।१०१, याज्ञवल्क्य १।२४-२५ आदि)।

सभी के मत से प्रातः सूर्योदय के पूर्व से ही प्रातः सन्ध्या आरम्भ हो जानी चाहिए और जब तक सूर्य का बिम्ब दीख न पड़े तब तक चलती रहनी चाहिए और सायंकाल सूर्य के डूब जाने तथा तारों के निकल आने तक सन्ध्या होनी चाहिए। यह सर्वश्रेष्ठ सन्ध्या करने का समय कहा गया है, किन्तु गौण काल माना गया है सूर्योदय एवं सूर्यास्त के उपरान्त तीन घटिकाएँ। एक मुहूर्त (योगयाज्ञवल्क्य के अनुसार दो घटिकाओं अर्थात् दो घड़ियों) तक संध्या की अवधि होनी चाहिए। किन्तु मनु (४।९३-९४) के मत से जितनी तेर तक चाहें हम सन्ध्या कर सकते हैं, क्योंकि लम्बी सन्ध्या करने से ही प्राचीन ऋषियों को दीर्घ आयु, बुद्धि, यश, कीर्ति एवं आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो सकी थी।

अधिकांश ग्रन्थकारों के अनुसार गायत्री का जप तथा अन्य पूत मन्त्र सन्ध्या में प्रमुख हैं तथा मार्जन आदि गौण हैं, किन्तु मनु (२।१०१) की व्याख्या में मेधातिथि ने जप को गौण तथा मन्त्र एवं आसन को प्रमुख स्थान दिया है। "सन्ध्या करनी चाहिए" का तात्पर्य है आदित्य नामक देवता का, जो सूर्य-मण्डल का द्योतक है, ध्यान करना तथा इस तथ्य का भी ध्यान करना कि वही बुद्धि या तेज उसके अन्तः में भी अवस्थित है। गाँव के बाहर सन्ध्या के लिए उचित स्थान माना गया है (आपस्तम्बधर्म० १।११।३०।८, गौतम० २।१६, मानवगृह्य० १।२।२)। इस विषय में एकान्त स्थान (शांखायनगृह्य० २।९।१), नदी का तट या कोई पवित्र स्थान (बौधायनगृह्य० २।४।१) ही विशिष्ट रूप से चुना गया है। किन्तु अग्निहोत्रियों के लिए ऐसा कोई विधान नहीं है, क्योंकि उन्हें वैदिक क्रियाएँ एवं होम करना होता है और वह भी सूर्योदय के समय, अतः वे अपने घर में ही सन्ध्या कर सकते हैं। अपरार्क द्वारा उद्धृत वसिष्ठ के कथन से पता चलता है कि घर की अपेक्षा गौशाला या नदी के तट या विष्णु-मन्दिर या शिवालय के पास सन्ध्या करना क्रम से दस गुना, लाख गुना या असंख्य गुना (अनन्त गुना) अच्छा है। प्रातःकालीन सन्ध्या खड़े होकर तथा सायंकालीन बैठकर करनी चाहिए (आश्वलायनगृह्य० ३।७।६, शांखायनगृ० २।९।१ एवं ३, मनु २।१०२)। प्रातःकालीन सन्ध्या पूर्व दिशा की तथा सायंकालीन उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर करनी चाहिए। सन्ध्या करने वाले को स्नान करना चाहिए, पवित्र स्थान पर कुश-आसन पर बैठना चाहिए, यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए एवं मौन रहना चाहिए (सन्ध्या करते समय बातचीत नहीं करनी चाहिए)।

सन्ध्योपासन की प्रमुख क्रियाएं ये हैं—आचमन, प्राणायाम, मार्जन (मन्त्रों द्वारा अपने ऊपर तीन बार पानी छिड़कना), अघमर्षण, अर्घ्य (सूर्य को जल देना), गायत्री जप एवं उपस्थान (प्रातःकाल सूर्य की एवं सायंकाल सामान्यतः वरुण की प्रार्थना मन्त्रों के साथ करना)।

तैत्तिरीय आरण्यक (२।२) में सर्वप्रथम सन्ध्या का वर्णन पाया गया है, जहाँ अर्घ्य एवं गायत्री जप ही प्रधान क्रियाएँ देखने में आती हैं। कालान्तर में बहुत-सी बातें जुड़ती चली गयीं, जिनका विस्तार यहाँ अनावश्यक है। हम यहाँ उन बातों पर संक्षिप्त विवरण उपस्थित करेंगे। आचमन के विषय में विस्तृत नियम गौतम० १।३५।४०, आपस्तम्ब-धर्म० (१।५।१५।२-११ एवं १६), मनु (२।५८-६२), याज्ञवल्क्य (१।१८-२१) में पाये जाते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।५।१०) एवं आपस्तम्बधर्म० (१।५।१५।५) के अनुसार पृथिवी के गड्ढे के जल से आचमन नहीं करना चाहिए। आचमन बैठकर उत्तर या पूर्व दिशा में (खड़े या झुककर नहीं) करना चाहिए। इसके लिए पवित्र स्थान होना चाहिए। जल गरम या फेनिल नहीं होना चाहिए। जल को अधरों से तीन बार स्पर्श करना चाहिए (सुड़कना चाहिए)। गीले दाहिने हाथ से आँख, कान, नाक, उर एवं सिर छूना चाहिए। आचमन का जल ब्राह्मणों के लिए हृदय तक, क्षत्रियों के लिए कण्ठ तक एवं वैश्यों के लिए तालु तक होना चाहिए। स्त्रियाँ एवं शूद्र उतना ही जल सुड़क सकते हैं जो उनके तालु तक जा सके। मनु (२।१८) एवं याज्ञवल्क्य (१।१८) के अनुसार जल ब्राह्मतीर्थ (अँगूठे की जड़) से सुड़कना चाहिए।[४६] आचमन की क्रिया सामान्यतः सभी धार्मिक क्रियाओं में देखी जाती है। भोजन करने के पूर्व एवं पश्चात् भी आचमन किया जाता है। आजकल आचमन विष्णु के तीन नामों (केशव, नारायण एवं माधव) के साथ किया जाता है (ओम् केशवाय नमः....आदि)। कहीं-कहीं विष्णु के २४ नाम लिये जाते हैं, यथा दक्षिण में।[४७]

प्राणायाम को योगसूत्र (२।४९) में श्वास एवं प्रश्वास का गति-विच्छेद कहा गया है।[४८] गौतम (१।५०) के अनुसार प्राणायाम तीन हैं, जिनमें प्रत्येक १५ मात्राओं तक चलता है। बौधायनधर्मः० (४।१।३०), वसिष्ठधर्म० (२५।१३), शंखस्मृति (७।१४) एवं याज्ञवल्क्य (१।२३) के अनुसार प्राणायाम के समय गायत्री का शिरः (ओम् के साथ समन्वित तीनों व्याहृतियाँ) एवं गायत्री का मन्त्र मन-ही-मन दुहराये जाते हैं। योग-याज्ञवल्क्य के अनुसार प्रथम मन में सातों व्याहृतियाँ (जिनमें प्रत्येक के पहले 'ओम्' अवश्य जुड़ा रहना चाहिए), तब गायत्री मन्त्र और अन्त में

४६. कनिष्ठिका (कानी), तर्जनी एवं अँगूठे की जड़ों को एवं हाथ की अँगुलियों के पोरों को क्रम से प्राजापत्य (या काय), पित्र्य, ब्राह्म एवं दैव तीर्थ कहा जाता है (देखिए याज्ञ० १।१९, विष्णुधर्म० ६२।१-४, वसिष्ठधर्म० ३।६४-६८, बौधायनधर्म० १।५।१४-१८)। इस विषय में ग्रन्थकारों में कुछ मतान्तर भी है, यथा—वसिष्ठ के अनुसार पित्र्य तर्जनी एवं अँगूठे के बीच में है एवं मानुष तीर्थ अँगुलियों के पोरों पर है। अन्य लोगों के मत से चार अँगुलियों की जड़ें आर्ष तीर्थ कहलाती हैं (बौधायनधर्म० १।५।१८)। वैखानस गृह्य० १।५ एवं पारस्करगृह्य परिशिष्ट में पाँच तीर्थों के नाम लिये हैं (पाँचवाँ है आग्नेय, अर्थात् हथेली)। आग्नेय को अन्य लोगों ने सौम्य भी कहा है।

४७. अग्निपुराण (अध्याय ४८) में विष्णु के २४ नाम आये हैं—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पुरुषोत्तम, अधोक्षज, नरसिंह, अच्युत, जनार्दन, उपेन्द्र, हरि, श्रीकृष्ण।

४८. तस्मिन्सति (आसनजये सति) श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। योगसूत्र (२।४९)।

गायत्री का शिरः दुहराना चाहिए।[49] प्राणायाम के तीन अंग हैं—पूरक (बाहरी वायु भीतर लेना), कुम्भक (लिये हुए श्वास को रोके रखना अर्थात् न तो श्वास छोड़ना न ग्रहण करना) एवं रेचक (फेफड़ों से वायु बाहर निकालना)। मनु ने प्राणायाम की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है (६।७०-७१)।

मार्जन में ताम्र, उदुम्बरकाष्ठ या मिट्टी के बरतन में रखे हुए जल को कुश से छिड़का जाता है। मार्जन करते समय 'ओम्', व्याहृतियाँ, गायत्री एवं 'आपो हि ष्ठा' (ऋ० १०।९।१-३) नामक तीन मन्त्र दुहराये जाते हैं। बौधायनधर्म० (२।४।२) ने अन्य वैदिक मन्त्र भी जोड़ दिये हैं, किन्तु मानवगृह्यसूत्र (१।१।२४), याज्ञवल्क्य (१।२२) आदि ने मार्जन के लिए केवल उपर्युक्त 'आपो हि ष्ठा०' नामक तीन मन्त्रों के लिए ही व्यवस्था दी है।[50]

अघमर्षण (पाप को भगाना) में गौ के कान की भाँति दाहिने हाथ का रूप बनाकर, उसमें जल लेकर, नाक के पास रखकर, उस पर श्वास लेकर (इस भावना से कि अपना पाप भाग जाय) "ऋतं च०" (ऋ० १०।१९०।१-३) नामक तीन मन्त्रों के साथ पृथिवी पर बायीं ओर जल फेंक दिया जाता है।

अर्घ्य (सम्मान के साथ सूर्य को जलार्पण) में दोनों जुड़े हुए हाथों में जल लेकर, गायत्री मन्त्र कहते हुए, सूर्य की ओर उन्मुख होकर तीन बार जल गिराना होता है। यदि सड़क पर हो या कारागृह में हो, अर्थात् यदि जल सुलभ न हो तो धूल से ही अर्घ्य देना चाहिए।

गायत्री के जप के विषय में सावित्री-उपदेश नामक प्रकरण ऊपर देखिए। गायत्री के जप के विषय में विस्तृत विवेचन पाया जाता है। इस पर अपरार्क (पृ० ४६-४८), स्मृतिचन्द्रिका (पृ० १४३-१५२), चण्डेश्वर के गृहस्थ-रत्नाकर (पृ० २४१-२५०) एवं आह्निकप्रकाश (पृ० ३११-३१६) द्वारा प्रस्तुत विस्तार यहाँ नहीं दिया जा रहा है। आह्निक के प्रकरण में कुछ बातें बतलायी जायँगी।

उपस्थान में बौधायन के मतानुसार 'उद्वयम्०' (ऋग्वेद १।५०।१०), 'उदुत्यम्०' (ऋ० १।५०।१), 'चित्रम्०' (ऋ० १।११५।१), 'तच्चक्षुः०' (ऋ० ७।६६।१६), 'य उदगात्०' (तै० आरण्यक ४।४२।५) के साथ सूर्य की प्रार्थना करनी चाहिए। मनु (२।१०३) के मत से जो व्यक्ति प्रातः एवं सायं सन्ध्योपासना नहीं करता, उसे द्विजों की श्रेणी से अलग कर देना चाहिए। गोभिलस्मृति (२।१) के अनुसार ब्राह्मण्य तीन सन्ध्याओं में पाया जाता है और जो सन्ध्योपासन नहीं करता, वह ब्राह्मण नहीं है। बौधायन-धर्मसूत्र (२।४।२०) का कहना है कि राजा को

४९. भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यं तथैव च। प्रत्योंकारसमायुक्तास्तथा तत्सवितुर्वरम्॥ ओमापोज्योतिरित्येतच्छिरः पश्चात्प्रयोजयेत्। त्रिरावर्तनयोगात्तु प्राणायामस्तु शब्दितः॥ योगयाज्ञवल्क्य (स्मृतिचन्द्रिका, पृ० १४१, भाग १ में उद्धृत)।

५०. सुरभिमत्याब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिर्व्याहृतिभिरन्यैश्च पवित्रैरात्मानं प्रोक्ष्य प्रयतो भवति। बौ० ध० (२।४।२)। सुरभिमती ऋग्वेद का दधिक्राव्णो आदि (४।३९।६) मंत्र है, अब्लिङ्गा हैं ऋ० १०।९।१-३, वारुणी हैं इमं मे वरुण (ऋ० १।२५।१९), तत्त्वा यामि (ऋ० १।२४।११), अव ते (ऋ० १।२४।१४) एवं यत्किंचेदं (ऋ० ७।८९।५)। पावमानी स्वादिष्ठया मदिष्ठया (ऋ० ९।१।१) हैं, किन्तु कुछ लोगों के मत से ऋ० ९।६७।२१-२७ वाले मन्त्र हैं। त्रिरष्टो मार्जनं कुर्यात्कुशैः सोदकबिन्दुभिः। प्रणवो भूर्भुवः स्वश्च सावित्री च तृतीयका। अब्दैवतस्त्र्यृचश्चैव चतुर्थ इति मार्जनम्॥ गोभिलस्मृति (२।४।५); अब्दैवतत्र्यृच ऋग्वेद (१०।९।१-३) में है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।९।७) में "आपो हि ष्ठा मयोभुव इत्यद्भिर्मार्जयन्ते। आपो वै सर्वा देवताः", पाया जाता है।

चाहिए कि वह सन्ध्या न करनेवाले ब्राह्मणों से शूद्र का काम ले। सन्ध्या के गुणों के विषय में देखिए मनु (२।१०२), बौधायनधर्म० (२।४।२५-२८), याज्ञवल्क्य (३।३०७)। जब व्यक्ति सूतक में पड़ा हो, घर में सन्तानोत्पत्ति के कारण अशौच हो, तो उसे जप तथा उपस्थान को छोड़कर केवल अर्घ्य तक सन्ध्या करनी चाहिए।

आधुनिक काल में पुराणों एवं तन्त्रों से बहुत कुछ लेकर सन्ध्या-क्रिया को बहुत विस्तार दे दिया गया है। संस्काररत्नमाला के अनुसार न्यास अवैदिक कृत्य है। न्यासों एवं मुद्राओं (हाथों, अँगुलियों आदि के आसन, आकृतियों) के लिए स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ३२८-३३३), स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० १४६-१४८) अवलोकनीय हैं।[५१]

न्यास का एक विशिष्ट अर्थ होता है। यह वह क्रिया है जिसके द्वारा देवता या पवित्र बातों का आवाहन किया जाता है, जिससे वे शरीर के कुछ भागों में अवस्थित होकर उन्हें पवित्र बना दें और पूजा तथा ध्यान के लिए उन शरीर-भागों को योग्य बना दें। पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०) के १६ मन्त्रों का आवाहन बांयें एवं दाहिने हाथों में, बांयें एवं दाहिने पाँवों में, बांयें एवं दाहिने घुटनों में, बांयें एवं दाहिने भागों में, नाभि, हृदय एवं कण्ठ में, बांयीं एवं दाहिनी भुजाओं में, मुंह, आँखों एवं सिर में अवस्थित होने के लिए किया जाता है। विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न बातें पायी जाती हैं, जिनका विवरण उपस्थित करना यहाँ सम्भव नहीं है।

स्मृतिचन्द्रिका (पृ० १४६-१४८) ने मुद्राओं (हस्ताकृतियों) के विषय में एक लम्बा उद्धरण दिया है। पूजा-प्रकाश (पृ० १२३) में उद्धृत संग्रह में आया है कि पूजा, ध्यान, काम्य (किसी कामना से किये गये कृत्य) आदि कामों में मुद्राएँ बनायी जाती हैं और इस प्रकार देवता पूजक के सन्निकट लाया जाता है। मुद्राओं के नामों एवं संख्याओं में मतभेद है। स्मृतिचन्द्रिका एवं वैद्यनाथ लिखित स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ३३१-३३२) में इन मुद्राओं की चर्चा हुई है—सम्मुख, सम्पुट, वितत, विस्तृत, द्विमुख, त्रिमुख, अधोमुख, व्यापकाञ्जलिक, यमपाश, ग्रथित, सम्मुखोन्मुख, विलम्ब, मुष्टिक, मीन, कूर्म, वराह, सिंहाक्रान्त, महाक्रान्त, मुद्गर एवं पल्लव। नित्याचारपद्धति (पृ० ५३३) के अनुसार 'मुद्रा' शब्द 'मुद्' (प्रसन्नता) एवं 'रा' (देना) से बना है। मुद्रा देवता को प्रसन्न रखती है और असुरों से (दुष्ट आत्माओं से) मुक्त कराती है। इस ग्रन्थ तथा पूजाप्रकाश में पूजन सम्बन्धी मुद्राओं के नाम मिलते हैं। यथा—आवाहनी, स्थापनी, सन्निधापनी, संरोधिनी, प्रसादमुद्रा, अवगुण्ठन-मुद्रा, सम्मुख, प्रार्थन, शंख, चक्र, गदा, अब्ज (पद्म), मुसल, खड्ग, धनुष, बाण, नाराच, कुम्भ, विघ्न (विघ्नेश्वर के लिए), सौर, पुस्तक, लक्ष्मी, सप्तजिह्व (अग्नि के लिए), दुर्गा, नमस्कार, अञ्जलि, संहार आदि (कुल ३२ मुद्राएँ हैं)। नित्याचारपद्धति (पृ० ५३६) के अनुसार शंख, चक्र, गदा, पद्म, मुसल, खड्ग, श्रीवत्स एवं कौस्तुभ भगवान् विष्णु की आठ मुद्राएँ हैं। स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत महासंहिता के मत से मुद्राएँ भीड़-भाड़ में नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे देवता कुपित हो जाते हैं और मुद्राएँ विफल हो जाती हैं। शारदातिलक (२३।१०६) ने लिखा है कि मुद्राओं से देवता प्रसन्न होते हैं। इसके मत से मुद्राएँ ये हैं—आवाहनी, स्थापनी, संनिधापनी, संरोधिनी, सम्मुख, सकल, अवगुण्ठन, धेनु, महामुद्रा। वर्धमान सूरि

५१. तन्त्रक्रियाओं का स्मृतियों एवं भारतीय जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है, इस विषय में कुछ अंग्रेजी की पुस्तकें एवं लेख अवलोकनीय हैं, यथा—'दि इंट्रोडक्शन टु साधनमाला,' भाग २, गायकवाड़ ओरिंटियल सीरीज; 'इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली; भाग ६, पृ० ११४, भाग ९, पृ० ६७८, भाग १०, पृ० ४८६-९२; सिलवेन लेवी की भूमिका—'बालि द्वीप की संस्कृत पुस्तकें' (माडर्न रिव्यू, अगस्त १९३४, पृष्ठ १५०-५६)।

के आचारदिनकर (१४११-१२ ई०) ने जैनों के लिए ४२ मुद्राएँ बतायी हैं और उनकी परिभाषा भी दी है।

मुद्राओं का प्रभाव दूर-दूर तक गया। हिन्देशिया के बालि द्वीप में उनका प्रचार देखने में आता है। इस विषय में बालि के बौद्धों एवं शैव पुजारियों द्वारा व्यवहृत मुद्राओं पर एक बहुत ही मनोरंजक पुस्तक कुमारी तीरा दी क्लीन ने लिखी है, जिसमे ६० चित्र भी हैं।[५२]

वेदाध्ययन

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति, पाठ्य-क्रम आदि पर विस्तार से लिखने पर एक बृहद् पुस्तक बन जायगी। हम यहाँ केवल प्रमुख बातों पर ही प्रकाश डाल सकेंगे।[५३]

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का प्रधान आधार था **शिक्षक**, जिसे कई संज्ञाएँ मिली हैं, यथा आचार्य, गुरु, उपाध्याय। अध्यापन अथवा शिक्षण मौखिक ही होता था। ऋग्वेद (७।१०३।५) में आया है कि पढ़नेवाला गुरु की बातें उसी प्रकार दुहराता है जिस प्रकार एक मेढक टर्राने में दूसरे मेढक की वाणी पकड़ता है। इस विषय में देखिए अथर्व० (११।७।१); गो० ब्रा० (२।१); अथर्व० (११।७।३); आप० धर्म० (१।१।१।१६-१८); शत० ब्राह्मण (११।५।४।१२); अथर्व० (११।७।६) एवं शत० ब्रा० (११।५।४।१-१७)। आरम्भ में पुत्र पिता से ही कुछ शिक्षा पाये रहता था, जैसा कि हमें बृहदारण्यकोपनिषद् (५।२।१) के श्वेतकेतु आरुणेय की गाथा से ज्ञात होता है। आरुणेय को सब कुछ ज्ञात था (बृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।१ एवं ४)। किन्तु प्राचीन काल में बच्चों को आचार्य के पास भेजा जाता था, और यह एक परिपाटी-सी हो गयी थी। छान्दोग्योपनिषद् (६।१) में आया है कि श्वेतकेतु आरुणेय को उसके पिता ने गुरु के पास १२ वर्षों तक रखा था। उसी उपनिषद् (३।२।५) में यह भी आया है कि पिता को मधुविद्या अपने ज्येष्ठ पुत्र या योग्य शिष्य को बतानी चाहिए। गुरु की स्थिति को बड़ी महत्ता दी गयी थी। सारा का सारा अध्यापन मौखिक था, और विद्यार्थी गुरु के पास ही रहता था, अतः गुरु का पद स्वभावतः उच्च एवं महान् हो गया था। सत्यकाम जाबाल अपने गुरु से कहता है—"आपके ही समान अन्य गुरुजनों से मैंने सुना है कि गुरु से प्राप्त किया हुआ ज्ञान महान् होता है" (छान्दोग्योपनिषद् ४।९।३)। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२३) ने गुरु को ईश्वर के पद पर रखा है और परम श्रद्धास्पद माना है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।६।१३) ने लिखा है—"शिष्य को चाहिए कि वह गुरु को भगवान् की भाँति माने।" एकलव्य की कथा से दो बातें स्पष्ट होती हैं; गुरु की महत्ता एवं एकनिष्ठ भक्ति (आदिपर्व १३२, द्रोणपर्व १८१।१७)। एकलव्य निषाद था, किन्तु उसे धनुर्धर होना था। द्रोणाचार्य ने सिखाना अस्वीकार कर दिया था। किन्तु एकनिष्ठ साधना एवं भक्ति के फलस्वरूप एकलव्य महान् एवं यशस्वी धनुर्धर हो सका। मनु-

५२. Miss Tyra de Kleen : 'Mudras (the hand poses) practised by Buddhists and Saiva priests' in *Bali.* (*1924*), New York.

५३. **इस विषय में निम्नलिखित पुस्तकें अवलोकनीय हैं**—Rev. F. E. Keay's 'Ancient Indian Education' (1918). Dr. A.S. Altekar's 'Education in Ancient India' (1934), S. K. Das. on 'Educational system of the ancient Hindus' (1930) and Dr. S. D. Sarkar's 'Educational Ideas and Institutions in ancient India' (1928). The last work is based entirely on the Atharavaved and the Ramayana.

भारत (अनुशासनपर्व ३६।१५) में आया है कि घर पर वेद पढ़नेवाला निन्दास्पद है; रैभ्य यवक्रीत से योग्यतर इसी लिए हो सका कि उसने गुरु से शिक्षा पायी थी। मनु एवं अन्य स्मृतियों में आचार्य की महत्ता के विषय में कुछ मतान्तर है। मनु (२।१४६=विष्णुधर्मसूत्र ३०।४४) के अनुसार जनक और गुरु दोनों पिता हैं, किन्तु वह जनक (आचार्य), जो पूत वेद का ज्ञान देता है, उस जनक (पिता) से महत्तर है, जो केवल शारीरिक जन्म देता है, क्योंकि आध्यात्मिक विद्या में जो जन्म होता है वह ब्राह्मण के लिए इहलोक तथा परलोक दोनों में अक्षुण्ण एवं अक्षय होता है। किन्तु एक स्थान पर मनु (२।१४५) ने आचार्य को उपाध्याय से दस गुना, पिता को आचार्य से सौ गुना तथा माता को पिता से सहस्र गुनी उत्तम माना है। गौतम (२।५६) ने आचार्य को सभी गुरुओं में श्रेष्ठ माना है। किन्तु अन्य लोगों ने माता को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य (१।३५) ने माता को आचार्य से श्रेष्ठ माना है। गौतम (१।१०-११), वसिष्ठ-धर्मसूत्र (३।२१), मनु (२।१४०) एवं याज्ञवल्क्य (१।३४) ने लिखा है कि जो ब्रह्मचारी का उपनयन करता है और उसे सम्पूर्ण वेद पढ़ाता है वही आचार्य है। निरुक्त (१।४) ने लिखा है कि आचार्य विद्यार्थी को सम्यक् आचार समझने को प्रेरित करता है, या उससे शुल्क एकत्र करता है, या शब्दों के अर्थ एकत्र करता है या बुद्धि का विकास करता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।१४) कहता है—"विद्यार्थी आचार्य से अपने कर्तव्य (आचार) एकत्र करता है, इसी लिए वह आचार्य कहलाता है।" मनु (२।६९) का कहना है कि आचार्य उपनयन करने के उपरान्त शिष्य को शौच (शारीरिक शुद्धता), आचार (प्रति दिन के जीवन में आचार के नियम), अग्नि में समिधा डालने एवं सन्ध्या-पूजा के नियम सिखाता है। यही याज्ञवल्क्य (१।१५) का भी कहना है। यद्यपि आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु प्राचीन लेखकों ने उनमें अन्तर देखा है। मनु (२।१४१ एवं १४२) के अनुसार जो व्यक्ति किसी विद्यार्थी को वेद का कोई एक अंग या वेदांग का कोई अंश पढ़ाता है और अपनी जीविका इस प्रकार चलाता है, वह उपाध्याय है,[५४] और गुरु वह है जो बच्चे का संस्कार करता है और पालन-पोषण करता है। अन्तिम परिभाषा से गुरु तो पिता ही ठहरता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (३।२२-२३), विष्णुधर्मसूत्र (२९।२) एवं याज्ञवल्क्य (१।३५) ने मनु के समान ही उपाध्याय की परिभाषा की है। याज्ञवल्क्य (१।३४) के अनुसार गुरु वही है जो संस्कार करता है और वेद पढ़ाता है। स्पष्ट है, आरम्भ में पिता ही अपने पुत्र को वेद पढ़ाता था। वास्तव में, 'गुरु' शब्द पुरुष या स्त्री के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए अधिकतर प्रयुक्त होता था। विष्णुधर्मसूत्र (३२।१-२) के अनुसार पिता, माता एवं आचार्य तीन गुरु हैं और मनु (२।२२७-२३७) ने इन तीनों के लिए स्तुति-गान किये हैं। देवल के अनुसार पिता, माता, आचार्य, ज्येष्ठ भ्राता, पति (स्त्री के लिए) की गुरुओं में गणना होती है। मनु (२।१४९) के अनुसार जो थोड़ा या अधिक ज्ञान देता है, वह गुरु है।[५५]

५४. प्राचीन काल से ही वेदांग छः माने गये हैं, यथा—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द (छन्दोविचिति), ज्योतिष। मुण्डकोपनिषद् (१।१।५) ने इनके नाम दिये हैं, आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।३।८।१०-११) ने लिखा है—"षडंगो वेदः। छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा छन्दोविचितिरिति।" शिक्षा में स्वर, ध्वनि आदि का विवेचन रहता है, कल्प में वैदिक एवं घरेलू यज्ञों की विधि-क्रिया का वर्णन होता है, व्याकरण तो व्याकरण ही है, निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति पायी जाती है, छन्द में पद्य की मात्रा आदि का विवेचन होता है तथा ज्योतिष में खगोल विद्या का वर्णन पाया जाता है।

५५. त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति। पिता माताचार्यश्च। विष्णुधर्मसूत्र ३२।१-२; मनु (२।२२५-२३२) के वचन वैसे ही हैं जैसे मत्स्यपुराण (२११।२०-२७) के; मनु के २३०, २३१ एवं २३४; शान्तिपर्व के १०८।६, ७ एवं १२

उपनयन करनेवाले एवं वेदाध्ययन करानेवाले आचार्य की गुण-विशिष्टता के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।११) में आया है कि जो अविद्वान् से उपनयन करता है, वह अन्धकार से अन्धकार में ही जाता है और अविद्वान् आचार्य भी अन्धकार में ही प्रवेश करता है। उसी धर्मसूत्र (१।१।१।१२-१३) में पुनः लिखा है कि वंशपरम्परा से विद्यासम्पन्न एवं गम्भीर व्यक्ति से ही उपनयन संस्कार एवं वेदाध्ययन कराना चाहिए और जब तक वह धर्ममार्ग से च्युत नहीं होता तब तक उससे पढ़ते जाना चाहिए। आचार्य को ब्राह्मण, वेद में एकनिष्ठ, धर्मज्ञ, कुलीन, शुचि, श्रोत्रिय होना चाहिए, अपनी शाखा में प्रवीण एवं अप्रमादी होना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।३।६) एवं बोधायनगृह्य (१।७।३) ने उसी को श्रोत्रिय कहा है जिसने वेद की एक शाखा पढ़ ली हो (देखिए वायुपुराण, भाग १, ५९।२९)।[५६] आपत्काल में अर्थात् जब ब्राह्मण न मिले तब क्षत्रिय या वैश्य को आचार्य बनाना चाहिए, किन्तु विद्यार्थी ऐसे गुरु के चरण नहीं पखार सकता, और न उसकी देह मल सकता है (आप० ध० सू० २।२।४।२५-२८; गौतम० ७।१-३; बौ० ध० सू० १।२।४०-४२ एवं मनु २।२४१)। मनु (२।२३८) ने शुभा विद्या (प्रत्यक्ष लाभकारी ज्ञान) के लिए ब्राह्मण को शूद्र से भी सीखने के लिए छूट दी है। यही बात शान्तिपर्व (१६५।३१) में भी है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।११८) ने कहा है कि ब्राह्मण द्वारा प्रेरित किये जाने पर ही क्षत्रिय या वैश्य को शिक्षण-कार्य करना चाहिए, अपने मन से नहीं। क्षत्रिय शिक्षण-कार्य से अपनी जीविका नहीं चला सकता।[५७]

शिक्षण-कार्य मौखिक था। सर्वप्रथम प्रणव, व्याहृतियाँ एवं गायत्री ही पढ़ायी जाती थी। इसके उपरान्त बच्चे को वेद के अन्य भाग पढ़ाये जाते थे। प्राचीन भारतीय वेदाध्ययन की प्रणाली पर संक्षिप्त विवेचन यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। शांखायनगृह्यसूत्र (४।८) ने वर्णन किया है---'गुरु पूर्व या उत्तर मुख बैठता है, शिष्य उसके दाहिने उत्तराभिमुख बैठता है, यदि दो से अधिक शिष्य हों तो स्थान के अनुसार जैसा चाहें बैठ सकते हैं। शिष्य को उच्चासन पर नहीं बैठना चाहिए और न गुरु के साथ उसी आसन पर बैठना चाहिए; उसे अपने पैर नहीं फैलाने चाहिए, अपनी बाहु से घुटनों को पकड़कर भी नहीं बैठना चाहिए। किसी वस्तु का सहारा भी नहीं लेना चाहिए; उसे अपने पाँवों को गोदी में नहीं रखना चाहिए और न उन्हें कुल्हाड़ी की भाँति पकड़ना चाहिए। जब शिष्य "उच्चारण कीजिए, महोदय" कहता है, तब आचार्य उससे 'ओम्' कहलवाता है और शिष्य को 'ओम्' कहना चाहिए। इसके उपरान्त शिष्य लगातार पढ़ना आरम्भ कर देता है। पढ़ने के उपरान्त शिष्य को गुरु के पाँव छूने चाहिए और कहना चाहिए, "महोदय, अब हमने समाप्त कर लिया", यह कहकर चला जाना चाहिए; किन्तु

हैं, मनु २।२३०, २३३ एवं २३४ विष्णुधर्मसूत्र के ३१।७, ९ एवं १० समान हैं। गुरूणामपि सर्वेषां पूज्याः पञ्च विशेषतः। यो भावयति या सूते येन विद्योपदिश्यते॥ ज्येष्ठो भ्राता च भर्ता च पञ्चैते गुरवः स्मृताः। तेषामाद्यास्त्रयः श्रेष्ठास्तेषां माता सुपूजिता॥ देवल (स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० ३५ में उद्धृत); वनपर्व (२१४।२८-२९) में पाँच गुरुओं के नाम हैं जो कुछ भिन्न हैं, यथा---पिता, माता, अग्नि, आत्मा एवं गुरु।

५६. धर्मेण वेदानामेकैकां शाखामधीत्य श्रोत्रियो भवति। आप० ध० सू० २।३।६।४; एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः। बौ० गृह्य० १।७।३; वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः। सम्यग्विनीता ऋजवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते॥ वायुपुराण, भाग १,५९।२९।

५७. श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्। सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन्॥ शान्तिपर्व १६५।३१। अध्यापनं तु क्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मणप्रेरितयोर्भवति न स्वेच्छया। मिता० (याज्ञ० १।११८); तदध्यापनमात्रकर्तृत्वमब्राह्मणस्याभ्यनुजानाति न तु वृत्तित्वमपि। अपरार्क पृ० १६०।

कुछ लोगों के मत से गुरु को "जाओ, अब हम समाप्त करें" कहना चाहिए। मनु (२।७०-७४), गौतम (१।४९-५८) एवं गोपथ ब्राह्मण (१।३१) को भी इस विषय में देख लेना चाहिए। थोड़े-बहुत अंतर के साथ बातें एक-सी ही हैं।

द्विजातियों का प्रथम कर्तव्य वेदाध्ययन था। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१०-११) के काल में भी वैदिक साहित्य बहुत बड़ा था, जैसा कि इन्द्र एवं भरद्वाज की कहानी से ज्ञात होता है। भरद्वाज ७५ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचारी थे (पढ़ते रहे), तब भी इन्द्र ने कहा कि इतना पढ़ लेने पर भी अथाह वेद का बहुत थोड़ा भाग तुमने (तीन पर्वतों की तीन मुट्ठियाँ मात्र) पढ़ा है। मनु (२।१६५) ने एक आदर्श उपस्थित किया है कि प्रत्येक द्विजाति को उपनिषदों के साथ सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए। शतपथब्राह्मण (११।५।७) की वेदाध्ययन-स्तुति (स्वाध्याय करने का आदेश) (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, अर्थात् वेद अवश्य पढ़ना चाहिए) हम अधिकतर देखते हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१२।१ एवं ३) ने तैत्तिरीयारण्यक (२।१४।३) एवं शतपथब्राह्मण (११।५।६।८) को उद्धृत किया है।[५८] महाभाष्य (भाग १, पृ० १) ने एक वैदिक उद्धरण दिया है—"ब्राह्मण को बिना किसी प्रयोजन के धर्म एवं वेदांगों के साथ वेद का अध्ययन करना चाहिए।" महाभारत (शान्तिपर्व २३९।१३) का कहना है कि वेद पढ़ लेने से ब्राह्मण अपना कर्तव्य कर लेता है। याज्ञवल्क्य (१।४०) का कहना है कि वेद द्विजातियों को सर्वोच्च कल्याण देता है जिसके फलस्वरूप वे यज्ञ, तप एवं संस्कार को भली-भाँति समझ सकते हैं और कर सकते हैं। महाभाष्य (भाग १, पृ० ९) में चारों वेदों के परम्परागत विस्तार-क्रम पाये जाते हैं, यथा यजुर्वेद में १०१ शाखाएँ हैं, सामवेद में १०००, ऋग्वेद में २१ एवं अथर्ववेद में ९। जीवन छोटा होता है, अतः गौतम (२।५१), वसिष्ठधर्म० (७।३), मनु (३।२) याज्ञवल्क्य (२।५२) एवं अन्य लोगों ने केवल एक वेद के अध्ययन का ही आदेश दिया है। अपना वेद पढ़ लेने के उपरान्त अन्य शाखाएँ एवं वेद पढ़े जा सकते हैं। अधिकांश स्मृतियों ने यही आदेशित किया है कि अपने पूर्वजों की शाखा के वेद का अध्ययन एवं उसी के अनुसार धार्मिक कृत्य भी करने चाहिए। जो अपनी वंशपरम्परागत शाखा का वेद नहीं पढ़कर अन्य शाखा पढ़ता है उसे "शाखारण्ड" कहा जाता है। शाखारण्ड की धार्मिक क्रियाएँ विफल होती हैं। किन्तु अपनी शाखा में न पायी जाने वाली क्रिया अन्य शाखा से सीखी जा सकती है। अग्निहोत्र का उदाहरण यहाँ पर्याप्त है, क्योंकि यह सभी शाखाओं में नहीं पाया जाता, किन्तु इसे करते सभी हैं।

गुरुओं का निवास प्रायः एक ही स्थान पर होता था। किन्तु प्राचीन भारत में भी वे एक देश से दूसरे देश में जाते हुए पाये गये हैं। कौषीतकीब्राह्मणोपनिषद् (४।१) में हम विख्यात बालाकि गार्ग्य को उशीनर, मत्स्य, कुरु-पंचाल एवं काशि-विदेह में भ्रमण करते हुए पाते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।३।१) में भुज्यु लाट्यायनि याज्ञवल्क्य से कहते हैं कि वे तथा अन्य लोग अध्ययन के लिए मद्र देश में घूमते रहे। शिष्यगण बहुधा एक ही गुरु के यहाँ रहते थे, किन्तु वे जिस प्रकार पानी ढाल की ओर अवश्य बह जाता है उसी प्रकार विख्यात गुरुओं के यहाँ दौड़कर चले भी जाते थे।[५९] ऐसे विद्यार्थी जो इस आचार्य से उस आचार्य तक भागा करते थे, उन्हें 'तीर्थकाक' कहा गया है (महाभाष्य, भाग १, पृ० ३९१, पाणिनि २।१।४१)।

५८. तपः स्वाध्याय इति ब्राह्मणम्।...अथापि वाजसनेयिब्राह्मणम्। ब्रह्मयज्ञो ह वा एष यत्स्वाध्यायः। आप० ध० सूत्र १।४।१२।१ एवं ३; मिलाइए मनु (२।१६६) वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते। दक्ष (२।३३) ने भी यही बात कही है; 'अधीयत इत्यध्यायः वेदः। स्वस्याध्यायः स्वाध्यायः स्वपरंपरागता शाखेत्यर्थः।' संस्कार प्रकाश, पृ० ५०४।

५९. यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः॥ तैत्तिरीयोपनिषद् १।४।३; यहाँ 'अहर्जर' का तात्पर्य है संवत्सर (वर्ष)।

जिस प्रकार वेदाध्ययन ब्राह्मण का एक कर्तव्य था, उसी प्रकार पढ़ाना भी एक कर्तव्य था। अध्यापन-कार्य के लिए प्रार्थना किये जाने पर जो मुकर जाता था वह विफल माना जाता था। जब सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्य उपकोशल को लगातार १२ वर्ष तक सेवा करने पर भी नहीं पढ़ाया तो उनकी स्त्री ने उनकी भर्त्सना की (छान्दोग्य० ४।१०।१-२)। प्रश्नोपनिषद् (६।१) ने लिखा है कि जो गुरु अपना ज्ञान नहीं बाँटता वह सूख जाता है। इस विषय में आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१४।२-३ एवं १।२।८।२५-२८) ने विस्तार के साथ लिखा है। द्रोणपर्व (५०।२१) में भी शिष्य की कोटि पुत्र के उपरान्त मानी गयी है। यदि आचार्य साल भर ठहर जाने के उपरान्त भी शिष्य को नहीं पढ़ाता तो उसे शिष्य के सारे पाप भुगतने पड़ते थे। ऐसे आचार्य त्याज्य माने गये हैं।

शिष्यों के गुणों के विषय में स्मृतियों ने नियमों का विधान किया है। निरुक्त (२।४) द्वारा उद्धृत विद्यासूक्त में आया है कि जो शिष्य विद्या को घृणा की दृष्टि से देखे, कुटिल एवं असंयमी हो ऐसे शिष्य को विद्या-ज्ञान नहीं देना चाहिए, किन्तु जो पवित्र, ध्यानमग्न, बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी, गुरु के प्रति सत्य हो तथा जो अपनी विद्या की रक्षा धन-कोष की भाँति करे उसे शिक्षा देनी चाहिए।[60] मनु (२।१०९ एवं ११२) के अनुसार १० प्रकार के व्यक्ति शिक्षण प्राप्त करने योग्य हैं---गुरु-पुत्र, गुरुसेवी शिष्य, जो बदले में ज्ञान दे सके, धर्मज्ञानी या जो मन-देह से पवित्र हो, सत्यवादी, जो अध्ययन करने एवं धारण करने में समर्थ हो, जो शिक्षण के लिए धन दे सके, जो व्यवस्थित मन का हो और जो निकट-सम्बन्धी हो। याज्ञवल्क्य (१।२८) ने उपर्युक्तों के साथ कुछ और गुण भी जोड़े हैं, यथा कृतज्ञ, गुरु से घृणा न करने वाला या गुरु के प्रति असत्य न होने वाला, स्वस्थ तथा व्यर्थ का छिद्रान्वेषण न करगे वाला। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।२।१९) के अनुसार ब्रह्मचारी को सदा अपने गुरु पर आश्रित एवं उनके नियन्त्रण के भीतर रहना चाहिए, उसे गुरु को छोड़ किसी अन्य के पास नहीं रहना चाहिए। यही बात नारद ने भी कही है।[61] बहुत प्राचीन काल से ही यह बात प्रचलित सी रही है कि विद्यार्थी गुरु के पशुओं को चराये (छान्दोग्य० ४।४।५), भिक्षा माँगे और गुरु को उसकी जानकारी करा दे (वही, ४।३।५), गुरु की पवित्र अग्नि की रक्षा करे तथा गुरु-कार्य के सम्पादन के उपरान्त जो समय मिले उसे वेदाध्ययन में लगाये (छान्दोग्य० ८।१५।१)।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें हैं जिन्हें संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। गौतम (२।१३, १४,१८,१९,२२,२३,२५) का कहना है कि विद्यार्थी को असत्य भाषण नहीं करना चाहिए, प्रति दिन स्नान करना चाहिए, सूर्य की ओर नहीं देखना चाहिए तथा मधु-सेवन, मांस, इत्र (गंध), पुष्प-सेवन, दिन-शयन, तेल-मर्दन, अंजन, यान-यात्रा, उपानह (जूता आदि) पहनना, छाता लगाना, प्रेम-व्यवहार, क्रोध, लालच, मोह, व्यर्थ विवाद, वाद्ययन्त्र-वादन, गर्म जल में आनन्ददायक स्नान, बड़ी सावधानी से दाँत स्वच्छ करना, मन की उल्लासपूर्ण स्थिति, नाच, गान, दूसरों की भर्त्सना, भयावह स्नान, नारी को घूरना या युवा नारियों को छूना, जुआ, क्षुद्र पुरुष की सेवा (नीच कार्य करना), पशु-हनन, अश्लील बातचीत, आसव-सेवन आदि से दूर रहना चाहिए। मनु (२।१९८ एवं १८०-१८१) का कहना है

६०. असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्। यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ निरुक्त २।४ (वसिष्ठ० २।८-८ विष्णुधर्म० २९।९-१०)। मनु (२।११४-११५) भी इसके बहुत समान हैं।

६१. न ब्रह्मचारिणो विद्यार्थस्य परोपवासोऽपि आचार्याधीनः स्यादन्यत्र पतनीयेभ्यः। हितकारी गुरोरप्रतिलोमयन्वाचा। आप० ध० १।१।२।१७ एवं १९-२०; 'अस्वतन्त्रः स्मृतः शिष्य आचार्ये तु स्वतन्त्रता।' नारद (ऋणादान, ३३)।

कि उसे खाट या चौकी पर नहीं सोना चाहिए एवं पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए, स्वप्नदोष हो जाने पर उसे स्नान करना चाहिए, सूर्य की पूजा करनी चाहिए तथा "पुनर्माम्०" (तैत्तिरीय आरण्यक १।३०) मन्त्र का तीन बार उच्चारण करना चाहिए। ऐसी बातें आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।२।२१-३०, १।१।३।११-२४) में भी पायी जाती हैं। आपस्तम्ब-धर्म० (१।१।२।२८-३०) का कहना है कि विद्यार्थी को साधारणतया गर्म जल से अंग नहीं धोने चाहिए, यदि अंग गन्दे एवं अपवित्र हों तो उन्हें गुरु से छिपाकर गर्म जल से धो लेना चाहिए; विद्यार्थी को क्रीडापूर्वक स्नान नहीं करना चाहिए, बल्कि पानी में डण्डे के समान गतिहीन स्नान करना चाहिए। आपस्तम्ब० (१।१।२।२६) ने संभोग से दूर रहने को तो कहा ही है, यह भी कहा है कि स्त्रियों से तभी बात करे जब कि अत्यावश्यक हो। विद्यार्थी को हँसना नहीं चाहिए, यदि वह अपने को रोक न सके तो उसे मुख को हाथों से बन्द करके हँसना चाहिए।[६२]

गौतम एवं बौधायनधर्मसूत्र (१।२।३४ एवं ३७) का कहना है कि शिष्य को गुरु के साथ जाना चाहिए, उसे स्नान करने में सहायता देनी चाहिए, उसके शरीर को दबाना चाहिए और उसका उच्छिष्ट खाना चाहिए, उसे गुरु को प्रसन्न करनेवाले कार्य करने चाहिए, गुरु के बुलाने पर पढ़ना चाहिए, उसे कपड़े के टुकड़े से अपना कण्ठ नहीं ढकना चाहिए, अपने पैरों को आगे कर गुरु के समीप नहीं बैठना चाहिए, अपने पाँव नहीं फैलाने चाहिए, जोर से गला नहीं स्वच्छ करना चाहिए, जोर से हँसना, जँमाई लेना, अँगुली चटकाना नहीं चाहिए, बुलाने पर तुरन्त आना चाहिए, भले ही बहुत दूर बैठा हो, गुरु से नीचे के आसन पर बैठना चाहिए, गुरु के सो जाने के उपरान्त सोना एवं उनके जगने के पहले जगना चाहिए (गौतम २।२०-२१, ३०-३२)। मनु (२।१९४-१९८) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।५।२६ एवं १।२।६।१-१२) में भी ऐसे ही नियम हैं। शिष्य को अपने गुरु की चाल-ढाल, वाणी एवं क्रियाओं की भद्दी नकल नहीं करनी चाहिए, अर्थात् मजाक नहीं उड़ाना चाहिए (मनु २।१९९)। मनु (२।२००-२०१) ने यह भी लिखा है कि शिष्य को अपने गुरु के विरोध में कहे जाते हुए शब्द नहीं सुनने चाहिए, यदि वह स्वयं उनकी शिकायत करता है तो आगे के जन्म में गदहा या कुत्ता होगा। विष्णुधर्मसूत्र (२८।२६) ने भी यही बात कही है।

विद्यार्थियों के सिर के बालों के विषय में कई नियम बनाये गये हैं। ऋग्वेद (४।७५।१७; तै० सं० ४।५।४।५) ने कई शिखाओं वाले बच्चों के बारे में लिखा है। गौतम (१।२६) एवं मनु (२।२१९) के अनुसार ब्रह्मचारी का सिर मुड़ा रहना चाहिए, या जटाबद्ध रहना चाहिए या शिखा बिना पूरा घुटा रहना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।२।३१-३२), वसिष्ठधर्मसूत्र (७।११) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२८।४१) में कुछ विभिन्नता के साथ ऐसी ही बातें पायी जाती हैं। जनमार्ग पर चलते समय शिखा नहीं खोलनी चाहिए (हारीत, अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० २२५)।

बिना श्री, भट्ट या आचार्य की उपाधि लगाये शिष्य अपने गुरु का नाम उनकी अनुपस्थिति में भी नहीं ले सकता था। गौतम के आदेशानुसार शिष्य अपने गुरु, गुरु-पत्नी, गुरुपुत्र या उस व्यक्ति का नाम जिसने श्रौत यज्ञ कराया हो, नहीं ले सकता (२।२४ एवं २८)। आपस्तम्बधर्म० (१।२।८।१५) का कहना है कि घर लौट आने पर भी स्नातक को गुरु का कंधा अँगुली से नहीं छूना चाहिए, बार-बार कान में कुछ नहीं कहना चाहिए, सम्मुख नहीं हँसना चाहिए, जोर से पुकारना, नाम लेना या आदेश देना नहीं चाहिए। और भी देखिए मनु (२।१२८) एवं गौतम (६।१९)। स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० ४५) एवं हरदत्त ने (गौतम २।२९) एक स्मृति का उद्धरण देते हुए लिखा है कि अपने

६२. देखिए, याज्ञवल्क्य (१।३३) जिसमें उपर्युक्त बहुत-सी बातें आ जाती हैं। याज्ञवल्क्य ने गुरु को छोड़कर किसी अन्य का उच्छिष्ट भोजन खाना मना किया है। मनु (२।१७७-१७९) ने गौतम के समान ही नियम दिये हैं। औशनसस्मृति में त्यागने योग्य बातों की एक बहुत लम्बी तालिका पायी जाती है।

गुरु, गुरुपुत्र, गुरुपत्नी, दीक्षित, अन्य गुरु, पिता, माता, चाचा, मामा, हितेच्छु, विद्वान्, श्वशुर, पति, मौसी के नाम नहीं लेने चाहिए।"[63] महाभारत (शान्तिपर्व १९३।२५) के अनुसार किसी को अपने गुरुजन का नाम नहीं लेना चाहिए, या उन्हें 'तुम' शब्द से नहीं पुकारना चाहिए, अपने समकालीनों या छोटों के नाम लिये जा सकते हैं। एक श्लोक से यह भी पता चलता है कि अपना नाम, अपने गुरु का नाम, दुष्ट प्रकृतिवाले व्यक्ति का नाम, अपनी पत्नी का नाम अथवा अपने ज्येष्ठ पुत्र का नाम भी नहीं लेना चाहिए।"[64]

उपसंग्रहण में अपना नाम एवं गोत्र "मैं प्रणाम करता हूँ" कहकर बोला जाता है। उस समय अपने कानों को छूकर प्रणम्य के पैरों को छू लिया जाता है एवं सिर को झुका लिया जाता है। किन्तु **अभिवादन** में हाथों से पैरों का पकड़ना या छूना नहीं होता। अभिवादन के पूर्व प्रत्युत्थान होता है।

किसी के स्वागत में अपने आसन को छोड़कर उठने को **प्रत्युत्थान** कहा जाता है। किसी को प्रणाम करना **अभिवादन** कहा जाता है। **उपसंग्रहण** में हाथों से पैरों को पकड़ लिया जाता है। **प्रत्यभिवाद** में प्रणाम का उत्तर दिया जाता है। **नमस्कार** में नमः के साथ सिर झुकाना होता है। इन सबके विषय में बड़े विस्तार के साथ नियम बताये गये हैं। इस विषय में आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।५।१९-२२), मनु (२।७१-७२), गौतम (१।५२-५४), विष्णुधर्म-सूत्र (२८।१५), बौधायनधर्मसूत्र (१।२।२४,२८), गौतम (६।१-३) आदि देखने चाहिए, जिनमें पर्याप्त मत-मतान्तर मिलते हैं। किसी के मत में जब गुरु मिलें, तब पैर पकड़ लेने चाहिए, किसी के मत से केवल प्रातः एवं सायं ऐसा करना चाहिए। गुरुजनों, माता-पिता तथा अन्य श्रद्धास्पदों के विषय में भी ऐसे ही विभिन्न मत हैं, जिन्हें यहाँ उद्धृत करना आवश्यक नहीं है।

अभिवादन तीन प्रकार का होता है; **नित्य** (प्रति दिन के लिए आवश्यक), **नैमित्तिक** (विशिष्ट अवसरों पर ही करने योग्य) एवं **काम्य** (किसी विशिष्ट काम या अभिकांक्षा से प्रेरित होने पर किया जानेवाला)। नित्य के विषय में आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।५।१२-१३) ने यों लिखा है—"प्रति दिन विद्यार्थी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठना चाहिए और गुरु के सन्निकट खड़े होकर यह कहना चाहिए कि 'यह मैं...प्रणाम करता हूँ', उसे अन्य गुरुजनों एवं विद्वान् ब्राह्मणों को प्रातः भोजन के पूर्व प्रणाम करना चाहिए" (देखिए याज्ञवल्क्य १।२६)। नैमित्तिक अभिवादन कभी-कभी होता है, यथा किसी यात्रा के उपरान्त (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।२।५।१४)। लम्बी आयु की आशा से, कल्याण के लिए कोई भी गुरुजनों को प्रणाम कर सकता है (आप० ध० १।२।५।१५ एवं बौधायन० १।२।२६)। मनु (२। १२०-१२१) ने लिखा है कि जो ज्येष्ठ एवं श्रद्धास्पदों को प्रणाम करता है वह दीर्घ आयु, ज्ञान एवं शक्ति प्राप्त करता है...। इस विषय में हम आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१४।११), बौधायनधर्मसूत्र (१।२।४४), मनु (३।१३०) एवं वसिष्ठ-धर्मसूत्र (१३।४१) को देख सकते हैं। अभिवादन के विषय में कुछ मतभेद भी हैं, जिन्हें देना यहाँ आवश्यक नहीं है।

६३. आचार्यं चैव तत्पुत्रं तद्भार्यां दीक्षितं गुरुम्। पितरं वा पितृव्यं च मातुलं मातरं तथा॥ हितैषिणं च विद्वांसं श्वशुरं पतिमेव च। न ब्रूयान्नामतो विद्वान्मातुश्च भगिनीं तथा॥ स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० ४५) एवं हरदत्त (गौतम २।२९)।

६४. त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत्। अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति॥ शान्तिपर्व १९३।२४; देखिए विष्णुधर्मसूत्र (३२।८) भी; आत्मनाम गुरोर्नाम यन्नाम कृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः। किन्तु अभिवादन में अपना नाम लेना चाहिए। गुरोर्ज्येष्ठकलत्रस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य चात्मनः। आयुष्कामो न गृह्णीयान्नामाति-कृपणस्य च॥ नारद (मदनपारिजात द्वारा उद्धृत, पृ० ११९)।

अभिवादन विधि यों थी—ब्राह्मण को अपनी दाहिनी बाहु कान के सीध में फैलाकर, क्षत्रिय को छाती तक, वैश्य को कमर तक तथा शूद्र को पैर तक फैलाकर अभिवादन करना चाहिए और दोनों हाथ जुड़े होने चाहिए (आप० ध० १।२।५।१६-१७)।[६५]

यदि कोई ब्राह्मण प्रणाम या अभिवादन का उत्तर न दे सके तो उसे शूद्र के समान समझना चाहिए, विद्वान् को चाहिए कि वह उसे प्रणाम न करे। ब्राह्मणों के लिए यह नियम था कि वे क्षत्रियों एवं वैश्यों को अभिवादन न करें। भले ही वे लोग विद्वान् एवं श्रद्धास्पद हों, केवल 'स्वस्ति' का उच्चारण पर्याप्त है। बराबर-जाति वालों में ही अभिवादन होता है। ऐसा न करने पर अर्थात् यदि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को अभिवादन करें, तो उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ता था (क्रम से १, २ या ३ दिनों का उपवास)। जूता पहने, सिर बाँधे (पगड़ी आदि से), दोनों हाथ फँसे रहने पर, सिर पर समिधा रखे रहने पर, हाथ में पुष्प-पात्र या भोजन लिये रहने पर अभिवादन नहीं करना चाहिए, और न पितरों का श्राद्ध करते समय, अग्नि या देवता की पूजा करते समय तथा जब स्वयं गुरु ऐसे कार्यों में लगे हों अभिवादन नहीं करना चाहिए। बहुत सन्निकट खड़े होकर भी प्रणाम नहीं करना चाहिए (बौधायन ध० १।२।३१-३२)। जब व्यक्ति अपवित्र हो या अभिवादन पानेवाला अशौच में हो तब भी अभिवादन निषिद्ध है। विशेष, आपस्तम्बधर्म० (१।४।१४।१४- १७ एवं २३), मनु (२।१३५), विष्णुधर्मसूत्र (३२।१७) आदि स्थल अवलोकनीय हैं। स्मृत्यर्थसार (पृ० ७) ने लिखा है कि धर्मविरोधी, पापी, नास्तिक, जुआरी, चोर, कृतघ्न एवं शराबी को अभिवादन नहीं करना चाहिए (देखिए मनु ४।३० एवं याज्ञवल्क्य १।१३०)।

कुछ लोगों का **सम्मान** केवल आसन से उठ जाने में हो जाता है और अभिवादन की आवश्यकता नहीं पड़ती। अस्सी वर्ष या उससे अधिक वर्ष के शूद्र का सम्मान उच्च वर्ण के छोटी अवस्था वाले लोगों द्वारा होना चाहिए, किन्तु अभिवादन नहीं होना चाहिए। लम्बी अवस्था वाले शूद्रों द्वारा उच्च वर्ण के लोगों (आर्यों) का सम्मान आसन से उठकर होना चाहिए। ब्राह्मण यदि वेदज्ञ न हो तो उसे आसन प्रदान करना चाहिए, किन्तु उठना नहीं चाहिए, किन्तु यदि ऐसा व्यक्ति लम्बी अवस्था का हो तो उसका अभिवादन करना चाहिए (आप० ध० २।२।४।१६-१८ एवं मनु २।१३४)। इसी प्रकार अन्य नियम भी हैं।

विभिन्न टीकाकारों ने **प्रत्यभिवाद** के विषय में बहुत-सी जटिल व्याख्याएँ उपस्थित कर दी हैं। प्रणाम पाने पर गुरु या कोई व्यक्ति जो प्रत्युत्तर देता है या जो आशीर्वचन कहता है उसे ही प्रत्यभिवाद कहा जाता है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (१।२।५।१८) में कहा है—"प्रथम तीन वर्णों के अभिवादन के प्रत्युत्तर में अभिवादनकर्ता के नाम का अन्तिम अक्षर तीन मात्रा तक (प्लुत) बढ़ा दिया जाता है। इससे भिन्न वसिष्ठ (१३।४६) का नियम है। मनु (२।१२५) के अनुसार ब्राह्मण को इस प्रकार प्रत्यभिवाद देना चाहिए—"हे भद्र, आप दीर्घजीवी हों", और नाम का अन्तिम स्वर प्लुत कर देना चाहिए, किन्तु यदि नाम का अन्तिम अक्षर व्यंजन हो तो उसके पूर्व का स्वर प्लुत कर देना चाहिए। यही बात पाणिनि (८।२।८३) में भी पायी जाती है। महाभाष्य ने इसकी टिप्पणी की है और दो वार्तिकों द्वारा बतलाया है कि यह नियम स्त्रियों के प्रति लागू नहीं है, और क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए विकल्प से लागू हो सकता है।[६६] आपस्तम्ब-

६५. दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयीतोरःसमं राजन्यो मध्यसमं वैश्यो नीचैः शूद्रः प्राञ्जलिः। आप० ध० १।२।५।१६-१७; देखिए संस्कारप्रकाश, पृ० ४५४।

६६. प्रत्यभिवादेऽशूद्रे। पाणिनि ८।२।८३; यदि अभिवादन करनेवाला ब्राह्मण हो (जैसा कि "अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः" में पाया जाता है) तो प्रत्यभिवाद होगा—"आयुष्मानेधि देवदत्त ३" (यहां ३ से तात्पर्य है प्लुत,

धर्मसूत्र प्राचीन वैयाकरणों के नियमों को मान्यता देता है। मनु (२।१२५) ने भी ऐसा ही कहा है, किन्तु उनके लिए 'अकार' शब्द सब स्वरों के बदले आ जाता है। उच्च वर्ण के लोग नीचे वर्ण के लोगों को अभिवादन नहीं करते, अतः उनके विषय में प्रत्यभिवाद का प्रश्न ही नहीं उठता।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।७।२७) के अनुसार शिष्य अपने गुरु की पत्नी के साथ वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा कि गुरु के साथ करता है, किन्तु न तो उसके पाँव छुएगा और न उसका उच्छिष्ट भोजन करेगा। गौतम (२।३१-३२) ने भी यही बात कही है और जोड़ा है कि शिष्य गुरु-पत्नी को नहाने-धोने में न तो सहायता करेगा, न उसके पाँव पकड़ेगा और न उन्हें दबाएगा। यही बात मनु (२।२११), बौधायनधर्म० (१।२।३७), विष्णुधर्म० (३२।६) में भी पायी जाती है। मनु (२।२१२) एवं विष्णुधर्मसूत्र (३२।१३) के अनुसार २० वर्षीय शिष्य को अपने आचार्य की नवयुवती पत्नी के पैर नहीं पकड़ने चाहिए, प्रत्युत पृथिवी पर गिरकर प्रणाम करना चाहिए (अभिवादये अमुकशर्माहं भोः---कहकर)।

गुरुपत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के विषय में निम्न नियम थे। विवाहित स्त्रियों को उनके पतियों की अवस्था के अनुसार अभिवादन करना चाहिए (आप० ध० १।४।१४।१८ एवं वसिष्ठधर्म० १३।४२)। विष्णुधर्म० (३२।२) ने भी यही बात कही है किन्तु यहाँ पर अभिवादन केवल अपनी जाति की स्त्रियों तक ही सीमित है। गौतम (६।७-८) एवं मनु (२।१३१-१३२) के नियम भी अवलोकनीय हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।७।३०), वसिष्ठधर्म० (१३।५४), विष्णुधर्म० (२८।३१) एवं मनु (२।२०७) के अनुसार शिष्य गुरुपुत्र के साथ वही व्यवहार करेगा जो गुरु के साथ किया जाता है, किन्तु गुरुपुत्र के पैर न पकड़ेगा और न उसका उच्छिष्ट भोजन करेगा। मनु (२।२०८) के अनुसार शिष्य गुरुपुत्र को सम्मान तो देगा, किन्तु उसके नहाने-धोने एवं पैर धोने में कोई सहायता न देगा और न उसका उच्छिष्ट खायेगा।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।७।२८ एवं १।४।१३।१२) के अनुसार प्राचीन काल में **समादिष्ट** (शिष्याध्यापक) की परिपाटी थी और गुरु के कहने पर जो अन्य व्यक्ति अध्यापन-कार्य करता था, उसको गुरु के समान ही सम्मान मिलता था।[६७]

गुरु एवं सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य लोगों से मिलने पर क्या व्यवहार करना चाहिए, इसके विषय में आपस्तम्ब (१।४।१४।२६-२९) एवं मनु (२।१२७) का कहना है कि किसी ब्राह्मण से भेट होने पर 'कुशल' शब्द से स्वास्थ्य के विषय में पूछना चाहिए। इसी प्रकार क्षत्रिय से 'अनामय', वैश्य से 'क्षेम' एवं शूद्र से 'आरोग्य' शब्द का व्यवहार करना चाहिए। जो बड़ा हो, उसे प्रणाम मिलना चाहिए, जो समान या छोटी अवस्था का हो उसका 'कुशल मात्र

अर्थात् तीन मात्रा तक)। यदि नाम व्यञ्जनान्त हो तो प्रत्यभिवाद होगा---"आयुष्मान्भव सोमशर्मा ३ न्।" यदि स्त्री अभिवादन करे, यथा "अभिवादये गार्ग्यहं भोः" तब प्रत्यभिवाद होगा "आयुष्मती भव गार्गि". (अर्थात् यहाँ प्लुत नहीं है)। यदि इन्द्रवर्मा नामक क्षत्रिय अभिवादन करे तो प्रत्यभिवाद होगा "आयुष्मानेधीन्द्रवर्मा ३ न," या "आयुष्मानेधीन्द्रवर्मन्"। यदि वैश्य इन्द्रपालित अभिवादन करे तो प्रत्यभिवाद होगा "आयुष्मानेधीन्द्र-पालिता ३, या धीन्द्रपालित।" यदि शूद्र तुषजक अभिवादन करे तो प्रत्यभिवाद होगा "आयुष्मानेधि तुषजक" (अर्थात् यहाँ प्लुत नहीं है)।

६७. तथा समादिष्टे अध्यापयति। आप० ध० १।२।७।२८; समादिष्टमध्यापयन्तं यावदध्ययनमुपसंगृह्णीयात्। नित्यमर्हन्तमित्येके। आपस्तम्बधर्मसूत्र १।४।१३।१२-१३।

पूछना चाहिए। गौतम (५।३७-३८) ने भी इसी प्रकार नियम दिये हैं। मनु[६८] (२।१२९) ने कहा है कि परनारी तथा जो अपनी सम्बन्धी न हो उस नारी को 'भवती' कहना चाहिए। इस विषय में और देखिए आप० ध० (१।४।१४।३०) एवं विष्णुधर्म० (३२।७)। बराबर अवस्था वाली को बहिन एवं छोटी को बेटी समझना चाहिए।

उद्वाहतत्त्व के अनुसार 'श्री' शब्द देवता, गुरु, गुरुस्थान, क्षेत्र (तीर्थस्थान), अधिदेवता, सिद्ध योगी, सिद्धाधिकारी आदि के नाम के साथ प्रयुक्त होना चाहिए। रघुनन्दन ने लिखा है कि जो लोग जीवित हों उन्हीं के नाम के पूर्व 'श्री' शब्द लगाना चाहिए। इस प्रकार द्विजातियों की स्त्रियों के नाम के पूर्व 'देवी' तथा शूद्र नारियों के नाम के पूर्व 'दासी' लगना चाहिए।

सम्मान के भागी कौन-कौन हैं? इस विषय में थोड़ा-बहुत मतभेद है। सम्मान करने के लक्षण हैं अभिवादन करना, मिलने के लिए उठ पड़ना, आगे-आगे चलने देना, माला देना, चन्दन लगाना आदि। मनु (२।१३६) एवं विष्णुधर्म० (३२।१६) के अनुसार धन, सम्बन्ध, अवस्था, धार्मिक कृत्य एवं पवित्र ज्ञान वाले को सम्मान मिलना चाहिए, जिनमें धन से श्रेष्ठ सम्बन्ध, सम्बन्ध से अवस्था, अवस्था से धार्मिक कृत्य एवं धार्मिक कृत्य से ज्ञान है। गौतम (६।१८-२०) ने कुछ अन्तर दर्शाया है। उनके अनुसार धन, सम्बन्ध, पेशा (वृत्ति), जन्म, विद्या एवं आयु को सम्मान मिलना चाहिए। इनमें क्रमशः आगे आने वाले को अपेक्षाकृत अच्छा माना गया है, किन्तु वेद विद्या को सर्वोपरि कहा गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१३।५६-५७) के अनुसार विद्या, धन, अवस्था, सम्बन्ध एवं धार्मिक कृत्य वाले सम्मानार्ह हैं जिनमें प्रत्येक पहले वाला श्रेष्ठतर है अर्थात् विद्या सर्वश्रेष्ठ है। याज्ञवल्क्य ने क्रम से विद्या, कर्म, अवस्था, सम्बन्ध एवं धन को मान्यता दी है। उन्होंने धन को अन्तिम मान्यता दी है (१।११६)। विश्वरूप (याज्ञ० १।३५) के अनुसार गुरु (माता-पिता), आचार्य, उपाध्याय एवं ऋत्विक् को यदि सम्मान न दिया जाय तो पाप लगता है, किन्तु यदि विद्या, धन आदि को सम्मान नहीं दिया जाय तो पाप तो नहीं लगेगा, हाँ सुख एवं सफलता न प्राप्त हो सकेगी। मनु (२।१३७) ने ९० वर्ष के शूद्र को एक विद्वान् ब्राह्मण के समक्ष बच्चा माना है। और देखिए मनु (२।१५१-१५३), बौधायनधर्म० (१।४।४७), गौतम (६।२०) एवं ताण्ड्यमहाब्राह्मण (१३।३।२४)। मनु (२।१५५) ने लिखा है कि पवित्र ज्ञान से ही ब्राह्मणों की श्रेष्ठता है, पराक्रम से क्षत्रिय की, अन्न-धन से वैश्यों की एवं अवस्था से शूद्र की श्रेष्ठता है। कौटिल्य (३।२०) के अनुसार विद्या, बुद्धि, पौरुष, अभिजन (उच्च कुल) एवं कर्मातिशय (उच्च वर्ण) वाले को सम्मान मिलना चाहिए।

अभिवादन एवं नमस्कार में क्या अन्तर है? अभिवादन में न केवल झुकना होता है, प्रत्युत "अभिवादये... आदि" कहना होता है, किन्तु नमस्कार में सिर झुकाकर हाथ जोड़ लेना मात्र होता है। नमस्कार देवताओं, ब्राह्मणों, संन्यासियों आदि के लिए किया जाता है। विष्णु के अनुसार ब्राह्मण को सभा, यज्ञ, राजगृह में अभिवादन न करके नमस्कार मात्र करना चाहिए। नमस्कार में हाथों की आकृतियाँ निम्न रूप से होती हैं—विद्वान् को नमस्कार करने में बकरी के कान की भाँति हाथ जोड़ने चाहिए, यतियों को नमस्कार करते समय सम्पुट हाथों से। एक हाथ से, मूर्ख को तथा छोटों को नमस्कार नहीं करना चाहिए। देवालय, देवमूर्ति, बैल, गौशाला, गाय, घी, मधु, पवित्र तरु (जिसके

६८. हरदत्त के अनुसार चारों वर्णों के लिए ऐसे स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रश्न होने चाहिए—अपि कुशलं भवतः, अप्यनामयं भवतः, अप्यनष्टपशुधनोसि, अप्यरोगो भवान्। 'कुशलानामयारोग्याणामनुप्रश्नः। अन्त्यं शूद्रस्य।' गौतम (५।३७-३८); इस पर हरदत्त का कहेना है कि 'अपि कुशलमायुष्मन्निति ब्राह्मणः प्रष्टव्यः, अप्यनामयम् अत्रभवत इति क्षत्रियः, अप्यरोगो भवानिति वैश्यः, अप्यरोगोऽसीति शूद्रः।'

चारो ओर ईंटों का चबूतरा बना हो), चौराहा, विद्वान् गुरु, विद्वान् एवं धार्मिक ब्राह्मण, पवित्र स्थल की मिट्टी की प्रदक्षिणा (बायें से दाहिने) करनी चाहिए।[६९]

अपने माता-पिता, आचार्य, पवित्र अग्नि, घर, राजा (यदि राजा ने आने वाले के बारे में पहले कभी कुछ न सुना हो तो) के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए (आप० ध० १।२।८।२३)।

मार्ग में चलते समय किस प्रकार किसको आगे जाने देना चाहिए, इस विषय में ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों के वर्णन में हमने पहले ही पढ़ लिया है।

प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति की एक विशेषता थी **बिना पुस्तकों की सहायता के विद्या-ज्ञान** (विशेषतः वैदिक) प्रदान करना। वेद को ज्यों-का-त्यों आगे की पीढ़ियों तक ले जाने के लिए बड़े सुन्दर एवं व्यवस्थित नियम बना दिये गये थे। पद, क्रम, जटा तथा अन्य रूपों में वेद का अध्ययनाध्यापन होता था। त्वष्टा की गाथा इस विषय में प्रसिद्ध है। उसने "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" के उच्चारण में गड़बड़ी कर दी और इन्द्र के विरोध में अग्नि प्रज्वलित करने की अपेक्षा उसे बुझ जाने में योग दिया।[७०] पुस्तक से पढ़नेवाले को निकृष्ट पाठक कहा गया है (पाणिनीय शिक्षा, ३२)। वेद का पाठ व्यवस्थित ढंग से मौखिक ही था।

क्या प्राचीन भारत में **लिपि-कला** का ज्ञान था। क्या पाणिनि के समय में साहित्यिक कामों में लिपि का व्यवहार होता था? क्या ब्राह्मी लिपि भारतीय लिपि है या किसी अन्य देश से यहाँ लायी गयी है? मैक्समूलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिस्ट्री आव ऐंश्येण्ट संस्कृत लिटरेचर" (पृ० ५०७) में लिखा है कि पाणिनि को साहित्यिक उपयोग के लिए किसी लिपि का ज्ञान नहीं था। यह मत सचमुच आश्चर्यजनक एवं अनर्गल (असंगतिपूर्ण) है। यह मत अन्त में अग्राह्य हो गया। इसके उपरान्त बुहलर ने अशोक-लिपि एवं सेमेटिक लिपि के कुछ अक्षरों में साम्य देखकर यह उद्घोष किया कि ब्राह्मी लिपि लगभग ८०० ई० पू० सेमेटिक लिपि के आधार पर बनी। बुहलर महोदय के मस्तिष्क में यह बात न समा सकी कि यही बात ब्राह्मी के पक्ष में भी कही जा सकती थी, अर्थात् ब्राह्मी लिपि को सेमेटिक लोगों ने अपनाया। इसके अतिरिक्त यह भी तो कहा जा सकता है कि ब्राह्मी एवं सेमेटिक दोनों लिपियाँ किसी अन्य अति प्राचीन लिपि पर आधारित हो सकती हैं। किन्तु इस प्रकार के सिद्धान्त अब प्राचीन पड़ गये, क्योंकि मोहें-

६९. देवालयं चैत्यतरुं तथैव च चतुष्पथम्। विद्याधिकं गुरुं देवं बुधः कुर्यात्प्रदक्षिणम्॥ मार्कण्डेयपुराण (३४।४१-४२); शुचि देशमनड्वाहं देवं गोष्ठं चतुष्पथम्। ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं नित्यं कुर्यात्प्रदक्षिणम्॥ शान्तिपर्व १९३।८; देखिए ब्रह्मपुराण (११३।४०), वामनपुराण (१४।५२), गौतम (९।६६), मनु (४।३९), याज्ञ० (१।१३३)। शान्तिपर्व के १६३।३७ में भी वही श्लोक है।

७०. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ पाणिनीयशिक्षा ५२; गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः। अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥ पाणिनीयशिक्षा ३२। गाथा का वर्णन तैत्तिरीय संहिता (२।४।१२।१) एवं शतपथ ब्राह्मण (१।६।३।८) में हुआ है। त्वष्टा 'इन्द्रशत्रु' (जिसका अर्थ होता है इन्द्र का नाशक) शब्द का उच्चारण तत्पुरुष समास में करना चाहता था (जिसमें समास के अंतिम अंश में उदात्त स्वर लगाना चाहिए), किन्तु उसने बहुव्रीहि समास के रूप में ही (इन्द्र होगा शत्रु जिसका) उच्चारण कर दिया (यहाँ समास के प्रथम शब्द में उदात्त स्वर आ गया) और फल उलटा हुआ अर्थात् "इन्द्र के शत्रु" के स्थान पर इन्द्र को ही प्रधानता मिल गयी और त्वष्टा की कामना पूर्ण नहीं हो सकी। देखिए, पाणिनि ६।१।२२३ एवं ६।२।१।

जोदड़ो एवं हड़प्पा (सिंधु घाटी) की लिपि अति प्राचीन ठहरा दी गयी और यह सिद्ध हो गया कि भारत में लगभग ५०००-६००० वर्ष पूर्व किसी परिष्कृत लिपि का व्यवहार होता था।

शिक्षा देने का मौखिक ढंग सर्वोच्च एवं सबसे सस्ता था। प्राचीन काल में लिखने की सामग्री सरलता से नहीं मिल सकती थी और जो प्राप्त थी वह बहुमूल्य थी, अतः मौखिक ढंग को ही विशेष महत्ता दी गयी। आज भी संस्कृत विद्यालयों में यही ढंग अपनाया जाता है। आधुनिक काल में जब कि लिखने एवं मुद्रण की सारी सुविधाएँ प्राप्त हैं, सैकड़ों ऐसे ब्राह्मण मिलेंगे जिन्हें न केवल सम्पूर्ण ऋग्वेद (लगभग १०,५८० मन्त्र) कण्ठस्थ हैं, प्रत्युत ऋग्वेद के पद, ऐतरेय ब्राह्मण, आरण्यक एवं छः वेदांग (जिनमें पाणिनि के ४००० सूत्र एवं यास्क का विशाल निरुक्त भी सम्मिलित हैं) सभी कण्ठस्थ हैं। इन ब्राह्मणों में कुछ तो ऐसे विभ्राट् जन मिलेंगे, जिन्हें इतना बड़ा साहित्य कण्ठ तो है, किन्तु वे इसके एक शब्द का अर्थ भी नहीं कह सकते।[७१]

पराशरमाधवीय (भाग १, पृ० १५४) में उद्धृत नारद के अनुसार "जो व्यक्ति पुस्तक के आधार पर ही अध्ययन करता है, गुरु से नहीं, वह सभा में शोभा नहीं पाता।..."[७२] वृद्धगौतम ने उनकी भर्त्सना की है जो वेद बेचते हैं, जो वेद की भर्त्सना करते हैं तथा उसे लिखते हैं। याज्ञवल्क्य (३।२६७-६८) पर लिखते समय अपरार्क (पृ० ११-१४) ने चतुर्विंशतिमत को उद्धृत करते हुए वेद, वेदांग, स्मृतियों, इतिहास, पुराण, पञ्चरात्र, गाथा, नीतिशास्त्र विक्रय करनेवालों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। पुस्तक-प्रयोग के विरुद्ध यहाँ तक कहा गया है कि ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में यह छः अवरोधों में एक अवरोध है।[७३]

गुरु संस्कृत, प्राकृत या देशभाषा के द्वारा शिष्यों को समझाया करता था (संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत्स गुरुः स्मृतः॥ वीरमित्रोदय द्वारा उद्धृत विष्णुधर्म० में)।

ब्रह्मचर्य की अवधि

उपनिषदों के कुछ अंशों से पता चलता है कि ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी-जीवन) की अवधि १२ वर्ष की थी (छान्दोग्य० ४।१०।१)। श्वेतकेतु आरुणेय १२ वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचारी हुए और २४ वर्ष की अवस्था में सभी वेदों के पण्डित हो गये (छान्दोग्य० ६।१।२)। छान्दोग्य० (४।१०।१) से यह भी प्रकट होता है कि १२ वर्ष के उपरान्त बहुधा शिष्य लोग गुरु के यहाँ से चले आते थे। किन्तु ब्रह्मचर्य लम्बी अवधि का भी हो सकता था। छान्दोग्य० (८।११।३) में लिखा है कि इन्द्र प्रजापति के यहाँ १०१ वर्ष तक (३२ वर्ष की तीन अवधियाँ + ५ वर्ष) विद्यार्थी रूप में रहे। भरद्वाज ने ७५ वर्ष तक वेदों का अध्ययन किया (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११)। गोपथ ब्राह्मण (२।५) के अनुसार सभी वेदों के अध्ययन की अवधि ४८ वर्ष थी। गोपथब्राह्मण के इस कथन को कुछ गृह्य एवं धर्म सूत्रों ने उद्धृत किया है,

७१. ऋग्वेद का पद-पाठ शाकल्य की कृति है तथा वह पाठ पौरुषेय (मानव द्वारा प्रणीत) है। निरुक्त (६।२८) ने पद-भाग के विभाजन की आलोचना की है। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२४२) ने कहा है कि पद एवं क्रम के प्रणेता मानव हैं।

७२. पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ। भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः॥ नारद (पराशर-माधवीय, भाग १ पृ० १५४)।

७३. द्यूतं पुस्तकशुश्रूषा नाटकासक्तिरेव च। स्त्रियस्तन्द्री च निद्रा च विद्याविघ्नकराणि षट्॥ स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० ५२) द्वारा उद्धृत नारद।

यथा पारस्करगृह्यसूत्र (२।५) का कहना है कि ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए और प्रत्येक वेद के अध्ययन में १२ वर्ष लगाने चाहिए (१२×४=४८ वर्ष)। इस विषय में बौधायनगृह्यसूत्र (१।२।१-५) भी अवलोकनीय है। जैमिनि (१।३।३) पर शबर ने उन स्मृतियों की खिल्ली उड़ायी है जिन्होंने ४८ वर्ष की अवधि के लिए बल दिया है। किन्तु कुमारिल भट्ट ने शबर की भर्त्सना की है कि स्मृतियों ने जो कुछ कहा है वह श्रुतिविरुद्ध नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य के उपरान्त संन्यासी होना चाहते हैं, वे ४८ वर्ष तक पढ़ सकते हैं, इतना ही नहीं, बहुत-से लोग जीवन भर विद्यार्थी रहना चाहते हैं।[७४]

क्रमशः वैदिक साहित्य विशाल होता चला गया और ऋषियों ने उसकी सुरक्षा के लिए तीनों वर्णों के लिए यह एक कर्तव्य-सा बना दिया कि वे इस पूत साहित्य के संरक्षण एवं पालन में लगे रहें। अतः बहुत-से विकल्प रखे गये, यथा ४८ वर्षों तक सभी वेदों का अध्ययन, तीन वेदों का ३६ वर्षों तक, यदि व्यक्ति बहुत तीक्ष्ण बुद्धि का हो तो वह तीन वेदों को १८ या ९ वर्षों में ही समाप्त कर सकता है, या वह इतना समय अवश्य लगाये कि एक वेद का या कुछ उसमें अधिक का ज्ञान प्राप्त कर सके, देखिए मनु (३।१-२) एवं याज्ञवल्क्य (१।३६ एवं ५२)। सबके लिए १२ वर्षों तक वेदाध्ययन सम्भव नहीं था, अतः भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।९) ने विकल्प से लिखा है कि वेदाध्ययन गोदान कृत्य तक (१६वें वर्ष में गोदान होता था, इसके विषय में हम आगे पढ़ेंगे) होना चाहिए। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२२।३-४) के मत से १२ वर्षों तक या जब तक सम्भव हो वेदाध्ययन करना चाहिए। हरदत्त ने आपस्तम्बधर्म० (१।१।२।१६) की व्याख्या करते समय आपस्तम्बधर्म० (१।१।२।१२-१६ एवं १।११।३।१) तथा मनु (३।१) के निचोड़ को उपस्थित करते हुए कहा है कि प्रत्येक ब्रह्मचारी को कम-से-कम तीन वर्ष प्रत्येक वेद के पढ़ने में लगाने चाहिए।

तीनों उच्च वर्णों के लिए वेदाध्ययन तो अत्यन्त महत्वपूर्ण कर्तव्य था ही, साथ-ही-साथ वैदिक यज्ञों के लिए भी वेदाध्ययन आवश्यक ठहराया गया था। जैमिनि के अनुसार वही व्यक्ति वैदिक यज्ञ के योग्य है जो यज्ञ-सम्बन्धी अंश का ज्ञाता हो।

अध्ययन के विषय

वेदाध्ययन का तात्पर्य है मन्त्रों तथा विशिष्ट शाखा या शाखाओं के ब्राह्मण-भाग का अध्ययन। वेद को शाश्वत एवं अपौरुषेय माना गया है। सभी धर्मशास्त्रकारों ने वेद को अनादि एवं शाश्वत माना है। वेदान्तसूत्र (१।३।२८-२९) के अनुसार वेद शाश्वत है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (देवों सहित) वेद से ही प्रसूत हैं (देखिए मनु १।२१, शान्तिपर्व २३३।२४ आदि)। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।५।११) के अनुसार वेद परमात्मा के श्वास हैं। इसी उपनिषद् (१।२।५) में आया है कि प्रजापति ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यज्ञों आदि का निर्माण किया है। श्वेताश्वतरोपनिषद्

७४. उपनयन अधिकतर गर्भाधान से ८ वर्ष की अवस्था में होता था। यदि ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन) ४८ वर्षों तक चलेगा तो उस समय व्यक्ति की अवस्था ५६ (४८+८) वर्ष होगी। केवल गृहस्थ लोग ही श्रौत अग्निहोत्र कर सकते थे। यदि कोई ५६ वर्ष उपरान्त विवाह करे, तो उसके बाल सफेद होते रहेंगे और वह इस प्रकार स्मृति-नियम को मानता हुआ वैदिक आदेश के विरोध में चला जायगा। स्मृति एवं श्रुति के विरोध में स्मृति अस्वीकृत होती है यह जैमिनि (१।३।३) का कहना है। इस पर शबर का भाष्य है—अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि 'वेदब्रह्मचर्यचरणं जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत इत्यनेन विरुद्धम्। अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्तश्चाष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः। तत एषा स्मृतिरित्यवगम्यते।' जैमिनि (१।३।४, पृ० १८६) पर शबर। देखिए तन्त्रवार्तिक, पृ० १९२-१९३।

(६।१८) के अनुसार परमात्मा ने ब्रह्मा को उत्पन्न कर उन्हें वेदों का ज्ञान दिया। इस विषय में शान्तिपर्व (२३३।२४) अवलोकनीय है। वेद के अनादित्व एवं अपौरुषेयत्व को कई ढंग से समझाया जाता है, यथा—महाभाष्य (पाणिनि ४।३।१०) ने लिखा है कि यद्यपि वेद का अर्थ शाश्वत है, किन्तु शब्दों का प्रबन्ध अशाश्वत है और इसी लिए वेद की विभिन्न शाखाएँ पायी जाती हैं, यथा काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक आदि।

प्राचीन काल से ही अध्ययन का साहित्य बहुत विशाल रहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१०।११) ने कहा है कि वेद अनन्त हैं। स्वयं ऋग्वेद (१०।७१।११) में ऐसा संकेत है कि चार प्रकार के प्रमुख पुरोहित थे, यथा—होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा। उसमें (१०।७१।७) यह भी आया है कि जो लोग साथ पढ़ते हैं उनमें बड़ा वैषम्य पाया जाता है और सहपाठी अपने मित्र को सभा में जीतता देखकर प्रसन्न होते हैं। शतपथ ब्राह्मण (११।५।७।४-८) ने स्वाध्याय के अन्तर्गत ऋचाओं, यजुओं, सामों, अथर्वांगिरसों (अथर्ववेद), इतिहास-पुराण, गाथाओं को गिना है। गोपथ ब्राह्मण (२।१०) ने लिखा है कि इस प्रकार से सभी वेद कल्प, रहस्य, ब्राह्मणों, उपनिषदों, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, अनुशासन, वाकोवाक्य आदि के साथ उत्पन्न किये गये। उपनिषदों में ऐसा अधिकतर आया है कि ब्रह्मज्ञान की खोज में आने के पूर्व लोग बहुत-कुछ पढ़कर आते थे। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने (नारद ने) चारों वेदों, पाँचवें वेद के रूप में इतिहास-पुराण, वेदों के वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्ध पर प्रबन्ध), राशि (अंकगणित), दैव (लक्षण-विद्या), निधि (गुप्त खनिज खोदने की विद्या), वाकोवाक्य (कथनोपकथन या हेतुविद्या), एकायन (राजनीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (छन्द एवं ध्वनि-विद्या), भूतविद्या (भूत-प्रेत को दूर करने की विद्या), क्षत्रविद्या (धनुर्वेद) नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या (नाच, गान, अभ्यंजन आदि) सीख ली थीं। यह सूची छान्दोग्य० (७।१।४ एवं ७।७।१) में पुनः दी गयी है। इसी के समान सूची बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१०, ४।१।५) में भी पायी जाती है। गौतम (११।१९) ने प्रजा को सँभालने के लिए वेद, धर्मशास्त्रों, अंगों, उपवेदों एवं पुराणों पर आश्रित रहने के लिए राजा को आदेशित किया है। आपस्तम्ब-धर्म० (२।३।८।१०-११), विष्णुधर्म० (३०।३४-३८), वसिष्ठ (३।१९ एवं २३, ६।३-४) ने वेदांगों की चर्चा की है। पाणिनि को वेद एवं ब्राह्मणों का ज्ञान तो था ही, उन्हें प्राचीन कल्पसूत्रों, भिक्षुसूत्रों एवं नटसूत्रों तथा अन्य लौकिक ग्रन्थों की जानकारी थी (४।३।८७-८८, १०५, ११०, १११ एवं ११६)। पतञ्जलि (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) को संस्कृत साहित्य की विशालता का ज्ञान था (भाग १, पृ० ९)। याज्ञवल्क्य (१।३) में १४ विद्याओं के नाम आये हैं। इसी प्रकार मत्स्य (५३।५-६), वायुपुराण (भाग १।६१।७८), वृद्ध-गौतम (पृ० ६३२) आदि में भी १४ विद्याओं की चर्चा है, यथा—४ वेद ६ वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा एवं धर्मशास्त्र। वायुपुराण (भाग १, ६१।७९), गरुड़-पुराण (२२३।२१) एवं विष्णुपुराण में ४ विद्याएँ और जोड़कर १८ विद्याओं की चर्चा की गयी है, यथा आयुर्वेद, धनु-र्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र नामक ४ उपवेद। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में कहा है कि विद्या-स्थान, जो धर्म की जानकारी के लिए प्रामाणिक माने जाते हैं, १४ या १८ हैं।

अति प्राचीन काल में भी धर्मशास्त्र पर विशाल साहित्य था। महाकाव्यों, काव्यों, नाटक, कल्पित कथा, फलित ज्योतिष, औषध तथा अन्य कल्पनात्मक शाखाओं पर विशाल साहित्य का प्रणयन होता गया, जिसके फलस्वरूप वेदाध्ययन में कुछ ढिलाई दिखाई पड़ने लगी और लोग वेद की अपेक्षा संवेगों एवं बुद्धि को सन्तोष देनेवाले साहित्य की ओर अधिक झुकने लगे। स्मृतियों ने सम्भवतः इसी कारण से द्विजातियों का प्रथम कर्तव्य वेद पढ़ना बताया और बार-बार इस पर बल दिया है। अवैदिक ग्रन्थों को पढ़ने वाले ब्राह्मणों की भर्त्सना मैत्री-उपनिषद् (७।१०) में पायी जाती है। ऐसी ही बात मनु (२।१६८) में भी पायी जाती है। तैत्तिरीयोपनिषद् (१।९) ने स्वाध्याय (वेदाध्ययन) एवं प्रवचन (शिक्षण करने या प्रतिदिन पढ़ने) को तप कहा है और इन दोनों को ऋत, सत्य, तप, दम, शम,

अग्नियों, अग्निहोत्र एवं सन्तान के साथ जोड़कर इनकी महत्ता को और भी बल दे दिया है और कहा है कि धन चले जाने पर भी विद्यार्थी को वेदाध्ययन नहीं छोड़ना चाहिए।

वेदाध्ययन का तात्पर्य केवल मन्त्रों को कण्ठस्थ कर लेना नहीं, प्रत्युत अर्थ भी समझना है (देखिए शंकराचार्य, वेदान्तसूत्र १।३।३० एवं याज्ञवल्क्य ३।३०० पर मिताक्षरा की व्याख्या)। निरुक्त (१।१८) ने लिखा है कि बिना अर्थ जाने वेदाध्ययन करनेवाला व्यक्ति पेड़ एवं जड़ के समान है और केवल भार वहन करने वाला है, किन्तु जो अर्थ जानता है उसे आनन्द की प्राप्ति होती है, ज्ञान से उसके पाप हिल जाते हैं और उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। दक्ष (२।३४) के अनुसार वेदाध्ययन में पाँच बातें पायी जाती हैं—वेद को कण्ठस्थ करना, उसके अर्थ पर विचार करना, बार-बार दुहराकर सदा नवीन बनाये रखना, जप करना (मन ही मन प्रार्थना के रूप में दुहराना) एवं दूसरे को पढ़ाना। इस विषय में देखिए मनु (१२।१०२), शबर (पृ० ६), विश्वरूप (याज्ञ० १।५१), अपरार्क (पृ० ७४) एवं मेधातिथि (मनु ३।१९)।

उपर्युक्त आदेशों के रहते हुए भी अधिकांश लोग वेद को बिना समझे पढ़ते रहे हैं। महाभारत (उद्योगपर्व १३२।६ एवं शान्तिपर्व १०।१) ने बिना अर्थ के रटने वाले श्रोत्रिय की भर्त्सना की है। धीरे-धीरे एक विचित्र भावना घर करने लगी; वेद को केवल याद कर लेने से पाप से मुक्ति हो जाती है। कालान्तर में यह भावना इतनी प्रबल हो उठी कि आज के बहुत-से ब्राह्मण यह कहते सुने जाते हैं कि वेद का अर्थ जानना असम्भव है और उसे जानने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। वेदाध्ययन के महत्व की जानकारी के लिए देखिए वसिष्ठधर्म० (२७।१), मनु (११।२४५, २४८, २६०), याज्ञवल्क्य (३।३०७-३१०), विष्णुधर्मसूत्र (५६।१-२७, ३०।४, २८।१०-१५) आदि।

वेद को कण्ठस्थ करने के उपरान्त उसे सदा स्मृति-पटल में रखना परमावश्यक था। वेद को भूलना मद्य पीने आदि पापों के समान है; यह ब्रह्महत्या के समान भी कहा गया है (मनु ११।५६ एवं याज्ञवल्क्य ३।२२८)।

मनु (४।१६३) ने नास्तिक्य एवं वेद-भर्त्सना के विरोध में बहुत-कुछ कहा है और एक स्थान (११।५६) पर वेदनिन्दा को महापाप बताया है। याज्ञवल्क्य (३।२८८) ने वेदनिन्दा को ब्रह्महत्या के समान गम्भीर कहा है। गौतम (२१।१) ने नास्तिक को पतित माना है। इस विषय में देखिए विष्णुधर्मसूत्र (३७।४), मनु (२।११), वसिष्ठधर्म० (१२।४१), अनुशासनपर्व (३७।११)।[७५]

७५. ऋग्वेद में ऐसा संकेत मिलता है (१०।८६।१) कि कुछ लोग इन्द्र को देवता नहीं मानते थे (नेन्द्रं देवममंसत)। दस्युओं को 'अव्रत, अयज्ञ, अब्रह्म' (ऋ० १।५१।८, १।७५।३, ७।६।३) कहा गया है। कठोपनिषद् (१।२०) में नचिकेता कहते हैं कि कुछ ऐसे लोग भी थे कि जो कहा करते थे मरने के उपरान्त आत्मा भी नष्ट हो जाता है। कठ (२।६) का कहना है कि जो परलोक में नहीं विश्वास करता वह मेरे जाल में बार-बार फँसता है। पाणिनि ने 'नास्तिक' शब्द की व्युत्पत्ति बतायी है 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४।४।६०), जिसका तात्पर्य है "परलोक नहीं है, ऐसी जिसकी मति है" (नास्ति परलोक इति मतिर्यस्य)। प्रभाकर की बृहती (पूर्वमीमांसा सूत्र की व्याख्या) ने बृहस्पति को अनात्मवाद, लोकायत या भौतिकवाद का प्रवर्तक माना है और उसकी टीका ऋजुविमला में एक श्लोक उद्धृत किया है—"अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥" सर्वदर्शनसंग्रह (चार्वाक-दर्शन) में भी यह श्लोक उद्धृत है। मेधातिथि (मनु ४।१६३) का कहना है—"वेदप्रमाणकानामर्थानां मिथ्यात्वाध्यवसायो नास्तिक्यम्। शब्देन प्रतिपादनं निन्दा पुनरुक्तो वेदोऽन्योन्यव्याहतो नात्र सत्यमस्तीति।" मनु (३।१५०) की व्याख्या में स्मृतिचन्द्रिका का कहना है—"नास्ति कालान्तरे फलदं कर्म नास्ति देवलोकादिमतो नास्तिकाः।" मनु (९।२२५) ने

वेदाध्ययन के लिए पहले से ही कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। प्राचीन शिक्षण-पद्धति की विशेषताओं में यह एक विचित्र विशेषता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।१।२) में यह आया है कि जब जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गौएँ, एक हाथी एवं एक बैल (शंकर के मतानुसार हाथी के समान बैल) देना चाहा तो याज्ञवल्क्य ने कहा—"मेरे पिता का मत था कि बिना पूर्ण पढ़ाये शिष्य से कोई पुरस्कार नहीं लेना चाहिए।" गौतम (२।५४-५५) ने लिखा है कि विद्या के अन्त में शिष्य को गुरु से धन लेने या जो कुछ वह दे सके, लेने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जब गुरु आज्ञापित कर दे या बिना कुछ लिये जाने को कह दे तब शिष्य को स्नान करना चाहिए (अर्थात् घर लौटना चाहिए)।[७६] आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।७।१९-२३) ने लिखा है कि अपनी योग्यता के अनुसार शिष्य को विद्या के अन्त में गुरुदक्षिणा देनी चाहिए, यदि गुरु तंगी में हो तो उग्र या शूद्र से भी भिक्षा माँगकर उसकी सहायता करनी चाहिए; ऐसा करके शिष्य को घमण्ड नहीं करना चाहिए, और न इसका स्मरण रखना चाहिए। वास्तव में, विद्या के अन्त में दक्षिणा देना गुरु को प्रसन्न मात्र करना था, क्योंकि जो कुछ ज्ञान शिष्य ग्रहण करता था, उसका प्रतिकार नहीं हो सकता था। मनु (२।२४५-२४६) ने लिखा है कि शिष्य 'स्नान' के पूर्व कुछ नहीं भी दे सकता है, घर लौटते समय वह गुरु को कुछ धन दे सकता है; भूमि, सोना, गाय, अश्व, जूते, छाता, आसन, अन्न, साग-सब्जी, वस्त्र का अलग-अलग या एक साथ ही दान किया जा सकता है। छान्दोग्योपनिषद् (३।२।६) ने ब्रह्मविद्या की स्तुति करते हुए इसे सम्पूर्ण पृथिवी एवं इसके धन से उत्तम माना है। स्मृतियों में आया है कि यदि गुरु एक अक्षर भी पढ़ा दे तो इस ऋण से उऋण होना असम्भव है (पृथिवी में कुछ है ही नहीं जिसे देकर शिष्य उऋण हो सके)। महाभारत (आश्वमेधिक ५६।२१) ने लिखा है कि शिष्य के कार्यों एवं व्यवहार से प्राप्त प्रसन्नता ही वास्तविक गुरु-दक्षिणा है (दक्षिणा परितोषो वै गुरूणां सद्भिरुच्यते)। इस विषय में और देखिए याज्ञवल्क्य (१।५१), कात्यायन (अपरार्क पृ० ७६)। पाण्डिचेरी के पास बाहुर नामक स्थान से प्राप्त नृप तुंगवर्मा के फलक-पत्रों से पता चलता है कि विद्या की उन्नति के लिए 'विद्यास्थान' का दान किया गया था। चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम के समय में (शक संवत् ९८१ में) संन्यासियों के प्राध्यापन में प्राध्यापकों (प्रोफेसरों) को ३० मत्तर भूमि तथा मठ में शिष्यों को पढ़ाने के लिए ८ मत्तर भूमि देने की व्यवस्था की गयी थी (एपिग्रैफिया

पाषण्डस्थों (नास्तिकों) के देश-निकाले की व्यवस्था दी है। विष्णुपुराण (३।१८।२७-२८) ने मायामोह के उपदेश के बारे में लिखा है—"यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते। शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः॥ निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते। स्वपिता यजमानेन किं नु तस्मान्न हन्यते॥" नारद (ऋणादान, १८०) ने नास्तिक को सामान्य रूप से साक्षी के अयोग्य माना है। सर्वदर्शनसंग्रह ने चार्वाक के मतों का सारतत्त्व उपस्थित किया है तथा लगभग ५२८ ई० में प्रणीत हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय ने लोकायत के मतों का निष्कर्ष उपस्थित किया है। महाभाष्य (भाग ३, पृ० ३२५-२६) ने भी लोकायत की ओर संकेत किया है। 'यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥' वाला प्रसिद्ध श्लोक सर्वदर्शनसंग्रह के 'चार्वाकदर्शन' नामक अंश के अन्त भाग में दिये गये निष्कर्ष में मिलता है। षड्दर्शनसमुच्चय (८०) ने लोकायत मत को संक्षिप्त रूप में यों रखा है—"लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः। धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः॥" निर्वृति का अर्थ है मोक्ष। भारतीय भौतिकवाद (लोकायत, अनात्मवाद या चार्वाकवाद) का एक व्यापक अथवा विस्तारपूर्ण इतिहास बहुत ही मनोरंजक ग्रन्थ हो सकता है, किन्तु अभी यह इतिहास किसी ने लिखा नहीं।

७६. विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्र्यः। कृत्वानुज्ञातस्य वा स्नानम्। गौ० (२।५४-५५); विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्य कृत्वाऽनुज्ञातस्य वा स्नानम्। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।९।४)।

इण्डिका, भाग १५, पृ० ८३)। १८१८ ई० के कुछ ही पहले पेशवा प्रति वर्ष विद्वान् ब्राह्मणों को दक्षिणा रूप में जो धन देते थे वह लगभग ४ लाख के बराबर रहा करता था। आज भी बीसवीं शताब्दी में बहुत-से ऐसे ब्राह्मण गुरु हैं जो वेद एवं शास्त्र के प्राध्यापन में कुछ भी नहीं लेते और न लेने की आशा ही रखते हैं।

मनु (२।१४१), शंखस्मृति (३।२) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२९।२) के अनुसार जीविकार्थ वेद या वेदांग पढ़ाने वाला गुरु उपाध्याय कहलाता है। याज्ञवल्क्य (३।२६५), विष्णुधर्मसूत्र (३७।२०) तथा अन्य लोगों ने धन के लिए पढ़ाने एवं वेतनभोगी गुरु से पढ़ने को उपपातकों में गिना है। भृतकाध्यापक एवं उनके शिष्य श्राद्ध में बुलाये जाने योग्य नहीं माने जाते थे (मनु ३।१५६७, अनुशासनपर्व २३।१७ एवं याज्ञवल्क्य १।२२३)। किन्तु मेधातिथि (मनु २।११२ एवं ३।१४६), मिताक्षरा (याज्ञ० २।२३५), स्मृतिचन्द्रिका आदि ने लिखा है कि केवल शिष्य से कुछ ले लेने पर ही कोई गुरु भृतकाध्यापक नहीं कहा जाता, प्रत्युत निर्दिष्ट धन लेने पर ही पढ़ाने की व्यवस्था करने वाला गुरु भर्त्सना का पात्र होता है। किन्तु आपत्काल में जीविका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था की गयी थी (मनु १०।११६ एवं याज्ञ० ३।४२)। महाभारत (आदिपर्व १३३।२-३) में आया है कि भीष्म ने पाण्डवों एवं कौरवों की शिक्षा के लिए द्रोण को धन एवं सुसज्जित आवास-गृह दिया, किन्तु कोई निर्दिष्ट धन नहीं।

गौतम (१०।९-१२), विष्णुधर्मसूत्र (३।७९-८०), मनु (७।८२-८५) एवं याज्ञवल्क्य (१।३१५-३३३) के अनुसार विद्वान् लोगों एवं विद्यार्थियों की जीविका का प्रबन्ध करना राजा का कर्तव्य था, राज्य में कोई ब्राह्मण भूख से न मरे, यह देखना राज्यधर्म था। यदि गुरु विद्या के अन्त में शिष्य से अधिक धन माँगे तो शिष्य सिद्धान्ततः राजा के पास पहुँच सकता था। रघुवंश (५) में कालिदास ने दर्शाया है कि किस प्रकार वरतन्तु ने कौत्स से (१४ विद्याओं के अनुसार) १४ करोड़ की भारी दक्षिणा माँगी, जिसके लिए कौत्स राजा रघु के पास पहुँचा था और इस धन से कुछ भी अधिक लेने को वह सन्नद्ध नहीं हुआ। कभी-कभी गुरु या गुरु-पत्नी (जैसा कि कुछ आख्यायिकाओं से पता चलता है) भारी दक्षिणा माँगती देखी गयी हैं, यथा गुरुपत्नी द्वारा उत्तंक से रानी के कर्णफूल का माँगा जाना (आदिपर्व, अध्याय ३ एवं आश्वमेधिक पर्व ५६)।

शरीर-दण्ड के विषय में प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों ने क्या व्यवस्था की थी? गौतम (२।४८-५०) ने लिखा है कि साधारणतः बिना मारे-पीटे शिष्यों को व्यवस्थित करना चाहिए, किन्तु यदि शब्दों का प्रभाव न पड़े तो पतली रस्सी या बाँस की फट्टी (चीरी हुई पतली टुकड़ी) से मारना चाहिए, किन्तु यदि अध्यापक किसी अन्य प्रकार (हाथ इत्यादि) से मारे तो उसे राजा द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।८।२९-३०) ने लिखा है कि शब्दों द्वारा भर्त्सना करनी चाहिए और अपराध की गुरुता के अनुसार निम्न दण्ड में से कोई या कई दिये जा सकते हैं; धमकाना, भोजन न देना, शीतल जल में स्नान कराना, सामने न आने देना। महाभाष्य (भाग १, पृ० ४१) ने अनुदात्त को उदात्त और उदात्त को अनुदात्त कहने पर उपाध्याय द्वारा चपेटा (सम्भवतः पीठ पर) मारने की ओर संकेत किया है। मनु (८।२९९-३००), विष्णुधर्मसूत्र (७१-८१-८२), नारद (अभ्युपेत्याशुश्रूषा, १३-१४) ने गौतम का अनुसरण किया है, किन्तु इतना और जोड़ दिया है कि पीठ पर ही मारा जा सकता है, सिर या छाती पर कभी नहीं। नियम-विरुद्ध जाने पर शिक्षक को वही दण्ड मिलना चाहिए जो किसी चोर को मिलता है (मनु ८।३००)। मनु (२।१५९) ने कहा है कि चरित्र-सम्बन्धी सन्मार्ग में चलने की शिक्षा देते समय मधुर शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों की शिक्षा के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है। गौतम (११।३) के अनुसार राजा को तीनों वेदों, आन्वीक्षिकी (अध्यात्म या तर्क-शास्त्र) का पण्डित होना चाहिए, उसे अपने कर्तव्य-पालन में वेदों, धर्मशास्त्रों, वेद के सहायक ग्रन्थों, उपवेदों एवं पुराणों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए (गौतम ११।१९)। मनु

(७।४३) एवं याज्ञवल्क्य (१।३११) के अनुसार राजा को तीन वेदों, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति एवं वार्ता (अर्थशास्त्र) का पण्डित होना चाहिए। सम्भवतः इस प्रकार के निर्देश आदर्श मात्र थे, व्यावहारिक रूप में इनका पालन बहुत ही कम होता रहा होगा। महाभारत की गाथाओं से यही प्रकट होता है कि राजकुमार बहुत ही कम गुरुगृह में विद्याध्ययन के लिए जाते थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए शिक्षकों की नियुक्तियाँ हुआ करती थीं (द्रोण को भीष्म ने नियुक्त किया था)। राजकुमार लोग सैनिक दक्षता अवश्य प्राप्त करते थे। राजा लोग धार्मिक मामलों को पुरोहितों पर ही छोड़ देते थे और उन्हीं के परामर्श पर कार्य करते थे। गौतम (११।१२-१३) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१०।१६) के अनुसार पुरोहित को विद्वान्, अच्छे कुल का, मधुर वाणी बोलने वाला, सुन्दर आकृति वाला, मध्यम अवस्था का एवं उच्च चरित्र का होना चाहिए और उसे धर्म एवं अर्थ का पूर्ण पण्डित होना चाहिए। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।१२) से पता चलता है कि पुरोहित राजा को युद्ध के लिए सन्नद्ध करता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में मनु एवं याज्ञवल्क्य के समान ही राजकुमारों के लिए चार विद्याओं (उपर्युक्त) की चर्चा की है। उनका कहना है कि चौल कर्म के उपरान्त राजकुमार को अक्षर एवं गणित का ज्ञान कराना चाहिए और जब उपनयन हो जाय तब उसे चार विद्याएँ १६ वर्ष की अवस्था तक पढ़ानी चाहिए। इसके उपरान्त विवाह करना चाहिए (१।५), दिन के पूर्वार्ध में उसे हाथी, घोड़े, रथ की सवारी एवं अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखना चाहिए, किन्तु उत्तरार्ध में पुराणों, गाथाओं, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र (राजनीति) का अध्ययन करना चाहिए। हाथीगुम्फा के अभिलेख से पता चलता है कि खारवेल ने उत्तराधिकारी के रूप में **रूप** (सिक्का), **गणना** (वित्त एवं राज्यकोष का हिसाब-किताब), **लेख** (राजकीय पत्र व्यवहार) **एवं व्यवहार** (कानून एवं न्यायशासन) का अध्ययन १५ वर्ष से २४ वर्ष की अवस्था तक किया। कादम्बरी में आया है कि राजकुमार चन्द्रापीड गुरु के यहाँ पढ़ने नहीं गया, प्रत्युत उसके लिए राजधानी के बाहर पाठशाला निर्मित की गयी और वहाँ उसने ७ वर्ष से १६ वर्ष तक विद्याध्ययन किया।

धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में सामान्य क्षत्रियों के विषय में कोई पृथक् उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु हमें बहुत-से क्षत्रिय विद्वान् एवं गुरु के रूप में मिलते हैं। स्वयं कुमारिल भट्ट ने लिखा है कि अध्यापन-कार्य केवल ब्राह्मणों के ही ऊपर नहीं था, प्रत्युत बहुत-से क्षत्रियों एवं वैश्यों ने अपने वास्तविक जाति-गुणों को छोड़कर गुरु-पद ग्रहण किया है (तन्त्रवार्तिक, पृ० १०८)।

वैश्यों की शिक्षा के विषय में तो और भी बहुत कम निर्देश प्राप्त होते हैं। मनु (१०।१) ने लिखा है कि तीनों वर्णों को वेदाध्ययन करना चाहिए; व्यापार, पशु-पालन, कृषि वैश्यों की जीविका के साधन हैं, वैश्यों को पशु-पालन कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए, उन्हें रत्नों, मूंगों, मोतियों, धातुओं, वस्त्रों, गन्धों, नमक, बीज-रोपना, मिट्टी के गुण-दोषों, व्यापार में लाभ-हानि, भृत्यों के वेतन का मान-क्रम, सभी प्रकार के अक्षर, क्रय-विक्रय की सामग्रियों के स्थान का ज्ञान होना चाहिए।

याज्ञवल्क्य (२।१८४) एवं नारद (अभ्युपेत्याशुश्रूषा, १६-२०) से संकेत मिलता है कि लड़के आभूषण-निर्माण, नाच-गान आदि शिल्पों को सीखने के लिए शिल्प-गुरु के यहाँ अन्तेवासी रूप में रहते थे। शिल्पविद्या के शिष्य को निर्दिष्ट समय तक शिल्प-गुरु के यहाँ रहना पड़ता था, यदि वह समय से पहले सीख ले, तब भी उसे रहना ही पड़ता था। शिल्प-गुरु को उसके खाने-पीने की व्यवस्था करनी पड़ती थी और उसकी कमाई पर गुरु का अधिकार होता था। यदि शिष्य भाग जाय तो शिल्प-गुरु राजदण्ड का सहारा लेकर उसे दण्डित करा सकता था और बलपूर्वक अपने यहाँ निर्दिष्ट समय तक रहने को बाध्य कर सकता था।

धर्मशास्त्रों में **शूद्र-शिक्षा** के विषय में कोई नियम नहीं है। शूद्र क्रमशः अपनी स्थिति से ऊपर उठे और कालान्तर में उन्हें शिल्प एवं कृषि में संलग्न रहने की आज्ञा मिल ही गयी। सम्भवतः उनके लिए भी वैसे ही नियम बन गये जो

वैश्य जाति के शिल्पविद्या-शिष्यों के लिए बने थे (याज्ञ० १।१२०, शान्तिपर्व २९५।४, लघ्वाश्वलायन २२।५)। शूद्र जाति के विवेचन में हमने इस विषय को देख लिया है। शूद्र लोग महाभारत एवं पुराणों का कहा जाना सुन सकते थे।

यह एक विचित्र बात है कि मध्य एवं वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था कहीं उच्चतर थी। बहुत-सी नारियों ने वैदिक ऋचाएँ रची हैं, यथा—अत्रि-कुल की विश्ववारा ने ऋग्वेद का ५।२८ वाला अंश रचा है, उसी कुल की अपाला ने ऋग्वेद का ८।९१ वाला अंश रचा है, तथा घोषा काक्षीवती के नाम से ऋग्वेद का १०।३९ वाला अंश कहा जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक ऋषि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं, जिनमें मैत्रेयी सत्य ज्ञान की खोज में रहा करती थी और उसने अपने पति से ऐसा ही ज्ञान माँगा जो उसे अमर कर सके (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१)। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।६।८) के अनुसार विदेहराज जनक की राजसभा में कई एक उत्तर-प्रत्युत्तरकर्ता थे, जिनमें गार्गी वाचक्नवी का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। गार्गी वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य के दाँत खट्टे कर दिये थे। उसके प्रश्नों की बौछार से याज्ञवल्क्य की बुद्धि चकरा उठती थी। हारीत ने स्त्रियों के लिए उपनयन एवं वेदाध्ययन की व्यवस्था दी थी। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।४) में जहाँ कतिपय ऋषियों के तर्पण की व्यवस्था की गयी है, वहीं गार्गी वाचक्नवी, वडवा प्रातिथेयी एवं सुलभा मैत्रेयी नामक तीन नारी-शिक्षिकाओं के नाम भी आते हैं। नारी शिक्षिकाओं की परम्परा अवश्य रही होगी, क्योंकि पाणिनि (४।१।५९ एवं ३।३।२१) की काशिका वृत्ति ने 'आचार्या' एवं 'उपाध्याया' नामक शब्दों के साधनार्थ व्युत्पत्ति की है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य (भाग २ पृ० २०५, पाणिनि के ४।१।१४ के वार्तिक ३ पर) में बताया है कि क्यों एवं कैसे ब्राह्मण नारी 'आपिशला' (जो आपिशलि का व्याकरण पढ़ती है) एवं क्यों 'काशकृत्स्ना' (जो काशकृत्स्न का मीमांसा ग्रन्थ पढ़ती है) कही जाती है। उन्होंने "औदमेघाः" उपाधि की व्युत्पत्ति की है, जिसका तात्पर्य है "औदमेघ्या नामक स्त्री-शिक्षिका के शिष्य।" गोभिलगृह्यसूत्र (२।१।१९-२०) एवं काठकगृह्यसूत्र (२५-२३) से पता चलता है कि दुलहिनें पढ़ी-लिखी होती थीं, क्योंकि उन्हें मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता था। स्पष्ट है, सूत्रकाल में स्त्रियाँ वेद के मन्त्रों का उच्चारण करती थीं। वात्स्यायन के कामसूत्र (१।३।१-३) में आया है कि लड़कियों को अपने पिता के घर में कामसूत्र एवं इसके अन्य सहायक अंग (यथा ६४ कलाएँ—गान, नाच, चित्रकारी आदि) सीखने चाहिए तथा विवाहोपरान्त पति की आज्ञा से इन्हें करना चाहिए। ६४ कलाओं में प्रहेलिकाएँ, पुस्तकवाचन, काव्यसमस्या-पूरण, पिंगल एवं अलंकार का ज्ञान आदि भी सम्मिलित थे। महाकाव्यों एवं नाटकों में नारियाँ प्रेम-पत्र लिखती दिखाई पड़ती हैं। मालतीमाधव में आया है कि नायक एवं नायिका के पिता कामन्दकी के साथ एक ही गुरु के चरणों में अध्ययन करते थे। राजशेखर आदि के काव्य-संग्रहों से विदित होता है कि विज्जा, सीता आदि ऐसी प्रसिद्ध कवयित्रियाँ थीं, जिनकी कविताएँ संगृहीत होती थीं।

किन्तु कालान्तर में नारियों की दशा अधोगति को प्राप्त होती गयी। धर्मसूत्रों एवं मनु में वेदाध्ययन के मामले में उच्च वर्ण की नारियों को भी शूद्र की श्रेणी में रखा गया है। वे आश्रित मानी जाती थीं (गौतम १८।१, वसिष्ठधर्म० ६।१, बौधायनधर्म० २।२।४५, मनु ९।३ आदि)। *हम पहले ही देख चुके हैं कि विवाह को छोड़कर स्त्रियों के अन्य* सभी संस्कारों में वेद-मन्त्रों का उच्चारण नहीं होता था। जैमिनि (६।१।१७-२१) ने वैदिक यज्ञों में पति-पत्नी को साथ तो रखा है किन्तु मन्त्रोच्चारण पति ही करता है। जैमिनि ने दोनों को बराबर नहीं माना है। शबर ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि पति विद्वान् होता है और पत्नी विद्याहीन। मेधातिथि ने मनु (२।४९) की व्याख्या में एक मनोरंजक प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मचारी लोग भिक्षा माँगते समय स्त्रियों से "भवति भिक्षां देहि" वाला संस्कृत सूत्र क्यों बोलते हैं, जब कि वे यह भाषा नहीं जानतीं?

वैदिक काल में भी स्त्रियों के प्रति एक दुराग्रह था, और उन पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष ढंग से व्यंग्यात्मक छींटे

डाले जाते थे। ऋग्वेद (८।३३।१७) का कहना है—"यहाँ तक कि इन्द्र ने कहा है, स्त्रियों का मन संयम में नहीं रखा जा सकता; उनकी बुद्धि (या शक्ति) भी थोड़ी है।" पुनः ऋग्वेद (१०।९५।१५) में आया है—"स्त्रियों की मित्रता में सत्यता नही है, उनके हृदय भेड़िया के हृदय हैं।" शतपथ ब्राह्मण (१४।१।१।३) में आया है कि 'मधु विद्या पढ़ते समय स्त्री, शूद्र, कुत्ते एवं कौवा पक्षी की ओर न देखो, क्योंकि ये सभी असत्य हैं।' इसी प्रकार मनु (२।२१३-२१४) एवं अनुशासनपर्व (१९।९१-९४, ३८, ३९) में स्त्रियों की कटु भर्त्सना की गयी है। मध्य एवं वर्तमान काल में उपर्युक्त बातों, अपवित्रता एवं बाल-विवाह के कारण ही नारी शिक्षा अधोगति को प्राप्त हो गयी है।

नारी-शिक्षा जब इतनी कम थी, या नहीं के बराबर थी तो **सहशिक्षा** की बात ही कहाँ उठ सकती है। किन्तु प्राचीन काल में 'सहशिक्षा' के विषय में कुछ धुंधले चित्र मिल जाते हैं। सत्य है, जब वे पढ़ती थीं तो पुरुषों के साथ ही पढ़ती रही होंगी। भवभूति-जैसे कवियों ने ऐसे समाज के बारे में पर्याप्त निर्देश किया है। मालतीमाधव में नारी शिष्या कामन्दकी पुरुष शिष्य भूरिवसु एवं देवराट (जो कालान्तर में मन्त्री के पद पर भी आसीन हुए थे) के साथ एक ही गुरु के चरणों में पढ़ती थी।

आचार्य का गृह जहाँ विद्यार्थी पढ़ा करते थे **आचार्यकुल** कहलाता था (देखिए छान्दोग्योपनिषद् २।२३।२-४, ४।५।१, ४।९।१, ८।१५।१)। जो गुरु बहुत-से शिष्यों का अधिष्ठाता था, उसे **कुलपति** कहा जाता था (कण्व को शाकुन्तल में ऐसा ही कहा गया है)।

बहुत-से शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों से पता चलता है कि प्राचीन भारत में राजा एवं धनिक लोग अनुदान दिया करते थे जिनके बल पर पाठशालाएँ, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय चला करते थे। इनका पूरा वर्णन करना इस ग्रन्थ की परिधि के बाहर है। तक्षशिला, वलभी, बनारस, नालन्दा, विक्रमशिला आदि प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे। अधिकांश विश्वविद्यालय अनुदान पर ही चलते थे। बागूर के विद्यास्थान (एक कालेज) के निवासियों की विद्योन्नति के लिए पल्लवराज नृप-तुंगवर्मा (बागूर तामपत्र, एपीग्रैफिया इण्डिका, १८, पृ० ५) ने विद्याभोग रूप में तीन गाँवों का दान किया था। राजशेखर ने काव्यमीमांसा (अध्याय १०) में राजाओं को कवियों एवं विद्वान् लोगों की सभा बुलाने को कहा है, उनकी परीक्षा एवं उनके पुरस्कार की व्यवस्था की बात चलायी है, जैसा कि वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि राजा किया करते थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में यह भी लिखा है कि उज्जयिनी में कालिदास, मेण्ठ, भारवि एवं हरिश्चन्द्र की तथा पाटलिपुत्र में पाणिनि, व्याडि, वररुचि, पतञ्जलि, वर्ष, उपवर्ष एवं पिंगल की परीक्षाएँ ली गयी थीं।

धर्मशास्त्रों में उल्लिखित **शिक्षण-पद्धति की विशेषताएँ** निम्न रूप से रखी जा सकती हैं—(१) आचार्य को उच्च एवं सम्माननीय पद प्राप्त था, (२) गुरु-शिष्य में व्यक्तिगत सम्बन्ध था एवं शिष्यों पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था, (३) शिष्य गुरु के कुल के सदस्य के रूप में रहता था, (४) शिक्षण मौखिक था एवं पुस्तकों की सहायता सर्वथा नहीं ली जाती थी, (५) अनुशासन कठोर था, संवेगों एवं इच्छा का संयम किया जाता था, (६) शिक्षा सस्ती थी, क्योंकि कोई निर्दिष्ट शुल्क नहीं लिया जाता था।

भारतीय शिक्षण-पद्धति की अन्य विशेषताएँ भी थीं, यथा—यह विद्यार्थियों को साहित्यिक शिक्षा देती थी, विशेषतः वैदिक साहित्य, दर्शन, व्याकरण तथा इनकी अन्य सहायक शाखाएँ ही पढ़ी-पढ़ायी जाती थीं। नवीन साहित्य-निर्माण पर उतना बल नहीं दिया जाता था, जितना कि प्राचीन साहित्य के संरक्षण पर।

इस पद्धति के **प्रमुख दोष** निम्न रूप से वर्णित हो सकते हैं—(१) यह अत्यधिक साहित्यिक थी, (२) इसमें अत्यधिक स्मृति-व्यायाम कराया जाता था, (३) व्यावहारिक शिक्षा, यथा प्रतिदिन काम आनेवाले शिल्प आदि की

पढ़ाई पर बहुत कम बल दिया जाता था, (४) अनुशासन कठोर एवं नीरस था। बहुत-से दोष जाति-व्यवस्था के कारण थे, क्योंकि जाति-विभाजन के फलस्वरूप विशिष्ट जातियों को विशिष्ट काम करने पड़ते थे।

चार वेदव्रत

गौतम (८।१५) द्वारा वर्णित संस्कार-संख्या में चार वेद-व्रत नामक संस्कार भी हैं। बहुत-सी स्मृतियों ने सोलह संस्कारों में इनकी भी गणना की है। गृह्यसूत्रों में इनके नाम एवं विधियों के विषय में बहुत विभिन्नता पायी जाती है। पारस्करगृह्यसूत्र में इनकी चर्चा नहीं हुई है। यहाँ हम संक्षेप में इन चार वेदव्रतों का वर्णन उपस्थित करेंगे। आश्वलायनस्मृति (पद्य में) के अनुसार चार वेद-व्रत ये हैं—**(१) महानाम्नी व्रत, (२) महाव्रत,** (ऐतरेयारण्यक १ एवं ५), **(३) उपनिषद्-व्रत** एवं **(४) गोदान।** आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२२।२०) के अनुसार व्रतों में चौल कर्म से परिदान तक के सभी कृत्य जो उपनयन के समय किये जाते हैं, प्रत्येक व्रत के समय दुहराये जाते हैं। शांखायन-गृह्यसूत्र (२।११-१२) के अनुसार पवित्र गायत्री से दीक्षित होने के उपरान्त चार व्रत किये जाते हैं, यथा **शुक्रिय** (जो वेद के प्रधान भाग के अध्ययन के पूर्व किया जाता है), **शाक्वर, व्रातिक** एवं **औपनिषद** (अन्तिम तीन ऐत-रेयारण्यक के विभिन्न भागों के अध्ययन के पूर्व सम्पादित होते हैं)। इनमें शुक्रिय व्रत ३ या १२ दिन या १ वर्ष तक चलता था तथा अन्य तीन क्रम से वर्ष-वर्ष भर किये जाते थे (शांखायनगृ० २।११, १०-१२)। अन्तिम तीन व्रतों के आरम्भ में अलग-अलग उपनयन किया जाता था तथा इसके उपरान्त उद्दीक्षणिका नामक कृत्य किया जाता था। 'उद्दीक्षणिका' का तात्पर्य है आरम्भिक व्रतों को छोड़ देना। आरण्यक का अध्ययन गाँव के बाहर वन में किया जाता था। मनु (२।१७४) के अनुसार इन चारों व्रतों में प्रत्येक व्रत के आरम्भ में ब्रह्मचारी को नवीन मृगचर्म, यज्ञोपवीत एवं मेखला धारण करनी पड़ती थी। गोभिलगृह्यसूत्र (३।१।२६-३१), जो सामवेद से सम्बन्धित हैं, **गोदानिक, व्रातिक, आदित्य, औपनिषद, ज्येष्ठसामिक** नामक व्रतों का वर्णन करता है जिनमें प्रत्येक एक वर्ष तक चलता है। गोदान व्रत का सम्बन्ध गोदान संस्कार (जिसका वर्णन हम आगे पढ़ेंगे) से है। इस कृत्य में सिर, दाढ़ी-मूँछें मुड़ा ली जाती हैं, झूठ, क्रोध, सम्भोग, गन्ध, नाच, गान, काजल, मधु, मांस आदि का परित्याग किया जाता है और गाँव में जूता नहीं पहना जाता है। गोभिल के अनुसार मेखला-धारण, भोजन की भिक्षा, दण्ड लेना, प्रतिदिन स्नान, समिधा देना, गुरु-चरण वन्दन (प्रातःकाल) आदि सभी व्रतों में किये जाते हैं। गोदानिक व्रत में सामवेद के पूर्वार्चिक (अग्नि, इन्द्र एवं सोम पवमान के लिए लिखे गये मन्त्रों के संग्रह) का आरम्भ किया जाता था। व्रातिक से आरण्यक (शुक्रिय अंश को छोड़कर) का आरम्भ होता था। इसी प्रकार आदित्य से शुक्रिय का, औपनिषद से उपनिषद्-ब्राह्मण एवं ज्येष्ठ-सामिक से आज्य-दोह का आरम्भ किया जाता था। आगे के विस्तार में पड़ना यहाँ आवश्यक नहीं है।

बौधायनगृह्य० (३।२।४) के अनुसार कुछ ब्राह्मण-भागों (कृष्ण यजुर्वेदीय) के अध्ययन के पूर्व एक वर्ष तक **शुक्रिय, औपनिषद, गोदान** एवं **सम्मित** नामक व्रत किये जाते थे, जिनका वर्णन यहाँ अनावश्यक है। संस्कारकौस्तुभ ने महानाम्नी व्रत, महाव्रत, उपनिषद्-व्रत एवं गोदान व्रत का विस्तार के साथ वर्णन किया है। क्रमशः इन व्रतों का नामोल्लेख होना बन्द हो गया और मध्य काल के लेखकों ने इनके विषय में लिखना छोड़ दिया।

यदि कोई विद्यार्थी विशिष्ट व्रतों को नहीं करता था, तो उसे प्राजापत्य नामक तप ३ या ६ या १२ बार करके प्रायश्चित्त करना पड़ता था। यदि ब्रह्मचारी अपने प्रतिदिन के कर्तव्याचार में गड़बड़ी करता था तथा शौच, आचमन, सन्ध्या-प्रार्थना, दर्भ-प्रयोग, भिक्षा, समिधा, शूद्र से दूर रहना, वस्त्र-धारण, लँगोटी, यज्ञोपवीत, मेखला, दण्ड एवं मृग-चर्म धारण करना, दिन में न सोना, छत्र न धारण करना, जूता न पहनना, माला न धारण करना, आमोदपूर्ण स्नान से दूर रहना, चन्दन का प्रयोग न करना, काजल न लगाना, जुआ से दूर रहना, नाच, संगीत आदि से दूर रहना, नास्तिकों से

बातें न करना आदि नियमों के पालन में कोई ढिलाई करता था तो उसे तीन कृच्छ्रों का प्रायश्चित्त व्याहृतियों के साथ तथा प्रत्येक के साथ अलग-अलग होम करना पड़ता था। अन्य बड़े अपराधों के लिए अन्य प्रकार के कठिन प्रायश्चित्त आदि का विधान था। ब्रह्मचारी के लिए सम्भोग सबसे बड़ा गर्हित अपराध था। ऐसे अपराधी को अवकीर्णी कहा जाता था (तैत्तिरीय आरण्यक २।१८)। अन्य अपराधों के लिए देखिए बौधायनधर्म० (४।२।१०-१३), जैमिनि (६।८।२२), आपस्तम्बधर्म० (१।९।२७।८), वसिष्ठधर्मसूत्र (२३।१-३), मनु (२।१८७, १०।११८-१२१), याज्ञवल्क्य (३।२८०), विष्णुधर्म० (२८।४९-५०)। यहाँ इनके विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी

ब्रह्मचारी दो प्रकार के कहे गये हैं; **उपकुर्वाण** (जो गुरु को कुछ प्रतिदान देता था, देखिए मनु, २।२४५) एवं **नैष्ठिक** (जो मृत्यु-पर्यन्त वैसे ही रहता था)। 'निष्ठा' का अर्थ है अन्त या मृत्यु। मिताक्षरा (याज्ञ० १।४९) ने नैष्ठिक को इस प्रकार कहा है—"आत्मानं निष्ठाम् उत्क्रान्तिकालं नयतीति नैष्ठिकः।" ये दो नाम हारीतधर्मसूत्र, दक्ष (१।७) एवं कुछ अन्य स्मृतियों में आये हैं। 'नैष्ठिक' शब्द विष्णुधर्मसूत्र (२८।४६), याज्ञवल्क्य (१।४९), व्यास (१।४१) में भी आया है। जीवन भर ब्रह्मचारी रह जाने की भावना अति प्राचीन है। छान्दोग्योपनिषद् (२।२३।१) में आया है कि धर्म की तीसरी शाखा है उस विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) की स्थिति जो अपने गुरु के कुल में मृत्यु पर्यन्त रह जाता है। इस विषय में देखिए गौतम (३।४-८), आपस्तम्बधर्म० (१।१।४।२९), हारीतधर्मसूत्र, वसिष्ठधर्म० (७।४-६), मनु (२।२४३, २४४, २४७-२४९) एवं याज्ञवल्क्य (१।४९-५०)। गुरु के मर जाने पर गुरु-पत्नी एवं गुरुपुत्र (यदि ये दोनों योग्य हों तो) के साथ रह जाना चाहिए, या गुरु द्वारा जलायी हुई अग्नि की सेवा करते रहना चाहिए। नैष्ठिक ब्रह्मचारी परमानन्द प्राप्त करता है और पुनः जन्म नहीं लेता। वह जीवन भर समिधा, वेदाध्ययन, भिक्षा, भूमिशयन एवं आत्म-संयम में लगा रहता है।

कुब्ज, वामन, जन्मान्ध, क्लीब, पंगु एवं अति रोगी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाना चाहिए, ऐसा विष्णु (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० ७२) एवं स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० ६३, संग्रह का उद्धरण) ने लिखा है। उन्हें वैदिक क्रियाओं को करने एवं पैतृक सम्पत्ति पाने का कोई अधिकार नहीं दिया गया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्धे एवं कुछ अंगों से शून्य लोग विवाह नहीं कर सकते थे। यदि सम्पत्तिशाली हों, तो वे विवाह कर सकते हैं, ऐसा देखने में आया है, यथा—धृतराष्ट्र।

यदि आरूढ नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने प्रण एवं व्रत से च्युत हो जाय तो उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है, ऐसा अत्रि (८।१८) का वचन है। कुछ लोग यही बात संन्यासी के लिए कहते हैं। संस्कारप्रकाश (पृ० ५६४) के मत से व्रत-च्युत नैष्ठिक ब्रह्मचारी को व्रत-च्युत उपकुर्वाण ब्रह्मचारी से दूना प्रायश्चित्त करना चाहिए।

पतितसावित्रीक

जिनका उपनयन संस्कार न हुआ हो, अर्थात् जिन्हें गायत्री का उपदेश न कराया गया हो और इस प्रकार जो पापी हैं तथा आर्य समाज से बहिष्कृत हैं, उन्हें पतित-सावित्रीक की उपाधि दी गयी है। गृह्य एवं धर्मसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रम से १६वें, २२वें तथा २४वें वर्ष तक उपनयन-संस्कार की अवधि रहती है, किन्तु इन सीमाओं के उपरान्त उपनयन न करने पर वे सावित्री उपदेश के अयोग्य हो जाते हैं (आश्व० गृ० १।१९।५-७, बौ० गृ० ३।१३।५-६, आप० धर्म० १।१।१।२२, वसिष्ठ० ११।७१-७५, मनु २।३८-३९ एवं याज्ञवल्क्य १।३७-३८)। ऐसे ही लोगों को पतित-सावित्रीक या सावित्री-पतित या व्रात्य कहा जाता है (मनु २।३९ एवं याज्ञ० १।३८)। ऐसे

लोग वेदाध्ययन नहीं कर सकते, उनको यज्ञों में जाना एवं उनसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना (विवाह आदि) मना है। आपस्तम्बधर्म० (१।१।१।२४-२७) ने इसके लिए प्रायश्चित्त लिखा है। इस धर्मसूत्र के मत से अवधि बीत जाने पर उपनयन करके प्रतिदिन तीन बार वर्ष भर स्नान करते हुए वेद का अध्ययन किया जा सकता है। यह सरल प्रायश्चित्त है। किन्तु अन्य धर्मशास्त्रकारों ने कठोर प्रायश्चित्त भी बताये हैं। वसिष्ठधर्म० (११।७६-७९) एवं वैखानस (स्मार्त २।३) के अनुसार पतितसावित्रीक को उद्दालक व्रत करना चाहिए, या अश्वमेध यज्ञ करनेवाले के साथ स्नान करना चाहिए या व्रात्यस्तोम यज्ञ करना चाहिए। उद्दालक व्रत में दो मास तक जौ की लप्सी पर, एक मास तक दूध पर, आधे मास तक आमिक्षा (उबलते दूध में दही डालने पर बने हुए पदार्थ) पर, आठ दिन घृत पर, छः दिन तक बिना माँगे भिक्षा पर, तीन दिन पानी पर तथा एक दिन बिना अन्न-जल के रहना चाहिए। उद्दालक ने इस व्रत का आरम्भ किया था, अत: इसे यह नाम मिल गया है। मनु (११।१९१), विष्णुधर्म० (५४।२६) ने पतितसावित्रीक के लिए हलके प्राजापत्य[७७] प्रायश्चित्त तथा याज्ञवल्क्य (१।३८); बौधा० गृ० (३।१३।७), व्यास (१।२१) एवं अन्य लोगों ने व्रात्यस्तोम का विधान किया है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।२८, १।१।२।१-४) का कहना है कि यदि तीन पीढ़ियों तक उपनयन न किया गया हो तो ऐसे व्यक्ति ब्रह्म (पवित्र स्तुतियों) के घातक कहे जाते हैं। इनके साथ सामाजिक सम्बन्ध, भोजन, विवाह आदि नहीं करना चाहिए। किन्तु यदि वे चाहें तो उनका प्रायश्चित्त हो सकता है। प्रायश्चित्त के विषय में बड़ा विस्तार है, जिसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

क्षत्रिय, वैश्य एवं कलियुग

क्या कलियुग में क्षत्रिय एवं वैश्य पाये जाते हैं? इस विषय में मध्य काल के लेखकों ने बड़ा विचार किया है। विष्णुपुराण (४।२३।४-५), भागवतपुराण (१२।१।६-९), मत्स्यपुराण (२७२।१८-१९) आदि ने लिखा है कि महापद्मनन्द क्षत्रियों का नाश कर देंगे और शूद्रों का राज्य आरम्भ हो जायगा। विष्णुपुराण (४।२४।४४) ने लिखा है कि पुरु के वंशज देवापि, इक्ष्वाकु के वंशज मनु कलापग्राम में रहते हैं, उन्हें यौगिक शक्तियाँ प्राप्त हैं, वे कलियुग के उपरान्त कृतयुग (सत्ययुग) के आरम्भ में क्षत्रिय जाति का उद्भव करेंगे। कुछ क्षत्रिय आज भी पृथिवी में बीज की भाँति हैं। यही बात वायु (भाग १, ३२।३९-४०), मत्स्य (२७३।५६-५८) आदि में भी पायी जाती है। इन ग्रन्थों के आधार पर मध्य काल के कुछ लेखकों ने लिखा है कि उनके समय में क्षत्रिय नहीं थे। रघुनन्दन के शुद्धितत्त्व ने विष्णुपुराण (४।२३।४) एवं मनु (१०।४३) को उद्धृत करके यह घोषणा की है कि क्षत्रिय लोग केवल महानन्दी तक ही पाये गये, इस समय के तथाकथित क्षत्रिय लोग शूद्र हैं तथा वैश्यों की भी यही दशा है। शूद्रकमलाकर के अनुसार चार वर्णों में केवल ब्राह्मण एवं शूद्र ही कलियुग में रह जायेंगे। किन्तु यह मत सभी लेखकों को मान्य नहीं है, क्योंकि कलियुग के सभी चारों वर्णों के कर्तव्यों की तालिका स्मृतियों में पायी जाती है। पराशरस्मृति ने सभी वर्णों की बातें कही हैं। इसी प्रकार अधिकांश सभी निबन्धकारों (संक्षेप करनेवालों तथा टीकाकारों) ने वर्णों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की चर्चा की है। मिताक्षरा ने, जो सबसे अच्छा निबन्ध कहा जाता है, कहीं भी ऐसा नहीं लिखा है कि उसके समय

७७. प्राजापत्य के लिए देखिए मनु (११।२११) एवं याज्ञवल्क्य (३।३२०)। यह १२ दिनों तक चलता है, जिसमें तीन दिनों तक केवल प्रातःकाल भोजन होता है, तीन दिनों केवल सन्ध्या काल, तीन दिनों तक बिना माँगे भिक्षा पर भोजन होता है तथा अन्तिम तीन दिनों तक बिल्कुल उपवास रहता है।

में क्षत्रिय नहीं थे। बहुत-से राजाओं ने अपने को सूर्य एवं चन्द्र कुल का वंशज कहा है। राजस्थान एवं मध्यभारत के राजपूत अपने को आबू पर्वत के अग्निकुण्ड से उत्पन्न मानते हैं, यथा—**चौहान, परमार** (पर्मार), **सोलंकी** (चालुक्य) एवं **पड़ियार** (प्रतिहार) नामक चार कुल के लोग। इस विषय को हम आगे नहीं बढ़ाना चाहते, क्योंकि मत-मतान्तर के विवेचन से अभी तक इस विषय में सत्य का उद्घाटन नहीं हो सका है।

वैदिक काल में भी अनार्य जातियाँ थीं, यथा किरात, अन्ध्र, पुलिन्द, मूतिब। इन्हें ऐतरेय ब्राह्मण (३३।६) ने दस्यु कहा है। वैदिक काल में प्रयुक्त 'म्लेच्छ' शब्द महत्वपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण (३।२।१।२३-२४) का कहना है कि असुर लोग इसी लिए हार गये कि वे त्रुटिपूर्ण एवं दोषपूर्ण भाषा बोलते थे, अतः ब्राह्मण को ऐसी दोषपूर्ण भाषा का व्यवहार नहीं करना चाहिए और न इस प्रकार म्लेच्छ एवं असुर होना चाहिए। गौतम (९।१७) का कहना है कि लोगों को म्लेच्छ से नहीं बोलना चाहिए और न अपवित्र, अधार्मिक व्यक्ति से ही बोलना चाहिए। हरदत्त के अनुसार म्लेच्छ लोग लंका या वैसे ही अन्य देशों के अधिवासी हैं, जहाँ वर्णाश्रम की व्यवस्था नहीं है। यही बात विष्णुधर्म० (६४।१५) में भी पायी जाती है। म्लेच्छ देश में श्राद्धकर्म भी मना है (विष्णु धर्म० ८४।१-२ एवं शंख १४-३०)। मनु (२।२३) के अनुसार म्लेच्छ देश आर्यावर्त से बाहर है, आर्यावर्त यज्ञ के योग्य देश है और यहाँ काले हिरन स्वाभाविक रूप में पाये जाते हैं। याज्ञवल्क्य (१।१५) की व्याख्या में विश्वरूप ने भी म्लेच्छ भाषा की भर्त्सना की है। यही बात वसिष्ठ-धर्म० (६।४१) में भी पायी जाती है। मनु (१०।४३-४४) को ज्ञात था कि पुण्ड्रक, यवन, शक म्लेच्छ भाषा बोलते और आर्य भाषा भी जानते हैं (म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः)। पराशर (९।३६) में गोमांस खाने वाले को म्लेच्छ कहा गया है। जैमिनि ने **पिक** (कोकिल), **नेम** (आधा), **सत** (काठ का बरतन), **तामरस** (लाल कमल) शब्दों के विषय में प्रश्न किया है कि क्या ये शब्द व्याकरण, निरुक्त एवं निघण्टु द्वारा समझाये जा सकते हैं या इन्हें वैसा ही समझा जाय जिस अर्थ में म्लेच्छ लोग अपनी बोली में प्रयुक्त करते हैं? उन्होंने स्वयं अन्त में निष्कर्ष निकाला है कि उनका वही अर्थ है जो म्लेच्छों द्वारा समझा जाता है (शबर, जैमिनि १।३।१० पर)। पाणिनि ने 'यवनानी' शब्द की व्युत्पत्ति की है और पतञ्जलि ने यवन द्वारा 'साकेत' एवं 'माध्यमिका' के अवरोध की भी चर्चा की है। कुछ ऐतिहासिकों ने इस यवन को मेनाण्डर माना है।[७९] अशोक के शिलालेख में 'योन', रुद्रदामन के लेख में अशोक का प्रान्तपति 'यवनराज' तुषास्फ, प्राकृत अभिलेखों का 'यवन', हाथीगुम्फा का 'यवन', महाभारत का 'यवन' आदि शब्द यह बताते हैं कि यवनों का भारत से सम्बन्ध था और वे अभारतीय थे। द्रोणपर्व (११९।४५-४६) में आया है कि सात्यकि के विरुद्ध यवन, कम्बोज, शक, शबर, किरात एवं बर्बर लोग लड़ रहे थे। द्रोणपर्व (११९-४७–४८) में वे दस्यु तथा लम्बी-लम्बी दाढ़ियों वाले कहे गये हैं। जयद्रथ के अन्तःपुर में कम्बोज एवं यवन स्त्रियाँ थीं। और भी देखिए, शान्तिपर्व (६५।१७-२८), अत्रि (७।२) एवं वृद्ध-याज्ञवल्क्य (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० ९२३)।

व्रात्यस्तोम

ताण्ड्य-महाब्राह्मण (या पंचविंश) ने चार व्रात्यस्तोमों की चर्चा की है (१७।१-४) जो एकाह (एक दिन वाले यज्ञ) कहे जाते हैं। ताण्ड्य (१७।१।१) ने गाथा कही है कि जब देव स्वर्गलोक चले गये तो उनके कुछ आश्रित, जो व्रात्य जीवन व्यतीत करते थे, यहीं रह गये। देवताओं की कृपा से उनके आश्रित लोगों ने मरुतों से षोडशस्तोम

७९. मेनाण्डर के विषय में देखिए प्राध्यापक अर्जुन चौबे काश्यप कृत 'आदि भारत' नामक ग्रन्थ (पृ० २७६-७८)।

(१६ स्तोत्र) एवं अनुष्टुप् छन्द प्राप्त किये और तब वे स्वर्ग गये। चारों व्रात्यस्तोमों में षोडशस्तोम प्रयुक्त होता है। प्रथम व्रात्यस्तोम सभी प्रकार के व्रात्यों के लिए है, द्वितीय उनके लिए जो अभिशस्त (दुष्ट या महापापी) हैं और व्रात्य जीवन व्यतीत करते हैं, तृतीय उनके लिए जो अवस्था में छोटे एवं व्रात्य जीवन में संलग्न हैं तथा चौथा उनके लिए जो बूढ़े हैं, किन्तु व्रात्य जीवन व्यतीत करते हैं। जो व्रात्य जीवन व्यतीत करते हैं वे दुष्ट प्रकृति के एवं हीन होते हैं, वे न तो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और न कृषि या व्यापार करते हैं। ऐसे लोग केवल षोडशस्तोम द्वारा ही उच्च स्थान पा सकते हैं (ताण्ड्य० १७।१।२)।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि व्रात्य लोग न तो उपनयन करते थे, न वेदाध्ययन करते थे और न वैश्यों की भाँति जीवन-यापन करते थे। व्रात्य लोगों की अन्य विशेषताओं के बारे में देखिए ताण्ड्य-महाब्राह्मण (१७।१।९)। वे आर्य समाज के बाहर थे, किन्तु व्रात्यस्तोम द्वारा परिशुद्ध होकर आर्य श्रेणी में आ सकते थे। 'व्रात्य' शब्द का मूल अर्थ निकालना दुष्कर है। अथर्ववेद का १५वाँ खण्ड व्रात्य की महिमा (स्तुति) गाता है और उसे विधाता या परमात्मा के समकक्ष में लाता है। सम्भवतः यह शब्द 'व्रात' (दल) से लिया गया है, और इसका सम्भवतः यह अर्थ है—"वह जो किसी दल का है या किसी दल में विचरण करता है।" इस शब्द को 'व्रत' से भी सिद्ध किया जा सकता है। 'व्रात' शब्द ऋग्वेद (१।१६३।८, ३।२६।६, ५।५३।११) में मिलता है। कात्यायनश्रौत० (२२।४।१-२८) एवं आपस्तम्ब श्रौत० (२२।५।४-१४) ने भी व्रात्यस्तोम की चर्चा की है। कात्यायन के अनुसार व्रात्यस्तोम करने से व्रात्य लोग आर्य समाज में सम्मिलित होने योग्य हो जाते हैं।

व्रात्यता-शुद्धिसंग्रह (पृ० २३) में आया है कि बारह पीढ़ियों के उपरान्त भी व्रात्य लोग पवित्र किये जा सकते हैं।

जाति-प्रवेश या शुद्धि

हिन्दू धर्म में धर्म-परिवर्तन या अन्य धर्म-ग्रहण की बात नहीं-कुछ-जैसी पायी गयी है। सिद्धान्ततः यह सम्भव भी नहीं था। बाहरी लोग (अनार्य) वर्णाश्रम धर्म में नहीं लिये जा सकते थे। यदि कोई व्यक्ति कोई महान् अपराध करे और स्मृतियों द्वारा निर्मित प्रायश्चित्त न करे तो वह अपनी जाति से च्युत समझा जाता था और हिन्दू-धर्म से बहिष्कृत हो जाता था। गौतम (२०।१५) के अनुसार भयानक अपराध करने पर यदि प्रायश्चित्त का रूप मर जाना ही हो, तो मरकर ही वह अपराधी शुद्ध हो सकता है। ब्राह्मण-हत्या, सुरापान एवं व्यभिचार (मातृगमन) आदि नामक अपराधों का उपाय मृत्यु-दण्ड ही था। किन्तु मनु (११।७२, ९२, १०८) ने इन तीन अपराधों के लिए अपेक्षाकृत हलके दण्ड की व्यवस्था की है। मनु (११।१८६-१८७), याज्ञवल्क्य (३।२९५), वसिष्ठ० (१५।२), गौतम (२०।१०-१४) आदि ने लिखा है कि यदि पापी शास्त्रविहित प्रायश्चित्त कर ले तो उसे नियमानुकूल अपने वर्ग, जाति या दल में सम्मिलित कर लेना चाहिए (पतितानां तु चरितव्रतानां प्रत्युद्धारः)। यदि पापी प्रायश्चित्त नहीं करना चाहता था तो 'घटस्फोट' नामक एक विचित्र कृत्य किया जाता था, जिसमें दासी द्वारा दक्षिणाभिमुख हो एक घड़े के जल को गिरवाया जाता था तथा सपिण्ड (अपने सम्बन्धी) लोगों द्वारा एक दिन एवं रात सूतक मनाया जाता था; इस प्रकार वह पापी मृतक समझ लिया जाता था और उसके उपरान्त उसके पूरे साहचर्य-सम्बन्ध से विच्छेद हो जाता था, अर्थात् वह पापी 'अजात', 'अशुद्ध' एवं बहिष्कृत समझ लिया जाता था (देखिए मनु ११।१८३-१८५, याज्ञ० ३।२९४, गौतम २०।२-७)। इस प्रकार हठी या जिद्दी व्यक्ति हिन्दू-समाज से बहिष्कृत हो जाता था।

प्राचीन स्मृतियों में इसकी चर्चा नहीं देखने में आती कि बाहरी समाज या धर्म का व्यक्ति हिन्दू समाज या धर्म में किस प्रकार सम्मिलित हो सकता था। प्राचीन स्मृतियों में इतर जाति या धर्म के लोगों को हिन्दू बनाने के विषय में

हमें कोई विधान नहीं मिलता। हिन्दू धर्म अति उदार एवं सहिष्णु रहा है,[८०] इसमें शान्तिपूर्ण एवं बेरोक-टोक ढंग से घुलना-मिलना होता रहा है। यदि कोई इतर जाति का विदेशी भारत में रहकर अपने बाह्य व्यवहार द्वारा भारतीय समाज के नियमों को मानता जाता था, तो कालान्तर में उसके वंशज वैसा ही करने पर क्रमशः हिन्दू समाज में आत्मसात् हो जाते थे। यह क्रिया एवं गति लगभग २००० वर्षों तक चलती रही है। ऐसी बातों की प्रारम्भिक गाथाएँ महाभारत में भी मिल जाती हैं। इन्द्र ने सम्राट् मान्धाता से सभी यवनों को ब्राह्मणवाद के प्रभाव में लाने को कहा है (शान्तिपर्व, अध्याय ६५)। बेसनगर के स्तम्भाभिलेख से पता चलता है कि योन (यवन) हेलियोदोर (हेलियोडोरस), जो दिय (डियॉन) का पुत्र था, भागवत (वासुदेव का भक्त) था (जे० आर० ए० एस० १९०९, पृ० १०५३ एवं १०८७ एवं जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग २३, पृ० १०४)। नासिक, कार्ले एवं अन्य स्थानों की गुफाओं के निर्माता यवन थे (एपि० इण्डि०, भाग ७, पृ० ५३–५५; वही, भाग ८, पृ० ९०, वही भाग १८, पृ० ३२५) बहुत से अभिलेखों से पता चलता है कि भारतीय राजाओं ने हूण कुमारियों से विवाह किये, यथा गुहिल वंश के अल्लट ने हूण कुमारी हरिय देवी (इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग ३९, पृ० १९१) से। कलचुरि वंश का राजा यशःकर्णदेव कर्णदेव एवं हूणकुमारी अवल्लदेवी की सन्तान था। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कालान्तर में यहाँ विदेशियों की 'खपत' होती चली गयी। अनार्य लोग क्रमशः आर्य होते चले गये।

स्मृतियों ने बलपूर्वक अन्य धर्म में ले लिये गये हिन्दुओं के स्वजाति में पुनः प्रवेश की समस्या पर विचार किया है। सिन्ध की दिशा से मुसलमानों ने आठवीं शताब्दी में भारत पर आक्रमण करके बहुत-से हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना लिया। देवल तथा अन्य स्मृतिकारों ने इन लोगों को पुनः हिन्दू समाज में ले लेने की बात चलायी। सिन्धु-तीर पर बैठे हुए देवल से ऋषि लोग पूछते हैं—"उन ब्राह्मणों एवं अन्य लोगों को, जिन्हें म्लेच्छों (मुसलमानों) ने बलवश अपने धर्म में खींच लिया है, हम किस प्रकार शुद्ध करें एवं जाति में पुनः लायें?" देवल ने विधान बनाया। चान्द्रायण एवं पराक व्रत से ब्राह्मण, पराक एवं पादकृच्छ्र से क्षत्रिय, पराक के आधे से वैश्य एवं पाँच दिनों के पराक से

८०. प्राचीन भारत में राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता अपने ढंग की रही है। पालवंश के राजा महीपाल प्रथम ने भगवान् बुद्ध के सम्मान में वाजसनेयीशाखा के एक ब्राह्मण को एक ग्राम दान में दिया था (एपिग्रैफिका इण्डिका, भाग १४, पृ० ३२४)। परमसौगत (बुद्ध भगवान् के भक्त) शुभकर्ण देव ने २०० ब्राह्मणों को दो सौ ग्राम दान में दिये (नेयुलूर अवदान, एपिग्रैफिया इण्डिया, भाग १५, पृ० १); और देखिए एपि० इण्डि० भाग १५, पृ० २९३। प्रसिद्ध सम्राट् हर्ष, जिसका पिता सूर्य का भक्त और जो स्वयं शिव का भक्त था, अपने परम सौगत भाई राज्यवर्धन के प्रति असीम आदर प्रकट करता है (देखिए मधुवन ताम्रपत्र अभिलेख; इपि० इण्डि० भाग १, पृ० ६७ एवं वही, भाग ७, पृ० १५५)। उषवदात ने ब्राह्मणों एवं बौद्धों के संघों को दान दिये थे (नासिक अभिलेख नं० १० एवं १२, एपि० इ०, भाग ८, पृ० ७८ एवं ८२)। वलभीराज गुहसेन ने, जो माहेश्वर (शिवभक्त) था, एक भिक्षु-संघ को चार ग्राम दान दिये थे। गुप्त संवत् १५९ (४७८-७९ ई०) के पहाड़पुर पत्र से पता चलता है कि एक विहार के अर्हतों की पूजा के प्रबन्ध के लिए एक ब्राह्मण एवं उसकी पत्नी ने नगर-निगम में तीन दीनार जमा किये थे (एपि० इण्डि०, भाग २०, पृ० ५९)। राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय (९०२-३ ई०) के समय के मूलगुण्ड अभिलेख से पता चलता है कि बल्लाल कुल के एक ब्राह्मण ने जिन के एक मन्दिर के लिए एक खेत दान में दिया था (एपि० इण्डि०, भाग १३, पृ० १९०)। सन् १३६८ ई० में विजयनगर के राजा ने जैनों एवं श्रीवैष्णवों के झगड़े को तय किया था (देखिए मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम इंस्क्रिप्शन्स, पृ० ११३ एवं २०७)।

शूद्र पवित्र हो सकता है। देवल के १७ से २२ तक श्लोक बड़े महत्व के हैं—"जब लोग म्लेच्छों, चाण्डालों एवं दस्युओं (डाकुओं) द्वारा बलवश दास बना लिये जायँ और उनसे गन्दे काम कराये जायँ, यथा गो-हत्या तथा अन्य पशु-हनन, म्लेच्छों द्वारा छोड़े हुए जूठे को स्वच्छ करना, उनका जूठा खाना, गदहा-ऊँट एवं ग्रामशूकर का मांस खाना, म्लेच्छों की स्त्रियों से सम्भोग करना, या उन स्त्रियों के साथ भोजन करना आदि, तब एक मास तक इस दशा में रहनेवाले द्विजाति के लिए प्रायश्चित्त केवल प्राजापत्य है; वैदिक अग्नि में हवन करनेवालों के लिए (यदि वे एक मास या कुछ कम तक इस प्रकार रहें तो) चान्द्रायण या पराक; एक वर्ष रह जानेवाले के लिए चान्द्रायण एवं पराक दोनों; एक मास तक रह जानेवाले शूद्र के लिए कृच्छ्रपाद, एक वर्ष तक रह जानेवाले शूद्र के लिए यावक-पान (का विधान है)। यदि उपर्युक्त स्थितियों में म्लेच्छों के साथ एक वर्ष का वास हो जाय तो विद्वान् ब्राह्मण ही निर्णय दे सकते हैं। चार वर्ष तक उसी प्रकार रह जाने के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है।"[८१] प्रायश्चित्तविवेक (पृ० ४५६) के अनुसार चार वर्ष बीत जाने पर मृत्यु ही पवित्र कर सकती है। देवल के तीन श्लोक (५३-५५) अवलोकनीय हैं—"जो व्यक्ति म्लेच्छों द्वारा पाँच, छः या सात वर्षों तक पकड़ा रह गया हो या दस से बारह वर्ष तक उनके साथ रह गया हो, वह दो प्राजापत्यों द्वारा शुद्ध किया जा सकता है। इसके आगे कोई प्रायश्चित्त नहीं है। ये प्रायश्चित्त केवल म्लेच्छों के साथ रहने के कारण ही किये जाते हैं। जो पाँच से बीस वर्ष तक साथ रह गया हो उसे दो चान्द्रायणों से शुद्धि मिल सकती है।" ये तीन श्लोक ऊपर के १७ से २२ वाले श्लोकों से मेल नहीं खाते। किन्तु पाठकों को अनुमान से सोच लेना होगा कि दूसरी बात उन लोगों के लिए कही गयी है, जो केवल म्लेच्छों के साथ रहते थे, किन्तु वर्जित व्यवहार, आचार-विचार, खान-पान में म्लेच्छों से अलग रहते थे। इस विषय में देखिए पञ्चदशी (तृप्तिदीप, २३९)—'जिस प्रकार म्लेच्छों द्वारा पकड़ा गया ब्राह्मण प्रायश्चित्त करने के उपरान्त म्लेच्छ नहीं रह जाता, उसी प्रकार बुद्धियुक्त आत्मा भौतिक पदार्थों एवं शरीर द्वारा अपवित्र नहीं होता।'[८२] इससे प्रकट होता है कि शंकराचार्य के उपरान्त अति महिमा वाले आचार्य विद्यारण्य की दृष्टि में म्लेच्छों द्वारा बन्दी किया गया ब्राह्मण अपनी पूर्व स्थिति में लाया जा सकता है।

शिवाजी तथा पेशवाओं के काल में बहुत-से हिन्दू जो बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये थे, प्रायश्चित्त कराकर पुनः हिन्दू जाति में ले लिये गये। किन्तु ऐसा बहुत कम होता रहा है।

आधुनिक काल में हिन्दुओं में शुद्धि एवं पतितपरावर्तन के आन्दोलन चले, और 'आर्यसमाज' को इस विषय में पर्याप्त सफलता भी मिली, किन्तु अधिकांश कट्टर हिन्दू इस आन्दोलन के पक्ष में नहीं रहे। इतर धर्मावलम्बियों में से बहुत थोड़े ही हिन्दू धर्म में दीक्षित हो सके। इस प्रकार की दीक्षा के लिए व्रात्यस्तोम तथा अन्य क्रियाएँ आवश्यक

८१. बलाद्दासीकृता ये च म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः। अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम्॥ उच्छिष्टमार्जनं चैव तथा तस्यैव भोजनम्। खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम्॥ तत्स्त्रीणां च तथा संगं ताभिश्च सहभोजनम्। मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम्॥ चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवा भवेत्। चान्द्रायणं पराकं च चरेत्संवत्सरोषितः॥ संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत्। मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुध्यति॥ ऊर्ध्वं संवत्सरात्कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः। संवत्सरैश्चतुर्भिश्च तद्भावमधिगच्छति॥ देवल १७-२२। याज्ञवल्क्य (३।२९०) की व्याख्या में मिताक्षरा ने तथा अपरार्क ने इन छः श्लोकों को उद्धृत किया है और कहा है कि ये आपस्तम्ब के हैं। शूलपाणि के प्रायश्चित्तविवेक में ये श्लोक देवल के कहे गये हैं।

८२. गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः। म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथाभासः शरीरकैः॥ पंचदशी (तृप्तिदीप, २३५)।

हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि देवलस्मृति तथा निबन्धकारों ने उन लोगों की परिशुद्धि की बात चला दी है, जो कभी हिन्दू थे, किन्तु दुर्भाग्य के चक्र में पड़कर म्लेच्छों के चंगुल में अपना प्रिय धर्म खो बैठे थे।

पुनः उपनयन

कुछ दशाओं में पुनः उपनयन की व्यवस्था की गयी है, यथा जब कोई अपने कुल के वेद (जैसे ऋग्वेद) का अध्ययन कर लेता है, और दूसरे वेद (जैसे यजुर्वेद) का अध्ययन करना चाहता है तो उसे पुनः उपनयन करना पड़ेगा। आश्वलायनगृह्य० (१।२२।२२-२६) के अनुसार पुनरुपनयन में चौलकर्म एवं मेधाजनन नहीं भी किये जा सकते, परिदान (देवताओं को समर्पण) एवं समय की कोई निश्चित विधि नहीं है; कभी भी पुनरुपनयन किया जा सकता है। गायत्री के स्थान पर केवल "तत्सवितुर्वृणीमहे०" (ऋग्वेद ५।८२।१) कहा जाना चाहिए। इस विषय पर कुछ विभिन्न मत भी हैं, जिन्हें स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा रहा है। पुनरुपनयन के कई प्रकार हैं। एक प्रकार का वर्णन ऊपर हो चुका। दूसरा प्रकार वह है जो कुछ कारणों से आवश्यक मान लिया जाता है, यथा पहले उपनयन में भ्रम से तिथि त्रुटिपूर्ण हो गयी, उस दिन अनध्याय था, तथा मूल से कुछ बातें छूट गयीं। ऐसी स्थिति में दूसरी बार उपनयन कर देना आवश्यक माना गया है। तीसरा उपनयन वह है जो किसी भयानक पाप या त्रुटि को दूर करने या प्रायश्चित्त के लिए किया जाता है। गौतम (२३।२-५) ने तप्तकृच्छ्र एवं पुनरुपनयन की व्यवस्था ऐसे लोगों के लिए की है जो सुरापान के अपराधी हैं, जिन्होंने त्रुटि से मानव-मूत्र, मल, वीर्य, जंगली पशुओं, ऊँटों, गदहों, ग्राम के मुरगों तथा ग्राम-शूकरों का मांस सेवन कर लिया हो (देखिए वसिष्ठ २३।३०, बौधायनधर्म० २।१।२५ एवं २९, मनु० ५।९१, विष्णुधर्म० २२।८६ आदि)। कहीं-कहीं विदेश गमन पर भी पुनरुपनयन की व्यवस्था पायी जाती है (बौ० गृ० परिभाषा सूत्र १।१२।५-६)। वैखानस स्मृति (६।९-१०) में तथा पैठीनसि में भी पुनरुपनयन की व्यवस्था है। यदि कोई प्रौढ (बड़ी अवस्था का व्यक्ति) भेड़, गदही, ऊँटनी या नारी का दूध पी ले तो उसे पुनरुपनयन करना पड़ता था। कभी-कभी इसके साथ प्राजापत्य प्रायश्चित्त भी करना पड़ता था।

अनध्याय (वेदाध्ययन की छुट्टी या बन्दी)

कई परिस्थितियों में वेदाध्ययन बन्द कर दिया जाता था। तैत्तिरीयारण्यक (२।१५) में अध्ययनकर्ता एवं स्थान की अपवित्रता को अनध्याय का कारण बताया गया है। शतपथब्राह्मण (११।५।६।९) ने बहुत-सी उन स्थितियों का वर्णन किया है जिनमें अनध्याय होता है, किन्तु पढ़े हुए पाठों का दुहराया जाना होता रहता है। अन्धड़, बिजली की चमक, मेघगर्जन एवं वज्रपात के समय भी ब्रह्मयज्ञ होता रहना चाहिए, जिससे कि "वषट्कार" व्यर्थ न जाय। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१२।३) ने शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण द्वारा बताया है कि वेदाध्ययन को ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है, जब मेघगर्जन होता है, बिजली चमकती है, वज्रपात होता है, जब अन्धड़-तूफान चलता है तो ये सब उसके वषट्कार कहे जाते हैं।[८३] ऐतरेयारण्यक (५।३।३) के अनुसार जब वर्षा ऋतु के न रहने पर वर्षा हो तो तीन रात्रियों तक वेदाध्ययन बन्द कर देना चाहिए।

८३. 'वषट्' या 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण देवता के लिए आहुति देते समय किया जाता है। घन-गर्जन एवं विद्युत् ब्रह्मयज्ञ के वषट्कार कहे जाते हैं। जिस प्रकार 'वषट्' शब्द के उच्चारण के साथ आहुति दी जाती है, उसी प्रकार घन-गर्जन के साथ ब्रह्मयज्ञ के रूप में किसी-न-किसी वैदिक मन्त्र का पाठ करते रहना चाहिए।

अनध्याय की चर्चा गृह्य एवं धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में पर्याप्त रूप से हुई है। आपस्तम्बधर्म० (१।३।९।४ से १।३।९।११ तक), गौतम० (१६।५।४९), शांखायनगृह्य० (४।७), मनु (४।१०२-१२८) एवं याज्ञवल्क्य (१। १४४-१५१) में अनध्याय का वर्णन विस्तार के साथ पाया जाता है। स्मृतिचन्द्रिका, स्मृत्यर्थसार, संस्कारकौस्तुभ, संस्कार-रत्नमाला तथा अन्य निबन्धों में भी अनध्याय का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

तिथियों में पहली, आठवीं, चौदहवीं, पन्द्रहवीं (पौर्णमासी एवं अमावस्या) तिथियों में दिन भर वेदाध्ययन बन्द रखा जाता था (देखिए मनु ४।११३-११४, याज्ञ० १।१४६, हारीत)। प्रतिपदा को स्पष्ट रूप से मनु एवं याज्ञवल्क्य ने अनध्याय का दिन नहीं कहा है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में अमावस्या एवं चतुर्दशी को अनध्याय का दिन कहा है। रामायण (सुन्दरकाण्ड ५९।३२) ने प्रतिपदा को अनध्याय के दिनों में गिना है। गौतम ने केवल आषाढ़, कार्तिक एवं फाल्गुन की पौर्णमासियों में ही अनध्याय की बात कही है, अन्य पौर्णमासियों में पढ़ने को कहा है। बौधायन-धर्मसूत्र (१।११।४२-४३) में आया है कि अष्टमी तिथि में अध्ययन करने से गुरु, चतुर्दशी से शिष्य एवं पन्द्रहवीं से विद्या का नाश होता है। ऐसी ही बात मनु (४।११४) में भी पायी जाती है। अपरार्क ने नृसिंहपुराण के उद्धरण से बताया है कि महानवमी (शुक्लपक्ष के आश्विन की नवमी), भरणी (भाद्रपद की पौर्णमासी के उपरान्त जब चन्द्र भरणी नक्षत्र में रहता है), अक्षयतृतीया (वैशाख के शुक्लपक्ष की तृतीया) एवं रथसप्तमी (माघ के शुक्लपक्ष की सप्तमी) में वेदाध्ययन नहीं होता। इसी प्रकार युगादि एवं मन्वन्तरादि तिथियों में भी अनध्याय होता है। विष्णुपुराण (३।१४। १३) के अनुसार वैशाख शुक्ल तृतीया, कार्तिक शुक्ल नवमी, भाद्रपद कृष्ण त्रयोदशी एवं माघपूर्णिमा (ये क्रम से कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि नामक चार युगों के आरम्भ की सूचिका तिथियां हैं) नामक तिथियाँ युगादि तिथियाँ कही जाती हैं। आश्विन शुक्ल नवमी, कार्तिक शुक्ल द्वादशी, चैत्रमास की तृतीया, भाद्रपद की तृतीया, फाल्गुन की अमावस्या, पौष शुक्ल की एकादशी, आषाढ़ की दशमी, माघ की सप्तमी, श्रावण कृष्ण की अष्टमी, आषाढ़ की पूर्णिमा, कार्तिक, फाल्गुन, चैत्र एवं ज्येष्ठ शुक्ल की पंचदशी नामक चौदह तिथियाँ मन्वादि तिथियाँ कही जाती हैं (मत्स्यपुराण १७।६-८)। ज्येष्ठ शुक्ल २, आश्विन शुक्ल १०, माघ शुक्ल ४ एवं १२ की तिथियों को सोमपाद तिथियाँ कहते हैं और इन दिनों अनध्याय माना जाता है।

याज्ञवल्क्य (१।१४८-१५१) ने ३७ तत्कालीन अनध्यायों की चर्चा की है। ये अनध्याय थोड़े समय के लिए माने गये हैं, यथा कुत्ता भूँकने या सियार, गदहा एवं उल्लू के बोलते रहने पर, साम-गान के समय, बाँसुरी-वादन या आर्त-नाद पर, किसी अपवित्र वस्तु के सन्निकट होने पर, शव, शूद्र, अन्त्यज (अछूत), कब्र, पतित (महापातकी), घन-गर्जन, बिजली की लगातार चमक होने पर, भोजनोपरान्त गीले हाथों के कारण, जल में, अर्धरात्रि में, अन्धड़-तूफान में, धूलि-वर्षण में, दिशाओं के अचानक उद्दीप्त हो जाने पर, दोनों सन्ध्याओं में (प्रातः एवं सायं की संधियों में), कुहरे में, भय उत्पन्न हो जाने पर (डाकू या चोर आने पर), दौड़ते समय, दुर्गन्धि उत्पन्न हो जाने पर, किसी भद्र अतिथि के आगमन पर, गदहे, ऊँट, रथ, हाथी, घोड़ा, नाव, पेड़ पर बैठ जाने पर या रेगिस्तान में (निर्जन स्थान में) अनध्याय होता है।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी अनध्याय सम्बन्धी विस्तार पाया जाता है। कभी-कभी यह थोड़े समय के लिए और कभी-कभी पूरे दिन या पूरी रात के लिए होता है। ग्रहण, उल्कापात, भूकम्प आदि प्रकृति-विपर्ययों में भी अन-ध्याय की बात कही गयी है। श्राद्ध में भोजन कर लेने के उपरान्त, श्राद्ध-दान ले लेने पर, गुरु एवं शिष्य के बीच पशु, मेढक, नेवला, कुत्ता, सर्प, बिल्ली या चूहा आ जाने पर वेदाध्ययन बन्द कर दिया जाता है। मनु (४।११०) के अनु-सार एकोद्दिष्ट श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार कर लेने पर, राजा की मृत्यु पर या ग्रहण पर (जब सूर्य-चन्द्र के डूब जाने पर भी ग्रहण लगा रहे) तीन दिनों का अनध्याय होता है। इसी प्रकार अनध्याय के सम्बन्ध में बहुत लम्बा-चौड़ा विस्तार पाया जाता है।

कुछ अनध्याय-कालों को 'आकालिक' कहा जाता है। आकालिक अनध्याय ६० घटिकाओं का अर्थात् पूरे २४ घंटे का होता है (देखिए, आपस्तम्बधर्मसूत्र १।३।११।२५-२६, मनु ४।१०३-१०५, गौतम ४।११८ आदि)।

बिजली की चमक, वज्रपात, वर्षा आदि साथ हों तो तीन दिनों तक अनध्याय होता है (आपस्तम्बधर्म० १।३। ११।२३)। वेदों के उत्सर्जन, उपाकरण पर, गुरुजनों की (श्वशुर आदि जैसे लोगों की) मृत्यु पर, अष्टका (एक प्रकार के होम) पर तथा भाई, भतीजे आदि की मृत्यु पर तीन दिनों का अनध्याय होता है। इसी प्रकार हारीत के भी वचन हैं, जिनमें थोड़ा अन्तर पाया जाता है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।३।१०।४) ने माता-पिता एवं आचार्य की मृत्यु पर १२ दिनों का अनध्याय कहा है। किन्तु बौधायन ने पिता की मृत्यु पर तीन दिनों के अनध्याय की बात कही है।

स्मृतिचन्द्रिका ने कुछ ऐसे अवसरों की भी चर्चा की है जब कि एक मास, छः मास या साल भर तक अनध्याय चलता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।३।९।१) ने उपाकर्म के उपरान्त (जब कि वह श्रावण की पूर्णिमा के दिन किया जाय) एक मास तक रात्रि के प्रथम पहर में वेदाध्ययन करने को मना किया है।

श्लेष्मातक, शाल्मलि, मधूक, कोविदार एवं कपित्थक नामक पेड़ों के नीचे पढ़ना मना है (अपरार्क, पृ० १९२)।

उपर्युक्त विवेचन से अनध्याय पर प्रकाश तो पड़ता है, किन्तु वेदाध्ययन पर धक्का लगता है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। अतः अनध्याय सम्बन्धी कुछ नियम भी हैं, जिन्हें हम संक्षेप में नीचे दे रहे हैं।

अनध्याय वाचिक (वैदिक शब्दों का उच्चारण) एवं मानस (मन में वेद का समझना) हो सकता है। यह पहली बात है, जिसे हमें स्मरण रखना चाहिए। विशिष्ट कालों में वाचिक एवं मानस अनध्याय की व्यवस्था की गयी है (बौधायनधर्मसूत्र १।११।४०-४१; गौतम १६।४६; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।३।११।२०)।

आपस्तम्बश्रौतसूत्र (२४।१।३७) के अनुसार अनध्याय के नियम वैदिक मन्त्रों से ही सम्बन्धित हैं। जैमिनि (१२।३।१८-१९) तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१२।९) में भी यही बात कुछ अन्तरों के साथ पायी जाती है। इनके अनुसार यज्ञ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों में अनध्याय के नियम लागू नहीं होते। हमने पहले ही देख लिया है कि अनध्याय के नियम ब्रह्मयज्ञ (पहले पढ़े हुए वैदिक मन्त्रों का दुहराना या पाठ) के लिए लागू नहीं होते (तैत्तिरीय आरण्यक २।१५)। मनु (२।१०५) के अनुसार अनध्याय का व्याकरण, निरुक्त नामक अंगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। होम, जप, काम्य क्रियाओं, यज्ञ, पारायण (पढ़े हुए वैदिक मन्त्रों के पुनःपाठ) से अनध्याय कोई सम्बन्ध नहीं रखता। वास्तव में प्रथम वेदाध्ययन (वैदिक मन्त्रों के अध्ययन) एवं वेदाध्यापन से ही अनध्याय के नियम सम्बन्ध रखते हैं। स्मृत्यर्थसार (पृ० १०) के अनुसार जिनकी स्मृति दुर्बल होती है, या जिन्हें बहुत बड़ा वैदिक साहित्य स्मरण करना होता है, उन्हें प्रथमा, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस को छोड़कर अन्य अनध्याय के दिनों में वेदांगों, न्याय, मीमांसा एवं धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते रहना चाहिए। कूर्मपुराण (१४।८२-८३, उत्तरार्ध) के अनुसार वेदांगों, इतिहास, पुराणों, धर्मशास्त्रों एवं अन्य शास्त्रों के अध्ययन के लिए कोई अनध्याय नहीं होता, किन्तु पर्व के दिन इनका भी अध्ययन मना हो जाता है। स्पष्ट है, पर्वों के दिन वेदाध्ययन तथा अन्य प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन बन्द हो जाया करता था। इस प्रकार के अनध्याय नित्य नाम से तथा अन्य नैमित्तिक अनध्याय के नाम से पुकारे जाते हैं। आजकल भी वैदिक तथा संस्कृत पाठशालाओं के पण्डितों द्वारा नित्य अनध्याय माने जाते हैं, विशेषतः अमावस्या-पूर्णिमा अनध्याय की सूचक हैं।

अनध्याय के कुछ अवसर विचित्र एवं अनावश्यक-से लगते हैं, किन्तु कुछ के कारण तो तर्कसंगत एवं समझे जाने योग्य सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वैदिक अध्ययन स्मृति पर निर्भर है। वैदिक मन्त्रों को स्मरण करना मनोयोग से ही सम्भव है। अतः मन को चंचल कर देने वाले अवसरों में वेदाध्ययन के अनध्याय की चर्चा की गयी है। किन्तु स्मृति-

... में रखे हुए ज्ञान के दुहराने में तथा होम, जप आदि में उनके प्रयोग में उतने मनोयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती, ... ऐसे अवसरों पर अनध्याय को आवश्यक नहीं समझा गया।

ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि कोई व्यक्ति अनध्याय के दिनों में वेदाध्ययन करता है तो उसकी आयु छोटी हो जाती है, उसकी सन्तानों, पशुओं, बुद्धि एवं ज्ञान की हानि होती है।

केशान्त या गोदान

इस संस्कार में सिर के तथा शरीर के अन्य भाग (काँख, दाढ़ी) के केश बनाये जाते हैं। पारस्करगृह्य०, याज्ञवल्क्य (१।३६) एवं मनु (२।६५) ने केशान्त शब्द का तथा आश्वलायनगृह्य०, शांखायनगृह्य०, गोभिल एवं अन्य गृह्यसूत्रों ने गोदान शब्द का प्रयोग किया है। शतपथब्राह्मण (३।१।२।४) में दीक्षा के विषय की चर्चा होते समय कान के ऊपर सिर के एक भाग के बाल बनाने को 'गोदान' कहा गया है। अधिकांश स्मृतिकारों ने इस संस्कार को सोलहवें वर्ष में करने को कहा है। शांखायनगृह्यसूत्र (१।२८।२०) के अनुसार इसे १६वें या १८वें वर्ष में करना चाहिए। मनु *(२।६५) के अनुसार यह ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए* क्रमशः १६वें, २२वें या २४वें वर्ष में सम्पादित होना चाहिए। लघु आश्वलायनस्मृति (१४।१) के अनुसार गोदान १६वें वर्ष में होना चाहिए और वह भी विवाह के समय। सम्भवतः यह अन्तिम मत भवभूति के मन में भी था जब कि उन्होंने सीता के मुख से यह कहलवाया कि राम तथा उनके तीन भाइयों का गोदान-संस्कार विवाह के कुछ ही देर पूर्व किया गया था (उत्तररामचरित, अंक १)। यह एक विचित्र बात है कि कौशिकसूत्र (५४।१५) ने गोदान को चूड़ाकर्म के पूर्व तथा टीकाकार केशव ने जन्म के एक या दो वर्ष उपरान्त करने को कहा है।

कब से १६वाँ वर्ष या कोई भी वर्ष गिना जाना चाहिए? इस विषय में मतभेद है। बौधायनधर्मसूत्र (१।२।७) ने गर्भाधान से ही गणना की है। इसी नियम के अनुसार मिताक्षरा (याज्ञ० १।३६) तथा कुल्लूक (मनु २।६५) ने ब्राह्मणों के लिए गर्भाधान से १६वाँ वर्ष तथा अपरार्क ने जन्म से १६वाँ वर्ष माना है। विश्वरूप (याज्ञ० १।३६) ने लिखा है कि ब्रह्मचर्य की अवधि चाहे जितनी हो (१२, २४, ३६, ४८ आदि) केशान्त १६वें वर्ष हो जाना चाहिए, यदि उपनयन १६ वर्ष के उपरान्त हो तो केशान्त संस्कार किया ही नहीं जायगा। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२२।३) के टीकाकार नारायण के अनुसार उपनयन के उपरान्त १६वें वर्ष में तथा अन्य लोगों के अनुसार जन्म से १६वें वर्ष में गोदान सम्पन्न होना चाहिए।

गोदान तथा केशान्त की विधि कुछ अन्तर के साथ चूड़ाकरण के समान ही है। हम विस्तार में नहीं पड़ेंगे। लड़कियों के गोदान में मौन रूप से ही क्रियाएँ की जाती हैं, अर्थात् मन्त्रोच्चारण नहीं होता। इस संस्कार में गुरु को गौ का दान किया जाता है। सम्भवतः इसी से गोदान शब्द प्रचलित है। यह संस्कार कालान्तर में समाप्त हो गया, क्योंकि मध्य काल के निबन्ध, यथा संस्कारप्रकाश, निर्णयसिन्धु इसकी चर्चा नहीं करते। आपस्तम्बगृह्य० (१६।१५), हिरण्यकेशिगृह्य० (६।१६), भारद्वाजगृह्य० (१।१०), बौधायनगृह्य० (३।२।५५) के अनुसार केशान्त या गोदान में शिखासहित सम्पूर्ण सिर का मुण्डन होता है, किन्तु चौल में ऐसी बात नहीं है।

स्नान या समावर्तन

वेदाध्ययन के उपरान्त का स्नान-कर्म तथा गुरुगृह से लौटते समय का संस्कार स्नान या समावर्तन कहा जाता है। कुछ सूत्रकारों, यथा गौतम (८।१६), आपस्तम्ब० (१२।१), हिरण्यकेशि० (९।१) तथा याज्ञवल्क्य (१।५१) ने 'स्नान' शब्द तथा आश्वलायनगृह्य० (३।८।१), बौधायनगृह्य० (२।६।१), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।७।१५ एवं

३१), भारद्वाजगृह्य० (२।१८) ने 'समावर्तन' शब्द का प्रयोग किया है। खादिरगृह्य० (३।१।१ तथा १।३।२-३), गोभिल (३।४।७) ने 'आप्लवन' (अर्थात् स्नान) शब्द का प्रयोग किया है। मनु (३।४) ने 'स्नान' तथा 'समावर्तन' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है—"द्विज गुरु से आज्ञापित होने पर स्नान करके घर लौट सकता है और अपने गृह्यसूत्र के नियमों के अनुसार किसी कन्या से विवाह कर सकता है।" अपरार्क ने स्नान एवं समावर्तन में अन्तर बताया है—स्नान का तात्पर्य है विद्यार्थी जीवन की परिसमाप्ति, अतः जो व्यक्ति जीवन भर ब्रह्मचारी रहना चाहता है वह यह संस्कार नहीं भी कर सकता। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ है "गुरुगृह से अपने गृह को लौट आना।" यदि कोई बालक अपने पिता से ही पढ़ता है तो शाब्दिक अर्थ में उसका समावर्तन नहीं हो सकता। मेधातिथि (मनु ३।४ पर) ने लिखा है कि समावर्तन विवाह का कोई आवश्यक अंग नहीं है, अतः जो पितृगृह में ही वेदाध्ययन करता है, वह बिना समावर्तन के ही विवाह के बन्धन में प्रवेश कर सकता है। कुछ लोगों के कथनानुसार समावर्तन विवाह का अंग है और उसमें संस्कारमय स्नान की प्रथा पायी जाती है।

आपस्तम्बगृह्य० (१२।१) "वेदमधीत्य स्नास्यन्" (वेदाध्ययन के उपरान्त स्नान-क्रिया में प्रविष्ट होते समय) नामक शब्दों के साथ इस संस्कार का वर्णन करता है। पतञ्जलि के महाभाष्य (जिल्द १, पृ० ३८४) में आया है कि व्यक्ति वेदाध्ययन के उपरान्त स्नान-कर्म करके गुरु से आज्ञा लेकर सोने के लिए खाट प्रयोग में ला सकता है।

वैदिक साहित्य में दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् (४।१०।१) में हम पढ़ते हैं कि उपकोसल कामलायन सत्यकाम जाबाल के शिष्य होकर गुरु के गृह्य अग्नि की सेवा १२ वर्षों तक करते रहे। गुरु ने अन्य शिष्यों को तो बिदा कर दिया, किन्तु उपकोसल कामलायन को रोक लिया। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् को 'समावर्तन' शब्द का ज्ञान था। शतपथब्राह्मण (११।३।३।७) का कहना है कि स्नान-कर्म के उपरान्त भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए। इसी ब्राह्मण (१२।१।१।१०) ने स्नातक एवं ब्रह्मचारी के अन्तर को समझाया है। स्नातक के विषय में और देखिए आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१४।१३), ऐतरेयारण्यक (५।३।३), आश्वलायनगृह्य० (३।९।८) आदि।

सूत्रकारों ने वेदाध्ययनोपरान्त ब्रह्मचारी के लिए स्नान-क्रिया का वर्णन किया है। अध्ययन के उपरान्त गुरु को निमन्त्रित कर उनसे दक्षिणा माँगने की प्रार्थना की जाती है और गुरु द्वारा आदेश मिल जाने पर स्नान किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि वेदाध्ययन तथा अन्य शास्त्रों के अध्ययन के उपरान्त स्नान की परिपाटी सम्पादित की जाती है तथा बिना अध्ययन समाप्त किये शिष्य को अपने गृह लौट आने की आज्ञा मिल सकती है। इस विषय में देखिए पारस्करगृह्यसूत्र (२।६)। स्नान किये हुए व्यक्ति को **स्नातक** कहा जाता है। पारस्करगृह्य० (२।५), गोभिल (३।५।२१-२२), बौधायन गृह्य परिभाषा सूत्र (१।१५), हारीत आदि ने स्नातकों को तीन कोटियों में बाँटा है, यथा **(१) विद्यास्नातक (या वेदस्नातक), (२) व्रतस्नातक** तथा **(३) विद्याव्रतस्नातक (या वेदव्रतस्नातक)**। जिसने वेदाध्ययन समाप्त कर लिया हो, किन्तु व्रत न किये हों, वह विद्यास्नातक कहलाता है; जिसने व्रत कर लिये हों किन्तु वेदाध्ययन समाप्त न किया हो, वह व्रत-स्नातक कहा जाता है, किन्तु जिसने व्रत एवं वेद दोनों की परिसमाप्ति कर ली हो, वह विद्याव्रतस्नातक कहा जाता है। इस विषय में हमें याज्ञवल्क्य (१।५१) में भी संकेत मिलता है। स्नातकों के प्रकारों के विषय में मेधातिथि (मनु ४।३१), गोभिल (३।५।२३), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।११।३०।१-५) का अवलोकन किया जा सकता है।

स्नान तथा विवाह कर लेने के बीच लम्बी अवधि पायी जा सकती है। इस अवधि में व्यक्ति स्नातक कहा जाता है। किन्तु विवाहोपरान्त व्यक्ति गृहस्थ कहलाता है (बौधायनगृह्यसूत्र १।१५।१०)।

हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (१।९।१३), बौधायनगृह्यपरिभाषा (१।१४), पारस्करगृह्यसूत्र (२।६) एवं गोभिलगृह्यसूत्र (३।४-५) में समावर्तन की विधि विस्तार से वर्णित है। हम यहाँ संक्षेप में आश्वलायनगृह्य० (३।८ एवं

९) द्वारा वर्णित विधि की चर्चा करेंगे। गुरुगेह से लौटते समय ब्रह्मचारी को ११ वस्तुएँ जुटा रखनी चाहिए, यथा—गले में लटकाने के लिए एक रत्न, कानों के लिए दो कुण्डल, एक जोड़ा परिधान, एक छाता, एक जोड़ा जूता, एक सोटा (लाठी), एक माला, शरीर पर लगाने के लिए चूर्ण (पाउडर), उबटन, अंजन, पगड़ी। ये सारी वस्तुएँ गुरु एवं अपने लिए (ब्रह्मचारी के लिए) एकत्र की जाती हैं। यदि दोनों के लिए ये वस्तुएँ एकत्र न की जा सकें, तो केवल गुरु के लिए इनका संग्रह कर लेना चाहिए। उसे किसी यज्ञ योग्य पेड़ (यथा पलाश) की उत्तर-पूर्वी दिशा से ईंधन (समिधा) प्राप्त करना चाहिए। यदि व्यक्ति भोजन, धन, वैभव का प्रेमी हो तो ईंधन शुष्क नहीं होना चाहिए, किन्तु यदि व्यक्ति आध्यात्मिक वैभव का अनुरागी हो तो उसे शुष्क ईंधन रखना चाहिए। किन्तु दोनों गुणों के प्रेमी को कुछ भाग शुष्क तथा कुछ भाग अशुष्क रखना चाहिए। ईंधन को कुछ ऊँचाई पर रखकर, ब्राह्मणों को भोजन एवं एक गाय का दान करके व्यक्ति को गोदान संस्कार की पूरी विधि सम्पादित करनी चाहिए। कुछ गरम जल में स्नान करके तथा सर्वथा नवीन दो परिधान धारण करके मन्त्रोच्चारण करना चाहिए (ऋग्वेद १।१५२।१)। आँखों में अंजन लगाना चाहिए, कानों में कुण्डल पहनने चाहिए, हाथों में उबटन लगाना चाहिए। ब्राह्मण को सर्वप्रथम मुख, तब अन्य अंगों में उबटन लगाना चाहिए, क्षत्रिय को अपने दोनों हाथों में उबटन लगाना चहिए, वैश्य को अपने पेट पर, नारी को अपने कटि-भाग पर तथा दौड़कर जीविका चलाने वाले को अपनी जाँघों में उबटन लगाना चाहिए। तब माला (स्रक्) धारण करनी चाहिए। इसके उपरान्त जूता पहनना चाहिए। तब क्रम से छाता, बाँस का डंडा (सोटा या लाठी), गले में रत्न, सिर पर पगड़ी धारण करके खड़े हो अग्नि में समिधा डालनी चाहिए और मन्त्रोच्चारण करना चाहिए (ऋग्वेद १०।१२८।१)।

बौधायनगृह्य परिभाषा (१।१४।१) के अनुसार व्रतस्नातक के लिए समावर्तन-क्रिया बिना वैदिक मन्त्रों के की जाती है। अन्य गृह्यसूत्रों में भी यही विधि पायी जाती है। किन्तु मन्त्रों में अन्तर है, हम यहाँ पर विरोधों एवं अन्तरों का विवेचन उपस्थित नहीं करेंगे।

समावर्तन संस्कार करने की तिथि के विषय में भी प्रभूत मतभेद रहा है। मध्यकालीन एवं आधुनिक लेखकों ने तिथि-सम्बन्धी बहुत लम्बा विवेचन उपस्थित कर रखा है। इस विषय में देखिए संस्कारप्रकाश (पृ० ५७६-५७८)।

स्नातकों के लिए स्मृतियों एवं निबन्धों में बहुत-से नियम पाये जाते हैं (स्नातकधर्माः)। इनमें कुछ तो ज्यों-के-त्यों गृहस्थों के लिए भी हैं। हम इनके विस्तार में नहीं पड़ेंगे। कुछ धर्म ये हैं—रात्रि में स्नान न करना, नंगे स्नान न करना, नंगे न सोना, नंगी नारी को न देखना, वर्षा में न दौड़ना, पेड़ पर न चढ़ना, कुएं में न उतरना, मय से न झिड़ना आदि (आश्वलायनगृह्य० २।९।६-७)। बहुत-से व्रत भी हैं, यथा अनध्याय के नियम, मलमूत्र-त्याग, भक्ष्याभक्ष्य, संभोग, आचमन, महायज्ञ, उपाकर्म एवं उत्सर्ग के नियमों का पालन आदि। पवित्रता के लिए प्रति दिन स्नान, चन्दन-लेप, धैर्य-धारण, आत्म-संयम, उदारता आदि में सतर्क एवं प्रवीण होना चाहिए। इसी प्रकार आचरण-सम्बन्धी अनेक नियम हैं, जिनका विस्तार स्थान-संकोच से छोड़ा जा रहा है।

मनु (११।२०३) ने आचरण-नियम के विरोध में जाने पर एक दिन के उपवास का प्रायश्चित्त बतलाया है। हरदत्त ने गौतम (९।२) की टीका में बतलाया है कि ये नियम केवल ब्राह्मण एवं क्षत्रिय स्नातकों के लिए हैं।

आधुनिक काल में समावर्तन की क्रिया उपनयन के थोड़े समय के उपरान्त, या कभी-कभी चौथे, दूसरे या उसी दिन कर दी जाती है। आजकल अधिकांश ब्राह्मण वेदाध्ययन नहीं करते, अतएव समावर्तन की क्रिया केवल दिखावटी रह गयी है।

अध्याय ८

आश्रम

गत पृष्ठों में हमने ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी कतिपय प्रश्नों पर विचार किया है। धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मचर्य चार आश्रमों में सर्वप्रथम स्थान रखता है, अतः अन्य संस्कार अर्थात् विवाह संस्कार के विवेचन के पूर्व आश्रम-सम्बन्धी विचारों के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालना परमावश्यक है।

अत्यन्त प्राचीन धर्मसूत्रों के समय में भी चारों आश्रमों की चर्चा हुई है, यद्यपि नामों एवं अनुक्रम में थोड़ा हेर-फेर अवश्य पाया जाता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।९।२१।१) के अनुसार आश्रम चार हैं, गार्हस्थ्य, गुरुगेह (आचार्य-कुल) में रहना, मुनि रूप में रहना तथा वानप्रस्थ्य (वन में रहना)। गार्हस्थ्य को सर्वप्रथम स्थान देने का कारण सम्भवतः इसकी प्रभूत महत्ता है। गौतम (३।२) ने भी चार आश्रमों के नाम लिये हैं, यथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु एवं वैखानस। वानप्रस्थ को यहाँ वैखानस क्यों कहा गया है, इसका उत्तर आगे दिया जायगा। वसिष्ठधर्मसूत्र (७।१-२) ने चार आश्रम गिनाये हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं परिव्राजक। इसी धर्मसूत्र ने अन्यत्र (११।३४) यति शब्द का प्रयोग करके चौथे आश्रम के व्यक्ति की ओर संकेत किया है। बौधायनधर्मसूत्र (२।६।१७) ने भी वसिष्ठ की भाँति चार नाम दिये हैं, किन्तु उसमें एक मनोरञ्जक सूचना यह दी गयी है कि प्रह्लाद के पुत्र असुर कपिल ने देवताओं की शत्रुता से ही यह विभाजन उत्पन्न किया जिसमें समझदार व्यक्ति को विश्वास नहीं करना चाहिए। मनु (६।८७) ने चार आश्रमों के नाम दिये हैं और अन्तिम को उन्होंने यति तथा 'संन्यास' कहा है (६।९६)। स्पष्ट है, चौथे आश्रम को कई नामों से द्योतित किया गया है, यथा परिव्राट् या परिव्राजक (जो एक स्थान पर नहीं ठहरता, स्थान-स्थान में घूमा करता है), भिक्षु (जो भिक्षा माँगकर खा लेता है), मुनि (जो जीवन और मृत्यु के रहस्यों पर विचार करता है), यति (जो अपनी इन्द्रियों को संयमित रखता है)। ये शब्द चौथे आश्रम के व्यक्तियों की विषेशताओं के सूचक हैं।

आश्रमों के विषय में मनु का सिद्धान्त निम्न प्रकार का है—मानव-जीवन एक सौ वर्ष का होता है (शतायुर्वै पुरुषः)। सभी ऐसी आयु नहीं पाते, किन्तु यह वह सीमा है जहाँ तक जीने की कोई भी आशा कर सकता है। इस आयु को हम चार भागों में बाँटते हैं। कोई भी यह नहीं कह सकता कि वह सौ वर्ष तक जियेगा ही, अतः उपर्युक्त चारों भागों में प्रत्येक की सीमा को २५ वर्ष तक रखना या बतलाना तर्कसंगत नहीं है। अतः आश्रम की लम्बाई कम या अधिक सम्भव है। मनु (४।१) के अनुसार मनुष्य के जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य है जिसमें व्यक्ति गुरुगेह में रहकर विद्याध्ययन करता है, दूसरे भाग में वह विवाह करके गृहस्थ हो जाता है और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पूर्वजों के ऋण से तथा यज्ञ आदि करके देवों के ऋण से मुक्ति पाता है (मनु ५।१६९)। जब व्यक्ति अपने सिर पर उजले बाल देखता है तथा शरीर पर झुर्रियाँ देखता है तब वह वानप्रस्थ (मनु ६।१-२) हो जाता है। इस प्रकार वन में जीवन का तृतीयांश बिताकर शेष भाग को संन्यासी के रूप में व्यतीत करता है। ऐसे ही नियम अन्य स्मृतियों में भी हैं।

'आश्रम' शब्द संहिताओं या ब्राह्मण-ग्रन्थों में नहीं मिलता। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि सूत्रों में पाये जानेवाले जीवन-भाग वैदिक काल में अज्ञात थे। हमने पहले ही देख लिया है कि 'ब्रह्मचारी' शब्द ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में पाया जाता है और ब्रह्मचर्य की चर्चा तैत्तिरीयसंहिता, शतपथब्राह्मण तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में हुई

है। स्पष्ट है, अति प्राचीन काल में भी ब्रह्मचर्य नामक जीवन-भाग प्रसिद्ध था। यही बात 'गृहस्थ' के विषय में भी लागू होती है (ऋग्वेद २।१।२, १०।८५।३६)। अग्नि को "हमारे गृह का गृहपति" कहा गया है। हाँ, 'वानप्रस्थ' के विषय में कोई भी स्पष्ट संकेत वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। कुछ लोग ताण्ड्य महाब्राह्मण (१४।४।७) के 'वैखानस' शब्द को 'वानप्रस्थ' का समानार्थक मानते हैं, जैसी कि सूत्रों में ऐसी बात हैं भी। यदि यह अनुमान ठीक है तो तीसरे आश्रम वानप्रस्थ की ओर भी वैदिक काल में परोक्ष रूप से संकेत मिल जाता है। सूत्रों एवं स्मृतियों में वर्णित चतुर्थ आश्रम में 'यति' की चर्चा प्राचीन वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध है। ऋग्वेद (८।३।९) में 'यति' शब्द कई बार आया, हैं, किन्तु अर्थ सन्देहास्पद है। तैत्तिरीय संहिता (६।२।७।५), काठक संहिता (८।५), ऐतरेय ब्राह्मण (३५।२), कौषीतकी उपनिषद् (३।१), अथर्ववेद (२।५।३), ताण्ड्य महाब्राह्मण (८।१।४) में जो यति शब्द आया है, सम्भवतः वह किसी जाति-विशेष का सूचक है और है अनार्य तथा इन्द्र-विरोधी। यदि 'यति' एवं यातु शब्दों में कोई अर्थ-साम्य है तो सम्भवतः 'यति' जादूगर का सूचक हो सकता है।

ऋग्वेद (१०।१३६।२) में 'मुनि' का वर्णन हुआ है, जो गन्दे परिधान धारण किये हुए कहा गया है।[1] ऋग्वेद (८।१७।१४) में इन्द्र मुनियों का सखा कहा गया है। एक स्थान पर मुनि देवों का मित्र कहा गया है (ऋग्वेद १०। १३६।४)। इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद के काल में भी दरिद्र-सा जीवन बिताने वाले, ध्यान में मग्न, शरीर को सुखा देनेवाले लोग थे, जिन्हें मुनि कहा जाता था। सम्भवतः ऐसे ही व्यक्ति अनार्यों में यति कहे जाते थे। किन्तु 'मुनि' एवं 'यति' शब्द में आश्रम-सम्बन्धी कोई गन्ध नहीं प्राप्त होती। सम्भवतः आश्रम-सम्बन्धी संकेत सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण (३३।११) में मिलता है, "मल से क्या लाभ, मृगचर्म से, दाढ़ी एवं तप से क्या लाभ ? हे ब्राह्मण, पुत्र की इच्छा करो, वह विश्व है जिसकी बड़ी प्रशंसा होगी . . .।"[2] इस श्लोक में प्रयुक्त 'अजिन' शब्द से, जिसका अर्थ 'मृगचर्म' है, ब्रह्मचर्य, 'श्मश्रूणि' से वानप्रस्थ (गौतम ३।३३ एवं मनु ६।६ के अनुसार वानप्रस्थ को दाढ़ी, बाल, नाखून रखने चाहिए) की ओर संकेत है। अतः 'मल' एवं 'तप' को गृहस्थ एवं संन्यासी का सूचक मानना चाहिए। छान्दोग्य-उपनिषद् (२।२३।१) में स्पष्ट संकेत है कि धर्म के तीन विभाग हैं, जिनमें प्रथम यज्ञ, अध्ययन एवं दान में पाया जाता है (अर्थात् गृहस्थाश्रम), दूसरा तप (अर्थात् वानप्रस्थ) में और तीसरा ब्रह्मचारी में....।[3] 'तप' तो वानप्रस्थ एवं परिव्राजक दोनों का लक्षण है। अतः उपर्युक्त वाक्य में तीन आश्रमों, अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ की चर्चा है। सम्भवतः छान्दोग्योपनिषद् के काल तक वानप्रस्थ एवं संन्यास में कोई अन्तर नहीं था। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।५।२) में आया है कि याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहा कि अब वे गृहस्थ से प्रव्रज्या धारण करने जा रहे हैं। मुण्डकोपनिषद् (१।२।११) में ब्रह्मज्ञानियों के लिए भिक्षाटन की बात चलायी गयी है। इस उपनिषद् (३।२।६) ने संन्यास का नाम लिया है। जाबालोपनिषद् (४) में आया है कि जनक ने याज्ञवल्क्य से संन्यास की व्याख्या करने को कहा।

१. मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मलाः। ऋग्वेद १०।१३६।२।

२. किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः। पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः॥ यहाँ 'मल' से सम्भवतः 'संभोग' की ओर संकेत है, 'तप' से वानप्रस्थ का तात्पर्य निकाला जा सकता है, (गौतम ३।३५, वैखानसो वने मूलफलाशी तपःशीलः), या इससे संन्यासी का संकेत समझा जा सकता है (मनु ६।७५ के अनुसार संन्यासी को कठिन तपस्या करनी पड़ती है)।

३. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। छान्दोग्य० २।२३।१।

इसी उपनिषद् में चारों आश्रमों की व्याख्या भी पायी जाती है।[४] इतना स्पष्ट है कि आरम्भिक उपनिषदों के काल में कम-से-कम तीन आश्रम भली भाँति विदित थे और जाबालोपनिषद् को चारों आश्रम अपने विशिष्ट नामों से ज्ञात थे। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२१) में "अत्याश्रमिभ्यः" का प्रयोग हुआ है। वहाँ इस प्रकार का उल्लेख हुआ है कि ब्रह्मज्ञानी श्वेताश्वतर ने उन लोगों को, जो आश्रम-नियमों के ऊपर उठ चुके थे, ज्ञान दिया (अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उद्घोष किया)।

विद्वानों के मत से पाणिनि का काल ई० पू० ३०० के पूर्व ही माना जाता है। पाणिनि को पाराशर्य एवं कर्मन्द-कृत भिक्षु-सूत्रों का पता था और उन्होंने "मस्करी" का अर्थ "परिव्राजक" लगाया है (पाणिनि ६।१।१५४)। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि से कई शताब्दियों पूर्व भिक्षुओं का आश्रम स्थापित था। पालि-साहित्य के परिशीलन से पता चलता है कि बौद्धधर्म ने पब्बज्जा (प्रव्रज्या) की विधि ब्राह्मणधर्म से ही ग्रहण की थी।

मानव-जीवन के अस्तित्व के चार लक्ष्य माने गये हैं—**धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष**। सर्वोत्तम लक्ष्य है मोक्ष, जिसे कई नामों से पुकारा जाता है, यथा मुक्ति, अमृतत्व, निःश्रेयस, कैवल्य (सांख्यों द्वारा) या अपवर्ग (न्यायसूत्र १।१।२)। इसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति को **निर्वेद** एवं **वैराग्य** (बृहदारण्यकोपनिषद् ५।१ या मुण्डकोपनिषद् १।२।१२) धारण करना चाहिए। भारतीय लेखकों ने अपने दिव्य दर्शन एवं प्रकाश के अनुसार आश्रमों के सिद्धान्त एवं व्यवहार के विषय में अपने मत दिये हैं। ब्रह्मचर्य में व्यक्ति को अनुशासन एवं संकल्प के अनुसार रहना पड़ता था, उसे अतीत काल के साहित्यिक भण्डार का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था, उसे आज्ञाकारिता, आदर, सादे जीवन एवं उच्च विचार के सद्गुण सीखने पड़ते थे। ब्रह्मचर्य के उपरान्त व्यक्ति विवाह करता था, गृहस्थ होता था, संसार के आनन्द का स्वाद लेता था, जीवन का उपभोग करता था, सन्तानोत्पत्ति करता था, अपनी सन्तानों, मित्रों, सम्बन्धियों, पड़ोसियों के प्रति अपने कर्तव्य करता था, उपयोगी, परिश्रमी एवं योग्य नागरिक होता था तथा एक कुल का संस्थापक होता था। ऐसा कहा गया है कि ५० वर्ष के लगभग की अवस्था हो जाने पर वह संसार के सुख एवं वासनाओं की भूख से ऊब उठता था तथा वन की राह ले लेता था, जहाँ वह आत्म-निग्रही, तपस्वी एवं निरपराध जीवन बिताता था। इसके उपरान्त संन्यास का आश्रम आता था। वह इसी जीवन में अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है, या इसी प्रकार के कई जीवनों तक वह चलता जायगा, जब तक कि उसे मुक्ति न प्राप्त हो जाय।

वर्ण का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के लिए था, किन्तु आश्रम का सिद्धान्त व्यक्ति के लिए था। आर्य समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के अधिकारों, कार्य-कलापों, स्वत्वों, उत्तरदायित्व एवं कर्तव्यों की ओर संकेत करना वर्ण-सिद्धान्त का कार्य था। किन्तु आश्रम-सिद्धान्त यह बताता था कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपने जीवन को किस प्रकार ले चलाना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में उसे क्या-क्या तैयारियाँ करनी हैं। निस्सन्देह, आश्रम-सिद्धान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी। भले ही यह भली भाँति कार्यान्वित न की जा सकी, किन्तु इसके उद्देश्य बड़े ही महान् एवं विशिष्ट थे।

चारों आश्रमों के सम्बन्ध में तीन विभिन्न पक्षों की चर्चा की जाती है—**समुच्चय, विकल्प एवं बाध**। प्रथम पक्ष वाले कहते हैं कि प्रत्येक आश्रम का अनुसरण अनुक्रम से होता है, अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य, तब गृहस्थ और गृहस्थ के उपरान्त वानप्रस्थ और अन्त में संन्यास; ऐसा नहीं है कि कोई एक या अधिक आश्रम को छोड़कर किसी अन्य को अपना ले, या संन्यासी हो जाने पर पुनः गृहस्थ हो जाय (दक्ष १।८-९, वेदान्तसूत्र ३।४।४०)। इस पक्ष के अनुसार कोई

४. ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। जाबालोप० ४। देखिए बौधायनधर्मसूत्र २।१०।२ एवं १८।

ब्रह्मचर्य के उपरान्त तुरन्त संन्यास नहीं ग्रहण कर सकता। मनु (४।१, ६।१, ३३-३७, ८७-८८) इसके प्रबल समर्थक हैं। इस पक्ष वाले विवाह एवं संभोग को अपवित्र एवं तप के लिए बुरा नहीं मानते, प्रत्युत विवाह एवं सम्भोग को तप-जीवन से उच्च मानते हैं। धर्मशास्त्रकारों में अधिकांश गृहस्थाश्रम को बहुत गौरव देते हैं और वानप्रस्थ एवं संन्यास को विशेष महत्व नहीं देते, कुछ ने तो वानप्रस्थ एसं संन्यास को कलियुग के लिए अयोग्य ठहरा दिया है। दूसरे पक्ष वाले ब्रह्मचर्य के उपरान्त विकल्प की बात करते हैं, अर्थात् अध्ययन के उपरान्त या गृहस्थाश्रम के उपरान्त परिव्राजक हुआ जा सकता है। प्रथम पक्ष (समुच्चय) के स्थान पर यह विकल्प पक्ष जाबालोपनिषद् द्वारा रखा गया है (देखिए अन्य संकेत, वसिष्ठ ७।३, लघु विष्णु २।१, याज्ञवल्क्य ३।५६)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।९।२१।७-८ एवं २।९।२२।७-८) ने भी इस पक्ष का समर्थन किया है। बाध नामक तीसरे पक्ष का समर्थन प्राचीन धर्मसूत्रकारों ने किया है, यथा गौतम एवं बौधायन। इस मत से केवल एक ही आश्रम वास्तविक माना जाता है और वह है गृहस्थाश्रम (ब्रह्मचर्य केवल तैयारी मात्र है); अन्य आश्रम इससे अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हैं (गौतम ३।१ एवं ३५)। मनु (६।८९-९०, ३।७७-८०), वसिष्ठधर्मसूत्र (८।१४-१७), दक्ष (२।५७-६०), विष्णुधर्मसूत्र (५९।२९) आदि गृहस्थाश्रम को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। याज्ञवल्क्य (३।५६) की टीका मिताक्षरा ने इन तीनों सिद्धान्तों का विवेचन किया है और कहा है कि प्रत्येक मत को वैदिक समर्थन प्राप्त है तथा इनमें से कोई भी मत व्यवहार में लाया जा सकता है।

'आश्रम' शब्द 'श्रम्' से बना है (आ श्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः) अर्थात् एक ऐसा जीवन-स्तर जिसमें व्यक्ति खूब श्रम करता है।

अध्याय ९

विवाह

विवाह संस्कार को सर्वोत्कृष्ट महत्ता प्रदान की गयी है। विवाह-सम्बन्धी बहुत-से शब्द विवाह संस्कार के तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं, यथा **उद्वाह** (कन्या को उसके पितृ-गृह से उच्चता के साथ ले जाना), **विवाह** (विशिष्ट ढंग से कन्या को ले जाना या अपनी स्त्री बनाने को ले जाना), **परिणय या परिणयन** (अग्नि की प्रदक्षिणा करना), **उपयम** (सन्निकट ले जाना और अपना बना लेना) एवं **पाणिग्रहण** (कन्या का हाथ पकड़ना)। यद्यपि ये शब्द विवाह-संस्कार का केवल एक-एक तत्त्व बताते हैं, किन्तु शास्त्रों ने इन सबका प्रयोग किया है और विवाह-संस्कार के उत्सव के कतिपय कर्मों को इनमें समेट लिया है। तैत्तिरीय संहिता (७।२।८७) एवं ऐतरेय ब्राह्मण (२७।५) में 'विवाह' शब्द उल्लिखित है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (७।१०।१) में आया है—"स्वर्ग एवं पृथिवी में पहले एकता थी, किन्तु वे पृथक्-पृथक् हो गये, तब उन्होंने कहा—"आओ हम लोग विवाह कर लें, हम लोगों में सहयोग उत्पन्न हो जाय।"[1]

क्या विवाह संस्कार की स्थापना के पूर्व भारतवर्ष में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में असंयम या अविविक्तता थी? वैदिक ग्रन्थों में इस विषय में कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। महाभारत (आदिपर्व १२२।४,७) में पाण्डु ने कुन्ती से कहा है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ संयम के बाहर थीं, जिस प्रकार चाहतीं मिथुन जीवन व्यतीत करती थीं, एक पुरुष को छोड़कर अन्य को ग्रहण करती थीं। यह स्थिति पाण्डु के काल में उत्तर कुरु देश में विद्यमान थी। उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम इस प्रकार के असंयमित जीवन के विरोध में स्वर ऊँचा किया और नियम बनाया कि यदि स्त्री पुरुष के प्रति या पुरुष स्त्री के प्रति असत्य होगा तो वह भयंकर अपराध या पाप का अपराधी होगा। इस विषय में सभापर्व (३१।३७-३८) भी देखा जा सकता है। महाभारत वाली कथा केवल कल्पना-प्रसूत है। कुछ दिन पहले समाज-शास्त्रियों ने स्त्री-पुरुष के प्रारम्भिक असंयमपूर्ण यौनिक जीवन की कल्पना कर ली थी, किन्तु अब यह धारणा उतनी मान्य नहीं है।[2]

ऋग्वेद के मतानुसार विवाह का उद्देश्य था गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना (ऋग्वेद १०।८५।३६, ५।३।२, ५।२८।३, ३।५३।४)। पश्चात्कालीन साहित्य में भी यही बात पायी जाती है। स्त्री को 'जाया' कहा गया है, क्योंकि पति ने पत्नी के गर्भ से पुत्र के रूप में ही जन्म लिया (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१)। शतपथब्राह्मण (५।२।१।१०) का कहना है कि पत्नी पति की आधी (अर्धांगिनी) है, अतः जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, जब तक सन्तानोत्पत्ति नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं है।[3] जब आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।१२) प्रथम

१. इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावब्रूतां विवाहं विवहावहै सह नावस्त्विति। ताण्ड्य० ७।१०।१।

२. देखिए, श्रीमती एम० कोल कृत पुस्तक, —"मैरेज, पास्ट एंड प्रेजेंट" पृ० १०।

३. अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ तर्हि हि सर्वो भवति। शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०। और देखिए शतपथ ब्राह्मण

पत्नी के गर्भवती होने के कारण दूसरी पत्नी ग्रहण करने तथा धार्मिक कृत्य करने को मना करता है, तो इसका तात्पर्य यह है कि विवाह के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—(१) पत्नी पति को धार्मिक कृत्यों के योग्य बनाती है तथा (२) वह पुत्र या पुत्रों की माता होती है और पुत्र ही नरक से रक्षा करते हैं। मनु (९।२८) के अनुसार पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक कृत्य, सेवा, सर्वोत्तम आनन्द (परमानन्द), अपने तथा अपने पूर्वजों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है। अतः स्पष्ट है कि **धर्मसम्पत्ति, प्रजा** (तथा इसके फलस्वरूप नरक में गिरने से रक्षा) एवं **रति** (यौनिक तथा अन्य स्वाभाविक आनन्दोत्पत्ति) ये तीन विवाह-सम्बन्धी प्रमुख उद्देश्य स्मृतियों एवं निबन्धों ने माने हैं। यही बात याज्ञवल्क्य (१।७८) में भी देखने को मिलती है। जैमिनि (६।१।१७) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (११।६।१३।१६-१७) ने पत्नी के महत्व पर प्रकाश डाला है।

अच्छे वर के लक्षण क्या हैं? वर का चुनाव किस प्रकार होना चाहिए? आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।५।२) का कहना है कि बुद्धिमान् वर को ही कन्यादान करना चाहिए। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (३।२०) के अनुसार अच्छे वर के लक्षण हैं अच्छा कुल, सत् चरित्र, शुभ गुण, ज्ञान एवं सुन्दर स्वास्थ्य। अन्य बातों के लिए देखिए बौधायनधर्मसूत्र (४।१।१२), यम (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ७८)। शाकुन्तल ना० (४) में भी वर के गुणों की ओर संकेत किया गया है।[4] यम ने वर के लिए सात गुण गिनाये हैं, यथा कुल, शील, वपु (शरीर), यश, विद्या, धन एवं सनाथता (सम्बन्धी एवं मित्र लोगों का आलम्बन)। बृहत्पराशर ने आठ लक्षण कहे हैं—जाति, विद्या, युवावस्था, बल, स्वास्थ्य, अन्य लोगों का आलम्बन, अभिकांक्षा (अर्थित्व) एवं धन। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।५।१) ने कुल को सर्वोपरि स्थान दिया है। ऐसा ही मनु (४।२४४ एवं ३।६।७) ने भी कहा है। मनु ने दस प्रकार के कुलों से सम्बन्ध जोड़ने को मना किया है, यथा जहाँ संस्कार न किये जाते हों, जहां पुत्रोत्पत्ति न होती हो, जहाँ वेदाध्ययन न होता हो, जिसके सदस्यों के शरीर पर केश अधिक मात्रा में हों, जिसमें लोग बवासीर या क्षयरोग या अजीर्ण या मिर्गी या गलित या शुष्क कुष्ठ से पीड़ित हों। और भी देखिए मनु (२।२३८, ३।६३-६५), हर्षचरित (४), याज्ञवल्क्य (१।५४-५५)। कात्यायन ने वर के दोष इस प्रकार बताये हैं, यथा पागलपन, पाप (अपराध), कुष्ठता, नपुंसकता, स्वगोत्रता, अंधापन, बहिरापन, अपस्मार (मिर्गी)। कात्यायन ने कन्या के लिए भी ये ही बातें कहीं हैं।[5] कात्यायन की तालिका वर एवं कन्या दोनों पक्षों

८।७।२।३। अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी। तैत्तिरीय संहिता में आया है (६।१।८।५)।, तस्मात् पुरुषो जायां विस्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते। ऐतरेय ब्राह्मण १।२।५; न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। शान्तिपर्व १४४। ६६; अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः।। आदिपर्व ७४।४०; आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः। शरीरार्धं स्मृता भार्या पुण्यापुण्यफले समा।। बृहस्पति (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० ७४०)।

४. बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत। आश्व० गृ० १।५।२; दद्याद् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे। बौ० ध० ४।१।२०; बन्धुशीललक्षणसंपन्नः श्रुतवानरोग इति वरसंपत्। आप० गृ० (१।३।२०); गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः। शाकुन्तल (४); कुलं च शीलं च वपुर्यशश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च। एतान्गुणान् सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्।। यम (स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० ७८)।

५. उन्मत्तः पतितः कुष्ठी तथा षण्ढः स्वगोत्रजः। चक्षुःश्रोत्रविहीनश्च तथापस्मारदूषिताः। वरदोषाः स्मृता ह्येते कन्यादोषाश्च कीर्तिताः। स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ५९; उन्मत्तः पतितः क्लीबो दुर्भगस्त्यक्तबान्धवः।। कन्यादोषौ च यौ पूर्वविध दोषगणो वरे।। नारद (स्त्रीपुंसयोग, ३७)।

के लिए समान है। महाभारत में बराबर धन, बराबर विद्या पर विशेष बल दिया गया है (आदिपर्व १३१।१०, उद्योगपर्व ३३।११७)।

यद्यपि मनु एवं याज्ञवल्क्य ने नपुंसकों को विवाह के लिए अयोग्य ठहराया है, किन्तु ऐसे लोग कभी-कभी विवाह कर लेते थे। मनु, याज्ञवल्क्य एवं अन्य लोगों ने इनके विवाह को न्यायानुकूल माना है और इनके (नियोग से उत्पन्न) पुत्रों को औरस पुत्रों के समान ही धन-सम्पत्ति का अधिकारी माना है। देखिए मनु (९।२०३) एवं याज्ञवल्क्य (२।१४१-१४२)।

कन्या के चुनाव के विषय में भी बहुत-सी बातें कही गयी हैं, किन्तु उपर्युक्त बातों और इन बातों में बहुत समानता पायी जाती है, यथा कुल, रोग आदि विषयों में (देखिए वसिष्ठ १।३८, विष्णुधर्मसूत्र २४।११, कामसूत्र ३।१।१)।[६] शतपथब्राह्मण (१।२।५।१६) ने बड़े एवं चौड़े नितम्बों एवं कटियों वाली कन्याओं को आकृष्ट करने वाली कहा है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।५।३) ने ऐसी कन्या के साथ विवाह करने को कहा है जो बुद्धिमती हो, सुन्दर हो, सच्चरित्र हो, शुभ लक्षणों वाली हो और हो स्वस्थ। शांखायनगृह्यसूत्र (१।५।६), मनु (३।४) एवं याज्ञवल्क्य (१।५२) ने कहा है कि कन्या को शुभ लक्षणों वाली होना चाहिए और उनके अनुसार शुभ लक्षण दो प्रकार के हैं, यथा बाह्य (शारीरिक लक्षण) एवं आभ्यन्तर। मनु (३।८ एवं १०) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२४।१२-१६) के अनुसार पिंगल बालों वाली, अतिरिक्त अंगों वाली (यथा छः अंगुलियों वाली), टूटे-फूटे अंगों वाली, बातूनी, पीली आँखों वाली कन्याओं से विवाह नहीं करना चाहिए, निर्दोष अंगों वाली, हंस या गज की भाँति चलने वाली से, जिसके शरीर के (सिर या अन्य अंगों पर) बाल छोटे हों, जिसके दाँत छोटे-छोटे हों, जिसका शरीर कोमल हो, उससे विवाह करना चाहिए। विष्णुपुराण (३।१०।१८-२२) का कहना है कि कन्या के अधर या चिबुक पर बाल नहीं होने चाहिए, उसका स्वर कौए की भाँति कर्कश नहीं होना चाहिए, उसके घुटनों एवं पाँवों पर बाल नहीं होने चाहिए, हँसने पर उसके गालों में गड्ढे नहीं पड़ने चाहिए, उसका कद न तो बहुत छोटा हो और न बहुत लम्बा होना चाहिए....। मनु (३।९) एवं आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (३।१३) का कहना है कि विवाहित होनेवाली कन्या का नाम चान्द्र नक्षत्र वाला, यथा—रेवती, आर्द्रा आदि, वृक्षों या नदियों वाला नहीं होना चाहिए, उसका म्लेच्छ नाम, पर्वत, पक्षी, सर्प, दासी आदि का नाम नहीं होना चाहिए। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (३।१४) एवं कामसूत्र (३।१।१३) के मत से उस कन्या से जिसके नाम के अन्त में र या ल हो, यथा—गौरी, कमला आदि, विवाह नहीं करना चाहिए। इस विषय में देखिए नारद (स्त्रीपुंसयोग, ३६), आपस्तम्बगृह्यसूत्र (३।११-१२) एवं मार्कण्डेयपुराण (२४।७६-७७)।

भारद्वाजगृह्यसूत्र (१।११) के अनुसार कन्या से विवाह करते समय चार बातें देखनी चाहिए, यथा धन, सौन्दर्य, बुद्धि एवं कुल। यदि चारों गुण न मिलें तो धन की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, और उसके उपरान्त सौन्दर्य की भी, किन्तु बुद्धि एवं कुल में किसको महत्ता दी जाय, इस विषय में मतभेद है। किसी ने बुद्धि को और किसी ने कुल को महत्तर माना है। मानवगृह्यसूत्र (१।७।६-७) ने पाँचवां विवाह-कारण भी माना है, अर्थात् विद्या, और इसे सौन्दर्य के उपरान्त तथा प्रज्ञा के पूर्व स्थान दिया है।

कन्या के चुनाव में आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।५।३), गोभिलगृह्यसूत्र (२।१।४-९), लौगाक्षिगृह्यसूत्र (१४।

६. तस्मात्कन्यामभिजनोपेतां मातापितृमतीं त्रिवर्षात्प्रभृति न्यूनवयसं श्लाघ्याचारे धनवति पक्षवति कुले संबन्धिप्रिये संबन्धिभिराकुले प्रसूतां प्रभूतमातापितृपक्षां रूपशीललक्षणसपन्नामन्यूनाधिकाविनष्टदन्तनखकर्णकेशाक्षिस्तनीमरोगिप्रकृतिशरीरां तथाविध एव श्रुतवाञ् शीलयेत्। कामसूत्र ३।१।२।

४-७), वाराहगृह्यसूत्र (१०), भारद्वाजगृह्यसूत्र (११।१), मानवगृह्यसूत्र (१।७।९-१०) आदि ने लम्बी चौड़ी कल्पनात्मक बातें कही हैं, जिन्हें स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

गौतम (४।१), वसिष्ठ (८।१), मानवगृ० (१।७।८), याज्ञवल्क्य (१।५२) एवं अन्य धर्मशास्त्रकारों ने लिखा है कि कन्या वर से अवस्था में छोटी (यवीयसी) होनी चाहिए। कामसूत्र (३।१।२) तो उसे कम-से-कम तीन वर्ष छोटी मानने को तैयार है। विवाह के योग्य अवस्था क्या है, इस पर हम आगे लिखेंगे।

गौतम (४।१), वसिष्ठ (८।१), याज्ञवल्क्य (१।५२), मनु (३।४ एवं १२) तथा अन्य लोगों के मत से अक्षतयोनि तथा समान जाति वाली से ही विवाह करना चाहिए। विधवा-विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह कहाँ तक आदेशित था, इस पर आगे विचार किया जायगा।

मानवगृह्यसूत्र (१।७।८), मनु (३।११) एवं याज्ञवल्क्य (१।५३) ने लिखा है कि कन्या भ्रातृहीन नहीं होनी चाहिए। इस मत के पीछे एक लम्बा इतिहास पाया जाता है, यद्यपि यह आवश्यकता आज किसी रूप में मान्य नहीं है। ऋग्वेद (१।१२४।७) में आया है—"जिस प्रकार एक भ्रातृहीन स्त्री अपने पुरुष-सम्बन्धी (पिता के कुल) के यहाँ लौट आती है, उसी प्रकार उषा अपने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है।" अथर्ववेद (१।१७।१) में हम पढ़ते हैं—"भ्रातहीन स्त्रियों के समान उन्हें गौरवहीन होकर बैठे रहना चाहिए।"[७] निरुक्त (३।४।५) ने दोनों वैदिक उक्तियों की व्याख्या की है। प्राचीन काल में पुत्रहीन व्यक्ति अपनी पुत्री को पुत्र मानता था और उसके विवाह के समय वर से यह तय कर लेता था कि उससे उत्पन्न पुत्र उसका (लड़की के पिता का) हो जायगा और अपने नाना को पुत्र के समान ही पिण्डदान देगा। इसका प्रतिफल यह होता था कि इस प्रकार की लड़की का पुत्र अपने पिता को पिण्डदान नहीं करता था और न अपने पिता के कुल को चलाने वाला होता था। इसी से भ्रातृहीन लड़की को दुलहिन बनाना उसे दूसरे रूप में पति के लिए न प्राप्त करना होता था। ऐसी भ्रातृहीन लड़कियों के अपने पिता के घर में ही बूढ़ी हो जाने की बात ऋग्वेद ने कही है (ऋ० २।१७।७)। वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।१६) ने ऋग्वेद (१।१२४।७) को उद्धृत किया है। भ्रातृहीन पुत्री को पुत्रिका कहा गया है, क्योंकि उसका पिता उसके होनेवाले पति से यह तय कर लेता है कि उससे उत्पन्न पुत्र उसको (पिता को) पिण्डदान देनेवाला हो जायगा। इसी से मनु (३।११) ने भ्रातृहीन लड़की से विवाह करने को मना किया है, क्योंकि उसके साथ यह भय रहता था कि उत्पन्न पुत्र से हाथ धो लेना पड़ेगा। मध्य काल में यह प्रतिबन्ध उठ-सा गया, और आज तो बात ही दूसरी है। वर्तमान काल में भ्रातृहीन कन्या वरदान रूप में मानी जाती रही है, विशेषतः जब उसका पिता बहुत ही धनी हो। पश्चात्कालीन साहित्य में ऐसा पाया जाने लगा कि बिना विवाह के कोई लड़की स्वर्ग नहीं जा सकती (महाभारत, शल्यपर्व, अध्याय ५२)।

विवाह के विषय में अन्य प्रतिबन्ध भी हैं। ऐसा नियम था कि अपनी ही जाति की लड़की से विवाह हो सकता है। इस प्रकार के विवाह को अंग्रेजी में 'इण्डोगैमी' कहा जाता है। किन्तु एक ही विशाल जाति के भीतर कई दल हो जाते हैं, जिनमें कुछ दलों के लोग कुछ दलों से विाह-सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते। इस प्रथा को अंग्रेजी में 'एक्सोगैमी' कहा जाता है। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (१।१९।२), गोभिल० (३।४।४) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।१५) ने कहा है कि अपने ही गोत्र से कन्या नहीं चुनी जानी चाहिए। किन्तु समान प्रवर के विषय में वे मौन हैं। गौतम (४।२),

७. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्। जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥ ऋ० १।१२४।७। संस्कारप्रकाश (पृ० ७४७) ने इस वैदिक मन्त्र को, इस पर यास्क की निरुक्त-व्याख्या को तथा वसिष्ठ को उद्धृत किया है।

वसिष्ठधर्मसूत्र (८।१), मानवगृह्यसूत्र (१।७।८), वाराहगृह्यसूत्र (९), शंखधर्मसूत्र ने समान प्रवर वाली कन्या से विवाह अनुचित ठहराया है।[८] कुछ गृह्यसूत्र, यथा आश्वलायन, पारस्कर गोत्र एवं प्रवर की समता के विषय में एक शब्द नहीं कहते, यह एक विचित्र बात है। किन्तु विष्णुधर्मसूत्र (२४।९), वैखानस (३।२), याज्ञवल्क्य (१।५३), नारद (स्त्रीपुंस, ७), व्यास (२।२) तथा अन्य लोगों ने समान गोत्र एवं समान प्रवर वाले लोगों में विवाह-सम्बन्ध मना कर दिया है। गोभिल (३।४।५), मनु (३।५), वैखानस (३।२) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।१६) के मत से कन्या सपिण्ड नहीं होनी चाहिए, अर्थात् उसे वर की माता का सम्बन्धी नहीं होना चाहिए, किन्तु गौतम (४।२), वसिष्ठ (८।२), विष्णुधर्मसूत्र (२४।१०), वाराह गृ० (९), शंखधर्म०, याज्ञवल्क्य (१।५३) तथा अन्य लोग सात पीढ़ियों के उपरान्त पिता की ओर तथा पाँच पीढ़ियों के उपरान्त माता की ओर सपिण्ड में कोई प्रतिबन्ध नहीं रखते। व्यास-स्मृति ने न केवल सगोत्र विवाह मना किया है, बल्कि उस कन्या से भी, जिसकी माता तथा वर के गोत्र में समानता हो, विवाह करना मना किया है।

सगोत्र, सप्रवर या सपिण्ड विवाह पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये उसके कारण थे। पूर्वमीमांसा का एक नियम है कि यदि कोई दृष्ट या जानने योग्य कारण हो और यदि उसका उल्लंघन कर दिया जाय तो प्रमुख कार्य अवैध (रद्द) नहीं हो पाता; किन्तु यदि कोई अदृष्ट कारण हो और उसका उल्लंघन हो जाय तो प्रमुख कार्य की वैधता की समाप्ति हो जा सकती है। रोगी या अधिक या कम अंगों वाली कन्या से विवाह न करने के नियम का कारण दृष्ट है और ऐसा विवाह दुःख और आलोचना का विषय बन जाता है। यदि ऐसी कन्या से कोई विवाह करे तो वह विवाह पूर्ण रूप से वैध माना जाता है। किन्तु सगोत्र एवं सप्रवर कन्या के साथ विवाह न करने का कारण अदृष्ट है और यदि ऐसा सम्बन्ध हो जाय तो यह विवाह विवाह नहीं कहा जा सकता। अतः यदि कोई किसी सगोत्र, सप्रवर या सपिण्ड कन्या से विवाह करे तो वह कन्या नियमपूर्वक उसकी पत्नी नहीं हो सकती। सगोत्र, सप्रवर एवं सपिण्ड पर विस्तार से आगे लिखा जायगा।

अब पुरुष एवं स्त्री की विवाह-अवस्था पर विवेचन उपस्थित किया जायगा। इस विषय में इतना जान लेना आवश्यक है कि सभी कालों में, भिन्न-भिन्न प्रान्तों एवं भिन्न-भिन्न जातियों में विवाह-अवस्था पृथक्-पृथक् मानी जाती रही है। पुरुष के लिए कोई निश्चित अवधि नहीं रखी गयी। पुरुष यदि चाहे तो जीवन भर अविवाहित रह सकता था, किन्तु मध्य एवं वर्तमान काल में लड़कियों के लिए विवाह अनिवार्य रूप से मान्य रहा है। वेदाध्ययन के उपरान्त पुरुष विवाह कर सकता था, यद्यपि वेदाध्ययन की परिसमाप्ति की अवधियों में विभिन्नताएँ रही हैं; यथा--१२, २४, ३६, ४८ या उतने वर्ष जिनमें एक वेद या उसका कोई अंश पढ़ लिया जा सके। प्राचीन काल में बहुधा १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य चलता था और ब्राह्मणों का उपनयन-संस्कार ८वें वर्ष में होता था, अतः ब्राह्मणों में २० वर्ष की अवस्था विवाह के लिए एक सामान्य अवस्था मानी जानी चाहिए। मनु (९।९४) के मत से ३० वर्ष का पुरुष १२ वर्ष की लड़की से या २४ वर्ष का पुरुष ८ वर्ष की लड़की से विवाह कर सकता है। इसी के आधार पर विष्णुपुराण ने कन्या एवं वर की विवाह-अवस्थाओं का अनुपात १।३ रखा है।[९] अंगिरा के मत से कन्या वर से २, ३, ५ या अधिक वर्ष छोटी हो सकती

८. आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११-१६) पर हरदत्त ने शंख को इस प्रकार उद्धृत किया है—वारानाहरेत् सवृशानसमानार्षेयानसम्बन्धानासप्तमपंचमात्पितृमातृबन्धुभ्यः। 'आर्षेय', 'आर्ष' एवं 'प्रवर' का अर्थ एक ही है। सप्रवर कन्या के साथ विवाह-सम्पादन के विषय में मनु मौन हैं।

९. वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम्। विष्णुपुराण ३।१०।१६; वयोधिकां नोपयच्छेद् दीर्घां कन्यां

है। महाभारत (आश्वमेधिकपर्व ५६।२२-२३) में एक स्थल पर यह आया है कि वर की अवस्था १६ वर्ष की होनी चाहिए, और गौतम अपनी कन्या का विवाह उत्तंक से करने को तैयार है यदि उत्तंक की अवस्था १६ वर्ष की हो। सभापर्व (६४।१४) एवं वनपर्व (५।१५) में एक ऐसी लड़की की उपमा दी गयी है जो ६० वर्ष के पुरुष से विवाह नहीं करना चाहती। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों ६० वर्ष के पुरुष से भी कन्याओं का विवाह सम्भव था। महाभारत (अनुशासन-पर्व ४४।१४) में वर एवं कन्या की विवाह-अवस्थाएँ क्रम से ३० तथा १० या २१ तथा ७ हैं, किन्तु उद्वाहतत्त्व (पृ० १२३) एवं श्रौतपदार्थनिर्वचन (पृ० ७६६) ने महाभारत को उद्धृत कर लिखा है कि ३० वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है (किन्तु यहाँ 'षोडश-वर्षाम्' के स्थान में 'दश-वर्षाम्' होना चाहिए, 'षोडशवर्षाम्' मुद्रण-अशुद्धि है)।

ऋग्वेद में विवाहावस्था के विषय में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं प्राप्त होता, किन्तु कन्याएँ अपेक्षाकृत बड़ी अवस्था प्राप्त होने पर ही विवाहित होती थीं। ऋग्वेद (१०।२७।१२) में आया है कि जब कन्या सुन्दर है और आभूषित है तो वह स्वयं पुरुषों के झुण्ड में से अपना मित्र ढूंढ़ लेती है। इससे स्पष्ट है कि लड़कियाँ इतनी प्रौढ होने पर विवाह करती थीं, जब कि वे स्वयं अपना पति चुन सकें। विवाह-मन्त्रों (ऋग्वेद १०।८५।२६-२७, ४६) से पता चलता है कि विवाहित लड़कियाँ बच्ची-पत्नियाँ नहीं, प्रत्युत प्रौढ होती थीं। एक ओर यह भी पता चलता है कि नासत्यों (आश्विनौ) ने उस विमद को एक स्त्री दी जो अभी अर्भग (कम अवस्था का) था। किन्तु यहाँ पर विमद को अन्य राजाओं की अपेक्षा कम अवस्था का कहा गया है। ऋग्वेद की दो ऋचाओं (१।१२६।६-७) से पता चलता है कि लड़कियाँ युवा होने के पूर्व विवाहित होतीं थीं। ऋग्वेद (१।५१।१३) में एक स्थान पर ऐसा आया है कि इन्द्र ने बुड्ढे कक्षीवान् को वृचया नामक स्त्री दी जो अर्भा (बच्ची) थी। किन्तु 'अर्भा' शब्द केवल 'महते' के विरोध में प्रयुक्त हुआ है। 'महते' शब्द का अर्थ है बड़ा जो कक्षीवान् के लिए प्रयुक्त हुआ है और किसी निश्चित अवस्था का द्योतक नहीं है। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में कन्याएँ किसी भी अवस्था में (युवा होने के पूर्व या उपरान्त) विवाहित हो सकती थीं और कुछ जीवन भर अविवाहित रह जाती थीं। अन्य संहिताएँ एवं ब्राह्मणग्रन्थ विवाह-अवस्था पर कोई प्रकाश डालते दृष्टिगोचर नहीं होते। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि उषस्ति चाक्रायण कुरु देश में अपनी पत्नी के साथ रहते थे जो 'आटिकी' (शंकराचार्य के अनुसार अविकसित कन्या) थी।

गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि लड़कियाँ युवावस्था के बिलकुल पास पहुँच जाने या उसके प्रारम्भ होने के उपरान्त ही विवाहित हो जाती थीं। हिरण्यकेशि० (१।१९।२), गोभिल० (३।४।६), मानव० (१।७।८), वैखानस (६।१२) ने अन्य लक्षणों के साथ चुनी जाने वाली कन्या का एक लक्षण 'नग्निका' कहा है। टीकाकारों ने 'नग्निका' की कई व्याख्याएँ उपस्थित की हैं। मातृदत्त ने हिरण्यकेशी की व्याख्या में 'नग्निका' को ऐसी कन्या कहा है जिसका मासिक धर्म बिलकुल सन्निकट है अर्थात् जो संभोग के योग्य है। मानवगृह्यसूत्र के टीकाकार अष्टावक्र के मत से 'नग्निका' वह कन्या है जिसने अभी जवानी की भावनाओं की अनुभूति नहीं की है। उन्होंने एक अर्थ यह बताया है—"नग्निका वह है जो बिना परिधान के भी सुन्दर लगे। गृह्यसंग्रह ने इसे अयुवा कन्या का बोधक माना है।[10] वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।७०) के मत से नग्निका शब्द अयुवा का द्योतक है।

स्ववेहतः। स्ववर्णाद् द्वित्रिपञ्चादिम्यूनां कन्यां समुद्वहेत्॥ अंगिरा (स्मृतिमुक्ताफल में उद्धृत, वर्णाश्रमधर्म, पृ० १२५)।

१०. ताभ्यामनुज्ञातो भार्यामुपयच्छेत् सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीमसगोत्राम्। हिरण्य० १।१९।२;

धर्म० ३५

एक अन्य महत्वपूर्ण संकेत यह है कि अधिकांश गृह्यसूत्रों के मत से विवाहित व्यक्तियों को विवाह के उपरान्त यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम तीन रातों तक संभोग से दूर रहना चाहिए। पारस्करगृह्य० (१।८) के मत से विवाहित जोड़े को तीन रातों तक क्षार एवं लवण नहीं खाना चाहिए, पृथ्वी पर शयन करना चाहिए; वर्ष भर, १२ रातों तक, ६ रातों तक या कम-से-कम ३ रातों तक संभोग नहीं करना चाहिए (देखिए आश्वलायन० १;८।१०, आपस्तम्बगृ० ८।८-९, शांखायन० १।१७।५, मानव० १।१४।१४, काठक० ३०।१, खादिरगृ० १।४।९ आदि)। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गृह्यसूत्र-काल में कन्या का विवाह युवती होने पर किया जाता था, नहीं तो संभोग किस प्रकार सम्भव हो सकता था, जैसा कि कम-से-कम तीन रातों के प्रतिबन्ध से प्रकट हो जाता है। लगभग १२वीं शताब्दी के धर्मशास्त्रकार हरदत्त ने भी स्वीकार किया है कि उनके समय में विवाह के उपरान्त संभोग आरम्भ हो जाता था, अर्थात् उन दिनों कन्या के विवाह की अवस्था कम-से-कम १४ वर्ष थी।

अधिकांश गृह्यसूत्रों में एक क्रिया का वर्णन है जिसे चतुर्थीकर्म कहते हैं। यह क्रिया विवाह के चार दिनों के उपरान्त सम्पादित होती है (देखिए गोभिल २।५, शांखायन १।१८-१९, खादिर १।४।१२-१६, पारस्कर १।११, आपस्तम्ब ८।१०-११, हिरण्यकेशि १।२३-२४ आदि)। इसे हमने बहुत पहले उल्लिखित किया है और यह पश्चात्कालीन गर्भाधान का द्योतक है। विवाह के चार दिनों के उपरान्त के संभोग से स्पष्ट प्रकट होता है कि उन दिनों युवती कन्याओं का विवाह सम्पादित होता था।

कुछ गृह्यसूत्रों में ऐसा वर्णन आया है कि यदि विवाह की क्रियाओं के बीच में कभी मासिक धर्म प्रकट हो जाय तो प्रायश्चित्त करना चाहिए (देखिए बौधायन० ४।१।१०, कौशिकसूत्र ७९।१६, वैखानस ६।१३, अत्रि)। इससे भी प्रकट होता है कि विवाह के समय लड़कियाँ जवान हो चुकी रहती थीं।

गौतम (१८।२०-२३) के अनुसार युवती होने के पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए। ऐसा न करने पर पाप लगता है। कुछ लोगों का कहना है कि परिधान धारण करने के पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए। विवाह के योग्य लड़की यदि पिता द्वारा न विवाहित की जा सके तो वह तीन मास की अवधि पार करके अपने मन के अनुकूल कलंकहीन पति का वरण कर सकती है और अपने पिता द्वारा दिये गये आभूषण लौटा सकती है। उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि गौतम के पूर्व (लगभग ईसापूर्व ६००) भी कुछ लोग थे जो छोटी अवस्था में कन्याओं का विवाह कर देते थे। गौतम ने इस व्यवहार को अच्छा नहीं माना है और युवती होने के पूर्व कन्या के विवाह की बात चलायी है एवं यहाँ तक कहा है कि युवती हो जाने पर यदि पिता कन्या का विवाह करने में अशक्त हो तो स्वयं कन्या अपना विवाह रच सकती है। युवती होने के उपरान्त विवाह होने पर पति या पत्नी पर कोई पाप नहीं लगता। हाँ, माता या पिता को कन्या के युवती होने के पूर्व विवाह न कर देने पर पाप लगता है। मनु (९।८९-९०) ने लिखा है कि एक युवती भले ही जीवन भर अपने पिता के घर में अविवाहित रह जाय, किन्तु पिता को चाहिए कि वह उसे सद्-गुणविहीन व्यक्ति से विवाहित न करे। लड़की युवती हो जाने के उपरान्त तीन वर्ष बाट जोहकर (इस बीच में वह अपने पिता या भाई पर विवाह के लिए भरोसा करेगी) अपने गुणों के अनुरूप वर का वरण कर सकती है। यही

'नग्निकामासन्नार्तवाम्।...तस्माद्वस्त्रविक्षेपणार्हा नग्निका मैथुनार्हेत्यर्थः', मातृदत्त; 'बन्धुमतीं कन्यामस्पृष्टमैथुनामुपयच्छेत...यवीयसीं नग्निकां श्रेष्ठाम्।' मानव० (१।७।८)। नग्निकां तु वदेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्। ऋतुमती त्वनग्निका तां प्रयच्छेत्तु नग्निकाम्॥ अप्राप्ता रजसो गौरी प्राप्ते रजसि रोहिणी। अव्यंजिता भवेत्कन्या कुचहीना च नग्निका॥ गृह्यसंग्रह।

बात अनुशासनपर्व (४४।१६), बौधायनधर्मसूत्र (४।१।१४) एवं वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।६७-६८) में भी पायी जाती है। किन्तु अन्तिम दोनों धर्मसूत्रों (वसिष्ठ० १७।७०-७१ एवं बौधायन ४।१।१२) ने यह भी कहा है कि अविवाहित कन्या रहने पर पिता या अभिभावक कन्या के प्रत्येक मासिक धर्म पर गर्भ गिराने के पाप का भागी होता है। यही नियम याज्ञवल्क्य (१।६४) एवं नारद (स्त्रीपुंस, २६-२७) में भी पाया जाता है। इसी कारण कालान्तर में एक नियम-सा बन गया कि कन्या का विवाह शीघ्र हो जाना चाहिए, भले ही वर गुणहीन ही क्यों न हो (मनु ९।८९ के विरोध में भी)। इस विषय में देखिए बौधायनधर्मसूत्र (४।१।१२ एवं १३)।[11]

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि लगभग ई० पू० ६०० से ईसा की आरम्भिक शताब्दी तक युवती होने के कुछ मास इधर या उधर विवाह कर देना किसी गड़बड़ी का सूचक नहीं था। किन्तु २०० ई० के लगभग (यह वही काल है जब कि याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रणयन हुआ था) युवती होने के पूर्व विवाह कर देना आवश्यक-सा हो गया था। ऐसा क्यों हुआ, इस पर प्रकाश नहीं मिलता। सम्भवतः यह निम्नलिखित कारणों से हुआ। इन शताब्दियों में बौद्ध धर्म का पर्याप्त विस्तार हो चुका था और साधु-साधुनियों अर्थात् भिक्षु-भिक्षुणियों की संस्थाओं की स्थापना के लिए धार्मिक अनुमति-सी मिल चुकी थी। भिक्षुणियों के नैतिक जीवन में पर्याप्त ढीलापन आ गया था। दूसरा प्रमुख कारण यह था कि अधिकांश में कन्याओं का पठन-पाठन बहुत कम हो गया था, यद्यपि कुछ कन्याएँ अब भी (अर्थात् पाणिनि एवं पतंजलि के कालों में) विद्याध्ययन करती थीं। ऐसी स्थिति में अविवाहित कन्याओं को अकारण निरर्थक रूप में रहने देना भी समाज को मान्य नहीं था। ऋग्वेद (१०।८५।४०-४१) के समय से ही एक रहस्यात्मक विश्वास चला आ रहा था कि सोम, गन्धर्व एवं अग्नि कन्याओं के दैवी अभिभावक हैं और गृह्यसंग्रह (गोभिलगृ० ३।४।६ की व्याख्या में उद्धृत) का कहना था कि कन्या का उपभोग सर्वप्रथम सोम करता है, जब उसके कुच विकसित हो जाते हैं तब उसका उपभोग गन्धर्व करता है और जब वह ऋतुमती हो जाती है तो उसका उपभोग अग्नि करता है। इन कारणों से समाज में एक धारणा घर करने लग गयी कि कन्या के अंगों में किसी प्रकार का परिवर्तन होने के पूर्व ही उसका विवाह कर देना श्रेयस्कर है। संवर्त (६४ एवं ६७) ने भी यही अभिव्यक्ति दी है।[12] एक विशिष्ट कारण यह था कि अब कन्याओं के लिए विवाह ही उपनयन-संस्कार माना जाने लगा था, क्योंकि उपनयन के लिए आठ वर्ष की अवस्था निर्धारित थी, अतः वही अवस्था कन्या के विवाह के लिए उपयुक्त मानी जाने लगी। यह भी एक विश्वास-सा हो गया कि अविवाहित रूप से मर जाने पर स्त्री को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। महाभारत के शल्यपर्व (५२।१२) में एक कन्या के विषय में एक दारुण कथा यों है—कुणि गर्ग की कन्या ने कठिन तपस्याएँ कीं और इस प्रकार बुढ़ापे को प्राप्त हो गयी, तथापि नारद ने यह कहा कि वह अविवाहित रूप से स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सकती। उस नारी ने गालव कुल के शृंगवान् ऋषि से मृत्यु के एक दिन पूर्व विवाह कर लेने की प्रार्थना इस शर्त पर की कि वह उसे अपनी तपश्चर्या से

११. दद्याद् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणीम्। अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम्॥ अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत्। बौधायनधर्मसूत्र ४।१।१२ एवं १५।

१२. रोमकाले तु सम्प्राप्ते सोमो भुंक्तेऽथ कन्यकाम्। रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वाः कुचौ दृष्ट्वा तु पावकः॥... तस्माद् विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्। विवाहो ह्यष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते॥ संवर्त, श्लोक ६४ एवं ६७ (स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत, भाग १, पृ० ७९, तथा चण्डेश्वरकृत गृहस्थरत्नाकर, पृ० ४६)। स्त्रीणामुपनयनस्थानापन्नो विवाह इति तदुचितावस्थायां विवाहस्योचितत्वात्। संस्कारकौस्तुभ, पृ० ६९९; विवाहं चोपनयनं स्त्रीणामाह पितामहः। तस्माद् गर्भाष्टमः श्रेष्ठो जन्मतो वाष्टवत्सरः॥ यम (स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रमधर्म, पृ० १३६)।

अर्जित गुणों (पुण्य) का अर्ध भाग दे देगी।[13] इस विषय में देखिए वैखानसस्मार्तसूत्र (५।९)।[14] चाहे जो भी कारण हों, कम अवस्था तक ही विवाह कर देने की प्रथा प्रथम ५वीं एवं ६ठी शताब्दियों तक बहुत बढ़ गयी थी। लौगाक्षि-गृह्य (१९।२) में आया है कि कन्या का ब्रह्मचर्य १०वें या १२वें वर्ष तक रहता है। वैखानस (६।१२) के मत से ब्राह्मण को नग्निका या गौरी से विवाह करना चाहिए। उनके मत से नग्निका ८ वर्ष के ऊपर या १०वर्ष के नीचे होती है और गौरी १० तथा १२ वर्ष के बीच में, जब तक कि वह रजस्वला नहीं होती है। अपरार्क द्वारा उद्धृत (पृ० ८५) भविष्यपुराण से पता चलता है कि नग्निका १० वर्ष की होती है। पराशर, याज्ञवल्क्य एवं संवर्त इसके आगे भी चले जाते हैं। पराशर (७।६-९) के मत से ८ वर्ष की लड़की गौरी, ९ वर्ष की रोहिणी, १० वर्ष की कन्या तथा इसके ऊपर रज-स्वला कही जाती है। यदि कोई १२ वर्ष के उपरान्त अपनी कन्या न ब्याहे तो उसके पूर्वज प्रति मास उस कन्या का ऋतु-प्रवाह पीते हैं। माता-पिता तथा ज्येष्ठ भाई रजस्वला कन्या को देखने से नरक के भागी होते हैं। यदि कोई ब्राह्मण उस कन्या से विवाह करे तो उससे सम्भाषण नहीं करना चाहिए, उसके साथ पंक्ति में बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए और वह वृषली का पति हो जाता है।[15] इस विषय में और देखिए वायुपुराण (८३।४४), संवर्त (६५-६६), बृहत् यम (३।१९-२२), अंगिरा (१२६।१२८) आदि। इसी प्रकार कुछ विभेदों के साथ अन्य धर्मशास्त्रकारों के मत हैं। मरीचि के मतानुसार ५ वर्ष की कन्या का विवाह सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ तक कि मनु (९।८८) ने योग्य वर मिल जाने पर शीघ्र ही विवाह कर देने को कहा है। रामायण (अरण्यकाण्ड ४७।१०-११) के अनुसार राम एवं सीता की अवस्थाएँ विवाह के समय क्रम से १३ एवं ६ वर्ष की थीं। किन्तु यह श्लोक स्पष्ट क्षेपक है, क्योंकि बालकाण्ड (७७।१६-१७) में ऐसा आया है कि सीता तथा उनकी अन्य बहिनें विवाहोपरान्त ही अपने पतियों के साथ संभोग-कार्य में परिलिप्त हो गयीं। यदि यह ठीक है तो सीता विवाह के समय छः वर्षीय नहीं हो सकतीं।

इस विषय में कि ब्राह्मण कन्याओं का विवाह ८ और १० वर्ष के बीच हो जाना चाहिए, जो नियम बने वे छठी एवं सातवीं शताब्दियों से लेकर आधुनिक काल तक विद्यमान रहे हैं। किन्तु आज बहुत-से कारणों से, जिनमें सामाजिक, आर्थिक आदि कारण मुख्य हैं, विवाह योग्य अवस्था बहुत बढ़ गयी है, यहाँ तक कि आजकल दहेज आदि कुप्रथाओं के कारण ब्राह्मणों की कन्याएँ १६ या कभी-कभी २० वर्ष के उपरान्त विवाहित हो पाती हैं। अब कुछ कन्याएँ तो अध्य-यनाध्यापन में लीन रहने के कारण देर में विवाह करने लगी हैं। अब तो कानून भी बन गये हैं, जिससे बचपन के विवाह अवैधानिक मान लिये गये हैं। सन् १९३८ के कानून के अनुसार १४ वर्ष के पहले कन्या-विवाह अपराध माना जाने लगा है।

विवाह-अवस्था-सम्बन्धी नियम केवल ब्राह्मणों पर ही लागू होते थे। संस्कृत साहित्य के कवि एवं नाटककारों

१३. असंस्कृतायाः कन्यायाः कुतो लोकास्तवानघे। शल्यपर्व ५२।१२।

१४. तथैव कन्यां च मृतां प्राप्तयौवनां तुल्येन पुंसा प्राप्तगृहवत्तां दहेत्। वैखानसस्मार्तसूत्र ५।९।

१५. दशवार्षिकं ब्रह्मचर्यं कुमारीणां द्वादशवार्षिकं वा। लौगाक्षिगृह्य १९।२। ब्राह्मणो ब्राह्मणीं नग्निकां गौरीं वा कन्यां. . .वरयेत्। अष्टवर्षादा दशमान्नग्निका। रजस्यप्राप्ते दशवर्षाद्वा द्वादशाद् गौरीत्यामनन्ति। वैखानस ६।१२; संग्रहकारोपि। यावच्चैलं न गृह्णाति यावत्क्रीडति पांसुभिः। यावद् दोषं न जानाति तावद् भवति नग्निका।। स्मृतिचन्द्रिका, पृ० ८०।

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च। त्रस्यते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।। यस्तां समुद्वहेत्कन्यां ब्राह्मणोऽज्ञानमोहितः। असंभाष्यो ह्यपांक्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः।। पराशर ७।८-९।

ने अपनी कथाओं की नायिकाओं को पर्याप्त प्रौढ रूप में चित्रित किया है। भवभूति के नाटक मालतीमाधव की नायिका मालती प्रथम दृष्टि में प्यार के आकर्षण में पड़ जानेवाली कन्या थी। वैखानस (६।१२) ने ब्राह्मणों के लिए नग्निका एवं गौरी कन्या की बात तो कही है, किन्तु उन्होने क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए यह नियम नहीं बनाया। हर्षचरित के अनुसार राज्यश्री विवाह के समय पर्याप्त युवती थी। संस्कारप्रकाश ने स्पष्ट लिखा है कि क्षत्रियों तथा अन्य लोगों की कन्या के लिए युवती हो जाने पर विवाह करना अमान्य नहीं है।

प्राचीन काल में अनुलोम विवाह विहित माने जाते थे, किन्तु प्रतिलोम विवाह की भर्त्सना की जाती थी। इन्हीं दो प्रकार के विवाहों से विभिन्न उपजातियों की उद्भावना हुई है।

कुछ विशिष्ट विद्वानों (उदाहरणार्थ, श्री सेनार्ट अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डिया' में) का कथन है कि आज के रूप में ऋग्वेद एवं वैदिक संहिताओं वाला जाति का स्वरूप नहीं प्राप्त होता। किन्तु हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि संहिता-काल में चारों वर्ण स्वीकृत रूप में विद्यमान थे और उन दिनों जाति के आधार पर उच्चता एवं हीनता घोषित हो जाया करती थी। किन्तु उन दिनों अपनी जाति से बाहर विवाह करना अथवा भोजन करना उतना अमान्य नहीं था जितना कि मध्य काल में पाया जाने लगा। वैदिक साहित्य के कुछ स्पष्ट उदाहरण ये हैं--शतपथब्राह्मण (४।१।५) के अनुसार जीर्ण एवं शिथिल ऋषि च्यवन का विवाह सुकन्या से हुआ था।, च्यवन भार्गव (भृगु के वंशज) या आंगिरस थे और सुकन्या मनु के वंशज राजा शर्यात की पुत्री थी। शतपथब्राह्मण (१३।२।९।८) ने वाजसनेयी संहिता (२६।३०) को उद्धृत कर लिखा है--"अतः वह (राजा) वैश्य नारी से उत्पन्न पुत्र का राज्याभिषेक नहीं करता।" इससे स्पष्ट है कि राजा वैश्य नारी से विवाह कर सकता था। ऋग्वेद के ५।६१।१७-१९ मन्त्र यह बताते हैं कि ब्राह्मण ऋषि श्यावाश्व का विवाह राजा रथवीति दार्भ्य की पुत्री से हुआ था।

अब हम धर्मसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों का अनुशीलन करें। कुछ गृह्यसूत्र (यथा आश्वलायन, आपस्तम्ब) तो वधू की जाति के विषय में कुछ कहते ही नहीं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१३।१ एवं ३) ने अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करने को लिखा है। इस धर्मसूत्र ने असवर्ण विवाह की भर्त्सना की है। मानव-गृह्य (१।७।८) एवं गौतम (४।१) ने सवर्ण विवाह की ही चर्चा की है। किन्तु गौतम को असवर्ण विवाह विदित थे, क्योंकि ऐसे विवाहों से उत्पन्न उपजातियों की चर्चा उन्होंने की है। शूद्रापति ब्राह्मण को श्राद्ध में बुलाने को उन्होंने मना किया है। मनु (३।१२), शंख एवं नारद ने अपने ही वर्ण में विवाह करने को सर्वोत्तम माना है। इसे पूर्व कल्प (सर्वोत्तम विधि) कहा गया है। कुछ लोगों ने अनुकल्प (कम सुन्दर विधि) विवाह की भी चर्चा की है, यथा ब्राह्मण किसी भी जाति की कन्या से, क्षत्रिय अपनी, वैश्य या शूद्र जाति की कन्या से, वैश्य अपनी या शूद्र जाति की कन्या से तथा शूद्र अपनी जाति की कन्या से विवाह कर सकता है। इस विषय में बौधायनधर्मसूत्र (१।८।२), शंख, मनु (३।१३), विष्णुधर्मसूत्र (२४।१-४) की सम्मति है। पारस्करगृह्यसूत्र (१।४) तथा वसिष्ठधर्मसूत्र (१।२५) ने लिखा है कि कुछ आचार्यों के कथनानुसार द्विजों को शूद्र नारी से विवाह करना चाहिए किन्तु बिना मन्त्रों के उच्चारण के। वसिष्ठ ने भर्त्सना की है, क्योंकि इससे वंश खराब हो जाता है और मृत्यूपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। विष्णुधर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि ने द्विजातियों को शूद्र से विवाह-सम्बन्ध करने की जो मान्यता दी है, वह उनकी नहीं है, उन्होंने तो केवल अपने काल की प्रचलित व्यवस्था की ओर संकेत किया है, क्योंकि उन्होंने कड़े शब्दों में ब्राह्मण एवं शूद्र कन्या से विवाह की भर्त्सना की है। विष्णुधर्मसूत्र (२६।५-६) ने लिखा है कि ऐसे विवाह से धार्मिक गुण नहीं प्राप्त होते, हाँ कामुकता की तुष्टि अवश्य हो सकती है। याज्ञवल्क्य (१।५७) ने ब्राह्मण या क्षत्रिय को अपने या अपने से नीचे के वर्ण से विवाह सम्बन्ध करने को कहा है, किन्तु यह बात जोरदार शब्दों में लिखी गयी है कि द्विजातियों को शूद्र कन्या से विवाह कभी न करना चाहिए! किन्तु अपने समय की प्रचलित प्रथा को मान्यता न देना भी कठिन ही था, अतः दोनों (मनु ९।१५२-१५३ एवं याज्ञवल्क्य २।१२५) ने घोषित किया है कि

यदि किसी ब्राह्मण को चारों वर्णों वाली पत्नियों से पुत्र हों तो ब्राह्मणी-पुत्र को १० में से ४ भाग मिलते हैं, क्षत्राणी-पुत्र को ३, वैश्या-पुत्र को २ तथा शूद्रा-पुत्र को १ मिलता है। याज्ञवल्क्य (१।९१-९२) ने भी ब्राह्मण एवं शूद्रा के विवाह को मान्यता दी है और कहा है कि उनकी सन्तान को पारशव कहा जाता है। यही मान्यता मनु (३।४४) ने भी दी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन स्मृतिकारों ने ब्राह्मण का क्षत्रिय या वैश्य कन्या से विवाह-सम्बन्ध बिना किसी सन्देह अथवा अनुत्साह के मान लिया है। किन्तु ब्राह्मण एवं शूद्र कन्या के विवाह-सम्बन्ध के विषय में कोई मतैक्य नहीं है। ऐसे विवाह हुआ करते थे, किन्तु उनकी भर्त्सना होती थी। ९वीं एवं १०वी शताब्दी तक अनुलोम विवाह होते रहे, किन्तु कालान्तर में इनका प्रचलन कम होता हुआ सदा के लिए लुप्त हो गया, और आज ऐसे विवाह अवैध माने जाते हैं। अभिलेखों में अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण मिलते हैं। वाकाटक राजा लोग ब्राह्मण थे (उनका गोत्र था विष्णुवृद्ध)। प्रभावती गुप्ता के अभिलेख से पता चलता है कि वह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री थी (पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चरण में) और उसका विवाह वाकाटक कुल के राजा रुद्रसेन द्वितीय से सम्पन्न हुआ था। तालगुण्ड स्तम्भ-लेख से पता चलता है कि कदम्ब-कुल का संस्थापक मयूरशर्मा था, जो स्पष्टतया ब्राह्मण था। उसके वंशजों के नाम के अन्त में 'वर्मा' आता है, जो मनु (२।३२) के अनुसार क्षत्रियों की उपाधि है। मयूरशर्मा के उपरान्त चौथी पीढ़ी के ककुत्स्थवर्मा ने अपनी कन्याएँ गुप्तों एवं अन्य राजाओं को दीं। यशोधर्मा एवं विष्णुवर्धन के घटोत्कच-अभिलेख से पता चलता है कि वाकाटक राजा देवसेन के मन्त्री हस्तिभोज के वंशज सोम नामक ब्राह्मण ने ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कन्याओं से विवाह किया था। लोकनाथ नामक सरदार के तिप्पेरा ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसके पूर्वज भरद्वाज गोत्र के थे, उसके नाना केशव पारशव (ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्र नारी से उत्पन्न) थे और केशव के पिता वीर द्विजसत्तम (श्रेष्ठ ब्राह्मण) थे। विजयनगर के राजा बुक्क प्रथम (१२६८-१२९८ ई०) की पुत्री विरूपा-देवी का विवाह आरग प्रान्त के प्रान्तपति ब्रह्म या बोमण्ण बोदेय नामक ब्राह्मण से हुआ था। प्रतिहार राजा लोग हरि-चन्द्र नामक ब्राह्मण एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न व्यक्ति के वंशज थे। गुहिल वंश का संस्थापक ब्राह्मण गुहदत्त था, जिसके वंशज भर्तृपट्ट ने राष्ट्रकूट राजकुमारी से विवाह किया।

संस्कृत साहित्य में भी असवर्ण विवाह के उदाहरण मिलते हैं। कालिदास कृत मालविकाग्निमित्र नामक नाटक से पता चलता है कि सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने क्षत्रिय राजकुमारी मालविका से विवाह किया। ब्राह्मणवंश में उत्पन्न पुष्यमित्र ने शुंग वंश के राज्य की स्थापना की थी। हर्षचरित में स्वयं बाण ने लिखा है कि उसकी भ्रमण-यात्रा के मित्रों एवं साथियों में उसके दो पारशव भाई भी थे, जिनके नाम थे चन्द्रसेन एवं मातषेण (ये दोनों बाण के पिता की शूद्र पत्नी से उत्पन्न हुए थे)। कंनौज के राजा महेन्द्रपाल के गुरु राजशेखर ने अपनी कर्पूरमंजरी (१।११) में लिखा है कि उसकी गुणशीलसम्पन्न पत्नी अवन्तिसुन्दरी चाहुआण (आधुनिक चौहान या छवन) नामक क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुई थी।

स्मृतियों एवं निबन्धकारों ने कब द्विजातियों के बीच भी असवर्ण विवाह बन्द कर दिया, इसके विषय में हमें कोई प्रकाश नही प्राप्त होता। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूप (९वीं शताब्दी) ने संकेत किया है कि उनके समय में ब्राह्मण क्षत्रिय कन्या से विवाह कर सकता था (याज्ञवल्क्य ३।२८३)। मनु के टीकाकार मेधातिथि ने भी निर्देश किया है कि उनके समय में (लगभग ९०० ई०) ब्राह्मण का विवाह क्षत्रिय तथा वैश्य कन्याओं से कभी कभी हो सकता था, किन्तु शूद्र कन्या से नहीं (मनु ३।१४)। किन्तु मिताक्षरा के काल तक सब कुछ वर्जित हो चुका था। आदित्यपुराण या ब्रह्मपुराण का हवाला देकर बहुत-से मध्यकालिक निबन्ध लेखक, यथा स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि आदि, कलियुग की वर्जित बातों मे अन्तर्जातीय विवाह भी सम्मिलित करते हैं।

आपस्तम्बस्मृति का कहना है कि दूसरी जाति की कन्या से विवाह करने पर महापातक लगता है और २४

कृच्छ्रों का प्रायश्चित्त करना पड़ता है। मार्कण्डेयपुराण (११३।३४-३६) ने राजा नाभाग की कथा कही है, जिसने एक वैश्य कन्या से राक्षस विवाह किया था और वह पाप का भागी हुआ था।

अब हम सपिण्ड विवाह का विवेचन उपस्थित करेंगे। सपिण्डता का तीन बातों में विशिष्ट महत्व है, यथा विवाह, वसीयत एवं अशौच (जन्म या मरण पर अपवित्रता)। सपिण्ड कन्या से विवाह करना सभी वर्णों में (शूद्रों में भी) वर्जित है। सपिण्ड के अर्थ के विषय में दो सम्प्रदाय हैं, एक मिताक्षरा का और दूसरा जीमूतवाहन (दायभाग के लेखक) का। दोनों के मत से सपिण्ड कन्या से विवाह नहीं हो सकता, किन्तु 'सपिण्ड' शब्द के अर्थ में दोनों के दो विचार हैं। याज्ञवल्क्य (१।५२-५३) की व्याख्या में विज्ञानेश्वर "असपिण्डा" उस नारी को कहते हैं जो सपिण्ड नहीं है, और "सपिण्ड" का तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति का वही पिण्ड (शरीर या शरीर का अवयव) है। दो व्यक्तियों के सपिण्ड-सम्बन्ध का तात्पर्य यह है कि दोनों में समान शरीर के अवयव हैं। इस प्रकार पुत्र का पिता से सापिण्ड्य सम्बन्ध है, क्योंकि पिता के शरीर के कण (शरीरांश) पुत्र में आते हैं। इसी प्रकार पितामह और पौत्र में सापिण्ड्य-सम्बन्ध है। इसी प्रकार पुत्र का माता से सापिण्ड्य-सम्बन्ध है। अतः नाना एवं नाती (पुत्री के पुत्र) में सापिण्ड्य सम्बन्ध हुआ। इसी प्रकार मौसी एवं मामा से भी सपिण्डता का सम्बन्ध होता है। चाचा एवं फूफी (पिता की बहिन) से भी सपिण्डता-सम्बन्ध है। पत्नी का पति से सापिण्ड्य-सम्बन्ध है, क्योंकि वह पति के साथ एक पिण्ड (पुत्र) का निर्माण करती है। इसी प्रकार भाइयों की स्त्रियों में सपिण्डता पायी जाती है, क्योंकि वे सपिण्ड संतान उत्पन्न करती हैं और उनके पति एक ही पिता के पुत्र हैं। इसी प्रकार जहाँ भी कहीं सपिण्ड शब्द आता है, उसे एक ही पिण्ड के सतत प्रवाह को सीधे रूप (पिता-पुत्र रूप) में या दूरी के रूप में (यथा पितामह-पौत्र रूप में) समझना चाहिए। इस प्रकार सपिण्डता की व्याख्या की जाय तो अन्ततोगत्वा इस अनादि विश्व में सब कोई एक ही सम्बन्ध वाले सिद्ध किये जा सकते हैं। इसी लिए ऋषि याज्ञवल्क्य ने एक सीमा का निर्धारण कर दिया, पाँचवीं पीढ़ी में माता के कुल में तथा सातवीं पीढ़ी में पिता के कुल में सपिण्डता की अन्तिम सीमा मानी जानी चाहिए। अतः पिता से छः पीढ़ियाँ ऊपर और पुत्र से ६ पीढ़ियाँ नीचे (स्वयं व्यक्ति सातवीं पीढ़ी में गिना जायगा) के वंशज सपिण्ड कहे जायँगे। किसी भी व्यक्ति से छः पीढ़ियाँ ऊपर या नीचे तथा उसको लेकर सात पीढ़ियाँ गिनी जाती हैं। अर्थात् कोई पूर्वज तथा उसके नीचे की छः पीढ़ियाँ मिलकर सात पीढ़ियों के द्योतक हुए। इसी प्रकार कोई व्यक्ति तथा उसके ऊपर छः पीढ़ियाँ मिलकर सात पीढ़ियों के द्योतक हुए। इसी प्रकार किसी लड़की के विषय में पाँचवीं पीढ़ी ऊपर (माता के कुल में) तथा सातवीं पीढ़ी (पिता के कुल में) नीचे गिनी जाती है। इसी प्रकार गिनने का क्रम चला करता है।

उपर्युक्त व्याख्या मिताक्षरा की है, जिसके अनुसार सापिण्ड्य पर आधारित प्रतिबन्धों के नियम बने हैं। यदि किसी पूर्वज ने ब्राह्मण कन्या तथा क्षत्रिय कन्या से विवाह किया तो उसके वंशजों में विवाह तीसरी पीढ़ी (सातवीं या पाँचवीं में नहीं) के उपरान्त हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा के नियम सार्वभौम माने जाते रहे। मिताक्षरा के कथनों में तथा अन्य स्मृतियों के कथनों में विरोध पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाज एवं परंपराएँ भाँति-भाँति की जातियों एवं उपजातियों में चलती आ रही हैं, अतः किसी प्रकार के नियमों का सार्वभौम होना असम्भव-सा हो रहा है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। स्वयं मिताक्षरा ने लिखा है कि वसिष्ठधर्मसूत्र (८।२) के अनुसार एक व्यक्ति माता के कुल से पाँचवें तथा पिता के कुल से सातवें कुल में विवाह कर सकता है, किन्तु याज्ञवल्क्य (जैसा कि मिताक्षरा ने लिखा है) के अनुसार माता से छठी पीढ़ी तथा पिता से आठवीं पीढ़ी में कन्या से विवाह किया जाता है। पैठीनसि के अनुसार माता से तीसरी पीढ़ी की तथा पिता से पाँचवीं पीढ़ी की कन्या से विवाह किया जा सकता है।

क्या कोई अपने मामा या फूफी की लड़की से, विशेषतः प्रथम से विवाह कर सकता है? इस बात पर प्राचीन काल से ही गहरा मतभेद रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।७।२१।८) ने अपने माता-पिता एवं सन्तानों के समानोदर सम्बन्धियों (माताओं एवं बहिनों) से संभोग करने को पातकीय क्रियाओं (महापापों) में गिना है। इस नियम के अनुसार अपने मामा एवं फूफी की लड़की से विवाह करना पाप है। बौधायनधर्मसूत्र (१।१९-२६) के अनुसार दक्षिण में पाँच प्रकार की विलक्षण रीतियाँ पायी जाती हैं---बिना उपनयन किये हुए लोगों के साथ बैठकर खाना, अपनी पत्नी के साथ बैठकर खाना, उच्छिष्ट भोजन करना, मामा तथा फूफी की लड़की से विवाह करना। इससे स्पष्ट है कि बौधायन के बहुत पहले से दक्षिण में (सम्भवतः नर्मदा के दक्षिण भाग में) मामा तथा फूफी (पिता की बहिन) की लड़की से विवाह होता था, जिसे कट्टर धर्मसूत्रकार, यथा गौतम एवं बौधायन निन्द्य मानते थे। मनु (११।७२-१७३) ने मातुलकन्या, मौसी की कन्या या पिता की बहिन की कन्या (पितृष्वसृदुहिता) से संभोग-सम्बन्ध पर चान्द्रायण व्रत के प्रायश्चित्त की बात कही है, क्योंकि ये कन्याएँ सपिण्ड कही जाती हैं, इनसे विवाह करने पर नरक की प्राप्ति होती है। हरदत्त ने आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।६) की व्याख्या करते हुए शातातप का एक श्लोक उद्धृत किया है और कहा है कि यदि कोई मातुलकन्या से विवाह कर ले या सपिण्ड गोत्र या माता के गोत्र (नाना के गोत्र) या सप्रवर गोत्र की कन्या से विवाह कर ले तो उसे चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। याज्ञवल्क्य (३।२५४) की व्याख्या में विश्वरूप ने मनु (११। १७२) तथा संवर्त को उद्धृत कर मातुलकन्या से संभोग कर लेने पर पराक प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। मनु (२। १८) की व्याख्या में मेधातिथि ने कुछ प्रदेशों में इस प्रथा की चर्चा की है। मध्य काल के कुछ लेखकों ने मातुलकन्या से विवाह-सम्बन्ध की भर्त्सना की और कुछ ने इसे स्वीकार किया। अपरार्क (पृ० ८२--८४) ने भर्त्सना की है और यही बात निर्णयसिन्धु में भी पायी जाती है (पृ० २८६)। किन्तु स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० ७०-७४), पराशर-माधवीय (१।२, पृ० ६३-६८) आदि ने मातुलकन्या से विवाह-सम्बन्ध वैध माना है। वे यह मानते हैं कि मनु, शातातप, सुमन्तु आदि ने इसे भर्त्सना की दृष्टि से देखा है, तथापि वे कहते हैं कि वेद के कुछ वाक्यों, कुछ स्मृतियों तथा कुछ शिष्टों ने इसे मान्यता दी है, अतः ऐसे विवाह सम्बन्ध सदाचार के अन्तर्गत आते हैं। वे इस विषय में शतपथब्राह्मण (१।८। ३।६) को उद्धृत करते हैं। विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।५३) ने भी इस वैदिक अंश को उद्धृत किया है, किन्तु वे यह नहीं कहते कि इससे मातुलकन्या का विवाह-सम्बन्ध वैध सिद्ध किया जा सकता है। स्मृतिचन्द्रिका, पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों ने खिल सूक्त को उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य यह है---"आओ हे इन्द्र, अच्छे मार्गों से हमारे यज्ञ में आओ और अपना अंश लो। तुम्हारे पुजारियों ने घृत से बना मांस तुम्हें उसी प्रकार दिया है, जैसे कि मातुलकन्या एवं फूफी की कन्या विवाह में लोगों के भाग्य में पड़ती है।" विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।५३) ने इसकी व्याख्या अन्य ढंग से की है। अपरार्क (याज्ञवल्क्य १।५३) ने भी इस उद्धरण के उत्तरांश की व्याख्या दूसरे ढंग से करके मातुलकन्या के विवाह को अमान्य ठहराया है। वैद्यनाथकृत स्मृतिमुक्ताफल का कहना है---"आन्ध्रों में शिष्ट लोग वेदपाठी होते हैं और मातुलसुता-परिणय को मान्यता देते हैं; द्रविणों में शिष्ट लोग समान पूर्वज से चौथी पीढ़ी में विवाह-सम्बन्ध वैध मानते हैं।" दक्षिण में (मद्रास प्रान्त आदि में) कुछ जातियाँ मातुलकन्या से विवाह करना बहुत अच्छा समझती हैं। कुछ ब्राह्मण जातियाँ, यथा कर्नाटक एवं कर्हाड़ के देशस्थ ब्राह्मण आज भी इस नियम को मानते हैं। संस्कारकौस्तुभ (पृ० ६१६।६२०) एवं धर्मसिन्धु मातुलसुता-परिणयन को वैध मानते हैं।

स्त्री के गोत्र के विषय में स्मृतियों एवं निबन्धों में बहुत विवेचन किया गया है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।८। १२) की व्याख्या में कुछ लोगों ने यह स्वीकार किया है कि विवाह के उपरान्त पति एवं पत्नी, दोनों एक गोत्र के हो जाते हैं (लघु हारीत)। यम (८६), लिखित (२५) का कथन है कि विवाह के उपरान्त चौथी रात्रि को पत्नी पति के साथ एक और एक गोत्र वाली हो जाती है, उसका पिण्ड एवं अशौच एक हो जाता है। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।२५४)

ने दो मतों की चर्चा करके अन्तिम निर्णय यही निकाला है कि विवाह के उपरान्त भी स्त्री पिण्डदान के लिए अपने पिता के गोत्र वाली बनी रहती है, किन्तु यह बात तभी सम्भव है, जब कि वह पुत्रिका (बिना भाई वाली) हो और आसुर विवाह-रीति से विवाहित हुई हो; किन्तु यदि वह ब्राह्म या किसी अन्य स्वीकृत विवाह प्रकार से विवाहित हुई हो तो विकल्प से अपने पिता के गोत्र से अपनी माँ को पिण्ड दिया जा सकता है (देखिए अपरार्क, पृ० ४३२, ५४२, स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० ६९)।

तीसरी शताब्दी के नागार्जुनकोण्डा के कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि वाजपेय, अश्वमेध एवं अन्य यज्ञ करनेवाले सिरी छान्तमूल के पुत्र राजा सिरी विरपुरिसदत ने अपनी फूफी (पिता की बहिन) की लड़की से विवाह किया था। कुछ लेखकों ने मातुलकन्या से विवाह को उचित किन्तु फूफी की कन्या से अनुचित ठहराया है (निर्णयसिन्धु ३, पृ० २८६, पूर्वार्ध)। इसी प्रकार स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० ७१) एवं पराशरमाधवीय (१।२, पृ० ६५) ने लिखा है कि यद्यपि मौसी या मौसी की कन्या से विवाह-सम्बन्ध वैसा ही मान्य होना चाहिए जैसा कि मातुलकन्या से, किन्तु शिष्ट लोग इसे बुरा मानते हैं अतः यह अमान्य है। दोनों ग्रन्थ याज्ञवल्क्य (१।१५६) पर विश्वास करते हैं।

दक्षिण में कुछ लोग, जिनमें ब्राह्मण भी सम्मिलित हैं (यथा—कर्नाटक एवं मैसूर के देशस्थ लोग), ऐसे हैं जो अपनी बहिन की कन्या से विवाह कर लेते हैं। वेलम जाति के लोग अपनी बहिन की लड़की से विवाह कर सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट होता है कि विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्धों एवं नियमों के विषय में बड़ा मतभेद रहा है। इन विविध मतभेदों को देखकर संस्कारकौस्तुभ (पृ० ६२०) एवं धर्मसिन्धु (पृ० २२४) के वचन बहुत तर्कयुक्त एवं व्यावहारिक जँचते हैं। इनका कहना है कि कलियुग में भी जिनके कुलों में या जिन प्रदेशों में मातुलकन्या विवाह युगों से प्रचलित रहा है, उन्हें उन लोगों द्वारा (जो लोग मातुल-कन्याविवाह के विरोधी हैं) श्राद्ध में बुलाया जाना चाहिए और उनकी कन्याओं से अपने कुल में विवाह करने से नहीं हिचकना चाहिए।

विमाता के कुल की कन्याओं से सपिण्डता किस रूप में होती है? इस प्रश्न पर उद्वाहतत्त्व (पृ० ११८), निर्णयसिन्धु (पृ० २८९), स्मृतिचन्द्रिका (पृ० ६९५-६९९), संस्कारकौस्तुभ (पृ० ६२१-६३०) एवं धर्मसिन्धु (पृ० २३०) ने विचार किया है। वे सभी सुमन्तु का उद्धरण देते हैं—"पिता की सभी पत्नियाँ माँ हैं, इन नारियों के भाई मामा हैं, उनकी बहिनें अपनी वास्तविक माँ की बहिनों (मौसियों) के समान हैं, इनकी कन्याएँ अपनी बहिनें हैं, इनकी सन्तानें अपनी सगी बहिनों की सन्तानों के सदृश हैं, अन्यथा (इनसे विवाह करने से) संकर की गुंजाइश है।"[16] इस विषय में दो मत हैं। प्रथम मत यह है, जिसे बहुत से लोग मानते हैं—कोई व्यक्ति अपनी विमाता के भाई या बहिन की कन्या या उस कन्या की कन्या से विवाह नहीं कर सकता। किन्तु दूसरे मत से सापिण्ड्य के अतिदेश के नियम का प्रतिरोध हो जाता है।

कुछ लेखकों ने 'विरुद्ध सम्बन्ध' के आधार पर कुछ कन्याओं से विवाह करने पर रोग लगा दी है, यद्यपि इन दशाओं में सापिण्ड्य-सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। निर्णयसिन्धु (पृ० २३९) में उद्धृत गृह्य-परिशिष्ट के अनुसार उसी कन्या से विवाह करना चाहिए जिसके साथ विरुद्ध सम्बन्ध न हो, जैसे अपनी पत्नी की बहिन की कन्या या अपने चाचा की पत्नी की बहिन से विवाह विरुद्ध-सम्बन्ध है। आधुनिक काल में ऐसे विवाह होते रहे हैं। तेलुगु एवं तमिल जिलों के ब्राह्मणों एवं शूद्रों में अपनी पत्नी की बहिन की लड़की से विवह वैध माना जाता है।

१६. पितृपत्न्यः सर्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुलास्तद्भगिन्यो मातृस्वसारस्तद्दुहितरश्च भगिन्यस्तदपत्यानि भागिनेयानि। अन्यथा संकरकारिणः स्युः। सुमन्तु।

गोद लिये हुए पुत्र के सापिण्ड्य-सम्बन्ध के विवाह, अशौच एवं श्राद्ध के विषय में बहुत से ग्रन्थ, यथा संस्कार-कौस्तुभ (पृ० १८२-१८६), निर्णयसिन्धु (पृ० २९०-२९१), व्यवहारमयूख, संस्कारप्रकाश (पृ० ६८८-६९४) एवं संस्काररत्नमाला--विस्तार के साथ कहते हैं। अशौच एवं श्राद्ध के सापिण्ड्य के बारे में आगे लिखा जायगा। दत्तकसपिण्डता के विवाह के विषय में कई एक विरोधी मत हैं। संस्कारप्रकाश (पृ० ६९०) के अनुसार गोद दिये हुए पुत्र का वास्तविक पिता के साथ सापिण्ड्य सात पीढ़ियों तक रहता है और गोद लेनेवाले पिता के साथ तीन पीढ़ियों तक। संस्कारकौस्तुभ के अनुसार यदि दत्तक पुत्र का उपनयन वास्तविक पिता के यहाँ हो गया हो तो उसका सापिण्ड्य वास्तविक पिता के कुल में सात पीढ़ियों तक रहेगा, किन्तु यदि जातकर्म से लेकर उपनयन तक सारे संस्कार पालक पितृ-कुल में हुए हैं तो उसका सापिण्ड्य पालक-पितृकुल में सात पीढ़ियों तक रहेगा, किन्तु यदि केवल उपनयन ही पालक पितृकुल में हुआ है तो सापिण्ड्य केवल पाँच पीढ़ियों तक रहेगा। निर्णयसिन्धु के अनुसार दोनों कुलों में सात पीढ़ियों तक सापिण्ड्य पाया जायगा। इसी प्रकार बहुत-से मतभेद हैं, जिनके पचड़े में स्थानाभाव के कारण नहीं पड़ा जा रहा है।

दक्षिण में माध्यन्दिनी शाखा के देशस्थ ब्राह्मण लोग उस कन्या से विवाह नहीं करते जिसके पिता का गोत्र लड़के (होनेवाले पति) के नाना के गोत्र के समान हो। मनु (३।५) ने लिखा है—"वह कन्या जो वर की माता से सपिण्ड सम्बन्ध न रखनेवाली है और न वर के पिता की सगोत्र है, विवाहित की जा सकती है (किन्तु यह विवाह द्विजों में ही मान्य है)।" मनु के इस श्लोक की व्याख्या में कुल्लूक, मदनपारिजात, दीपकलिका, उद्वाहतत्त्व नामक टीकाकारों के मत जाने जा सकते हैं। इन लोगों के मत से नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह वर्जित है। मेधातिथि ने (मनु ३।५) तो नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने पर चान्द्रायण व्रत का प्रायश्चित्त बताया है और कन्या को छोड़ देने को कहा है। इस विषय में हरदत्त ने भी यही बात कही है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।१६) की टीका में शातातप को उद्धृत करते हुए हरदत्त ने अपनी बात कही है। और देखिए कुल्लूक, स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ६९), हरदत्त (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।५।११।१६), गृहस्थरत्नाकर (पृ० १०), उद्वाहतत्त्व (पृ० १०७) तथा अन्य निबन्ध, जिनमें व्यास का यह मत उद्धृत किया गया है कि कुछ लोग माता के गोत्र की कन्या से विवाह करना अच्छा नहीं समझते, किन्तु यदि कन्या का गोत्र अज्ञात हो तो विवाह किया जा सकता है, विवाह हो जाने पर स्त्री अपना मौलिक गोत्र त्याग कर पति के गोत्र की हो जाती है। अतः उपर्युक्त "माता के गोत्र" का तात्पर्य है माता का मौलिक गोत्र अर्थात् नाना का गोत्र।

दायभाग एवं रघुनन्दन का मत, जिसे बंगाली सम्प्रदाय बड़ी महत्ता देता है, सपिण्ड की व्याख्या में मिताक्षरा से मेल नहीं खाता। इस मत में 'पिण्ड' का अर्थ है वह "भात का पिण्ड या गोलक" जो पितरों को श्राद्ध के समय दिया जाता है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मिताक्षरा के अनुसार 'पिण्ड' का अर्थ है 'शरीर' या 'शरीर के अवयव।' सपिण्ड का अर्थ है "वह जो दूसरे से, भोजन-आहुति देने के कारण, सम्बन्धित हो।" दायभाग के लेखक ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वसीयत को ध्यान में रखकर किया है और अशौच के सन्दर्भ में सापिण्ड्य-सम्बन्ध को भिन्न रूप में समझने को कहा है। दायभाग के प्रणेता जीमूतवाहन ने यह सापिण्ड्य-सम्बन्ध वाला सिद्धान्त विवाह के विषय में नहीं रखा है। उनका सिद्धान्त है कि वसीयत के बारे में मुख्य बात अथवा कारण है वह उपकारकत्व (आध्यात्मिक लाभ) जो पिण्ड देने पर मरे हुए व्यक्ति को प्राप्त होता है। जीमूतवाहन ने इस विषय में अपना मत या अपनी व्याख्या मनु (९।१०६) पर आश्रित मानी है। अपने सापिण्ड्य सिद्धान्त के लिए वे दो कथनों में विश्वास करते हैं, यथा बौधायन-धर्मसूत्र (१।५।११३-११५) एवं मनु (९।१८६-१८७)। बौधायन के अनुसार "प्रपितामह, पितामह, पिता एवं अपने सहोदर भाई, सवर्ण पत्नी के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, ये सभी अविभाजित दाय के भागी होते हैं और **सपिण्ड** कहे जाते हैं। किन्तु विभाजित दाय के भागी को **सकुल्य** कहते हैं। इस प्रकार सन्तान रहने पर भी उन्हें धन प्राप्त हो सकता है;

सपिण्डों के अभाव में सकुल्यों को धन मिलता है।" मनु (९।१८६-१८७) के अनुसार "तीन को तर्पण अवश्य देना चाहिए, तीन को पिण्ड मिलता है, चौथा तर्पण एवं पिण्ड देनेवाला होता है, पाँचवाँ कोई नहीं है। मरनेवाले के सपिण्डों में जो सर्वसन्निकट होता है उसी को धन मिल जाता है।" जीमूतवाहन ने मनु के उपर्युक्त कथन की व्याख्या यों की है—जीवित व्यक्ति अपने तीन पुरुष-पितरों को पिण्ड देता है, किन्तु जब वह स्वयं मर जाता है, उसका पुत्र सपिण्डीकरण श्राद्ध करता है;[१७] इस प्रकार वह अपने पितरों के साथ एक हो जाता है और अपने पितामह तथा पिता के साथ तीन पिण्डों का अधिकारी होता है और उसका पुत्र इस प्रकार अपने प्रपितामह, पितामह तथा पिता को पिण्डदान करता है। अतः वे, जिन्हें वह पिण्ड देता है, और वे जो उसे पिण्ड देते हैं, "अविभक्त-दायाद सपिण्ड" कहे जाते हैं। जीमूतवाहन के विरोध में कई एक सिद्धान्त रखे जा सकते हैं। सर्वप्रथम वे बौधायन के वाक्य के आधार पर पिण्ड के अर्थ को दाय के साथ जोड़ते हैं, जिसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। बौधायन ने केवल सपिण्ड की अर्थात् उन लोगों की चर्चा की है, जो केवल अविभक्त कुल में रहते हैं और जिनका धन अभी विभाजित नहीं हुआ है। दूसरे, स्वयं जीमूतवाहन अपने तर्क पर पूरा भरोसा नहीं रखते दृष्टिगोचर होते।

दायक्रमसंग्रह के लेखक एवं दायभाग के टीकाकार श्रीकृष्ण, स्मृतितत्त्व तथा अन्य ग्रन्थों के लेखक रघुनन्दन तथा अन्य लेखक दायभाग के नियमों को विस्तार से समझाते हैं। रघुनन्दन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ उद्वाहतत्त्व में मत्स्यपुराण का उद्धरण दिया है—"पूर्वजों में चौथा एवं अन्य (उसके ऊपर दो) **लेप** (पके चावल के पिण्ड-निर्माण के समय पिण्ड बनाने वाले के हाथ में बचे हुए अंश) के भागी होते हैं, पिता एवं अन्य शेष (अर्थात् कर्ता के ऊपर दो) **पिण्ड** के भागी होते हैं, जो पिण्ड देता है वह सातवाँ होता है; सापिण्ड्य सात पीढ़ियों तक जाता है।" विवाह के लिए सापिण्ड्य की कोई परिभाषा रघुनन्दन द्वारा नहीं दी गयी है, किन्तु कई ग्रन्थों में पायी जाने वाली "पिता से सातवीं पीढ़ी तथा माता से पाँचवीं पीढ़ी" की चर्चा में पाये जानेवाले मतभेद पर विवेचन उन्होंने अवश्य किया है। उन्होंने पितृबन्धुओं एवं मातृबन्धुओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार पितामह की बहिन के लड़के, पितामही की बहिन के लड़के और अपने पिता के मामा के लड़के पितृबन्धु कहे जाते हैं; तथा व्यक्ति की माता के पिता (नाना) के भाई के लड़के, माता की माता (नानी) की बहिन के लड़के, माता के मामा के पुत्र मातृबन्धु कहे जाते हैं। विवाह के लिए हमें इन पर विचार करना पड़ता है और प्रतिबन्ध स्वीकार करना पड़ता है।

दायभाग सपिण्ड-विवाह के लिए किसी वैदिक वचन का उद्धरण नहीं देता। किन्तु मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।५२) तीन वैदिक वचनों पर आश्रित है, जिसकी चर्चा ऊपर यथास्थान हो चुकी है।

सन्निकट सपिण्डों में विवाह क्यों वर्जित माना जाता है? इस विषय में मानव-शास्त्रियों ने कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वेस्टरमार्क (हिस्ट्री आव ह्यूमन मैरेज, जिल्द २, पृ० ७१-८१) एवं रिवर्स (मैरेज आव कजिन्स इन इण्डिया, जे० आर० ए० एस० १९०७, पृ० ६११-६४०) ने कहा है कि लोग सन्निकट लोगों में विवाह करने को व्यभिचार समझते थे। भारत में सपिण्ड-विवाह पर प्रतिबन्ध सम्भवतः दो कारणों से था—(१) यदि सन्निकट सम्बन्धी आपस में विवाह सम्बन्ध स्थापित करें तो उनके दोष कई गुने रूप में उनकी सन्तानों में बढ़ जायेंगे तथा (२) यदि सन्निकट लोगों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित होंगे तो गुप्त प्रेम की परम्पराएँ गूँज उठेंगी और समाज में अनैतिकता का राज्य बढ़ जायगा और उन कन्याओं के लिए, जो एक ही घर में कई सन्निकट एवं दूर के सम्बन्धियों के साथ रहती हैं, वर पाना कठिन हो जायगा।

१७. 'सपिण्डीकरण' में चार पिण्ड बनाये जाते हैं, एक मृतक के लिए और तीन उसके तीन पितरों के लिए। वे चारों पिण्ड पुनः एक बना दिये जाते हैं, जिससे जो प्रेत है वह इन पितरों के साथ मिलकर पितृलोक में निवास करे।

पराशरमाधवीय (१, भाग २, पृ० ५९) ने स्पष्ट लिखा है कि केवल वही कन्या, जो वर की सपिण्ड नहीं है, विवाह करने योग्य है। अब हम 'सपिण्ड' शब्द की दो व्याख्याओं के विषय में वैदिक साहित्य का हवाला देंगे। मिताक्षरा ने सपिण्ड को "शरीर या शरीरावयव" से तथा दायभाग ने "चावल के पिण्ड" से संयोजित कर रखा है।

'पिण्ड' शब्द ऋग्वेद (१।१६२।१९) एवं तैत्तिरीय संहिता (४।६।९।३) में आया है, और लगता है, उसका अर्थ है "अग्नि में आहुति रूप में दिये हुए यज्ञिय पशु के शरीर का एक भाग।" यहाँ 'पिण्ड' शब्द का अर्थ चावल का गोलक (पिण्ड) नहीं है। किन्तु तैत्तिरीय संहिता (२।३।८२) एवं शतपथब्राह्मण (२।४।२।२४) में 'पिण्ड' शब्द का अर्थ है चावल का पिण्ड (गोलक) जो पितरों को दिया जाता है। निरुक्त (३।४ एवं ५) ने "पिण्डदानाय" (चावल का पिण्ड देने के लिए) शब्द दो बार प्रयुक्त किया है। किन्तु 'सपिण्ड' शब्द वैदिक साहित्य में किस अर्थ का द्योतक था, हमें इस पर कोई प्रकाश नहीं मिलता। धर्मसूत्रों में 'सपिण्ड' शब्द बहुधा आया है और वे पिण्द-दान करने एवं दाय लेने में गहरा सम्बन्ध व्यक्त करते हैं (देखिए, गौतम १४।१३।२८।२१, आपस्तम्ब० २।६।१४।२, वसिष्ठ ४।१६-१८, विष्णु० १५।४०)।

हमने बहुत पहले देख लिया है कि कुछ ऋषि सगोत्र कन्या और कुछ सप्रवर कन्या से विवाह करने को मना करते हैं। बहुत-से ऋषियों ने, जिनमें विष्णु, नारद आदि मुख्य हैं, सगोत्र एवं सप्रवर कन्या से विवाह अमान्य ठहराया है (विष्णुधर्मसूत्र २४।९, याज्ञवल्क्य १।५३, नारद-स्त्रीपुंस, ७)। अतः **गोत्र** एवं **प्रवर** के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है।

ऋग्वेद (१।५१।१३, १।१७।१, ३।३९।४, ३।४३।७, ९।८६।२३, १०।४८।२, १०।१२०।८) में गोत्र का अर्थ है "गौशाला" या "गायों का झुण्ड"। स्वाभाविक रूपक में 'गोत्र' अवरुद्ध जल वाले बादल या वृत्र (बादल राक्षस) या पानी देनेवाले बादलों को छिपा रखने वाला पर्वत-शिखर कहा गया है। और देखिए ऋग्वेद २।२३।३ (जहाँ बृहस्पति का रथ 'गोत्रभिद्' कहा गया है), १०।१०३।७ (तैत्तिरीय संहिता ४।६।४।१, अथर्ववेद ५।२।८, वाजसनेयी संहिता १७।३९), ६।१७।२, १०।१०३।६। यहाँ 'गोत्र' का अर्थ 'दुर्ग' भी है। कहीं-कहीं गोत्र का अर्थ है 'समूह' (ऋग्वेद २।२३।२८, ६।६५।५)। 'समूह' से 'मनुष्यों का दल' अर्थ निकालना सरल है। एक स्थान पर "एक ही पूर्वज के वंशज" के अर्थ में भी 'गोत्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद (५।२१।३) में "विश्वगोत्र्यः" (सभी कुलों से सम्बन्धित) शब्द आया है। यहाँ 'गोत्र' शब्द का सुस्पष्ट अर्थ है "आपस में सम्बन्धित मनुष्यों का एक दल।" कौशिक-सूत्र (४।२) में एक मन्त्र आया है जिसमें गोत्र का निश्चयात्मक अर्थ है "मनुष्यों का एक दल।"

तैत्तिरीय संहिता के बहुत से वचन व्यक्त करते हैं कि बड़े-बड़े ऋषियों के वंशज उन ऋषियों के नाम से पुकारे जाते थे। तैत्तिरीय संहिता (१।८।१८) में आया है कि "होता भार्गव (भृगु का वंशज) है।" टीकाकार ने व्याख्या की है कि यह केवल राजसूय में होता है। यह सम्भव है कि उन दिनों वंशानुक्रम गुरु एवं शिष्य तथा पिता एवं पुत्र से माना जाता था। प्राचीन काल में व्यवसाय बहुत कम थे, अतः यह सम्भव है कि उन दिनों पुत्र अपने पिता से ही व्यवसाय सीखता था। तैत्तिरीय संहिता (७।१।९।१) में आया है—"अतः एक साथ ही दरिद्र (या बूढ़े) दो जामदग्निय नहीं मिल पाते।" इससे पता चलता है कि उन दिनों जमदग्नि बहुत प्राचीन ऋषि कहे जाते थे और तब से उनके बहुत-से वंशज हो चुके थे, वे सभी जामदग्न्य (या ग्निय) कहे जाते थे, और उनमें दो वंशज भी लगातार दरिद्र या बूढ़े नहीं पाये गये।

ऋग्वेद के मन्त्रों में प्रसिद्ध ऋषियों के वंशज बहुवचन में कहे गये हैं—"वसिष्ठों ने अपने पिता की भाँति अपने स्वर उच्च किये" (ऋग्वेद १०।६६।१४)। ऋग्वेद (६।३५।५) में भरद्वाज आंगिरस कहे गये हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार भरद्वाज वह गोत्र है जो अंगिरागण की श्रेणी में आता है। ब्राह्मण-साहित्य में कई एक ऐसे संकेत

हैं जिनसे पता चलता है कि पुरोहितों के कुलों के कई दल थे, जो अपने संस्थापकों (वास्तविक या काल्पनिक) के नाम से विख्यात थे और आपस में पूजा-अर्चा की विधियों में भिन्न थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।४) में आया है कि पूत वैदिक अग्नियों का आधान (प्रतिष्ठापन) भृगुओं या अंगिरसों के लिए "भृगूणां (अंगिरसाम्) त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधामि" नामक मन्त्र से होना चाहिए, किन्तु अन्य ब्राह्मणों के लिए "आदित्यानां त्वा देवानां व्रतपते" के साथ। तैत्तिरीय संहिता (२।२।३) में "आंगिरसी प्रजा" (अंगिरस्-दल के लोग) का प्रयोग हुआ है। ताण्ड्यब्राह्मण (१८।२।१२) का मत है कि उदुम्बर का चमस सगोत्र ब्राह्मण को दक्षिणा स्वरूप देना चाहिए। कौषीतकि ब्राह्मण (२५।१५) में आया है कि विश्वजित् यज्ञ (जिसमें अपना सर्वस्व दान कर दिया जाता है) करने के उपरान्त व्यक्ति को अपने गोत्र के ब्राह्मण के यहाँ वर्ष भर रहना चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण (३०।७) में एक गाथा है जो ऐतश एवं उसके पुत्र अभ्यग्नि के बारे में है। वहाँ ऐसा लिखा है कि ऐतशायन अभ्यग्नि लोग औवों में सबसे बड़े पातकी हैं। कौषीतकि ब्राह्मण में भी यही गाथा आयी है और लिखा है कि ऐतशायन लोग भृगुओं में निकृष्ट हो गये, क्योंकि उनके पिता ने ऐसा शाप दिया था। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार ऐतशायन लोग भृगुगण की उपशाखा थे। विश्वामित्र द्वारा पुत्र रूप में स्वीकृत कर लिये जाने पर शुनःशेप देवरात कहलाये और ऐतरेय ब्राह्मण (३३।५) का कहना है कि कापिलेय एवं बाभ्रव देवरात से सम्बन्धित थे। बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार देवरात एवं बभ्रु विश्वामित्र गोत्र की उपशाखाएँ थे। शुनःशेप जन्म से आंगिरस थे (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।५)। इससे स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मण के काल में गोत्र-सम्बन्ध जन्म से था न कि "आचार्य से शिष्य" द्वारा सम्बन्धित। उपनिषदों में ऋषि लोग ब्रह्मज्ञान की व्याख्या करते समय अपने शिष्यों को उनके गोत्र-नाम से पुकारते थे, यथा भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव एवं कात्यायन गोत्रों से (प्रश्न० १।१); वैयाघ्रपद्य एवं गौतम (छान्दोग्य० ५।१४।१); गौतम एवं भरद्वाज, विश्वामित्र एवं जमदग्नि, वसिष्ठ एवं कश्यप (बृहदारण्यकोपनिषद् २।२।४)। इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों एवं प्राचीन उपनिषदों के कालों में उपशाखाओं के साथ गोत्रों की व्यवस्था प्रचलित थी। किन्तु यहाँ गोत्रों का उल्लेख यज्ञों या शिक्षा के सम्बन्ध में हुआ है। किन्तु विवाह के सम्बन्ध में गोत्र या सगोत्र का संकेत नहीं मिलता है। लाट्यायन श्रौतसूत्र (८।२।८ एवं १०) की व्याख्या से पता चलता है कि उसके पूर्व से ही सगोत्र विवाह वर्जित मान लिया गया था। बहुत-से गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में सगोत्र विवाह वर्जित माना गया है। इससे यह नहीं माना जाना चाहिए कि सगोत्र विवाह का निषेध सूत्र-काल से ही हुआ, प्रत्युत जैसा कि हमने उपर्युक्त विवेचन में देख लिया है, बहुत पहले से, कम-से-कम ब्राह्मण काल से उस पर सुविचारणा आरम्भ हो गयी थी।

गोत्र की बहुत महत्ता है। प्राचीन आर्यों में इसकी व्यावहारिक महत्ता थी। उसकी कुछ विशिष्ट बातें हम नीचे दे रहे हैं—

(१) सगोत्र कन्याओं से विवाह निषिद्ध माना जाता था।

(२) दाय के विषय में मरनेवाले मनुष्य का धन सन्निकट सगोत्र को मिलता था (गौतम २८।१९)।

(३) श्राद्ध में सगोत्र ब्राह्मणों को, जहाँ तक सम्भव हो, नहीं निमन्त्रित करना चाहिए (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।७।१७।४, गौतम १५।२०)।

(४) पार्वण, स्थालीपाक एवं अन्य पाकयज्ञों में जहाँ अन्य लोग हवि का मध्य भाग या पूर्वार्ध भाग काटते थे, वहाँ जामदग्न्य (जो पञ्चावत्ती हैं) मध्य, पूर्वार्ध एवं पश्चार्ध भाग काटते थे (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१०।१८-१९)।

(५) प्रेत के तर्पण में उसके गोत्र एवं नाम को दुहराया जाता था (आश्वलायनगृह्यसूत्र ४।४।१०)।

(६) चौल संस्कार में बालों का गुच्छा (चोटी) अपने गोत्र एवं कुलाचार के अनुसार छोड़ा जाता था (खादिरगृह्य २।३।३०)।

(७) आधुनिक काल में भी सन्ध्या-वन्दन के समय अपने गोत्र, प्रवर, वेदशाखा एवं सूत्र के नाम लिये जाते हैं।

श्रौत यज्ञों के विषय में कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं। जैमिनि का कहना है कि सत्र (यज्ञिय अवधियाँ जो १२ दिनों या कुछ अधिक दिनों तक चलती हैं) केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं, किन्तु उनमें भी भृगुओं, शौनकों एवं वसिष्ठों को मना है (६।७।२४-२६)। अत्रि, वध्र्यश्व, वसिष्ठ, वैश्य (वैन्य ?), शौनक, कण्व, कश्यप एवं संकृति गोत्र के लोग नाराशंस को द्वितीय प्रयाज के रूप में ग्रहण करते थे, किन्तु अन्य लोग तनूनपात् को (देखिए, जैमिनि ६।६।१ पर शबर)।

प्रवर की धारणा प्राचीन काल से ही गोत्र के साथ जुड़ी हुई है। दोनों पर प्रकाश साथ ही पड़ना चाहिए। 'प्रवर' का शाब्दिक अर्थ है "वरण करने या आवाहन करने योग्य (प्रार्थनीय)।" अग्नि की प्रार्थना इसलिए की जाती थी कि वह यज्ञ करनेवाले की आहुतियाँ देवों तक ले जाय। इस प्रार्थना के साथ उन ऋषियों (दूर के पूर्वजों) के नाम लिये जाते थे जो प्राचीन काल में अग्नि का आवाहन करते थे। इसी से 'प्रवर' शब्द का संकेत है यज्ञ करनेवाले के एक या अधिक श्रेष्ठ पूर्वज या ऋषियों से। प्रवर का समानार्थक शब्द है आर्षेय या आर्ष (याज्ञवल्क्य १।५२)। गृह्य एवं धर्मसूत्रों के अनुसार हमारे कतिपय घरेलू उत्सवों एवं आचारों में प्रवर का प्रयोग होता है। कुछ उदाहरण निम्न हैं—

(१) विवाह में सप्रवर कन्या से विवाह निषिद्ध है।

(२) उपनयन-संस्कार में मेखला में एक, तीन या पाँच गाँठें होती हैं जो कि बच्चे के प्रवर वाले ऋषियों की संख्या की द्योतक हैं (शांखायनगृह्यसूत्र २।२)।

(३) चौल कर्म में बच्चे के सिर पर कितने बाल-गुच्छ (चोटी) रहें, यह बच्चे के कुल के प्रवर के ऋषियों की संख्या पर निर्भर होता है (आपस्तम्बगृह्यसूत्र १६।६)।

गोत्र एवं प्रवर पर सूत्रों, पुराणों एवं निबन्धों में मतभेदों से भरा इतना लम्बा-चौड़ा साहित्य है कि उसे एक व्यवस्था में लाना बहुत कठिन कार्य है। प्रवरमञ्जरी के लेखक ने भी ऐसा ही कहा है।

पहले हमें यह समझना है कि सूत्रों एवं निबन्धों में गोत्र का क्या अर्थ है और वह प्रवर से किस प्रकार सम्बन्धित है। गोत्र एवं प्रवर के विषय में हमें निम्नलिखित श्रौत सूत्रों में पर्याप्त सामग्री मिलती है—आश्वलायन (उत्तरषट्क ६, खण्ड १०—१५), आपस्तम्ब (२४वाँ प्रश्न) एवं बौधायन (अन्त का प्रवराध्याय)। प्रवरमञ्जरी के कथनानुसार बौधायन का प्रवराध्याय सर्वोच्च है।

बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ एवं कश्यप सात ऋषि हैं और अगस्त्य आठवें ऋषि हैं। इन्हीं आठों की सन्तानें गोत्र हैं। यही श्रौतसूत्र यह भी कहता है कि यों तो सहस्रों, लक्षों, अर्बुदों की संख्या में गोत्र हैं, किन्तु प्रवर केवल ४९ हैं।

पुराणों में मत्स्य (१९५।२०२), वायु (८८ एवं ९९), स्कन्द (३।२) नामक पुराण गोत्रों एवं प्रवरों के बारे में उल्लेख करते हैं। महाभारत ने अनुशासनपर्व (४।४९-५९) में विश्वामित्र गोत्र की उपशाखाओं का वर्णन किया है। निबन्धों में स्मृत्यर्थसार (पृ० १४-१७), संस्कारप्रकाश (पृ० ५९१-६८०), संस्कारकौस्तुभ (पृ० ६३७-६९२), निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु, बालंभट्टी ने बड़े विस्तार से गोत्रों एवं प्रवरों पर लिखा है। प्रवरमञ्जरी जैसे विशिष्ट ग्रन्थ भी हैं।

गोत्र के विषय में सामान्य धारणा यही है कि इससे किसी एक पूर्वज से चली आयी हुई पंक्ति ज्ञात होती है, जिसमें सभी लोग आ जाते हैं। जब कोई अपना जमदग्नि-गोत्र कहता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह जमदग्नि ऋषि

का वंशज है। बहुत प्राचीन काल से गोत्रों के ये पुरुष संस्थापक आठ रहे हैं। यह बात पाणिनि को भी ज्ञात थी। पतञ्जलि का कहना है,--"८०,००० ऋषियों ने विवाह नहीं किया, अगस्त्य को लेकर आठ विवाहित ऋषियों से ही वंश-परम्परा बढ़ी। इन आठों के अपत्य **गोत्र** हैं, और इनके अतिरिक्त **गोत्रावयव** हैं।" किसी एक विशिष्ट पुरुष पूर्वज के वंशज एक गोत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। गोत्र भी ब्राह्मण जाति एवं वेद की भाँति अनादि हैं, ऐसा मेधातिथि का कहना है। एक प्रकार का लौकिक गोत्र भी होता है। यदि कोई व्यक्ति विद्या, धन, शक्ति, दया के फल-स्वरूप यशस्वी हो सकता है, तो सम्भव है कि उसके वंशज अपने को उसी के नाम से घोषित करना चाहें। ऐसी स्थिति में इसे लौकिक **गोत्र** कहते हैं।

प्रत्येक गोत्र के साथ १, २, ३ या ५ (किन्तु ४ नहीं और न ५ से अधिक) ऋषि होते हैं जो उस गोत्र के प्रवर कहलाते हैं। गोत्रों को दलों (गणों) में गठित किया गया है। आश्वलायनश्रौतसूत्र के अनुसार वसिष्ठ गण की चार उपशाखाएँ हैं, यथा--उपमन्यु, पराशर, कुण्डिन एवं वसिष्ठ; जिनमें प्रत्येक की बहुत-सी शाखाएँ हैं और प्रत्येक गोत्र कहलाती हैं। अतः व्यवस्था पहले गणों में, तब पक्षों में और तब पृथक्-पृथक् गोत्रों में होती है। भृगु एवं आंगि-रस आज भी गण हैं। बौधायन के अनुसार प्रमुख आठ गोत्र कई पक्षों में विभाजित हुए। उपमन्यु का प्रवर है वसिष्ठ, भरद्वसु, इन्द्रप्रमद; पराशर गोत्र का प्रवर है वसिष्ठ, शाक्त्य, पाराशर्य; कुण्डिन गोत्र का प्रवर है वसिष्ठ, मैत्रावरुण, कौण्डिन्य एवं वसिष्ठों का प्रवर है केवल वसिष्ठ। अतः कुछ लोगों के मत से प्रवर का तात्पर्य है ऋषिगण जो एक गोत्र के संस्थापक को अन्य गोत्र-संस्थापकों से पृथक् करते हैं।

यद्यपि 'प्रवर' शब्द ऋग्वेद में नहीं आता, किन्तु इसका समानार्थक शब्द 'आर्षेय' प्रयुक्त हुआ है, अतः प्रवर-प्रणाली का आधार ऋग्वेदीय है, यह स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद (९।९७।५१) में आया है--"उससे हम धन एवं जम-दग्नि सरीखे आर्षेय प्राप्त करें।" कभी-कभी अग्नि का आवाहन बिना प्रवर या आर्षेय शब्द का प्रयोग किये किया जाता है। ऋग्वेद (८।१०२।४) में आया है--"मैं अग्नि को और्व, भृगु, अप्नवान की भाँति बुलाता हूँ।" आश्चर्य की बात तो यह है कि ये तीनों प्रवर ऋषियों की श्रेणी में रखे जाते हैं (बौधायन ३)। ऋग्वेद (१।४५।३) में आया है--"हे जातवेदा (अग्नि), प्रस्कण्व पर भी ध्यान दो, जैसा कि प्रियमेध, अत्रि, विरूप एवं अंगिरा पर देते हो।" इसी प्रकार ऋग्वेद (७।१८।२१) में पराशर, शतयातु एवं वसिष्ठ के नाम आये हैं। इस मन्त्र में जिस पराशर का नाम आया है वह पश्चात्कालीन कथाओं में शक्ति का पुत्र एवं वसिष्ठ का पौत्र कहा गया है। पराशर गोत्र का प्रवर है पराशर, शक्ति एवं वसिष्ठ (आश्वालयन एवं बौधायन के मत से)। अथर्ववेद में (११।१।१६, ११।१।२५, २६, ३२, ३३, ३५, १२। ४।२ एवं १२, १६।८।१२-१३) आर्षेय का अर्थ है "ऋषियों के वंशज या वे जो ऋषियों से सम्बन्धित हैं।" तैत्तिरीय संहिता में आर्षेय एवं प्रवर सूत्रों में प्रयुक्त अर्थ में ही लिखित हैं (२।५।८।७)। भृगु का प्रवर है "भार्गव-च्यवन-अप्न-वानौर्व-जामदग्न्य।" कौषीतकि (३।२) एवं ऐतरेय ब्राह्मण (३४।७) में प्रवर के विषय में स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। आश्वलायनश्रौतसूत्र (उत्तरषट्क ६।१५।४-५) एवं बौधायनश्रौतसूत्र (प्रवरप्रश्न ५४) के मत से क्षत्रियों एवं वैश्यों के प्रवर उनके पुरोहित के प्रवर होते हैं या "मानव-ऐल-पौरूरवस" या केवल "मनुवत्"। शतपथब्राह्मण (१। ४।२।३-४) का कहना है कि यशस्वी पूर्वज, जिनका आवाहन किया जाता है, पिता एवं पुत्र की भाँति सम्बन्धित या कल्पित किये गये हैं, उनके पीछे कोई दैवी अनुक्रम नहीं पाया जाता।

महाभारत के अनुसार मौलिक गोत्र केवल चार थे--अंगिरा, कश्यप, वसिष्ठ एवं भृगु (शान्तिपर्व २९७।१७-१८)। सम्भवतः यह कवि की कोरी कल्पना मात्र है। बौधायन ने मूल गोत्र आठ माने हैं किन्तु उनके मत से भृगु एवं अंगिरा (जिनके भाग एवं उपभाग बहुत हैं) आठ गोत्रों में नहीं आते। स्पष्ट है, बौधायन को भी वास्तविक आठ गोत्रों के नाम अज्ञात-से थे। गौतम एवं भरद्वाज आठ में दो मौलिक गोत्र हैं, किन्तु वे एक साथ ही आंगिरस गण में रख दिये गये हैं।

अतः बौधायन की सूची भी अति प्रामाणिक नहीं ठहरती। बालंभट्टी ने १८ मुख्य गोत्र (बौधायन वाले ८+१० जिनमें कुछ कथाओं के राजाओं के नाम हैं) बताये हैं। बौधायन ने सहस्रों गोत्र बताये हैं और उनके प्रवराध्याय में ५०० गोत्रों एवं प्रवर ऋषियों के नाम हैं। प्रवरमंजरी के अनुसार तीन करोड़ गोत्र हैं, इसने लगभग ५००० गोत्र बताये हैं। अतः जैसा कि स्मृत्यर्थसार का कथन है, निबन्धों ने असंख्य गोत्रों की चर्चा की है और उन्हें ४९ प्रवरों में बाँट दिया है।

भृगुगण एवं अंगिरागण का अति विस्तार है। भृगुओं के दो प्रकार हैं, जामदग्न्य एवं अजामदग्न्य। जामदग्न्य भृगुओं को पुनः दो भागों में बाँटा गया है, यथा—वत्स एवं बिद (या विद) और अजामदग्न्य भृगुओं को पाँच भागों में बाँटा गया है, यथा—आर्ष्टिषेण, यास्क, मित्रयु, वैन्य एवं शुनक। इन पाँचों को केवल भृगु भी कहा जाता है। इन उपविभागों के अन्तर्गत बहुत-से गोत्र हैं, जिनकी संख्या एवं नामों के विषय में सूत्रकारों में मतैक्य नहीं है। जामदग्न्य-वत्सों के प्रवर में पाँच (बौधायन) या तीन (कात्यायन) ऋषि हैं, बिदों एवं आर्ष्टिषेणों के प्रवर में पाँच ऋषि हैं। ये तीन (वत्स बिद, आर्ष्टिषेण) पञ्चावत्ती (बौधायन) कहे जाते हैं और इनमें परस्पर विवाह नहीं हो सकता। पाँच अजामदग्न्य भृगुओं में बहुत-से उपविभाग हैं, आपस्तम्ब ने उनकी छः उपशाखाएँ किन्तु कात्यायन ने १२ बतायी हैं।

अंगिरागण के तीन विभाग हैं, यथा—गौतम, भरद्वाज एवं केवलांगिरस, जिनमें गौतमों में सात उपविभाग, भरद्वाजों में चार (रौक्षायण, गर्ग, कपिस् एवं केवल भरद्वाज) एवं केवलांगिरसों में छः उपविभाग हैं और इनमें प्रत्येक बहुत-से भागों में बटा हुआ है। यह सब विभाजन बौधायन के अनुसार है।

अत्रि (मूल आठ गोत्रों में एक) चार भागों में बँटा है (मुख्य अत्रि, वाद्भूतक, गविष्ठिर एवं मुद्गल)। विश्वामित्र दस भागों में बँटा है जिनमें प्रत्येक ७२ उपशाखाओं में विभाजित है। कश्यप के उपविभाग हैं—कश्यप, निध्रुव, रेभ एवं शण्डिल। वसिष्ठ के भी चार उपविभाग हैं (एक प्रवर वाले वसिष्ठ, कुण्डिन, उपमन्यु एवं पराशर), जिनमें प्रत्येक के १०५ प्रकार हैं। अगस्त्य के तीन उपविभाग हैं (अगस्त्य, सोमवाह, यज्ञवाह), जिनमें प्रथम २० उपविभागों में बँटा है।

जब यह कहा जाता है कि सगोत्र एवं सप्रवर विवाह वर्जित है, तो उपर्युक्त सभी पृथक् रूप से बाधा रूप में आ उपस्थित होते हैं। अतः एक लड़की जो सप्रवर नहीं है किन्तु सगोत्र होने के नाते, तथा सगोत्र नहीं है किन्तु सप्रवर होने के नाते, विवाह के योग्य नहीं मानी जा सकती। उदाहरणार्थ, यास्कों, वाधूलों, मौनों, मौकों के गोत्र विभिन्न हैं; किन्तु इनमें विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इनका प्रवर है "भार्गव-वैतहव्य-सावेतस।" इसी प्रकार संकृतियों, पूतिमासों, तण्डियों, शम्भुओं एवं शंगवों के गोत्र विभिन्न हैं किन्तु उनमें परस्पर विवाह नहीं हो सकता, क्योंकि उनका प्रवर समान है, यथा—आंगिरस, गौरीवीत, सांकृत्य (आश्वलायनश्रौतसूत्र के मत से)। यदि दो गोत्रों के प्रवरों में एक भी समान ऋषि हो गया तो दोनों गोत्र सप्रवर कहे जायँगे। किन्तु इस प्रकार की सप्रवरता भृगु एवं अंगिरागण में नहीं होती।

यद्यपि अधिकांश गोत्रों के तीन प्रवर ऋषि हैं, किन्तु कुछ प्रवर एक ऋषि वाले, या दो ऋषि वाले, या पाँच ऋषि वाले होते हैं। मित्रयुओं में, आश्वलायन के मत से एक ऋषि प्रवर है, यथा—प्रवर वाध्र्यश्व, वसिष्ठों (कुण्डिनों, पराशरों एवं उपमन्युओं को छोड़कर) में एक प्रवर ऋषि वासिष्ठ है, शुनकों में एक प्रवर ऋषि गृत्समद या शौनक या गार्त्समद है, अगस्तियों में एक प्रवर ऋषि आगस्त्य है। इसी प्रकार अन्य गोत्रों के प्रवर हैं। स्थान-संकोच के कारण हम विस्तार छोड़े जा रहे हैं।

कुछ ऐसे कुल हैं जो द्विगोत्र कहे जाते हैं। इनके लिए आश्वलायन ने "द्विप्रवाचनाः" शब्द प्रयुक्त किया है।

वे मूलतः तीन हैं, यथा शौंग-शैशिरि, संकृति एवं लौगाक्षि। भरद्वाज गोत्र की उपशाखा शुग द्वारा विश्वामित्र की उपशाखा के शैशिरि की पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ (नियोग प्रथा द्वारा), वह पुत्र शौंग-शैशिरि कहलाया। अतः शौंग-शैशिरि लोग भरद्वाज एवं विश्वामित्र गोत्रों में विवाह नहीं कर सकते। इनका प्रवर है आंगिरस-बार्हस्पत्य-भारद्वाज-कात्यांत्कील। एक प्रवर में चार ऋषि और पाँच से अधिक नहीं हो सकते। अन्य द्विगोत्रों के विषय में संस्कारकौस्तुभ (पृ० ६८२-६८६), निर्णयसिन्धु (पृ० ३००) आदि देखे जा सकते हैं। दत्तक पुत्र के विषय में शौंग-शैशिरि की भाँति दोनों कुलों के गोत्र एवं प्रवर गिने जाते हैं और इस प्रकार दोनों कुलों में विवाह-सम्बन्ध वर्जित है। इस विषय में हम मनु (९।१४२) को भी पढ़ सकते हैं।

राजाओं एवं क्षत्रियों के गोत्रों एवं प्रवरों के विषय में भी कुछ जान लेना परमावश्यक है। ऐतरेयब्राह्मण (३५। ५) के अनुसार क्षत्रियों के प्रवर उनके पुरोहितों के प्रवर होते हैं। इससे लगता है कि ऐतरेय के काल तक बहुत-से क्षत्रिय अपने गोत्रों एवं प्रवरों के नाम भूल गये थे। श्रौतसूत्रों ने लिखा है कि क्षत्रिय एवं राजा लोग अपने पुरोहितों का प्रवर काम में ला सकते हैं या उनका प्रवर है "मानव-ऐल-पौरूरवस।" मेधातिथि (मनु ३।५) ने लिखा है कि गोत्रों एवं प्रवरों की बातें मुख्यतः ब्राह्मणों से सम्बन्धित हैं, क्षत्रियों एवं वैश्यों से नहीं। यही बात मिताक्षरा में भी पायी जाती है, उनके तथा अन्य निबन्धकारों के अनुसार क्षत्रियों एवं वैश्यों के विवाह में उनके पुरोहितों के गोत्रों एवं प्रवरों की गणना होती है, क्योंकि उनके लिए विशिष्ट गोत्र एवं प्रवर है ही नहीं। यह सिद्धान्त 'अतिदेश' (आरोपण) का सूचक है क्योंकि हमें प्राचीन साहित्य एवं अभिलेखों से यह बात ज्ञात है कि राजाओं के गोत्र होते थे। महाभारत में आया है कि जब युधिष्ठिर ब्राह्मण के रूप में राजा विराट के यहाँ गये तो उनसे गोत्र पूछा गया और उन्होंने बताया कि वे वैयाघ्रपद्य गोत्र के हैं (विराटपर्व ७।८-१२)। यह गोत्र वास्तव में पाण्डवों का गोत्र था। पाण्डवों का प्रवर सांकृति था। कांची के पल्लवों का गोत्र था भारद्वाज। चालुक्यों का गोत्र मानव था। जयचन्द्र देव का गोत्र वत्स तथा प्रवर भार्गव-च्यवन-अप्नवान-और्व-जामदग्न्य था। इसी प्रकार अनेक अभिलेख प्राप्त होते हैं जिनमें राजाओं के गोत्रों एवं प्रवरों के नाम प्राप्त होते हैं। कोई भी विद्वान् सूत्रों एवं निबन्धों में दिये गये गोत्रों एवं प्रवरों की सूची की अभिलेखों से प्राप्त सूची से तुलना कर सकता है और यह अध्ययन मनोहर एवं मनोरंजक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व रख सकता है। देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० ५, जिल्द ६, पृ० ३३७, जिल्द १६ पृ० २७४, जिल्द १९, पृ० ११५-११७, २४८-२५०, जिल्द १४, पृ० २०२, जिल्द १३, पृ० २२८, जिल्द ८, पृ० ३१६-३१७, जिल्द ९, पृ० १०३, जिल्द १२, पृ० १६३-१६७, गुप्त इंस्क्रिप्शन्स, नं० ५५, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १०, पृ० १०, ल्यूडर की सूची नं० १५८।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार वैश्यों का केवल एक प्रवर है 'वात्सप्र', किन्तु बौधायन के अनुसार तीन प्रवर हैं, यथा भालन्दन-वात्सप्र-मांक्तिल। वैश्य लोग अपने पुरोहितों के प्रवर भी प्रयोग में ला सकते हैं। संस्कारप्रकाश (पृ० ६५९) के मत से भालन्दन वैश्यों का गोत्र है।

आपस्तम्ब के मत से यदि अपना गोत्र एवं प्रवर स्मरण न हो तो आचार्य (वेदगुरु) के गोत्र एवं प्रवर काम में लाये जा सकते हैं। किन्तु इस विषय में स्मरणीय यह है कि ऐसा व्यक्ति केवल अपने आचार्य की पुत्री से विवाह नहीं कर सकता, किन्तु आचार्य के गोत्र एवं प्रवर वाले अन्य व्यक्तियों की कन्याओं से विवाह कर सकता है। संस्कारकौस्तुभ एवं संस्कारप्रकाश (पृ० ६५०) के मत से यदि अपना गोत्र न ज्ञात हो तो अपने को काश्यप-गोत्र कहा जा सकता है। किन्तु यह तभी किया जायगा जब कि गुरु (आचार्य) का गोत्र भी न ज्ञात हो। स्मृतिचन्द्रिका (श्राद्धप्रकरण, पृ० ४८१) का कथन है कि यदि नाना का गोत्र न ज्ञात हो तो पिण्डदान करते समय नाना को काश्यप-गोत्र का कहा जा सकता है।

कालान्तर में गोत्र से कुल का परिचय भी दिया जाने लगा, ऐसी बात अभिलेखों में प्राप्त होती है। कदम्ब कुल के राजा कृष्णवर्मा के ताम्रलेख में एक सेठ (श्रेष्ठी) अपने को तुठियल्ल गोत्र एवं प्रवर का कहता है। राजमहेन्द्री के रेड्डी राजा (शूद्र) अल्लय वेमा अपने को पोलवोला गोत्र का कहते हैं (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १३, पृ० २३७)।

एक बड़ी विचित्र बात यह है कि सूत्रकारों ने प्रवरों के ऋषियों के नामों में बड़े-बड़े मतभेद खड़े कर दिये हैं। हम एक उदाहरण लें, यथा 'शाण्डिल्य गोत्र'। आश्वलायन ने दो ऋषि-दल दिये हैं; "शाण्डिल—असित—दैवल" या "काश्यप—असित—दैवल", किन्तु आपस्तम्ब के अनुसार प्रवर में केवल दो ऋषि हैं, यथा "दैवल—असित", किन्तु कुछ अन्य लोगों के मत से तीन ऋषि हैं, यथा "काश्यप—दैवल—असित", किन्तु बौधायन ने चार दल प्रस्तुत किये हैं, यथा "काश्यप—अवत्सार—दैवल इति", "काश्यप—अवत्सार—असित इति", "शाण्डिल—असित—दैवल इति", "काश्यप—अवत्सार—शाण्डिल इति।" इन विभिन्न मतों के लिए हम क्या उत्तर दे सकते हैं? बौधायन (प्रवराध्याय ४४) का कथन है कि लौगाक्षि (लौकाक्षि) लोग दिन में वसिष्ठ हैं, किन्तु रात्रि में काश्यप और उनके प्रवर में भी यह द्विधा सम्बन्ध है। स्मृत्यर्थसार के अनुसार इसका कारण है प्रयाज, जिसमें दिन में वसिष्ठों की विधि के अनुरूप क्रिया की जाती है और रात्रि में काश्यपों की विधि के अनुसार।

गोत्रों में कुछ नाम गाथाओं में विश्रुत राजाओं एवं क्षत्रियों के हैं, यथा वीतहव्य एवं वैन्य तथा प्रवरों में कुछ कल्पनात्मक राजाओं के, यथा मान्धाता, अम्बरीष, युवनाश्व, दिवोदास। वीतहव्य का नाम तो भृगु से सम्बन्धित ऋग्वेद (६।१५।२-३) में भी मिलता है।

हारीत का प्रवर या तो "आंगिरस-अम्बरीष-यौवनाश्व" है या "मान्धाता-अम्बरीष-यौवनाश्व" है। बहुत-से काल्पनिक राजर्षि भी पाये जाते हैं। भृगुओं में एक उपशाखा वैन्य है जो पुनः पार्थों एवं बाष्कलों में विभाजित है। पृथु की कथा, जिन्होंने पृथ्वी को दुहा, प्रसिद्ध है (द्रोण-पर्व ६९), वे अधिराज कहे गये हैं (अनुशासनपर्व १६६।५५)। वायुपुराण में कई स्थानों में ऐसा आया है कि कुछ क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के प्रवर अपना लिये, ऐसा क्यों हुआ, इसका उत्तर आज सरल नहीं है। हम कल्पनात्मक ढंग से कह सकते हैं कि पुराणों में प्राचीन परम्पराएँ संगृहीत हैं, जिनके अनुसार प्राचीन काल में वर्णों में कोई विशिष्ट रेखा-विभाजन नहीं था और प्राचीन राजा भी वैदिक विद्या में पारंगत होते थे, अपने घर में श्रौत अग्नि प्रज्वलित रखते थे, वे कालान्तर में ऋषिवत् हो गये और उनके नामों के साथ अग्नि का आवाहन किया जाने लगा तथा ब्राह्मण लोग भी इन्हें देवताओं के यजन में प्रार्थना के साथ बुलाने लगे।

गोत्र एवं प्रवर में जो सम्बन्ध है, उसके विषय में यों कहा जा सकता है—गोत्र प्राचीनतम पूर्वज है या किसी व्यक्ति के प्राचीनतम पूर्वजों में एक है, जिसके नाम से युगों से कुल विख्यात रहा है, किन्तु प्रवर उस ऋषि या उन ऋषियों से बनता है जो अति प्राचीनतम रहे हैं, अत्यन्त यशस्वी रहे हैं और जो गोत्र-ऋषि के पूर्वज या कुछ दशाओं में अत्यन्त प्रख्यात ऋषि रहे हैं।

हमने देख लिया है कि सगोत्र एवं सप्रवर विवाह विवाह नहीं गिना जाता और ऐसी विवाहित कन्या पत्नी नहीं हो सकती। इस प्रकार के विवाह का प्रतिफल क्या होता था? बौधायन (प्रवराध्याय, ५४) के मत से सगोत्र कन्या से संभोग करने पर चान्द्रायण व्रत किया जाना चाहिए और उसके उपरान्त उस नारी को माता या बहिन के समान रखना चाहिए। यदि कोई पुत्र उत्पन्न हो जाय तो पाप नहीं लगता और उसको कश्यप गोत्र दे देना चाहिए। इस विषय में देखिए अपरार्क (पृ० ८०)। यदि जान-बूझकर सगोत्र या सप्रवर से कोई विवाह कर ले तो वह जातिच्युत हो जाता है और उससे उत्पन्न पुत्र चाण्डाल कहलाता है (आपस्तम्ब, संस्कारप्रकाश द्वारा उद्धृत, पृ० ६८०)। उपर्युक्त बौधायन-नियम, जिसके अनुसार बच्चा कश्यप गोत्र का कहलाएगा, केवल अनजाने में सगोत्र कन्या से विवाह कर लेने

के विषय में है। संस्कारप्रकाश द्वारा उद्धृत कात्यायन के मत से यदि सगोत्र कन्या से विवाह हो जाय तो वह कन्या पुनः किसी अन्य से विवाहित की जा सकती है। किन्तु संस्कारप्रकाश कात्यायन के इस मत को आधुनिक काल में वैध नहीं मानता और बेचारी कन्या, जिसका कोई दोष नहीं है, उसके मत से जीवन भर कुमारी रूप में न तो विवाहित और न विधवा समझी जायगी।

सगोत्र-सम्बन्ध एक ओर विवाह के लिए सपिण्ड-सम्बन्ध से विस्ततर है तो दूसरी ओर संकीर्णतर है। एक व्यक्ति सगोत्र कन्या से विवाह नहीं कर सकता, चाहे वह कितनी ही दूरी की सगोत्र क्यों न हो। उसी प्रकार एक दत्तक पुत्र सगोत्र की (अपने जनक के कुल की) कन्या से दो कारणों से विवाह नहीं कर सकता; (१) गोद चले जाने पर पिता के घर में वसीयत, पिण्डदान आदि पर अधिकार नहीं रख सकता किन्तु पिता के कुल से अन्य सम्बन्ध ज्यों-के-त्यों रहते हैं, (२) मनु (३।५) के कथनानुसार कन्या सगोत्र (वर के पिता के गोत्र की) नहीं होनी चाहिए, अतः गोद चले जाने पर भी वास्तविक पिता का गोत्र देखा जाता है। सपिण्ड-विवाह में प्रतिबन्ध केवल सात या पाँच पीढ़ियों तक माना जाता है, किन्तु सगोत्र पर प्रतिबन्ध अनगिनत पीढ़ियों तक चला जाता है। सपिण्ड एक ही गोत्र (सगोत्र) का या विभिन्न गोत्र का संभव है, कुछ सीमा तक सपिण्ड में सगोत्र एवं विभिन्न गोत्र आ जाते हैं। भिन्न गोत्र वाले बन्धु कहलाते हैं (मिताक्षरा), वे सभी सजाति हैं और दाय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

विवाह सम्बन्धी अन्य प्रतिबन्ध भी हैं। स्मृतिमुक्ताफल ने हारीत को उद्धृत करके बताया है कि अपनी कन्या देकर दूसरे की कन्या अपने पुत्र के लिए लेना, एक ही व्यक्ति को दो कन्या देना (उसी समय) और अपनी दो कन्याएँ दो भाइयों को एक साथ ही देना वर्जित है। किन्तु आज ये नियम केवल नियम मात्र रह गये हैं। आधुनिक भारत में मृत पत्नी की बहिन से विवाह करना वर्जित नहीं माना जाता।

कन्या का विवाह कौन तय करता है और कौन उसका दान करता है? विष्णुधर्मसूत्र के मत से क्रम से पिता, पितामह, भाई, कुटुम्बी, नाना, नानी कन्या को विवाह में दे सकते हैं (२४।३८-३९)। याज्ञवल्क्य (१।६३-६४) ने थोड़ा अन्तर किया है। उन्होंने नाना को छोड़ दिया है और कहा है कि जब अभिभावक पागल हो या किसी दोष से पराभूत हो तो कन्या को स्वयंवर करना चाहिए अर्थात् अपने से अपना पति चुनना चाहिए। नारद ने निम्न प्रकार का अनुक्रम रखा है; पिता, भाई (पिता की राय से), पितामह, मामा, सकुल्य, बान्धव, माता (यदि तन-मन से स्वस्थ हो), तब दूर के सम्बन्धी, इसके उपरान्त राजाज्ञा से स्वयंवर (स्त्रीपुंस, २०—२३)। कन्यादान करना केवल अधिकार मात्र नहीं था, प्रत्युत एक उत्तरदायित्व था (याज्ञवल्क्य १।६४); यदि समय से कन्यादान न किया जा सके तो भ्रूणहत्या का पाप लगता है। स्वयंवर का प्रचलन रामायण एवं महाभारत से ज्ञात होता है, किन्तु वह केवल राजकीय कुलों तक ही सीमित था। मनु (९।९०-९१) के मत से विवाह योग्य हो जाने के तीन वर्ष तक बाट जोहकर स्वयंवर किया जाना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र (२४।४०) के अनुसार युवावस्था प्राप्त कर लेने पर तीन बार मासिक धर्म हो लेने के उपरान्त कन्या को अपना विवाह कर लेने का पूर्ण अधिकार है।

स्मृतियों में पुरुष के विवाह के विषय में व्यवस्था देनेवाले की चर्चा नहीं हुई है, क्योंकि कम अवस्था वाले लड़के के विवाह का प्रश्न ही नहीं था।

कन्यादान के सिलसिले में माता को उतना उच्च स्थान नहीं प्राप्त है, क्योंकि वह स्वयं आश्रितावस्था में रहती थी और उसे यह कार्य किसी पुरुष सम्बन्धी से कराना पड़ता था। आधुनिक भारत में माता कन्या के लिए वर चुनने की अधिकारिणी है, किन्तु कन्यादान किसी पुरुष द्वारा ही किया जा सकता है। धर्मसिन्धु के मत से यदि कन्या स्वयंवर करे, या माता कन्यादान करे तो कन्या या माता को नान्दीश्राद्ध एवं मुख्य संकल्प करना चाहिए, किन्तु अन्य कृत्य किसी ब्राह्मण द्वारा किया जाना चाहिए। वास्तव में मुख्य बात विवाहकर्म है, यदि विवाह सप्तपदी के द्वारा सम्पादित हो चुका

हो तो उसे अमान्य नहीं ठहराया जा सकता, भले ही पिता के रहते उसका सम्पादन किसी अन्य व्यक्ति द्वारा हुआ हो। किन्तु विवाह के पूर्व अधिकारी व्यक्तियों के रहते किसी अन्य व्यक्ति को कन्यादान करने से रोका जा सकता है।

विवाह में कन्या-क्रय के विषय में भी कुछ लिख देना आवश्यक है। मैत्रायणी संहिता (१।१०।११) में आया है कि वह वास्तव में पापी है जो पति द्वारा क्रीत हो जाने पर अन्य पुरुषों के साथ घूमती है। जैमिनि (६।१।१५) के मत से १०० गायें एवं रथ देकर कन्या का विवाह करना कन्या का क्रय नहीं कहा जा सकता, यह तो केवल भेंट-मात्र है। जैमिनि के कथन से व्यक्त होता है कि यदि मैत्रायणी संहिता के समय कन्या-क्रय की प्रथा थी तो वह भर्त्सना के योग्य थी। स्पष्ट है, सूत्रकारों के काल में कन्या-क्रय की भर्त्सना पूर्णरूप से होती थी। इस विषय में आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१३।१०-११) का कथन अवलोकनीय है—"बच्चों को भेंट में अथवा क्रय में नहीं दिया जा सकता; विवाह में वेद द्वारा आज्ञापित जो भेंट कन्या के पिता को दी जाती है (यथा 'अतः १०० गायें एवं एक रथ कन्या के पिता को दिये जाने चाहिए, और वह भेंट विवाहित जोड़े की है), वह कन्या के पिता की एक अभिलाषा मात्र है, उसकी कन्या को तथा उसके बच्चों को एक अच्छी आर्थिक स्थिति प्राप्त हो जाय; यह रीति इसकी द्योतक है, न कि कन्या के क्रय या विक्रय की सूचक है। 'विक्रय' शब्द का प्रयोग केवल आलंकारिक है, क्योंकि पति-पत्नी का सम्बन्ध विक्रय से नहीं उत्पन्न होता प्रत्युत धर्म से।"

ऋग्वेद (१।१०९।२), मैत्रायणी संहिता (१।१०।१), निरुक्त (६।९, ३।४), ऋग्वेद (३।३१।१), ऐतरेय ब्राह्मण (३३), तैत्तिरीय संहिता (५।२।१।३), तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।१०) आदि के अवलोकन से विदित होता है कि प्राचीन काल में विवाह के लिए लड़कियों का क्रय-विक्रय होता था। यह प्रथा अन्य देशों में भी थी। किन्तु यह धारणा क्रमशः समाप्त हो गयी और वर पक्ष से कुछ लेना पापमय समझा जाने लगा। बौधायनधर्मसूत्र (१।११।२०-२१) ने दो उद्धरण दिये हैं, "जो स्त्री धन देकर लायी जाती है, वह वैध पत्नी नहीं है, वह पति के साथ देव-पूजन, श्राद्ध आदि में भाग नहीं ले सकती; कश्यप ऋषि ने उसे दासी कहा है। जो लोभ के वश हो अपनी कन्याओं का विवाह शुल्क लेकर करते हैं, वे पापी हैं, अपने आत्मा को बेचने वाले हैं, महान् पातक करने वाले हैं और नरक में जाते हैं, आदि।" बौधायन ने पुनः लिखा है—"जो अपनी कन्या को बेचता है, अपना पुण्य बेचता है।" मनु (३।५१, ५४-५५) ने लिखा है—"पिता को अपनी कन्या के बल पर कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, यदि वह कुछ लेता है तो कन्या को बेचने वाला कहा जायगा, यदि कन्या के सम्बन्धी लोग वर-पक्ष द्वारा दिये गये पदार्थ कन्या को दे देते हैं, तो यह कन्या-विक्रय नहीं कहा जायगा। इस प्रकार का धन लेना (अर्थात् वरपक्ष से लेकर कन्या को दे देना) कन्या को आदर देना है। पिताओं, भाइयों, पतियों एवं बहनोइयों को चाहिए कि वे अपने कल्याण के लिए लड़कियों को आभूषण आदि देकर उन्हें सम्मानित करें।" देखिए मनु (९।९८)। मनु (९।६१) एवं याज्ञवल्क्य (३।२३६) ने कन्या-विक्रय को उपपातक कहा है। महाभारत (अनुशासनपर्व ९३।१३३ एवं ९४।३) ने कन्या-विक्रय की भर्त्सना की है। अनुशासनपर्व (४५।१८-१९) में आया है (यम की गाथाओं के विषय में) कि जो "अपने पुत्र को बेचता है, या जीविका के लिए कन्या-विक्रय करता है वह भयानक नरक अर्थात् कालसूत्र में गिरता है। अपरिचित व्यक्ति को भी नहीं बेचना चाहिए, अपने बच्चों की तो बात ही निराली है।" (अनुशासनपर्व ४५।२३)। अनुशासनपर्व (४५।२०) एवं मनु (३।५३) ने आर्ष विवाह की भर्त्सना की है, क्योंकि उसमें वर के पिता से युग्म पशु लेने की बात है। केरल या मलाबार में ऐसा विश्वास है कि महान् गुरु शंकराचार्य ने ६४ आचारों में कन्याविक्रय-प्रतिबन्ध, सती-प्रतिबन्ध आदि को भी रखा है (देखिए इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ४, पृ० २५५-२५६, और अत्रि ३८९ एवं आपस्तम्ब (पद्य), ९।२५)। अर्काट जिले के उत्तरी भाग के पदैवीडु अभिलेख (१४२५ ई०) से पता चलता है कि कर्णाट, तमिल, तेलुगु एवं लाट (दक्षिण गुजरात) के ब्राह्मण प्रतिनिधियों ने एक संमतिपत्र पर हस्ताक्षर किये कि वे कन्या के विवाह में वर-पक्ष से सोना आदि नहीं

लेंगे, यदि कोई ऐसा करेगा तो वह राजा द्वारा दण्डित होगा और ब्राह्मणजाति से च्युत हो जायगा। लगभग १८०० ई० में पेशवा ने ऐसी आज्ञा निकाली कि यदि कोई कन्या-विक्रय करेगा तो उसे तथा देनेवाले एवं अगुआ को धन-दण्ड देना पड़ेगा। आधुनिक काल में कुछ जातियों एवं कुछ शूद्रों में कुछ धन लेने की जो प्रथा है, वह केवल विवाह-व्ययभार वहन के लिए अथवा कन्या को दे देने के लिए है।

बच्चों पर पिता का क्या अधिकार है? विवाह में कन्या-विक्रय का प्रश्न इस प्रश्न से सम्बन्धित-सा है। ऋग्वेद (१।११६।१६) में ऋज्राश्व की गाथा प्रसिद्ध है; ऋज्राश्व के पिता ने उसकी आँखें निकाल लीं, क्योंकि उसने (ऋज्राश्व ने) एक सौ भेड़ें एक भेड़िया को दे दी थीं। लगता है, यहाँ कोई रूपक है, क्योंकि ऐसी बात अस्वाभाविक-सी लगती है। शुनश्शेप (ऐतरेय ब्राह्मण ३३) की आख्यायिका से पता चलता है कि पिता अपने पुत्र को बेचे, ऐसा बहुत कम होता था। वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।३०-३१) के अनुसार शुनश्शेप का वृत्तान्त पुत्र-क्रय का उदाहरण है (पुत्र १२ प्रकार के होते हैं)। इसी सूत्र (१७।३६-३७) ने यह भी लिखा है कि 'अपविद्ध' पुत्र वह पुत्र है जो, अपने माता-पिता द्वारा त्याग दिया जाता है और दूसरे द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। यही बात मनु (९।१७१) में भी पायी जाती है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१५।१-३) के कथनानुसार बच्चों पर माता-पिता का सम्पूर्ण अधिकार है, वे उन्हें दे सकते हैं, बेच सकते हैं या छोड़ सकते हैं, क्योंकि उन्हीं के शुक्र-शोणित से बच्चों की उत्पत्ति होती है। किन्तु यदि एक ही पुत्र हो तो वह न बेचा जा सकता है और न खरीदा जा सकता है। मनु (८।४१६) एवं महाभारत (उद्योगपर्व ३३।६४) के अनुसार स्त्री, पुत्र एवं दास धनहीन होते हैं। क्योंकि वे जो कमाते हैं वह उनका है, जिनके वे होते हैं। मनु (५।१५२) के मत से "(कन्या के पिता की ओर से) जो भेट मिलती है, वह पति के स्वामित्व की द्योतक होती है।" क्रमशः कुछ विचारों के उत्पन्न हो जानें से पिता के कठोर स्वामित्व का बल कम होता चला गया, यथा—पुत्र स्वयं पिता के रूप में बार-बार उत्पन्न होता है, क्योंकि पुत्र श्राद्ध के समय पिता तथा पूर्वजों को पिण्डदान देकर आध्यात्मिक लाभ कराता है। इस प्रकार पिता का पुत्र पर जो अत्यधिक स्वामित्व था, वह शिथिल पड़ गया। कौटिल्य (३।१३) ने लिखा है कि अपने बच्चों को बेचकर या बन्धक रखकर म्लेच्छ लोग पाप के भागी नहीं होते, किन्तु आर्य दास की श्रेणी में नहीं लाया जा सकता। इस विषय में और देखिए याज्ञवल्क्य (२।१७५), नारद (दत्ताप्रदानिक, ४), कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत, पृ० १३२), याज्ञवल्क्य (२।११८-११९), मनु (८।३८९), याज्ञवल्क्य (२।२३४); विष्णुधर्मसूत्र (५। ११३-११४), कौटिल्य (३।२०), मनु (८।२९९-३००)।

क्या पत्नी एवं बच्चों पर स्वामित्व होता है? जैमिनि (६।७।१-२) ने विश्वजित् यज्ञ के बारे में लिखते समय कहा है कि इस में अपने माता-पिता एवं अन्य सम्बन्धियों को छोड़कर सब कुछ दान कर दिया जाता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१७५) के अनुसार यद्यपि पत्नी या बच्चे भेट रूप में किसी को नहीं दिये जा सकते, तथापि उन पर स्वामित्व रहता है। यही बात वीरमित्रोदय (पृ० ५६७) में भी पायी जाती है।

बालहत्या के विषय में भी कुछ लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। विख्यात समाजशास्त्री वेस्टरमार्क ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट आव मॉरल आइडिया' (जिल्द १, १९०६) में प्राचीन एवं आधुनिक काल के असभ्य एवं सभ्य देशों में बालहत्या के विषय पर प्रकाश डाला है। ग्रीस देश के स्पार्टा प्रान्त में शक्तिशाली एवं स्वस्थ लड़कों की प्राप्ति के लिए एवं राजपूतों में कुल-सम्मान एवं विवाह में धन-व्यय रोकने के लिए बाल-हत्याएँ होती थीं। वेस्टरमार्क का यह वचन कि वैदिक काल में बाल-हत्याएँ होती थीं, भ्रामक है। ऋग्वेद (२।२९।१) का "आरे मत्कर्त रहसूरिवागः" का संकेत बालहत्या की ओर नहीं है, बल्कि यह तो कुमारी के भ्रूण त्याग की ओर संकेत है, क्योंकि ऐसी सन्तान गुप्त प्रेम की सूचक है और असामाजिक मानी जाती रही है। कुछ यूरोपियन विद्वान्, जिनमें जिम्मर एवं डेलब्रुक मुख्य हैं, तैत्तिरीय संहिता (५।१०।३) का उल्लेख करते हैं जिसमें आया है—"वे अवभृथ (अन्तिम यज्ञिय

स्नान) के पास जाते हैं, वे थालियाँ अलग रखते हैं, वे वायु के लिए बरतन ले जाते हैं, अतः उत्पन्न होने पर कन्या को अलग रखते हैं और आनन्द के साथ पुत्र को ग्रहण करते हैं।" किन्तु यहाँ तो केवल इतना ही संकेत है कि पुत्री की अपेक्षा पुत्र की आवभगत अधिक होती है, अर्थात् पुत्री के जन्म की अपेक्षा पुत्र के आगमन पर अधिक हर्ष प्रकट किया जाता है। यह बात ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) में वर्णित भावना का एक रूप मात्र है; "पत्नी वास्तव में मित्र है, पुत्री क्लेश (कृपण या अपमान) है, पुत्र सर्वोत्तम स्वर्ग में प्रकाश है।"[१८] इस विषय में देखिए आदिपर्व (१५९।११)। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (१५।१३) ने लिखा है कि यात्रा से लौटने पर पिता को पुत्री से भी कुशल वचन कहना चाहिए, हाँ अन्तर यह है कि पुत्र से मिलते समय उस का माथा चूमना चाहिए और दाहिने कान में कुछ मन्त्र पढ़ने चाहिए। मनु (९।२३२) के मत से राजा को चाहिए कि वह उस व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड दे, जो स्त्री, बच्चे या ब्राह्मण को मार डालता है।" मनु (९।१३०) एवं अनुशासनपर्व (४५।११) के मत से; "जिस प्रकार पुत्र आत्मा है, उसी प्रकार पुत्री है, पिता की मृत्यु पर पुत्री के रहते हुए अन्य व्यक्ति उसका धन कैसे ले सकता है।" यही बात नारद (दायभाग, ५०) एवं बृहस्पति में भी पायी जाती है। कन्या के जन्म पर पिता जो प्रसन्न नहीं होता, उसका कारण है पुत्री के भविष्य के विषय में चिन्ता आदि, न कि पिता द्वारा अपनी पुत्री को पुत्र के समान प्यार नहीं करना। समाज ने सदैव स्त्रियों से उच्च नैतिकता की अपेक्षा की है, और पुरुषों के बहुत-से अनैतिक कर्मों को अपेक्षाकृत क्षम्यता की दृष्टि से देखा है (रामायण, उत्तरकाण्ड ९।१०-११)। प्राचीन साहित्य ने सभी स्थानों में स्त्रियों को भर्त्सना की दृष्टि से नहीं देखा है। पत्नी पति की अर्धांगिनी कही गयी है। ऋग्वेद (३।५३।४) ने पत्नी को आराम का घर कहा है (जायेदस्तम्)। यही बात दूसरे रूप में छान्दोग्योपनिषद् में पायी जाती है, "स्वप्न में स्त्री-दर्शन शुभ है, धार्मिक कृत्यों की सफलता का द्योतक है।" मनु (३।५६—अनुशासनपर्व ४६।५) ने यद्यपि अन्यत्र स्त्रियों को कठोर वचन कहे हैं, किन्तु एक स्थान पर लिखा है—"जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता रहना पसन्द करते हैं, जहाँ उनका सम्मान नहीं होता, वहाँ धार्मिक कृत्यों का लोप हो जाता है।" कुमारियों को पूत एवं शुभ कहा गया है। रघुवंश में आया है कि जब राजा राजधानी से निकलते थे तो कुमारियाँ भुने धान से उनका अभिनन्दन करती थीं (रघुवंश २।१०)। शौनककारिका ने कुमारी को आठ शुभ पदार्थों में गिना है। द्रोणपर्व (८२।२०-२२) में आया है कि युद्ध-यात्रा के पूर्व अर्जुन ने शुभ वस्तुओं में अलंकृत कुमारी का भी स्पर्श किया था। गोभिलस्मृति (२।१६३) के अनुसार प्रातःकाल उठते ही सौभाग्यवती नारी का दर्शन कठिनाइयों को भगाने वाला होता है। वामनपुराण (१४।३५-३६) के अनुसार घर छोड़ते समय अन्य पदार्थों के साथ ब्राह्मण-कुमारियों का दर्शन भी शुभ है।

अब हम विवाह के शुभ कालों का वर्णन करेंगे। ऋग्वेद (१०।८५।१३) के विवाहसूक्त में ये शब्द आये हैं—"अघाओं पर गायें संहत की जाती हैं और कन्या (विवाहित होने पर पिता के घर से) फल्गुनियों में ले जायी जाती है।" गायें मधुपर्क में संहत की गयीं और विवाह के दिन वर को दी गयीं। मघा नक्षत्र के उपरान्त दो फल्गुनी तुरन्त आ जाते हैं। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (३।१-२) में भी उपर्युक्त कथन की ध्वनि मिलती है—"मघाओं में गायें स्वीकार की जाती हैं और फल्गुनियों में (विवाहित) कन्या (पति के घर को) ले जायी जाती है। उपर्युक्त ऋग्वेदीय सूक्त में 'अघा' का तात्पर्य 'मघा' होता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।४१) के अनुसार सूर्य के उत्तरायण में, शुक्ल पक्ष में, किसी

१८. सखा ह जाया कृपणं हि दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१)। आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल। आदिपर्व १५९।११। मिलाइए मनु (४।१८४-१८५)—'भार्या पुत्रः स्वका तनुः। छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम्॥'

चान्द्र नक्षत्र में चौल, उपनयन, गोदान एवं विवाह सम्पादित होते हैं, किन्तु कितने ही विद्वानों के मत से विवाह कभी भी किये जा सकते हैं (केवल उत्तरायण आदि में ही नहीं)। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (२।१२-१३) के अनुसार शिशिर के दो मास अर्थात् माघ एवं फाल्गुन छोड़कर तथा ग्रीष्म के दो मास (ज्येष्ठ-आषाढ़) छोड़कर सभी ऋतु विवाह के योग्य हैं, इसी प्रकार सभी शुभ नक्षत्र भी इसके लिए उपयुक्त हैं। इसी सूत्र (३।३) ने पुनः निष्ट्या अर्थात् स्वाति नक्षत्र को उत्तम माना है (देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।२ एवं बौधायनगृह्यसूत्र १।१।१८-१९)। आपस्तम्बगृह्यसूत्र ने विवाह के लिए रोहिणी, मृगशीर्ष, उत्तरा फाल्गुनी, स्वाति को अच्छे नक्षत्रों में गिना है, किन्तु पुनर्वसु, तिष्य (पुष्य), हस्त, श्रवण एवं रेवती को अन्य उत्सवों के लिए शुभ माना है। अन्य मत देखिए मानवगृह्यसूत्र (१।७।५), काठकगृह्यसूत्र (१४।९।१०), वाराहगृह्यसूत्र (१०)। रामायण (बालकाण्ड ७२।१३ एवं ७१।२४) एवं महाभारत (आदिपर्व ८।१६) ने भगदेवता के नक्षत्र को विवाह के लिए ठीक माना है। कौशिकसूत्र (७५।२-४) ने आधुनिक काल के समान ही कहा है कि कार्तिक पूर्णिमा के उपरान्त से वैशाख पूर्णिमा तक विवाह करना चाहिए, या कभी भी, किन्तु चैत्र के आधे भाग को छोड़ देना चाहिए।

मध्य काल के निबन्धों ने फलित ज्योतिष के आधार पर बहुत लम्बा-चौड़ा आख्यान प्रकट किया है, जिसका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है। एक-दो उदाहरण यहाँ दे दिये जाते हैं। उद्वाहतत्त्व (पृ० २४) ने राजमार्तण्ड एवं भुज-बलभीम को उद्धृत करके बताया है कि चैत्र एवं पौष को छोड़कर सभी मास शुभ हैं। उसने यह भी लिखा है कि उचित अवस्था से अधिक अवस्था पार कर लेने पर किसी शुभ मुहूर्त की बाट नहीं जोहनी चाहिए, केवल दस वर्ष की कन्या के लिए ही शुभ मुहूर्तों की खोज करनी चाहिए। संस्काररत्नमाला (पृ० ४६०) का कहना है कि सूत्रों स्मृतियों में शुभ मुहूर्तों के विषय में मतभेद हैं, अतः अपने देश के आचार के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। ज्येष्ठ मास में ज्येष्ठ पुत्र का ज्येष्ठ कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए और ज्येष्ठ पुत्र एवं पुत्री का विवाह उनके जन्म के मास, दिन या नक्षत्र में भी नहीं करना चाहिए। सप्ताह में बुध, सोम, शुक्र एवं बृहस्पति उत्तम दिन हैं, किन्तु मदनपारिजात के अनुसार रात्रि में विवाह करने से सभी दिन अच्छे हैं। लड़कियों के विवाह में चन्द्र का शक्तिशाली स्थान में रहना आवश्यक है। लड़का और लड़की के जन्म के समय के नक्षत्र एवं राशि से ज्योतिष-सम्बन्धी गणना आठ प्रकार से की गयी है, जिसे कूट कहा गया है और वे कूट हैं—वर्ण, वश्य, नक्षत्र, योनि, ग्रह (दो राशियों पर राज्य करने वाले ग्रह), गण, राशि एवं नाड़ी। इनमें से प्रत्येक बाद वाला अपने से पूर्व से अधिक शक्तिशाली कहा जाता है। गण एवं नाड़ी की विशेष महत्ता है, अतः यहाँ पर उनका संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया जाता है। २७ नक्षत्रों को ३ दलों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक दल देवगण, मनुष्यगण एवं राक्षसगण के साथ लगा हुआ है। यथा—

देवगण	**मनुष्यगण**	**राक्षसगण**
अश्विनी	भरणी	कृत्तिका
मृगशिरा	रोहिणी	आश्लेषा
पुनर्वसु	आर्द्रा	मघा
पुष्य	पूर्वा फाल्गुनी	चित्रा
हस्त	उत्तरा फाल्गुनी	विशाखा
स्वाति	पूर्वाषाढा	ज्येष्ठा
अनुराधा	उत्तराषाढा	मूल
श्रवण	पूर्वाभाद्रपद	धनिष्ठा
रेवती	उत्तराभाद्रपद	शततारका

यदि वर एवं कन्या एक ही दल के नक्षत्रों में उत्पन्न हुए हों, उन्हें सर्वोत्तम माना जाता है। किन्तु यदि उनके जन्म के नक्षत्र विभिन्न दलों में पड़ते हैं तो निम्न नियमों का पालन किया जाता है—यदि उनके नक्षत्र देवगण एवं मनुष्यगण में पड़ते हैं तो इसे मध्यम माना जाता है। यदि वर का नक्षत्र देवगण या राक्षसगण में पड़े, तो कन्या का मनुष्यगण में माना जाता है, किन्तु यदि कन्या का नक्षत्र राक्षसगण में पड़े और वर का मनुष्यगण में, तो मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार यदि वर एवं कन्या के नक्षत्र क्रम से देव एवं राक्षस गणों में पड़ें तो दोनों में झगड़ा होगा।

नाडी के लिए नक्षत्रों को आद्य नाडी, मध्य नाडी एवं अन्त्य नाडी में इस प्रकार विभाजित किया गया है—

आद्यनाडी	**मध्यनाडी**	**अन्त्यनाडी**
अश्विनी	भरणी	कृत्तिका
आर्द्रा	मृगशिरा	रोहिणी
पुनर्वसु	पुष्य	आश्लेषा
उत्तरा	पूर्वा	मघा
हस्त	चित्रा	स्वाति
ज्येष्ठा	अनुराधा	विशाखा
मूल	पूर्वाषाढा	उत्तराषाढा
शततारका	धनिष्ठा	श्रवण
पूर्वाभाद्रपदा	उत्तराभाद्रपदा	रेवती

यदि वर एवं कन्या के नक्षत्र एक ही नाडी में पड़ें तो मृत्यु होती है, अतः विवाह नहीं करना चाहिए। इसलिए दोनों के जन्म-नक्षत्र भिन्न नाडियों में होने चाहिए।

कुछ लेखकों के अनुसार विवाह तय हो जाने पर यदि कोई सम्बन्धी मर जाय तो विवाह नहीं करना चाहिए। किन्तु शौनक ने इस विषय में कुछ छूट दी है। उनके मत से किसी भी सम्बन्धी के मरने से विवाह वर्जित नहीं माना जाता; केवल पिता, माता, पितामह, नाना, चाचा, भाई, अविवाहित बहिन के मरने से ही विवाह को प्रतिकूल माना जा सकता है।

यदि नान्दीश्राद्ध करने के पूर्व कन्या की माँ या वर की माँ ऋतुमती हो जायँ तो विवाह टल जाता है और पाँचवें दिन सम्पादित हो सकता है।

विवाह-प्रकार—गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के काल से ही विवाह आठ प्रकार के कहे गये हैं, यथा ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच (दे० आश्वलायनगृह्यसूत्र १।६, गौतम० ४।६-१३, बौधायन-धर्मसूत्र १।११, मनु ३।२१, आदिपर्व ७३।८-९, विष्णुधर्मसूत्र २४।१८-१९, याज्ञवल्क्य १।५८, नारद-स्त्रीपुंस, ३८-३९, कौटिल्य ३।१, ५९वाँ प्रकरण, आदिपर्व १०२।१२-१५)। इनमें से कुछ ग्रन्थों में प्रथम चार प्रकार विभिन्न ढंग से रखे गये हैं, यथा ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य एवं आर्ष (आश्व०), ब्राह्म, दैव आर्ष एवं प्राजापत्य (विष्णु०)। आश्वलायन ने पैशाच को राक्षस से पहले रखा है। मानवगृह्यसूत्र ने केवल ब्राह्म एवं शौल्क (अर्थात् आसुर) के ही नाम लिये हैं, सम्भवतः उनके समय ये दोनों प्रकार बहुत प्रचलित थे। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।१७-२०, २।५।१२।१-२) ने केवल छः प्रकार बताये हैं और प्राजापत्य एवं पैशाच को छोड़ दिया है। वसिष्ठधर्मसूत्र ने ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र एवं मानुष (अन्तिम दो क्रम से राक्षस एवं आसुर के सूचक हैं) नाम लिये हैं (१।२८-२९)। विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गये प्रकारों की अर्थविभिन्नता स्पष्ट करना सरल नहीं है। हम यहाँ मनु द्वारा कहे गये लक्षणों का वर्णन

उपस्थित करेंगे (मनु ३।२७-३४)। जिस विवाह में बहुमूल्य अलंकारों एवं परिधानों से सुसज्जित, रत्नों से मंडित कन्या वेद-पण्डित एवं सुचरित्र व्यक्ति को निमन्त्रित कर (पिता द्वारा) दी जाती है, उसे **ब्राह्म** कहते हैं। जब पिता अलंकृत एवं सुसज्जित कन्या किसी पुरोहित को (जो यज्ञ करता-कराता है) यज्ञ करते समय दे, तो उस विवाह को दैव कहा जाता है।[19] यदि एक जोड़ा पशु (एक गाय, एक बैल) या दो जोड़ा पशु लेकर (केवल नियम के पालन हेतु न कि कन्या के विक्रय के रूप में) कन्या दी जाय तो इसे **आर्ष** विवाह कहते हैं। जब पिता वर और कन्या को "तुम दोनों साथ-ही-साथ धार्मिक कृत्य करना" यह कहकर तथा वर को मधुपर्क आदि से सम्मानित कर कन्यादान करता है तो उसे **प्राजापत्य** कहा जाता है। याज्ञवल्क्य इसे 'काय' की संज्ञा देते हैं, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'क' का तात्पर्य है 'प्रजापति'। जब वर अपनी शक्ति के अनुरूप कन्यापक्ष वालों तथा कन्या को धन दे देता है, तब इस प्रकार अपनी इच्छा के अनुकूल पिता द्वारा दत्त कन्या के विवाह को **आसुर** विवाह कहते हैं। वर एवं कन्या की परस्पर सम्मति से जो प्रेम की भावना के उद्रेक का प्रतिफल हो तथा सम्भोग जिसका उद्देश्य हो, उस विवाह को **गान्धर्व** विवाह कहा जाता है। सम्बन्धियों को मारकर, घायल कर, घर-द्वार तोड़-फोड़कर जब रोती बिलखती हुई कन्या को बलवश छीन लिया जाता है तो इस प्रकार से प्राप्त कन्या के सम्बन्ध को **राक्षस** विवाह कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति चुपके से किसी सोयी हुई, उन्मत्त या अचेत कन्या से सम्भोग करता है तो इसे निकृष्ट एवं महापातकी कार्य कहा जाता है और इसे **पैशाच** विवाह कहते हैं।

प्रथम चार प्रकारों में पिता द्वारा या किसी अन्य अभिभावक द्वारा वर को कन्यादान किया जाता है। यहाँ 'दान' शब्द का प्रयोग गौण अर्थ में किया गया है, जिसका तात्पर्य है पिता के अभिभावकीय उत्तरदायित्व का भार तथा कन्या के नियन्त्रण का भार पति को दे दिया गया है। ब्राह्मणों में सभी प्रकार का दान जल के साथ किया जाता है (मनु ३।३५४ एवं गौतम ५।१६-१७)। उसी प्रकार प्रथम चार प्रकार के विवाहों में अलंकारों एवं परिधानों से सुसज्जित कन्या का दान किया जाता है। प्रथम प्रकार के विवाह को सम्भवतः 'ब्राह्म' इसलिए कहा जाता है कि ब्रह्म का अर्थ है पवित्र वेद, या धर्म, जिसे परमपूत कहा जाता है (स्मृतिमुक्ताफल, भाग १, पृ० १४०)। 'आर्ष' प्रकार में वर से एक जोड़ा पशु लिया जाता है, अतः यह ब्राह्म से घटिया है। दैव विवाह केवल ब्राह्मणों में ही पाया जाता था, क्योंकि पौरोहित्य का कार्य ब्राह्मण ही करता था। इसका नाम दैव इसलिए है कि यज्ञ में देवों की पूजा होती है। यह विवाह ब्राह्म से घटिया इसलिए है कि पिता कन्यादान कर अपने मन में इस लाभ की भावना रखता है कि उसका यज्ञ भली भाँति सम्पादित हो, क्योंकि कन्या पाकर प्रसन्न हो पुरोहित बड़े मन से यज्ञ में लगा रहेगा। विवाह के सभी प्रकारों में कन्या एवं वर को सभी धार्मिक कृत्य साथ-साथ करने पड़ते हैं (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।६।१२।१६-१८)। पत्नी-पति में कभी पृथक्त्व नहीं पाया जाता; पाणिग्रहण के उपरान्त वे सारे धार्मिक कृत्य साथ ही सम्पादित करते हैं। प्राजापत्य विवाह में पत्नी के जीते-जी पति को गृहस्थ रहने, संन्यासी न बनने, दूसरा विवाह न करने आदि का वचन देना पड़ता है। प्राजापत्य विवाह इसी से ब्राह्म से घटिया कहा जाता है, क्योंकि इसमें शर्त लगी रहती है, किन्तु ब्राह्म में स्वयं वर प्रतिवचन देता है कि धर्म, अर्थ एवं काम नामक तीन पुरुषार्थों में वह सदैव अपनी पत्नी के साथ रहेगा।

१९. बौधायनधर्मसूत्र (१।११।५) 'दक्षिणासु नीयमानास्वन्तर्वेदि ऋत्विजे स दैवः।' बौधायन के मत से कन्या यज्ञ की दक्षिणा का एक भाग हो जाती है। किन्तु वेदों एवं श्रौत सूत्रों में कन्या (दुलहिन) को कभी दक्षिणा नहीं कहा गया है। मेधातिथि (मनु ३।२८) कन्या को यज्ञ कराने के शुल्क का भाग मानने को तैयार नहीं हैं। यही विश्वरूप का भी कहना है, किन्तु अपरार्क (पृ० ८९) के मत से कन्या शुल्क के रूप में दी जाती है।

आसुर विवाह में धन तथा धन के मूल्य का सौदा र हता है, अतः यह स्वीकृत नहीं माना जाता। आर्ष एवं आसुर में अन्तर यह है कि प्रथम में एक जोड़ा पशु देने की एक व्यावहारिक सीमा मात्र बाँध दी गयी है, किन्तु द्वितीय में धन देने की कोई सीमा नहीं है। गांधर्व में पिता द्वारा दान की कोई बात नहीं है, प्रत्युत उस काल तक के लिए कन्या पिता को उसके अधिकार से वंचित कर देती है। प्राचीन काल में ऋषियों द्वारा विवाह एक संस्कार माना जाता था, इसके मुख्य उद्देश्य थे धार्मिक कृत्यों द्वारा सद्गुणों की प्राप्ति एव सन्तानोत्पत्ति। गान्धर्व विवाह में केवल काम-पिपासा की शान्ति की बात प्रमुख है, अतः यह प्रथम चार प्रकारों से तुलना में निकृष्ट है और अस्वीकृत माना जाता है। इसका नाम गान्धर्व इसलिए है कि गन्धर्व कामातुर कहे गये हैं, जैसा कि तैत्तिरीय संहिता (६।१।६।५—स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (५।१) का कथन है। हाँ, इस प्रकार के विवाह में कन्या की सम्मति ले ली गयी रहती है। राक्षस एवं पैशाच में कन्यादान की बात उठती ही नहीं, दोनों में कन्यादान के विरोध की बात उठ सकती है। बलवश कन्या को उठा ले जाना (भले ही पिता डरकर लुटेरे से युद्ध न करे) राक्षस विवाह के मूल में पाया जाता है। राक्षस लोग अपने क्रूर एवं शक्तिशाली कार्यों के लिए प्रसिद्ध माने गये हैं, अतः इस प्रकार के विवाह को यह संज्ञा मिली है। पिशाच लोग लुक-छिपकर ही दुष्कर्म करते हैं, अतः उस कार्य के सदृश कार्य को पैशाच विवाह की संज्ञा दी गयी है।

जब ऋषियों ने राक्षस एवं पैशाच को विवाह-प्रकारों में गिना तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि उन्होंने पकड़ी हुई या लुक-छिपकर भ्रष्ट की गयी कन्या के विवाह को वैधता दी है। उनके कथन से इतना ही प्रकट होता है कि वे दोनों अपहरण के दो प्रकार हैं, न कि वास्तविक विवाह के प्रकार। ऋषियों ने पैशाच की बहुत भर्त्सना की है। आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ ने पैशाच एवं प्राजापत्य के नाम नहीं लिये हैं, इससे प्रकट होता है कि उनके काल में इन प्रकारों का अन्त हो चुका था। पश्चात्कालीन लेखकों ने केवल नाम गिनाने के लिए सभी प्रकार के प्रचलित एवं अप्रचलित विवाहों के नाम दे दिये हैं। वसिष्ठ (१७।७३) के मत से अपहृत कन्या यदि मन्त्रों से अभिषिक्त होकर विवाहित न हो सकी हो, तो उसका पुनर्विवाह किया जा सकता है। स्मृतियों में कन्या के भविष्य एवं कल्याण के लिए अपहरणकर्ता एवं बलात्कार करने वाले को होम एवं सप्तपदी करने को कहा गया है, जिससे कन्या को विवाहित होने की वैधता प्राप्त हो जाय। यदि अपहरणकर्ता एवं बलात्कारकर्ता ऐसा करने पर तैयार न हों तो कन्या किसी दूसरे को दी जा सकती थी और अपहरणकर्ता तथा बलात्कारकर्ता को भीषण दण्ड भुगतना पड़ता था (मनु ८।३६६ एवं याज्ञवल्क्य २।२८७-२८८)। मनु (८।३६६) के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति की किसी कन्या से उसकी सम्मति से संभोग करे तो उसे पिता को (यदि पिता चाहे तो) शुल्क देना पड़ता था और मेधातिथि का कथन है कि यदि पिता धन नहीं चाहता तो प्रेमी को चाहिए कि वह राजा को धन-दण्ड दे; कन्या उसे दे दी जा सकती है, किन्तु यदि उसका (कन्या का) प्यार न रह गया हो तो वह दूसरे से विवाहित हो सकती है, किन्तु यदि प्रेमी स्वयं उसे ग्रहण करना स्वीकार न करे तो उसके साथ बलप्रयोग करके उससे स्वीकृत कराया जाय। ऐसा ही (कुछ अन्तरों के साथ) नारद (स्त्रीपुंस, श्लोक ७२) ने भी कहा है। नारद का कथन है कि यदि कन्या की सम्मति से संभोग किया गया है तो यह कोई अपराध नहीं है, किन्तु उसे (आभूषण एवं परिधान आदि से) अलंकृत एवं समादृत करके विवाह अवश्य करना चाहिए।

स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य निबन्धों ने देवल एवं गृह्यपरिशिष्ट को उद्धृत करके यह लिखा है कि गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच में होम एवं सप्तपदी आवश्यक है। महाभारत (आदिपर्व १९५।७) ने स्पष्ट कहा है कि स्वयंवर के पश्चात् भी धार्मिक कृत्य किया जाना चाहिए। कालिदास (रघुवंश ७) ने वर्णन किया है कि इन्दुमती के स्वयंवर के उपरान्त मधुपर्क, होम, अग्नि-प्रदक्षिणा, पाणिग्रहण आदि धार्मिक कृत्य किये गये। सर्वप्रथम आश्वलायन ने ही आठ प्रकारों का वर्णन किया है और पुनः होम एवं सप्तपदी की व्यवस्था कही है, अतः यह स्पष्ट है कि सभी विवाह-प्रकारों में होम एवं सप्तपदी के कृत्य आवश्यक माने जाते हैं।

स्मृतियों ने विविध वर्णों के लिए इन आठ प्रकारों की उपयुक्तता के विषय में कतिपय मत प्रकाशित किये हैं। सभी ने प्रथम चार अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य को स्वीकृत किया है (प्रशस्त एवं धर्म्य)। देखिए इस विषय में गौतम (४।१२), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१२।३), मनु (३।२४), नारद (स्त्रीपुंस, ४४) आदि। सभी ने ब्राह्म को सर्वश्रेष्ठ तथा क्रम से बाद वाले को उत्तमतर बताया है (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।५।१२।२, बौधायनधर्मसूत्र १।११।१)। सभी ने पैशाच को निकृष्टतम कहा है। एक मत से प्रथम चार ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त हैं (बौधायनधर्मसूत्र १।११।१० एवं मनु ३।१४)। दूसरे मत से प्रथम छः (आठ में राक्षस एवं पैशाच को छोड़कर) ब्राह्मणों के लिए, अन्तिम चार क्षत्रियों के लिए, गांधर्व, आसुर, पैशाच वैश्यों एवं शूद्रों के लिए हैं (मनु ३।२३)। तीसरे मत से प्राजापत्य, गान्धर्व एवं आसुर सभी वर्णों के लिए तथा पैशाच एवं आसुर किसी वर्ण के लिए नहीं हैं; किन्तु मनु (३।२४) ने आगे चलकर आसुर को वैश्यों एवं शूद्रों के लिए मान्य ठहराया है। मनु ने एक मत प्रकाशित किया है कि गांधर्व एवं राक्षस क्षत्रियों के लिए उपयुक्त (धर्म्य) हैं; दोनों का मिश्रण (यथा—जहाँ कन्या वर से प्रेम करे, किन्तु उसे माता-पिता या अभिभावक न चाहें तथा अवरोध उपस्थित करें और प्रेमी लड़ाई लड़कर उठा ले जाय) भी क्षत्रियों के लिए ठीक है (मनु ३।२६ एवं बौधायनधर्मसूत्र १।११।१३)। बौधायनधर्मसूत्र (१।११।१४-१६) ने वैश्यों एवं शूद्रों के लिए आसुर एवं पैशाच की व्यवस्था की है और बहुत ही मनोहर कारण दिया है; "क्योंकि वैश्य एवं शूद्र अपनी स्त्रियों को नियन्त्रण में नहीं रख पाते और स्वयं खेती-बारी एवं सेवा के कार्य में लगे रहते हैं।" नारद (स्त्रीपुंस, ४०) के कथन के अनुसार गान्धर्व सभी वर्णों में पाया जाता है। कामसूत्र (३।५।२८) आरम्भ में ब्राह्म को सर्वश्रेष्ठ मानता है, किन्तु अन्त में उसने अपने विषय के प्रति सत्य होते हुए गान्धर्व को ही सर्वश्रेष्ठ माना है (३।५।२९-३०)।

राजकुलों में गान्धर्व बहुत प्रचलित रहा है। कालिदास ने शाकुन्तल (३) में इसके बहु व्यवहार का उल्लेख किया है। महाभारत (आदिपर्व २२९।२२) में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं जब अर्जुन सुभद्रा के प्रेम में पड़ चुके थे—"शूर-वीर क्षत्रियों के लिए अपनी प्रेमिकाओं को उठा ले जाना व्यवस्था के भीतर है।"[२०] अमोघवर्ष के सञ्जन-पत्रों (शकाब्द ७९३) में ऐसा आया है कि इन्द्रराज ने चालुक्यराज की कन्या से खेड़ा में राक्षस रीति से विवाह किया (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १८, पृ० २३५)। पृथ्वीराज चौहान ने जयचन्द्र की कन्या संयोगिता को राक्षस ढंग से ही प्राप्त किया था जो बहुत ही प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना मानी जाती है। किन्तु इस विषय में यह बात विचारणीय है कि कन्नौज के राजा जयचन्द की कन्या की सम्मति थी, अतः यह विवाह गांधर्व एवं राक्षस प्रकारों का मिश्रण कहा जायगा (मनु ३।२६)।

जैसा कि वीरमित्रोदय टीका से ज्ञात होता है, स्वयंवर को धर्मशास्त्रों ने व्यावहारिक रूप में गान्धर्व के समान ही माना है (याज्ञवल्क्य १।६१ की टीका में)। स्वयंवर के कई प्रकार हैं। सबसे सरल प्रकार वह है जिसमें युवावस्था प्राप्त कर लेने पर कन्या तीन वर्ष (वसिष्ठधर्मसूत्र १७।६७-६८, मनु ९।९०, बौधायनधर्मसूत्र ४।१।१३ के अनुसार) या ३ मास (गौतम १८।१०९, विष्णुधर्मसूत्र २५।४०-४१ के अनुसार) जोहकर स्वयं वर का वरण कर सकती है। याज्ञवल्क्य (१।६४) के मत से पितृहीन तथा अभिभावकहीन कन्या स्वयं योग्य वर का वरण कर सकती है। स्वयंवर करने पर लड़की को अपने सारे गहने उतारकर माता-पिता या भाई को दे देने पड़ते थे और उसके पति को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था, क्योंकि समय में विवाह न करने पर माता-पिता या भाई अपने अधिकारों से वंचित हो जाते

२०. गान्धर्वेण विवाहेन विह्वयो राजर्षिकन्यकाः। श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः॥ शाकुन्तल ३।

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते। विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः॥ आदिपर्व २२१।२२।

थे (गौतम १८।१० एवं मनु ९।९२)। इस प्रकार का सरल स्वयंवर सभी जातियों की लड़कियों के लिए सम्भव था। सावित्री ने इसी प्रकार का स्वयंवर किया था। किन्तु महाकाव्यों में वर्णित स्वयंवर बड़े विशाल पैमाने पर होते थे और वे केवल राजकुलों के लिए सम्भव थे। आदिपर्व में आया है कि क्षत्रिय लोग स्वयंवर करते थे, किन्तु कन्याओं के सम्बन्धियों को हराकर उनका अपहरण करके विवाह करना बहुत अच्छा समझते थे। भीष्म ने काशिराज की तीन कन्याओं का अपहरण करके दो (अम्बिका एवं अम्बालिका) का विवाह अपने रक्ष्य (आश्रित) विचित्रवीर्य से कर दिया (आदिपर्व १०२।१६)। सीता एवं द्रौपदी का स्वयंवर उनकी इच्छाओं पर नहीं निर्भर था, प्रत्युत वे उन्हीं को ब्याह दी गयीं जिन्होंने पूर्वनिर्धारित दक्षता प्रदर्शित की। दमयन्ती के विषय में उसका स्वयंवर उसके मन का था, यद्यपि उसने बड़े विशाल रूप में सज्जित एवं एकत्र राजवरों के बीच में नल को ही चुना। कालिदास ने भी इन्दुमती के स्वयंवर का बड़ा सुन्दर दृश्य खड़ा किया है। अपने विक्रमांकदेवचरित्र (सर्ग ९) में विल्हण ने करहाट (आधुनिक करद) के शिलाहार राजा की लड़की चन्द्रलेखा (चन्दलदेवी) के ऐतिहासिक स्वयंवर का चित्रण किया है, जिसमें उसने कल्याण के चालुक्यराज विक्रमांक या आहवमल्ल को चुना था (ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)। आदिपर्व (१८९।१) के मत से ऐसे स्वयंवर ब्राह्मणों के लिए अनुपयुक्त थे। कादम्बरी (पूर्व भाग, उपान्त्य अंश) मे पत्रलेखा कहती है कि स्वयं-वर सभी धर्मशास्त्रों में उपदिष्ट है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१२।४) ने एक सामान्य वचन लिखा है कि जैसा विवाह होगा उसी प्रकार पति-पत्नी की सन्तानें होंगी, अर्थात् यदि विवाह अत्युत्तम ढंग का (यथा ब्राह्म) होगा तो सन्तान भी सच्चरित्र होगी, यदि विवाह निन्दित ढंग से होगा तो सन्तान भी निन्दित चरित्र की होगी। इसी स्वर में मनु (३।४९-४२) ने कहा है कि विवाह ब्राह्म तथा अन्य तीन प्रकार के हुए हैं तो उनसे उत्पन्न बच्चे आध्यात्मिक श्रेष्ठता के होंगे और होंगे सुन्दर, गुणी, धनी, यशस्वी एवं दीर्घायु। किन्तु अन्तिम चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तानें क्रूर, झूठी, वेदद्रोही एवं धर्मद्रोही होंगी। सूत्रों एवं स्मृतियों ने अच्छे विवाहों से उत्पन्न बच्चों से पीढ़ियों को पवित्र बनते देखा है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।६) के मत से ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य एवं आर्ष विवाहों से उत्पन्न बच्चे माता एवं पिता के कुलों की क्रम से १२, १०, ८ एवं ७ पीढ़ियों तक के पूर्वजों एवं वंशजों में पवित्रता ला देते हैं। मनु (३।३७-३८) एवं याज्ञवल्क्य (१।५८-६०) ने यही बात दूसरे ढंग से उल्लिखित की है, जिसे स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा रहा है। यही बात गौतम (४।२४-२७) में भी पायी जाती है। विश्वरूप एवं मेधातिथि ने अपनी टीकाओं में उपर्युक्त बातें ज्यों-की-त्यों नहीं मान ली हैं। वे केवल ब्राह्म प्रकार को उच्च दृष्टि से देखते हैं।

विवाहों के प्रकारों के मूल के विषय में हमें वैदिक साहित्य की छान-बीन करनी होगी। ऋग्वेद (१०।८५) में ब्राह्म विवाह की ओर संकेत है (कन्यादान आदि की ओर)। आसुर प्रकार (धन देकर) का संकेत ऋग्वेद (१।१०९।२) एवं निरुक्त (६।९) में मिलता है। ऋग्वेद (१०।२७।१२ एवं १।११९।५) में गांधर्व या स्वयंवर प्रकार की ओर भी संकेत मिलता है। ऋग्वेद (५।६१) के सिलसिले में बृहद्देवता (५।५०) में श्वावाश्व की गाथा में वर्णित विवाह दैव प्रकार के आसपास पहुँच जाता है। ऐसा आया है कि आत्रेय अर्चनाना ने राजा रथवीति के यज्ञ में यज्ञ करते समय अपने पुत्र श्यावाश्व के लिए राजा की कन्या का हाथ माँगा था।

आजकल ब्राह्म एवं आसुर विवाह प्रचलित हैं। ब्राह्म में कन्यादान होता है, किन्तु आसुर में लड़की के पिता या अभिभावकों को उनके लाभ के लिए शुल्क देना पड़ता है। गान्धर्व विवाह आजकल एक प्रकार से समाप्तप्राय है, यद्यपि कभी-कभी कुछ मुकदमे कचहरी में आ जाया करते हैं। कुछ लोगों के विचार से नयी रोशनी में पले नवयुवक एवं नवयुवतियाँ गान्धर्व विवाह की ओर उन्मुख हो रहे हैं। यदि कोई विधवा स्वयं विवाह करे तो वह गांधर्व के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि इस विषय में कन्यादान नहीं होता।

विवाह के धार्मिक कृत्य—विवाह-सम्बन्धी कृत्यों के विवेचन के पूर्व हमें ऋग्वेद (१०।८५) के वर्णन की व्याख्या कर लेनी होगी, क्योंकि ऋग्वेद का यह अंश विवाह के लिए अति महत्वपूर्ण माना जाता रहा है। ऋग्वेद का यह सूक्त सविता की पुत्री सूर्या तथा सोम के विवाह के विषय में है। इस विवाह के विशिष्ट लक्षण ये हैं—दोनों आश्विनौ सोम के लिए सूर्या माँगने गये थे (८–९), सविता लड़की देने को तैयार हो गये (९), वर का सम्मान किया गया, उसे भेटें दी गयीं, गायें संहत की गयीं (या दी गयीं), सोम ने सूर्या का पाणिग्रहण किया और यह मन्त्र कहा—"मैं तुम्हारा हाथ प्रेम (सम्मति) के लिए ग्रहण करता हूँ जिससे कि तुम मेरे साथ वृद्धावस्था को प्राप्त होओ; भग, अर्यमा, सविता तथा विज्ञ पूषा देवों ने तुम्हें मुझे दिया कि तुम गृहिणी बनो (गृहिणी का कार्य करने के लिए)।" कन्या अपने पिता का देवों एवं अग्नि के समक्ष दान है (४०-४१); कन्या अपने पिता के अधिकार एवं नियन्त्रण से हटकर अपने पति से मिल जाती है (२४); कन्या (वधू) को इस प्रकार आशीर्वचन दिये जाये हैं—"तुम यहाँ साथ रहो, तुम पृथक् न होने पाओ, तुम दीर्घ जीवन वाली हो, अपने घर में पुत्रों एवं पौत्रों के साथ खेलती प्रसन्न रहो; हे इन्द्र, इसे योग्य पुत्र एवं सम्पत्ति दो, इसे दस पुत्र दो और इसके पति को ग्यारहवाँ पुरुष (घर का सदस्य) बनाओ; तुम अपने श्वशुर, सास, देवर एवं ननद पर रानी बनो (४२, ४५–४६)।" यह बात भी विचारणीय है कि सूर्या के साथ रैभ्या भी उसकी अनुदेयी होकर गयी, जिससे पति के घर प्रथम बार जाने पर सूर्या को बहुत भार न पड़े। आधुनिक काल में वधू के साथ कोई-न-कोई नारी "पाथराखिन्" के रूप में जाती है।

विवाह-सम्बन्धी कृत्यों के विषय में बहुत प्राचीन काल से ही अत्यधिक मत-मतान्तर रहे हैं। स्वयं आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।७।१-२) का कहना है—"विभिन्न देशों एवं ग्रामों में विभिन्न आचार हैं, उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए; उनमें जो सब स्थानों में पाये जाते हैं, हम उन्हीं का वर्णन करेंगे।" आपस्तम्बगृह्यसूत्र (२।१५) के मत से लोगों को स्त्रियों एवं अन्य लोगों से विवाह-विधि जाननी चाहिए (अर्थात् परम्परा से जो विधि चली आयी है)। टीकाकार सुदर्शनाचार्य का कहना है कि कुछ कृत्य, यथा गृह-पूजन, अंकुरारोपण, प्रतिसर (कंगन) का बाँधना सब स्थानों में पाया जाता है, क्योंकि उनके साथ वैदिक मन्त्र कहे जाते हैं, किन्तु नागबलि, यक्षबलि एवं इन्द्राणी की पूजा बिना वेद-मन्त्र के होती है। इसी प्रकार काठकगृह्य में भी वर्णन है। आश्वलायनगृह्यसूत्र में विवाह-विधि थोड़े में वर्णित है और यह गृह्य-सूत्र अत्यन्त प्राचीन भी है, अतः हम नीचे इसी की वर्णित बातें उपस्थित करेंगे। कहीं-कहीं हम अन्य सूत्रकारों के भी वचन देंगे। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ऋग्वेद के काल से अब तक बहुत-सी बातें ज्यों की त्यों चली आयी हैं।

आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।७।३-१।८) में कहा गया है—"अग्नि के पश्चिम चक्की (आटा पीसने वाली) तथा उत्तर-पूर्व पानी का घड़ा रखकर वर को होम करना चाहिए (स्रुव से), तब तक कन्या उसे (वर के दाहिने हाथ को) पकड़े रहती है। अपना मुख पश्चिम करके खड़े होकर, जब कि कन्या पूर्व मुख किये बैठी रहती है, उसे कन्या के अँगूठे को पकड़कर यह मन्त्र पढ़ना चाहिए—"मैं तुम्हारा हाथ सुख के लिए पकड़ रहा हूँ" (ऋग्वेद १०।८५।३६), ऐसा वह केवल पुत्रों की उत्पत्ति के लिए कहेगा; यदि वह पुत्रियाँ चाहे तो अन्य अँगुलियाँ भी पकड़ेगा। यदि वह पुत्र पुत्रियाँ (दोनों प्रकार की सन्तान) चाहे तो वह हाथ के बाल वाले भाग की ओर से अँगूठा पकड़ेगा। कन्या के साथ वर अग्नि एवं कलश की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करेगा और कहेगा—"मैं अम (यह) हूँ, तुम सा (स्त्री); तुम सा हो और मैं अम हूँ; मैं स्वर्ग हूँ, तुम पृथिवी हो; मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो। हम दोनों विवाह कर लें। हम सन्तान उत्पन्न करें। एक-दूसरे को प्यारे, चमकीले, एक-दूसरे की ओर झुके हुए हम लोग सौ वर्ष तक जीयें।" जब वह उसे अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है तब प्रस्तर पर पैर रखवाता है और कहता है—"इस पर चढ़ो, इसी के समान अचल होओ, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो, उन्हें कुचल दो।" पहले कन्या की अंजलि में घृत छोड़कर उसका भाई या जो कोई भाई के स्थान में हो, दो बार भुना हुआ अन्न (लाजा या धान का लावा) छोड़ता है, जिसका गोत्र जमदग्नि हो (अर्थात् यदि वर का

यह गोत्र हो) उसके लिए तीन बार यह किया जाता है। तब वह हवि के शेषांश पर या जो छूट गया है उस पर घृत छोड़ता है। तब वर निम्न मन्त्रोच्चारण करता है—"अर्यमा देवता के लिए लड़कियों ने यज्ञ किया, वह देवता (अर्यमा) इस कन्या को (पिता से) मुक्त करें, किन्तु इस स्थान से (पति से) नहीं, स्वाहा। वरुण देवता के लिए लड़कियों ने यज्ञ किया, वह देवता भी.....पूषा देवता के लिए लड़कियों ने यज्ञ किया, अग्नि के लिए भी, वह पूषा....।" इनके साथ कन्या अपने हाथों को फैलाकर लावा की हवि दे (मानो दोनों हाथ स्रुची हैं)। बिना अग्नि की प्रदक्षिणा किये कन्या लावा की हवि चौथी बार मौन रूप से देती है। यह कार्य वह सूप को अपनी ओर करके करती है। कुछ लोग सूप में से लावा को गिराते समय अग्नि की प्रदक्षिणा भी कराते हैं, जिससे कि अन्तिम दो हवि लगातार न पड़ जायँ। तब वर कन्या के सिर के दो बाल-गुच्छ ढीले करता है और दाहिने को ढीला करते समय कहता है—"मैं तुम्हें वरुण के बन्धन से छुटकारा देता हूँ" (ऋग्वेद १०।८५।२४)। तब वह उसे उत्तर-पूर्व दिशा में सात पग इन शब्दों के साथ ले जाता है—"तुम एक पग द्रव (रस) के लिए, दूसरा पग शक्ति के लिए, तीसरा धन के लिए, चौथा आराम के लिए, पाँचवाँ सन्तान के लिए, छठा ऋतुओं के लिए रखो और मेरी मित्र बनो अतः सातवाँ पग रखो; तुम मेरी प्रिय बनो, हम बहुत से पुत्र पायें और वे दीर्घायु हों।" वर और कन्या के सिर को साथ मिलाकर आचार्य कलश से उन पर जल छिड़कता है। उस रात्रि में कन्या ऐसी बूढ़ी ब्राह्मणी के घर में निवास करती है, जिसके पति एवं पुत्र जीवित रहते हैं। जब वह ध्रुव तारा देख ले और अरुन्धती तारा एवं सप्तर्षिमण्डल देख ले तो उसे अपना मौन तोड़ना चाहिए और कहना चाहिए—"मेरा पति जीये और मैं सन्तान प्राप्त करूँ।" यदि विवाहित दंपति को सुदूर ग्राम में जाना हो तो पत्नी को रथ में इस मन्त्र के साथ बैठाये—"पूषा तुम्हें यहाँ से हाथ पकड़कर ले चले" (ऋग्वेद १०।८५।२६); वह उसे नाव में बैठाये तब श्लोकार्ध पढ़े "प्रस्तरों को ढोती (नदी अश्मन्वती) बहती है; तैयार हो जाओ" (ऋग्वेद १०।५३।८)। यदि वह रोती है, तो उसे यह कहना चाहिए कि वे जीनेवाले के लिए रोते हैं (ऋग्वेद १०।४०।१०)। साथ में विवाह की अग्नि आगे-आगे ले जायी जाती है। रमणीक स्थानों, पेड़ों, चौराहों पर पति यह कहता है—"रास्ते में डाकू न मिलें" (ऋग्वेद १०।८५।३२)। मार्ग में बस्तियाँ पड़ने पर देखने वाले को देखकर मन्त्रोच्चारण करे—"यह नवविवाहित वधू भाग्य ला रही है" (ऋग्वेद १०।८५।३३)। वह उसे गृह में प्रवेश कराते समय यह कहे—"यहाँ सन्तानों के साथ तुम्हारा सुख बढ़े" ऋग्वेद १९।८५।२७)। विवाह की अग्नि में लकड़ियाँ छोड़कर और उसके पश्चिम बैल की खाल बिछाकर उसे आहुतियाँ देनी चाहिए, तब तक उसकी वधू पार्श्व में बैठकर पति को पकड़े रहती है और प्रत्येक आहुति के साथ एक मन्त्र कहा जाता है और इस प्रकार चार मन्त्रों का उच्चारण होता है—"प्रजापति हमें सन्तान दे" (ऋग्वेद १०।८५।४३-४६)। तब वह दही खाता है और कहता है—"समस्त देवता हमारे हृदयों को जोड़ दें" 'ऋग्वेद १०।८५।४७)। शेष दही वह पत्नी को दे देता है। उसके उपरान्त वे दोनों क्षार, लवण नहीं खायेंगे, ब्रह्मचर्य से रहेंगे, गहने नहीं धारण करेंगे, पृथिवी पर सोयेंगे (चटाई पर नहीं)। यह क्रिया ३ रातों, १२ रातों या कुछ लोगों के मत से साल भर तक चलेगी, तब उनका एक ऋषि (गोत्र) हो जायगा। जब ये सब कृत्य समाप्त हो जायँ तो वर को चाहिए कि वह वधू के वस्त्र किसी ऐसे ब्राह्मण को दे दे, जो सूर्या-सूक्त जानता है (ऋग्वेद १०।८५), तब वह ब्राह्मणों को भोजन कराये, इसके उपरान्त वह ब्राह्मणों से शुभ स्वस्तिवाचन का उच्चारण सुने।

उपर्युक्त वर्णित विवाह-संस्कार में तीन भाग हैं। कुछ कृत्य आरम्भिक कहे जा सकते हैं, उनके उपरान्त कुछ ऐसे कृत्य हैं जिन्हें हम संस्कार का सार-तत्त्व कह सकते हैं, यथा पाणिग्रहण, होम, अग्नि-प्रदक्षिणा एवं सप्तपदी, तथा कुछ कृत्य ऐसे हैं जो उक्त मुख्य कृत्यों के प्रतिफल मात्र हैं, यथा ध्रुव तारा, अरुन्धती आदि का दर्शन। मुख्य कृत्य सभी सूत्रकारों द्वारा वर्णित हैं; किन्तु आरम्भिक तथा अन्त वालों के विस्तार में पर्याप्त भेद है। यहाँ तक कि मुख्य कृत्यों के अनुक्रमों के विषय में भी कुछ ग्रन्थ मतैक्य नहीं रखते, अर्थात् कहीं एक कृत्य आरम्भ में है तो कहीं वह तीसरे या चौथे

क्रम में आया है, उदाहरणार्थ, आश्वलायनगृह्य सूत्र (१।७।७) ने अग्नि-प्रदक्षिणा का वर्णन सप्तपदी के पूर्व किया है, किन्तु आपस्तम्बगृह्यसूत्र ने सप्तपदी (४।१६) को अग्निप्रदक्षिणा के पूर्व वर्णित किया है। गोभिलगृह्यसूत्र (२।२।१६), खादिरगृह्यसूत्र (१।३।३१) एवं बौधायनगृह्यसूत्र (१।४।१०) ने पाणिग्रहण को सप्तपदी के उपरान्त करने को कहा है, किन्तु अन्य सूत्रों ने पहले। आश्वलायन० में बहुत-सी बातें छोड़ दी गयी हैं, यथा—मधुपर्क (जो आपस्तम्ब ३।८, बौधायन० १।२।१ एवं मानव० १।९ में उल्लिखित है) एवं कन्यादान (जो पारस्करगृह्यसूत्र १।४ एवं मानव० १।८, ६।९ में वर्णित है)। वास्तव में आश्वलायन का मन्तव्य था उन्हीं कृत्यों का वर्णन जो सभी सूत्रों में पाये जाते हैं।

विवाह-संस्कार में निम्नलिखित बातें प्रचलित हैं। जितने सूत्र मिल सके हैं उन्हीं के आधार पर निम्न सूची दी जा रही है। जो बहुत महत्वपूर्ण बातें हैं, उनके साथ कुछ टिप्पणियाँ भी जोड़ी जा रही हैं।

वधूवर-गुण परीक्षा (वर एवं वधू के गुणों की परीक्षा)—इस पर हमने बहुत पहले ही विचार कर लिया है।

वर-प्रेषण (कन्या के लिए बातचीत करने के लिए लोगों को भेजना)—प्राचीन काल में कन्या के पास व्यक्ति भेजे जाते थे (ऋग्वेद १०।८५।८-९)। सूत्रों के काल में भी यही बात थी (शांखायन १।६।१-४, बौधा० १।१।१४-१५, आपस्तम्ब० २।१६, ४।१-२ एवं ७)। मध्य काल के क्षत्रियों में भी ऐसी प्रथा थी। हर्षचरित में वर्णन है कि मौखरि राजकुमार ग्रहवर्मा ने हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री के साथ विवाह के हेतु दूत भेजे थे। किन्तु आधुनिक काल में ब्राह्मणों तथा बहुत-सी अन्य जातियों में लड़की का पिता वर ढूंढ़ता है, यद्यपि शूद्रों में पाचीन परम्परा अब भी जीवित देखी जाती है।

वाग्दान या वाङ्निश्चय (विवाह तय करना)—इसका उल्लेख शांखायनगृह्यसूत्र (१।६।५-६) में पाया जाता है। मध्य काल की संस्काररत्नमाला ने भी इसका वर्णन विस्तार के साथ किया है।

मण्डप-करण (विवाह के लिए पण्डाल बनाना)—पारस्करगृ० (१।४) के मत से विवाह, चौल, उपनयन, केशान्त एवं सीमन्त घर के बाहर मण्डप में करने चाहिए। देखिए संस्कारप्रकाश, पृ० ८१७-८१८।

नान्दीश्राद्ध एवं पुण्याहवाचन—इसका वर्णन बौधायनगृ० १।१।२४ में पाया जाता है। अधिकांश सूत्र इस विषय में मौन हैं।

वधूगृहगमन—वर का बरात के रूप में वधू के घर जाना (शांखायनगृ० १।१२।१)।

मधुपर्क (वधू के घर में वर का स्वागत)—आपस्तम्बगृ० (३।८), बौधायन० (१।२।१), मानवगृ० (१।९) एवं काठक गृ० (२४।१।३) ने इसका वर्णन किया है। इस पर आगे के अध्याय में लिखा भी जायगा। शांखायन ने दो प्रकार के मधुपर्कों का (एक विवाह के पूर्व तथा दूसरा उसके उपरान्त जब कि वर घर लौट आता है) वर्णन किया है। काठकगृ० के टीकाकार आदित्यदर्शन के मत से यह सभी देशों में विवाह के पूर्व किया जाता है। किन्तु कुछ लोगों ने इसे विवाह के उपरान्त देने को कहा है।

स्नापन, परिधापन एवं सन्नहन (वधू को स्नान कराना, नया वस्त्र देना, उसकी कटि में धागा या कुश की रस्सी बाँधना)—इस विषय में देखिए आपस्तम्ब० (४।८, काठक० २५।४)। पारस्कर० (१।४) ने केवल दो आभूषण पहनाने को कहा है, गोभिल० (२।१।१७-१८) ने स्नान करने एवं वस्त्र धारण करने को कहा है। मानव० (१।११।४-६) ने परिधान एवं सन्नहन का उल्लेख किया है। गोभिल० (२।१।१०) ने कन्या के सिर पर सुरा (शराब) छिड़कने को कहा है, जिसे टीकाकार ने जल ही माना है।

२१. कालिदास ने रघुवंश (७) में विवाह-सम्बन्धी मुख्य कृत्य लिखे हैं, यथा—मधुपर्क, होम, अग्नि-प्रदक्षिणा, पाणिग्रहण, लाजाहोम एवं आर्द्राक्षतारोपण।

समञ्जन (वर एवं वधू को उबटन या सुगन्ध लगाना)—देखिए शांखायन० (१।१२।५), गोभिल० (२।२।-१५), पारस्कर० (१।४)। सभी सूत्रों में ऋग्वेद (१०।८५।४७) के मन्त्र पाठ की भी चर्चा है।

प्रतिसरबन्ध (वधू के हाथ में कंगन बाँधना)—देखिए शांखायन० (१।१२।६-८), कौशिक सूत्र (७६।८)।

वधूवर-निष्क्रमण (घर के अन्तःकक्ष से वर एवं वधू का मण्डप में आना)—देखिए पारस्कर० (१।४)।

परस्पर समीक्षण (एक-दूसरे की ओर देखना)—देखिए पारस्कर० (१।४), आपस्तम्ब० (४।४) बौधायन० (१।१।२४-२५)। पारस्कर० (१।४) के अनुसार वर ऋग्वेद (१०।८५।४४-४०, ४१ एवं ३७) की ऋचाएँ पढ़ता है। आपस्तम्ब० (४।४) एवं बौधायन के मत से ऋग्वेद का १०।८५।४४ मन्त्र पढ़ा जाना चाहिए। आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट (१।२९) का कहना है कि सर्वप्रथम वर एवं वधू के बीच में एक वस्त्र-खण्ड रखा जाना चाहिए और ज्योतिष-घटिका के अनुसार हटा लिया जाना चाहिए, तब वर एवं वधू एक दूसरे को देखते हैं। यह कृत्य आज भी व्यवहार में लाया जाता है। जब बीच में वस्त्र रखा रहता है उस समय ब्राह्मण लोग मंगलाष्टक का पाठ करते हैं।

कन्यादान (वर को कन्या देना)—देखिए पारस्कर० (१।४), मानव० (१।८।६-९), वाराह० १३। आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट का वर्णन आज भी ज्यों-का त्यों चला आ रहा है। संस्कारकौस्तुभ (पृ० ७७९) ने कन्यादान के वाक्य को छः प्रकार से कहने की विधि लिखी है। इसी कृत्य में पिता वर से कहता है कि वह धर्म, अर्थ एवं काम में कन्या के प्रति झूठा न हो, और वर उत्तर देता है कि मैं ऐसा ही करूँगा (नातिचरामि)। यह कृत्य आज भी होता है।

अग्निस्थापन एवं होम (अग्नि की स्थापना करना एवं अग्नि में आज्य की आहुतियाँ डालना)—यहाँ पर आहुतियों की संख्या एवं मान्त्रों के उच्चारण में मतैक्य नहीं है। देखिए आश्वलायन० १।७।३ एवं १।४।३-७, आपस्तम्ब० ५।१ (१६ आहुतियाँ एव १६ मन्त्र), गोभिल० २।१।२४-२६, मानव० १।८, भारद्वाज १।१३ आदि।

पाणिग्रहण (कन्या का हाथ पकड़ना)।

लाजहोम (कन्या द्वारा अग्नि में धान के लावे (खीलों) की आहुति देना)—देखिए आश्वलायन० (१।७।७-१३), पारस्कर० (१।६), आपस्तम्ब० (५।३-५), शांखायन० (१।१३।१५-१७), गोभिल० (२।२।५), मानव० (१।११।११), बौधायन० (१।४।२५) आदि। आश्वलायन के अनुसार कन्या तीन आहुतियाँ वर द्वारा मन्त्र पढ़ते समय अग्नि में डालती है और चौथी आहुति मौन रूप से ही देती है। कुछ ग्रन्थों ने केवल तीन ही आहुतियों की बात चलायी है।

अग्निपरिणयन—वर वधू को लेकर अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा करता है। प्रदक्षिणा करते समय वह "अमोऽहमस्मि" आदि (शांखायन० १।१३।४, हिरण्यकेशि० १।२०।८१ आदि) का उच्चारण करता है।

अश्मारोहण (वधू को पत्थर पर चढ़ाना)—लाज-होम, अग्निपरिणयन एवं अश्मारोहण एक-के-बाद-दूसरा तीन बार किये जाते हैं।

सप्तपदी (वर एवं वधू का साथ-साथ सात पग चलना)—यह अग्नि की उत्तर ओर किया जाता है। चावल की सात राशियाँ रखकर वर वधू को प्रत्येक पर चलाता है। पश्चिम दिशा से पहले दाहिने पैर से चलना आरम्भ होता है।

मूर्धाभिषेक (वर-वधू के सिर पर, कुछ लोगों के मत से केवल वधू के सिर पर ही, जल छिड़कना)—देखिए आश्वलायन० (१।७।२०), पारस्कर० (१।८), गोभिल० (२।२।१५-१६) आदि।

सूर्योदीक्षण (वधू को सूर्य की ओर देखने को कहना)—पारस्कर० (१।८) ने इसकी चर्चा की है और "तच्चक्षुः" आदि (ऋग्वेद ७।६६।१६, वाजसनेयी संहिता ३६।२४) मन्त्र के उच्चारण की बात कही है।

हृदयस्पर्श (मन्त्र के साथ वधू के हृदय का स्पर्श)—देखिए पारस्कर० (१।८), भारद्वाज० (१।१७), बौधायन० (१।४।१)।

प्रेक्षकानुमन्त्रण (नव विवाहित दम्पति की ओर संकेत करके दर्शकों को सम्बोधित करना)—देखिए मानव० (१।१२।१), पारस्कर० (१।८)। दोनों ने ऋग्वेद के मन्त्र (१०।८५।३३) के उच्चारण की बात कही है।

दक्षिणादान (आचार्य को भेंट)—देखिए पारस्कर० (१।८), शांखायन० (१।१४।१३-१७)। दोनों ने ब्राह्मणों के विवाह में एक गाय, राजाओं एवं बड़े लोगों के विवाह में एक ग्राम, वैश्य के विवाह में एक घोड़ा आदि देना कहा है। गोभिल० (२।३।३३) एवं बौधायन० (१।४।३८) ने केवल एक गाय देने की बात कही है।

गृहप्रवेश (वर के घर में प्रवेश)।

गृहप्रवेशनीय होम (वर के गृह में प्रवेश करते समय होम)—देखिए शांखायन० (१।१६।१-१२), गोभिल (२।३।८-१२) एवं आपस्तम्ब (६।६-१०)।

ध्रुवारुन्धती-दर्शन (विवाह के दिन वधू को ध्रुव एवं अरुन्धती तारे की ओर देखने को कहना)—आश्वलायन० (१।७।७।२२) ने सप्तर्षि मण्डल को भी जोड़ दिया है। मानव० (१।१४।९) ने ध्रुव, अरुन्धती एवं सप्तर्षि मण्डल के साथ-साथ जीवन्ती को भी जोड़ दिया है। भारद्वाज० (१।१९) ने ध्रुव, अरुन्धती एवं अन्य नक्षत्रों के नाम लिये हैं। इसी प्रकार कई मत हैं। आपस्तम्ब० (६।१२) ने केवल ध्रुव एवं अरुन्धती की चर्चा की है। पारस्कर० (१।८) ने केवल ध्रुव की बात उठायी है। शांखायन० (१।१७।२), हिरण्यकेशि० (१।१२।१०) ने वर-वधू को रात्रि भर मौन रहने को लिखा है, किन्तु आश्वलायन के मत से केवल वधू मौन रहती है। गोभिल० (२।३।८-१२) ने ध्रुवारुन्धती-दर्शन की बात गृहप्रवेश के पूर्व कही है।

आग्नेय स्थालीपाक (अग्नि को पक्वान्न की आहुति देना)—देखिए आपस्तम्ब० (७।१-५), गोभिल० (२।३।१९-२१), भारद्वाज० (१।१८)।

त्रिरात्रव्रत (विवाह के उपरान्त तीन रात्रियों तक कुछ नियम पालन)—देखिए आश्वलायन०, जिसका वर्णन सभी सूत्रों में पाया जाता है। आपस्तम्ब० (८।८।-१०) एवं बौधायन० (१।५।१६-१७) के अनुसार नव-विवाहित दम्पति पृथ्वी पर एक ही शय्या पर तीन रात्रियों तक सोयेंगे, किन्तु अपने बीच में उदुम्बर की लकड़ी रखेंगे, जिस पर गन्ध का लेप हुआ रहेगा, वस्त्र या सूत्र बँधा रहेगा। चौथी रात्रि को वह लकड़ी ऋग्वेदीय (१०।८५।२१-२२) मन्त्र के साथ जल में फेंक दी जायगी।

चतुर्थीकर्म (विवाह के उपरान्त चौथी रात्रि का कृत्य)—इस संस्कार का वर्णन बहुत पहले हो चुका है।

मध्य काल के निबन्धों में कुछ अन्य कृत्य भी वर्णित हैं जो आधुनिक काल में किये जाते हैं। इनमें से कुछ का वर्णन हम करते हैं। इन कृत्यों के अनुक्रम में मतैक्य नहीं है।

सीमान्त-पूजन (वधू के ग्राम पर वर एवं उसके दल (बरात) के पहुँचने पर उनका सम्मान)—आधुनिक काल में वाग्दान के पूर्व यह किया जाता है; देखिए संस्कारकौस्तुभ, पृ० ७६८ एवं धर्मसिन्धु ३, पृ० २६१।

हर-गौरी-पूजा (शिव एवं गौरी की पूजा)—देखिए संस्कारकौस्तुभ (पृ० ७६६), संस्काररत्नमाला (पृ० ५३४ एवं ५४४), धर्मसिन्धु (पृ० २६१)। गौरी और हर की मूर्तियाँ सोने या चाँदी की हों या उनके चित्र दीवार पर टँगे रहें, या वस्त्र या प्रस्तर पर चित्र खींच दिये गये हों। इनकी पूजा कन्यादान के पूर्व, किन्तु पुण्याहवाचन के उपरान्त होनी चाहिए। देखिए लघु-आश्वलायन (१५।३५)।

इन्द्राणी-पूजा (इन्द्र की रानी की पूजा)—देखिए संस्कारकौस्तुभ (पृ० ७५६), संस्काररत्नमाला (पृ० ५४५)। यह प्राचीन कृत्य रहा होगा, क्योंकि कालिदास ने रघुवंश (७।३) में संभवतः इस ओर संकेत किया है (स्वयंवर

में बाधा देनेवालों का अभाव था, क्योंकि वहाँ शची की उपस्थिति थी)। हो सकता है स्वयंवर की प्रथा आरम्भ होने के पूर्व शची की पूजा होती रही हो।

तैल-हरिद्रारोपण (वधू के शरीर पर तेल एवं हल्दी के लेप के उपरान्त बचे हुए भाग से वर के शरीर का लेपन)—देखिए संस्कारकौस्तुभ (पृ० ७५७) एवं धर्मसिन्धु (३, पृ० २५७)।

आर्द्राक्षतारोपण (वर एवं वधू द्वारा भीगे हुए अक्षतों को एक-दूसरे पर छिड़कना)—एक चाँदी सरीखी धातु के बरतन में थोड़ा दूध छोड़कर उस पर थोड़ा घी छिड़क दिया जाता है, तब उसमें बिना टूटे हुए चावल छोड़े जाते हैं। वर दूध एवं घी वधू के हाथों में दो बार लगाता है और तीन बार भीगे चावल इस प्रकार डालता है कि उसकी अंजलि भर जाती है और फिर दो बार घृत छिड़कता है। कोई अन्य व्यक्ति यही कृत्य वर के हाथ में करता है और कन्या का पिता दोनों के हाथ में स्वर्णिम टुकड़े रख देता है। इस प्रकार इस क्रिया का बहुत विस्तार है। स्थानाभाव के कारण शेषांश छोड़ दिया जाता है (देखिए कालिदास का रघुवंश (७), जो आर्द्राक्षतारोपण को विवाह के अंतिम कृत्य के रूप में उल्लिखित करता है)।

मंगलसूत्र-बन्धन (वधू के गले में स्वर्णिम एवं अन्य प्रकार के दाने डोरे में लगाकर बाँधना)—यह आधुनिक काल में एक आभूषण हो गया है, जिसे पति के जीते रहने तक धारण किया जाता है। सूत्रकार इस विषय में सर्वथा मौन हैं। शौनकस्मृति, लघु-आश्वलायन-स्मृति (१५।३३) आदि ने इसका वर्णन किया है।

उत्तरीय-प्रान्त-बन्धन (वर एवं वधू के वस्त्र के कोने में हल्दी एवं पान बाँधकर दोनों कोनों को एक में बाँधना)—देखिए संस्कारकौस्तुभ, पृ० ७९९ एवं संस्कारप्रकाश, पृ० ८२९।

ऐरिणीदान (एक बड़े डले या दौरे में जलते हुए दीपक के साथ भाँति-भाँति की भेटें सजाकर वर की माता को देना, जिससे कि वह तथा अन्य सम्बन्धी वधू को स्नेह से रखें)—देखिए संस्कारकौस्तुभ (पृ० ८११), धर्मसिन्धु (पृ० २६७)। वंश (बाँस) का बना हुआ दौरा (बड़ी डलिया) इस बात का द्योतक है कि कुल (वंश) बहुत दिनों तक चला जाय। यह तब किया जाता है जब वधू अपने पति के घर जाने लगती है।

देवकोत्थापन एवं मण्डपोद्वासन (बुलाये गये देवी-देवताओं से छुट्टी लेना तथा मण्डप को हटाना)—देखिए संस्कारकौस्तुभ (पृ० ५३२-५३३) एवं संस्काररत्नमाला (पृ० ५५५-५५६)।

दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं—(१) विवाह कब सम्पादित एवं अनन्यथाकरणीय माना जाता है? एवं (२) यदि धोखे से तथा बलवश विवाह कर लिया जाय तो क्या किया जा सकता है?

मनु (८।१६८) जोर-जबरदस्ती या बलवश किये गये कार्यों को किया हुआ नहीं मानते। किन्तु इस सिद्धान्त को विवाह के विषय में मान लेना कठिन है। हमने ऊपर वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।७३) एवं बौधायनधर्मसूत्र के वचन पढ़ लिये हैं कि यदि कन्या अपहृत हो जाय और उसका विवाह हो जाय, किन्तु वैदिक मन्त्रों का उच्चारण न हुआ रहे, तो कन्या किसी दूसरे से विवाहित हो सकती है। विश्वरूप (पृ० ७४) एवं अपरार्क (पृ० ७९) के अनुसार यह कार्य कन्या द्वारा प्रायश्चित्त किये जाने पर ही हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि यदि विवाहकृत्य (यथा सप्तपदी) सम्पादित हो गये हों तो प्राचीन धर्मशास्त्रकार भी उस विवाह को अन्यथा नहीं सिद्ध कर सकते थे, भले ही कन्या धोखे से या बलवश छीन ली गयी हो। किन्तु आधुनिक कानून कुछ और है; यदि विवाह धोखे से या जोर-जबरदस्ती से कर दिया गया हो तो उसे कचहरी द्वारा अन्यथा सिद्ध किया जा सकता है, भले ही विवाह के सभी धार्मिक कृत्य क्यों न सम्पादित कर दिये गये हों।

वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।७२) का कथन है कि 'जब कन्या प्रतिश्रुत हो चुकी हो, और जल से वचन पक्का कर दिया गया हो, किन्तु यदि वर की मृत्यु हो जाय और वैदिक मन्त्र न पढ़े गये हों, तो कन्या अब भी पिता की ही कही जायगी। यही

बात कात्यायन में भी पायी जाती है; 'यदि कन्या के चुनाव के उपरान्त वर मर जाय या उसके विषय में कुछ भी ज्ञात न हो सके, तो तीन महीनों के उपरान्त कन्या का विवाह किसी अन्य व्यक्ति से हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति लड़की के लिए शुल्क देकर तथा उसके लिए स्त्री-धन देकर कहीं बाहर चला जाय, तो वह लड़की साल भर तक अविवाहित रखकर किसी अन्य को विवाह में दी जा सकती है।' मनु (८।२२७) ने लिखा है—"वैदिक मन्त्र विवाह तथा पत्नीत्व के सूचक होते हैं, किन्तु विज्ञ लोग अन्तिम स्वरूप सप्तपदी के उपरान्त ही मानते हैं।" यह बात अपरार्क ने याज्ञवल्क्य (१।६५) की टीका में लिखी है (पृ० ९४)। और देखिए उद्वाहतत्त्व (पृ० १२९)। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि सप्तपदी के उपरान्त विवाह अन्यथा नहीं समझा जा सकता। सप्तपदी के पूर्व ही यदि वर की मृत्यु हो जाय, तो वधू कुमारी रह जाती है, विधवा नहीं होती और उसका विवाह पुनः हो सकता है। विवाह के सबसे महत्वपूर्ण कृत्य हैं होम एवं सप्तपदी। यही बात महाभारत (द्रोणपर्व ५५।१५-१६) में भी है, यहाँ सप्तपदी को ही अन्तिम महत्ता प्राप्त है। पत्नीत्व का पद सप्तपदी के उपरान्त ही प्राप्त होता है। कामसूत्र (३।५।१३) के अनुसार अग्नि के साक्ष्य के उपरान्त विवाह अन्यथा नहीं सिद्ध किया जा सकता। शूद्रों के विषय में वैदिक मन्त्र नहीं पढ़े जाते, अतः वहाँ परम्पराएँ एवं रूढ़ियाँ मान्य होती हैं। गृहस्थरत्नाकर जैसे निबन्धों के मत से शूद्रों के विषय में कन्या द्वारा वर के परिधान का स्पर्श ही विवाह के सम्पादन का द्योतक है।

मनु (९।४७) के मत से दाय-विभाजन एक बार ही होता है, कुमारी एक ही बार विवाहित होती है। इससे स्पष्ट है कि सप्तपदी के उपरान्त कन्या किसी अन्य से विवाहित नहीं की जा सकती। किन्तु एक वर के विषय में प्रतिश्रुत होने पर यदि कोई दूसरा अच्छा वर मिल जाय तो पिता अपना वचन तोड़ सकता है और अपनी कन्या किसी से विवाहित कर सकता है (मनु ९।७१ एवं ८।९८)। याज्ञवल्क्य (१।६५) कहते हैं—"कन्या एक ही बार दी जाती है, यदि कोई व्यक्ति एक स्थान पर प्रतिश्रुत होने पर कहीं और विवाह कर देता है तो उसे चोर का दण्ड दिया जायगा। किन्तु यदि उसे कहीं पहले से 'अच्छा वर' मिल जाता है तो वह पहले वर को त्याग सकता है।" महाभारत (अनुशासन पर्व ४४।३५) के अनुसार पाणिग्रहण तक कन्या को कोई भी माँग सकता है। यही बात नारद में भी पायी जाती है। इसी प्रकार वर के पक्ष में भी बातें कही गयी हैं। यदि प्रतिश्रुत हो जाने पर वर को पता चलता है कि उसकी भावी पत्नी रोगी है, उसका सतीत्व नष्ट हो चुका है, या कई बार धोखे से लोगों को दी जा चुकी है, तो वह उससे विवाह नहीं भी कर सकता है (मनु ९।७२)। यदि कोई अभिभावक कन्या के दोष को छिपाकर उसका विवाह कर देता है और विवाहोपरान्त भेद खुल जाता है तो उसे याज्ञवल्क्य (१।६६) के अनुसार बहुत अधिक तथा नारद (स्त्रीपुंस, ३३) के मत से बहुत कम दण्ड दिया जाता है। अपरार्क (पृ० ९५) के अनुसार बताया गया दोष गुप्त होना चाहिए, न कि लक्षित एवं जान दिया जाने वाला। यदि कोई वर दोषहीन लड़की का परित्याग करता है तो उसे कठोरातिकठोर दण्ड मिलना चाहिए; यदि वह उसे झूठ-मूठ दोषी ठहराता है तो उस पर एक सौ पण का दण्ड लगना चाहिए (याज्ञवल्क्य १।६६ एवं नारद, स्त्रीपुंस, ३४)। नारद के अनुसार जो व्यक्ति दोषहीन लड़की को छोड़ता है उसे दण्डित होना चाहिए और उसी के साथ विवाहित भी रहना चाहिए।

कुछ स्मृतियाँ एवं निबन्ध विवाह-कृत्य के समय ऋतुमती लड़की के विषय में अपनी विभिन्न धारणाएँ उपस्थित करते हैं। अत्रि (भाग १, पृ० ११) के अनुसार कन्या को हविष्मती मन्त्र (ऋग्वेद १०।८८।१ या ८।७२।१) के साथ स्नान कराकर तथा दूसरा वस्त्र पहना और घृत की आहुति देकर ऋग्वेद के ५।८१।१ मन्त्र के साथ कृत्य समाप्त कर देने चाहिए। किन्तु स्मृत्यर्थसार (पृ० १७) ने दूसरी विधि दी है। तीन दिनों के उपरान्त चौथे दिन वर एवं वधू को स्नान कराकर उसी अग्नि में होम करा देना चाहिए।

अध्याय १०

मधुपर्क तथा अन्य आचार

मधुपर्क

किसी विशिष्ट अतिथि के आगमन पर उसके सम्मान में जो मधु आदि का प्रदान होता है उसे मधुपर्क-विधि कहते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ है—वह कृत्य जिसमें मधु का (किसी व्यक्ति के हाथ पर) गिराना या मोचन होता है। यह शब्द जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१८।४) में प्रयुक्त हुआ है। मधुपर्क शब्द का प्रयोग निरुक्त (१।१६) ने भी किया है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण (३।४) में संभवतः मधुपर्क की ओर ही संकेत है यद्यपि इसमें 'मधुपर्क' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है, तथापि इस प्रकार के सम्मान से मधुपर्क कर्म का संकेत मिल ही जाता है।[2] गृह्य-सूत्रों में इसका विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। उनकी बहुत सी बातें समान हैं, अन्तर केवल मन्त्रों के प्रयोग में है, यद्यपि बहुत-से मन्त्र भी ज्यों-के-त्यों हैं। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२४।१-४) के अनुसार यज्ञ करानेवाले ऋत्विक्, घर में आये हुए स्नातक एवं राजा को, आचार्य, श्वशुर, चाचा एवं मामा के आगमन पर इन्हें मधुपर्क दिया जाता है।[3] मानव० (१।९।१) खादिर० (४।४।२१), याज्ञवल्क्य (१।११०) के अनुसार छः प्रकार के व्यक्ति अर्घ्य (मधुपर्क के भागी) होते हैं, यथा ऋत्विक्, आचार्य, वर, राजा, स्नातक तथा वह जो अपने को बहुत प्यारा हो। बौधायन० (१।२।६५) ने इस सूची में अतिथि को भी जोड़ दिया है। देखिए गौतम (५।२५), आपस्तम्बगृ० (१३।१९-२०), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।३।८।५-७), बौधायनधर्मसूत्र (२।३।६३-६४), मनु (३।११९), सभापर्व (३६।२३-२४), गोभिलगृ० (४।१०।२३-२४)। यदि व्यक्ति एक बार मधुपर्क पाने के उपरान्त वर्ष के भीतर ही पुनः चला आये तो दुबारा देने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि गृह में विवाह या यज्ञ हो रहा हो तो उन व्यक्तियों को पुनः (साल भर के भीतर भी) मधुपर्क देना चाहिए। देखिए गौतम० (५।२६-२७), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।३।८।६), याज्ञवल्क्य (१।११०), खादिर० (४।४।२६), गोभिल० (४।१०।२६)। ऋत्विक् को प्रत्येक यज्ञ में सम्मानित करना चाहिए (याज्ञवल्क्य १।११०)। जब यज्ञ में राजा एवं स्नातक आयें तभी उनका मधुपर्क से सम्मान करना चाहिए। विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।१०९) के अनुसार केवल राजा को ही मधुपर्क देना चाहिए, किसी अन्य क्षत्रिय को नहीं। मेधातिथि (मनु ३।११९) के अनुसार शूद्र को छोड़कर सभी जाति के

१. तं होवाच किं विद्वाञ्सो दाल्भ्यानामन्त्र्य मधुपर्कं पिबसीति। जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण (१९।४); जानते मधुपर्कं प्राह। निरुक्त (१।१६)।

२. तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वार्हति उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते। ऐतरेय ब्राह्मण (३।४)। मेधातिथि ने मनु (३।११९) की तथा हरदत्त ने गौतम (१७।३०) की टीका में इसे उद्धृत किया है।

३. ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमाहरेत्। स्नातकायोपस्थिताय। राज्ञे च। आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च। आश्वलायन गृ० १।२४।१-४। वर जब वधू के घर आता है तो उसे भी मधुपर्क दिया जाता है, क्योंकि वह भी सामान्यतः स्नातक ही होता है। आचार्य वह है जो उपनयन कराता है और वेद पढ़ाता है।

राजा को मधुपर्क देना चाहिए। गृह्यपरिशिष्ट के अनुसार मधुपर्क का कृत्य पानेवाले की शाखा के अनुसार किया जाना चाहिए, न कि देनेवाले की शाखा के अनुसार।

मधुपर्क की विधि आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२४।५-२६) में निम्न प्रकार के वर्णित है—"वह मधु को दही में मिलाता है। यदि मधु न हो तो घृत से काम लिया जाता है। विष्टर (२५ कुशों का आसन-विशेष), पैर धोने के लिए जल, अर्घ-जल (गन्ध, पुष्प आदि से सुगंधित जल), आचमन-जल, मधु-मिश्रण (मधुपर्क), एक गाय—इनमें से प्रत्येक का उच्चारण (अतिथि या सम्मानार्ह व्यक्ति के आ जाने पर) तीन बार किया जाता है।सम्मानार्ह व्यक्ति को उत्तर की ओर मुड़े हुए कुशों के बने विष्टर पर बैठना चाहिए और यह कहना चाहिए—"मैं अपने सम्बन्धियों में उसी प्रकार सर्वोच्च हूँ जैसा कि प्रकाशकों में सूर्य, और मैं यहाँ उन सभी को जो मुझसे विद्वेष रखते हैं, कुचल रहा हूँ", या उसे विष्टर पर बैठने के उपरान्त इस मन्त्र का उच्चारण बार-बार करना चाहिए। तब उसे अपना पैर आतिथ्यकर्ता से धुलवाना चाहिए, सबसे पहले ब्राह्मण का दायाँ पैर तथा तदितर का बायाँ पैर धोया जाना चाहिए। इसके उपरान्त वह अपने जुड़े हुए हाथों में अर्घ-जल लेता है और तब आचमन-जल से आचमन करता है और कहता है—"तू अमृत का बिछौना या प्रथम स्तर है।" जब मधुपर्क लाया जाय तो वह उसे देखे और इस मन्त्र का पाठ करे—"मैं तुम्हें मित्र (देवता) की आँखों से देख रहा हूँ।"तब वह मधुपर्क निम्न सूक्त के साथ ग्रहण करता है—"सविता की प्रेरणा से अश्विनौ के बाहुओं एवं पूषा के हाथों से इसे ग्रहण कर रहा हूँ" (वाजसनेयी संहिता १।२४)। वह मधुपर्क को तीन ऋचाओं १।९०।६-८) के साथ (उन्हें पढ़कर) देखता है।[४] वह उसे बायें हाथ में लेता है, बायीं ओर से दाहिनी ओर अँगूठे एवं अनामिका अँगुली से तीन बार हिलाता है, अँगुलियों को पूर्व की ओर धोता है और पढ़ता है—"तुम्हें वसु लोग गायत्री छन्द के साथ खायें", "तुम्हें रुद्र त्रिष्टुप् छन्द के साथ खायें," "तुम्हें आदित्य गण जगती छन्द के साथ खायें," "तुम्हें विश्वे-देव अनुष्टुप् छन्द के साथ खायें", "तुम्हें भूत (जीव) लोग खायें।" प्रत्येक बार वह बीच से मधुपर्क उठाकर फेंकता है और प्रति बार नयी दिशा में फेंकता है, यथा वसुओं के लिए पूर्व में, रुद्रों के लिए दक्षिण की ओर, आदित्यों के लिए पश्चिम की ओर तथा विश्वेदेवों के लिए उत्तर की ओर। वह उसे खाते समय पहली बार "तुम विराज के दूध हो," दूसरी बार "मैं विराज का दूध पा सकूँ" तथा तीसरी बार "मुझमें पाद्या विराज का दूध रहे" कहता है। उसे पूरा मधुपर्क नहीं खा जाना चाहिए और न सन्तोष भर खाना चाहिए। उसे शेषांश किसी ब्राह्मण को उत्तर दिशा में दे देना चाहिए, यदि कोई ब्राह्मण न हो तो शेषांश जल में छोड़ देना चाहिए, या पूरा खा जाना चाहिए। इसके उपरान्त वह आचमन-जल से आचमन करता है और यह पढ़ता है—"तुम अमृत के अपिधान (ढक्कन) हो" (आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ २।१०। ४, एवं आपस्तम्बगृह्यसूत्र १३।१३)। वह दूसरी बार "हे सत्य! यश! भाग्य! भाग्य मुझमें बसे" इसे पढ़ता है। आचमन के उपरान्त उसे गाय देने की घोषणा की जाती है। "मेरा पाप नष्ट हो गया है" ऐसा कहकर वह कहता है—"रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री....(ऋ० ८।१०१।१५) इसे जाने दो, मधुपर्क बिना मांस का ही हो।"

कुछ गृह्यसूत्रों (यथा मानव) ने मधुपर्क को विवाहकृत्य का एक अंग माना है, किन्तु कुछ ने (यथा आश्वलायन ने) इसे स्वतन्त्र रूप में गिना है। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (१।१२-१३) ने इसे समावर्तन का अंग माना है। मधुपर्क में

४. ऋग्वेद की तीनों ऋचाएँ (१।९०।६-८) 'मधु' शब्द से आरम्भ होती हैं, "मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः" (६), "मधु नक्तमुतोषसो" (७), "मधुमान्नो वनस्पतिः" (८), और ये मधुपर्क के लिए बड़ी समीचीन भी हैं। ये ऋचाएँ वाजसनेयी संहिता (१३।२७-२९) में भी पायी जाती हैं और मधुमती कही जाती हैं। इनका प्रयोग पारस्करगृह्यसूत्र (१।३) एवं मानवगृह्यसूत्र (१।९।१४) में हुआ है।

डाले जाने वाले पदार्थों के विषय में बहुत मतभेद है। आश्वलायन एवं आपस्तम्ब० (१३।१०) के अनुसार मधु एवं दही या घृत एवं दही का मिश्रण ही मधुपर्क है। पारस्कर० आदि ने मधु, दही एवं घृत—तीनों के मिश्रण की चर्चा की है। कुछ ने इन तीनों के साथ भुना यव (जौ) अन्न एवं बिना भुना हुआ यव अन्न भी जोड़ दिया है। कुछ ने दही, मधु, घृत, जल एवं अन्न को मधुपर्क के लिए उल्लिखित किया है (हिरण्यकेशि० १।१२।१०-१२)। कौशिकसूत्र (९२) ने नौ प्रकार के मिश्रण की चर्चा की है—**ब्राह्म** (मधु एवं दही), **ऐन्द्र** (पायस का), **सौम्य** (दही एवं घृत), **पौष्ण** (घृत एवं मट्ठा), **सारस्वत** (दूध एवं घृत), **मौसल** (आसव एवं घृत, इनका प्रयोग केवल सौत्रामणि एवं राजसूय यज्ञों में होता है), **वारुण** (जल एवं घृत), **श्रावण** (तिल का तेल एवं घृत), **पारिव्राजक** (तिल-तेल एवं खली)। कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार इसमें यथासंभव वेहत्, बकरी, हिरन आदि के मांस का भी विधान है। जब मांस खाना अच्छा नहीं समझा जाने लगा तो उसके स्थान पर पायस की चर्चा होने लगी। आदिपर्व (६०।१३-१४) में आया है कि जनमेजय ने व्यास को मधुपर्क दिया था और व्यास ने उसमें से मांस का त्याग कर दिया था। आधुनिक काल में विवाह को छोड़कर प्रायः किसी अन्य अवसर पर मधुपर्क नहीं दिया जाता, अतः इसकी परिपाटी टूट-सी गयी है।

कुम्भ-विवाह

अब हम विवाह-सम्बन्धी कुछ अन्य कृत्यों का वर्णन उपस्थित करेंगे। वैधव्य को हटाने के लिए कुम्भ-विवाह नामक कृत्य किया जाता था। इसका विशद वर्णन हमें संस्कारप्रकाश (पृ० ८६८), निर्णयसिन्धु (पृ० ३१०), संस्कारकौस्तुभ (पृ० ७४६), संस्काररत्नमाला (पृ० ५२८) आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। विवाह के एक दिन पूर्व पुष्प आदि से एक घड़ा सजाया जाता था जिसमें विष्णु की एक स्वर्णिम मूर्ति रखी रहती थी। कन्या चारों ओर से सूत्रों से घेर दी जाती थी, और वर को लम्बी आयु देने के लिए वरुण की पूजा की जाती थी। इसके उपरान्त कुम्भ को पानी में फोड़ दिया जाता था और उसका जल पाँच टहनियों से कन्या पर छिड़क दिया जाता था और ऋग्वेद (७।४९) का पाठ किया जाता था, अन्त में ब्रह्मभोज किया जाता था।

अश्वत्थ-विवाह

संस्कारप्रकाश (पृ० ८६८-८६९) ने **कुम्भ-विवाह** के समान **अश्वत्थ-विवाह** का वर्णन सौभाग्य (सोहाग) के लिए अर्थात् वैधव्य न हो, इसके लिए किया है। यहाँ कुम्भ के स्थान पर अश्वत्थ की पूजा होती है और स्वर्णिम विष्णु-मूर्ति पूजा के उपरान्त किसी ब्राह्मण को दे दी जाती है।

अर्क-विवाह

यदि एक-एक करके दो पत्नियों की मृत्यु हो जाय तो तीसरी पत्नी से विवाह करने के पूर्व व्यक्ति को **अर्क-विवाह** नामक कृत्य करना पड़ता था। इसका वर्णन संस्कारप्रकाश (पृ० ८७६-८८९), संस्कारकौस्तुभ (पृ० ८१९), निर्णयसिन्धु (पृ० ३२८) आदि में पाया जाता है। बौधायनगृह्यशेषसूत्र (५) में भी इसका वर्णन पाया जाता है।

परिवेदन

परिवेदन के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में विस्तार के साथ वर्णन मिलता है, किन्तु यह कृत्य आधुनिक काल में अविदित-सा ही है। जब कोई व्यक्ति अपने ज्येष्ठ भ्राता के रहते, अथवा जब कोई व्यक्ति बड़ी बहिन के रहते उसकी छोटी बहिन से विवाह करता तो इसे **परिवेदन** कहा जाता था, और इसकी घोर रूप में भर्त्सना की जाती थी। क्योंकि

ऐसे सम्बन्ध से बड़े भाई अथवा बड़ी बहिन के अधिकारों की अवहेलना हो जाती थी तथा पाप लगता था। गौतम (१५।१८) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१२-२२) के अनुसार यदि छोटा भाई बड़े भाई के पूर्व विवाह कर ले तथा बड़ा भाई छोटे भाई के उपरान्त विवाह करे तो दोनों पाप के भागी होते हैं और उन्हें श्राद्ध में नहीं बुलाया जाना चाहिए। आपस्तम्ब० का आगे कहना है कि जो बड़ी बहिन के रहते छोटी बहिन से तथा जो छोटी बहिन का विवाह हो जाने के उपरान्त बड़ी बहिन से विवाह करता है वह पापी है। इसी प्रकार जो अपने छोटे भाई द्वारा पवित्र अग्नि स्थापित किये जाने तथा सोमयज्ञ करने के उपरान्त वैसा करता है, वह भी पापी है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१।१८), विष्णुधर्मसूत्र (३७।१५-१७) आदि ने भी यही बात कही है। वसिष्ठधर्मसूत्र (२०।७-१०) ने छोटी बहिन के पति तथा बड़ी बहन के पति के लिए २० दिनों के कृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है और दोनों को एक-दूसरे की पत्नी की अदला-बदली (केवल दिखावट मात्र) करने की आज्ञा दी है और एक-दूसरे की आज्ञा लेकर पुनः विवाह करने की व्यवस्था दी है (देखिए इस विषय में बौधायनधर्मसूत्र २।१।४०)। छोटे भाई को, जो बड़े से पहले विवाहित हो जाता है, **परिवेत्ता** या **परिविविदान** (मनु ३।१७१, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।५।१२।२१) या **परिविन्दक** (याज्ञवल्क्य १।२२३) कहा जाता है, तथा बड़े भाई को, जो अपने छोटे भाई के उपरान्त विवाहित होता है, **परिवित्ति** या **परिविन्न** या **परिवित्त** (मनु ३।१७१) कहा जाता है। छोटी बहिन को, जो अपनी बड़ी बहिन के पूर्व विवाहित हो जाती है, **अग्रे-दिधिषू** (गौतम० १५।१५, वसिष्ठ० १।१८) या **परिवेदिनी** कहा जाता है। बड़ी बहिन को, जो छोटी बहिन के विवाह के उपरान्त विवाहित होती है, **दिधिषू** कहा जाता है। उपर्युक्त अन्तिम दो के पतियों को क्रम से **अग्रेदिधिषूपति** एव **दिधिषूपति** कहते हैं। पिता अथवा अभिभावक को, जो परिवेदन की उपर्युक्त कन्याओं का विवाह रचाते हैं, **परिदायी** या **परिदाता** कहा जाता है। छोटे भाई को, जो अपने बड़े भाई के पूर्व पूत अग्नि जलाता है, **पर्याधाता** तथा इस प्रकार के बड़े भाई को **पर्याहित** कहा जाता है। गौतम (१५।१८), मनु (३।१७२), बौधायनधर्मसूत्र (२।१।३०) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५४।१६) के अनुसार **परिवेत्ता, परिवित्त** एवं वह लड़की, जिससे छोटा भाई बड़े भाई के पूर्व विवाह करता है, विवाह करा देनेवाला (पिता या अभिभावक) एवं पुरोहित—ये पाँचों नरक में गिरते हैं। विष्णु के मत से इन्हें छुटकारे के लिए चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। याज्ञवल्क्य (३।२६५) की टीका मिताक्षरा में भी यही बात उल्लिखित है। इस विषय में अन्य मतों के लिए देखिए मनु (३।१७१) पर मेधातिथि की टीका, अपरार्क पृ० ४४६, त्रिकाण्डमण्डन (१।७६-७७), स्मृत्यर्थसार (पृ० १३)। विष्णुधर्मसूत्र (३७।१५-१७) ने परिवेदन की गणना उपपातकों में की है। अन्य मतों के लिए देखिए गौतम (१८।१८-१९) एवं अपरार्क (पृ० ४४५)।

कुछ दशाओं में, यथा बड़े भाई के उन्मादी, पापी, कोढ़ी होने तथा नपुंसक या यक्ष्मा से पीड़ित होने पर, बाट जोहना व्यर्थ है (मेधातिथि-मनु ३।१७१, अत्रि १०५-१०६, गोभिलस्मृति १।७२-७४, त्रिकाण्डमण्डन १।६८-७४, स्मृत्यर्थसार पृ० १३ एवं संस्कारप्रकाश पृ० ७६०-७६६)।

परिवेदन के विषय में हमें वैदिक साहित्य में भी संकेत मिलता है (देखिए तैत्तिरीय संहिता ३।२।९, ३।४।४)। तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त उपाधियाँ हैं सूर्याभ्युदित, सूर्याभिनिर्मुक्त, कुनखी, श्यावदन्, अग्रेदिधिषू, परिवित्त, वीरहा, ब्रह्महा। यही क्रम वसिष्ठधर्मसूत्र (१।१८) में भी पाया जाता है। तैत्तिरीय संहिता (३।४।४) में पुरुषमेध के विषय में चर्चा करते समय **परिवित्त** को अभाग्य (**निर्ऋति**), **परिविविदान** को आर्ति (कष्ट या क्लेश) तथा **दिधिषूपति** को अराधि के हवाले किया गया है।

अध्याय ११

बहुपत्नीकता, बहुभर्तृकता तथा विवाह के अधिकार एवं कर्तव्य

बहुपत्नीकता

यद्यपि वैदिक साहित्य के अवगाहन से पता चलता है कि उन दिनों एक-पत्नीकता का ही नियम एवं आदर्श था, किन्तु बहु-पत्नीकता के कतिपय उदाहरण मिल ही जाते हैं।[1] ऋग्वेद (१०।१४५) एवं अथर्ववेद (३।१८) में पत्नी द्वारा सौत के प्रति पति-प्रेम घटाने के लिए मन्त्र पढ़ा गया है। यही बात ज्यों-की-त्यों आपस्तम्बमन्त्रपाठ (१।१५) एवं आपस्तम्बगृह्यसूत्र (९।६।८) में है, जिसमें पति को अपनी ओर करने तथा सौत से विगाड़ करा देने की चर्चा है। ऋग्वेद (१०।१५९) के अध्ययन से पता चलता है कि इन्द्र की कई रानियाँ थीं, क्योंकि उसकी रानी शची ने अपनी बहुत-सी सौतों को हरा दिया था या मार डाला था तथा इन्द्र एवं अन्य पुरुषों पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया था। इस मन्त्र को आपस्तम्बमन्त्रपाठ (१।१६) में तथा आपस्तम्बगृह्यसूत्र (९।९) में उसी कार्य के लिए उद्धृत किया गया है। ऋग्वेद (१।१०५।४) में उल्लेख है कि त्रित कुए में गिर जाने पर कुए की दीवारों को उसी प्रकार कष्टदायक पाता है, जिस प्रकार कई पत्नियाँ कष्ट देती हैं (पतियों के लिए या अपने लिए सटकर अतीव उष्णता उत्पन्न करती हैं)।[2] इस विषय में अन्य संकेत हैं तैत्तिरीय संहिता (६।६।४।३), ऐतरेय ब्राह्मण (१२।११), तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८।४), शतपथ ब्राह्मण (१३।४।१।९), वाजसनेयी संहिता (२३।२४, २६, २८), तैत्तिरीय संहिता (१।८।९), ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) में। तैत्तिरीय संहिता (६।६।४।३) में एक बहुत मनोरंजक उदाहरण है—"एक यज्ञयूप पर वह दो मेखलाएँ (करधनियाँ) बाँधता है, अतः एक पुरुष दो पत्नियाँ ग्रहण करता है, वह दो यूपों (खूंटों या स्तम्भों) पर एक मेखला नहीं बाँधता, अतः एक पत्नी को दो पति नहीं प्राप्त होते।" इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण (१२।११) में घोषित हुआ है; "अतः एक पुरुष की कई स्त्रियाँ हैं, किन्तु एक पत्नी एक साथ कई पति नहीं प्राप्त कर सकती।" तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८।४) में अश्वमेध की चर्चा में ऐसा आया है—"पत्नियाँ (घोड़े को) उबटन लगाती हैं, पत्नियाँ सचमुच सम्पत्ति के समान हैं।" शतपथ ब्राह्मण (१३।४।१।९) में आया है—"चार पत्नियाँ सेवा में लगी हैं—महिषी (अभिषिक्त रानी), वावाता (चहेती पत्नी), परिवृक्ता (त्यागी हुई) एवं पालागली (निम्न जाति की)।" तैत्तिरीय संहिता ने भी परिवृक्ता एवं महिषी की चर्चा की है (१।८।९)। वाजसनेयी संहिता (२३।२४; २६, २८) में कुछ मन्त्र ऐसे हैं

१. देखिए ऋग्वेद (१०।८५।२६ एवं ४६), यथा—पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहता रथेन। गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि।...सम्राज्ञी अधिदेवृषु। दम्पती शब्द ऋग्वेद में कई स्थानों पर आया है और एक-पत्नीकता की ओर संकेत करता है, यथा—ऋग्वेद ५।३।२, ८।३१।५ एवं १०।६८।२।

२. सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। ऋग्वेद १।१०५।८; देखिए ऋग्वेद १०।११६।१० (आदित्पतिमकृणुत कनीनाम्) जहाँ लिखा है कि आश्विनों ने च्यवन को कई कुमारियों का पति बना दिया।

जिन्हें ब्रह्मा, उद्गाता, होता ने क्रम से महिषी, वावाता एवं परिवृक्ता के सम्बोधन के लिए प्रयुक्त किया है। हरिश्चन्द्र की एक सौ पत्नियाँ थीं (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१)। बहुपत्नीकता केवल राजाओं एवं तथाकथित भद्र पुरुषों तक ही सीमित नहीं थी; प्रसिद्ध दार्शनिक याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों में कात्यायनी भौतिक सुख की इच्छा रखनेवाली तथा मैत्रेयी ब्रह्मज्ञान एवं अमरता की इच्छुक थी (बृहदारण्यकोपनिषद् ५।५।१-२ एवं २।४।१)।

सूत्रकाल के कुछ ऋषियों ने आदर्श की बात कही है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।१२-१३) के अनुसार धर्म एवं सन्तति से युक्त एक ही पत्नी यथेष्ट है, किन्तु धर्म एवं सन्तान में एक के अभाव में उसकी पूर्ति के लिए एक अन्य पत्नी भी की जा सकती है। एक अन्य स्थान पर इस सूत्र (१।१०।२८।१९) ने लिखा है कि यदि कोई अपनी निर्दोष पत्नी का त्याग करता है तो उसे गधे की खाल (जिसका बाल वाला भाग ऊपर हो) ओढ़कर छः महीनों तक सात घरों में भिक्षा माँगनी चाहिए।[3] यही बात नारद ने भी कुछ हेर-फेर के साथ कही है—यदि पत्नी अनुकूल, मधुरभाषी, दक्ष, साध्वी एवं प्रजावती (पुत्र वाली) हो और उसे उसका पति त्याग दे तो राजा ऐसे दुष्ट पति को दण्डित कर ठीक कर दे (नारद-स्त्रीपुंस, ९५)। कौटिल्य (३।२) ने भी लिखा है कि पति को प्रथम सन्तानोत्पत्ति के उपरान्त यदि सन्तान न हो तो ८ वर्ष तक जोहकर ही पुनर्विवाह करना चाहिए। यदि मृत बच्चे ही उत्पन्न हों तो १० वर्ष जोहकर तथा यदि पुत्रियाँ ही उत्पन्न हों तो १२ वर्ष जोहकर पुनर्विवाह करना चाहिए। किन्तु यदि पति इन नियमों का उल्लंघन करता है तो उसे पत्नी को स्त्रीधन तथा भरण-पोषण के लिए धन देना चाहिए और राजा को २४ पण का धनदण्ड देना चाहिए। यह तो कौटिल्य का आदर्श वाक्य मात्र है, क्योंकि उन्होंने पुनः लिखा है—"एक व्यक्ति कई पत्नियों से विवाह कर सकता है, किन्तु उस पत्नी को, जिसे स्त्रीधन या कोई धन विवाह के समय न मिला हो, उसे शुल्क दे देना होगा, जिससे कि वह अपना भरण-पोषण कर सके...।" मनु (५।८०) एवं याज्ञवल्क्य (१।८०) ने लिखा है कि यदि पत्नी मदिरा पीती हो, किसी पुराने रोग से पीड़ित रहती हो, धोखेबाज हो, खर्चीली हो, कटुभाषी हो और केवल पुत्रियाँ ही जनती हो तो पति दूसरा विवाह कर सकता है। मनु (५।८१) एवं बौधायन-धर्म० (२।२।६५) के मतानुसार कटुवादिनी पत्नी का त्याग कर दूसरा विवाह किया जा सकता है। चण्डेश्वर ने अपने गृहस्थरत्नाकर में देवल को उद्धृत करते हुए कहा है कि शूद्र एक से, वैश्य दो से, क्षत्रिय तीन से, ब्राह्मण चार से तथा राजा जितनी चाहे उतनी स्त्रियों से विवाह कर सकता है। आदिपर्व (१६०।३६) ने गम्भीरतापूर्वक लिखा है—"कई पत्नियाँ रखना कोई अधर्म नहीं है, किन्तु स्त्रियों के लिए प्रथम पति के प्रति अपने कर्तव्य न करना अधर्म है।"[4] महाभारत (मौसलपर्व ५।६) के अनुसार वासुदेव (श्री कृष्ण) की १६ सहस्र पत्नियाँ थीं। ऐतिहासिक युगों में बहुत-से राजाओं की एक-एक सौ रानियाँ थीं। चेदिराज गांगेयदेव उर्फ विक्रमादित्य ने प्रयाग में अपनी सौ पत्नियों के साथ मुक्ति पायी (देखिए, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० ४ एवं वही, जिल्द १२, पृ० २०५)। बंगाल के कुलीनवाद की निन्द्य कथाएँ सर्वविदित हैं। कुछ ऐसे

३. धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्। आप० ध० २।५।११।१२-१३; खराजिनं बहिर्लोम परिधाय दारव्यतिक्रमणे भिक्षामिति सप्तागाराणि चरेत्। सा वृत्तिः षण्मासान्। आप० ध० १।१०।२८।१९; देखिए बृहत्संहिता (७४।१३), जिसमें यही प्रायश्चित्त लिखा हुआ है किन्तु यह भी लिखा हुआ है कि पुरुष लोग यह प्रायश्चित्त करते नहीं। 'अनुकूलामवाग्दुष्टां दक्षां साध्वीं प्रजावतीम्। त्यजन् भार्यामवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा॥' नारद (स्त्रीपुंस, ९५)।

४. न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकता नृणाम्। स्त्रीणामधर्मः सुमहान्भर्तुः पूर्वस्य लंघने॥ आदिपर्व १६०।३६।

विशिष्ट कुल थे, जिनमें कन्याओं का विवाह कर देना श्रेयस्कर माना जाता था, अतः इसके फलस्वरूप एक-एक कुलीन व्यक्ति की अगणित पत्नियाँ थीं, जिनमें कुछ तो अपने पति का दर्शन भी नहीं कर पाती थीं।

स्त्रियों के प्रति यह सामाजिक दुर्व्यवहार क्यों? इसके कई कारण थे—(१) पुत्रों की अत्यधिक आध्यात्मिक महत्ता, (२) बाल-विवाह एवं उसके फलस्वरूप (३) स्त्रियों की अशिक्षा, (४) स्त्रियों को अपवित्र मानने की प्रथा का क्रमशः विकास एवं (५) उन्हें शूद्रों के समान मानना तथा (६) स्त्रियों की पुरुषों पर पूर्ण आश्रितता।

यद्यपि बहुपत्नीकता सिद्धान्त रूप से विद्यमान थी, किन्तु व्यवहार में बहुधा लोग प्रथम पत्नी की उपस्थिति में दूसरा विवाह नहीं करते थे। १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में स्टील ने अपनी पुस्तक 'ला एण्ड कस्टम आव हिन्दू कास्ट्स' में यही बात सिद्ध की है। आधुनिक काल में हिन्दू समाज में नये कानून के अनुसार एक-पत्नीकता को गौरव प्राप्त हो गया है।

बहुभर्तृकता

तैत्तिरीय संहिता (६।६।४।३, ६।५।१।४) एवं ऐतरेय ब्राह्मण (१२।११) के मत से स्पष्ट विदित है कि उनके प्रणयन-कालों एवं उनके पूर्व बहुभर्तृकता का कहीं नाम भी नहीं था।[५] "एक यूप में वह दो मेखलाएँ बाँधता है, इसी प्रकार एक पुरुष दो पत्नियाँ प्राप्त करता है; वह दो यूपों के चतुर्दिक् एक ही मेखला नहीं बाँधता, इसी प्रकार एक पत्नी दो पति नहीं प्राप्त करती" (तै० सं० ६।६।४।३)। ऐतरेय ब्राह्मण (१२।११) ने लिखा है—"अतः एक पुरुष की कई पत्नियाँ हैं, किन्तु एक पत्नी के एक ही साथ कई पति नहीं हैं।" हमें कोई भी ऐसी वैदिक उक्ति नहीं मिलती जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उन दिनों बहुभर्तृकता पायी जाती थी। संस्कृत-साहित्य में सर्वप्रसिद्ध उदाहरण है द्रौपदी का, जो पाँच पाण्डवों की पत्नी थी। महाभारत ने स्पष्ट लिखा है कि जब अन्य लोगों को यह बात ज्ञात हुई कि युधिष्ठिर ने द्रौपदी को सभी पाण्डवों की पत्नी मान लिया है, तो वे सभी चकित हो उठे थे। धृष्टद्युम्न (आदिपर्व १९५।२७-२९) ने युधिष्ठिर को बहुत समझाया, किन्तु युधिष्ठिर टस-से-मस नहीं हुए और कहा—"ऐसा कार्य पहले भी होता था और हम पाण्डवों में यह तय है कि हममें जो भी जो कुछ प्राप्त करेगा, वह सबको बराबर भाग में मिलेगा। इस विषय में युधिष्ठिर ने केवल दो उदाहरण दिये—(१) जटिला गौतमी सप्तर्षियों की पत्नी थी तथा (२) सभी दस प्राचेतस भाई वार्क्षी के पति थे। ये गाथाएँ कोई ऐतिहासिकता नहीं रखतीं।[६] तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने द्रौपदी के सम्बन्ध में तीन व्याख्याएँ उपस्थित की हैं। एक व्याख्या के अनुसार कई द्रौपदियाँ थीं जो एक-दूसरी से मिलती-

५. यदेकस्मिन्यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते। तै० सं० ६।६।४।३; और देखिए तै० सं० ६।५।१।४ तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दते; तस्मादेकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः। ऐ० ब्रा० १२।११।

६. एकस्य बह्वयो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन। नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित्॥ लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः। कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी॥ आदिपर्व १९५।२७-२९; सभापर्व (६८।३५) में कर्ण ने द्रौपदी को बन्धकी (वेश्या) माना है, क्योंकि उसे कई पुरुष पति के रूप में प्राप्त थे। आदिपर्व (१९६) में युधिष्ठिर ने उत्तर दिया है—"सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम्। पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे॥"

जुलती थीं और महाभारत ने उन्हें आलंकारिक रूप से एक ही द्रौपदी के रूप में रख दिया है।[७] वास्तव में पाँच द्रौपदियां थीं, जिनमें प्रत्येक प्रत्येक पाण्डव से विवाहित हुई थी।

धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में बहुभर्तृकता संबंधी व्यावहारिकता की ओर कुछ संकेत मिल जाते हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२७।२-४) का कथन है—"(नियोग द्वारा पुत्र के लिए) अपनी स्त्री को किसी अन्य व्यक्ति को नहीं, प्रत्युत अपने सगोत्र को ही देना चाहिए, क्योंकि कन्या का दान भाइयों के सारे कुटुम्ब को, न कि केवल एक भाई को, किया जाता है; पुरुषों के ज्ञान की दुर्बलता के कारण (नियोग) वर्जित है।" बृहस्पति का कथन है—"कुछ देशों में एक अत्यन्त घृणास्पद बात यह है कि लोग भाई की मृत्यु के उपरान्त उसकी विधवा से विवाह कर लेते हैं; यह भी घृणास्पद है कि एक कन्या पूरे कुटुम्ब को दे दी जाती है। इसी प्रकार फारस वालों (पारसीकों) में लोग माता से भी विवाह कर लेते हैं।"[८] डा० जाली का यह कथन कि दक्षिण में बहुभर्तृकता पायी जाती थी, सर्वथा निराधार है। डा० जाली ने बृहस्पति के कथन को कई भागों में करके व्याख्या नहीं की है। वास्तव में दक्षिण में, 'मातुलकन्या'...से ही विवाह की चर्चा मात्र सिद्ध होती है, और अन्य बातें अन्य देशों की हैं। प्रो० कीथ ने डा० जाली की ही भ्रमात्मक व्याख्या मान ली है।

बहुभर्तृकता के दो स्वरूप हैं—(१) **मातृपक्षीय** (जब कोई स्त्री किन्हीं दो या अधिक व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ती है, जो एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं भी हों और कुल का क्रम स्त्री से ही चलता हो) तथा (२) **भ्रातृपक्षीय** (जिसमें एक नारी कई भाइयों की पत्नी हो जाती है)। प्रथम प्रकार की प्रथा मलाबार तट के नायर-कुलों में पायी जाती थी, किन्तु अब वहाँ ऐसी बात नहीं है। किन्तु दूसरे प्रकार की प्रथा अब भी कुमायूं, गढ़वाल तथा हिमालय के प्रान्तों में आसाम तक पायी जाती रही है। पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी (इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ८, पृ० ८८) का कहना है कि टोंस एवं यमुना के बीच कालसी, कुमायूं आदि की ओर कई वर्गों के लोग बहु-भर्तृकता के अनुगामी हैं और उससे उत्पन्न पुत्र को जीवित ज्येष्ठ भाई से उत्पन्न पुत्र मानते हैं। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने अपने समय की नीच जातियों में बहु-भर्तृकता के प्रचलन की बात लिखी है (आदिपर्व १०४।३५) पर नीलकण्ठ)।

पति एवं पत्नी के पारस्परिक अधिकार एवं कर्तव्य

मनु (९।१०१-१०२) ने पति-पत्नी के धर्मों की चर्चा संक्षेप में यों की है—"उन्हें (धर्म, अर्थ एवं काम के विषय में) एक-दूसरे के प्रति सत्य रहना चाहिए, और सदा यही प्रयत्न करना चाहिए कि वे कभी भी अलग न हो सकें...।" नीचे हम उनके सभी प्रकार के अधिकारों एवं कर्तव्यों की चर्चा क्रमानुसार करेंगे।

पति का प्रथम कर्तव्य तथा पत्नी का प्रथम अधिकार है क्रम से धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित होने देना तथा होना। यह बात अति प्राचीन काल से पायी जाती रही है। ऋग्वेद (१।७२।५) में आया है—"अपनी पत्नियों के साथ उन्होंने पूजा के योग्य अग्नि की पूजा की।" एक अन्य स्थान (ऋ० ५।३।२) पर आया है—"यदि तुम पति एवं पत्नी को एक

७. अथवा बह्व्य एव ताः सदृशरूपा द्रौपद्य एकत्वेनोपचरिता इति व्यवहारार्थापत्त्या गम्यते ॥ तन्त्रवार्तिक, पृ० २०९।

८. विरुद्धाः प्रतिदृश्यन्ते दाक्षिणात्येषु संप्रति। स्वमातुलसुतोद्वाहो मातृबन्धुत्वदूषितः ॥ अभर्तृकभ्रातृभार्याग्रहणं चातिदूषितम्। कुले कन्याप्रदानं च देशेष्वन्येषु दृश्यते। तथा मातृविवाहोपि पारसीकेषु दृश्यते ॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १०, स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम, पृ० १३०)।

मन के बना दो तो वे अच्छे मित्र की भाँति तुम्हें घृत का लेप करेंगे।"[९] तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।७।५) में आया है—"सत्कर्मों द्वारा पति एवं पत्नी एक-दूसरे से युक्त हो जायें, हल में बैलों की भाँति उन्हें यज्ञ में जुट जाना चाहिए; वे दोनों एक मन के हों और शत्रुओं का नाश करें; वे स्वर्ग में न घटने वाली (अजर) ज्योति प्राप्त करें।" यही बात कुछ अन्तरों के साथ काठक संहिता (५।४) में भी पायी जाती है और शबर ने जैमिनि (६।१।२१) की व्याख्या में इसको आधार बनाया है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि कर्तव्यों का प्रतिफल पति-पत्नी साथ ही भोगते थे। पत्नी अश्वमेध में घोड़े को लेप करती है (तै० ब्रा० ३।८।४) तथा विवाह के समय अग्नि में लावा की आहुति देती है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।६।१३।१६-१८) के अनुसार विवाहोपरान्त पति एवं पत्नी धार्मिक कृत्य साथ करते हैं, पुण्यफल में समान भाग पाते हैं, धन-सम्पत्ति में समान भाग रखते हैं तथा पत्नी पति की अनुपस्थिति में अवसर पड़ने पर भेंट आदि दे सकती है।[१०] आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।८।५) के अनुसार पत्नी को पति की अनुपस्थिति में गृह की अग्नि की पूजा (अग्नि-होत्र) करनी पड़ती थी और उसके बुझ जाने पर उसे उपवास करना पड़ता था; वह सन्ध्याकाल के होम में आहुति के साथ "अग्नये स्वाहा", प्रातःकाल की आहुति के साथ "सूर्याय स्वाहा" कहती थी और दोनों कालों में मौन रूप से एक आहुति प्रजापति को देती थी। इस विषय में अन्य विचार देखिए गौतम० (५।६-८), गोभिलगृ० (१।४।१६-१९) एवं आपस्तम्बगृ० (८।३-४)। मनु (३।१२१) के मत से सन्ध्या काल के पके हुए भोजन की आहुतियाँ पत्नी द्वारा बिना मन्त्रों के दी जानी चाहिए। स्पष्ट है, यद्यपि मनु के समय में स्त्रियों को वैदिक मन्त्रों पर अधिकार नहीं दिया गया था, किन्तु वे धार्मिक कृत्य बिना किसी रोक के कर सकती थीं। यज्ञों में पत्नी को निम्न कार्य करने पड़ते थे—(१) स्थालीपाक (हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र १।२३।३) में अन्न को छाँटना अर्थात् भूसी-रहित, साफ करना, (२) उपस्कृत पशु को धोना (शतपथब्रा० ३।८।२ एवं गोभिल० ३।१०।२९), (३) श्रौत यज्ञों में आज्य की ओर देखना। पूर्व मीमांसा (६।१।१७-२१) में ऐसा आया है कि जहाँ तक सम्भव हो पति-पत्नी धार्मिक कृत्य साथ करें, किन्तु पति साधारणतः अकेला सभी कार्य कर लेता है, और पत्नी ब्रह्मचर्य व्रत, कल्याणप्रद अथवा आशीर्वचन आदि करती है। धार्मिक कृत्य सामान्यतः पति-पत्नी साथ ही करते हैं, इसी से राम को यज्ञ करते समय सीता की स्वर्णिम मूर्ति पास में रखनी पड़ी थी (रामायण ७।९१।२५)। पाणिनि (४।१।३३) ने 'पत्नी' शब्द की व्युत्पत्ति करके बताया है कि उसी को पत्नी कहा जाता है जो यज्ञ तथा यज्ञ करने के फल की भागी होती है। इससे स्पष्ट विदित है कि जो स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ यज्ञों में भाग नहीं लेती थीं, उन्हें जाया या भार्या (पत्नी नहीं) कहा जाता था। महाभाष्य के अनुसार किसी शूद्र की स्त्री केवल सादृश्य भाव से ही उसकी पत्नी कही जाती है (क्योंकि शूद्र को यज्ञ करने का अधिकार नहीं, उसकी भार्या की तो बात ही क्या है)।[११] स्त्रियों का यज्ञों से सन्निकट साहचर्य होने के कारण ही यदि वे पति के पूर्व मर जाती थीं तो उनका शरीर पवित्र अग्नि से यज्ञ के सारे उपकरणों एवं बरतनों (पात्रों) के साथ जलाया जाता था (मनु ५।१६७-

९. संजानाना उपसीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्। ऋ० १।७२।५; अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दम्पती समनसा कृणोषि। ऋ० ५।३।२; स पत्नी पत्या सुकृतेन गच्छताम्। यज्ञस्य युक्तौ धुर्याविभूताम्। संजानाना विजहतामरातीः। दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्। तै० ब्रा० ३।७।५।

१०. जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु। तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च। आप० ध० (२।६।१३।१६-१८)।

११. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। पाणिनि ४।१।३३; 'एवमपि तुषजकस्य पत्नीति न सिध्यति। उपमानात्सिद्धम्। पत्नीवत्पत्नीति।' महाभाष्य, जिल्द २, पृ० २१४।

१६८, याज्ञवल्क्य १।८९)। तैत्तिरीय संहिता (३।७।१) के अनुसार रजस्वला पत्नी वाले पति द्वारा सम्पन्न यज्ञ केवल आधा ही फल देता था, क्योंकि वह उस स्थिति में पति के साथ बैठकर यज्ञ नहीं कर सकती थी।

किन्तु पत्नी बिना पति के तथा बिना उसकी आज्ञा के स्वतन्त्र रूप से कोई धार्मिक कृत्य सम्पादित नहीं कर सकती थी (मनु ५।१५५ विष्णुधर्मसूत्र २५।२५)। कात्यायन ने यहाँ तक कह दिया है कि विवाह के पूर्व पिता की आज्ञा बिना या विवाहोपरान्त पति या पुत्र की आज्ञा बिना स्त्री जो कुछ आध्यात्मिक लाभ के लिए करती है, वह सब निष्फल जाता है (व्यवहारमयूख, पृ० ११३ में उद्धृत, और देखिए व्यासस्मृति २।१९)।

यदि किसी की कई पत्नियाँ होती थीं तो उनमें सबको समान अधिकार नहीं थे। विष्णुधर्मसूत्र (२६।१-४) ने इस विषय में नियम बतलाये हैं। यदि सभी पत्नियाँ एक ही वर्ण की हों, तो उनमें सबसे पहले जिससे विवाह हुआ हो उसी के साथ धार्मिक कृत्य किये जाते हैं, यदि कई वर्णों की पत्नियाँ हों (जब अन्तर्जातीय विवाह वैध थे), तो पति के वर्ण वाली पत्नी को प्रधानता दी जाती थी, भले ही उसका विवाह बाद को हुआ हो। यदि अपने वर्ण की पत्नी न हो तो अपने से बाद वाली जाति की पत्नी को अधिकार प्राप्त होते थे, किन्तु द्विजाति को शूद्र पत्नी के साथ कभी भी धार्मिक कृत्य नहीं करना चाहिए।[12] इस विषय में देखिए मदनपारिजात (पृ० १३४)। वसिष्ठधर्मसूत्र (१८।१८) ने कहा है--"काले वर्ण वाली (शूद्र) नारी केवल आमोद-प्रमोद के लिए है, न कि धार्मिक कृत्यों के लिए।" ऐसी ही बात गोभिल-स्मृति (१।१०३-४), विष्णुधर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य (१।८८) एवं व्यासस्मृति (२।१२) में भी पायी जाती है। याज्ञवल्क्य की व्याख्या में विश्वरूप ने लिखा है कि यद्यपि धार्मिक कृत्यों में ज्येष्ठ पत्नी को ही अधिकार प्राप्त है, किन्तु शूद्र पत्नी को छोड़कर सभी पत्नियाँ श्रौत अग्नि द्वारा जलायी जा सकती हैं (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १६५)। त्रिकाण्ड-मण्डन (१।४३-४४) ने बहुत स्त्रियों के रहने पर तीन मतों की चर्चा की है--"(१) सभी पत्नियाँ धार्मिक कृत्यों में पति का साथ दे सकती हैं, (२) केवल सवर्ण ज्येष्ठ पत्नी ही ऐसा कर सकती है तथा (३) केवल आमोद-प्रमोद के लिए विवाहित पत्नी के साथ पति धार्मिक कृत्य नहीं कर सकता।" मनु (९।८६-८७) के मत से अपने वर्ण वाली पत्नी को सदैव प्रमुखता मिलनी चाहिए, किन्तु सवर्ण पत्नी के रहते यदि कोई ब्राह्मण किसी अन्य जाति वाली पत्नी से धार्मिक कृत्य कराता है तो वह चाण्डाल हो जाता है।

अति प्राचीन काल से विश्वास की धाराओं में एक धारा यह थी कि व्यक्ति तीन ऋणों के साथ जन्म लेता है; ऋषि-ऋण, देव-ऋण एवं पितृ-ऋण और इन ऋणों से वह क्रम से ब्रह्मचर्य (छात्र-जीवन) द्वारा, यज्ञ करके एवं सन्तानोत्पत्ति करके उऋण होता है।[13] ऋग्वेद (५।४।१०) में प्रार्थना (प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्) आती है--"मैं सन्तान के द्वारा अमरता प्राप्त करूँ।" वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।१-४) ने तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण एवं ऋग्वेद की एतत्सम्बन्धी सभी उक्तियाँ उद्धृत की हैं। ऋग्वेद (१०।८५।४५) ने नवविवाहित दुलहिन को १० पुत्रों के लिए आशीर्वाद दिया है।

१२. सवर्णासु बहुभार्यासु विद्यमानासु ज्येष्ठया सह धर्मकार्यं कुर्यात्। मिश्रासु च कनिष्ठयापि समानवर्णया समानवर्णाया अभावे त्वनन्तरयैवापदि च। न त्वेव द्विजः शूद्रया। विष्णुध० (२६।२४)।

१३. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाँ जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी। तै० सं० ६।३।१०।५; ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। शतपथ ब्राह्मण १।७।२।११; ऋणमस्मिन्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।...नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः। ऐ० ब्रा० ३३।१; वसिष्ठधर्म० (११।४७) ने प्रथम उक्ति उद्धृत की है।

सभी स्थानों पर ऋग्वेद ने पुत्रोत्पत्ति की चर्चा चलायी है (ऋग्वेद १।९१।२०, १।९२।१३, ३।१।२३ आदि)। मनु (६।३५) ने लिखा है कि बिना तीनों ऋणों से मुक्त हुए किसी को मोक्ष की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। ज्येष्ठ पुत्र के जन्म लेने से ही पितृऋण से छुटकारा मिल जाता है। इस विषय में देखिए मनु (९।१३७), वसिष्ठ० (१७।५), विष्णुध० (१५।४६), मनु (९।१३२), आदि-पर्व (१२९।१४), विष्णुध० (१५।४४)। पुत्र संज्ञा इसीलिए विख्यात है कि वह (पुत्र) अपने पिता की पुत् नामक नरक से रक्षा करता है। निरुक्त (२।२) ने पुत्र की व्युत्पत्ति इसी अर्थ में की है। इसके अतिरिक्त पितरों को तर्पण एवं पिण्ड देने की चर्चा बड़े ही महत्वपूर्ण ढंग से हुई है। विष्णुधर्मसूत्र (८५।७०), वनपर्व (८४।९७) एवं मत्स्यपुराण (२०७।३९) में आया है—"व्यक्ति को कई पुत्रों की आशा रखनी चाहिए, जिनमें से एक तो गया में (श्राद्ध करने) अवश्य जायगा।"

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि पत्नी अपने पति को दो ऋणों से मुक्त करती है—(१) यज्ञ में साथ देकर देवऋण से तथा (२) पुत्रोत्पत्ति कर पितृऋण से। अतः प्रत्येक नारी का ध्येय हो जाता है विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करना। पुत्रहीन स्त्री निर्ऋति वाली (अभागी) होती है (शतपथब्राह्मण ५।३।२।२)। इस विषय में और देखिए मनु (९।९६) एवं नारद (स्त्रीपुंस, १९)।

पत्नी के कर्तव्य के विषय में स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों में पर्याप्त चर्चाएँ हुई हैं। सबको विस्तार से यहाँ उपस्थित करना कठिन है। बहुत ही संक्षेप में कुछ प्रमुख बातें यहाँ उल्लिखित होंगी। इस विषय में सभी धर्मशास्त्रकार एकमत हैं कि पत्नी का सर्वप्रमुख कर्तव्य है पति की आज्ञा मानना एवं उसे देवता की भाँति सम्मान देना। जब राजकुमारी सुकन्या का विवाह बूढ़े एवं जीर्ण-शीर्ण ऋषि च्यवन से हो गया (सुकन्या के भाइयों ने च्यवन का अपमान किया था) तो उसने कहा—"मैं अपने पति को, जिन्हें मेरे पिता ने मेरे पति के रूप में चुना है, उनके जीते-जी नहीं छोड़ सकती" (शतपथ-ब्राह्मण, ६।१।५।९)। शंखलिखित के मत से पत्नी को चाहिए कि वह अपने नपुंसक, कोषवृद्धि-ग्रस्त, पतित, अंग के अधूरे, रोगी पति को न छोड़े, क्योंकि पति ही पत्नी का देवता है। यही बात कुछ अन्तर के साथ मनु (५।१५४), याज्ञवल्क्य (१।७७), रामायण (अयोध्याकाण्ड २४।२६-२७), महाभारत (अनुशासनपर्व १४६।५५, आश्वमेधिकपर्व ९०।९१, शान्तिपर्व १४८।६-७), मत्स्यपुराण (२१०।१८), कालिदास (शा० ५) आदि में पायी जाती है। मनु (५।१५०-१५६), याज्ञवल्क्य (१।८३-८७), विष्णुधर्मसूत्र (२५।२), वनपर्व (२३३।१९-५८), अनुशासनपर्व (१२३), व्यासस्मृति (२।२०-३२), वृद्ध हारीत (११।८४), स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहार० पृ० २४१), मदनपारिजात (पृ० १९२-१९५) तथा अन्य निबन्धों ने पत्नियों के कर्तव्य के विषय में विस्तार के साथ विवेचन किया है। कुछ कर्तव्यों का वर्णन नीचे दिया जाता है।

पत्नी को सदा हँसमुख, जागरूक, दक्ष, कुशल गृहिणी, बरतनों, पात्रों आदि को स्वच्छ रखनेवाली एवं मितव्ययी होना चाहिए (मनु ५।१५०)। मनु ने पत्नी के ऊपर निम्न कार्य छोड़े हैं—धन सँजोना, व्यय करना, वस्तुओं को स्वच्छ एवं तरतीब से रखना, धार्मिक कृत्य करना, भोजन पकाना तथा सभी प्रकार के गृह-सम्बन्धी कार्य करना-धरना (मनु ९।११)। मनु (९।१३) के अनुसार आसव पीना, दुष्ट प्रकृति के लोगों के साथ रहना, पति से दूर रहना, दूर-दूर (तीर्थयात्रा में या कहीं) घूमना, दिन में सोना, अजनबी के घर में रह जाना—ये छः दोष विवाहित नारियों को चौपट कर डालते हैं। आदिपर्व (७४।१२) एवं शाकुन्तल (५।१७) में पति से दूर रहने को बहुत बुरा कहा गया है। यही बात मार्कण्डेयपुराण में भी पायी जाती है (७७।१९)। याज्ञवल्क्य (१।८३ एवं ८७) के अनुसार पत्नी के ये कर्तव्य हैं—घर के बरतन, कुर्सी आदि को उसके उचित स्थान पर रखना, दक्ष होना, हँसमुख रहना, मितव्ययी होना, पति के मन के योग्य कार्य करना, श्वशुर एवं सास के पैर दबाना, सुन्दर ढंग से चलना-फिरना एवं अपनी इन्द्रियों को वश में रखना। शंख ने निम्नलिखित बातें कही हैं—बिना पति या बड़ों की आज्ञा के घर के बाहर न जाना, बिना दुपट्टा

(उत्तरीय) ओढ़े बाहर न जाना, तेज न चलना, व्यापारी, संन्यासी, बूढ़े आदमी या वैद्य को छोड़कर किसी अन्य अपरिचित पुरुष से वार्तालाप न करना, नाभि को न दिखाना, साड़ी को एड़ी तक पहनना, कुच न दिखाना, हाथ से या वस्त्र से मुख ढँककर ही जोर से हँसना, अपने पति या सम्बन्धी से घृणा न करना, गणिका, जुआ खेलने वाली स्त्री, अभिसारिका (प्रेमियों से मिलने के लिए स्थान एवं काल ठीक करने वाली), साधुनी, भविष्य कहने वाली स्त्री, जादू-टोना एवं गुप्त-क्रिया करनेवाली दुश्चरित्रा स्त्री का साथ न करना चाहिए, क्योंकि जैसा कि विज्ञ लोगों ने कहा है, अच्छे घर की स्त्री भी दुश्चरित्रों के साथ से बिगड़ सकती हैं।[१४] कुछ हेर-फेर के साथ ये बातें विष्णुधर्मसूत्र (२५।१।६) में भी पायी जाती हैं। द्रौपदी ने कहा है—"मेरा पति जो नहीं खाता, पीता या पाता, मैं भी उसे नहीं खाती, पीती या पाती। मैं पाण्डवों की कुल सम्पत्ति, आय एवं व्यय का ब्यौरा जानती हूँ" (वन-पर्व २३३)। कामसूत्र (६।१।३२) ने भी साल भर के आय-व्यय की जानकारी के लिए स्त्री को आदेशित किया है।

मनु (८।३६१) ने वर्जित नारी से बात करने पर पुरुष के लिए एक सुवर्ण दण्ड की व्यवस्था दी है, याज्ञवल्क्य (२।२८५) ने (पति या पिता द्वारा वर्जित) पुरुष से बात करने पर स्त्री के लिए एक सौ पण दण्ड की व्यवस्था दी है तथा वर्जित नारी से बात करने पर पुरुष के लिए दो सौ पण दण्ड की व्यवस्था दी है। बृहस्पति के अनुसार स्त्री को अपने पति एवं अन्य गुरुजनों के पूर्व ही सोकर उठ जाना चाहिए, उनके खा लेने के उपरान्त भोजन एवं व्यंजन लेना चाहिए तथा उनसे नीचे आसन पर बैठना चाहिए (स्मृतिचन्द्रिका. व्यवहार, पृ० २५७ में उद्धृत)। शंख-लिखित के अनुसार पति की आज्ञा से ही पत्नी व्रत, उपवास, नियम, देव-पूजा आदि कर सकती है।[१५]

पुराणों ने भी स्त्रीधर्म के विषय में बहुधा विस्तार से लिखा है। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। भागवत (७।२।२९) के अनुसार जो नारी पति को हरि के समान मानती है, वह हरि के लोक में पति के साथ निवास करती है। स्कन्दपुराण (ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्य-परिच्छेद, अध्याय ७) ने पतिव्रता स्त्री के विषय में विस्तार के साथ लिखा है—"पत्नी को पति का नाम नहीं लेना चाहिए, ऐसे चाल-चलन से (पति का नाम न लेने से) पति की आयु बढ़ती है, उसे दूसरे पुरुष का नाम भी नहीं लेना चाहिए। चाहे पति उसे उच्च स्वर से अपराधी ही क्यों न सिद्ध कर रहा हो, पीटी

१४. नानुक्ता गृहान्निर्गच्छेत्। नानुत्तरीया। न त्वरितं व्रजेत्। न परपुरुषमभिभाषेतान्यत्र वणिक्प्रव्रजितवृद्धवैद्येभ्यः। न नाभिं दर्शयेत्। आ गुल्फाद्वासः परिदध्यात्। न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्। न हसेदनपावृता। भर्तारं तद्बन्धून्वा न द्विष्यात्। न गणिका-धूर्ताभिसारिणी-प्रव्रजिताप्रेक्षणिकामायामूलकुहककारिकादुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत्। संसर्गेण हि कुलस्त्रीणां चारित्र्यं दुष्यति।—मिताक्षरा द्वारा याज्ञवल्क्य (१।८७) टीका में उद्धृत, अपरार्क (पृ० १०७), मदनपारिजात (पृ० १९५), स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहार, पृ० २४९-२५० एवं विवादरत्नाकर (पृ० ४३०); परपुरुष से बात करने के विषय में देखिए वनपर्व (२६६।३)—एका ह्यहं सम्प्रति ते न वाचं ददानि वै भद्र निबोध चेदम्। अहं त्वरण्ये कथमेकमेका त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे।। मिलाइए अनुशासनपर्व (१४६।४३)। शंख द्वारा प्रयुक्त 'मूलकारिका' का अर्थ है जड़ी-बूटी द्वारा वशीकरण करनेवाली। और देखिए वनपर्व (२३३।७-१४), जिसमें अन्तिम वाक्य है "मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः।"

१५. पूर्वोत्थानं गुरुष्ववर्वाग् भोजनव्यञ्जनक्रिया। जघन्यासनशायित्वं कर्म स्त्रीणामुदाहृतम्।। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार, पृ० २५७ में उद्धृत)।

भर्तुरनुज्ञया व्रतोपवासनियमेज्यादीनामारम्भः स्त्रीधर्मः। शंखलिखित (स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार, पृ० २५२ में उद्धृत)।

जाने पर उसे जोर से रोना भी नहीं चाहिए, उसे हँसमुख ही रहना चाहिए। पतिव्रता को हल्दी, कुंकुम, सिन्दूर, अंजन कंचुकी (चोली), ताम्बूल, शुभ आभूषणों का व्यवहार करना चाहिए तथा अपने केशों को संवार रखना चाहिए। पद्म-पुराण (सृष्टिखण्ड, अध्याय ४७, श्लोक ५५) का कहना है कि वह स्त्री पतिव्रता है जो कार्य में दासी की भाँति, संभोग में अप्सरा जैसी, भोजन देने में माँ की भाँति हो तथा विपत्ति में मन्त्री (अच्छी-अच्छी राय देने वाली) हो।

जब पति यात्रा में घर से दूर हो तो पत्नी को किस प्रकार रहना चाहिए? इस विषय में विशिष्ट नियमों की व्यवस्था की गयी थी। शंखलिखित (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० १०८, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार, पृ० २५३) के अनुसार पति के दूर रहने पर (यात्रा में) पत्नी को झूला, नृत्य दृश्यावलोकन, शरीरानुलेपन, वाटिका-परिभ्रमण, खुले स्थान में शयन, सुन्दर एवं सुस्वादु भोजन एवं पेय, गेंद-क्रीडा, सुगंधित धूप-गंधादि, पुष्पों, आभूषणों, विशिष्ट ढंग से दंतमंजन, अंजन से दूर रहना चाहिए। याज्ञवल्क्य (१।८४) ने यही बात संक्षेप में कही है—"जिस स्त्री का पति विदेश गया हो, उसे क्रीडा-कौतुक, शरीर सज्जा, समाजों एवं उत्सवों का दर्शन, हँसना, अपरिचित के घर में जाना आदि छोड़ देना चाहिए।" अनुशासनपर्व (१२३।१७) के अनुसार विदेश गये हुए पुरुष की पत्नी को अंजन, रोचन, नैयमिक स्नान, पुष्प, अनुलेपन एवं आभूषण छोड़ देने चाहिए। मनु (९।७४-७५) ने पति को विदेश-गमन के समय अपनी पत्नी की जीविका का प्रबन्ध कर देने को कहा है, क्योंकि ऐसा न करने से पत्नी कुमार्ग में जा सकती है। उन्होंने लिखा है—"पत्नी की जीविका, भरण-पोषण का प्रबन्ध करके जब पति विदेश चला जाता है तो पत्नी को व्यवस्था के भीतर ही रहना चाहिए; यदि पति बिना व्यवस्था किये चला जाय तो पत्नी को सिलाई-बुनाई जैसे शिल्प द्वारा अपना प्रतिपालन कर लेना चाहिए।" यही बात विष्णुधर्मसूत्र में भी पायी जाती है (२५।९।१०)। व्यास-स्मृति (२।५२) के अनुसार विदेश गये हुए पति की पत्नी को अपना चेहरा पीला एवं दुखी बना लेना चाहिए, उसे अपने शरीर का शृंगार नहीं करना चाहिए, उसे पतिपरायण होना चाहिए, उसे पूरा भोजन नहीं करना चाहिए तथा अपने शरीर को सुखा देना चाहिए। त्रिकाण्ड मण्डन (१।८०-८१ एवं ८५) के अनुसार विदेशस्थ पति वाली पत्नी को पुरोहित की सहायता से अग्निहोत्र के नैयमिक कर्तव्य, आवश्यक इष्टियाँ एवं पितृयज्ञ करने चाहिए, किन्तु सोमयज्ञ नहीं करना चाहिए।"[16]

स्मृति-ग्रन्थों में पत्नियों की पति-भक्ति एवं नियमों के पालन आदि के विषय में बहुत विस्तार पाया जाता है। मनु (९।२९-३०, ५।१६५ एवं १६४) का कथन है—"जो पत्नी विचार, शब्द एवं कार्य से पति के प्रति सत्य रहती है वह पति के साथ स्वर्गिक लोकों को प्राप्त करती है और साध्वी (पतिव्रता) कहीं जाती है; जो पति के प्रति असत्य रहती है, वह निन्दा की पात्र होती है, आगे के जन्म में सियारिन के रूप में उत्पन्न होती है और भयंकर रोगों से पीड़ित रहती है।" यही बात याज्ञवल्क्य (१।७५ से ८७) ने कुछ दूसरे ढंग से कही है। बृहस्पति ने पतिव्रता की परिभाषा यों की है—"(वही स्त्री पतिव्रता है जो) पति के आर्त होने पर आर्त होती है, प्रसन्न होने पर प्रसन्न होती है, पति के विदेश गमन पर मलिन वेश धारण करती और दुर्बल हो जाती है एवं पति के मरने पर मर जाती है।"[17]

१६. अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम्। प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि॥ अनुशासन-पर्व १२३।१७।

विवर्णदीनवदना देहसंस्कारवर्जिता। पतिव्रता निराहारा शोष्यते प्रोषिते पतौ॥ व्यासस्मृति २।५२।

अतोऽग्निहोत्रं नित्येष्टिः पितृयज्ञ इति त्रयम्। कर्तव्यं प्रोषिते पत्यौ नान्यत्स्यादृत्विगन्वितम्॥ त्रिकाण्डमण्डन (१।८२)।

१७. आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥ बृहस्पति, इसे अपरार्क ने पृ० १०९ में तथा मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य २।८६) ने (हारीत का वचन कहकर) उद्धृत किया है।

महाभारत एवं पुराणों में पतिव्रता के विषय में अतिरंजित कथाएँ भरी पड़ी हैं। वनपर्व (६३।३८।३९) में आया है कि दमयन्ती ने उस नवयुवक शिकारी को शाप दिया, जो उसकी ओर कामुक रूप से बढ़ रहा था, और वह मर गया। अनुशासनपर्व (१२३) में शाण्डिली ने सुमना कैकेयी से कहा कि उसनें बिना काषाय वस्त्र (संन्यासियों के वस्त्र) धारण किये, बिना वल्कल धारण किये, बिना सिर मुँड़ाये या जटा रखाये देवत्व प्राप्त किया, क्योंकि वह पतिपरायण पत्नी के लिए व्यवस्थित सारे नियमों का पालन करती थी, यथा--पति को कर्कश वचन न कहना, पति द्वारा न खाये जानेवाले भोजन का त्याग, आदि। अनुशासनपर्व (१४६।४-६) में पतिव्रता स्त्रियों के नाम तथा उनके गुणों का बखान पाया जाता है। सावित्री ने पतिव्रता होने के कारण यम के हाथ से अपने पति के प्राण छुड़ा लिये। सावित्री एवं सीता के आदर्श भारतीय नारियों के गौरवपूर्ण आदर्श रहे हैं। वनपर्व (२०५-२०६) में भी पतिव्रता की गाथा है। शल्य-पर्व (६३) में पतिव्रता नारी गान्धारी की शक्ति का वर्णन है; गान्धारी चाहने पर विश्व को भस्म कर सकती थी, सूर्य एवं चन्द्र की गति बन्द कर सकती थी। स्कन्दपुराण (३, ब्रह्मखण्ड, ब्रह्मारण्य-भाग, अध्याय ७) ने कतिपय पतिव्रताओं के नाम लिये हैं, यथा---अरुन्धती, अनसूया, सावित्री, शाण्डिल्या, सत्या, मेना, तथा लिखा है कि पतिव्रताएँ अपने पतियों को यमदूतों की पकड़ से उसी प्रकार खींच सकती हैं, जिस प्रकार व्यालग्राही (सँपेरा) बिल में से बलपूर्वक सर्प खींच लेता है, पतिव्रताएँ पति के साथ स्वर्गारोहण करती हैं और यमदूत उन्हें देखकर तुरंत भाग जाते हैं।

पत्नी का प्रमुख कर्तव्य है पति का आदर-सत्कार एवं सेवा करना, अतः उसे सदा पति के साथ रहना चाहिए और पति के घर में निवासस्थान पाने का उसका अधिकार है। पति के यहाँ उसे अपने भरण-पोषण का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। मनु (१०।११) के अनुसार 'बूढ़े माता-पिता, पतिव्रता स्त्री, छोटे बच्चे का भरण-पोषण एक सौ निकृष्ट कार्य करके भी करना चाहिए' (मेधातिथि---मनु ३।६२ एवं ४।२५१, मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य १।२२४ एवं २।१७५)। दक्ष (२।५६, लघु आश्वलायन १।७४) ने पोष्यवर्ग (वे लोग, जिनका प्रतिपालन प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह कितना ही दरिद्र हो, करना पड़ता है) के विषय में यों लिखा है---"माता-पिता, गुरु, पत्नी, बच्चे, शरण में आये हुए दीन व्यक्ति, अतिथि एवं अग्नि पोष्यवर्ग के अन्तर्गत आते हैं।" मनु (८।३८९) के कथनानुसार जो व्यक्ति अपने माता-पिता, पत्नी एवं पुत्र को जातिच्युत न होने पर भी छोड़ देता है तथा उनका भरण-पोषण नहीं करता है, वह राजा द्वारा ६०० पण का दण्ड पाता है। याज्ञवल्क्य (१।७४) के मत से पत्नी के भरण-पोषण पर ध्यान न देनेवाला व्यक्ति पाप का भागी होता है। पुनः याज्ञवल्क्य (१।७६) के अनुसार आज्ञाकारी, परिश्रमी, पुत्रवती एवं मधुरभाषिणी पत्नी को छोड़ देने पर सम्पत्ति का १/३ भाग दे देना चाहिए, तथा सम्पत्ति न रहने पर उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध करना चाहिए। यही बात नारद (स्त्रीपुंस, ९५) ने भी कही है। विष्णुधर्मसूत्र (५।१६३) के मत से पत्नी को छोड़ने पर चोर का दण्ड मिलना चाहिए। याज्ञवल्क्य (१।८१) के अनुसार पति को पत्नीपरायण होना चाहिए, क्योंकि पत्नी की (गर्त में गिरने से) रक्षा करनी चाहिए, अर्थात् उसकी रक्षा करना आवश्यक है। याज्ञवल्क्य (१।७८), मनु (४।१३३-१३४), अनुशा० पर्व (१०४।२१) एवं मार्कण्डेयपुराण (३४।६२-६३) ने व्यभिचार की बड़ी निन्दा की है। याज्ञवल्क्य (१।८०) की टीका में विश्वरूप ने लिखा है कि स्त्री का रक्षण उसके प्रति निष्ठा रखने से सम्भव है, मारने-पीटने से नहीं, क्योंकि मारने-पीटने से उसके (पत्नी के) जीवन का डर रहता है। मनु (९।५-९, ९।१०-१२) ने स्त्री-रक्षा की बात चलायी है और कहा है कि यह बन्दी बनाकर रखने या शक्ति से सम्भव नहीं है, प्रत्युत पत्नी को निम्नलिखित कार्यों में संलग्न कर देने से ही सम्भव है, यथा आय-व्यय का ब्यौरा रखना, कुर्सी-मेज (उपस्कर) को ठीक करना, घर को सुन्दर एवं पवित्र रखना, भोजन बनाना। उसे (पत्नी को) सदैव पतिव्रतधर्म के विषय में बताना चाहिए। किन्तु पति को गुरु या पिता की भाँति शारीरिक दण्ड देने का भी अधिकार है, यथा रस्सी या बाँस की पतली छड़ी से पीठ पर, सिर पर नहीं, मारना। इस विषय में देखिए मनु (८।२९९-३००) एवं मत्स्यपुराण (२२७।१५२-१५४)।

पति को पत्नी की जीविका का प्रबन्ध तो करना ही पड़ता था, साथ-ही-साथ उसे उसके साथ संभोग भी करना पड़ता था, क्योंकि ऐसा न करने पर उस पर भ्रूण-हत्या का दोष लगता था। पत्नी को भी पति की सम्भोग-इच्छा पूर्ण करनी पड़ती थी, क्योंकि ऐसा न करने पर वह भी भ्रूणहत्या की अपराधिनी, निन्दनीय और त्याज्य हो जाती थी।[१८]

व्यभिचार एवं स्त्रियां

भारतीय ऋषियों ने अपनी मानवता का परिचय सदैव दिया है। यदि पत्नी का व्यभिचार सिद्ध हो जाय तो पति उसे घर के बाहर कर उसे छोड़ नहीं सकता था। गौतम (२२।३५) के मत से सतीत्व नष्ट करने पर स्त्री को प्रायश्चित्त करना पड़ता था, किन्तु खाना-कपड़ा देकर उसकी रक्षा की जाती थी। याज्ञवल्क्य (१।७०-७२) ने घोषित किया है—"अपना सतीत्व नष्ट करनेवाली स्त्री का अधिकार (नौकर-चाकर आदि पर) छीन लेना चाहिए, उसे गन्दे वस्त्र पहना देने चाहिए, उसे उतना ही भोजन देना चाहिए जिससे वह जी सके, उसकी भर्त्सना करनी चाहिए और पृथिवी पर ही सुलाना चाहिए, मासिक धर्म की समाप्ति के उपरान्त वह पवित्र हो जाती है। किन्तु यदि वह व्यभिचार के संभोग से गर्भवती हो जाय तो उसे त्याग देना चाहिए। यदि वह अपना गर्भ गिरा दे (भ्रूणहत्या कर ले), पति को मार डाले या कोई ऐसा पाप करे जिसके कारण वह जातिच्युत हो जाय तो उसे घर से निकाल देना चाहिए।" मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य (१।७२) की व्याख्या में लिखा है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों की पत्नियां यदि शूद्र से व्यभिचार करके गर्भ धारण न किये हों तो प्रायश्चित्त करके पवित्र हो सकती हैं, किन्तु अन्य परिस्थितियों में नहीं। मिताक्षरा ने यह भी कहा है कि त्यागे जाने का तात्पर्य है धार्मिक कृत्य न करने देना तथा संभोग न करना, न कि उसे घर के बाहर सड़क पर रख देना। उसे घर में ही पृथक् रखकर उसके भोजन-वस्त्र की व्यवस्था कर देनी चाहिए (याज्ञवल्क्य ३।२९७)। वसिष्ठ (२१।१०) के मत से केवल चार प्रकार की पत्नियाँ त्यागे जाने योग्य हैं—शिष्य से संभोग करनेवाली, पति के गुरु से संभोग करने वाली, विशेष रूप से वह जो पति को मार डालने का प्रयत्न करे और चौथे प्रकार की वह जो नीची जाति (यथा शूद्र जाति) के किसी पुरुष से संभोग करे।[१९] नारद (स्त्रीपुंस, ९१) ने लिखा है—"व्यभिचारिणी स्त्री का मुण्डन कर दिया जाना चाहिए, उसे पृथिवी पर सोना चाहिए, उसे निकृष्ट भोजन-वस्त्र मिलना चाहिए और उसका कार्य होना चाहिए पति का घर-द्वार स्वच्छ करना।" नीच जाति के पुरुष के साथ व्यभिचार करने पर गौतम (२३।१४), शान्तिपर्व (१६५।६४), मनु (८।३७१) ने बहुत कड़े दण्ड की व्यवस्था की है, अर्थात् उसे राजा की आज्ञा से कुत्तों द्वारा नोचवाकर मरवा डालना चाहिए। व्यास (२।४९-५०) ने लिखा है—"व्यभिचार में पकड़ी गयी पत्नी को घर में ही रखना चाहिए, किन्तु धार्मिक कृत्यों एवं संभोग के उसके सारे अधिकार छीन लेने चाहिए, धन-सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रहेगा; उसकी भर्त्सना की जाती रहेगी; किन्तु जब व्यभिचार के उपरान्त उसका मासिक धर्म आरम्भ हो

१८. त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यो भार्यां नाधिगच्छति। स तुल्यं भ्रूणहत्याया दोषमृच्छत्यसंशयम्॥ ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। पितरस्तस्य तन्मासं तस्मिन्रजसि शेरते॥ भर्तुः प्रतिनिवेशेन या भार्या स्कन्दयेदृतुम्। तां ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं निर्धमेद् गृहात्॥ बौ० ध० सू० (४।१।१८-२०, २२)। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य-(१।७९) की टीका में इन श्लोकों को बौधायन-रचित माना है। संवर्त (९८) ने भी बौधायन की बात कही है। यही बात पराशर (४।१४-१५) में भी पायी जाती है।

१९. ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः शूद्रेण संगताः। अप्रजाता विशुध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः॥ चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या। पतिघ्नी च विशेषेण जुंगितोपगता च या॥ वसिष्ठ (२१।१२ एवं १०)।

जाय और वह पुनः व्यभिचार में संलग्न न हो तो उसे पुनः पत्नी के सारे अधिकार मिल जाने चाहिए।"[20] मनु (११। १७७) ने अति दुष्टा एवं व्यभिचारिणी नारी को एक प्रकोष्ठ में बन्द कर देने को कहा है और व्यभिचारी पुरुषों द्वारा किये जाने वाले प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है।[21] इस विषय में और देखिए अत्रि (५।१-५), पराशर (४।२० एवं ११।८७) तथा बृहद्यम (४।३६)।

उपर्युक्त विवेचनों के उपरान्त हम निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं---(१) व्यभिचार के आधार पर पति पत्नी को छोड़ने का सम्पूर्ण रूप से अधिकारी नहीं है। (२) व्यभिचार साधारणतः एक उपपातक है और पत्नी द्वारा उपयुक्त प्रायश्चित्त करने पर क्षम्य हो सकता है। (३) व्यभिचार करने के उपरान्त प्रायश्चित्त कर लिये जाने पर पत्नी के सारे अधिकार पुनः मिल जाते हैं (वसिष्ठ २१।१२, याज्ञवल्क्य १।७२ पर मिताक्षरा एवं अपरार्क, पृ० ९८)। (४) जब तक प्रायश्चित्त न पूरा हो जाय, व्यभिचारिणी को अल्प भोजन मिलना चाहिए और अधिकार-च्युत होना चाहिए (याज्ञवल्क्य १।७०, शान्तिपर्व १६५।६३)। (५) शूद्र से व्यभिचार कर लेने पर यदि पत्नी को बच्चा हो जाय, यदि वह भ्रूण-हत्या की अपराधिनी हो, पति को मार डालने की चेष्टा करने वाली हो, या किसी महापातक की अपराधिनी हो, तो वह धार्मिक कृत्यों तथा संभोग के सारे अधिकारों से वंचित हो जायगी, एक कोठरी या घर के निकट ही किसी झोपड़ा में बन्द रहेगी, जहाँ उसे अल्प भोजन तथा निकृष्ट वस्त्र मिलेगा, भले ही उसने प्रायश्चित्त कर लिया हो (देखिए वसिष्ठ २१।१०, मनु ११।१७७, याज्ञवल्क्य ३।२९७-९८ तथा उस पर मिताक्षरा)। (६) जो पत्नी याज्ञवल्क्य (१।७२, ३।२९७-२९८), वसिष्ठ (२१।१० या २८।७) में वर्णित दुष्कर्मों को न करने वाली हो, उसे अल्प भोजन तथा घर के निकट निवास-स्थान दिया जायगा, चाहे वह प्रायश्चित्त करे या न करे (याज्ञवल्क्य ३।२९८ पर मिताक्षरा)। (७) उन पत्नियों को, जो व्यभिचार तथा याज्ञवल्क्य (१।७२ तथा ३।२९७-२९८) द्वारा वर्णित दुष्कर्मों को करने वाली हों किन्तु प्रायश्चित्त करने के लिए सन्नद्ध न होती हों, अल्प भोजन तथा घर के निकट निवास-स्थान भी नहीं दिये जाने चाहिए (याज्ञवल्क्य ३।२९८ पर मिताक्षरा)।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१३।१६-१८) ने पति-पत्नी को धार्मिक कृत्यों में समान माना है, क्योंकि मनु के मत से पति और पत्नी एक ही हैं (मनु ९।४५)। किन्तु प्राचीन ऋषियों ने व्यावहारिक एवं कानूनी बातों में यह समानता नहीं मानी। एक-दूसरे की सम्मति पर पति एवं पत्नी के अधिकारों एवं स्वत्वों तथा एक-दूसरे के ऋणों पर पति एवं पत्नी के उत्तरदायित्व पर हम विस्तार के साथ आगे पढ़ेंगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि पत्नी का पति के ऋण पर तथा पति का पत्नी के ऋण पर साधारणतः कोई उत्तरदायित्व नहीं था, जब तक कि वह ऋण कुटुम्ब के उपभोग के लिए न लिया गया हो (याज्ञवल्क्य २।४६)। इसी प्रकार स्त्रीधन पर पति का कोई अधिकार नहीं था, जब तक कि अकाल न पड़े या कोई धार्मिक कृत्य करना आवश्यक न हो जाय, या कोई रोग न हो जाय या स्वयं पति बन्दी न हो जाय (याज्ञवल्क्य २।१४७)।

नारद (स्त्रीपुंस, ८९) के मत वे पति या पत्नी को यह आज्ञा नहीं है कि से एक-दूसरे के विरुद्ध राजा

२०. व्यभिचारे स्त्रिया मौण्ड्यमधः शयनमेव च। कदन्नं वा कुवासश्च कर्म चावस्करोज्झनम्॥ नारद (स्त्रीपुंस, ९१)। व्यभिचारेण दुष्टां तां पत्नीमा दर्शनावृतोः। हृतत्रिवर्गकरणां धिक्कृतां च वसेत्पतिः॥ पुनस्तामार्तवस्नातां पूर्ववद् व्यवहारयेत्॥ व्यास (२।४९-५०)।

२१. व्यभिचारी की जाति के अनुसार ही प्रायश्चित्त हलका या भारी होता है। मनु (११।६०) के अनुसार व्यभिचार एक उपपातक है, और इसके लिए साधारण प्रायश्चित्त है गोव्रत या चान्द्रायण (मनु ११।११८)

या सम्बन्धियों के समक्ष आवेदन-पत्र के रूप में कोई अभियोग उपस्थित कर सकें। याज्ञवल्क्य (२।२९४) की व्याख्या मिताक्षरा का कथन है कि यद्यपि पति एवं पत्नी वादी एवं प्रतिवादी के रूप में एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं जा सकते, तथापि यदि राजा के कानों में पति या पत्नी द्वारा एक-दूसरे के विरोध में किये गये अपराध की ध्वनि पहुँच जाय तो उसका कर्तव्य है कि वह पति या पत्नी में जो भी दोषी या अपराधी हो, उसे उचित रूप से दण्डित करे, नहीं तो वह पाप का भागी माना जायगा। कुछ अपराधों में बिना अभियोग आये राजा अपनी ओर से संलग्न हो सकता है, और ऐसे अपराध १० हैं, यथा स्त्री-हत्या, वर्णसंकर, व्यभिचार, पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विधवा का गर्भाधान, भ्रूण हत्या आदि। यदि पति अपनी सती स्त्री (पत्नी) का परित्याग करता था तो उसे अपनी सम्पत्ति का १/३ भाग स्त्री को दे देना पड़ता था (याज्ञवल्क्य १।७६, नारद, स्त्रीपुंस, ९५)।

स्त्रियों की दशा

अब हम प्राचीन भारत की सामान्य स्त्रियों एवं पतियों की दशा एवं उनके चरित्र के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करेंगे। यह हमने बहुत पहले देख लिया है कि पत्नी पति की अर्धांगिनी कही गयी है (शतपथब्राह्मण ५।२।१।१०; ८।७।२।३; तैत्तिरीय संहिता ६।१।८।५; ऐतरेयब्राह्मण १।२।५; बृहस्पति, अपरार्क-द्वारा उद्धृत, पृ० ७४०)। वैदिक काल में स्त्रियों ने ऋग्वेद की ऋचाएँ बनायीं, वेद पढ़े तथा पतियों के साथ धार्मिक कृत्य किये। इस प्रकार हम देखते हैं कि तब पश्चात्कालीन युग से उनकी स्थिति अपेक्षाकृत बहुत अच्छी थी। किन्तु वैदिक काल में भी कुछ लोगों ने स्त्रियों के विरोध में स्वर ऊँचा किया, उनकी अवमानना की तथा उनके साथ घृणा का बरताव किया। वैदिक एवं संस्कृत साहित्य के बहुत-से वचन स्त्रियों की प्रशंसा में पाये जाते हैं (बौधायनधर्मसूत्र २।२।६३-६४, मनु ३।५५-६२, याज्ञवल्क्य १।७१, ७४, ७८, ८२, वसिष्ठधर्मसूत्र २८।१-९, अत्रि १४०-१४१ एवं १९३-१९८, आदिपर्व ७४।१४०-१५२, शान्तिपर्व १४४।६ एवं १२-१७, अनुशासनपर्व ४६, मार्कण्डेयपुराण २१।६९-७६)। कामसूत्र (३।२) ने स्त्रियों को पुष्पों के समान माना है (कुसुमसधर्माणो हि योषितः)। दो-एक अपवादों को छोड़कर स्त्रियों को किसी भी दशा में मारना वर्जित था। गौतम (२३।१४) एवं मनु (८।३७१) ने व्यवस्था दी है कि यदि स्त्री अपने से नीच जाति के पुरुष से अवैध रूप से सभोग करे तो उसे कुत्तों द्वारा नुचवाकर मार डालना चाहिए। आगे चलकर इस दण्ड को भी और सरल कर दिया गया और केवल परित्याग का दण्ड दिया जाने लगा (वसिष्ठ २१।१० एवं याज्ञवल्क्य १।७२)। कुछ स्मृतिकारों ने बड़ी उदारता प्रदर्शित की है, यथा अत्रि एवं देवल, जिनके मत से यदि कोई स्त्री पर-जाति के पुरुष से संभोग कर ले और उसे गर्भ रह जाय तो वह जातिच्युत नहीं होती, केवल बच्चा जनने या मासिक धर्म के प्रकट होने तक अपवित्र रहती है। पवित्र हो जाने पर उससे पुनः सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और उत्पन्न बच्चा किसी अन्य को पालने के लिए दे दिया जाता है (अत्रि १९५-१९६, देवल ५०-५१)।[22] यदि किसी नारी के साथ कोई बलात्कार कर दे तो वह त्याज्य नहीं समझी जाती, वह केवल आगामी मासिक धर्म के प्रकट होने तक अपवित्र रहती है (अत्रि १९७-१९८)। देवल ने म्लेच्छों द्वारा अपहृत एवं उनके द्वारा भ्रष्ट की गयी तथा गर्भवती हुई नारियों की शुद्धि की बात

२२. असवर्णैस्तु यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते। अशुद्धा सा भवेन्नारी यावद्गर्भं न मुञ्चति॥ वियुक्ते तु ततः शल्ये रजश्चापि प्रदृश्यते। तदा सा शुध्यते नारी विमलं कांचनं यथा॥ अत्रि १९५-१९६; देवल ५०-५१। अत्रि ने पुनः कहा है—बलान्नारी प्रभुक्ता वा चौरभुक्ता तथापि वा। न त्याज्या दूषिता नारी न कामोऽस्या विधीयते॥ ऋतुकाल उपासीत पुष्पकालेन शुध्यति॥ १९७-१९८।

चलायी है। शान्तिपर्व (२६७।३८) के अनुसार यदि स्त्री कुमार्ग में जाय तो दोष उसके पति का है न कि पत्नी का। वरुणप्रघास (चातुर्मास्यों में एक यज्ञ) में यज्ञ करने वाले की पत्नी को, यदि उसका कोई प्रेमी होता था तो उसे यह बात अंगीकार करनी पड़ती थी, और इस प्रकार सच कह देने पर भी उसे यज्ञ में भाग लेने दिया जाता था (तैत्तिरीय ब्राह्मण १।६।५, शतपथब्राह्मण २।५।२।२०, कात्यायनश्रौतसूत्र ५।५।६-१०)।

अब हम कुछ ऐसी उक्तियों का भी अवलोकन करें, जो स्त्रियों के विरोध में पड़ती हैं। मैत्रायणीसंहिता में स्त्री को 'अनृत' अर्थात् झूंठ का अवतार कहा गया है (१।१०।११)। ऋग्वेद (८।३३।१७) के एक कथन में "नारी का मन दुर्दमनीय" कहा गया है। ऋग्वेद (१०।९५।१५) एवं शतपथब्राह्मण (११।५।१।९) ने घोषित किया है—"स्त्रियों के साथ कोई मित्रता नहीं है, उनके हृदय भेड़ियों के हृदय हैं (अर्थात् कठोर एवं धोखेबाज या धूर्त)।" ऋग्वेद (५।३०।९) के अनुसार स्त्रियाँ दास की सेना एवं अस्त्र-शस्त्र हैं।" तैत्तिरीयसंहिता (६।५।८।२) का कथन है—"अतः स्त्रियाँ बिना शक्ति की हैं, उन्हें दाय नहीं मिलता, वे दुष्ट से भी बढ़कर दुर्बल ढंग से बोलती हैं। यह उक्ति (जो वास्तव में स्त्रियों को सोम रस की अधिकारिणी नहीं मानती) बौधायनधर्मसूत्र (२।२।५३) एवं मनु (९।१८) द्वारा इसअर्थ में प्रयुक्त की गयी है कि स्त्रियों को वसीयत या दाय में भाग नहीं मिलता और न उन्हें वैदिक. मन्त्रों का अधिकार ही है। शतपथब्राह्मण के अनुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ता एवं कौआ में असत्य, पाप एवं अंधकार विराजमान रहता है (१४।१।१।३१)। इसी ब्राह्मण ने पुनः लिखा है—"पत्नियाँ घृत या वज्र से हत होने पर तथा बिना पुरुष के होने पर न तो अपने पर राज्य करती हैं और न दाय (सम्पत्तिभाग) पर।"[२३] शतपथब्राह्मण ने पुनः लिखा है—"वह इस प्रकार स्त्रियों को आश्रित बनाता है, अतः स्त्रियाँ पुरुष पर अवश्यमेव आश्रित रहती हैं" (१३।२।२।४)।

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में भी स्त्रियाँ बहुधा नीची दृष्टि से देखी जाती थीं। उन्हें सम्पत्ति में कोई भाग नहीं मिलता था तथा वे आश्रित थीं। स्त्रियों के चरित्र के विषय में जो उक्तियाँ हैं वे वैसी ही हैं जैसा कि प्रत्येक काल में वक्र भाव एवं कुटिल विचार वाले लोगों ने कहा है—"हे नारी, तुम दुर्बलता की खान हो।" धर्मशास्त्र-साहित्य में स्त्रियों की दशा बुरी ही होती चली गयी, केवल सम्पत्ति के अधिकारों के बारे में अपवाद पाया गया। गौतम (१८।१), वसिष्ठधर्मसूत्र (५।१ एवं ३), मनु (५।१४६-१४८ एवं ९।२-३), बौधायनधर्मसूत्र (२।२।५०-५२), नारद (दायभाग, ३१) आदि ने घोषित किया है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं, सभी मामलों में आश्रित एवं परतन्त्र हैं, बचपन में, विवाहोपरान्त एवं बुढ़ापे में वे क्रम से पिता, पति एवं पुत्र द्वारा रक्षित होती हैं। मनु (९।२-३) ने हानि एवं विपत्ति से स्त्री-रक्षा करने की बात कही है। मनु (५।१४६-१४८) का कथन है कि सभी घरेलू बातों में तथा सभी अवस्थाओं में स्त्री का जीवन किसी पुरुष पर आश्रित है। नारद (दायभाग, २८-३०) का कथन है—"जब विधवा पुत्रहीन होती है, उसके पति के सम्बन्धी उसके भरण-पोषण, देख-रेख, सम्पत्ति-रक्षा करने वाले हैं, जब कोई सम्बन्धी एवं पति का सपिण्ड रक्षक न हो तो पिता का कुल रक्षक होता है। विधाता ने स्त्री को आश्रित बनाया है, अच्छे कुल की

२३. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः। ऋग्वेद ५।३०।९; तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंस उपस्तितरं वदन्ति। तै० सं० ६।५।८।२।

निरिन्द्रिया अदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः। बौधायनधर्मसूत्र (२।२।५३); नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः। निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥ मनु (९।१८)।

वज्रो वा आज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येनाघ्नन्नेव पत्नीनिराघ्नुवंस्ता हता निरष्टा नात्मनश्च नैशत न दायस्य च नैशत। शतपथ ४।४।२।१३।

नारियाँ भी स्वतन्त्र होने पर गर्त में गिर जाती हैं।" स्त्री का प्रमुख कर्तव्य है पति-सेवा, अन्य कार्य (व्रत, उपवास, नियम आदि) वह बिना पति की आज्ञा से नहीं कर सकती (हेमाद्रि, व्रतखण्ड १, पृ० ३६२)।[२४]

महाभारत, मनुस्मृति, अन्य स्मृतियों एवं पुराणों में स्त्रियों पर घोर नैतिक लाछन लगाये गये हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। अनुशासनपर्व (१९।६) के अनुसार, "सूत्रकार का निष्कर्ष है कि स्त्रियाँ अनृत (झूठी) हैं", "स्त्रियों से बढ़कर कोई अन्य दुष्ट नहीं है, ये एक साथ ही उस्तुरा की धार (क्षुरधार) हैं, विष हैं, सर्प और अग्नि हैं, (अनुशासनपर्व ३८।१२ एवं २९); "सैकड़ों-हजारों में कहीं एक स्त्री पतिव्रता मिलेगी" (अनुशासनपर्व १९।९३); "स्त्रियाँ वास्तव में दुर्दमनीय हैं, वे अपने पति के बन्धनों में इसीलिए रहती हैं कि उन्हें कोई अन्य पूछता नहीं (प्यार नहीं करता) और क्योंकि वे नौकरों-चाकरों से डरती हैं" (अनुशासनपर्व ३८।१६)। और देखिए अनुशासनपर्व (३८। २४-२५ एवं ३९।६-७) "स्त्रियों में राक्षसों, शम्बर, नमुचि तथा अन्य लोगों की धूर्तता पायी जाती है।" रामायण ने भी महाभारत की भाँति स्त्रियों का रोना रोया है और उनकी भरपूर निन्दा की है—"....वे धर्मभ्रष्ट हैं, चंचल हैं, क्रूर हैं, और हैं विरक्ति उत्पन्न करने वाली" (अरण्यकाण्ड, ४५।२९-३०)। एक स्थान पर मनु महाराज (९।१४-१५) बहुत अनदार हो गये हैं—"वे कामी हैं, चंचल हैं, प्रेमहीन हैं, पति-द्रोही हैं, पर-पुरुष प्रेमी हैं, चाहे वह पर-पुरुष सुन्दर हो या असुन्दर उन्हें तो बस पुरुष चाहिए।"

"पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करना स्त्रियों का स्वभाव-सा है, अतः विज्ञ लोग नवयुवतियों से सावधानी से बातचीत करते हैं, क्योंकि नवयुवतियाँ सभी को, चाहे वे विज्ञ हों या अविज्ञ, पथभ्रष्ट कर सकती हैं" (मनु २।२१३-२१४, अनुशासनपर्व ४८।३७-३८)। बृहत्पराशर के अनुसार स्त्रियों की काम-शक्ति पुरुषों की काम-शक्ति की आठ-गुनी होती है। आधुनिक काल में कुछ वृद्ध लोग स्त्रियों के दोषों की गणना करते हैं—अनृत (झूठ बोलना), साहस (विवेकशून्य कार्य), माया (धूर्तता), मूर्खत्व, अति लोभ, अशौच (अपवित्रता), निर्दयता—ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं।[२५]

२४. अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री। गौतम १८।१; अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना। वसिष्ठ ५।१; अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैर्स्वै दिवानिशम्। विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥ पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ मनु ९।२-३। अन्तिम बात वसिष्ठ (५।३), बौधायनधर्मसूत्र (२।२।५२), नारद (दायभाग, ३१) एवं अनुशासनपर्व (२०।२१) में भी पायी जाती है।

मृते भर्तर्यपुत्रायाः प्रतिपक्षः प्रभुः स्त्रियाः। विनियोगात्मरक्षासु भरणे स च ईश्वरः॥ परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये। तत्सपिण्डेषु वासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः॥ स्वातन्त्र्याद्विप्रणश्यन्ति कुले जाता अपि स्त्रियः। अस्वातन्त्र्यमतस्तासां प्रजापतिरकल्पयत्॥ नारद (दायभाग प्रकरण, २८-३०)। मेधातिथि एवं कुल्लूक ने मनु (५।१४७) की टीका में आधा श्लोक "तत्सपिण्डेषु...स्त्रियाः" उद्धृत किया है और दूसरा आधा जोड़ दिया है—"पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः" जिसके अनुसार राजा को स्त्रियों का पति एवं पिता के कुल में किसी पुरुष के न रहने पर अन्तिम रक्षक मान लिया गया है।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषितम्। भर्तृशुश्रूषयैवैता लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि॥ मार्कण्डेय १६।६१।

२५. (१) प्रजापतिमतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। (अनुशासनपर्व २०।१४); अनृताः स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति। अनृताः स्त्रिय इत्येव वेदेष्वपि हि पठ्यते॥ (अनुशासन पर्व १९।६-७); न स्त्रीभ्यः किंचिदन्यद्वै पापीयस्तरमस्ति वै।...क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः। (अनुशासनपर्व ३८।१२ एवं २९)।

प्राचीन काल में भी कुछ ऐसे लेखक हो गये हैं, जिन्होंने स्त्रियों के विरोध में कही गयी अनर्गल, निरर्थक तथा आधारहीन उक्तियों का विरोध एवं उनकी कटु आलोचनाएँ की हैं। वराहमिहिर (छठी शताब्दी) ने बृहत्संहिता (७४) में स्त्रियों के पक्ष का ओजस्वी समर्थन किया है, तथा उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कह डाला है।[२६] वराहमिहिर के मत से स्त्रियों पर धर्म एवं अर्थ आश्रित हैं, उन्हीं से पुरुष लोग इन्द्रिय-सुख एवं सन्तान-सुख प्राप्त करते हैं, ये घर की लक्ष्मी हैं, इनको सदैव सम्मान एवं धन देना चाहिए। इसके उपरान्त वराहमिहिर ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो वैराग्यमार्ग का अनुसरण कर स्त्रियों के दोषों की चर्चा करते हैं और उनके गुणों के विषय में मौन हो जाते हैं। वराहमिहिर निन्दकों से पूछते हैं—"सच बताओ, स्त्रियों में कौन से दोष हैं जो तुम लोगों में नहीं पाये जाते ? पुरुष लोग धृष्टता से स्त्रियों की भर्त्सना करते हैं, वास्तव में वे (पुरुषों की अपेक्षा) अधिक गुणों से सम्पन्न होती हैं।" वराहमिहिर ने मनु के वचनों को अपने समर्थन में उद्धृत किया है; "अपनी माँ या अपनी पत्नी भी स्त्री ही है, पुरुषों की उत्पत्ति उन्हीं से होती है; अरे कृतघ्नी एवं दुष्ट, तुम जब इस प्रकार उनकी भर्त्सना करते हो तो तुम्हें सुख क्योंकर मिलेगा ? शास्त्रों के अनुसार दोनों पति एवं पत्नी पापी हैं यदि वे विवाह के प्रति सच्चे नहीं होते, पुरुष लोग शास्त्रों की बहुत कम परवाह करते हैं (किन्तु स्त्रियाँ बहुत परवाह करती हैं), अतः स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अति उच्च हैं।" वराहमिहिर पुनः कहते हैं—"दुष्ट लोगों की धृष्टता कितनी बड़ी है, ओह ! वे पवित्र एवं निरपराध स्त्रियों पर गालियों की बौछार करते हैं, यह तो वैसा ही है जैसा कि चोरों के साथ देखा जाता है, अर्थात् चोर स्वयं चोरी करते हैं और पुनः शोर-गुल करते हैं, 'ठहरो, ओ चोर !' अकेले में पुरुष स्त्री की चाटुकारी करते हैं, किन्तु उसके मर जाने पर उनके पास इसी प्रकार के मीठे शब्द नहीं होते; किन्तु स्त्रियाँ कृतज्ञता के वश में आकर अपने पति के शवों का आलिंगन करके अग्नि में प्रवेश कर जाती हैं।" कालिदास, बाण एवं भवभूति जैसे साहित्यकारों को छोड़कर वारहमिहिर के अतिरिक्त किसी अन्य लेखक ने स्त्रियों के पक्ष में तथा उनकी प्रशंसा में इतने सुन्दर वाक्य नहीं कहे हैं।[२७]

(२) अनुशासन पर्व के ३८।५-६ और मनु के ९।१४ में कोई अन्तर नहीं है। स्वभावस्त्वेष नारीणां त्रिषु लोकेषु दृश्यते। विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः॥ अरण्यकाण्ड ४५।२९-३०।

(३) स्त्रीणामष्टगुणः कामो व्यवसायश्च षड्गुणः। लज्जा चतुर्गुणा तासामाहारश्च तदर्धकः॥ बृहत्पराशर, पृ० १२१।

(४) अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता। अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥

२६. येऽप्यंगनानां प्रवदन्ति दोषान्वैराग्यमार्गेण गुणान् विहाय। ते दुर्जना मे मनसो वितर्कः सद्भाववाक्यानि न तानि तेषाम्॥ प्रब्रूत सत्यं कतरोऽगनानां दोषस्तु यो नाचरितो मनुष्यैः। धाष्टर्येन पुंभिः प्रमदा निरस्ता गुणाधिकास्ता मनुनात्र चोक्तम्। जाया वा स्याज्जनित्री वा स्यात्संभवः स्त्रीकृतो नृणाम्। हे कृतघ्नास्तयोर्निन्दां कुर्वतां वः कुतः सुखम्॥ अहो धाष्टर्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः। मुष्णतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम्॥ पुरुषश्चटुलानि कामिनीनां कुरुते यानि रहो न तानि पश्चात्। सुकृतज्ञतयांगना गतासूनवगुह्य प्रविशन्ति सप्तजिह्वम्॥ बृहत्संहिता ७४।५ ६, ११, १५, १६। ७वाँ एवं ९वाँ श्लोक बौधायनगृह्यसूत्र (२।२।६३-६४) में, १०वाँ मनु (३।५८) में तथा ७वाँ एवं ८वाँ वसिष्ठ (२८।४ एवं ९) में पाये जाते हैं।

२७. कालिदास एवं भवभूति ने बड़े ही कोमल ढंग से पति एवं पत्नी के प्रिय एवं मधुर संबंध की ओर संकेत किया है—'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥' रघुवंश ८।६६; 'प्रेयो मित्र बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा। स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा-

स्त्रियों को सामान्यतः भर्त्सना के शब्द सुनने पड़े हैं, किन्तु स्मृति-ग्रन्थों में माता की प्रशंसा एवं सम्मान में बहुत-कुछ कहा गया है। गौतम (२।५६) का कहना है—"आचार्य (वेदगुरु) गुरुओं में श्रेष्ठ है, किन्तु कुछ लोगों के मत से माता ही सर्वश्रेष्ठ है।" आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१०।२८।९) का कहना है कि पुत्र को चाहिए कि वह अपनी माता की सदा सेवा करे, भले ही वह जातिच्युत हो चुकी हो, क्योंकि वह उसके लिए महान् कष्टों को सहन करती है। यही बात बौधायनधर्मसूत्र (२।२।४८) में भी है, किन्तु यहाँ पुत्र को अपनी जातिच्युत माता से बोलना मना किया गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१३।४७) के मत से "पतित पिता का त्याग हो सकता है, किन्तु पतित माता का नहीं, क्योंकि पुत्र के लिए वह कभी भी पतित नहीं है।"[२८] मनु (२।१४५) के अनुसार आचार्य दस उपाध्यायों से महत्ता में आगे है, पिता सौ आचार्यों से आगे है, माता एक सहस्र पिताओं से बढ़कर है (वसिष्ठधर्मसूत्र १३।४८)। शंखलिखित ने एक बहुत ही उपकारी सम्मति दी है—"पुत्र को पिता एवं माता के युद्ध में किसी का पक्ष नहीं लेना चाहिए, किन्तु यदि वह चाहे तो माता के पक्ष में बोल सकता है, क्योंकि माता ने उसे गर्भ में धारण किया एवं उसका पालन-पोषण किया; पुत्र, जब तक वह जीवित है, अपनी माता के ऋण से छुटकारा नही पा सकता, केवल सौत्रामणि यज्ञ करने से ही उऋण हो सकता है।" याज्ञवल्क्य (१।३५) के अनुसार अपने गुरु, आचार्य एवं उपाध्याय से माता बढ़कर है। अनुशासनपर्व (१०५।१४-१६) का कहना है कि माता महत्ता में दस पिताओं से, यहाँ तक कि सारी पृथिवी से बढ़कर है, माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं है। शान्तिपर्व (२६७) में भी माता की प्रशंसा की गयी है। अत्रि (१५१) के मत से माता से बढ़कर कोई अन्य गुरु नहीं है। पाण्डवों ने अपनी माता कुन्ती को सर्वोच्च सम्मान दिया था। आदिपर्व (३७।४) में आया है—"सभी प्रकार के शापों से छुटकारा हो सकता है किन्तु माता के शाप से छुटकारा नहीं प्राप्त हो सकता।"[२९]

स्त्रियों के दायाधिकारों एवं वसीयत के विषय में विस्तार के साथ आगे कहेंगे। यहाँ पर संक्षेप में ही लिखा जा रहा है। आपस्तम्ब, मनु एवं नारद ने पुत्रहीन पुरुष की विधवा को उत्तराधिकारी नहीं माना है, किन्तु गौतम (२८।१९) ने उसे सपिण्डों एवं सगोत्रों के समान ही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना है। प्राचीन काल में विधवा को दायाधिकार

मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥' मालतीमाधव ६। और देखिए उत्तररामचरित (१) का प्रसिद्ध श्लोक 'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं...आदि।

२८. आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके। गौतम २।५६; माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि। आप० ध० १।१०।२८।९; पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः। बौ० ध० २।२।४८; पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति। वसिष्ठ १३।४७।

२९. (१) न मातापित्रोरन्तरं गच्छेत्पुत्रः। कामं मातुरेवानुब्रूयात्सा हि धारिणी पोषणी च। न पुत्रः प्रतिमुच्येतान्यत्र सौत्रामणियागाज्जीवन्नृणान्मातुः। शंखलिखित (संस्कारप्रकाश पृ० ४७९); और देखिए विवादरत्नाकर (पृ० ३५७), स्मृतिचन्द्रिका (जिल्द १, पृ० ३५)।

(२) नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया॥ शान्तिपर्व (२६७-३१); माता गुरुतरा भूमेः। वनपर्व ३१३।६०; नास्ति वेदात्परं शास्त्रं नास्ति मातुः परो गुरुः। नास्ति दानात्परं मित्रमिह लोके परत्र च॥ अत्रि १५१; नास्ति सत्यात्परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः। शान्ति० ३४३।१८।

(३) सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते। न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते॥ आदिपर्व ३७।४।

नहीं था; इस विषय में हमें शाकुन्तल (६) से प्रकाश मिलता है, जहाँ मन्त्री ने राजा को लिखा है कि मरणशील वणिक् की सम्पत्ति विधवा को न मिलकर राजा को मिलेगी। किन्तु याज्ञवल्क्य (२।१३५), विष्णु एवं कात्यायन ने कहा है कि पुत्रहीन पुरुष की विधवा प्रथम उत्तराधिकारी है। इससे स्पष्ट है कि मध्य काल में प्रारम्भिक सूत्रकाल की अपेक्षा विधवा के अधिकार अधिक सुरक्षित थे। किन्तु अन्य बातों में स्त्रियों की दशा में अवनति होती गयी, वे शूद्र के समान समझी जाने लगीं। यास्क के समय में उत्तर भारत में विधवा को उत्तराधिकार नहीं प्राप्त था, क्योंकि उन्होंने दक्षिण के देशों की विधवा के ही उत्तराधिकार की चर्चा की है—"दक्षिणी देशों में पुत्र-हीन पुरुष की विधवा सभा में जाती है, चौकी पर खड़ी होती है, सदस्य लोग उस पर अक्ष चलाते हैं और वह पति की सम्पत्ति पाती है।"

अध्याय १२

विधवाधर्म, स्त्रियों के कुछ विशेषाधिकार एवं परदा प्रथा

विधवाधर्म

ऋग्वेद (४।१८।१२, १०।१८।७, १०।४०।२ एवं ८) में 'विधवा' शब्द कई बार आया है, किन्तु इनमें अन्तिम अर्थात् ऋग्वेद १०।४०।२ को छोड़कर अन्य अंश विधवा की दशा पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डालते। ऋग्वेद (१।८७।३) में आया है कि मरुतों की अति शीघ्र गतियों से पृथिवी पतिहीन स्त्री की भाँति काँपती है। इससे प्रकट होता है कि विधवाएँ या तो दुःख के मारे या बलात्कार के डर से काँपती थीं।[1]

बौधायनधर्मसूत्र (२।२।६६-६८) के मत से विधवा को साल भर तक मधु, मांस, मदिरा एवं नमक छोड़ देना चाहिए तथा भूमि पर शयन करना चाहिए, किन्तु मौद्गल्य के मत से केवल छः मास (तक ही ऐसा करना चाहिए)। इसके उपरान्त यदि वह पुत्रहीन हो और गुरुजन आदेश दें तो वह अपने देवर से एक पुत्र उत्पन्न कर सकती है। यही बात वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।५५-५६) में भी पायी जाती है। मनु (५।१५७-१६०) की बतायी हुई व्यवस्था अधिकांश में सभी स्मृतियों में पायी जाती है; "पति के मर जाने पर स्त्री, यदि वह चाहे तो, केवल पुष्पों, फलों एवं मूलों को ही खाकर अपने शरीर को गला दे (दुर्बल बना दे), किन्तु उसे किसी अन्य व्यक्ति का नाम भी नहीं लेना चाहिए। मृत्यु-पर्यन्त उसे संयम रखना चाहिए, व्रत रखने चाहिए, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए और पतिव्रता के सदाचरण एवं गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा करनी चाहिए। पति की मृत्यु के उपरान्त यदि साध्वी नारी अविवाह के नियम के अनुसार चले अर्थात् अपने सतीत्व की रक्षा में लगी रहे, तो वह पुत्रहीन रहने पर भी स्वर्गारोहण करती है, जैसा कि प्राचीन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों (यथा सनक) ने किया था।" कात्यायन के अनुसार "पुत्रहीन विधवा यदि अपने पति के विष्टर (बिस्तर या सेज) को बिना अपवित्र किये गुरुजनों के साथ रहती हुई अपने को संयमित रखती है तो उसे मृत्यु-पर्यन्त पति की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। उसके उपरान्त उसके पति के उत्तराधिकारी लोग सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। धार्मिक व्रतों, उपवासों एवं नियमों में संलग्न, ब्रह्मचर्य के नियमों से पूर्ण, इन्द्रियों को संयमित करती एव दान करती हुई विधवा पुत्रहीन होने पर भी स्वर्ग को जाती है।"[2] पराशर (४।३१) ने भी मनु (५।१६०) के समान ही कहा है। बृहस्पति का कथन है—"पत्नी पति की अर्धांगिनी घोषित हो चुकी है, वह पति के पापों एवं पुण्यों की भागी होती है, एक सद्गुणी पत्नी, चाहे वह पति की चिता पर भस्म हो जाती है या जीवित रह जाती

१. प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु यद्ध युञ्जते शुभे। ऋग्वेद (१।८७।३)।

२. अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता। भुञ्जीतामरणात्क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः॥ व्रतोपवासनिरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। दमदानरता नित्यमपुत्रापि दिवं व्रजेत्॥ कात्यायन (वीरमित्रोदय पृ० ६२६-६२७ में उद्धृत)। प्रथम श्लोक दायभाग, स्मृतिचन्द्रिका, एवं अन्य ग्रन्थों में उद्धृत है।

है, अपने पति के आध्यात्मिक लाभ को अवश्य प्राप्त करती है।[3] वृद्धहारीत (११।२०५-२१०) ने उसकी आमरण दिनचर्या दी है—"उसे बाल सँवारना छोड़ देना चाहिए, पान खाना, गन्ध, पुष्प, आभूषण एवं रंगीन परिधान का प्रयोग छोड़ देना चाहिए, पीतल-काँसे के बरतन में भोजन नहीं करना चाहिए, दो बार भोजन करना, अंजन लगाना आदि त्याग देना चाहिए, उसे श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए, उसे इन्द्रियों एवं क्रोध को दबाना चाहिए, धोखा-धड़ी से दूर रहना चाहिए, प्रमाद एवं निन्दा से मुक्त होना चाहिए, पवित्र एवं सदाचरण वाली होना चाहिए, सदा हरि की पूजा करनी चाहिए, रात्रि में पृथिवी पर कुश की चटाई पर शयन करना चाहिए, मनोयोग एवं सत्संगति में लगा रहना चाहिए।" बाण ने हर्षचरित (६, अन्तिम वाक्यांश) में लिखा है कि विधवाएँ अपनी आँखों में अञ्जन नहीं लगाती थीं और न मुख पर पीला लेप ही करती थीं, वे अपने बालों को यों ही बांध लेती थीं। प्रचेता ने संन्यासियों एवं विधवाओं को पान खाना, तेल वगैरह लगाकर स्नान करना एवं धातु के पात्रों में भोजन करना मना किया है।[4] आदिपर्व (१६०।१२) में आया है—"जिस प्रकार पृथिवी पर पड़े हुए मांस के टुकड़े पर पक्षीगण टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार पतिहीन स्त्री पर पुरुष टूट पड़ते हैं।" शान्तिपर्व (१४८।२) में आया है—"बहुत पुत्रों के रहते हुए भी सभी विधवाएँ दुःख में हैं।"[5] स्कन्दपुराण (काशीखण्ड, ४।५५।७५ एवं ३, ब्रह्मारण्य भाग ५०।५५) में विधवाधर्म के विषय में लम्बा विवेचन है, जिसका अधिकांश मदनपारिजात (पृ० २०२-२०३), निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु एवं अन्य निबन्धों में उद्धृत है। कुछ बातें यहाँ अवलोकनीय हैं—"अमंगलों में विधवा सबसे अमंगल है, विधवा-दर्शन से सिद्धि नहीं प्राप्त होती (हाथ में लिया हुआ कार्य सिद्ध नहीं होता), विधवा माता को छोड़ सभी विधवाएँ अमंगलसूचक हैं, विधवा की आशीर्वादोक्ति को विज्ञ जन ग्रहण नहीं करते, मानो वह सर्पविष हो।" स्कन्द-पुराण के काशीखण्ड (अध्याय ४) में निम्न उक्तियाँ आयी हैं—"विधवा के कबरीबन्ध (सिर के केशों को सँवार कर बाँधने) से पति बन्धन में पड़ता है, अतः विधवा को अपना सिर मुण्डित रखना चाहिए। उसे दिन में केवल एक बार खाना चाहिए, या उसे मास भर उपवास करना चाहिए या चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। जो स्त्री पर्यंक पर शयन करती है वह अपने पति को नरक मे डालती है। विधवा को अपना शरीर सुगंधित लेप से नहीं स्वच्छ करना चाहिए, और न उसे सुगंधित पदार्थों का सेवन करना चाहिए, उसे प्रति दिन तिल, जल एवं कुश से अपने पति, पति के पिता एवं पति के पितामह के नाम एवं गोत्र से तर्पण करना चाहिए, उसे मरते समय भी बैलगाड़ी में नहीं बैठना चाहिए, उसे कंचुकी (चोली) नहीं पहननी चाहिए, उसे रंगीन परिधान नहीं धारण करने चाहिए तथा वैशाख, कार्त्तिक एवं माघ मास में विशेष व्रत करने चाहिए।" निर्णयसिन्धु ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर कहा है कि श्राद्ध का भोजन अन्य गोत्र वाली विधवा द्वारा नहीं बनाना चाहिए।

हिन्दू विधवा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी और उसका भाग्य तो किसी भी स्थिति में स्पृहणीय नहीं माना

३. शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा। अन्वारूढा जीवती च साध्वी भर्तुर्हिताय सा॥ बृहस्पति (अपरार्क. पृ० १११ में उद्धृत)।

४. ताम्बूलाभ्यञ्जनं चैव कांस्यपात्रे च भोजनम्। यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत्॥ प्रचेता (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २२२ तथा शुद्धितत्त्व, पृ० ३२५ में उद्धृत); मिलाइए "ताम्बूलोऽभर्तृकस्त्रीणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। एकैकं मांसतुल्यं स्यान्मिलितं तु सुरासमम्॥ (स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम, पृ० १६१ में उद्धृत)।

५. उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः। प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम्॥ आदिपर्व १६०।१२; सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते॥ शान्तिपर्व १४८।२।

जा सकता। वह अमंगल सूचक थी और किसी भी उत्सव में, यथा विवाह में, किसी प्रकार का भाग नहीं ले सकती थी। उसे न केवल पूर्ण रूप से साध्वी रहना पड़ता था, चाहे वह बचपन से ही विधवा क्यों न हो, प्रत्युत उसे संन्यासी की भाँति रहना पड़ता था, कम भोजन और कम वस्त्र धारण करना पड़ता था। उसके सम्पत्ति-अधिकार न-कुछ थे। यदि उसका पति पुत्रहीन मर गया तो उसे मौलिक रूप से उत्तराधिकार नहीं मिलता था। कालान्तर में उत्तराधिकार के विषय में उसकी स्थिति में सुधार हुआ। किन्तु तब भी उसे केवल सम्पत्ति की आय मात्र मिलती थी, जिसे वह घर की वैधानिक आवश्यकताओं तथा पति के आध्यात्मिक लाभ के लिए ही हस्तान्तरित कर सकती थी (अन्य कार्यों में नहीं)। हिन्दू संयुक्त परिवार में विधवा को केवल भरण-पोषण का अधिकार है (बंगाल में कुछ अधिक अधिकार हैं), जिसे वह व्यभिचारिणी हो जाने पर खो देती है। यदि वह पुनः नैतिक जीवन व्यतीत करने लगे तो उसे जीवन-चर्या का अधिकार प्राप्त हो सकता है। यदि पति की पृथक् रूप से सम्पत्ति हो गयी हो और उसे एक पुत्र या कई पुत्र हों तो उसकी विधवा को केवल भरण-पोषण का ही अधिकार मिलता है। यह स्थिति अभी कुछ दिनों तक रही है किन्तु अब विधवा की अवस्था में सुधार हो गया है।

विधवा का मुण्डन हो जाया करता था (देखिए स्कन्दपुराण का उपर्युक्त उद्धरण)। मदनपारिजात में भी यही बात पायी जाती है, अतः १४वीं शताब्दी में यह कर्म प्रचलित था। यह प्रथा कब से चली कहना कठिन है। सम्भवतः यह पश्चात्कालीन है। इस विषय में हमें दो सिद्धान्त देखने पड़ेंगे—(१) पति की मृत्यु पर विधवा का मुण्डन उसी प्रकार होता था जिस प्रकार पुत्रों का, तथा (२) विधवा को आमरण मुण्डन कराना पड़ता था; यद्यपि यह बात पिताहीन पुत्रों के साथ नहीं लागू होती। मुण्डन के पक्षपाती तीन वैदिक उक्तियों का हवाला देते हैं। यथा ऋग्वेद (१०।४०।२), आपस्तम्बमन्त्रपाठ (१।४।९) एवं अथर्ववेद (१४।२।६०)। ऋग्वेद (१०।४०।२) केवल विधवा की ओर संकेत करता है या नियोग की बात करता है, किन्तु उसके कथन में मुण्डन की ओर कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। आज के कुछ कट्टर पण्डित लोग निरुक्त (३।१५) के "विधावनाद् वा इति चर्मशिराः" में "चर्मशिराः" को मुण्डित विधवा का द्योतक मानते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है, वास्तव में 'चर्मशिरा' महोदय, निरुक्त के टीकाकारों के मत से, निरुक्त के लेखक यास्क के पूर्व कोई आचार्य थे। आपस्तम्बमन्त्रपाठ (१।५।९) में 'विकेशी' शब्द का अर्थ "मुण्डित विधवा" नहीं है, जैसा कि लोगों ने समझ रखा है; इसका साधारणतः अर्थ है "विखरे हुए केशों वाली स्त्री।" अथर्ववेद की उक्ति में भी 'विकेशी' शब्द विवाह के समय प्रयुक्त हुआ है। एक दूसरे स्थान पर (अथर्ववेद ९।९।१४) सायण ने 'विकेशी' का अर्थ "विकीर्णकेशी" अर्थात् "विखरे हुए बालों वाली नारी" लगाया है। स्पष्ट है कि वेद में विधवा के मुण्डित होने की ओर कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। बौधायन-पितृमेधसूत्र में अन्त्येष्टि-क्रिया के वर्णन में मृतात्मा के निकट सम्बन्धियों के मुण्डन की चर्चा है किन्तु पत्नी के मुण्डन का कोई उल्लेख नहीं है (देखिए बौधायनपितृमेधसूत्र १।४।३, १।४।१३, १।१२।७ एवं २।३।१७)।

मनु एवं याज्ञवल्क्य विधवाधर्म की चर्चा में विधवा के मुण्डन की चर्चा नहीं करते। किसी अन्य स्मृति में भी इसकी चर्चा नहीं हुई है। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने विधवा को केश-शृंगार से दूर रहने की बात कही है (वृद्धहारीत ९।२०६), अतः स्पष्ट है कि विधवाएँ केश रखती थीं। कम-से-कम क्षत्रियों की विधवाएँ कभी भी मुण्डित-सिर नहीं होती थीं, जैसा कि महाभारत की विधवाओं के चित्रण से व्यक्त होता है। महाभारत में वे "प्रकीर्णकेशाः" अर्थात् बिखरे केशों वाली कही गयी हैं (स्त्रीपर्व १६।१८; १७।२५, २१।६, २४।७; आश्रमवासिपर्व २५।१६; मौसलपर्व ७।१७)। बाण ने हर्षचरित में विधवा के केश-बन्धन का उल्लेख किया है (यथा—धन्यातु वैधव्यवेणी वरमनुष्यता। हर्षचरित, ५)। कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल की पेहोवा प्रशस्ति में शत्रुओं की विधवाएँ लम्बे बालों वाली कही गयी हैं (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० २४६, श्लोक १६)।

कट्टर पण्डितों ने व्यासस्मृति (२।५३) पर भी अपना मत आश्रित रखा है; "(पति के मर जाने पर) ब्राह्मणी को पति का शव गोद में लेकर अग्नि-प्रवेश करना चाहिए, यदि वह जीवित रहती (सती नहीं होती) है तो उसे त्यक्तकेश होकर तप से अपने शरीर को सुखा डालना चाहिए।" यहाँ "त्यक्तकेशा" शब्द के तीन अर्थ सम्भव हैं—(१) वह जिसने केश-शृंगार छोड़ दिया हो, या (२) वह जिसके केश कुछ स्मृतियों के मतानुसार केवल दो अंगुल की लम्बाई में काटे गये हों, जैसा कि गोवध आदि के प्रायश्चित्त में किया जाता है, या (३) वह जिसका सिर मुण्डित हो चुका हो। जो भी हो, अन्य स्मृतियों ने विधवा के केशमुण्डन की चर्चा नहीं की है।

मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य (३।३२५) की व्याख्या में मनु के एक कथन की चर्चा की है—"विद्वानों, राजाओं, स्त्रियों के विषय में सिर-मुण्डन की बात नहीं उठती, केवल महापातक करने या गोहत्या करने या ब्रह्मचारी द्वारा संभोग किये जाने पर ही सिर-मुण्डन की बात उठती है।" मिताक्षरा ने विधवा के लिए कहीं भी सिर-मुण्डन आवश्यक कर्म नहीं माना है।

निर्णयसिन्धु (सन् १६१२ ई० में प्रणीत) के लेखक एवं बालंभट्टी (१८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रणीत) ने विधवा के मुण्डन की चर्चा की है और इन लोगों ने आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।३।१०।६) एवं मिताक्षरा (३।१७) की व्याख्या अपने ढंग से करके विधवा के मुण्डित रहने की बात कही है। किन्तु इनकी व्याख्या में बहुत खींचातानी है जो वास्तविकता को प्रकट करने में असमर्थ है।

उपर्युक्त विवेचन से हम निम्न निष्कर्षों तक पहुँचते हैं। विधवा के मुण्डन के विषय में कोई स्पष्ट वैदिक प्रमाण नहीं मिलता। गृह्य तथा धर्मसूत्र इसकी ओर संकेत नहीं करते; और न मनु एवं याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ ही ऐसा करती हैं। यदि दो-एक स्मृति-ग्रन्थों के श्लोक, जिनके अर्थ के विषय में कुछ सन्देह है, विधवा के मुण्डन की चर्चा करते हैं तो वृद्ध-हारीत के समान अन्य स्मृतियाँ इसका विरोध करती हैं। कुछ स्मृतियों ने केवल एक बार, पति की मृत्यु के उपरान्त, मुण्डन करने की बात चलायी है, कहीं भी किसी स्मृति ने आमरण मुण्डन कराने की चर्चा नहीं की है। मिताक्षरा एवं अपरार्क इस विषय में मौन हैं। लगता है, मुण्डन की प्रथा १०वीं या ११वीं शताब्दी से उदित हुई। कालान्तर में विधवाएँ यतियों के समान मानी जाने लगीं, और यति लोग अपना सिर मुड़ाया करते थे, अतः विधवाएँ भी वैसा करने लगीं। उन्हें इस प्रकार असुन्दर बनाकर साध्वी रखा जाने लगा। हो सकता है, बौद्ध एवं जैन साधुनियों के उदाहरणों ने भी इस क्रूर प्रथा की ओर संकेत किया हो। हमें यह बात चुल्लवर्ग से ज्ञात होती है कि बौद्ध साधुनियाँ (भिक्षुणियाँ) सिर के केश कटा डालती थीं और नारंगी के रंग (पिच्छिल) के परिधान धारण करती थीं।[६] महाराष्ट्र में कुछ दिन पूर्व ब्राह्मण विधवाएँ लाल रंग का वस्त्र धारण करती थीं (अभी आज भी कुछ पुरानी बूढ़ियाँ मिल ही जाती हैं)। यह प्रथा बहुत प्राचीन नहीं है। मदनपारिजात (१४वीं शताब्दी) को छोड़कर कोई अन्य निबन्ध स्कन्दपुराण के कथन उद्धृत नहीं करता। यह प्रथा अब समाप्ति पर है।

रामानुजाचार्य के अनुयायी श्रीवैष्णवों के तेंगलै सम्प्रदाय में शताब्दियों से विधवा का सिर-मुण्डन मना है, यद्यपि यह सम्प्रदाय अन्य बातों में बड़ा कट्टर है। शूद्रकमलाकर के कथनानुसार गौड़ देश की विधवाएँ शिखा रखती हैं।

बहुत प्राचीन काल से यह धारणा रही है कि स्त्रियों को किसी दशा में भी मारना नहीं चाहिए। शतपथ-ब्राह्मण (११।४।३।२) का कहना है—"लोग स्त्रियों की हत्या नहीं करते, बल्कि उनसे सारी वस्तुएँ छीन लेते हैं।"

६. देखिए सैक्रेड बुक्स आव दि ईस्ट (S. B. E.) जिल्द २० (विनय), पृष्ठ ३२१। जैन साधुनियाँ अपने केश कटा डालती थीं या उन्हें नोच डालती थीं, देखिए उत्तराध्ययन २२।३० (S. B. E., जिल्द ४५, पृ० ११६)।

विश्वरूप (याज्ञवल्क्य ३।२६८) ने लिखा है कि नीच जाति के साथ (गौतम २३।१४, मनु ८।३७१) व्यभिचार करने पर स्त्री को केवल राजा ही प्राण-दण्ड दे सकता है, यद्यपि ऐसा करने पर राजा को हलका प्रायश्चित्त भी करना पड़ जाता था। मनु (९।१९०) के अनुसार नारी के हत्यारे के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखना चाहिए, भले ही उसने उचित प्रायश्चित्त कर लिया हो। मनु (९।२३२) ने स्पष्ट लिखा है—"स्त्रियों, बच्चों एवं ब्राह्मणों की हत्या करने वाले को राजा की ओर से प्राण-दण्ड मिलना चाहिए।" महाभारत ने भी इस साहसपूर्ण नियम की ओर संकेत किया है। आदिपर्व (१५८।३१) कहता है—"धर्मज्ञ लोग घोषित करते हैं कि स्त्रियों की हत्या नहीं करनी चाहिए।" सभापर्व (४१-४३) में व्यवस्था है—"स्त्रियों, गायों, ब्राह्मणों तथा उसकी ओर जिसने जीविका या आश्रय दिया है, आयुध नहीं चलाना चाहिए।" शान्तिपर्व (१३५।१४) में ऐसा निर्देश आया है कि चोर भी स्त्रियों की हत्या न करें (और देखिए आदिपर्व १५५।२, २१७।४, वनपर्व २०६।४६)।[७] रामायण (बालकाण्ड) में भी यही बात गायी जाती है जब कि राम को ताड़का नामक राक्षसी के मारने के लिए प्रेरित किया गया था।

याज्ञवल्क्य (२।२८६) ने नीच जाति के साथ व्यभिचार करने पर स्त्री के लिए कान काट लेने का दण्ड बतलाया है। वृद्ध हारीत (७।१९२) ने पति एवं भ्रूण की हत्या करने पर स्त्री की नाक, कान एवं अधर काट लेने की व्यवस्था दी है। देखिए याज्ञवल्क्य २।२७८-२७९, जिसमें कुछ विशिष्ट अपराधों के लिए स्त्री को प्राण-दण्ड तक दे देने की व्यवस्था दी गयी है।

यह हमने बहुत पहले देख लिया है कि स्त्रियाँ क्रमशः उपनयन, वेदाध्ययन तथा वैदिक मन्त्रों के साथ संस्कार-सम्पादन के सारे अधिकारों से वञ्चित होती चली गयीं, और इस प्रकार वे पूर्णतः पुरुषों पर आश्रित हो गयीं। उनकी दशा, इस प्रकार, शूद्र की दशा के समान हो गयी।[८] सभी द्विजों को पवित्र होने के लिए तीन बार आचमन करना आवश्यक है। किन्तु नारी एवं शूद्र को केवल एक बार (मनु ५।१३९, याज्ञवल्क्य १।२१)। द्विजातियाँ वैदिक मन्त्रों के साथ स्नान करती थीं, किन्तु स्त्रियाँ एवं शूद्र बिना मन्त्रों के, अर्थात् मौन रूप से। शूद्र एवं स्त्रियाँ आम-श्राद्ध (बिना पके भोजन के साथ) करती थीं।[९] स्त्रियो एवं शूद्रों की हत्या पर समान दण्ड मिलता था (बौधायनधर्मसूत्र २।१।११-१२, पराशर ६।१६)। साधारणतः स्त्रियाँ, बच्चे एवं जीर्ण पुरुष साक्ष्य नहीं दे सकते थे (याज्ञवल्क्य २।७०, नारद, ऋणादान १७८, १९०, १९२), किन्तु मनु (८।६७-७०), याज्ञवल्क्य (२।७२) एवं नारद (ऋणादान १५५) ने स्त्रियों के झगड़ों में स्त्रियों को साक्ष्य देने को कह दिया है। अन्य साक्षियों के अभाव में स्त्रियाँ चोरी, व्यभिचार एवं अन्य शक्ति-सम्बन्धी अपराधों में साक्ष्य दे सकती थीं। भेट ,दान, भूमि एवं घर की बिक्री एवं बन्धक में स्त्रियों द्वारा लिखे गये कागद-पत्र साधारणतः अस्वीकृत माने जाते थे; ऐसी लिखापढ़ी बलात्कार या धोखे से की

७. अवध्या स्त्रिय इत्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये। आदिपर्व १५८।३१; स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च। यस्य चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात्प्रतिश्रयः॥ सभापर्व ४१।१३।

८. "स्त्रीशूद्राश्च सधर्माणः" इति वाक्यात्। व्यवहारमयूख, पृ० ११२; द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाभ्यासेऽधिकारिता। वदन्ति केचिद्विद्वांसः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्॥ सूतसंहिता (शूद्रकमलाकर, पृ० २३१ में उद्धृत)।

९. ब्रह्मक्षत्रविशां चैव मन्त्रवत्स्नानमिष्यते। तूष्णीमेव हि शूद्रस्य स्त्रीणां च कुरुनन्दन॥ विष्णु (स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० १८१ में उद्धृत)।

स्त्री शूद्रः श्वपचश्चैव जातकर्मणि चाप्यथ। आमश्राद्धं तथा कुर्याद्विधिना पार्वणेन तु॥ प्रचेता (स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्धप्रकरण, पृ० ४९१-९२ में उद्धृत)।

गयी लिखापढ़ी के समान मानी जाती थी (देखिए नारद, ऋणादान २६, याज्ञवल्क्य २।३१)। उन दिनों स्त्रियाँ पढ़ी लिखी कम थीं, अतः ऐसे व्यवधान वरदान ही थे। नारायण के त्रिस्थलीसेतु नामक ग्रन्थ में बृहन्नारदीय पुराण की एक उक्ति आयी है, जिससे पता चलता है कि स्त्रियाँ, जिनका उपनयन संस्कार नहीं हुआ हो, तथा शूद्र विष्णु एवं शिव की मूर्ति-स्थापना नहीं कर सकते थे (शूद्रकमलाकर पृ० ३२)।

यदि कुछ बातों में स्त्रियाँ भारी असमर्थताओं एवं अयोग्यताओं के वशीभूत मानी जाती थीं, तो कुछ विषयों में वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक अधिकार एवं स्वत्व रखती थीं। स्त्रियों की हत्या नहीं की जा सकती थी और न वे व्यभिचार में पकड़े जाने पर त्यागी ही जा सकती थीं। मार्ग में उन्हें पहले आगे निकल जाने (अग्रगमन) का अधिकार प्राप्त था। पतित की कन्या पतित नहीं मानी जाती थी, किन्तु पतित का पुत्र पतित माना जाता था (वसिष्ठ-धर्मसूत्र १३।५१-५३, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।६।१३।४, याज्ञवल्क्य ३।२६१)। एक ही प्रकार की त्रुटि के लिए पुरुष की अपेक्षा नारी को आधा ही प्रायश्चित्त करना पड़ता था (विष्णुधर्मसूत्र ५४।३३, देवल ३०, आदि)। चाहे स्त्रियों की जो अवस्था हो, उन्हें पति की अवस्था के अनुसार आदर मिलता था (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।४।१४।१८--पति-वयसः स्त्रियः)। वेदज्ञ ब्राह्मणों की भाँति सभी वर्णों की स्त्रियाँ (प्रतिलोम जातियों की स्त्रियों को छोड़कर) भी कर-मुक्त थीं (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१०।२६।१०-११)। वसिष्ठधर्मसूत्र (१९।२३) ने उन स्त्रियों को जो युवा या अभी जच्चा थीं, बिना कर वाली (अकर) माना है।[10] तीन मास की गर्भवती, वन में रहने वाले साधु लोग, संन्यासी, ब्राह्मण एवं ब्रह्मचारी घाट के कर से मुक्त थे (मनु ८।४०७ एवं विष्णु ५।१३२)। गौतम (५।२३), याज्ञवल्क्य (१।१०५) आदि के अनुसार बच्चों, पुत्रियों एवं बहिनों, जिनका विवाह हो गया हो, किन्तु अभी अपने माता-पिता तथा भाइयों के साथ हों, गर्भवती स्त्रियों, अविवाहित पुत्रियों, अतिथियों एवं नौकरों को घर के मालिक एवं मालिकिन से पहले खिलाना चाहिए। मनु (४।११४) एवं विष्णुधर्मसूत्र (६७।३९) तो कुछ और आगे बढ़ जाते हैं--"कुल की नवविवाहित लड़कियों, अविवाहित पुत्रियों, गर्भवती नारियों को अतिथियों से भी पहले खिलाना चाहिए।" उस अभियोग का विचार, जिसमें कोई स्त्री फँसी हो, या जिसकी सुनवाई रात्रि में, या गाँव के बाहर, या घर के भीतर, या शत्रुओं के समक्ष हुई हो, पुनः होना चाहिए (नारद, १।४३)। सामान्यतः स्त्रियों का अभियोग दिव्य (जल, अग्नि आदि द्वारा कठिन परीक्षा) से नहीं सिद्ध किया जाता था, चाहे वह वादी हो या प्रतिवादी हो, किन्तु यदि दिव्य अनिवार्य-सा हो जाय तो तुला-दिव्य की ही व्यवस्था थी (याज्ञवल्क्य २।९८ एवं मिताक्षरा टीका)। स्त्रीधन के उत्तराधिकार में पुत्रियों को पुत्रों की अपेक्षा प्रमुखता दी गयी थी। प्रतिकूल अधिकार-प्राप्ति में स्त्री का स्त्रीधन नहीं फँस सकता था (याज्ञवल्क्य २।२५, नारद, ऋणादान, ८२-८३)। आचार के विषय में मन्त्रणा अवश्य ली जाती थी। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।२९।१५) ने ऐसा मत प्रकाशित किया है कि सूत्रों में जो नियम न पाये जायँ उन्हें कुछ आचार्यों के कथनानुसार स्त्रियों एवं सभी वर्णों के पुरुषों से जान लेना चाहिए। आपस्तम्बगृह्यसूत्र, आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१४।८), मनु (२।२२३) एवं वैखानस स्मार्त (३।२१) के अनुसार विवाह में शिष्टाचार की जानकारी स्त्रियों से प्राप्त करनी चाहिए।

१०. बाल-वृद्ध-स्त्रीणामर्धप्रायश्चित्तम्। अपरार्क द्वारा उद्धृत। अकरःश्रोत्रियः। सर्ववर्णानां च स्त्रियः। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२६।१०-११); अकरः श्रोत्रियो राजपुमाननाथप्रव्रजितबालवृद्धतरुणप्रजाताः। वसिष्ठधर्मसूत्र (१९।२३)।

परदा की प्रथा

क्या आधुनिक काल में पायी जाने वाली परदा-प्रथा जो मुसलमानों एवं भारत के कुछ भागों में विद्यमान है, प्राचीन काल से चली आयी है? ऋग्वेद (१०।८५।३३) ने लोगों को विवाह के समय कन्या की ओर देखने को कहा है—"यह कन्या मंगलमय है, एकत्र होओ और इसे देखो, इसे आशीष देकर ही तुम लोग अपने घर जा सकते हो।" आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।८।७) के अनुसार दुलहिन को अपने घर ले आते समय दूलह को चाहिए कि वह प्रत्येक निवेश स्थान (रुकने के स्थान) पर दर्शकों को ऋग्वेद (१०।८५।३३) के उपर्युक्त मन्त्र के साथ दिखाये। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों दुलहिनों या वधुओं द्वारा अवगुण्ठन (परदा या घूँघट) नहीं धारण किया जाता था, प्रत्युत वे सबके सामने निरवगुण्ठन आती थीं। ऋग्वेद के विवाहसूक्त (१०।८५।४६) में एक स्वस्तिवचन है कि वधू अपने श्वशुर, सास, ननद, देवर आदि पर राज्य करे, किन्तु यह केवल हृदय की अभिलाषा मात्र है, क्योंकि वास्तविकता कुछ और थी। ऐतरेय ब्राह्मण (१२।११) में आया है कि वधू अपने श्वशुर से लज्जा करती है और अपने को छिपाकर चली जाती है। इससे प्रकट होता है कि गुरुजनों के समक्ष नवयुवतियों पर कुछ प्रतिबन्ध था। किन्तु गृह्य एवं धर्म–सूत्रों में इधर-उधर जनसमुदाय में घूमती हुई स्त्रियों के परदे के विषय में कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। पाणिनि (३।२।३६) ने 'असूर्यंपश्या' (जो सूर्य को भी नहीं देखती) की, जो रानियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, व्युत्पत्ति की है। इससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि रानियाँ राजप्रासादों की सीमा के बाहर जन-साधारण के समक्ष नहीं आती थीं। रामायण (अयोध्याकाण्ड ३३।८) में आया है कि आज सड़क पर चलते हुए लोग उस सीता को देख रहे हैं, जिसे पहले आकाशगामी जीव भी न देख सके थे। वहीं आगे (युद्ध० ११६।२८) फिर आया है—"विपत्ति के समय, युद्धों में, स्वयंवर में, यज्ञ में एवं विवाह में स्त्री का बाहर जनता में आना कोई अपराध नहीं है।" सभापर्व (६९।९) में द्रौपदी कहती है—"हमने सुना है, प्राचीन काल में लोग विवाहित स्त्रियों को जनसाधारण की सभा या समूह में नहीं ले जाते थे, चिर काल से चली आयी हुई प्राचीन प्रथा को कौरवों ने तोड़ दिया है।" द्रौपदी का दर्शन राजाओं ने स्वयंवर के समय किया था, उसके उपरान्त युधिष्ठिर द्वारा जुए में हार जाने पर ही लोगों ने उसे देखा।[11] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उच्च कुल की नारियाँ कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर बाहर नहीं निकलती थीं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे परदा (अवगुण्ठन) करती थीं। शल्यपर्व (२९।७४) में आया है कि कौरवों की पूर्ण हार के उपरान्त उनकी स्त्रियों को, जिन्हें सूर्य भी नहीं देख सकता था, राजधानी में आये हुए लोग देख रहे थे। और देखिए इस विषय में सभापर्व (९७।४-७), शल्यपर्व (१९।६३), स्त्रीपर्व (९।९-१०), आश्रमवासिपर्व (१५।१३)। हर्षचरित (४) में आया है कि राजकुमारी राज्यश्री, जिसे उसका भावी पति ग्रहवर्मा विवाह के पूर्व देखने आया था, अपने मुख पर सुन्दर लाल रंग का परिधान डाले थी। एक अन्य स्थान पर स्थाण्वीश्वर (थानेसर) का वर्णन करते समय बाण कहता है कि नारियाँ अवगुण्ठन डाले हुए थीं। कादम्बरी में भी बाण ने पत्रलेखा को लाल रंग के अवगुण्ठन के साथ चित्रित

११. (१) या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि। तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः।। अयोध्याकाण्ड ३३।८; व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियः।। युद्धकाण्ड ११६।२८।

(२) धर्म्याः स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम्। स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः।। सभापर्व ६९।९।

किया है। शाकुन्तल (५।१३) में दुष्यन्त की राजसभा में लायी जाती हुई शकुन्तला को अवगुण्ठन डाले चित्रित किया गया है। इससे प्रकट होता है कि उच्च कुल की नारियाँ बिना अवगुण्ठन के बाहर नहीं आती थीं, किन्तु साधारण स्त्रियों के साथ ऐसी बात नहीं थी। उत्तरी एवं पूर्वी भारत में परदा की प्रथा जो सर्वसाधारण में पायी जाती है उसका आरम्भ मुसलमानों के आगमन से हुआ। इस विषय में इण्डिएन एण्टिक्वेरी (सन् १९३३, पृ० १५) पठनीय है, जहाँ वाचस्पति की सांख्यतत्त्वकौमुदी (नवीं शताब्दी) की एक उद्धृत उक्ति से प्रकट होता है कि उच्च कुल की नारियाँ परदा करके ही बाहर निकलती थीं। और भी देखिए पाठक-स्मृतिग्रन्थ (पृष्ठ ७२), जहाँ परदा-प्रथा के प्रचलन के विषय में बौद्ध ग्रन्थों से निर्देश दिये गये हैं।

अध्याय १३

नियोग

नियोग का अर्थ है—किसी नियुक्त पुरुष के सम्भोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति के लिए पत्नी या विधवा की नियुक्ति। इस प्रथा के उद्गम एवं उपयोग के विषय में विविध मत-मतान्तर हैं। सर्वप्रथम हम इस प्रथा के समर्थक धर्मशास्त्र-ग्रन्थों की उक्तियों की जाँच करेंगे। गौतम (१८।४-१४) ने इसकी चर्चा की है; "पतिविहीन नारी यदि पुत्र की अभिलाषा रखे तो अपने देवर द्वारा प्राप्त कर सकती है। किन्तु उसे गुरुजनों से आज्ञा ले लेनी चाहिए और सम्भोग केवल ऋतुकाल में (प्रथम चार दिनों को छोड़कर) ही करना चाहिए। वह सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर या अपनी जाति वाले से ही (जब देवर न हो तो) पुत्र प्राप्त कर सकती है। कुछ लोगों के मत से यह प्रथा केवल देवर से ही संयुक्त है। वह दो से अधिक पुत्र (इस प्रथा द्वारा) नहीं प्राप्त कर सकती।"[1] गौतम (१८।११) का कहना है कि जीवित पति द्वारा प्रार्थित स्त्री जब (नियोग से) पुत्र उत्पन्न करती है तो वह उसी (पुरुष) का पुत्र होता है। गौतम (२८।३२) ऐसे पुत्र को **क्षेत्रज** और उसकी माता को **क्षेत्र** की संज्ञा देते हैं। इसी प्रकार उस स्त्री या विधवा का पति **क्षेत्री** या **क्षेत्रिक** (जिसकी वह पत्नी या विधवा होती है) तथा पुत्रोत्पत्ति के लिए नियुक्त पुरुष बीजी (जो बीज बोता है) या **नियोगी** (वसिष्ठ १७।६४, अर्थात् जो नियुक्त हो) कहलाता है।[2]

वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।५६-६५) ने लिखा है—विधया का पति या भाई (या मृत पति का भाई) गुरुओं को (जिन्होंने पढ़ाया हो या मृतात्मा के लिए यज्ञ करया हो) तथा सम्बन्धियों को एकत्र करे और उसे (विधवा को) मृत के लिए पुत्रोत्पत्ति के लिए नियोजित करे। उन्मादिनी विधवा, अपने को न सँभाल सकने वाली (दुःख के मारे), रोगी या बूढ़ी विधवा को इस कार्य के लिए नहीं नियोजित करना चाहिए। युवावस्था के ऊपर १६ वर्ष तक ही नियोग होना चाहिए। बीमार पुरुष को नहीं नियुक्त करना चाहिए। नियुक्त व्यक्ति को पति की भाँति प्रजापति वाले मंगल मुहूर्त में[3] विधवा के पास जाना चाहिए और उसके साथ न तो रतिक्रीडा करनी चाहिए, न अश्लील भाषण करना

१. अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्। गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात्। पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा। नादेव-रादित्येके। नातिद्वितीयम्॥ गौतम (१८।४-८)। हरदत्त ने 'नातिद्वितीयम्' को दूसरे ढंग से समझाया है; 'प्रथम-अपत्यमतीत्य द्वितीयं न जनयेदिति', अर्थात् एक से अधिक पुत्र नहीं उत्पन्न करना चाहिए।

२. देखिए मनु (९।३२, ३३ एवं ५३) जहाँ क्षेत्र, क्षेत्रिक, बीजी आदि का अर्थ दिया हुआ है। गौतम (१८।११) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१३।६) ने 'क्षेत्र' का प्रयोग पत्नी के लिए किया है। गौतम (४।३) में 'बीजी' शब्द आया है। मनु (९।६०-६१) ने व्यक्त किया है कि कुछ लोगों के मत से नियोग द्वारा केवल एक और कुछ लोगों के मत से दो पुत्र उत्पन्न किये जा सकते हैं।

३. प्राजापत्य मुहूर्त को ही ब्राह्ममुहूर्त कहा जाता है, अर्थात् रात्रि का अन्तिम प्रहर (सूर्योदय के पूर्व एक घण्टे [illegible], अर्थात् सूर्योदय के ४[illegible] मिनट पूर्व)। देखिए वसिष्ठ (१२।४७) एवं मनु (४।९२)।

चाहिए और न दुर्व्यवहार करना चाहिए। धन-सम्पत्ति (रिक्थ) की प्राप्ति की अभिलाषा से नियोग नहीं करना चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र (२।२।१७) के अनुसार क्षेत्रज पुत्र वही है, जो निश्चित आज्ञा के साथ विधवा से या नपुंसक या रुग्ण पति की पत्नी से उत्पन्न किया जाय। मनु (९।५९-६१) का कथन है कि पुत्रहीन विधवा अपने देवर या पति के सपिण्ड से पुत्र उत्पन्न कर सकती है, नियुक्त पुरुष को अँधेरे में ही विधवा के पास जाना चाहिए, उसके शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए और उसे एक ही (दो नहीं) पुत्र उत्पन्न करना चाहिए, किन्तु कुछ लोगों के मत से दो पुत्र उत्पन्न करने चाहिए। यही बात बौधायनधर्मसूत्र (२।२।६८-७०), याज्ञवल्क्य (१।६८-६९) एवं नारद (स्त्रीपुंस, ८०-८३) में भी पायी जाती है। कौटिल्य (१।१७) ने लिखा है कि बूढ़े एवं न अच्छे किये जाने वाले रोग से पीड़ित राजा को चाहिए कि वह अपनी रानी को नियुक्त कर किसी मातृबन्धु या अपने ही समान गुण वाले सामन्त द्वारा पुत्र उत्पन्न कराये। एक अन्य स्थान पर कौटिल्य ने पुनः कहा है कि यदि कोई ब्राह्मण बिना सन्निकट उत्तराधिकारी के मर जाय, तो किसी सगोत्र या मातृबन्धु को नियोजित कर क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करना चहिए, वह पुत्र रिक्थ प्राप्त करेगा (कौटिल्य ३।६)।

नियोग के लिए निम्नलिखित दशाएँ आवश्यक थीं—(१) जीवित या मृत पति पुत्रहीन होना चाहिए; (२) कुल के गुरुजनों द्वारा ही निर्णीत पद्धति से पति के लिए पुत्र उत्पन्न करने के लिए पत्नी को नियोजित करना चाहिए; (३) नियोजित पुरुष को पति का भाई (देवर), सपिण्ड या पति का सगोत्र (गौतम के अनुसार सप्रवर या अपनी जाति का) होना चाहिए; (४) नियोजित पुरुष एवं नियोजित विधवा में कामुकता का पूर्ण अभाव एवं कर्तव्य-ज्ञान का भार रहना चाहिए; (५) नियोजित (नियुक्त) पुरुष के शरीर पर घृत या तेल का लेप लगा रहना चाहिए, उसे न तो बोलना चाहिए, न चुम्बन करना चाहिए और न स्त्री के साथ किसी प्रकार की रतिक्रीडा में संयुक्त होना चाहिए; (६) यह सम्बन्ध केवल एक पुत्र उत्पन्न होने तक (अन्य मतों से दो पुत्र उत्पन्न होने तक) रहता है; (७) नियुक्त विधवा को अपेक्षाकृत युवा होना चाहिए, उसे बूढ़ी या वन्ध्या (बाँझ), अतीतप्रजनन-शक्ति, बीमार, इच्छाहीन या गर्भवती नहीं होना चाहिए; एवं (८) एक पुत्र की उत्पत्ति के उपरान्त दोनों को एक-दूसरे से अर्थात् नियुक्त पुरुष को श्वशुर-सा एवं नियुक्त विधवा या स्त्री को वधू-सा व्यवहार करना चाहिए (मनु ९।६२)। स्मृतियों में यह स्पष्ट आया है कि बिना गुरुजनों द्वारा नियुक्ति के या अन्य उपर्युक्त दशाओं के न रहने (यथा, यदि पति को पुत्र हो) पर यदि देवर अपनी भाभी से सम्भोग करे तो वह बलात्कार का अपराधी (अगम्यागामी) कहा जायगा (देखिए मनु ९।५८, ६३, १४३, १४४ एवं नारद-स्त्रीपुंस, ८५—८६)। इस प्रकार के सम्भोग से उत्पन्न पुत्र जारज (कुलटोत्पन्न) कहा जायगा तथा सम्पत्ति का अधिकारी नहीं होगा (नारद-स्त्रीपुंस, ८४-८५) और वह उत्पन्न करनेवाले (जनक) का पुत्र कहा जायगा (वसिष्ठधर्मसूत्र १७।६३)। नारद के मत से यदि कोई विधवा या पुरुष नियोग के नियमों के प्रतिकूल जाय तो राजा द्वारा उन दोनों को दण्ड मिलना चाहिए, नहीं तो गड़बड़ी उत्पन्न हो जायगी। इन सब नियन्त्रणों से स्पष्ट है कि धर्मसूत्रकाल में भी नियोग उतना सरल नहीं था और यह प्रथा उतनी प्रचलित नहीं थी।

जहाँ गौतम ऐसे धर्मसूत्रकारों ने नियोग को वैध ठहराया है, वहीं कतिपय अन्य धर्मसूत्रकारों ने, जो काल में गौतम के आसपास ही थे, इसे घृणास्पद मानकर वर्जित कर दिया था। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२७।५-७), बौधायनधर्मसूत्र (२।२।३८) आदि ने नियोग की भर्त्सना की है। मनु (९।६४-६८) ने नियोग का वर्णन करने के उपरान्त इसकी बुरी तरह से भर्त्सना की है। मनु ने इसे नियमविरुद्ध एवं अनैतिक ठहराया है। उन्होंने राजा वेन को इसका प्रथम प्रचालक माना है और उसे वर्ण-संकरता का जनक मानकर निन्दा की है। उन्होंने लिखा है कि भद्र एवं विज्ञ लोग नियोग की निन्दा करते हैं, किन्तु कुछ लोग अज्ञानवश इसे अपनाते हैं। मनु (९।६९-७०) ने नियोग का अर्थ यह कहकर समझाया है कि नियोग के विषय में नियम केवल उसी कन्या के लिए है, जो वधूरूप में प्रतिश्रुत हो

चुकी थी किन्तु भावी पति मर गया, ऐसी स्थिति में मृत पति के भाई को उस कन्या से विवाह करके केवल ऋतुकाल में एक बार सम्भोग तब तक करना पड़ता था जब तक कि एक पुत्र उत्पन्न न हो जाय; और वह पुत्र मृत व्यक्ति का पुत्र माना जाता था। यद्यपि मनु ने नियोग की प्राचीन प्रथा की निन्दा की है, किन्तु उत्तराधिकार एवं रिक्थ के विभाजन में क्षेत्रज पुत्र के लिए व्यवस्था रखी है (९।१२०-१२१, १४५)। बृहस्पति ने लिखा है—"मनु ने प्रथम नियोग का वर्णन करके इसे निषिद्ध किया है, इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में लोगों में तपोबल एवं ज्ञान था, अतः वे नियमों का पालन तथैव कर सकते थे, किन्तु द्वापर एवं कलियुगों में लोगों में शक्ति एवं बल का ह्रास हो गया है, अतः वे नियोग के नियमों के पालन में असमर्थ हैं।"[४] पुत्रों के अनेक प्रकारों के विषय में हम 'व्यवहार' नामक अध्याय में पढ़ेंगे।

विष्णुधर्मसूत्र (१५।३) की एक बात गौतम एवं वसिष्ठ में नहीं पायी जाती; "क्षेत्रज वह पुत्र है जो नियुक्त पत्नी या विधवा तथा पति के सपिण्ड या ब्राह्मण से उत्पन्न होता है।" महाभारत में नियोग के कतिपय उदाहरण प्राप्त होते हैं। आदिपर्व (९५ एवं १०३) है आया है कि सत्यवती ने भीष्म को उसके छोटे भाई विचित्रवीर्य (जो मृत हो चुका था) के लिए उसकी रानियों से पुत्र उत्पन्न करने को उद्वेलित किया, किन्तु भीष्म ने अंगीकार नहीं किया। अन्ततोगत्वा सत्यवती ने अपने पुत्र व्यास को नियुक्त किया और इसके फलस्वरूप धृतराष्ट्र एवं पाण्डु उत्पन्न हुए। स्वयं पाण्डु ने अपनी रानी कुन्ती को किसी तपोयुक्त ब्राह्मण से पुत्र उत्पन्न कराने को कहा। पाण्डु ने कुन्ती से नियोग की कई एक गाथाएँ कहीं हैं (आदिपर्व १२०—१२३) और निष्कर्ष निकाला है कि अधिक-से-अधिक तीन पुत्र उत्पन्न किये जा सकते हैं, किन्तु यदि चौथे या पाँचवें पुत्र की उत्पत्ति हो जाय तो स्त्री स्वैरिणी (विलासी) या बन्धकी (वेश्या) कही जायगी। आदिपर्व (६४ एवं १०४) में आया है कि परशुराम ने जब क्षत्रियों का नाश आरम्भ किया तो सहस्रों क्षत्राणियाँ ब्राह्मणों के पास पुत्रोत्पत्ति के लिए पहुँचने लगीं। अन्य उदाहरणों एवं नियोग-सम्बन्धी संकेतों के लिए देखिए आदिपर्व (१०४ एवं १७७), अनुशासनपर्व (४४।५२-५३) एवं शान्तिपर्व (७२।१२)।

स्मृतियों में नियोग सम्बन्धी नियमों के विषय में बहुत-से मत-मतान्तर हैं, अतः विश्वरूप, मेधातिथि ऐसे टीकाकारों ने अपने मत-प्रकाशन में पर्याप्त छूट रखी है। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य (१।६९) की व्याख्या करते हुए इस विषय में कई मत प्रकाशित किये हैं—(१) आज के युग में नियोग निकृष्ट है और स्मृति-विरुद्ध (मनु ९।६४ एवं ६८), (२) यह उपर्युक्त वर्णित मनु का ही मत है; (३) यह विकल्प से किया जाता है (नियोग वर्जित एवं आज्ञापित दोनों है); (४) नियोग के विषय में स्मृतियों की उक्तियाँ शूद्रों के लिए (मनु ने ९।६४ में 'द्विजाति' शब्द प्रयुक्त किया है) हैं (यह उक्ति सम्भवतः स्वयं विश्वरूप की है); यह राजाओं के लिए आज्ञापित था जब कि उत्तराधिकार के लिए कोई पुत्र नहीं होता था। विश्वरूप ने अपनी उक्तियाँ वृद्ध मनु एवं वायु की गाथा पर आधारित की हैं। विश्वरूप ने यह भी कहा है कि विचित्रवीर्य की रानियों से व्यास द्वारा उत्पन्न पुत्रों की बात द्रौपदी के पाँच पतियों के विवाह की भाँति निराधार है।

नियोग से उत्पन्न पुत्र किसका है? इस विषय में भी मतैक्य नहीं है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।६) ने स्पष्टतः इस प्रकार के विभिन्न मतों की ओर संकेत किया है; (१) प्रथम मत के अनुसार पुत्र जनक का होता था, किन्तु इस

४. उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योयं कर्तुमन्यैर्विधानतः॥ तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः। द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्विनिर्मिता॥ अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः॥ बृहस्पति (याज्ञवल्क्य १।६८-६९ की टीका में अपरार्क द्वारा तथा मनु ९।६८ की टीका में कुल्लूक द्वारा उद्धृत)।

मत से नियोग की उपयोगिता ही निरर्थक सिद्ध हो जाती है। निरुक्त (३।१-३) ने इस मत का समर्थन किया है और ऋग्वेद (७।४।७-८) को उदाहरण माना है। गौतम (१८।९) एवं मनु (९।१८१) ने भी यही बात मानी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१३।५) का कहना है कि एक ब्राह्मण-ग्रन्थ के अनुसार पुत्र जनक का ही होता है। (२) द्वितीय मत यह था कि यदि विधवा के गुरुजनों एवं नियुक्त पुरुष में यह तय पाया हो कि पुत्र पति का होगा तो पुत्र पति का ही माना जायगा (देखिए गौतम १८।१०-११, वसिष्ठ १७—८ एवं आदिपर्व १०४।६)। (३) तृतीय मत यह था कि पुत्र दोनों का अर्थात् जनक एवं विधवा के स्वामी का होता है। यह मत नारद (स्त्रीपुंस, ५८), याज्ञवल्क्य (२।१२७), मनु (९।५३) एवं गौतम (१८।१३) का है।

नियोग की प्रथा कलियुग में वर्जित मानी गयी है (बृहस्पति)। बहुत-से ग्रन्थकारों ने इसे कलियुग में निषिद्ध कर्मों में गिना है (देखिए याज्ञवल्क्य २।११७ की व्याख्या में मिताक्षरा एवं ब्रह्मपुराण, अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० ९७)।

पति के भाई से विधवा का विवाह तथा उससे पुत्रोत्पत्ति एक अति विस्तृत प्रथा रही है (देखिए वेस्टरमार्क की पुस्तक 'हिस्ट्री आव ह्यूमन मैरेज, १९२१, जिल्द ३, पृ० २०६-२२०)। ऋग्वेद (१०।४०।२) में हम पढ़ते हैं—"तुम्हें, हे आश्विनौ, यज्ञ करनेवाला अपने घर में वैसे ही पुकार रहा है, जिस प्रकार विधवा अपने देवर को पुकारती है या युवती अपने प्रेमी का आह्वान करती है।" किन्तु इससे यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि यह उक्ति विधवा तथा उसके देवर के विवाह की ओर या नियोग की ओर संकेत करती है। निरुक्त (३।१५) की कुछ प्रतियों में ऋग्वेद की इस ऋचा में 'देवर' का अर्थ "द्वितीय वर" लगाया गया है। मेधातिथि (मनु ९।६६) ने इसकी व्याख्या नियोग के अर्थ में की है। सूत्रों एवं स्मृतियों के अनुसार नियोग एवं विवाह में अन्तर है। बहुत से प्राचीन समाजों में स्त्रियाँ सम्पत्ति के समान वसीयत के रूप में प्राप्त होती थीं। प्राचीन काल में बड़े भाई की मृत्यु पर छोटा भाई उसकी सम्पत्ति एवं विधवा पर अधिकार कर लेता था। किन्तु ऋग्वेद का काल इस प्रथा के बहुत ऊपर उठ चुका था। मैक्लेन्नान के अनुसार नियोग की प्रथा के मूल में बहु-भर्तृकता पायी जाती है। किन्तु वेस्टरमार्क ने इस मत का खण्डन किया है, जो ठीक ही है। जब सूत्रों में नियोग की प्रथा मान्य थी, तब बहु-भर्तृकता या तो विस्मृत हो चुकी थी या वर्जित थी। जॉली का यह कथन कि गौण पुत्रों के मूल में आर्थिक कारण थे, निराधार है। नियोग की प्रथा प्राचीन थी और उसके कई कारण थे, किन्तु वे सभी अज्ञात एवं रहस्यात्मक हैं, केवल एक ही सत्यता स्पष्ट है—वैदिक काल से ही पुत्रोत्पत्ति पर बहुत ध्यान दिया गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।१-६) ने यह मत माना है और वैदिक उक्तियों के आधार पर पितृऋण से मुक्त होने के लिए पुत्रोत्पत्ति की एवं स्वर्गिक लोकों की प्राप्ति की महत्ता प्रकट की है। किसी भी ऋषि ने इसके पीछे आर्थिक कारण नहीं रखा है। यदि आर्थिक कारणों से गौण पुत्र प्राप्त किये जायँ तो एक व्यक्ति बहुत-से पुत्र प्राप्त कर लेगा। किन्तु धर्मशास्त्रकारों ने इसकी आज्ञा नहीं दी है। जिसे औरस पुत्र होता था वह क्षेत्रज अथवा दत्तक पुत्र नहीं प्राप्त कर सकता था। अतः स्पष्ट है कि नियोग के पीछे आर्थिक कारण नहीं थे। विन्तरनित्स (जे० आर० ए० एस०, १८९७, पृ० ७५८) ने नियोग के कारणों में दरिद्रता, स्त्रियों का अभाव एवं संयुक्त परिवार माना है। किन्तु इसके विषय में कि ऐतिहासिक काल में भारत में स्त्रियों का अभाव था, कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। हाँ, युद्धों के कारण पुरुषों का अभाव अवश्य रहा होगा। और न अन्य कारण, यथा दारिद्रय तथा संयुक्त परिवार, ही विश्लेषण से ठहर पाते हैं। यही कहना उत्तम जँचता है कि नियोग अति अतीत प्राचीन प्रथा का अवशेष मात्र था जो क्रमशः विलीन होता हुआ ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में भारत में सदा के लिए वर्जित हो गया।

अध्याय १४

विधवा-विवाह, विवाहविच्छेद (तलाक)

विधवा का पुनर्विवाह

'पुनर्भू' शब्द उस विधवा के लिए प्रयुक्त होता है, जिसने पुनर्विवाह किया हो। नारद (स्त्रीपुंस, ४५) के अनुसार सात प्रकार की पत्नियाँ होती हैं जो पहले किसी व्यक्ति से विवाहित (परपूर्वा) हो चुकी रहती हैं; उनमें पुनर्भू के तीन प्रकार होते हैं और स्वैरिणी के चार प्रकार होते हैं। तीन पुनर्भू हैं—(१) वह, जिसका विवाह में पाणिग्रहण हो चुका हो किन्तु समागम न हुआ हो; इसके विषय में विवाह एक बार पुनः होता है; (२) वह स्त्री, जो पहले अपने पति के साथ रहकर उसे छोड़ दे और अन्य भर्ता कर ले किन्तु पुनः अपने मौलिक पति के यहाँ चली आये; (३) वह स्त्री, जो अपने पति की मृत्यु के उपरान्त उसके सम्बन्धियों द्वारा, देवर के न रहने पर, किसी सपिण्ड को या उसी जाति वाले किसी को दे दी जाय (यह नियोग है, जिसमें कोई धार्मिक कृत्य नहीं किया जाता है)। चार स्वैरिणी ये हैं—(१) वह स्त्री, जो पुत्रहीन या पुत्रवती होने पर अपने पति की जीवितावस्था में प्रेमवश किसी अन्य पुरुष के यहाँ चली जाय; (२) वह स्त्री, जो अपने मृत पति के भाइयों तथा अन्य लोगों को न चाहकर किसी अन्य के प्रेम में फँस जाय; (३) वह स्त्री, जो विदेश से आकर या क्रीत होकर भूख-प्यास से व्याकुल होकर किसी व्यक्ति की शरण में आकर कह दे 'मैं तुम्हारी हूँ'; (४) वह स्त्री, जो किसी अजनबी को देशाचार के कारण अपने गुरुजनों द्वारा सुपुर्द कर दी जाय, किन्तु स्वैरिणी हो जाने का अपराध करे (जब कि उनके द्वारा या उस (स्त्री) के द्वारा नियोग के विषय में स्मृतियों के नियम न पालित हों)। नारद के अनुसार उपर्युक्त दोनों प्रकारों में सभी क्रमानुसार निकृष्ट कहे जाते हैं। याज्ञवल्क्य (१।६७) इतने बड़े विस्तार में नहीं पड़ते, वे पुनर्भू को दो भागों में बाँटते हैं; (१) वह, जिसका पति से अभी समागम न आ हो, तथा (२) वह, जो समागम कर चुकी हो; इन दोनों का विवाह पुनः होता है (पुनर्भू वह है, जो पुनः संस्कृता हो)। याज्ञवल्क्य ने स्वैरिणी उसको माना है जो अपने विवाहित पति को छोड़कर किसी अन्य पुरुष के प्रेम में फँसकर उसी के साथ रहती है। द्वितीय पति या द्वितीय विवाह से उत्पन्न पुत्र को "पौनर्भव" (क्रम से पति या पुत्र, यथा पौनर्भव-पति या पौनर्भव-पुत्र) की संज्ञा दी जाती है (देखिए संस्कारप्रकाश, पृ० ७४०-७४१)। कश्यप के अनुसार पुनर्भू के सात प्रकार हैं—(१) वह कन्या, जो विवाह के लिए प्रतिश्रुत हो चुकी हो, (२) वह, जो मन से दी जा चुकी हो, (३) वह, जिसकी कलाई में वर द्वारा कंगन बाँध दिया गया हो, (४) वह, जिसका जल के साथ (पिता द्वारा) दान हो चुका हो, (५) वह, जिसका वर द्वारा पाणिग्रहण हो चुका हो, (६) वह, जिसने अग्नि-प्रदक्षिणा कर ली हो तथा (७) जिसे विवाहोपरान्त बच्चा हो चुका हो।[1] इनमें प्रथम पाँच प्रकारों से हमें यह समझना चाहिए कि वर या तो मर गया या उसने आगे की वैवाहिक क्रिया नहीं की और लौट गया। इन लड़कियों को भी, इनका

१. वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमंगला। उदकस्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका॥ अग्निं परिगता या च पुनर्भूः प्रसवा च या। इत्येताः काश्यपेनोक्ता दहन्ति कुलमग्निवत्॥ कश्यप (स्मृतिचन्द्रिका, १, ७५ में उद्धृत)।

पुनर्विवाह हो जाने पर, पुनर्भू कहा जाता है, यद्यपि इनका प्रथम विवाह विवाह नहीं था, क्योंकि उसमें सप्तपदी नहीं सम्पादित हुई थी। छठे प्रकार में अग्नि-प्रदक्षिणा के कारण विवाह हो जाने की गन्ध मिलती है। बौधायन द्वारा उपस्थापित प्रकारों में थोड़ी-सी विभिन्नता है। प्रथम दो कश्यप के प्रकार-जैसे हैं, अन्य प्रकार हैं—(३) वह, जो (वर के साथ) अग्नि के चतुर्दिक् घूम गयी है, (४) वह, जिसने सप्तपदी समाप्त कर ली है, (५) वह, जिसने सम्भोग कर लिया हो (चाहे विवाहोपरान्त या बिना विवाह के ही), (६) वह, जो गर्भवती हो चुकी हो तथा (७) वह, जिसे बच्चा उत्पन्न हो गया हो।[2] वेद में प्रयुक्त 'पुनर्भू' का अर्थ करते समय उपर्युक्त अर्थों का स्मरण रखना चाहिए। शतपथब्राह्मण (४।१।५।९) में सुकन्या की कथा स्पष्ट है—वह केवल च्यवन को दे दी गयी थी, अभी उसका औपचारिक ढंग से विवाह नहीं हुआ था, किन्तु उसने अपने को च्यवन की पत्नी मान लिया था। मनु (९।६९-७०) ने नियोग के नियमों को केवल उस कन्या तक सीमित माना है जो केवल वाग्दत्ता मात्र थी; किन्तु वसिष्ठधर्मसूत्र (२७।७२) ने वाग्दत्ता एवं उदकस्पर्शिता (जो मन से जल-स्पर्श करके दी जा चुकी हो) को वेदमन्त्रोच्चारण के पूर्व अभी कुमारी ही माना है। वसिष्ठधर्मसूत्र (२७।७४) ने बौधायन के चौथे प्रकार की ओर संकेत किया है। याज्ञवल्क्य (१।६७) जब अक्षता के बारे में लिखते हैं तो कश्यप के सभी छः प्रकारों की ओर संकेत करते हैं या बौधायन के प्रथम चार प्रकारों की ओर निर्देश करते हैं, किन्तु जब वे क्षता की बात करते हैं तो कश्यप के सातवें एवं बौधायन के अन्तिम तीन प्रकारों की ओर निर्देश करते हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।१९-२०) ने पौनर्भव को उस स्त्री का पुत्र कहा है, जो अपनी युवावस्था के पति को त्याग कर किसी अन्य का साथ करती है और पुनः पति के घर आकर रहने लगती है, या जो अपने नपुंसक, जातिच्युत या पागल पति को त्याग कर या अपने पति की मृत्यु पर दूसरा पति कर लेती है। बौधायनधर्मसूत्र (२।२।३१) ने पौनर्भव पुत्र को उस स्त्री का पुत्र माना है, जो अपने नपुंसक या जातिच्युत पति को छोड़कर अन्य पति करती है। नारद (स्त्रीपुंस, ९७), पराशर (४।३०) एवं अग्निपुराण (१५४।५-६) में एक ही श्लोक आया है, यथा "नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥" नारद (स्त्रीपुंस प्रकरण ९७)। इसका अर्थ है—"पाँच विपत्तियों में स्त्रियों के लिए द्वितीय पति आज्ञापित है; जब पति नष्ट हो जाय (उसके विषय में कुछ सुनाई न पड़े), मर जाय, संन्यासी हो जाय, नपुंसक हो या पतित हो।" इस श्लोक को लेकर बहुत वाद-विवाद चलता रहा है। पराशरमाधवीय (२, भाग १, पृ० ५३) ने सबसे सरल मत यह दिया है कि यह बात या स्थिति किसी अन्य युग के समाज की है, इसका कलियुग में कोई उपयोग नहीं है। अन्य लोगों ने, यथा मेधातिथि (मनु ५।१५७) ने लिखा है कि 'पति' शब्द का अर्थ केवल 'पालक' है। मेधातिथि (मनु ३।१० एवं ५।१६३) नियोग के विरोधी नहीं हैं, किन्तु वे विधवा के पुनर्विवाह के कट्टर विरोधी हैं। स्मृत्यर्थसार (लगभग ११५० ई० से १२०० ई० तक) ने कई मत प्रकाशित किये हैं, यथा—(१) कुछ लोगों के मत से यदि सप्तपदी के पूर्व ही वर मर जाय तो कन्या का विवाह पुनः हो जाना चाहिए, (२) अन्यों का कहना है कि समागम (सम्भोग हो जाने के) के पूर्व यदि पति मर जाय तो पुनर्विवाह हो जाना चाहिए, (३) कुछ लोगों के मत से यदि विवाहोपरान्त कन्या के रजस्वला होने के पूर्व पति मर जाय तो पुनर्विवाह हो जाना चाहिए तथा (४) कुछ अन्य लोगों के अनुसार गर्भ ठहरने के पूर्व पुनर्विवाह आज्ञापित है।

२. वाग्दत्ता मनोदत्ता अग्नि परिगता सप्तमं पदं नीता भुक्ता गृहीतगर्भा प्रसूता चेति सप्तविधा पुनर्भूर्भवति। अतस्तां गृहीत्वा न प्रजां धर्मं च विन्देत॥ बौधायन (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ७५ तथा संस्कारप्रकाश, पृ० ७३५ में उद्धृत)।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१३।३-४) ने पुनर्विवाह की भर्त्सना की है—"यदि कोई पुरुष उस स्त्री से, जिसका कोई पति रह चुका हो, या जिसका विवाह-संस्कार न हुआ हो, या जो दूसरे वर्ण की हो, सम्भोग करता है तो पाप का भागी होता है, और उसका पुत्र भी पाप का भागी कहा जायगा।" हरदत्त ने मनु (३।१७४) की व्याख्या में लिखा है कि दूसरे की पत्नी से, जिसका पति जीवित हो, उत्पन्न किया हुआ पुत्र 'कुण्ड' तथा उससे, जिसका पति मर गया हो, उत्पन्न किया हुआ पुत्र 'गोलक' कहलाता है। मनु (४।१६२) ने विधवा के पुनर्विवाह का विरोध किया है—"सदाचारी नारियों के लिए दूसरे पति की घोषणा कहीं नहीं हुई है"; यही बात विभिन्न ढंगों से उन्होंने कई बार कही है।[3] ब्रह्मपुराण ने कलियुग में विधवा-विवाह निषिद्ध माना है। संस्कारप्रकाश ने कात्यायन का मत प्रकाशित किया है कि उन्होंने सगोत्र में विवाहित विधवा के पुनर्विवाह की बात चलायी है, किन्तु अब यह मत कलियुग में अमान्य है। यही बात सभी निबन्धों में पायी जाती है। मनु (९।१७६) ने उस कन्या के पुनर्विवाह के संस्कार की बात उठायी है, जिसका अभी समागम न हुआ हो, या जो अपनी युवावस्था का पति छोड़कर अन्य के साथ रहकर पुनः अपने वास्तविक पति के यहाँ आ गयी हो। यहाँ मनु ने अपने समय की रूढ़िगत परम्परा की ओर संकेत मात्र किया है, वास्तव में जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, वे विधवा के पुनर्विवाह के घोर विरोधी थे। स्पष्ट है, मनु ने पुनर्विवाह में मन्त्रों के प्रयोग का विरोध नहीं किया है, प्रत्युत मन्त्रों से अभिषिक्त पुनर्विवाह को अधर्म ही माना है। महाभारत में आया है कि दीर्घतमा ने पुनर्विवाह एवं नियोग वर्जित कर दिया है (आदिपर्व १०४। ३४-३७)। मनु (९।१७२-१७३) ने स्वयं गर्भवती कन्या के संस्कार की बात चलायी है। बौधायनधर्मसूत्र (४।१।१८), वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।७४), याज्ञवल्क्य (१।६७) ने पुनर्विवाह के संस्कार (पौनर्भव संस्कार) की बात कही है। मनु (३।१५५) एवं याज्ञवल्क्य (१।२२२) ने श्राद्ध में न बुलाये जाने वाले ब्राह्मणों में पौनर्भव (पुनर्भू के पुत्र) को भी गिना है। अपरार्क (पृ० ९७) द्वारा उद्धृत ब्रह्मपुराण में यह आया है कि बालविधवा, या जो बलवश त्याग दी गयी हो, या किसी के द्वारा अपहृत हो चुकी हो, उसके विवाह का नया संस्कार हो सकता है।[4]

बहुत-सी स्मृतियों ने उस पत्नी के लिए, जिसका पति बहुत वर्षों के लिए बाहर गया हुआ हो, कुछ नियम बनाये हैं। नारद (स्त्रीपुंस, ९८-१०१) ने ये आदेश दिये हैं—"यदि पति विदेश गया हो तो ब्राह्मण पत्नी को आठ वर्षों तक जोहना चाहिए, किन्तु केवल चार ही वर्षों तक जोहना चाहिए जब कि उसे बच्चा न उत्पन्न हुआ हो, उसके उपरान्त (८ या ४ वर्षों के उपरान्त) वह दूसरा विवाह कर सकती है (नारद ने क्षत्रिय और वैश्य पत्नियों के लिए कम वर्ष निर्धारित किये हैं); यदि पति जीवित है तो दूने वर्षों तक जोहना चाहिए; प्रजापति का मत यह है कि यदि पति का कोई पता न हो तो दूसरा पति करने में कोई पाप नहीं है।" मनु (९।७६) का कहना है—"यदि पुरुष धार्मिक कर्तव्य को लेकर विदेश गया हो तो पत्नी को आठ वर्षों तक, यदि ज्ञान या यश की प्राप्ति के लिए गया हो तो छः वर्षों तक, यदि प्रेम के वश होकर (दूसरी स्त्री के फेर में) गया हो तो तीन वर्षों तक जोहना चाहिए।" मनु ने यह नहीं बताया कि उपर्युक्त

३. न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद् भर्तोपदिश्यते। मनु ५।१६२; न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः। मनु ९।६५; सकृत्कन्या प्रदीयते। मनु ९।४७; पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। मनु ८।२२६। देखिए आश्वलायनगृह्यसूत्र १।७।१३; आपस्तम्बमन्त्रपाठ १।५।७—'अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत' आदि, जहाँ केवल 'कन्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

४. यदि सा बालविधवा बलात्त्यक्ताथवा क्वचित्। तदा भूयस्तु संस्कार्या गृहीता येन केनचित्॥ ब्रह्मपुराण (अपरार्क पृ० ९७ में उद्धृत)।

अवधियों के उपरान्त पत्नी को क्या करना चाहिए। वसिष्ठ (१७।७५-७६) ने बताया है कि यदि पति बाहर चला गया हो तो पाँच वर्षों तक बाट देखकर उसे पति के पास चला जाना चाहिए। यह तो ठीक है, किन्तु यदि पति का कोई पता-ठिकाना न ज्ञात हो तब उस बेचारी पत्नी को क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में वसिष्ठ मौन हैं। विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।६९) ने लिखा है कि विदेश गये हुए पति को नियमानुसार नियत समय तक जोहकर नियोग को नहीं अपनाते हुए उसे पति के पास चला जाना चाहिए। कौटिल्य (३।४) ने मनोहर नियम दिये हैं—"विदेश गये हुए, या संन्यासी, या मरे हुए पति की पत्नी को सात ऋतुमास तक जोहकर, अथवा यदि उसे एक बच्चा हो, तो साल भर तक जोहकर अपने पति के सगे भाई से विवाह कर लेना चाहिए। यदि कई भाई हों तो उसे अपने पति की सन्निकट अवस्था वाले भाई से, जो सदाचारी हो, उसका भरण-पोषण कर सके या वह जो सबसे छोटा हो या अविवाहित हो, उससे विवाह करना चाहिए। यदि कोई भाई न हो तो वह अपने पति के सपिण्ड से या उसी जाति के किसी से भी विवाह कर सकती है।" दमयन्ती की गाथा यह स्पष्ट करती है कि जब पति का वर्षों पता न चले तो पत्नी पुनर्विवाह सम्पादित कर सकती है (वनपर्व ७०।२४)।

एक प्रश्न उठता है—जब विधवा पुनर्विवाह करे तो उसका गोत्र क्या होगा ? (उसके पिता का अथवा प्रथम पति का ?) इस विषय में प्राचीन स्मृतियों एवं टीकाओं में कोई संकेत नहीं मिलता।[5] विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।६३) 'कन्याप्रद' की व्याख्या में लिखते हैं कि कुछ लोगों के मत से पिता कन्या का, यदि वह अक्षतयोनि न हो तब भी, दान करता है। इससे स्पष्ट होता है कि विधवा के पुनर्विवाह में पिता का गोत्र ही देखा जाता है। यही मत विद्यासागर का, जिसका डा० बनर्जी ने अनुसरण किया है, भी है।[6]

विधवा के पुनर्विवाह के विषय में अथर्ववेद की कुछ उक्तियाँ भी विचारणीय हैं। अथर्ववेद (५।१७।८-९) में आया है—"यदि कोई स्त्री पहले दस अब्राह्मण पति करे, किन्तु अन्त में यदि वह ब्राह्मण से विवाह करे, तो वह उसका वास्तविक पति है। केवल ब्राह्मण ही (वास्तविक) पति है, न कि क्षत्रिय या वैश्य; यह बात सूर्य पंच मानवों (पंच वर्गों या पंच प्रकार के मनुष्य गणों में) में घोषित करता चलता है।"[7] इसका तात्पर्य यह है कि यदि स्त्री को प्रथम क्षत्रिय या वैश्य पति हो, तो यदि वह उसकी मृत्यु के उपरान्त किसी ब्राह्मण से विवाह करती है तो वही उसका वास्तविक पति कहा जायगा। अथर्ववेद (९।५।२७-२८) में पुनः आया है—"यदि कोई स्त्री एक पति से विवाह करने के उपरान्त दूसरे से विवाहित होती है, यदि वे (दोनों) एक बकरी और भात की पाँच थालियाँ देते हैं तो वे दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं होंगे। दूसरा पति अपनी पुनर्विवाहित पत्नी के साथ वही लोक प्राप्त करता है, यदि वह पाँच भात की थालियों के साथ एक बकरी देता है, तथा दक्षिणा ज्योति (शुल्क का दीपप्रकाश) प्रदान करता है।" यहाँ पर भी पुनर्भू शब्द प्रयुक्त हुआ है। हो सकता है कि यहाँ मनोदत्ता कन्या के ही पुनर्विवाह की चर्चा हो। चाहे जो हो, यह स्पष्ट लक्षित होता है कि इस प्रकार का विवाह तब तक अच्छा नहीं गिना जाता था जब तक कि कन्या का पाप या लोकापवाद यज्ञ

५. डा० बनर्जी, 'मैरेज एण्ड स्त्रीधन' (५वाँ संस्करण, पृ० ३०९)।

६. कन्याप्रद इति वचनादक्षताया एव नैयमिकं दानम्। पिता त्वकन्यामपि दद्यादिति केचित्। विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।६३)।

७. उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा॥ ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः। तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ अथर्ववेद ५।१७।८-९। 'उत' शब्द का अर्थ निरुक्त ने 'अपि' लगाया है, विशेषतः जब यह पाद या श्लोक के आरम्भ में आता है।

से दूर न कर दिया जाय। अन्य उक्तियों की चर्चा आगे होगी। इतना स्पष्ट है कि अथर्ववेद के मत में विधवा का पुनर्विवाह निषिद्ध एवं वर्जित नहीं माना जाता था। तैत्तिरीय संहिता (३।२।४।४) में 'दैधिषव्य' (विधवापुत्र) शब्द आया है। गृह्यसूत्र विधवा-पुनर्विवाह के विषय में मौन हैं। लगता है, तब तक वह विवाह वर्जित सा हो चुका था, केवल यत्र-तत्र ऐसी घटनाएं घट जाया करती थीं। ब्राह्मणों एवं उनके समान अन्य जातियों में सम्मान के विचार से विधवा-विवाह शताब्दियों से वर्जित रहा है। प्राचीनतम ऐतिहासिक उदाहरणों में रामगुप्त की रानी ध्रुवदेवी का (पति की मृत्यु के उपरान्त) अपने देवर चन्द्रगुप्त से विवाह अति प्रसिद्ध रहा है। शूद्रों एवं अन्य नीची जातियों में विधवा-पुनर्विवाह सदा से परम्परागत एवं नियमानुमोदित रहा है, यद्यपि उनमें भी कुमारी कन्या के विवाह से यह विवाह अपेक्षाकृत अनुत्तम माना जाता रहा है। कुछ जातियों के ऐसे विवाह पंचायत से तय होते हैं।

ऋग्वेद एवं अथर्ववेद की कुछ उक्तियों से कई विवाद खड़े हो गये हैं, यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि नियोग, विधवा-पुनर्विवाह या विधवा-अग्निप्रवेश में किस की ओर उनका संकेत है। ऋग्वेद की अन्त्येष्टि क्रिया-सम्बन्धी ये दो उक्तियाँ हैं (ऋग्वेद १०।१८।७-८)— "ये स्त्रियाँ, जो विधवा नहीं हैं, जिनके अच्छे पति हैं, अंजन के रूप में प्रयुक्त घृत के साथ बैठ जायें, वे पत्नियाँ, जो अश्रुविहीन हैं, रोगविहीन हैं, अच्छे परिधान धारण किये हुए हैं, यहाँ सम्मुख (सबसे पहले) बैठ जायें। हे स्त्री, तुम जीवित लोक की ओर उठो, तुम इस मृत (पति) के पास लेट जाओ, आओ, तुम्हारा पत्नीत्व उस पति से जिसने तुम्हारा हाथ पकड़ा और तुम्हें प्यार किया, सफल हो गया।" यह विचित्र बात है कि सायण ने उपर्युक्त उक्ति की अन्तिम अर्धर्च (अर्धाली) में मृत पति के भाई द्वारा उसकी पत्नी को विवाह के लिए निमन्त्रण देना समझा है। किन्तु सायण का यह अर्थ खींचातानी मात्र है और इससे 'हस्तग्राभस्य', 'पत्युः' एवं 'बभूथ' के वास्तविक अर्थ पर प्रकाश नहीं पड़ता।

विवाहविच्छेद (तलाक)

वैदिक साहित्य में कुछ ऐसी उक्तियाँ हैं, जिन्हें हम विधवा-पुनर्विवाह के अर्थ में ले सकते हैं। 'पुनर्भू' शब्द से पर्याप्त प्रकाश मिलता है। किन्तु विवाह-विच्छेद या तलाक के विषय में वहाँ कुछ भी प्राप्य नहीं है और पश्चात्कालीन वैदिक साहित्य में भी हमें कुछ विशेष प्रकाश नहीं मिल पाता। धर्मशास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि होम एवं सप्तपदी के उपरान्त विवाह का विच्छेद नहीं हो सकता। मनु (९।१०१) ने लिखा है—"पति-पत्नी की पारस्परिक निष्ठा आमरण चलती जाय, यही पति एवं पत्नी का परम धर्म है।" मनु ने एक स्थान (९।४६) पर और कहा है—"न तो विक्रय से और न भाग जाने से पत्नी का पति से छुटकारा हो सकता है; हम समझते हैं यह नियम पुरातन काल में सृष्टिकर्ता ने बनाया है।" धर्मशास्त्रकारों का कथन है कि विवाह एक संस्कार है, पत्नीत्व की स्थिति का उद्भव उसी संस्कार से होता है, यदि पति या पत्नी पतित हो जाय, तो संस्कार की परिसमाप्ति नहीं हो जाती, यदि पत्नी व्यभिचारिणी हो जाय तो भी वह पत्नी है, और प्रायश्चित्त कर लेने के उपरान्त उसे विवाह का संस्कार पुनः नहीं करना पड़ता (विश्वरूप, याज्ञवल्क्य ३।२५३-२५४ पर)। हमने देख लिया है कि पुरुष एक पत्नी के रहते दूसरा या कई विवाह कर सकता है, और कुछ स्थितियों में अपनी स्त्री को छोड़ सकता है। किन्तु यह विवाह-विच्छेद या तलाक नहीं है, यहाँ अब भी विवाह का बन्धन अपने स्थान पर दृढ ही है। हमने यह देख लिया है कि नारद, पराशर एवं अन्य धर्मशास्त्रकारों की अनुमति से एक स्त्री कुछ स्थितियों में, यथा पति के मृत हो जाने, गुम हो जाने आदि से, पुनर्विवाह कर सकती थी, किन्तु निबन्धों एवं टीकाकारों ने इसे पूर्व युग की बात कहकर टाल दिया है। अतः विवाह-विच्छेद की बात धर्मशास्त्रों एवं हिन्दू समाज में लगभग दो सहस्र वर्षों से अनसुनी-सी रही है, हाँ, परम्परा के अनुसार यह बात नीची जातियों में प्रचलित रही है। यदि पति उसे उसकी त्रुटियों के कारण छोड़ दे तो भी पत्नी भरण-पोषण की अधिकारी मानी जाती

रही है। अतः इस प्रकार का त्याग विवाह-विच्छेद का द्योतक नहीं रहा है। पश्चात्कालीन स्मृतियों एवं निबन्धों में नारद को छोड़कर कोई यह बात सोच ही नहीं सकता था कि पत्नी अपने पति का त्याग कर सकती है। नारद ने अवश्य कहा है कि नपुंसक, संन्यासी एवं जातिच्युत पति को पत्नी छोड़ सकती है। याज्ञवल्क्य (१।७७) की टीका में मिताक्षरा का कहना है कि जब पति पतित (जातिच्युत) हो पत्नी उसके नियन्त्रण के बाहर रहती है, किन्तु उसे तब तक जोहते रहना चाहिए जब तक कि वह प्रायश्चित्त द्वारा पुनः पवित्र न हो जाय एवं जाति में न ले लिया जाय; और इसके उपरान्त वह पुनः उसके नियन्त्रण में चली जाती है। बड़े से बड़ा पाप प्रायश्चित्त से कट जाता है, अतः पत्नी अपने पति को सदा के लिए नहीं छोड़ सकती (मनु १०।८९, ९२, १०१, १०५-१९६)। केवल त्याग या वर्षों तक बाहर रहने या व्यभिचार से हिन्दू विवाह की इतिश्री नहीं हो जाती।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (३।३) में कुछ ऐसे मनोरंजक नियम हैं जो विवाह-विच्छेद पर कुछ प्रकाश डालते हैं—"यदि पति नहीं चाहता तो पत्नी को छुटकारा नहीं मिल सकता, इसी प्रकार यदि पत्नी नहीं चाहती तो पति को छुटकारा नहीं प्राप्त हो सकता; किन्तु यदि दोनों में पारस्परिक विद्वेष है तो छुटकारा सम्भव है। यदि पति पत्नी से डरकर उससे पृथक् होना चाहता है तो उसे (पत्नी को) विवाह के समय जो कुछ प्राप्त हुआ था उसे दे देने से पति को छुटकारा मिल सकता है। यदि पत्नी पति से डरकर उससे पृथक् होना चाहती है तो पति-पत्नी के विवाह के समय जो कुछ प्राप्त हुआ था, उसे नहीं लौटायेगा। अंगीकृत रूप में (धर्म्य) विवाह का विच्छेद नहीं होता।" कौटिल्य (३।२) ने लिखा है कि विवाह के ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष एवं दैव नामक चार प्रकार धर्म्य हैं, क्योंकि ये पिता के प्रमाण द्वारा स्वीकृत अथवा किये जाते हैं। अतः इन चारों प्रकार के विवाहों का विच्छेद, कौटिल्य के मत से, सम्भव नहीं है। किन्तु यदि विवाह गान्धर्व, आसुर एवं राक्षस प्रकार के रहे हैं, तो विद्वेष उत्पन्न हो जाने पर एक-दूसरे की सम्मति से उनमें विच्छेद हो सकता है। किन्तु कौटिल्य के कथन से इतना स्पष्ट है कि यदि एक (पति या पत्नी) विच्छेद नहीं चाहता तो दूसरे को छुटकारा नहीं प्राप्त हो सकता, किन्तु यदि शरीर पर किसी प्रकार का डर या खतरा उत्पन्न हो जाय तो अपवाद रूप से दोनों पक्षों का छुटकारा सम्भव है।

अध्याय १५

सती-प्रथा

आजकल भारत में सती होना अपराध है, किन्तु लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व (सन् १८२९ के पूर्व) इस देश में विधवाओं का सती हो जाना एक धर्म था। विधवाओं का सती, अर्थात् पति की चिता पर जलकर भस्म हो जाना केवल ब्राह्मण धर्म में ही नहीं पाया गया है, प्रत्युत यह प्रथा मानव-समाज की प्राचीनतम धार्मिक धारणाओं एवं अन्ध-विश्वासपूर्ण कृत्यों में समाविष्ट रही है। सती होने की प्रथा प्राचीन यूनानियों, जर्मनों, स्लावों एवं अन्य जातियों में भी पायी गयी है (देखिए डाई फ्रौ, पृ० ५६, ८२-८३ एवं श्चैडर का ग्रन्थ 'प्रीहिस्टारिक एण्टीक्वीरिज आव दि आर्यन् पीपुल', अंग्रेजी अनुवाद, १८९०, पृ० ३९१ एवं वेस्टरमार्क की पुस्तक 'आरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव मॉरल आइ-डियाज', १९०६, जिल्द १, पृ० ४७२-४७६)। किन्तु इसका प्रचलन बहुधा राजघरानों एवं भद्र लोगों में ही रहा है।

वैदिक साहित्य में सती होने के विषय में न तो कोई निर्देश मिलता है और न कोई मन्त्र ही प्राप्त होते हैं। गृह्य-सूत्रों ने भी इसके विषय में कोई विधि नहीं प्रस्तुत की है। लगता है कि ईसा की कुछ शताब्दियों पहले यह प्रथा ब्राह्मण-वादी भारत में प्रचलित हुई। यह प्रथा यहीं उत्पन्न हुई, या किसी अभारतीय जाति से ली गयी, इस विषय में प्रमाण-युक्त उक्ति देना कठिन है। विष्णुधर्मसूत्र को छोड़कर किसी अन्य धर्मसूत्र ने भी सती होने के विषय में कोई निर्देश नहीं किया है। मनुस्मृति इसके विषय में सर्वथा मौन है। स्ट्रैबो (१५।१।३० एवं ६२) में आया है कि "अलेक्जैण्डर के साथ यूनानियों ने पंजाब के कठाइयों (कठों) में सती प्रथा देखी थी; उन्होंने यह भी व्यक्त किया है कि यह प्रथा इस डर से उभरी कि पत्नियाँ अपने पतियों को छोड़ देंगी या विष दे देंगी" (हैमिल्टन एवं फैल्कोनर का अनुवाद, जिल्द ३)। विष्णुधर्मसूत्र (२५।१४) ने लिखा है—"अपने पति की मृत्यु पर विधवा ब्रह्मचर्य रखती थी या उसकी चिता पर चढ़ जाती थी (अर्थात् जल जाती थी)।"[1] महाभारत ने, यद्यपि वह रक्तरंजित युद्धों की गाथाओं से भरा पड़ा है, सती होने के बहुत कम उदाहरण दिये हैं; "पाण्डु की प्यारी रानी माद्री ने पति के शव के साथ अपने को जला दिया।"[2] विराटपर्व में कीचक के साथ जल जाने के लिए सैरन्ध्री को आज्ञा दी गयी है (२३।८)। प्राचीन काल में मृत राजा के साथ दास या दासों को गाड़ देने की प्रथा थी; मौसलपर्व (७।१८) में आया है कि वसुदेव की चार पत्नियों; देवकी, भद्रा, रोहिणी एवं मदिरा ने अपने को पति के साथ जला डाला, और (७।७३-७४) कृष्ण की रुक्मिणी, गान्धारी, शैब्या, हैमवती एवं जाम्बवती ने अपने को उनके (श्री कृष्ण के) शरीर के साथ जला दिया तथा सत्यभामा एवं अन्य रानियों ने तप के लिए वन का मार्ग लिया। विष्णुपुराण (५।३८।२) ने लिखा है कि कृष्ण की मृत्यु पर उनकी आठ रानियों ने अग्नि में प्रवेश कर

१. मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा। विष्णुधर्मसूत्र (२५।१४); याज्ञवल्क्य के १।८६ की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत।

२. आदिपर्व ९५।६५—तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोह। आदिपर्व १२५-२९—राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम्। दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु॥

लिया। शान्तिपर्व (१४८) में आया है कि एक कपोती अपने पति (कपोत) की मृत्यु पर अग्नि में प्रवेश कर गयी। स्त्रीपर्व (२६) में मृत कौरवों की अन्त्येष्टि-क्रिया का वर्णन हुआ है; जिसमें कौरवों के रथों, परिधानों, आयधों के जला देने की बात आयी है, किन्तु उनकी पत्नियों के सती होने की बात पर महाभारत मौन ही है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि सती-प्रथा विशेषतः राजघरानों एवं बड़े-बड़े वीरों तक ही सीमित रही है, और वह भी बहुत कम। अपरार्क ने पैठीनसि, अंगिरा, व्याघ्रपाद आदि की उक्तियाँ उद्धृत करके बताया है कि इन धर्मशास्त्र-कारों ने ब्राह्मण विधवाओं के लिए सती होना वर्जित माना है। निबन्धकारों ने इस निषेध को दूसरे ढंग से समझाया है—"ब्राह्मणों की पत्नियाँ अपने को केवल पतियों की चिता पर ही भस्म कर सकती हैं, यदि पति कहीं दूर विदेश में मर गया हो और वहीं जला दिया गया हो, तो उसकी पत्नी मृत्यु के समाचार से अपने को जला नहीं सकती।" उशना में आया है कि ब्राह्मण विधवा अपने को पति से अलग नहीं जला सकती। सम्भवतः इसी उक्ति को निबन्धकारों ने अपने मतों के प्रमाण में रखा है। व्यासस्मृति (२।५३) में आया है—"पति के शव का आलिंगन करके ब्राह्मणी को अग्नि-प्रवेश करना चाहिए; यदि वह पति के उपरान्त जीवित रहती है तो उसे अपना केश-शृङ्गार नहीं करना चाहिए और तप से शरीर को गला देना चाहिए।" रामायण (उत्तरकाण्ड १७।१५) में एक ब्राह्मणी के सती हो जाने की ओर संकेत है—ब्रह्मर्षि की पत्नी एवं वेदवती की माता ने रावण द्वारा छेड़े जाने पर अपने को जला डाला। महाभारत (स्त्रीपर्व २३।३४) में द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी विकीर्णकेशी के रूप में रोती हुई युद्धभूमि में आती है किन्तु अपने को जला डाल-ने की कोई चर्चा नहीं करती है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणियों का विधवा रूप में जल जाना क्षत्रिय विधवाओं के जल जाने की प्रथा के बहुत दिनों उपरान्त आरम्भ हुआ है।

पति की मृत्यु पर विधवा के जल जाने को **सहमरण** या **सहगमन** या **अन्वारोहण** (जब विधवा मृत पति की चिता पर चढ़कर शव के साथ जल जाती है) कहा जाता है, किन्तु **अनुमरण** तब होता है जब पति और कहीं मर जाता है तथा जला दिया जाता है, और उसकी भस्म के साथ या पादुका के साथ या बिना किसी चिह्न के उसकी विधवा जलकर मर जाती है (देखिए अपरार्क, पृ० १११ तथा मदनपारिजात, पृ० १९८)। कालिदास के कुमारसम्भव (४।३४) में काम-देव के भस्म हो जाने पर उसकी पत्नी अग्नि-प्रवेश करना चाहती है, किन्तु स्वर्गिक स्वर उसे ऐसा करने से रोक देते हैं। गाथाशप्तशती (७।३२) में **अनुमरण** करने वाली एक नारी का उल्लेख हुआ है। कामसूत्र (६।३।५३) ने भी **अनु-मरण** की चर्चा की है। वराहमिहिर ने उन विधवाओं के साहस की प्रशंसा की है जो पति के मरने पर अग्नि-प्रवेश कर जाती हैं (बृहत्संहिता ७४।१६)। बाण के हर्षचरित (उच्छ्वास ५) में हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन को मरता देखकर माता यशोमती के अग्नि प्रवेश का उल्लेख है किन्तु यह सती होने का उदाहरण नहीं कहा जायगा, क्योंकि यशोमती ने पति के मरण के पूर्व ही अपने को जला दिया। बाण ने हर्षचरित (५) में **अनुमरण** का भी आलंकारिक रूप से उल्लेख किया है। बाण की कादम्बरी ने अनुमरण की बड़े-कड़े शब्दों में निन्दा की है। भागवतपुराण (१।१३।५७) ने धृतराष्ट्र के शव के साथ गान्धारी के भस्म होने की बात लिखी है। राजतरंगिणी में कई स्थानों (६।१०७, १९५; ७।१०३, ४७८) पर सती होने के उदाहरण मिलते हैं।

बहुत-से अभिलेखों में सती होने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। इनमें सबसे प्राचीन गुप्त संवत् १९१ (५१० ई०) का है (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, फ्लीट, पृ० ९१)। देखिए इरन या एरण प्रस्तर स्तम्भ-अभिलेख, जिसमें गोपराज की पत्नी का पति के साथ सती हो जाना उत्कीर्ण है; इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ९, पृ० १६४ में नेपाल अभिलेख (७०५ ई०), जिसमें धर्मदेव की विधवा राज्यवती अपने पुत्र महादेव को शासन-भार सँभालने को कहती है और अपने को सती कर देना चाहती है; बेलतुरु अभिलेख (९७९ शक संवत्), जिसमें देकब्बे नामक शूद्र स्त्री अपने पति की मृत्यु पर माता-पिता के मना करने पर भी भस्म हो जाती है और उसके माता-पिता उसकी स्मृति में स्तम्भ खड़ा करते हैं; एपिग्रैफिया

इण्डिका, जिल्द १४, पृ० २६५, २६७, जहाँ पर सिन्ध महामण्डलेश्वर राचमल्ल ने अपने सरदार बेचिराज की दो विधवाओं के, जो कि सती हो गयीं, कहने पर शक संवत् ११०३ में एक मन्दिर बनवाया। इसी प्रकार कई एक अभि-लेख प्राप्त होते हैं, जिन्हें स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दिया जा रहा है। सन् १७७२ ई० में पेशवा माधवराव की पत्नी रमा बाई सती हो गयी थी। चित्तौड़ तथा अन्य स्थानों पर राजपुत्रियों, रानियों आदि द्वारा खेले गये जौहर की कहानियाँ अभी बहुत ताजी हैं। मुसलमानों के क्रूर हाथों में पड़ने तथा बलात्कार सहने की अपेक्षा राजपूतों की रानियाँ, पुत्रियाँ तथा अन्य राजपूत कुमारियाँ अपने को अग्नि में झोंक देती थीं।

पुरुष भी सहमरण या अनुमरण करते थे। देखिए इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ३५ पृ० १२९, जहाँ इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण उद्धृत किये गये हैं। बहुत-से पुरुष अपनी स्वामि-भक्ति तथा अन्य कारणों से भस्म हो जाया करते थे। इन सतियों एवं पुरुषों की स्मृति में प्रस्तर-स्तम्भ खड़े किये जाते थे, जिन्हें **मास्तिक्कल** (महासती के लिए प्रस्तर-स्तम्भ या यशस्तम्भ) या **विरक्कल** (वीर एवं भक्त लोगों के लिए यशस्तम्भ) कहा जाता था। हर्षचरित में बाण ने लिखा है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु पर कितने ही मित्रों, मंत्रियों, दासों एवं स्नेहपात्रों ने अपने को मार डाला। राजतरंगिणी (७।४८१) में आया है कि अनन्त की रानी जब सती हो गयी तो उसका चटाई ढोनेवाला, कुछ अन्य पुरुष तथा तीन दासियाँ उसकी अनुगामी हो गयीं। एक उदाहरण माता का भी मिलता है जो अपने पुत्र के साथ सती हो गयी (राजतरंगिणी ७।१३८०)। प्रयाग जैसे स्थानों पर स्वर्ग-प्राप्ति के लिए आत्महत्या तक हो जाया करती थी।

ऐतिहासिक कालों में जो सती-प्रथा प्रचलित थी, उसके पीछे कोई पौरोहितक या धार्मिक दबाव नहीं था, और न अनिच्छुक नारियाँ ऐसा करती थीं। यह प्रथा कालान्तर में बढ़ती गयी, पर यह कहना कि पुरुषों ने इसके बढ़ने में सहायता की, अनुचित है। एक रोचक मनोभाव के कारण ही सती प्रथा का विकास हुआ। प्रथमतः यह राजकुलों एवं भद्र लोगों तक ही सीमित थी, क्योंकि प्राचीन काल में विजित राजाओं एवं शूरों की पत्नियों की स्थिति बड़ी ही दयनीय होती थी। जीते हुए लोग विजित लोगों की पत्नियों से ही बदला चुकाते थे और उन्हें बन्दी बनाकर ले जाते थे और उनके साथ दासियों जैसा व्यवहार करते थे। मनु (७।९६) ने सैनिकों को युद्ध में प्राप्त वस्तुओं के साथ स्त्रियों को भी पकड़ लेने की आज्ञा दी है। प्रभाकरवर्धन की स्त्री यशोमती अपने पुत्र हर्ष से वर्णन करती है कि विजित राजाओं की पत्नियाँ उसको पंखा झला करती हैं (हर्षचरित ५)। क्षत्रियों से यह प्रथा ब्राह्मणों में भी पहुँच गयी, यद्यपि जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है, स्मृतिकारों ने ब्राह्मणियों के लिए सती होना उचित नहीं माना है। एक बार जब यह प्रथा जड़ पकड़ गयी तो निबन्धकारों एवं टीकाकारों ने इसको बल दे दिया और सतियों के लिए भविष्य में मिलने वाले पुर-स्कारों (पुण्य) की चर्चा चला दी।

सतियों के लिए निम्नलिखित प्रतिफल (पुण्यप्राप्ति) की चर्चा की गयी है—शंख-लिखित एवं अंगिरा के अनु-सार जो नारी पति की मृत्यु का अनुसरण करती है, वह मनुष्य के शरीर पर पाये जानेवाले रोमों की संख्या के तुल्य वर्षों तक स्वर्ग में बिराजती है, अर्थात् ३॥ करोड़ वर्ष। जिस प्रकार सँपेरा साँप को उसके बिल से खींच लेता है, उसी प्रकार सती होनेवाली स्त्री अपने पति को (चाहे जहाँ भी वह हो) खींच लेती है और उसके साथ कल्याण पाती है।....सती होने वाली स्त्री अरुन्धती के समान ही स्वर्ग में यश पाती है।[3] हारीत के मत में जो स्त्री सती होती है, वह तीन कुलों को,

३. तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे। तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्तारं यानुगच्छति।। व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात्। तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते।। तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाप्सरोगणैः। क्रीडते पतिना सार्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश।। ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत्पतिः। पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता

अर्थात् माता, पिता एवं पति के कुलों को पवित्र कर देती है। मिताक्षरा ने सती प्रथा अर्थात् अवरोहण को ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक की स्त्रियों के लिए समान रूप से श्रेयस्कर माना है, किन्तु उस स्त्री को, जो गर्भवती है या छोटे बच्चों वाली है, सती होने से रोक दिया है (याज्ञवल्क्य १।८६)।[4]

कुछ प्राचीन टीकाकारों ने सती होने का विरोध किया है। मेधातिथि (मनु ५।१५७) ने इस प्रथा की तुलना श्येनयाग (जिसके द्वारा लोग अपने शत्रु पर काला जादू करके उसे मारते थे) से की है। मेधातिथि का कहना है कि यद्यपि अंगिरा ने अनुमति दी है, किन्तु यह आत्महत्या है और स्त्रियों के लिए वर्जित है। यद्यपि वेद कहता है; "श्येनेनाभिचरन् यजेत", किन्तु इसे अर्थात् श्येनयाग को लोग अच्छी दृष्टि से नहीं देखते अर्थात् उसे धर्म नहीं मानते बल्कि अधर्म कहते हैं (जैमिनि १।१।२ पर शबरर), उसी प्रकार यद्यपि अंगिरा ने (सती प्रथा का) अनुमोदन किया, तथापि यह अधर्म है। अवरोहण इस वेदोक्ति के विरुद्ध है—"जब तक आयु न बीत जाय किसी को यह लोक छोड़ना नहीं चाहिए।" मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।८६) ने मेधातिथि का तर्क न मानकर कहा है—"श्येनयाग वास्तव में अनुचित है अतः अधर्म है, वह इसलिए कि उसका उद्देश्य है दूसरे को कष्ट में डालना, किन्तु अनुगमन वैसा नहीं है, यहाँ प्रतिश्रुत फल है स्वर्ग-प्राप्ति जो उचित कहा जाता है और जो श्रुतिसम्मत है, यथा—'सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए वायु को बकरी देनी चाहिए।' इसी प्रकार अनुगमन के बारे में स्मृति श्रुति के विरुद्ध नहीं है, वहाँ उसका अर्थ है—"किसी को स्वर्गिक आनन्द के लिए अपने जीवन का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वर्गिक आनन्द ब्रह्मज्ञान की तुलना में कुछ नहीं है। क्योंकि स्त्री अनुगमन द्वारा स्वर्ग की इच्छा करती है, अतः वह श्रुतिवाक्य के विरोध में नहीं जाती है।" अपरार्क (पृ० १११), मदनपारिजात (पृ० १९९), पराशरमाधवीय (भाग १, पृ० ५५-५६) ने मिताक्षरा का तर्क स्वीकार किया है। स्मृतिचन्द्रिका का कहना है कि अन्वारोहण, जिसे विष्णुधर्मसूत्र (२५।१४) एवं अंगिरा ने माना है, ब्रह्मचर्य से निकृष्ट है, क्योंकि अन्वारोहण के फल ब्रह्मचर्य के फल से हलके पड़ जाते हैं (व्यवहार, पृ० २५४)। इसके विरुद्ध अंगिरा का मत है—"पति के मर जाने पर चिता पर भस्म हो जाने से बढ़कर स्त्रियों के लिए कोई अन्य धर्म नहीं है।" शुद्धितत्त्व के अनुसार ऐसी धारणा केवल सहमरण की महत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है।[5]

हमने ऊपर देख लिया कि ब्राह्मणियों को केवल अन्वारोहण की अनुमति थी, अनुगमन की नहीं। सहमरण के विषय में और भी नियन्त्रण हैं—"वे पत्नियाँ, जिनके बच्चे छोटे-छोटे हों, जो गर्भवती हों, जो अभी युवा न हुई हों और

तु या।। मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्। साऽरुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीयते।। यावच्चाग्नौ मृते पत्यौ स्त्री नात्मानं प्रदाहयेत्। तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात्कथंचन।। याज्ञवल्क्य (१।८६) पर मिताक्षरा, अपरार्क, पृ० ११०, शुद्धितत्त्व, पृ० २३४। प्रथम के दो श्लोक 'तिस्रः कोट्यो...आदि' पराशर (४।३२ एवं ३३), ब्रह्मपुराण एवं गौतमीमाहात्म्य (१०।७६ एवं ७४) में भी पाये जाते हैं।

४. अयं च सर्वासां] स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाचाण्डालं साधारणो धर्मः। भर्तारं यानुगच्छतीत्यविशेषोपादानात्। मिताक्षरा (याज्ञ० १।८६); देखिए मदनपारिजात, पृ० १८६ एवं स्मृतिमुक्ताफल (संस्कार, पृ० १६२)।

५. यत्तु विष्णुना धर्मान्तरमुक्तं मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा...तदेतद्धर्मान्तरमपि ब्रह्मचर्यधर्माज्जघन्यम्। निकृष्टफलत्वात्। स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहार, पृ० २५४)।

सर्वासामेव नारीणामग्निप्रपतनादृते। नान्यो धर्मो हि विज्ञेयो मृते भर्तरि कर्हिचित्।। अंगिरा (अपरार्क द्वारा पृ० १०९ में, पराशरमाधवीय द्वारा २।१, पृ० ५८ में उद्धृत)।

जो रजस्वला हों, वे पति की चिता पर नहीं चढ़तीं" (बृहन्नारदीय पुराण)। बृहस्पति ने भी ऐसा ही कहा है। उस पत्नी को, जो पति की मृत्यु के समय रजस्वला रहती थी, स्नान करने के चौथे दिन जल जाने की अनुमति थी।

आपस्तम्ब (पद्य) ने उस नारी के लिए, जो पति की चिता पर जल जाने की प्रतिज्ञा करके लौट आती है, प्राजापत्य प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। राजतरंगिणी (६।१९६) ने एक ऐसी रानी का चित्रण किया है।

शुद्धितत्त्व ने सती होने की विधि पर इस प्रकार प्रकाश डाला है। विधवा नारी स्नान करके दो श्वेत वस्त्र धारण करती है, अपने हाथों में कुश लेती है, पूर्व या उत्तर की ओर मुख करती है, आचमन करती है; जब ब्राह्मण कहता है "ओम् तत्सत्", वह नारायण को स्मरण करती है तथा मास, पक्ष एवं तिथि का संकेत करती है, तब संकल्प करती है। इसके उपरान्त वह आठों दिक्पालों का आवाहन करती है, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि का भी आवाहन करती है कि वे लोग चिता पर जल जाने की क्रिया के साक्षी बनें। तब वह अग्नि के चारों ओर तीन बार जाती है (तीन बार अग्नि प्रदक्षिणा करती है), तब ब्राह्मण वैदिक मन्त्र का पाठ (ऋग्वेद १०।१८।७) तथा एक पुराण के मन्त्र (ये अच्छी और परम पवित्र नारियाँ, जो पतिपरायण हैं, अपने पति के शवों के साथ अग्नि में प्रवेश करें) का पाठ करता है; तब स्त्री "नमो नमः" कहकर जलती हुई चिता पर चढ़ जाती है। कमलाकर भट्ट द्वारा प्रणीत निर्णयसिन्धु (कमलाकर भट्ट की माता भी सती हो गयी थी, और इन्होंने अपनी माता की स्मृति में बड़े मर्मस्पर्शी वचन कहे हैं) में उपर्युक्त विधि कुछ भिन्न-सी है और उसका धर्मसिन्धु ने भी अनुसरण किया है।

यात्रियों एवं अन्य लोगों के लेखों से पता चलता है कि सती प्रथा बन्द होने के पूर्व की शताब्दियों में देश के अन्य भागों की अपेक्षा बंगाल की विधवाएँ अधिक संख्या में जला करती थीं। यदि यह बात थी तो इसके लिए उपयुक्त कारण भी विद्यमान थे। बंगाल को छोड़कर अन्य प्रान्तों के संयुक्त परिवारों में विधवा को भरण-पोषण के अतिरिक्त सम्पत्ति में कोई अन्य अधिकार प्राप्त नहीं थे। बंगाल में, जहाँ पर 'दायभाग' का प्रचलन था, पुत्रहीन विधवा को संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में वही अधिकार था जो उसके पति का होता था। ऐसी स्थिति में परिवार के अन्य लोग पति की मृत्यु पर पत्नी की पतिभक्ति को पर्याप्त मात्रा में उत्तेजित कर देते थे, जिससे कि वह पति की चिता में भस्म हो जाय। यह है मानव की सम्पत्ति-मोह-भावना की पराकाष्ठा!! विधवा का इस प्रकार का अधिकार सर्वप्रथम दायभाग के लेखक जीमूतवाहन ने ही नहीं घोषित किया था। उन्होंने स्वयं लिखा है कि उन्होंने जितेन्द्रिय का अनुसरण किया है। क्रमशः सती प्रथा की भावना भारतीय समाज-मन से क्षीणतर होती चली गयी और जब लार्ड विलियम बेंटिक ने सन् १८२९ ई० में इसे अवैध घोषित कर दिया तो जनता ने इसे स्वीकार ही कर लिया, कुछ स्वार्थी जनों ने ही गलत धार्मिकता का मोह प्रदर्शित कर प्रिवी कौंसिल में इस कानून के विरोध में आवेदन-पत्र दिया था। इसके पीछे कोई गम्भीर धार्मिक भावना नहीं थी कि लोग इसे आवश्यक समझते।

अध्याय १६

वेश्या

इस ग्रन्थ में जब स्त्रियों के विषय में तथा विवाह आदि संस्कारों के विषय में पर्याप्त विस्तार किया गया है, तो संक्षेप में वेश्या के जीवन पर भी प्रकाश डालना परमावश्यक है। वेश्या-वृत्ति का इतिहास अति प्राचीन है और यह प्रायः संसार के सभी भागों में प्रचलित रही है।

ऋग्वेद से प्रकट है कि उस काल में कुछ ऐसी भी नारियाँ थीं, जो सभी की थीं, और वे थीं वेश्या या गणिका। ऋग्वेद (१।१६७।४) में मरुत्-गण (अन्धड़ के देवता) विद्युत् के साथ उसी प्रकार संयुक्त माने गये हैं, जिस प्रकार युवती वेश्या से पुरुष लोग संयुक्त होते हैं।[1] ऋग्वेद (२।२९।१) के एक संकेत से अभिव्यक्त होता है कि उस समय भी ऐसी नारियाँ थीं जो गुप्त रूप से बच्चा जनकर उसे मार्ग के एक ओर रख देती थीं। ऋग्वेद (१।६६।४, १।११७।१८ १।१३४।३ आदि) में कई स्थानों पर जार (गुप्त प्रेमी) का उल्लेख हुआ है। गौतम (२२।२७) के अनुसार ब्राह्मणी वेश्या को मारने पर प्रायश्चित्त की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल ८ मुट्ठी अन्न दान कर देना ही पर्याप्त है। मनु (४। २०९) ने वेश्या के हाथ का भोजन ब्राह्मण के लिए वर्जित माना है (और देखिए ४।२१९)। मनु (८।२५९) ने धूर्त वेश्याओं को दण्डित करने के लिए राजा को प्रेरित किया है। महाभारत में वेश्या-वृत्ति एक स्थिर संस्था के रूप में प्रचलित पायी जाती है। आदिपर्व (११५।३९) में आया है कि गान्धारी के गर्भवती रहने के कारण धृतराष्ट्र की सेवा में एक वेश्या रहती थी।[2] उद्योगपर्व (३०।३८) में आया है कि युधिष्ठिर ने कौरवों की वेश्याओं को शुभ-सन्देश भेजे थे। जब श्री कृष्ण कौरवों की सभा में शान्ति-स्थापना का सन्देश लेकर आये थे तो वेश्याएँ भी उनके स्वागतार्थ आयी थीं (उद्योगपर्व ८६।१५)। जब पाण्डवों की सेना ने युद्ध के लिए कूँच किया तो गाड़ियाँ, हाटें एवं वेश्याएँ उसके साथ चली (उद्योगपर्व १५१।५८)। और देखिए वनपर्व (२३९।३७), कर्णपर्व (९४।२६)।

याज्ञवल्क्य (२।२९०) ने रखैलों को दो भागों में बाँटा है[3]—(१) अवरुद्धा (जो घर में रहती है और उसके साथ कोई अन्य व्यक्ति संभोग नहीं कर सकता) तथा (२) भुजिष्या (जो घर में नहीं रहती, किन्तु एक व्यक्ति की रखैल के रूप में और कहीं रहती है)। यदि इनके साथ कोई अन्य व्यक्ति संभोग करे तो उसे ५० पण का दण्ड देना पड़ता था।[3] नारद (स्त्रीपुंस, ७८-७९) का कथन है—"अब्राह्मणी स्वैरिणी, वेश्या, दासी, निष्कासिनी यदि अपनी जाति से निम्नजाति की हों तो संभोग की अनुमति है, किन्तु उच्च जाति की स्त्रियों से ऐसा व्यवहार वर्जित है। यदि ये स्त्रियाँ किसी की रखैल हों तो उनसे संभोग करने पर वही अपराध होता है जो किसी की पत्नी से करने पर होता है। इन स्त्रियों

१. परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः। ऋग्वेद (१।१६७।४)।

२. गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता। धृतराष्ट्रं महाराजं वेश्या पर्यचरत्किल॥ आदिपर्व (११५।३९)।

३. अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च। गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम्॥ याज्ञवल्क्य (२।२९०)।

के पास नहीं जाना चाहिए, क्योंकि ये दूसरे की हैं। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य (१।२९०) की व्याख्या में लिखा है कि वेश्याएँ अप्सराओं से उत्पन्न पञ्चचूडा नामक विशिष्ट जाति हैं, यदि वे किसी की रखैल नहीं हैं तो यदि वे अपनी जाति या उच्च जाति के पुरुषों से संभोग करती हैं तो पाप की भागी या राजा से दण्डित नहीं होतीं, यदि वे अवरुद्धा नहीं हैं तो उनके पास जानेवाला व्यक्ति भी दण्डित नहीं होता। किन्तु उनके पास जानेवालों को पाप लगता है, क्योंकि स्मृतियों के अनुसार उन्हें पत्नीपरायण होना चाहिए (याज्ञवल्क्य १।८१)। जो लोग वेश्यागमन करते थे उन्हें प्राजापत्य प्रायश्चित्त करना पड़ता था (अत्रि २७१)। नारद (वेतनस्यानपाकर्म, १८) ने लिखा है कि यदि शुल्क पा लेने पर वेश्या संभोग नहीं करती थी तो उस पर शुल्क का दूना दण्ड लगता था। और इसी प्रकार यदि संभोग कर लेने पर व्यक्ति शुल्क नहीं देता था तो उस पर शुल्क का दूना दण्ड लगता था। यही व्यवस्था याज्ञवल्क्य (२।२९२) एवं मत्स्यपुराण (२२७।१४४-१४५) में भी पायी जाती है। मत्स्यपुराण ने वेश्याधर्म पर लिखा है (अध्याय ७०)। कामसूत्र (१।३। २०) ने गणिका को वह वेश्या कहा है जो ६४ कलाओं में पारंगत हो। अपरार्क (याज्ञवल्क्य २।१९८) ने नारद एवं मत्स्यपुराण से वेश्या के विषय में लिखते समय बहुत-से श्लोक उद्धृत किये हैं।

समाज ने रखैल (अवरुद्धा स्त्री या वेश्या) को स्वीकृति दी थी अर्थात् उसे अंगीकार किया था। अतः स्मृतियों ने उसके भरण-पोषण की व्यवस्था भी की। व्यक्ति के जीते-जी रखैल को उसके विरुद्ध कोई अभियोग करने का अधिकार नहीं था। नारद (दायभाग, ५२) एवं कात्यायन के मत से यदि व्यक्ति की सम्पत्ति उत्तराधिकारी के अभाव में राजा के पास चली जाती थी, तो राजा को मृत व्यक्ति की रखैलों, दासों एवं उसके श्राद्ध के लिए उस सम्पत्ति से प्रबन्ध करना पड़ता था। मिताक्षरा ने यहाँ पर प्रयुक्त रखैल को अवरुद्धा 'रखैल' के रूप में माना है न कि भुजिष्या के रूप में; यों तो मृत ब्राह्मण की रखैलो को सम्पत्ति से भरण-पोषण का अधिकार प्राप्त था।

रखैलों की अनौरस सन्तानों के दायाधिकारों के विषय में हम आगे पढ़ेंगे।

अध्याय १७

आह्निक एवं आचार

धर्मशास्त्र में आह्निक एवं आचार पर पर्याप्त महत्त्वपूर्ण विस्तार पाया जाता है। हमने ब्रह्मचारियों के आह्निक (प्रति दिन के कर्म) के विषय में पढ़ लिया है और वानप्रस्थों एवं यतियों के विषय में आगे पढ़ेंगे। इस अध्याय में हम मुख्यतः स्नातकों (भावी गृहस्थों) एवं गृहस्थों के कर्तव्यों अथवा धर्मों के विषय में पढ़ेंगे।

सर्वप्रथम हम गृहस्थाश्रम की महत्ता के विषय में प्रकाश डालेंगे। गौतम एवं बौधायन ने गृहस्थाश्रम को ही प्रमुखता दी है। धर्मशास्त्र-ग्रन्थों ने गृहस्थाश्रम की महत्ता गायी है। गौतम (३।३) के अनुसार गृहस्थ सभी आश्रमों का आधार है, क्योंकि अन्य तीन आश्रम (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास) सन्तान नहीं उत्पन्न करते।[1] मनु (३।७७-७८) ने भी यही बात और सुन्दर ढंग से कही है। एक स्थान पर मनु (६।८९-९०) ने यों कहा है—"जिस प्रकार बड़ी या छोटी नदियाँ अन्त में समुद्र से मिल जाती हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमों के लोग गृहस्थ से ही आश्रय पाते हैं, वेद एवं स्मृतियों के मतों से अन्य तीन आश्रमों का आधार-स्वरूप होने के कारण गृहस्थाश्रम सर्वोच्च आश्रम कहा जाता है।" यही मनोभाव विष्णुधर्मसूत्र (५९।२७-२९), वसिष्ठ (७।१७ तथा ८।१४-१६), बौधायनधर्मसूत्र (२।२।१), उद्योगपर्व (४०।२५)[2], शान्तिपर्व (२९६।३९) आदि में भी विभिन्न ढंगों से व्यक्त हुए हैं। शान्तिपर्व (२७०।६-७) में आया है—"जिस प्रकार सभी प्राणी माता के आश्रित होते हैं उसी प्रकार अन्य आश्रम गृहस्थों के आश्रय पर स्थित हैं।"[3] इसी अध्याय (२७०।१०-११) में कपिल ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो यह कहते हैं कि गृहस्थ को मोक्ष सम्भव नहीं है। शान्तिपर्व (१२।१२) के मत से यदि तराजू पर तोला जाय तो एक पलड़े पर गृहस्थाश्रम रहेगा, दूसरे पर अन्य तीनों आश्रम एक साथ (देखिए शान्तिपर्व ११।१५, २३।२-५, वनपर्व २)। रामायण (अयोध्याकाण्ड १०६।२२) ने भी यही बात कही है।

ब्राह्मण गृहस्थ कई मतों के अनुसार कई श्रेणियों में बँटे हुए हैं। बौधायनधर्मसूत्र (३।१।१), देवल (याज्ञवल्क्य की १।१२८ की व्याख्या में उद्धृत) तथा अन्य ग्रन्थों ने गृहस्थ को दो श्रेणियों में बाँटा है, यथा (१) **शालीन** एवं (२) **यायावर**, जिनमें दूसरा पहले से अपेक्षाकृत अच्छा है।[4] **शालीन** शाला (गृह) में रहता है, उसके पास नौकर-चाकर, पशु

१. तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम्। गौतम (३।३)।

२. नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी। ऋतौ च गच्छन्विधिवच्च जुह्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्॥ वसिष्ठ (८।१७)।

३. यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः॥ शान्तिपर्व २७०।६-६ (=वसिष्ठ ८।१६, जहाँ अन्तिम पाद है—सर्वे जीवन्ति भिक्षुकाः)।

४. अथ शालीन-यायावर-चक्रचर-धर्मकांक्षिणां नवभिर्वृत्तिभिर्वर्तमानानाम्। शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वृत्त्या वरया यातीति यायावरत्वम्। अनुक्रमेण चरणाच्चक्रचरत्वम्। बौ० ध० सू० (३।१।१, ३-५)। बौधायन ने

आदि होते हैं, वह स्थिर रूप से किसी ग्राम में रहता है, उसके पास अन्न एवं सम्पत्ति होती है, वह सांसारिक जीवन व्यतीत करता है। **यायावर** अत्युत्तम जीविका वाला होता है, वह खेत से ले जाते समय जो अन्न पृथिवी पर गिर जाता है उसे ही चुनता है और सम्पत्ति नहीं जोड़ता है, वह पुरोहिती करके जीविका नहीं चलाता है, वह न तो अध्यापन-कार्य करके और न दान लेकर जीविका चलाता है। मनु ने ब्राह्मण गृहस्थों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है, यथा—वह जिसके पास पर्याप्त अन्न है, जो एक घड़ा अन्न रखता है, जो अधिक-से-अधिक तीन दिनों के लिए इकट्ठा कर पाता है, जो आनेवाले कल की चिन्ता नहीं करता। देखिए, यही बात शान्तिपर्व (२४४।१-४) एवं लघुविष्णु (२।१७) में। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।१२८) ने 'शालीन' को चार श्रेणियों में बाँटा है—(१) जो पौरोहित्य करके, वेदाध्यापन करके, दान लेकर, कृषि, व्यवसाय एवं पशु-पालन करके अपना भरण-पोषण करता है, (२) जो उपर्युक्त छः वृत्तियों में केवल प्रथम तीन, अर्थात् पौरोहित्य करके, वेदाध्ययन करके, दान लेकर अपना काम चलाता है, (३) जो केवल पौरोहित्य कर्म तथा अध्यापन करके जीविका चलाता है तथा (४) जो केवल अध्यापन-कार्य करके जीविका चलाता है। मिताक्षरा की व्याख्यानुसार मनु (४।९) ने भी चार श्रेणियाँ बतायी हैं। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (५।३।२२) ने शालीन एवं यायावर का भेद बताया है। बौधायनगृह्यसूत्र (३।५।४) ने यायावर की ओर संकेत किया है। 'यायावर' शब्द तैत्तिरीय संहिता (५।२।१।७) में भी आया है, किन्तु वहाँ उसका अर्थ कुछ दूसरा है।

वैखानसगृह्यसूत्र (८।५) में गृहस्थ चार भागों में बाँटे गये हैं—**(१) वार्ता वृत्ति** वाला; जो कृषि, पशुपालन व्यवसाय आदि करता है, **(२) शालीन**; जो नियमों का पालन (याज्ञवल्क्य ३।३१३) करता है, पाकयज्ञ करता है, श्रौत अग्नि जलाता है, प्रति अर्ध मास पर दर्श एवं पूर्णमास यज्ञ करता है, चातुर्मास्य करता है, प्रत्येक छः मास में पशु-यज्ञ करता है तथा प्रत्येक वर्ष में सोमयज्ञ करता है, **(३) यायावर**; जो छः कर्मों में लगा रहता है, यथा—हवि एवं सोम यज्ञ करना, यज्ञ में पौरोहित्य करना, वेद के अध्ययन-अध्यापन में लगे रहना, दान देना एवं लेना, श्रौत एवं स्मार्त अग्नि की निरन्तर सेवा करना तथा आगत अतिथियों को भोजन देना, **(४) घोराचारिक** (जिसके नियमों का पालन अति कठिन है); जो नियम-व्रती है, यज्ञ करता है किन्तु दूसरों के यज्ञ में पुरोहिती (पौरोहित्य) नहीं करता, वेदाध्ययन करता है, किन्तु वेदाध्यापन नहीं करता, दान देता है लेता नहीं, खेतों में गिरे हुए अन्नों से अपना भरण-पोषण करता है, नारायण में लीन रहता है, प्रातः एवं सायं अग्निहोत्र करता है, मार्गशीर्ष एवं ज्येष्ठ में ऐसे व्रतादि करता है जो तलवार की धार जैसे तीक्ष्ण हैं तथा वन की ओषधि-वनस्पतियों से अग्नि की सेवा करता है। ये चारों प्रकार बृहत्पराशर (२९०) में भी पाये जाते हैं।

बहुत-सी स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों में गृहस्थधर्म विस्तार के साथ वर्णित हैं (देखिए गौतम ५ एवं ९, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१।१, २।४।९, वसिष्ठधर्मसूत्र ८।१-१७ एवं ११।१-४८, मनु ४, याज्ञवल्क्य १।९६-१२७, विष्णु-धर्मसूत्र ६०-७०, दक्ष २, व्यास ३, मार्कण्डेयपुराण २९-३० एवं ३४, नृसिंहपुराण ५८।७५-१०६, कूर्मपुराण उत्तरार्ध, अध्याय १५-१६, लघु-हारीत ४, पृ० १८३, द्रोणपर्व ८२, वनपर्व २।५३-६३, आश्वमेधिक ४५।१६-२५, अनुशासन पर्व ९७। निबन्धों में इस विषय में स्मृतिचन्द्रिका (१, ८८–२३२), स्मृत्यर्थसार (पृ० १८-४८), मदनपारिजात

'शालीन' की व्युत्पत्ति 'शाला' (घर) से की है और 'यायावर' की 'या' (जाना) एवं वर (श्रेष्ठतम) से। पाणिनि (५।२।२० जैसा कि महाभाष्य ने अर्थ दिया है) के अनुसार 'शालीन', 'अधृष्ट' (जो धृष्टता न करे) के अर्थ में 'शाला' से निकला हुआ है। सम्भवतः पाणिनि के समय तक गृहस्थ 'शालीन' एवं 'यायावर' भागों में नहीं बँटा था। बौधायन ने गृहस्थ की तीसरी कोटि दी है चक्रचर, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता।

(२०४-३४५), गृहस्थरत्नाकर, रघुनन्दन का आह्निकतत्त्व, वीरमित्रोदय (आह्निकप्रकाश), स्मृतिमुक्ताफल (आह्निककाण्ड) अधिक प्रसिद्ध हैं। स्थान-संकोच से हम यहाँ गृहस्थधर्मों का वर्णन विस्तार से नहीं करेंगे, केवल अति महत्वपूर्ण बातें ही उल्लिखित की जायेंगी। उदाहरणार्थ, अनुशासनपर्व (१४१।२५-२६) में आया है—"अहिंसा, सत्यवचन, सभी जीवों पर दया, शम, यथाशक्ति दान—गृहस्थ का यह सर्वश्रेष्ठ धर्म है। पर-स्त्री से असंसर्ग, अपनी स्त्री एवं धरोहर की रक्षा, न दी हुई वस्तु के ग्रहण-भाव से दूर रहना, मधु एवं मांस से दूर रहना—ये पाँच धर्म हैं, जिनकी कई शाखाएँ हैं और उनसे सुख की उत्पत्ति होती है।"[5] यह बात दक्ष (२।६६-६७) में भी पायी जाती है। किन्तु इन साधारण धर्मों की चर्चा बहुत पहले ही हो चुकी है (देखिए इस भाग का अध्याय १)।

दिवस-विभाजन

बहुत प्राचीन काल से दिन को कई भागों में बाँटा गया है। कभी-कभी "अहः" शब्द 'रात्रि' से पृथक् माना गया है और कभी-कभी यह सूर्योदय से सूर्योदय (दिन एवं रात्रि) तक का द्योतक माना गया है। ऋग्वेद (६।९।१) में "कृष्णम् अहः" अर्थात् रात्रि एवं "अर्जुनम् अहः" अर्थात् दिन का प्रयोग हुआ है।[6] दिन को कभी-कभी दो भागों में बाँटा जाता है, यथा पूर्वाह्न (दोपहर के पूर्व) एवं अपराह्न (दोपहर के उपरान्त)। देखिए इस विषय में ऋग्वेद (१०।२४।११) एवं मनु (३।२७८)। दिन को तीन भागों में भी बाँटा गया है, यथा प्रातः, मध्याह्न (दोपहर) एवं सायं, जो सोमरस के तीन तर्पणों का द्योतक है—प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन एवं सायं सवन (ऋग्वेद ३।५३।८, ३।२८।१, ४ एवं ५, ३।३२।१, ३।५२।५-६)। १२ घण्टे के दिन को पाँच भागों में बाँटा गया है, यथा—**प्रातः या उदय, संगव, माध्यन्दिम या मध्याह्न** (दोपहर), **अपराह्न** एवं **सायाह्न** या अस्तगमन या सायं। इनमें प्रत्येक का काल तीन मुहूर्तों का होता है। कुछ स्मृतियों एवं पुराणों ने इन पाँचों विभागों का वर्णन तथा व्याख्या की है, यथा प्रजापति-स्मृति १५६-१५७, मत्स्यपुराण २२।८२-८४, १२४।८८-९०, वायुपुराण ५०।१७०-१७४। अपरार्क (पृ० ४६५) ने भी याज्ञवल्क्य (१।२२६) की व्याख्या में श्रुति के वाक्य एवं व्यास की उक्तियाँ उद्धृत की हैं। २४ घण्टे के "अहः" (दिन) को ३० मुहूर्तों में विभाजित किया गया है (देखिए शतपथब्राह्मण १२।३।२।५, जहाँ वर्ष को १०८०० मुहूर्तों में बाँटा गया है, अर्थात् ३६० × ३० = १०८००)। तैत्तिरीयसंहिता ने दिन के १५ मुहूर्तों के नाम दिये हैं, यथा चित्र, केतु आदि। मदनपारिजात (पृ० ४९६) ने व्यास को उद्धृत कर दिन के पन्द्रह भागों के नाम दिये हैं।

स्मृतियों ने सामान्यतः दिन को आठ भागों में बाँटा है। दक्ष ने दिन को आठ भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग में किये जाने वाले कर्तव्यों का वर्णन किया है (२।४-५)। कात्यायन ने दिन को आठ भागों में बाँटकर प्रथम को छोड़ आगे के तीन भागों में राजा के लिए न्याय करने की बात कही है। कौटिल्य ने रात एवं दिन को ८-८ भागों में बाँटा है और उनमें राजा के धर्म का वर्णन किया है। वसिष्ठ (११।३६), लघु हारीत (९९), लघु शातातप (१०८) आदि

५. अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्। शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः॥ पर-दारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रं परिरक्षणम्। अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम्। एष पंचविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः॥ अनुशासन पर्व १४१।२५-२६।

६. अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः। वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥ ऋ० ६।९।१। निरुक्त (२।२१) ने इसकी व्याख्या की है—अहश्च कृष्णं रात्रिः शुक्लं च अहरर्जुनम् आदि।

का कहना है—"दिन के आठवें भाग में सूर्य मन्द हो जाता है, उस काल को **कुतप** कहा जाता है।" बाण ने कादम्बरी में दिन के आठों भागों के प्रथम भाग में सूर्य के प्रकाश को बढ़ते हुए एवं स्पष्ट होते हुए कहा है। महाभारत में छठे भाग में भोजन करने को देरी में भोजन करना माना गया है (वनपर्व १७६।१६, १८०।१६, २९३।९ एवं आश्वमेधिक पर्व ८०।२६-२७)।

आह्निक के अन्तर्गत प्रमुख विषय हैं—शय्या से उठना, शौच (शारीरिक शुद्धता), दन्तधावन (दाँत स्वच्छ करना), स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पंचमहायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ एवं अतिथि-सत्कार के साथ), अग्नि-सेवा, भोजन, धन-प्राप्ति, पढ़ना-पढ़ाना, सायं की सन्ध्या, दान, सोने जाना, निर्धारित समय पर यज्ञ करना। पराशरस्मृति (१।३९) ने दिन के कर्तव्यों को इस प्रकार कहा है—सन्ध्या-प्रार्थना, जप, होम, देव-पूजन, अतिथि-सत्कार एवं वैश्वदेव—ये ही प्रमुख षट् कर्म हैं।[7] मनु (४।१५२, अनुशासनपर्व १०४।२३) ने भी प्रमुख कर्मों का वर्णन किया है—"मल-मूत्र-त्याग (मैत्र), दन्तधावन, प्रसाधन (तेल-फुलेल), स्नान, अंजन लगाना एवं देवपूजन।"[8]

जैसा कि सूर्यसिद्धान्त (मध्यमाधिकार, ३६) में आया है, दिन की गणना सूर्योदय से की जाती थी, किन्तु व्यावहारिक रूप में सूर्योदय के कुछ पूर्व या कुछ पश्चात् ही दिन का आरम्भ माना जाता रहा है।[9] ब्रह्मवैवर्त-पुराण के अनुसार सूर्योदय के पूर्व चार नाड़ियों (घटिकाओं) से लेकर सूर्यास्त के उपरान्त चार नाड़ियों तक दिन का काल रहता है, अर्थात् जब कोई सूर्योदय के पूर्व स्नान कर लेता है तो वह स्नान सूर्योदय के उपरान्त वाले दिन का ही कहा जाता है। मनु (४।९२), याज्ञवल्क्य (१।११५) तथा कुछ अन्य स्मृतियों के अनुसार **ब्राह्म मुहूर्त** में उठना चाहिए, धर्म एवं अर्थ के विषय में, जिसे वह उस दिन प्राप्त करना चाहता है, उसे सोचना चाहिए, उसे दिन के शारीरिक कर्म के विषय में भी सोचना चाहिए और सोचना चाहिए वैदिक नियमों के वास्तविक अर्थ के विषय में। कुल्लूक तथा अन्य लोगों के मत से मनु (४।९२) द्वारा प्रयुक्त शब्द 'मुहूर्त' सामान्यतः समय का ही द्योतक है, न कि दो घटिकाओं की अवधि का, और **ब्राह्म** शब्द इसलिए प्रयुक्त है कि यह वही समय है जब कि किसी की बुद्धि एवं कविता बनाने की शक्ति अपने सर्वोच्च रूप में रहती है। पराशरमाधवीय (१।१, पृ० २२०) के अनुसार सूर्योदय के पूर्व प्रथम प्रहर में दो मुहूर्त होते हैं, जिनमें प्रथम को **ब्राह्म** और दूसरे को **रौद्र** कहते हैं। पितामह (स्मृतिचन्द्रिका, पृ० ८२ में उद्धृत) के मत से रात्रि का अन्तिम प्रहर '**ब्राह्म मुहूर्त**' कहलाता है। बहुत प्राचीन काल से ही सूर्योदय के पूर्व उठ जाना, सामान्यतः सबके लिए किन्तु विशेषतः विद्यार्थियों के लिए उत्तम माना जाता रहा है। गौतम (२३।२१) ने लिखा है कि यदि ब्रह्मचारी सूर्योदय के उपरान्त उठे तो उसे प्रायश्चित्त रूप में बिना खाये-पीये दिन भर खड़े रहकर गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिए, इसी प्रकार यदि वह सूर्यास्त तक सोता रहे तो उसे रात्रि भर जगकर गायत्री जप करना चाहिए। यही बात आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१२।१३-१४ एवं मनु (२।२२०-२२१) में भी पायी जाती है, और इनमें सूर्यास्त के समय सो जाने वाले को **अभिनिर्मुक्त** या **अभिनिम्रुक्त** कहा गया है। गोभिलस्मृति (पद्य में, १।१३९) के अनुसार सोकर उठने पर आँखें धो लेनी चाहिए। ऋग्विधान में ऐसा आया है कि सोकर उठने के उपरान्त जल से आँखें धो लेनी

७. संध्या स्नानं जपो होमो देवतातिथिपूजनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट् कर्माणि दिने दिने॥ पराशर १।३९।

८. मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्। पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम्॥ मनु ४।१५२। मित्र देवता गुदा के देवता हैं, अतः मैत्र का तात्पर्य है मूत्रपुरीषोत्सर्ग।

९. उदयादुदयं भानोर्भूमिसावनवासरः। सूर्यसिद्धान्त (मध्यमाधिकार, ३६)।

चाहिए, किन्तु उसके पूर्व ऋग्वेद (१०।७३।११) का पाठ कर लेना चाहिए, जिसके अन्तिम अर्ध पाद का अर्थ है "अन्धकार से दूर करो, हमारी आँखें भर दो, और हम में उन्हें छोड़ दो जो शिकन्जों में फँसे हों।"

प्रातःकाल उठना

कूर्मपुराण को उद्धृत कर स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ८८) ने लिखा है कि सूर्योदय के कुछ पूर्व उठकर भगवान् का स्मरण करना चाहिए। आह्निकप्रकाश (पृ० १६) ने वामनपुराण (१४।२३-२७) के पाँच श्लोकों को उद्धृत कर बताया है कि इन्हें प्रति दिन प्रातःकाल उठकर पढ़ना चाहिए।[10] आज भी बहुत-से बूढ़े लोग इन श्लोकों को प्रातःकाल जागकर बोला करते हैं। कुछ ग्रन्थों के अनुसार जो भारतसाविश्री नामक चारों श्लोकों का पाठ प्रातःकाल करता है वह सम्पूर्ण महाभारत सुनने का फल प्राप्त करता है और ब्रह्म की प्राप्ति करता है।[11] आह्निकतत्त्व (पृ० ३२७) ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसे सोकर उठने के उपरान्त पढ़ा जाता है और उसमें कर्कोटक नाग, दमयन्ती, राजा नल एवं ऋतुपर्ण के नाम कलि के प्रभावों से मुक्त होने के लिए लिये गये हैं (महाभारत, वनपर्व ७९।१०)। स्मृतिमुक्ताफल ने ऐसा श्लोक उद्धृत किया है जिसमें नल, युधिष्ठिर, सीता एवं कृष्ण पुण्यश्लोक कहे गये हैं, अर्थात् जिनके यश का गान करना पवित्र कार्य है। आचाररत्न (पृ० १०) ने कुछ चिरञ्जीवियों के नाम लेने को कहा है, यथा अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृप, परशुराम एवं मार्कण्डेय, और पाँच पवित्र स्त्रियों के नाम भी गिनाये हैं, यथा अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा एवं मन्दोदरी। आज भी प्राचीन परम्परा के अभ्यासी, विशेषतः बूढ़े लोग, इनका नाम प्रातःकाल उठने पर लेते हैं।

कुछ ग्रन्थों में ऐसा आया है कि प्रातःकाल उठने पर यदि वेदज्ञ ब्राह्मण, सौभाग्यवती स्त्री, गाय, वेदी (जहाँ अग्नि जलायी गयी हो) दिखलाई पड़ें तो व्यक्ति विपत्तियों से छुटकारा पाता है, किन्तु यदि पापी, विधवा, अछूत, नंगा, नकटा दिखलाई पड़ जायँ तो कलि (विपत्ति या झगड़ा-टंटा) के द्योतक हैं (गोभिलस्मृति २।१६३ एवं १६५)। पराशर (१२।४७) के मत से वैदिक यज्ञ करनेवाले, कृष्णपिंगल-वर्ण गाय, सत्र करनेवाले, राजा, संन्यासी तथा समुद्र को देखने से पवित्रता आती है, अतः इन्हें सदैव देखना चाहिए।

मल-मूत्र त्याग

प्रातःकाल उठने एवं उसके कृत्य के उपरान्त मल-मूत्र त्यागने का कृत्य है। अति प्राचीन सूत्रों एवं स्मृतियों में इसके विषय में पर्याप्त लम्बा-चौड़ा वर्णन है। बहुत-से नियम तो स्वच्छता-स्वास्थ्य-सम्बन्धी हैं, किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में धर्म, व्यवहार-नियम, नैतिक-नियम, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के नियम एक-दूसरे से मिले हुए पाये जाते हैं, अतः इनका धर्मशास्त्रों में उपदिष्ट होना आश्चर्य का विषय नहीं है। अथर्ववेद (१३।१।५६) में भी आया है—"मैं तुम्हारी जड़ को, जो तुम गाय को पैर से मारते हो, सूर्य की ओर मूत्र-त्याग करते हो, काट देता हूँ। तुम इसके आगे छाया न

१०. ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च। गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥ वामनपुराण (१४।२३)।

११. देखिए नित्याचारपद्धति, पृ० १५-१६, आह्निकप्रकाश, पृ० २१। ये श्लोक, यथा—महाभारत, स्वर्गारोहणिक पर्व ५।६०-६३, भारतसाविश्री कहे जाते हैं। उनके प्रथम पाद हैं "मातापितृसहस्राणि, हर्षस्थानसहस्राणि, ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न जातु कामान्न भयान्न लोभात्।"

दोगे।"[१२] अथर्ववेद के अनुसार खड़े होकर मूत्रत्याग निन्दाजनक माना जाता है (७।१०२ या १०७।१); "मैं खड़ा होकर मूत्र न त्यागूंगा, देवता मेरा अमंगल न करें।" गौतम (९।१३, १५,३७-३८), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।११।३०, १५-३० एवं १।११।३१।१-३), वसिष्ठधर्मसूत्र (६।१०-१९ एवं १२।११-१३), मनु (४,४५-५२, ५६, १५१), याज्ञवल्क्य (१।१६-१७, १३४, १५४), विष्णुधर्मसूत्र (६०।१-२६), शंख[१३] (मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य १।१३४ द्वारा उद्धृत), वायुपुराण (७८।५९-६४ एवं ७९।२५-३१) एवं वामनपुराण (१४।३०-३२) के कथनों को हम इस प्रकार संक्षिप्त कर सकते हैं—

देह की स्वच्छता एवं शुद्धि के नियम

मार्ग, राख, गोबर, जोते एवं बोये हुए खेतों, वृक्ष की छाया, नदी या जल, घास या सुन्दर स्थलों, वेदी के लिए बनी ईंटों, पर्वतशिखरों, गिरे-पड़े देव-स्थलों या गोशालाओं, चींटियों के स्थलों, कब्रों या छिद्रों, अन्न फटकारने के स्थलों, बालुकामय तटों में मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, ब्राह्मण, जल, किसी देवमूर्ति, गाय, वायु की ओर मुख करके भी मलमूत्र-त्याग नहीं करना चाहिए। खुली भूमि पर भी ये कृत्य नहीं किये जाने चाहिए, हाँ, सूखी टहनियों, पत्तियों एवं घासों वाली भूमि पर ये कृत्य सम्पादित हो सकते हैं। दिन में या गोधूलि के समय सिर ढँककर उत्तराभिमुख तथा रात्रि में दक्षिणाभिमुख मलमूत्र-त्याग करना चाहिए, किन्तु जब भय हो या कोई आपत्ति हो तो किसी भी दिशा में ये कृत्य सम्पादित हो सकते हैं। खड़े होकर या चलते हुए मूत्र-त्याग नहीं करना चाहिए (मनु ४।४७) और न बोलना ही चाहिए।[१४] बस्ती से दूर दक्षिण या दक्षिण-पश्चिम जाकर ही मलमूत्र त्याग करना चाहिए। मनु (५।१२६) एवं याज्ञवल्क्य (१।१७) के अनुसार मलमूत्र-त्याग के उपरान्त अंगों को पानी से एवं मिट्टी के भागों से इतना स्वच्छ कर देना चाहिए कि गन्ध या गन्दगी दूर हो जाय। मनु (५।१३६ एवं १३७) एवं विष्णुधर्मसूत्र (६०।२५-२६) के अनुसार मिट्टी का एक भाग लिंग (मूत्रेन्द्रिय) पर, तीन भाग मलस्थान पर, दस बायें हाथ में, सात दोनों हाथों में तथा तीन दोनों पैरों में लगाने चाहिए। शौच की इतनी सीमा गृहस्थों के लिए है, किन्तु ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों एवं संन्यासियों को दूने, तिगुने, चौगुने, जितने की आवश्यकता हो उतने मिट्टी के भागों से स्वच्छता करनी चाहिए। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।१७) ने लिखा है कि इतने भागों की व्यवस्था केवल इसलिए है कि प्रयुक्त अंग ठीक से स्ववच्छ हो जायँ, यों तो उतनी ही मिट्टी प्रयोग में लानी चाहिए जितनी से स्वच्छता प्राप्त हो जाय। यही बात गौतम (१।४५-४६), वसिष्ठधर्मसूत्र (३।४८), मनु (५।१३४) एवं देवल में पायी जाती है। भद्र लोग मिट्टी के भाग की, जैसा कि स्मृतियों में वर्णित है, चिन्ता नहीं करते, वे उननी ही मिट्टी प्रयोग में लाते

१२. यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति। तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्॥ अथर्ववेद १३।१।५६; मेक्याम्यूर्ध्वस्तिष्ठन्मा मा हिंसिपुरीश्वराः॥ अथर्ववेद ७।१०२ (१०७)।१।

१३. न गोमय-कृष्टोप्त-शाद्वल-चिति-श्मशान-वल्मीक-वर्त्म-खल-गोष्ठ-बिल-पर्वत-पुलिनेषु मेहेत भूताधारत्वात्। शंख (मिताक्षरा द्वारा याज्ञवल्क्य १।१३४ की व्याख्या में उद्धृत)।

१४. उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने। स्नाने भोजनकाले च षट्सु मौन समाचरेत्॥ हारीत (आह्निकप्रकाश, पृ० २६ में उद्धृत)। यही लघु-हारीत का ४०वाँ श्लोक है। अत्रि (३२३) ने लिखा है—"पुरीषे मैथुने होमे प्रस्रावे दन्तधावने। स्नानभोजनजप्येषु सदा मौनं समाचरेत्॥

हैं, जिससे पवित्रता या शौच प्राप्त हो जाय।[15] स्मृत्यर्थसार (पृ० १९) ने दक्ष (५।१२) का अनुसरण करते हुए लिखा है कि रात्रि में दिन के लिए व्यवस्थित शौच का आधा, रोगी के लिए एक-चौथाई तथा यात्री के लिए केवल अष्टमांश होना चाहिए, तथा स्त्रियों, शूद्रों, बच्चों (जिनका उपनयन अभी न हुआ हो) के लिए मिट्टी के भाग की निर्धारित संख्या नहीं है। स्वच्छ करने में प्रस्तर, वस्त्र-खण्ड एवं पेड़ की नयी टहनियाँ प्रयोग में नहीं लानी चाहिए (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।११।३०।३०, गौतम ९।१५), और न नदी या झील के भीतर की, मंदिर की, वल्मीक (चींटियों के टीले) की, चूहों के छिपने के स्थलों की, गोबर-स्थल की तथा काम में लाने से अवशिष्ट मिट्टी प्रयोग में लानी चाहिए (वसिष्ठधर्मसूत्र ६।१७), और न कब्र या मार्ग वाली या कीड़ों से भरी, या कोयले, हड्डियों या बालू वाली मिट्टी ही प्रयोग में लानी चाहिए।

इस विषय में और देखिए दक्ष (५।७), जो मिट्टी की मात्रा के विषय में व्यवस्था देते हैं। प्रथम बार उतनी मिट्टी जितनी आधे हाथ में आ सके, दूसरी बार उसका आधा भाग...और इसी प्रकार कम करते जाना चाहिए। मिट्टी का अंश आमलक फल के आकार का होना चाहिए (कूर्मपुराण, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १८२ में उद्धृत)। जूता पहनकर मल-मूत्र-त्याग नहीं करना चाहिए (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।११।३०।१८); उस समय यज्ञोपवीत को दाहिने कान पर लटका लेना चाहिए या निवीत रूप में पीठ पर चढ़ा लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य (१।१६) के मत से यज्ञोपवीत को केवल दाहिने कान पर लटका लेना चाहिए। वनपर्व (५९।२) में आया है कि जब नल ने मूत्र-त्याग के उपरान्त अपना पैर नहीं धोया तो कलि (दुर्गुण एवं झगड़ा आदि का देवता) उनमें प्रविष्ट हो गया।

शौच के प्रकार

प्रातःसमय शरीर-स्वच्छता तो सामान्य शौच का केवल एक अंग है। गौतम (८।२४) के मत से शौच एक आत्मगुण है। ऋग्वेद (७।५६।१२ आदि) ने शुचित्व पर बल दिया है। हारीत के अनुसार "शौच धर्म की ओर प्रथम मार्ग है। यहाँ ब्रह्म (वेद) का निवास-स्थान है, श्री (लक्ष्मी) भी यहीं रहती है, इससे मन स्वच्छ होता है, देवता इससे प्रसन्न रहते हैं, इसके द्वारा आत्म-बोध होता है और इससे बुद्धि का जागरण होता है।"[16] बौधायनधर्मसूत्र (३।१।२६), हारीत, दक्ष (५।३) एवं व्याघ्रपाद (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ९३ में उद्धृत) के अनुसार शौच के दो प्रकार हैं, यथा बाह्य (बाहरी) एवं आन्तर या आभ्यन्तर, जिनमें प्रथम पानी एवं गीली या भुरभुरी मिट्टी से तथा दूसरा अपने मनोभावों की पवित्रता से प्राप्त होता है। हारीत ने बाह्य शौच को तीन भागों में विभाजित किया है; (१) **कुल** (कुल में जन्म एवं मरण के समय उत्पन्न अशौच से पवित्र होना), **अर्थ** (सभी प्रकार के पात्रों एवं पदार्थों को स्वच्छ रखना) एवं **शरीर** (अपने शरीर को शुद्ध रखना)। उन्होंने आभ्यन्तर को पाँच भागों में बाँटा है; (१) **मानस**, (२) **चाक्षुष** (न देखने योग्य पदार्थों को न देखना), (३) **घ्राण्य** (न सूँघने योग्य वस्तुओं को न सूँघना),

१५. यावत्साध्विति मन्येत तावच्छौचं विधीयते। प्रमाणं शौचसंख्यायां न शिष्टैरुपदिश्यते॥ देवल (गृहस्थ-रत्नाकर, पृ० १४७ में एवं स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ९३ में उद्धृत)।

१६. तत्र हारीतः। शौचं नाम धर्मादिपथो ब्रह्मायतनं श्रियोधिवासो मनसः प्रसादनं देवानां प्रियं शरीरे क्षेत्र-दर्शनं बुद्धिप्रबोधनम्। गृहस्थरत्नाकर, पृ० ५२२।

शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्॥ दक्ष ५।३ एवं व्याघ्रपाद।

(४) **वाच्य** (वाणी का), (५) **स्वाद्य** (जिह्वा का)। **गौतम** (८।२४) की व्याख्या में हरदत्त ने शौच के चार प्रकार बताये हैं—(१) **द्रव्य** (किसी द्वारा प्रयुक्त पात्र एवं पदार्थ का), (२) **मानस**, (३) **वाच्य** एवं (४) **शारीर**। वृद्ध-गौतम ने पाँच प्रकार के शौच बताये हैं—(१) **मानस**, (२) **कर्म का**, (३) **कुल का**, (४) **शरीर का** एवं (५) **वाणी का**। मनु (५।१३५), विष्णुधर्मसूत्र (२२।८१) एवं अत्रि (३१) के अनुसार बारह प्रकार के **मल** होते हैं--(१) चर्बी, (२) वीर्य, (३) रक्त, (४) मज्जा, (५) मूत्र, (६) विष्ठा, (७) नासामल, (८) खूंट, (९) खखार (कफ), (१०) आँसू, (११) नेत्रमल एवं (१२) पसीना। इनमें प्रथम छः पानी एवं मिट्टी से किन्तु अन्तिम छः केवल पानी से स्वच्छ हो जाते हैं।

आचमन

शौच कृत्य समाप्त करने के उपरान्त मुख को १२ कुल्लों (गण्डूषों) से स्वच्छ करना चाहिए (स्मृतिमुक्ताफल, आह्निक, पृ० २२०)। इसके उपरान्त **आचमन** करना चाहिए। उपनयन के अध्याय में आचमन के विषय में बहुत-कुछ कहा जा चुका है। शिखा बाँधकर एवं पीछे से परिधान को मोड़कर आचमन करना चाहिए, पानी को करतल में इतनी मात्रा में डालना चाहिए कि माष (उर्द) का बीज डूब सके; अँगूठे एवं कानी अँगुली को छोड़कर अन्य तीनों अँगुलियों को मिलाकर ब्राह्म तीर्थ (हथेली के ऊपरी भाग) से जल पीना चाहिए। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ है दाहिने हाथ का वह भाग जिसके द्वारा धार्मिक कृत्यों में जल ग्रहण किया जाता एवं गिराया जाता है, शरीर के ऐसे भागों को देवताओं के नाम से सम्बोधित किया जाता है।[17] बहुत-सी स्मृतियों में चार तीर्थों के नाम आये हैं। यथा **प्राजापत्य** या **काय**, **पित्र्य**, **ब्राह्म** एवं **दैव** (मनु २।५९, विष्णुधर्मसूत्र ६२।१-४, याज्ञवल्क्य १।१९ आदि)। किन्तु शाट्यायनकल्प, वृद्ध दक्ष (२।१८) आदि में पाँच नाम आये हैं, यथा **दैव** (जब ब्राह्मण अपने दाहिने हाथ के अगले भाग को पूर्वाभिमुख करता है), **पित्र्य** (दाहिने हाथ का दाहिना भाग), **ब्राह्म** (अँगुलियों के सामने का भाग अर्थात् हथेली वाला भाग), **प्राजापत्य** (कानी अँगुली के पास वाला भाग) एवं **पारमेष्ठ्य** (दाहिने करतल का मध्य-भाग)। पारस्करगृह्यसूत्र में **पारमेष्ठ्य को** आग्नेय कहा गया है। शंखस्मृति (१०।१-२) ने **काय** एवं **प्राजापत्य** में अन्तर बताया है, ब्राह्म **का नाम छोड़** दिया है और उसके स्थान पर प्राजापत्य रखा है। वैखानस (१।५) ने छः तीर्थों के नाम दिये हैं, **जिनमें प्रथम चार** ज्यों-के-त्यों हैं, पाँचवाँ आग्नेय (हथेली का मध्य भाग) एवं छठा आर्ष (सभी अँगुलियों की जड़ें एवं पोर) है। **कुछ लोगों** के मत से दैव तीर्थ अँगुलियों की पोरों पर है तथा सौम्य एवं आग्नेय हथेली के मध्य में हैं। हारीत के मत **से दैव** तीर्थ का उपयोग मार्जन, देव-पूजन, बलि देने या भोजन में होता है; काय तीर्थ का उपयोग लाजा-होम, आह्निक होम में तथा पित्र्य तीर्थ का उपयोग पितरों के कृत्यों में होता है। कमण्डलु-स्पर्श में, दही एवं नवान्न खाने में सौम्य तीर्थ का उपयोग होता है (स्मृत्यर्थसार, पृ० २०)। जब जल की दुर्लभता हो और आचमन करना आवश्यक हो तो दाहिना कान छू लेना पर्याप्त माना जाता है (स्मृत्यर्थसार, पृ० २१)। आच-मन के विषय में निबन्धों ने बड़ा विस्तार किया है। जिसे हम स्थानाभाव से यहाँ उपस्थित नहीं कर रहे हैं। इस विषय में देखिए **स्मृतिचन्द्रिका** (१, पृ० ९५-१०४), स्मृतिमुक्ताफल, आह्निकप्रकाश (पृ० २२१-२४०), आह्निक-तत्त्व (पृ० ३३३-३४४), गृहस्थरत्नाकर (पृ० १५०-१७२) आदि। आपस्तम्बस्मृति (पद्य में) के मत से आचमन की

१७. तीर्थमिति च दक्षिणहस्तेऽवतारप्रदेशनामधेयम्। लोकेप्युदकाद्यवतारे तीर्थशब्दः प्रसिद्धः। तानि च विशेषकार्योपयिकत्वात् स्तुत्यर्थं देवताभिराख्यायन्ते। विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।१९)।

विधि चार प्रकार की है—**पौराणिक** (जिसमें प्रत्येक आचमन में केशव, नारायण, माधव आदि के नाम लिये जाते हैं), **स्मार्त** (जैसा कि मनु २।६० आदि स्मृतियों में कहा गया है), **आगम** (जैसा कि शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों की पवित्र पुस्तकों में सिखाया गया है) एवं **श्रौत** (जैसा कि वैदिक यज्ञों के लिए श्रौतसूत्रों में कहा गया है)। आधुनिक काल में पौराणिक विधि ही बहुधा ब्राह्मणों द्वारा प्रयोग में लायी जाती है।

दन्तधावन

दन्तधावन का स्थान शौच एवं आचमन के उपरान्त एवं स्नान के पूर्व है (देखिए याज्ञवल्क्य १।९८ एवं दक्ष २।६)। बहुत प्राचीन काल से ही दन्तधावन की व्यवस्था भारत में रही है। तैत्तिरीय संहिता (२।५।१।७) में आया है कि रजस्वला स्त्रियों को दन्तधावन नहीं करना चाहिए, नहीं तो उत्पन्न पुत्र के दाँत काले हो जायेंगे। दन्तधावन एक स्वतन्त्र कृत्य है, यह स्नान तथा प्रातःकाल की सन्ध्या का कोई अंग नहीं है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।८।५) ने लिखा है कि जो गुरुकुल से अध्ययन समाप्त करके लौट आया है उसे बाद में भी यदि गुरु का सम्पर्क हो जाय तो दन्तधावन, शरीर-मर्दन, केशविन्यास नहीं करना चाहिए और न वेदाध्ययन के समय यह सब कृत्य ही करना चाहिए (१।३।११।१०-१२)। गौतम (२।१९) एवं वसिष्ठधर्मसूत्र (७।१५) के अनुसार ब्रह्मचारी को बहुत देर तक दन्तधावन करने का आनन्द नहीं लेना चाहिए।

गोभिलस्मृति (जिसे छन्दोग-परिशिष्ट भी कहा जाता है) में आया है कि जब व्यक्ति जल से या घर पर मुंह धोता है तो मन्त्रोच्चारण नहीं करता है, किन्तु जब वह दातुन (लकड़ी का डण्ठल) प्रयोग में लाता है तो यह मन्त्र कहता है—"हे वृक्ष, मुझे आयु, बल, यश, ज्योति, सन्तान, पशु, धन, ब्रह्म (वेद), स्मृति एवं बुद्धि दो।" पारस्कर-गृह्यसूत्र (२।६) एवं आपस्तम्बगृह्यसूत्र (१२।६) में समावर्तन के समय उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी की दातुन करने की व्यवस्था है।

दातुन की लम्बाई, वृक्ष (जिसकी लकड़ी उपयोग में लायी जा सकती है या निषिद्ध है), दिन एवं अवसर (जिस दिन या अवसर पर दन्तधावन नहीं किया जाता) के विषय में विस्तार के साथ नियम दिये गये हैं। दो-एक नियम यहाँ उल्लिखित हो रहे हैं। ऐसे वृक्ष की टहनी जिसके तने में कण्टक हों और टहनी तोड़ने पर जिससे दूध ऐसा रस निकले, प्रयोग में लानी चाहिए तथा वट, असन, अर्क, खदिर, करञ्ज, बदर, सर्ज, निम्ब, अरिमेद, अपामार्ग, मालती, ककुभ, बिल्व, आम, पुन्नाग, शिरीष की टहनियाँ प्रयोग मे लानी चाहिए।[18] ये टहनियाँ स्वाद में कषाय, तिक्त एवं कटु होनी चाहिए, न कि मीठी या खट्टी। दन्तधावन में निम्नलिखित वृक्ष प्रयोग में नहीं लाये जाते—पलाश, श्लेष्मातक, अरिष्ट, विभीतक, धव, बन्धूक, निर्गुण्डी, शिग्रु, तिल्व, तिन्दुक, इंगुद, गुग्गुलु, शमी, पीलु, पिप्पल, कोविदार आदि (विष्णुधर्मसूत्र ६१।१।५)। टहनियाँ शुष्क या अशुष्क दोनों हो सकती हैं, किन्तु पेड़ पर की सूखी नहीं

१८. वटासनार्कखदिरकरञ्जबदरसर्जनिम्बारिमेदापामार्गमालतीककुभबिल्वानामन्यतमम्। काषायं तिक्तं कटुकं च। विष्णुधर्मसूत्र (६१।१४-१५)। आम्रपालाशबिल्वानामपामार्गशिरीषयोः। खादिरस्य करञ्जस्य कदम्बस्य तथैव च॥ अर्कस्य करवीरस्य कुटजस्य विशेषतः। वाग्यतः प्रातरुत्थाय भक्षयेद्दन्तधावनम्॥ अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा (४।१-२); सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः। नारद; आम्रपुन्नागबिल्वानामपामार्गशिरीषयोः। भक्षयेत् प्रातरुत्थाय वाग्यतो दन्तधावनम्॥ अंगिरा। ये सभी उद्धरण स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १०५-१०६) में पाये जाते हैं। "सर्वे कण्टकिनः—यशस्विनः" नृसिंहपुराण (५८।४९) का है।

(विष्णुधर्मसूत्र ६१।८ एवं नृसिंहपुराण ५८।४६)। उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके दन्तधावन करना चाहिए, न कि पश्चिम या दक्षिण (विष्णुधर्मसूत्र ६१।१२-१३)। विष्णुधर्मसूत्र (६१।१६-१७) के मत से टहनी बारह अंगुल लम्बी एवं कानी अंगुली की पोर जितनी मोटी होनी चाहिए। उसे धोकर प्रयोग में लाना चाहिए तथा प्रयोग के उपरान्त गन्दे स्थान में नहीं फेंकना चाहिए। लम्बाई के विषय में कई मत हैं। नृसिंहपुराण (५८।४९,५०) के मत से आठ अंगुल या एक बित्ता (प्रादेश), गर्ग (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १०५ में उद्धृत) के मत से चारों वर्णों तथा स्त्रियों के लिए क्रम से १०, ९, ८, ७ या ४ अंगुल लम्बी टहनी होनी चाहिए। ईंट के टुकड़ों, मिट्टी या प्रस्तरों या खाली अँगुलियों से (अँगूठा एवं अनामिका के सिवा) मुंह नहीं धोना चाहिए (लघु शातातप ८,७३, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १०६)।

लघु हारीत एवं नृसिंहपुराण (५८।५०-५२) के मत से प्रतिपदा, पर्व की तिथियों (जिस दिन चन्द्र दिखाई पड़े, पूर्णमासी, अमावस, अष्टमी, चतुर्दशी तथा उस दिन जब सूर्य नयी राशि में जाय, देखिए विष्णुपुराण ३।११।११८), षष्ठी, नवमी या जिस दिन दातुन न मिले, दन्तधावन का त्याग होना चाहिए तथा केवल १२ कुल्लों (गण्डूषों) से मुंह धो लेना चाहिए। पैठीनसि (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १०६) के मत से घास, पत्तियों, जल एवं अनामिका को छोड़कर किसी भी अँगुली से दन्तधावन हो सकता है। दन्तविहीन लोग गण्डूषों (कुल्लों से या मुख में पानी भरकर) से मुख स्वच्छ कर सकते हैं। जिस दिन वर्जित न हो, उस दिन जिह्वा को भी इसी प्रकार रगड़कर स्वच्छ करना चाहिए। श्राद्ध के दिन, यज्ञ के दिन, नियम पालते समय, पति के विदेश रहने पर, अजीर्ण होने पर, विवाह के दिन, उपवास या व्रत में (स्मृत्यर्थसार, पृ० २५) दन्तधावन नहीं होना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र (६१।१६) ने न केवल प्रातःकाल, प्रत्युत प्रत्येक भोजन के उपरान्त दन्तधावन की बात कही है, ऐसा केवल (देवल के अनुसार) दाँतों के बीच के अन्नांश को निकालने के लिए किया जाता है।

स्नान

दन्तधावन के उपरान्त स्नान किया जाता है। आचमन, स्नान, जप होम एवं अन्य कृत्यों में कुश को दाहिने हाथ में रखना होता है, अतः कुश के विषय में यहाँ कुछ लिख देना अनिवार्य है।

कुशों का उपयोग—कूर्मपुराण के अनुसार बिना दर्भ एवं यज्ञोपवीत के जो कृत्य किया जाता है, उससे इह-लोक एवं परलोक में कोई फल नहीं मिलता (कृत्यरत्नाकर, पृ० ४८ में उद्धृत)। शातातप के अनुसार "जप, होम, दान, स्वाध्याय (वेदाध्ययन) या पितृतर्पण के समय दाहिने हाथ में सोना, चाँदी एवं कुश रखने चाहिए" (स्मृति-चन्द्रिका १, पृ० १०८)। आचमन आदि करते समय दाहिने हाथ या दोनों हाथों में दर्भ का पवित्र (अँगूठी के समान कुशों का गोल छल्ला) रखना चाहिए, जो अनामिका अँगुली में पहना जाता है; या उस समय दाहिने हाथ में केवल कुश रखना चाहिए। कुश-धारण कई प्रकार से होता है।[१९] भाद्रपद (अमान्त श्रावण) मास की अमावस को कुश एकत्र करने चाहिए, क्योंकि उस दिन एकत्र किये गये कुश कभी बासी (पुराने) नहीं पड़ते और पुनः प्रयोग में लाये

१९. शातातपः। जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये पितृतर्पणे। अशून्यं तु करं कुर्यात्सुवर्णरजतैः कुशैः।। स्मृति-चन्द्रिका १, पृ० १०८; देखिए स्मृत्यर्थसार। अत्र चत्वारः पक्षाः। हस्तद्वये दर्भधारणं हस्तद्वये पवित्रधारणं दक्षिणे पवित्रं वामे कुशा दक्षिण एवोभयमिति। आचाररत्नाकर, पृ० २४। देखिए गोभिलस्मृति १।२८ (अपरार्क द्वारा पृ० ४३ एवं ४८० में उद्धृत)।

जा सकते हैं। चारों वर्णों का पवित्र ४ दर्भों या क्रम से ३, २ या १ दर्भ का होना चाहिए या सबके लिए दो दर्भों का पवित्र होना चाहिए। जिसमें आगे कोई अंकुर नहीं फूटते, वह दर्भ कहा जाता है, जिसमें पुनः अंकुर निकलते हैं वह कुश कहलाता है, किन्तु जड़ के साथ दर्भ को कुतप तथा जिसके ऊपरी पोर काट डाले गये हैं वह तृण कहलाता है। तिल के खेत में उगने वाले तथा जिनमें सात अंकुर हों ऐसे कुश बड़े मंगलमय समझे जाते हैं।

यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाले दर्भों का रंग हरा एवं पाकयज्ञों में प्रयुक्त होनेवालों का रंग पीला होना चाहिए, पितरों के श्राद्ध वाले दर्भ समूल होने चाहिए तथा वैश्वदेव के लिए विभिन्न रंग वाले होने चाहिए। पिण्डदान, पितृ-तर्पण या मलमूत्र-त्याग के समय प्रयुक्त दर्भ फेंक देने चाहिए (स्मृत्यर्थसार, पृ० ३७)। यदि दर्भ (कुश) न मिले तो कास का दूर्वा का प्रयोग हो सकता है।

स्नान—इसका वर्णन कई प्रकार से हो सकता है। यह या तो **मुख्य** (जल के साथ) या **गौण** (बिना जल के) होता है, और पुनः ये दोनों प्रकार कई भागों में बँटे हैं। दक्ष (२।४८) के मत से स्नान **नित्य** (आवश्यक—प्रति दिन वाला), **नैमित्तिक** (किन्हीं विशेष अवसरों पर किया जाने वाला) एवं **काम्य** (किसी फल-प्राप्ति की इच्छा से किया जाने वाला) होता है। सभी वर्णों को प्रति दिन जल में या जल से पूरे शरीर के साथ (सशिर) स्नान करना चाहिए (बौधायनधर्मसूत्र २।४।४, मनु २।१७६ एवं ४।८।८२) तथा द्विजातियों को वैदिक मन्त्रों के साथ स्नान करना चाहिए। इसे ही **नित्य स्नान** कहते हैं। बिना नित्य स्नान के होम, जप एवं अन्य कृत्य नहीं सम्पादित हो सकते (शंख ८।२ एवं दक्ष २।९)। शरीर गन्दा होता है, क्योंकि इससे दिन और रात गन्दगी निकला करती है, अतः प्रति प्रातः स्नान करके इसे स्वच्छ करना चाहिए। इस प्रकार से स्नान द्वारा दृश्य एवं अदृश्य फल प्राप्त किये जाते हैं।

याज्ञवल्क्य (१।९५ एवं १००), लघु-आश्वलायन (१।१६, ७५), दक्ष (२।९ एवं ४३) आदि के अनुसार ब्राह्मण गृहस्थों को दो बार, प्रथम प्रातः और दूसरा मध्याह्न में, स्नान करना चाहिए। ब्रह्मचारियों के लिए एक बार तथा वानप्रस्थों के लिए दो बार स्नान करने की व्यवस्था है (मनु ६।६)। किन्तु मनु (६।२८) एवं याज्ञवल्क्य (३।४८) के अनुसार वानप्रस्थों एवं यतियों के लिए प्रातः, मध्याह्न एवं सायं (तीन बार) स्नान करने की व्यवस्था है। स्मृत्यर्थसार (पृ० २७) के अनुसार आजकल बहुधा मध्याह्न के पूर्व स्नान होता है, यति लोग प्रातः स्नान करते हैं, और प्रातः ही व्रत करने वाले, ब्रह्मचारी, यज्ञ कराने वाले पुरोहित, वेदपाठी छात्र तथा तप में लगे हुए लोग स्नान करते हैं। दन्तधावन के उपरान्त सूर्योदय के पूर्व ही स्नान कर लेना चाहिए (विष्णुधर्मसूत्र ६४।८)। गोभिलस्मृति (२।२४) के अनुसार स्नान के समय मन्त्रपाठ करने में अधिक समय नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि होम के समय (पूर्व दिशा में एक बित्ता भर सूर्य के उठ जाने तक) पाठ तो होता ही है (देखिए मनु २।१५)। **माध्याह्न** स्नान दिन के चौथे भाग में (दिन आठ भागों में विभाजित करके) करना चाहिए तथा साथ में भुरभुरी मिट्टी, गोबर, पुष्प, अक्षत चावल, कुश, तिल एवं चन्दन होना चाहिए (दक्ष २।४३ एवं लघु-व्यास २।९)। रोगी व्यक्ति को माध्याह्न स्नान नहीं करना चाहिए। तीसरा स्नान (वानप्रस्थों एवं यतियों के लिए) सूर्यास्त के पूर्व (सूर्यास्त के उपरान्त या रात्रि में नहीं) कर लेना चाहिए। रात्रि-स्नान वर्जित है, किन्तु ग्रहण, विवाह, जन्म-मरण या किसी व्रत के समय यह वर्जित नहीं है। मनु (४।१२९ तथा कुल्लूक की इस पर व्याख्या) एवं पराशर (१२।२७) के अनुसार रात्रि की गणना विशेषतः दो प्रहर के उपरान्त होती है।

नित्य स्नान शीतल जल से होना चाहिए। साधारणतः गर्म जल वर्जित है। शंख (८।९-१०) एवं दक्ष (२।६४) के अनुसार गर्म जल या दूसरे के लिए रखे हुए जल से स्नान करने पर अदृश्य आध्यात्मिक सुन्दर फल नहीं प्राप्त होता। नैमित्तिक एवं काम्य स्नान तो प्रत्येक दशा में शीतल जल से होते ही हैं, केवल नित्य स्नान में ही कभी कभी अपवाद पाया जा सकता है (गर्ग, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १२३ में उद्धृत)।

मनु (४।२०३), विष्णुधर्मसूत्र (६४।१-२ एवं १५-१६), याज्ञवल्क्य (१।१५९), दक्ष (२।४३), व्यास-स्मृति (३।७-८), शंख (८।२) तथा अन्य लोगों का कथन है कि प्रति दिन स्वाभाविक जल में अर्थात् नदियों, वापियों (मन्दिरों से सम्बद्ध), झीलों, गहरे कुण्डों एवं पर्वत-प्रपातों में स्नान करना चाहिए। किसी दूसरे के जल (कूप या कुण्ड आदि) में स्नान नहीं करना चाहिए, किन्तु अन्यत्र जल न हो तो कुण्ड के जल में से ३ या ५ मुट्ठी मिट्टी निकालकर या कूप में से ३ या ५ घड़ा जल निकालकर स्नान करना चाहिए। इस विषय में बात यह है कि ऐसा न करने से कुण्ड या कूप वाला व्यक्ति स्नान करनेवाले के पुण्य का भागी हो जायगा (बौधायनधर्मसूत्र २।३।७), या स्नान करनेवाला उसके पाप का भागी हो जायगा (मनु ४।२०१-२०२)। यदि उपर्युक्त ढंग का स्वाभाविक जल न प्राप्त हो सके तो अपने घर के आँगन में कूपजल से इस प्रकार स्नान करना चाहिए कि वस्त्र भीग जायँ। मनु (४।२०३) में प्रयुक्त नदी एवं गर्त का अर्थ यों है—नदी वह है जो कम-से-कम ८००० धनुष की लम्बाई की हो, इससे छोटे अन्य नदी-नाले गर्त कहे जाते हैं। श्रावण एवं भादों में नदियाँ रजस्वला होती हैं (गन्दे जल वाली होती हैं) अतः उनमें स्नान वर्जित है, केवल उन्हीं नदियों में इन महीनों में स्नान करना चाहिए जो समुद्र में मिलती हैं। किन्तु उपाकर्म, उत्सर्ग, मरण, ग्रहण के समय इन नदियों में भी स्नान करना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र (६४।१७) के अनुसार क्रम से निम्नोक्त जल अपेक्षाकृत अच्छा माना जाता है; पात्र में रखा हुआ जल, कुण्ड-जल, प्रपात-जल, नदी का जल, भद्र लोगों द्वारा प्राचीन समय से प्रयुक्त जल एवं गंगा नदी का जल।

विभिन्न सूत्रों, स्मृतियों एवं निबन्धों में स्नान-विधि विभिन्न ढंगों से वर्णित है। गोभिलस्मृति (१।१३७) के मत से प्रातः एवं मध्याह्न-स्नान की विधि समान है। श्रौत यज्ञ करनेवालों के लिए प्रातःकाल का स्नान संक्षिप्त होता है। विष्णुधर्मसूत्र (६४।१८-२२) के अनुसार शरीर से धूल झाड़कर तथा जल में एवं भुरभुरी मिट्टी से गन्दगी स्वच्छ करके जल में उतरना चाहिए, तब ऋग्वेद की तीन ऋचाओं (१०।९।१-३) के साथ जल का अभिमन्त्रण (आह्वान) करना चाहिए ("आपोहिष्ठा०"), इसी प्रकार चार मन्त्र ("हिरण्यवर्णाः", तैत्तिरीय संहिता ५।६।१।१-२ एवं "इदमापः प्रवहत", ऋग्वेद १।२३।२२ या १०।९।८) कहने चाहिए। पानी में खड़े होकर तीन बार 'अघमर्षण' सूक्त (ऋग्वेद १०।१०९।१-३, ऋतं च सत्यम् आदि) या "तद् विष्णोः परमं पदम्" (ऋग्वेद १।२२।२०) या द्रुपदा गायत्री (वाजसनेयी संहिता २०।२०) या "युञ्जते मनः" के साथ अनुवाक (ऋग्वेद ५।८१।१-५) या पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०।१-१६) पढ़ना चाहिए। स्नान करने के उपरान्त भीगे कपड़ों के साथ जल में ही देवताओं एवं पितरों का तर्पण करना चाहिए। यदि वस्त्र परिवर्तन कर लिया हो तो पानी से बाहर आने पर भी तर्पण हो सकता है। आज-कल भी बहुत-से ब्राह्मण पानी में खड़े होकर पुरुषसूक्त का पाठ करते हैं। और देखिए शंखस्मृति (९), मदनपारिजात (पृ० २७०-२७१), गृहस्थरत्नाकर (पृ० २०६-२०८) एवं पराशरमाधवीय (१।१, पृ० २७४-२७५) आदि, जहाँ शंखस्मृति (अध्याय ९) उद्धृत है। कात्यायन के स्नानसूत्र (गृहस्थरत्नाकर, पृ० २०८-२११ में उद्धृत) में भी स्नान-विधि सविस्तर वर्णित है, जिसे यहाँ स्थानाभाव से नहीं दिया जा रहा है।

अपरार्क द्वारा उद्धृत योगियाज्ञवल्क्य में आया है कि यदि कोई विस्तार के साथ स्नान न करना चाहे तो संक्षेप में इतना ही करना चाहिए—जल का अभिमन्त्रण, आचमन, तब मार्जन (कुश से शरीर पर जल छिड़कना), इसके उपरान्त स्नान तथा अघमर्षण (ऋग्वेद १०।१९०।१-३)। गृहस्थरत्नाकर (पृ० २१५-२१७) पद्मपुराण एवं नृसिंहपुराण की विधि उद्धृत करके कहता है कि पद्मपुराण की विधि सभी वर्णों के लिए मान्य है; सभी वैदिक शाखाओं के लिए समान है, केवल शूद्रों के लिए वैदिक मन्त्रपाठ वर्जित है। स्मृत्यर्थसार (पृ० २८) ने भी स्नान का एक संक्षिप्त वर्णन उपस्थित किया है।

स्नान करते समय कुछ नियमों का पालन परमावश्यक है। गौतम (९।६०) के अनुसार वस्त्रहीन होकर

स्नान नहीं करना चाहिए, और न सारे कपड़ों के साथ ही, केवल नीचे का वस्त्र पर्याप्त है। मनु (४।२९) के अनुसार खाने के उपरान्त स्नान नहीं करना चाहिए। जल के भीतर मूत्र त्याग करना एवं शरीर रगड़ना नहीं चाहिए, यह कृत्य किनारे पर आकर करना चाहिए। जल को पैरों से न पीटना चाहिए और न एक ओर से हलकोरा देकर सारे जल को हिला देना चाहिए (गृहस्थरत्नाकर, पृ० १९१-१९२; वसिष्ठ ६।३६-३७)।

आधुनिक काल के साबुन की भाँति प्राचीन काल में मिट्टी का प्रयोग होता था। आजकल देहातों में नारियाँ अपने सिर को चिकनी मिट्टी से या बेसन से धोती हैं। मिट्टी पवित्र स्थान से ली जाती थी, न कि वल्मीक, चूहों के बिल या जल के भीतर वाली; न मार्ग, पेड़ की जड़, मन्दिर के पास की। किसी व्यक्ति के प्रयोग के उपरान्त अवशेष मिट्टी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। लघु हारीत (७०-७१) के मत से आठ अंगुल नीचे की मिट्टी का प्रयोग करना चाहिए, या वहाँ की जहाँ लोग बहुत कम जाते हैं।

ब्रह्मचारियों को आनन्द लेकर तथा क्रीडा-कौतुक के साथ स्नान नहीं करना चाहिए; केवल लकड़ी की भाँति पानी में डूबकर नहाना चाहिए।

महाभारत, दक्ष एवं अन्य लोगों के मत से स्नान द्वारा दस गुणों की प्राप्ति होती है, यथा बल, रूप, स्वर एवं वर्ण की शुद्धि, शरीर का मधुर एवं गन्धयुक्त स्पर्श, विशुद्धता, श्री, सौकुमार्य एवं सुन्दर स्त्री।[20]

नैमित्तिक स्नान

शंखस्मृति (८।१-११), अग्निपुराण तथा अन्य लोगों के मत से जल-स्नान छः श्रेणियों में बाँटा गया है—**नित्य, नैमित्तिक, काम्य, क्रियांग, मलापकर्षण (या अभ्यंग-स्नान) एवं क्रिया-स्नान। नित्य स्नान** (प्रति दिन का स्नान) ऊपर वर्णित है, नीचे हम अन्य स्नानों पर थोड़ा-थोड़ा लिख रहे हैं। किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर या कुछ विशिष्ट व्यक्तियों या पदार्थों से स्पर्श हो जाने पर जो स्नान किया जाता है, (भले ही इसके पूर्व नित्य स्नान हो चुका हो) उसे नैमित्तिक स्नान कहते हैं, यथा पुत्रोत्पत्ति पर, यज्ञ के अन्त में, किसी सम्बन्धी के मर जाने पर, ग्रहण के समय आदि (पराशर १२।२६ एवं देवल)। इसी प्रकार किसी जाति-च्युत व्यक्ति को (जिसने कोई भयंकर अपराध किया हो), चाण्डाल को, सूतिका को, रजस्वला को, शव को, शव छूनेवाले या शव ले जानेवाले को छू लेने पर वस्त्रसहित स्नान करने को नैमित्तिक स्नान कहते हैं (गौतम १४।२८-२९, वसिष्ठ ४।३८, मनु ५।८५ एवं १०३, याज्ञवल्क्य ३।३०, लघु-आश्वलायन २०।२४)। मनु (५।१४४), शंखस्मृति (८।३), मार्कण्डेयपुराण (३४।३२-३३), ब्रह्म-पुराण (११३।७९), पराशर (७।२८) के अनुसार उलटी करने पर, कई (दस या अधिक) बार मल-त्याग करने पर, केश बनवा लेने पर, दुःस्वप्न देखने पर, संम्भोग कर लेने पर, कब्रगाह या श्मशान में जाने पर, चिता के धूम से शरीर घिर जाने पर, यज्ञ का स्तम्भ (यूप) छू लेने पर (जिसमें बाँधकर पशु को बलि देते हैं), मानव-अस्थि छू जाने पर अपने को पवित्र करने के लिए स्नान करना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१५।१६) ने लिखा है कि कुत्ता के काट लेने पर या छू लेने पर स्नान करना चाहिए। इसी प्रकार बौद्धों, पाशुपतों, जैनों, लोकायतों, नास्तिकों, घृणित कार्य करनेवाले द्विजातियों एवं शूद्रों का स्पर्श होने पर वस्त्र के साथ स्नान करना चाहिए। याज्ञवल्क्य (३।३०) की टीका

२०. गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः। स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः॥ उद्योगपर्व ३७।३३। दक्ष (२।१३) ने भी ऐसा ही कहा है (स्मृत्यर्थसार, पृ० २५)।

मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ११७-११९) एवं अन्य निबन्धों के मत से कुछ पक्षिया (यथा कौआ) तथा कुछ पशुओं (यथा—मुरगों या ग्रामीण सूअरों) को छू लेने पर स्नान करना चाहिए।[21]

काम्य स्नान तथा अन्य प्रकार

किसी तीर्थ को जाते समय या पुष्य नक्षत्र में चन्द्रोदय पर जो स्नान होता है, माघ एवं वैशाख मासों में पुण्य के लिए प्रातःकाल जो स्नान होता है, तथा इसी प्रकार के जो स्नान किसी इच्छा की पूर्ति के लिए किये जाते हैं उन्हें **काम्य** स्नान की संज्ञा मिली है (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १२२-१२३)।

कूप-मन्दिर, वाटिका तथा अन्य जन-कल्याण के निर्माण-कार्य के समय जो स्नान हाता है, उसे **क्रियांग स्नान** की संज्ञा मिली है। जब शरीर में तेल एवं आँवला लगाकर केवल शरीर को स्वच्छ करने की इच्छा से स्नान होता है, तो उसे **मलापकर्षक** या **अभ्यंग-स्नान** कहा जाता है। सूखे आँवलों के प्रयोग के विषय में मार्कण्डेय-पुराण (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १२२), वामनपुराण (१४।४९) आदि में चर्चा हुई है। सप्तमी, नवमी एवं पर्व की तिथियों में आमलक-प्रयोग निषिद्ध माना गाया है। जब कोई किसी तीर्थ-स्थान पर यात्रा के फल-प्राप्त्यर्थ स्नान करता है तो उसे **क्रिया-स्नान** कहते हैं।

बीमार व्यक्ति गर्म जल से स्नान कर सकता है। यदि वह उसे सह न सके तो उसका शरीर (सिर को छोड़कर) पोंछ देना चाहिए। इस स्नान को **कापिल-स्नान** कहते हैं। जब रोगी के लिए स्नान करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है और वह इस योग्य नहीं है कि स्नान कराया जा सके तो किसी दूसरे व्यक्ति को उसे छूकर स्नान करना चाहिए, और जब यह क्रिया दस बार सम्पादित हो जाती है तो रोगी व्यक्ति पवित्र समझा जाता है (यम, अपरार्क पृ० १३५, आह्निक-प्रकाश, पृ० १९७)। जब रजस्वला स्त्री चौथे दिन ज्वर से पीड़ित हो जाय, तो किसी अन्य स्त्री को दस या बारह बार उसे बार-बार स्पर्श करके वस्त्रयुक्त स्नान करना चाहिए। अन्त में रजस्वला की धोती बदल दी जानी चाहिए। इस प्रकार वह पवित्र हो जाती है (उशना, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १२१ में उद्धृत)।

२१. (१) पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा चात्ययकर्मणि। राहोश्च दर्शने स्नानं प्रशस्तं नान्यदा निशि॥ पराशर १२।२६।

(२) पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत्। शवानुगमने च। गौतम १४।२८-२९; सपिण्डमरणे चैव पुत्रजन्मनि वै तथा। स्नानं नैमित्तिकं शस्तं प्रवदन्ति महर्षयः॥ लघ्वाश्वलायन २०।२४।

(३) दुःस्वप्ने मैथुने वान्ते विरिक्ते क्षुरकर्मणि। चितियूपश्मशानास्थ्नां स्पर्शे स्नानमाचरेत्॥ पराशर (याज्ञवल्क्य ३।३० पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत); क्षुरकर्मणि वान्ते च स्त्रीसंभोगे च पुत्रक। स्नायीत चेलवान्प्राज्ञः कट-भूमिमुपेत्य च॥ मार्कण्डेयपुराण ३४।८२-८३; देखिए बौधायनधर्मसूत्र १।५।५२।

(४) शैवान्पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान्। विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान्सवासा जलमाविशेत्॥ ब्रह्माण्डपुराण (याज्ञवल्क्य ३।३० की टीका मिताक्षरा); स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ११८) ने षट्त्रिंशन्मत को उद्धृत किया है—बौद्धान् पाशुपताञ्जैनान् लोकायतिककापिलान्। विक...स्पृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत्॥

गौण स्नान

जल द्वारा स्नान को **वारुण स्नान** कहा जाता है (ऋग्वेद ७।४९।३ के अनुसार वरुण पानी के देवता हैं)। अन्य गौण स्नान छः हैं—**मन्त्र-स्नान, भौम स्नान, आग्नेय स्नान, वायव्य स्नान, दिव्य स्नान, मानस स्नान।** इस प्रकार **वारुण** को लेकर सात गौण स्नान कहे जाते हैं। ये स्नान रोगियों के लिए, समयाभाव या उस समय के लिए हैं, जब कि साधारण मुख्य स्नान करने में कोई कठिनाई या गड़बड़ी हो। दक्ष (२।१५-१६) एवं पराशर (१२।९-११) ने **भौम** एवं **मानस** प्रकारों को छोड़कर सभी गौण स्नानों की चर्चा की है, और **मन्त्र-स्नान** के स्थान पर **ब्राह्म-स्नान** रखा है। वैखानस गृह्यसूत्र (१।२ एवं ५) ने **मन्त्र** एवं **गुर्वनुज्ञा** को समानार्थक माना है। गर्ग एवं बृहस्पति ने भौम एवं मानस को छोड़ दिया है और **सारस्वत-स्नान** जोड़ दिया है। **सारस्वत-स्नान** में कोई विद्वान् व्यक्ति आशीर्वचन भी कहता है, यथा—"तुम गंगा तथा अन्य पवित्र जलों से युक्त सोने के घड़ों से स्नान करो" (आह्निकप्रकाश, पृ० १९६-१९७)। **मन्त्र-स्नान** में 'आपो हि ष्ठा' (ऋग्वेद १०।९।१-३) नामक मन्त्र के साथ जल का छिड़काव होता है, **भौम** (या **पार्थिव**) में भुरभुरी मिट्टी शरीर में पोत दी जाती है, **आग्नेय** में पवित्र विभूतियों (यज्ञ या होम की राखों) से शरीर स्वच्छ किया जाता है, **वायव्य** में गौ के खुरों से उठती हुई धूलि से स्नान करना होता है। **दिव्य** में सूर्य की किरणों के रहते (धूप में) वर्षा में स्नान करना होता है तथा **मानस** में भगवान् विष्णु का स्मरण मात्र पर्याप्त होता है।

तर्पण

देवताओं, ऋषियों एवं पितरों को जल देना स्नान का एक अंग है। तर्पण ब्रह्म-यज्ञ का भी अंग माना जाता है। जल में सिर तक डुबकी ले लेने के उपरान्त जल में खड़े रूप में ही तर्पण किया जाता है (देखिए मनु २।१७६, विष्णुधर्मसूत्र ६४।२३-२४, पराशर १२।१२-१३)। अंजलि से धारा की ओर जल दिया जाता है। वस्त्र-परिवर्तन करके तट पर भी तर्पण किया जा सकता है। तर्पण के विषय में कई एक मत हैं। कुछ लोगों के मत से स्नान के उपरान्त तुरंत ही तर्पण करना चाहिए, यह सन्ध्या-पूजन के पूर्व होना चाहिए, और पुनः उसी दिन इसे ब्रह्मयज्ञ के अंग के रूप में करना चाहिए। किन्तु कुछ अन्य लोगों के मत से दिन में केवल एक बार सन्ध्या-प्रार्थना के उपरान्त इसे करना चाहिए (आह्निकप्रकाश, पृ० १९१)। अपनी-अपनी शाखा (वैदिक सम्प्रदाय) के अनुसार ही तर्पण किया जाता है। ब्रह्मयज्ञ के वर्णन में हम पुनः तर्पण के विषय में कुछ लिखेंगे।

विष्णुधर्मसूत्र (६४।९-१३) के अनुसार स्नान के उपरान्त पानी को हटाने के लिए सिर नहीं झटकना चाहिए, हाथ से भी पानी को नहीं पोंछना चाहिए और न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त वस्त्र प्रयोग में लाना चाहिए, अपने सिर को तौलिया से ढक देना चाहिए और धुले हुए एवं सूखे दो वस्त्र धारण कर लेने चाहिए।

वस्त्र-धारण

ब्रह्मचारी के वस्त्र-धारण के विषय में पहले ही चर्चा हो चुकी है (भाग २, अध्याय ७)। यहाँ गृहस्थों के परिधान के विषय में संक्षिप्त चर्चा की जा रही है। वैदिक साहित्य में कताई-बुनाई की चर्चा आलंकारिक रूप में हुई है (ऋग्वेद १।११५।४, २।३।६, ५।२९।१५, १०।१०६।१)। ऋग्वेद (६।९।२-३) में 'तन्तु' एवं 'ओतु' के नाम आये हैं। परिधान में पहनने के लिए **वासस्** या **वस्त्र** शब्द प्रयुक्त हुए हैं। तैत्तिरीय संहिता (६।१।१।३) में आया है कि वैदिक यज्ञ के लिए दीक्षा लेते समय व्यक्ति को क्षौम (सन का बना हुआ) वस्त्र धारण करना पड़ता था। काठक संहिता (५१।१) के उल्लेख से पता चलता है कि कुछ कृत्यों में क्षौम वस्त्र शुल्क रूप में दिया जाता था। अथर्ववेद में

बाहरी वस्त्र को **वासः** एवं भीतरी को **नीवि** कहा गया है (८।२।१६)। ऋग्वेद (१।१६२।१६) में 'अधिवास' शब्द भी आया है जो सम्भवतः आवरण या घूंघट का द्योतक है। तैत्तिरीय संहिता (२।४।९।२) में काले मृग के चर्म का वर्णन हुआ है। शतपथब्राह्मण (५।२।१।८) में कुश-वासः का नाम आया है। 'कौश' शब्द का अर्थ 'कुश घास का बना हुआ' या कौशेय अर्थात् 'रेशम का बना हुआ' हो सकता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।३।६) में लाल रंग में रँगे हुए वस्त्र के साथ श्वेत रंग के ऊनी वस्त्र की चर्चा हुई है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में वस्त्र ऊनी या सन का बना होता था, रेशमी (कौशेय) वस्त्र पूत अवसरों पर धारण किया जाता था, मृगचर्म भी वस्त्र के रूप में प्रयुक्त होता था तथा वस्त्र लाल रंग में रँगे भी जाते थे। सूती वस्त्र होते थे कि नहीं, इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सूत्रों एवं मनुस्मृति में सूती कपड़ों की स्पष्ट चर्चा मिलती है, इससे प्रकट होता है कि इसके कई शताब्दियों पूर्व सूती कपड़े का आविष्कार हो चुका था (विष्णुधर्मसूत्र ७१।१५ एवं ६३।२४) तथा मनु ८।३२६ एवं १२।६४)। यूनानी एरियन के उल्लेख से पता चलता है कि भारतीय वस्त्र रुई का बना होता था।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।४।२२-२३) के अनुसार गृहस्थ को ऊपरी तथा नीचे के अंगों के लिए दो वस्त्र तथा यदि दरिद्र हो तो एक जनेऊ धारण करना पड़ता था। वसिष्ठधर्मसूत्र (१२।१४) के अनुसार स्नातक को (जो छात्र-जीवन समाप्त करके लौटता है) ऊपर और नीचे वाला वस्त्र तथा एक जोड़ा जनेऊ (दो यज्ञोपवीत) धारण करने पड़ते थे। बौधायनधर्मसूत्र (१।३।२) ने भी यही बात कही है, किन्तु यह भी जोड़ दिया है कि स्नातक को पगड़ी पहननी चाहिए, मृगचर्म ऊपरी वस्त्र के रूप में धारण करना चाहिए तथा जूते और छाता प्रयोग में लाने चाहिए। अपरार्क (पृ० १३३-१३४) ने व्याघ्र एवं योगयाज्ञवल्क्य को उद्धृत करके उपर्युक्त बातें दुहरायी हैं तथा योगयाज्ञवल्क्य की यह बात भी लिखी है कि यदि दूसरा स्वच्छ किया हुआ वस्त्र न मिल सके तो ऊन का कम्बल या सन का बना हुआ वस्त्र धारण करना चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र (१।६।५-६, १०-११) ने यज्ञ एवं पूजा के समय नवीन या स्वच्छ वस्त्र धारण की बात कही है। यज्ञ करनेवाले, उसकी स्त्री तथा पुरोहितों को स्वच्छ एवं हवा में सुखाये हुए वस्त्र धारण करने चाहिए, किन्तु **अभिचार** (शत्रुओं की हानि) करने के लिए जो यज्ञ किये जाते हैं, उनमें पुरोहितों को लाल रंग में रँगे हुए वस्त्र एवं पगड़ी धारण करनी चाहिए। वैदिक यज्ञों में सन के बने हुए वस्त्र, उनके अभाव में सूती या ऊनी कपड़े धारण किये जाने चाहिए। जैमिनि (१०।४।१३) की व्याख्या में शबर ने श्रुति-उक्तियाँ उद्धृत की हैं और कहा है कि यज्ञ करनेवाले तथा उसकी पत्नी को आदर्श यज्ञ में नवीन वस्त्र धारण करना चाहिए तथा महाव्रत में नवीन वस्त्र के अतिरिक्त **तार्प्य** (रेशमी वस्त्र) तथा कुश घास का बना हुआ वस्त्र (पत्नी के लिए) धारण करना चाहिए।[२२] वेदाध्ययन, देवालय, कूप, तालाब आदि के निर्माण के समय, दान देते समय, भोजन करते समय या आचमन करते समय उत्तरीय धारण करना चाहिए। यही बात विष्णुपुराण (३।१२।२०) ने भी कही है।[२३] इस विषय में अन्य मत देखिए,

२२. महाव्रते श्रूयते तार्प्यं यजमानः परिधत्ते दर्भमयं पत्नी इति। अस्ति तु प्रकृतौ अहतं वासः परिधत्ते इति। शबर (जैमिनि १०।४।१३)। तार्प्य किस प्रकार पवित्र किया जाता है, इसके लिए देखिए बौधायनधर्मसूत्र (१।६।१३)। 'अहत' शब्द के दो अर्थ हैं; (१) करघे पर से सीधे आया हुआ नवीन वस्त्र (विवाह या इसके समान मंगलमय कृत्यों में), (२) वह वस्त्र जो धोकर स्वच्छ कर दिया गया है, किन्तु महीनों से प्रयुक्त नहीं हुआ है और वास्तव में बिल्कुल नवीन है और उसकी कोर आदि दुरुस्त हैं। देखिए स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ११३)।

२३. होमदेवार्चनाद्यासु क्रियासु पठने तथा। नैकवस्त्रः प्रवर्तेत द्विजो नाचमने जपे॥ विष्णुपुराण ३।१२।२० (हेमाद्रि द्वारा व्रतखण्ड, पृ० ३५ में उद्धृत)।

यथा गौतम (९।४-५), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।११।३०।१०-१३), बौधायनधर्मसूत्र (२।८।२४), मार्कण्डेयपुराण (३४।४२-४३)। गौतम, आपस्तम्बधर्मसूत्र, मनु (४।३४-३५), याज्ञवल्क्य (१।१३१) तथा अन्य लोगों के मत से स्नातक एवं गृहस्थ को श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए और वे वस्त्र रंगीन, महँगे या कटे-फटे, गन्दे या दूसरे द्वारा प्रयुक्त नहीं होने चाहिए।[24] लाल (काषाय) कपड़ा धारण करके जप, होम, दान, श्राद्ध नहीं करना चाहिए, नहीं तो वे देवता के समीप नहीं पहुँच सकते।[25] नील के रंग में रँगा हुआ वस्त्र भी वर्जित है, यदि ऐसा कोई करता था तो उसे उपवास करना पड़ता था और पञ्चगव्य पीना पड़ता था। गौतम (९।५-७), मनु (४।६६), विष्णुधर्मसूत्र (७१।४७), मार्कण्डेयपुराण (३४।४२-४३) के अनुसार दूसरे के द्वारा प्रयोग में लाये गये जूते, कपड़े, यज्ञोपवीत, आभूषण, माला, घड़ा अपने प्रयोग में नहीं लाने चाहिए, किन्तु यदि ये मिल न सकें तो जूते, माला एवं वस्त्र धोकर काम में लाये जा सकते हैं।[26] स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ११३) में उद्धृत गर्ग के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को क्रम से श्वेत, लाल के साथ चमकीले तथा पीले एवं शूद्र को काले तथा गन्दे वस्त्र धारण करने चाहिए। महाभारत के अनुसार देवपूजन के समय के वस्त्र मार्ग में चलते समय या सोते समय के वस्त्रों से भिन्न होने चाहिए। पराशरमाधवीय द्वारा उद्धृत प्रजापति के अनुसार तर्पण के समय रेशमी वस्त्र पहनना चाहिए, या वह जिसका रंग नारंगी हो, किन्तु भड़कीले रंग का वस्त्र नहीं धारण करना चाहिए।[27] सम्भवतः इसी कारण कालान्तर में भोजन एवं देवपूजन के समय, भारत के कुछ प्रान्तों में रेशमी वस्त्र के धारण का नियम-सा हो गया है। मनु (४।१८) एवं विष्णुधर्मसूत्र (७१।५-६) के मत से अपनी अवस्था, व्यवसाय, धन, विद्या, कुल एवं देश के अनुसार वस्त्र धारण करने चाहिए। वानप्रस्थ एवं संन्यासियों के वस्त्र धारण के विषय में हम आगे पढ़ेंगे। नीचे के वस्त्र के धारण की विधियों के विषय में स्मृतियों में नियम पाये जाते हैं। निचला वस्त्र तीन स्थानों पर बँधा हुआ (त्रि-कच्छ) या खोंसा हुआ होना चाहिए, यथा—नाभि के पास, बायीं ओर और पीछे की ओर। वह ब्राह्मण शूद्र है जो पीछे की लाँग या पिछुआ को पीछे की ओर नहीं बाँधता या एक छोर को पीछे पूँछ की भाँति लटका देता या गलत ढंग से गलत स्थान पर बाँधता है, या इसके घूमे हुए भाग को उसने कटि के चारों ओर बाँध लिया है, या शरीर के ऊपरी भाग को नीचे के वस्त्र से ढक लिया है (देखिए स्मृतिमुक्ताफल, आह्निक, पृ० ३५१-३५३ एवं स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ११३-११४)।

२४. सति विभवे न जीर्णमलवद्वासाः स्यात्। न रक्तमुल्बणमन्यधृतं वासो बिभृयात्। गौ० ९।४-५; सर्वान् रागान् वाससि वर्जयेत्। कृष्णं च स्वाभाविकम्। अनूद्भासि वासो वसीत। अप्रतिकृष्टं च शक्तिविषये। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।११।३०।१०-१३)।

२५. काषायवासा यान्कुरुते जपहोमप्रतिग्रहान्। न तद्देवगमं भवति हव्यकव्येषु यद्धविः॥ बौधायनधर्मसूत्र २।८।२४ (अपरार्क, पृ० ४६१ में उद्धृत)।

२६. उपानद्वस्त्रमाल्यादि धृतमन्यैर्न धारयेत्। उपवीतमलंकारं करकं चैव वर्जयेत्॥ मार्कण्डेयपुराण ३४। ४२-४३।

२७. अन्यदेव भवेद्वासः शयनीयेन्यदेव तु। अन्यद्रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेव तु॥ अनुशासन पर्व १०४। ४६ (अपरार्क द्वारा पृ० १७३ में तथा गृहस्थरत्नाकर द्वारा पृ० ५०१ में उद्धृत)। माधवीये प्रजापतिः। क्षौमं वासः प्रशंसन्ति तर्पणे सदृशं तथा। काषायं धातुरक्तं वा नोल्बणं तत्तु कर्हिचित्॥ आचाररत्न, पृ० ३३।

तिलक या चिह्न-अंकन

स्नानोपरान्त आचमन करके (दक्ष २।२०) अपनी जाति एवं सम्प्रदाय के अनुसार मस्तक पर चिह्न बनाना चाहिए, जिसे तिलक, ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र आदि कहा जाता है। इस विषय में आह्निकप्रकाश (पृ० २४८-२५२), स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० २९२-३१०) में विस्तार के साथ नियम दिये गये हैं। ब्रह्माण्डपुराण में आया है कि ऊर्ध्वपुण्ड्र (मस्तक पर एक या अधिक खड़ी रेखाओं) के लिए पर्वत-शिखर, नदी-तट (गंगा, सिन्धु आदि पवित्र नदियों के तट), विष्णु के पवित्र स्थल, वल्मीक एवं तुलसी की जड़ से मिट्टी लेनी चाहिए।[२८] अँगूठा, मध्यमा एवं अनामिका का ही प्रयोग तिलक देते समय होना चाहिए, नख का स्पर्श मिट्टी से नहीं होना चाहिए। चिह्न के स्वरूप निम्न प्रकार के होने चाहिए; दीप की ज्वाला, बाँस की पत्ती, कमल की कली, मछली, कछुआ, शंख के समान; चिह्न का आकार दो से लेकर दस अंगुल तक हो सकता है। ये चिह्न मस्तक, छाती, गले एवं गले के नीचे के गड्ढे, पेट, वाम एवं दक्षिण भागों, बाहुओं, कानों, पीठ, गर्दन के पीछे होने चाहिए और इन बारहों स्थानों पर चिह्न लगाते समय विष्णु के बारह नामों (केशव, नारायण आदि) का उच्चारण होना चाहिए। त्रिपुण्ड्र चिह्न (तीन टेढ़ी रेखाएँ) भस्म से तथा तिलक चन्दन से किया जाता है।[२९] ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार स्नान करने के उपरान्त भुरभुरी मिट्टी से ऊर्ध्वपुण्ड्र इस प्रकार बनाया जाता है कि वह हरि के चरण के समान लगने लगे, इसी प्रकार होम के उपरान्त त्रिपुण्ड्र तथा देवपूजा के उपरान्त चन्दन से तिलक लगाया जाता है।[३०] स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ०२९२) ने वासुदेवोपनिषद् का मत प्रकाशित किया है कि गोपीचन्दन या उसके अभाव में तुलसी की जड़ की मिट्टी से मस्तक तथा अन्य स्थानों पर ऊर्ध्वपुण्ड्र चिह्न बनाना चाहिए। स्मृतिमुक्ताफल द्वारा उद्धृत (आह्निक, पृ० २९२) विष्णु के मत से यदि बिना ऊर्ध्वपुण्ड्र के यज्ञ, दान, जप, होम, वेदाध्ययन, पितृ-तर्पण किया जाय तो निष्फल होता है। वृद्ध-हारीतस्मृति (२।५८-७२) में ऊर्ध्वपुण्ड्र के विषय में बड़े विस्तार के साथ लिखा है। स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० २९६) ने लिखा है कि पाशुपत एवं अन्य शैव सम्प्रदाय के लोगों ने ऊर्ध्वपुण्ड्र की निन्दा की है और त्रिपुण्ड्र की प्रशंसा की है, इसी प्रकार पाञ्चरात्र के कथनों से त्रिपुण्ड्र की निन्दा तथा शंख, चक्र, गदा एवं विष्णु के अन्य आयुध-चिह्नों की प्रशंसा झलकती है। माध्व सम्प्रदाय के वैष्णव भक्त लोग अपने शरीर पर विष्णु के आयुधों, यथा—शंख, चक्र आदि को गरम धातु (तप्त मुद्रा) द्वारा अंकित करते हैं (आरम्भिक काल में ईसाई लोग भी लाल लोहे से मस्तक पर 'क्रास' का चिह्न बनाते थे)। वृद्धहारीत (२।४४-४५), पृथ्वीचन्द्रोदय आदि ग्रन्थों ने इस प्रकार के चिह्नांकन (गरम लोहे से शरीर पर शंख आदि के चिह्न दागने) की भर्त्सना की है और उसे शूद्र के लिए ही योग्य माना है। किन्तु वायुपुराण एवं विष्णुपुराणों ने ऐसे चिह्नांकन का समर्थन किया है (स्मृत्यर्थसार द्वारा उद्धृत)। कालाग्निरुद्रोपनिषद् में त्रिपुण्ड्र लगाने की विधि का वर्णन है। इसी प्रकार स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ३०१), आचारमयूख आदि ने भी इसके बारे में विभिन्न मत प्रदर्शित किये हैं। स्मृतिमुक्ताफल

२८. पर्वताग्रे नदीतीरे मम क्षेत्रे विशेषतः। सिन्धुतीरे च वल्मीके तुलसीमूलमाश्रिते॥ मृद एतास्तु संग्राह्या वर्जयेदन्यमृत्तिकाः॥ ब्रह्माण्डपुराण (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ११५); और देखिए नित्याचारप्रदीप, पृ० ४२-४३।

२९. ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा कुर्यात्त्रिपुण्ड्रं भस्मना सदा। तिलकं वै द्विजः कुर्याच्चन्दनेन यदृच्छया॥ आह्निकप्रकाश, पृ० २५० एवं मदनपारिजात, पृ० २७९ द्वारा उद्धृत। त्रिपुण्ड्र की परिभाषा यों की गयी है—भ्रुवोर्मध्यं समारभ्य यावदन्तो भवेद् भ्रुवोः। मध्यमानामिकांगुल्योर्मध्ये तु प्रतिलोमतः। अंगुष्ठेन कृता रेखा त्रिपुण्ड्राख्याभिधीयते॥

३०. द्वारवत्युद्भवं गोपीचन्दनं वेंकटोद्भवम्। सान्तरालं प्रकुर्वीत पुण्ड्रं हरिपदाकृतिम्॥ श्राद्धकाले विशेषेण कर्ता भोक्ता च धारयेत्। वृद्धहारीत ८।६७-६८।

(आह्निक, पृ० ३१०) ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो वैष्णवों एवं शैवों के चिह्नों का भेद एवं झगड़ा खड़ा करते हैं।

स्नान के उपरान्त **सन्ध्या** (याज्ञवल्क्य १।९८) की जाती है। इसका वर्णन हमने उपनयन के अध्याय (७) में कर दिया है।

होम

सन्ध्या-वन्दन के उपरान्त होम किया जाता है (दक्ष २।२८ एवं याज्ञवल्क्य १।९८-९९)। यदि ब्राह्मण प्रातः स्नान करके लम्बी सन्ध्या करे तो उसे होम करने का समय नहीं प्राप्त हो सकता। एक मत से सूर्योदय के पूर्व ही होम हो जाना चाहिए (**अनुदिते जुहोति**), और दूसरे मत से सूर्योदय के उपरान्त (**उदिते जुहोति**)। किन्तु दूसरे मत से भी सूर्य के एक बित्ता ऊपर चढ़ने के पूर्व ही होम हो जाना चाहिए (गोभिलस्मृति १।१२३)।[31] सायंकाल का होम तब होना चाहिए जब तारे निकल आये हों और पश्चिम क्षितिज में अरुणाभा समाप्त हो गयी हो (गोभिलस्मृति १।१२४)। आश्वलायनश्रौतसूत्र (२।२) एवं आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।९।५) के अनुसार होम **संगव** (दिन की अवधि के पाँच भागों के द्वितीय भाग) के उपरान्त होना चाहिए। इसी से कुछ लोगों ने प्रातः सन्ध्या के उपरान्त होम की बात चलायी है (देखिए, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १६३ में उद्धृत भरद्वाज; नित्याचारपद्धति, पृ० ३१४ एवं संस्कारप्रकाश, पृ० ८९०)। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं; देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण, जिनमें प्रथम को हम होम द्वारा चुकाने का प्रयत्न करते हैं और इसी लिए जीवन भर अग्निहोत्र यज्ञ करने की व्यवस्था है। जिस अग्नि में होम होता है, वह श्रौत या स्मार्त हो सकती है। श्रौत अग्नि के लिए कुछ नियम थे। केवल वही व्यक्ति, जिसके केश पके न हों, जो पुत्रवान् है या उस अवस्था का है जब कि वह पुत्रवान् हो सकता है, श्रौत अग्नि प्रज्वलित कर सकता था। श्रौत अग्नि उत्पन्न करने के विषय में दो मत हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र (२१।४५-४८) के मत से "ब्राह्मण के लिए तीन श्रौत अग्नियाँ प्रज्वलित करना अनिवार्य था और उनमें दर्श-पूर्णमास (अमावस्या एवं पूर्णमासी के यज्ञ), आग्रयण इष्टि, चातुर्मास्य, पशु एवं सोमयज्ञ किये जाते थे, क्योंकि ऐसा करने का नियम था और इसे ऋण चुकाना मानते थे।[32] जैमिनि (५।४।१६) की व्याख्या में शबर ने लिखा है कि पवित्र अग्नि की स्थापना का कोई विशिष्ट निश्चित दिन नहीं है, किसी भी दिन पवित्र अभिलाषा उत्पन्न होने पर अग्नि स्थापित की जा सकती है। त्रिकाण्ड-मण्डन (१।६-७) ने दो मत प्रकाशित किये हैं--एक मत से **आधान** (श्रौत अग्नि का प्रज्वलित करना) नित्य (अनिवार्य) है, किन्तु दूसरे मत में यह केवल **काम्य** (किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया) है। जो व्यक्ति पवित्र अग्नि

३१. सन्ध्याकर्मावसाने तु स्वयं होमो विधीयते। दक्ष २।२८; प्रादुष्करणमग्नीनां प्रातर्भासां च दर्शनात्। हस्तादूर्ध्वं रविर्यावद् गिरिं हित्वा न गच्छति। तावद्धोमविधिः पुण्यो नान्योऽभ्युदितहोमिनाम्॥ गोभिलस्मृति १।१२२-१२३। होमकाल के विषय में मनु (२।१५) ने कई मत दिये हैं। और देखिए स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १६१; बौधायन-गृह्य सं० परिशिष्ट १।७२। स्मृत्यर्थसार पृ० ३५--प्रातर्होमे संगवान्तः कालस्त्वनुदिते तथा। सायमस्तमिते होमकालस्तु नव नाडिकाः॥

३२. मनु (४।२६) के मत से वर्षाकाल के उपरान्त नवीन अन्न के आगमन पर 'आग्रयणेष्टि' की जाती थी, पशु-यज्ञ उत्तरायण एवं दक्षिणायन के आरम्भ में किया जाता था (अर्थात् दो बार) और सोमयज्ञ वर्ष के आरम्भ में केवल एक बार किया जाता था। देखिए याज्ञवल्क्य (१।१२५-१२६)।

प्रज्वलित करता था, वह उसमें प्रति दिन आहुतियाँ डालता था। बहुत प्राचीन काल में भी बहुत ही कम लोग श्रौत अग्नि प्रज्वलित रखते थे। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि कुछ लोग अग्नि प्रज्वलित रखते थे और कुछ लोग नहीं (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१।४)। वेदाध्ययन करना, नमस्कार करना एवं अग्नि में समिधा डालना भी वास्तविक यज्ञ माना जाता था। इससे स्पष्ट है कि श्रौत अग्नि सबके लिए अनिवार्य नहीं थी। किन्तु प्राचीन भारत में अग्निहोत्र की बड़ी महत्ता थी (छान्दोग्योपनिषद् ५।२४।५)।

तीन पवित्र अग्नियाँ (त्रेता) थीं; **आहवनीय, गार्हपत्य** एवं **दक्षिणाग्नि**। आहवनीय अग्नि-स्थान वर्गाकार, गार्हपत्य का वृत्ताकार (क्योंकि पृथिवी गोल है) एवं दक्षिणाग्नि-स्थान चन्द्र के गोलार्ध के बराबर होता था। ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों में **अग्न्याधान** (अग्नि प्रज्वलित करने), कतिपय यज्ञों एवं उनके विस्तार के विषय में लम्बा विवेचन किया गया है। हम स्थान-संकोच के कारण इन बातों का विवेचन यहाँ नहीं उपस्थित करेंगे। इस भाग के अन्त में श्रौत यज्ञों के विषय में थोड़ा विवेचन उपस्थित कर दिया जायगा। लगभग दो सहस्र वर्षों से पशु-यज्ञ एवं सोम-यज्ञ बहुत कम हुए हैं, केवल कुछ राजाओं, सामन्तों एवं धनिक लोगों ने ही ऐसा किया है। मध्य काल में कुछ ब्राह्मण लोग अमावस्या एवं पूर्णमासी के यज्ञ, आग्रयण इष्टि एवं चातुर्मास्य यज्ञ करते थे। किन्तु आधुनिक काल में ऐसे भी यज्ञ नहीं होते दिखाई पड़ते। सहस्रों ब्राह्मणों में एक अग्निहोत्री का मिलना भी कठिन ही है।

जो व्यक्ति पवित्र अग्नि प्रज्वलित करता था वह प्रातः एवं सायं नित्य श्रौताग्नि में अग्निहोत्र अर्थात् घृत की आहुतियाँ डालता था। प्रत्येक गृहस्थ को प्रातः एवं सायं होम करना पड़ता था (मनु ४।२५, याज्ञवल्क्य १।९९, आपस्तम्बधर्मसूत्र १।४।१३।२२ एवं १।४।१४।१)। जो लोग श्रौत अग्नि नहीं जलाते थे, किन्तु होम करते थे, उनकी अग्नि को **औपासन, आवसथ्य, औपसद, वैवाहिक, स्मार्त** या **गृह्य** या **शालाग्नि** कहा जाता था। कुछ लोगों के मत से गृह्याग्नि वैवाहिक अग्नि है और यह विवाह के दिन ही प्रज्वलित की जाती है। हमने पहले ही देख लिया है कि जब वर विवाहोपरान्त अपने ग्राम को लौटता था तो विवाहाग्नि भी उसके आगे-आगे ले जायी जाती थी। जिस पात्र में वैवाहिक अग्नि ले जायी जाती थी उसे **उखा** कहते थे (देखिए आपस्तम्बगृह्यसूत्र ५।१४-१५)। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।९।१-३) के मत से "पाणिग्रहण के उपरान्त उसे या उसकी पत्नी या पुत्र या पुत्री या शिष्य को गृह्याग्नि की पूजा करनी पड़ती है। इसकी पूजा (होम) लगातार होनी चाहिए।" हो सकता है कि किसी कारण वैवाहिक अग्नि बुझ जाय, यथा पत्नी के मर जाने या असावधानी के कारण, तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति को **लौकिक** अग्नि या **पचन** अग्नि (भोजन बनाने वाली अग्नि) में प्रति दिन होम करना चाहिए। इस प्रकार अब तक हमने पाँच प्रकार की अग्नियों के नाम पढ़े, यथा—तीन **श्रौत** अग्नि (**आहवनीय, गार्हपत्य** एवं **दक्षिणाग्नि**), **औपासन** या **गृह्याग्नि** तथा **लौकिक**। एक अन्य अग्नि भी होती है, जिसे **सभ्य** (और यह है छठी अग्नि) कहते हैं। मनु (३।१८५) की व्याख्या में मेधातिथि ने लिखा है कि सभ्य अग्नि वह है जो किसी धनिक के प्रकोष्ठ में शीत हटाने एवं उष्णता लाने के लिए प्रज्वलित की जाती है। शतपथब्राह्मण के अनुवादक ने लिखा है कि सभ्याग्नि क्षत्रियों द्वारा प्रज्वलित की जाती थी। कात्यायनश्रौतसूत्र (४।९।२०) के अनुसार सभ्य अग्नि भी गार्हपत्य की भाँति मन्थन से उत्पन्न की जाती थी। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (४।४।७) ने लिखा है कि आहवनीय अग्नि के पूर्व सभ्य अग्नि प्रज्वलित रखनी चाहिए। स्मृत्यर्थसार (पृ० १४) ने लिखा है कि गृहस्थ को ६, ५, ४, ३, २ या १ अग्नि जलानी चाहिए, बिना अग्नि के उसे नहीं रहना चाहिए। जब कोई **त्रेता** (आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि), **औपासन, सभ्य** एवं **लौकिक** (साधारण अग्नि) रखता है, उसे छः अग्नियों वाला (**षडग्नि**) कहा जाता है, जिसके पास **त्रेता, औपासन** एवं **सभ्य** अग्नियाँ रहती हैं, वह **पञ्चाग्नि** कहलाता है, इसी व्यक्ति को 'पंक्तिपावन' ब्राह्मण (जो भोजन के समय पंक्ति में बैठनेवालों को अपनी उपस्थिति से पवित्र करता है) कहा जाता है (देखिए गौतम १५।२९, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।७।१७।२२, वसिष्ठधर्मसूत्र ३।१९, मनु ३।१८५, याज्ञ-

वल्क्य १।२२१)। जो **त्रेता** एवं **औपासन** अग्नि रखता है उसे **चतुरग्नि** कहा जाता है। जो केवल **त्रेता** रखता है उसे **त्र्यग्नि** कहा जाता है। जो केवल **औपासन** एवं **लौकिक** अग्नि रखता है उसे **द्वयग्नि** कहा जाता है और जो केवल लौकिक अग्नि रखता है उसे **एकाग्नि** कहा जाता है।[33] किसी व्यक्ति की शाखा के गृह्यसूत्र में वर्णित कृत्य औपासनाग्नि में किये जाते थे, किन्तु स्मृतियों में वर्णित कृत्य लौकिक अग्नि में सम्पादित होते थे। किन्तु यदि किसी के पास लौकिक अग्नि को छोड़कर कोई अन्य अग्नि न हो तो उसी अग्नि में सभी प्रकार के कृत्य किये जा सकते हैं। अग्नि-पूजा पर इतना जो ध्यान दिया गया है वह सूर्य के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन है। अग्नि में जो आहुतियाँ दी जाती हैं वे सूर्य तक पहुँचती हैं, सूर्य हमें वर्षा देता है जिससे अन्न मिलता है और हम सबका पेट पलता है। यही है अग्नि-पूजा के पीछे वास्तविक रहस्य (मनु ३।७६, शान्तिपर्व २६४।११, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १५५ एवं पराशरमाधवीय १।१, पृ० १३०)।

गृह्याग्नि रखने के काल के बारे में अन्य मत भी हैं। गौतम (५।६), याज्ञवल्क्य (१।९७), पारस्करगृह्यसूत्र (१।२) एवं अन्य लोगों के मत से जब कोई कुटुम्ब से पृथक् हो, तब भी गृह्याग्नि रखी जा सकती है। शांखायन-गृह्यसूत्र (१।१।२-५) ने सब मिलाकर चार विकल्प रखे हैं, जिनमें दो के बारे में पहले ही कहा जा चुका है। शेष दो ये हैं—शिष्य गुरुकुल से चलते समय जिस अग्नि में अन्तिम समिधा डालता है, उसमें से अग्नि लेकर घर आ सकता है; पिता की मृत्यु पर ज्येष्ठ पुत्र या ज्येष्ठ भाई की मृत्यु पर छोटा भाई अग्नि प्रज्वलित कर सकता है (यदि अभी भी संयुक्त परिवार चल रहा हो और सम्पत्ति का बँटवारा न हुआ हो)। बौधायनगृह्यसूत्र (२।६।१७) के मत से वही गृह्याग्नि है जिसके द्वारा उपनयन संस्कार हुआ है, उपनयन से समावर्तन तक होम केवल समिधा तथा व्याहृतियों के उच्चारण से होता है, समावर्तन से विवाह तक व्याहृतियों एवं घृत से होता है तथा विवाह से आगे पके हुए चावल या जौ की आहुतियों से होता है।

जिन देवताओं के लिए प्रातः एवं सायं अग्निहोत्र किया जाता है, वे हैं अग्नि एवं प्रजापति। कुछ लोगों के मत से प्रातःकाल सूर्य अग्नि का स्थान ग्रहण करता है (देखिए, बौधायनगृह्यसूत्र २।७।२१, हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र १।२६।९, भारद्वाजगृह्यसूत्र ३।३ एवं आपस्तम्बगृह्यसूत्र ७।२१)।

प्रातः एवं सायं पके हुए भोजन की आहुतियाँ दी जाती हैं, किन्तु उन्हीं अन्नों की हवि बनायी जाती है जो अग्नि को दिये जाने योग्य हों (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२।१)। पका हुआ चावल या जौ ही बहुधा दिया जाता है (आपस्तम्बगृह्यसूत्र ७।१९)। गोभिलस्मृति (१।१३१, ३।११४) के अनुसार हविष्यों में प्रमुख हैं यव (जौ), फिर चावल, किन्तु माष, कोद्रव एवं गौर की कभी भी हवि नहीं बनानी चाहिए, चाहे और कुछ हो या न हो। यव और चावल के अभाव में दही, दूध या इनके अभाव में यवागू (माँड़) या जल देना चाहिए। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।९।६) की टीका में नारायण ने एक श्लोक उद्धृत करके अग्नि में छोड़ने के लिए दस प्रकार के हविष्यों के नाम लिये हैं, यथा दूध, दही, यवागू, घृत, पका चावल, छाँटा हुआ (भूसी निकाला हुआ) चावल, सोम, मांस, तिल या तेल एवं जल (इस विषय में और देखिए मनु ३।२५७ एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र २।६।१५।१२-१४)। कुछ यज्ञों में मांस की आहुतियाँ दी जाती हैं, किन्तु प्रातः एवं सायं के होम में इसका प्रयोग नहीं हो सकता (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।९।६)। एक सामान्य नियम यह है कि यदि किसी विशिष्ट वस्तु का नाम नहीं लिया गया हो तो घृत की ही आहुति दी जानी चाहिए, और यदि किसी

३३. **गृहस्थस्तु षडग्निः स्यात्पञ्चाग्निश्चतुरग्निकः। स्यात् द्वित्र्यग्निरथैकाग्निर्नाग्निहीनः कथंचन॥ स्मृत्यर्थसार, पृ० १४।**

देवता का नाम न लिया गया हो तो प्रजापति को ही देवता समझना चाहिए। एक और नियम यह है कि तरल पदार्थ को स्रुव से तथा शुष्क हवि को दाहिने हाथ से देना चाहिए।[३४]

गोभिलगृह्यसूत्र (१।१।१५-१९) ने कहा है—"यदि गृह्याग्नि बुझ जाय तो किसी वैश्य के घर से या भर्जनपात्र (भाड़) से या उसके घर से जो यज्ञ करता है (चाहे वह ब्राह्मण, हो या क्षत्रिय या वैश्य हो) उसे लाना चाहिए या धर्षण से (यह पवित्र तो होती है, किन्तु सम्पत्ति नहीं लाती) उत्पन्न करना चाहिए। जैसी कामना हो वैसा ही करना चाहिए।" यही बात शांखायनगृह्यसूत्र (१।१।८), पारस्करगृह्यसूत्र (१।२), आपस्तम्बगृह्यसूत्र (५।१६-१७) में भी पायी जाती है। यदि गृह्याग्नि बुझ जाय तो पति एवं पत्नी को उस दिन प्रायश्चित्त रूप में उपवास करना चाहिए (आपस्तम्बगृह्यसूत्र ५।१९)।

जिस अग्नि में आहुतियाँ छोड़ी जायँ, उसमें सूखी लकड़ियाँ पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए, उसे अच्छे प्रकार से धूमहीन हो जलते रहना चाहिए और लाल-लाल होकर उसे ज्वाला फेंकते रहना चाहिए (छान्दोग्योपनिषद् ५।२४।१ एवं मुण्डकोपनिषद् १।२।२)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१५।१८-२१), मनु (४।५३) एवं अन्य लोगों के मत से अपवित्र व्यक्ति को इस अग्नि के पास नहीं जाना चाहिए, मुंह से फूंककर इसे जलाना भी नहीं चाहिए, अपनी खाट के नीचे भी नहीं रखना चाहिए, इससे पैर भी नहीं सेकने चाहिए और न सोते समय अपने पैरों की ओर रखना चाहिए। गोभिल-स्मृति (१।१३५-१३६) का कहना है कि 'इसे हाथ से, सूप से या दर्वी (करछुल) से नहीं जलाना चाहिए, बल्कि पंखा से जलाना चाहिए।' कुछ लोग अग्नि को मुंह से जलाते हैं, क्योंकि यह मुंह से ही उत्पन्न की गयी थी (मनु ४।५३)। लौकिक अग्नि की भाँति इस अग्नि को मुंह से नहीं जलाना चाहिए (केवल श्रौत अग्नि मुंह से जलायी जा सकती है)।[३५]

नित्य का होम स्वयं करना चाहिए, क्योंकि दूसरे द्वारा कराने से उतना फल नहीं प्राप्त होता, किन्तु यदि इसे पुरोहित, पुत्र, गुरु, भाई, भानजा, दामाद करे तो इसे अपने द्वारा किया हुआ समझना चाहिए (दक्ष २।२८-२९, अपरार्क, पृ० १२५ द्वारा उद्धृत)। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।९।१) ने पत्नी, अविवाहित पुत्री या शिष्य को गृह्याग्नि के होम में सम्मिलित होने की आज्ञा दी है। यही बात शांखायनगृह्यसूत्र में भी पायी जाती है। स्मृत्यर्थसार (पृ० ३४) ने यह जोड़ा है कि पत्नी एवं पुत्री पर्युक्षण को छोड़कर होम के सारे कार्य कर सकती हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (६।१५।१५-१६) एवं मनु (९।२६-२७) के मत से पत्नी, अविवाहित पुत्री, विवाहित युवा पुत्री, कम पढ़ा-लिखा, मूर्ख व्यक्ति, रोगी तथा जिसका उपनयन न हुआ हो वह गृहस्थ के स्थान पर अग्निहोत्र नहीं कर सकता, यदि वे ऐसा करें तो वे तथा गृहस्थ नरक में पड़ेंगे, अतः जो दूसरे के लिए अग्निहोत्र करना चाहे उसे श्रौत यज्ञों में दक्ष एवं वेदज्ञ होना चाहिए। ये प्रतिबन्ध केवल श्रौत यज्ञों के लिए हैं, किन्तु नित्य होम के लिए पत्नी तथा वे लोग, जिन्हें आश्वलायनगृह्यसूत्र ने छूट दी है, समर्थ हैं, जब कि यज्ञ करनेवाला बीमार हो या बाहर गया हो। हरदत्त (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।९।१-२) ने लिखा है कि पति या पत्नी को गृह्याग्नि के समीप रहना चाहिए। लघु-आश्वलायन (१।६९) के मत से गृह्याग्नि रखनेवाले को बिना अपनी पत्नी के ग्राम की सीमा नहीं छोड़नी चाहिए। क्योंकि जहाँ स्त्री रहती है वहीं होम होता

३४. द्रवं स्रुवेण होतव्यं पाणिना कठिनं हविः। स्मृत्यर्थसार, पृ० ३५। ओषध्यः सक्तवः पुष्पं काष्ठं मूलं फलं तृणम्। एतद्धस्तेन होतव्यं नान्यत् किंचिदचोदनात्॥ बौधायनगृह्यशेषसूत्र १।३।८।

३५. पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०।१३) का कहना है—"मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।" गृह्यसंग्रह-परिशिष्ट (१।७०) में आया है कि जलाना मुख से होना चाहिए; 'मुखेनोपधमेदग्निं मुखाद्वेषोऽध्यजायत', न कि वस्त्र-खण्ड, हाथ या सूप से। देखिए इस विषय में कई विधियों को हरदत्त में (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।५।१५।२०)।

है। ब्राह्मण किसी पुरोहित को नियुक्त कर अपनी पत्नी की अध्यक्षता में गृह्याग्नि छोड़कर व्यापार के लिए बाहर जा सकता है, किन्तु बिना किसी कारण उसे बाहर बहुत दिनों तक नहीं रहना चाहिए। जब पति-पत्नी बाहर गये हों तो पुरोहित को गृहस्थ के स्थान पर होम नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनके अभाव में ऐसा होम निष्फल एवं निरर्थक होता है (गोभिलस्मृति ३।१)। जब गृहस्थ की अपनी जाति वाली कई पत्नियाँ हों तथा अन्य जाति वाली पत्नियाँ भी हों तो धार्मिक कृत्य किसके साथ हों; इस विषय में पहले ही लिखा जा चुका है (विष्णुधर्मसूत्र २६।१-४७, देखिए अध्याय ९)। पत्नी की मृत्यु पर श्रौत अग्नियों का परित्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत व्यक्ति को जीवन भर धार्मिकता के रूप में अग्निहोत्र करते जाना चाहिए। गोभिलस्मृति (३।९) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि इसके लिए दूसरी सवर्ण या असवर्ण नारी से सम्बन्ध कर लेना चाहिए। राम ने सीता-परित्याग के उपरान्त सोने की सीता-प्रतिमा के साथ यज्ञादि किये थे। किन्तु सत्याषाढ द्वारा अपने श्रौत सूत्र में वर्णित नियम के अनुसार अपरार्क ने उपर्युक्त छूट की भर्त्सना की है। सत्याषाढ का नियम है—"यजमान, पत्नी, पुत्र, सम्यक् स्थान एवं काल, अग्नि, देवता तथा धार्मिक कृत्य एवं वचनों का कोई प्रतिनिधि नहीं हो सकता (३।१)।" सत्याषाढ का तर्क यह है कि घृत की ओर निहारने, चावल को बिना भूसी का करने आदि में वास्तविक पत्नी का कार्य पत्नी के अभाव में उसकी प्रतिमा, कुश-प्रतिमा आदि नहीं कर सकतीं। किन्तु स्मृतिचन्द्रिका के कथन से प्रकट होता है कि अन्य स्मृतियों ने सत्याषाढ की बात दूसरे अर्थ में ली है—"सत्याषाढ ने पत्नी के प्रतिनिधि को किसी मानव के रूप में अवश्य स्वीकार नहीं किया है, किन्तु उन्होंने सोने या कुश की प्रतिमा का विरोध नहीं किया है।" वृद्धहारीत (९।२।४) ने लिखा है कि यदि पत्नी मर जाय तो अग्निहोत्र तथा पंचयज्ञ पत्नी की कुश-प्रतिमा के साथ किये जा सकते हैं। यदि पत्नी मर जाय, वह स्वयं बाहर चला जाय या पतित हो जाय तो उसका पुत्र अग्निहोत्र कर सकता है (अत्रि १०८)। ऐतरेयब्राह्मण (३२।८) के अनुसार विधुर वा अपत्नीक को भी अग्निहोत्र करना चाहिए, क्योंकि वेद यज्ञ करने की आज्ञा देता है।

याज्ञवल्क्य (३।२३४, २३९) तथा विष्णुधर्मसूत्र (३७।२८ एवं ५४।१४) के मत से यदि समर्थ व्यक्ति वैदिक, श्रौत एवं स्मार्त अग्नि प्रज्वलित न करे (यज्ञ न करे) तो वह उपपातक का भागी होता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (३।१) के अनुसार जो वेद का अध्ययन या अध्यापन नहीं करता या जो पवित्र अग्नियों को प्रज्वलित नहीं रखता वह शूद्र के समान होता है। यही बात गार्ग्य ने कही है—"यदि विवाहोपरान्त द्विज समर्थ रहने पर भी बिना अग्नि के एक क्षण भी रहता है, तो वह व्रात्य एवं पतित हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् (१।२।३) ने घोषित किया है कि जो दर्श-पूर्णमास एवं अन्य यज्ञ तथा वैश्वदेव नहीं करता उसके सातों लोक नष्ट हो जाते हैं। इस विषय में और देखिए तैत्तिरीय संहिता (१।५।२।१) एवं काठकसूत्र (९।२)।

जप

याज्ञवल्क्य (१।९९) आदि ने जप (गायत्री एवं अन्य वैदिक मन्त्रों के जप) को सन्ध्या-पूजन का एक भाग माना है। इस ओर अध्याय ७ में संकेत किया जा चुका है। याज्ञवल्क्य (१।९९) ने प्रातः होम के उपरान्त सूर्य के लिए सम्बोधित मन्त्रों के जप की तथा (१।१०१) मध्याह्न स्नान के उपरान्त दार्शनिक उक्तियों (यथा उपनिषदों की वाणी—गौतम १९।१२ एवं वसिष्ठधर्मसूत्र २२।९) के जप की बात कही है। वसिष्ठधर्मसूत्र (२८।१०-१५) ने विशेषतः ऋग्वेद की ऋचाओं के मौन पाठ से पवित्र होने की बात कही है। कुछ विशिष्ट मन्त्र ये हैं—अघमर्षण (ऋग्वेद १०।१९०।१-३), पावमानी (ऋग्वेद ९), शतरुद्रिय (तैत्तिरीय संहिता ४।५।१-११), त्रिसुपर्ण (तैत्तिरीयारण्यक, १०।४८-५०) आदि। मनु (२।८७), वसिष्ठ (२६।११), शंखस्मृति (१२।२८), विष्णुधर्मसूत्र (५५।२१) का कहना है कि यदि ब्राह्मण और कुछ न करे किन्तु जप अवश्य करे तो वह पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

गोभिलस्मृति (२।१७) के मत से वेद का मन्त्रोच्चारण आरम्भ से जितना हो सके चुपचाप करना चाहिए। तर्पण के पूर्व या प्रायः होम के उपरान्त या वैश्वदेव के अन्त में जप होना चाहिए और इसी को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं (गोभिल-स्मृति २।२८-२९)। विष्णुधर्मसूत्र (६४।३६-३९) के मत से जप में वैदिक मन्त्र, विशेषतः गायत्री एवं पुरुषसूक्त कहे जाते हैं, क्योंकि वे सर्वोत्तम मन्त्र हैं।

जप तीन प्रकार का होता है; **वाचिक (स्पष्ट उच्चारित), उपांशु** (अस्पष्ट अर्थात् न सुनाई देने योग्य) एवं **मानस** (मन में कहना), जिनमें अन्तिम सर्वोत्तम, दूसरा मध्यम तथा प्रथम तृतीय श्रेणी का माना जाता है (देखिए मनु २।८५, वसिष्ठ २६।९, शंख १२।२९)। जप से पाप कट जाता है (गौतम १९।११)। जप कुश के आसन पर बैठकर किया जाता है। घर, नदी के तट, गोशाला, अग्नि-प्रकोष्ठ, तीर्थ, देव-प्रतिमा के सामने जप करना चाहिए; इनमें एक के बाद दूसरा उत्तम माना जाता है और क्रम से आगे बढ़ने पर देव-प्रतिमा के समक्ष का जप सर्वोत्तम माना जाता है। जप करते समय बोलना नहीं चाहिए। ब्रह्मचारी तथा पवित्र अग्नि प्रज्वलित करने वाले गृहस्थ को गायत्री मन्त्र १०८ बार कहना चाहिए, किन्तु वानप्रस्थ तथा यति को १००० बार से अधिक कहना चाहिए (मनु २।१०)।

मध्य काल में जब वेदाध्ययन अवनति के मार्ग पर था और पुराणों को अधिक महत्ता दी जाने लगी थी तो निबन्धों ने घोषित किया कि जो सम्पूर्ण वेद जानते हों, उन्हें प्रतिदिन जितना सम्भव हो सके वेद का पाठ करना चाहिए, जिन्होंने वेद का अल्प अंश पढ़ा हो, उन्हें पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०) का जप करना चाहिए और जो ब्राह्मण केवल गायत्री जानता है उसे पुराणों की उक्तियों का जप करना चाहिए (गृहस्थरत्नाकर, पृ० २४९)। वृद्धहारीत (६।३३, ४५, १६३, २१३) के मत से ६ अक्षरों (ओं नमो विष्णवे), या ८ अक्षरों (ओं नमो वासुदेवाय), या १२ अक्षरों (ओं नमो भगवते वासुदेवाय) का जप १००८ बार या १०८ बार करना चाहिए। मन्त्र की संख्या गिनना कई ढंग से प्रचलित है, अँगुलियों द्वारा (अँगूठे को छोड़कर), पृथिवी या भीत पर रेखाएँ खींचकर या माला की मणियाँ गिन कर। बिना संख्या जाने जप करना निष्फल माना जाता है। शंखस्मृति (१२) के अनुसार माला की मणियाँ सोने की, रत्नों की, मोतियों की, स्फटिक की, रुद्राक्ष की, पद्माक्ष (कमल के बीज) की या पुत्रजीवक की होनी चाहिए। संख्या का गिनना कुशमूल की गाँठों से या बायें हाथ की अँगुलियों को झुकाकर भी सम्भव है। माला में १०८ (सर्वोत्तम) या ५४ (मध्यम) या २७ (कम-से-कम) मणियाँ हो सकती हैं। कालिदास (रघुवंश ११।६६) ने लिखा है कि परशुराम के दाहिने कान पर अक्षबीज की माला थी। बाण (कादम्बरी) ने रुद्राक्ष की चर्चा की है। माला-सम्बन्धी अन्य बातों की जानकारी के लिए देखिए स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १५२-१५३, पराशरमाधवीय १।१, पृ० ३०८-३११, मदनपारिजात, पृ० ८०, आह्निकप्रकाश, पृ० ३२६-३२८।

मंगलमय एवं अमंगल पदार्थ या व्यक्ति

होम एवं जप के उपरान्त कुछ काल तक मंगलमय पदार्थों को देखना या उन पर ध्यान देना चाहिए; और वे पदार्थ हैं—गुरुजनों का दर्शन, दर्पण या घृत में मुख-दर्शन, केश-सँवारना, आँख में अंजन लगाना या दूर्वा-स्पर्श (गृहस्थ-रत्नाकर, पृ० १८३ तथा मनु ४।१५२)। नारद (प्रकीर्णक, ५४।५५) के मत से आठ प्रकार के मंगलमय पदार्थ हैं—ब्राह्मण, गाय, अग्नि, सोना, घृत, सूर्य, जल एवं राजा। इन्हें देखने पर झुकना चाहिए या इनकी प्रदक्षिणा करनी चाहिए, क्योंकि इससे आयु बढ़ती है। इस विषय में और देखिए वामनपुराण (१४।३५-३७), मत्स्यपुराण (२४३), विष्णुधर्मसूत्र (२३।५८), आदिपर्व (२९।४३), द्रोणपर्व (१२७।१४), शान्तिपर्व (४०।७), अनुशासनपर्व (१२६। १८ एवं १३१।८)। विष्णुधर्मसूत्र (६३।२६) के मत से ब्राह्मण, वेश्या, जलपूर्ण घड़ा, दर्पण, ध्वजा, छाता, प्रासाद, पंखा, चँवर आदि पदार्थों को देखकर यात्रा आरम्भ करनी चाहिए। यदि प्रस्थान करते समय शराबी, पागल, लँगड़े,

ऐसे व्यक्ति को जो वमन एवं कई बार मल-त्याग कर चुका हो, पूर्ण मुण्डित सिर वाले, गन्दे वस्त्र वाले, जटिल साधु, बौने, संन्यासी या नारंगी वस्त्र धारण करने वाले को देख ले तो घर में लौट आकर पुनः प्रस्थान करना चाहिए।

शौच, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, होम एवं जप के कृत्य दिन के आठ भागों के प्रथम भाग में सम्पादित हो जाते हैं। दिन के दूसरे भाग में ब्राह्मण गृहस्थ को वेद-पाठ दोहराना, समिधा, पुष्प, कुश आदि एकत्र करना पड़ता था (दक्ष २।३३, ३५, याज्ञवल्क्य १।९९)। इस विषय में उपनयन के अध्याय में चर्चा हो चुकी है। दिन के तीसरे भाग में गृहस्थ को वैसा कार्य करना पड़ता था जिसके द्वारा वह अपने आश्रितों की जीविका चला सके (दक्ष २।३५)। इस विषय में ब्राह्मणों के जीवन पर प्रकाश बहुत पहले डाला जा चुका है (अध्याय ३)। गौतम (९।६३), याज्ञवल्क्य (१।१००), मनु (४।३३), विष्णु (६३।१) आदि के अनुसार ब्राह्मण गृहस्थ को राजा या धनिक के पास अपनी, अपने कुल की जीविका के लिए जाना चाहिए। जो जितने ही बड़े कुल का या जितने ही अधिक लोगों का प्रतिपालन कर सके वही उत्तम है तथा जीवित है, जो केवल अपना ही पेट पालता है, वह जीता हुआ मरा-सा है (दक्ष २।४०)।

दिन के चतुर्थ भाग (मध्याह्न के पूर्व) में तर्पण के साथ मध्याह्न-स्नान किया जाता था और मध्याह्न सन्ध्या, देवपूजा आदि की व्यवस्था थी (दक्ष २।४३ एवं याज्ञवल्क्य १।१००)। किन्तु कुछ लोग केवल एक ही बार स्नान करते हैं, अतः उपर्युक्त सन्ध्या आदि केवल उनके लिए है जो मध्याह्न स्नान करते हैं। मध्याह्न के पूर्व के स्नान के साथ देव, ऋषि एवं पितृ-तर्पण, देवपूजा एवं पंचयज्ञ किये जाते हैं। अब हम इन्हीं का सविस्तर वर्णन उपस्थित करेंगे।

तर्पण

मनु (२।१७६) के मत से प्रति दिन देवों, ऋषियों एवं पितरों को तर्पण करना चाहिए, अर्थात् जल देकर उन्हें परितुष्ट करना चाहिए। यह तर्पण देवताओं के लिए दाहिने हाथ के उस भाग से जिसे देवतीर्थ कहते हैं, देना चाहिए तथा पितरों को उसी प्रकार पितृतीर्थ से। जो व्यक्ति जिस वैदिक शाखा का रहता है वह उसी के गृह्यसूत्र के अनुसार तर्पण करता है। विभिन्न गृह्यसूत्रों में विभिन्न बातें लिखी हुई हैं। यहाँ हम आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।४।१-५) के वर्णन का उल्लेख करेंगे। देवतर्पण में निम्नोक्त देवताओं के नाम आते हैं और 'तृप्यतु', 'तृप्येताम्' या 'तृप्यन्तु' का उच्चारण एक देवता, दो देवताओं तथा दो से अधिक देवताओं के लिए किया जाता है और प्रत्येक को जल दिया जाता है (प्रजापतिस्तृप्यतु, ब्रह्मा तृप्यतु...द्यावापृथिव्यौ तृप्येताम् आदि)। देवता ३१ हैं, यथा प्रजापति, ब्रह्मा, वेद, देव, ऋषि, सभी छन्द, ओंकार, वषट्कार, व्याहृतियाँ, गायत्री, यज्ञ, स्वर्ग और पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिन एवं रात्रि, सांख्य, सिद्ध, समुद्र, नदियाँ, पर्वत, खेत, जड़ी-बूटियाँ, वृक्ष, गन्धर्व एवं अप्सराएँ, साँप, पक्षी, गायें, साध्य, विप्र, यक्ष, रक्षस्, भूत (प्राणी)। आधुनिक काल में खेत, जड़ी-बूटियाँ, वृक्ष, गन्धर्व एवं अप्सराओं को एक सामासिक पद में रखा जाता है और उन्हें एक ही देवता माना जाता है, तथा भूतों के उपरान्त 'एवमन्तानि तृप्यन्तु' नामक एक अन्य देवगण जोड़ दिया जाता है। हरदत्त (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।३।२) ने कुछ लोगों के मत से 'एवमन्तानि' को एक पृथक् मन्त्र घोषित किया है किन्तु अपने मत के अनुसार 'एवमन्तानि' को पीछे वाले देवता के अर्थ में प्रयुक्त किया है और देवताओं की गणना 'रक्षांसि' तक समाप्त कर दी है। हरदत्त ने यह भी लिखा है कि इन देवताओं का तर्पण प्राजापत्य तीर्थ से किया जाता है।

तर्पण करने योग्य ऋषियों को दो भागों या दलों में बाँटा गया है। **प्रथम दल** के १२ ऋषि हैं, जिनके तर्पण में यज्ञोपवीत निवीत ढंग से धारण किया जाता है। ये बारह ऋषि हैं—**सौ ऋचाओं के ऋषि, मध्यम ऋषि** (ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से नवें मण्डल तक के ऋषि), **गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, प्रगाथ, पावमानी मन्त्र**

के, छोटे मन्त्रों के ऋषि, बड़े मन्त्रों के ऋषि। इनके तर्पण का सूत्र है—शतर्चिनस्तृप्यन्तु, मध्यजास्तृप्यन्तु, गृत्समदस्तृप्यतु. . .आदि। गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ क्रम से दूसरे से लेकर सातवें मण्डल के ऋषि हैं। कण्व गोत्र के प्रगाथों का सम्बन्ध आठवें मण्डल के आरम्भिक मन्त्रों से है तथा आठवें मण्डल का शेष भाग अन्य कण्व गोत्र वालों का माना जाता है। नवें मण्डल की ऋचाएँ "पावमानी" कही जाती हैं। "शतर्चिनः" का संकेत प्रथम मण्डल के ऋषियों से है। इसी प्रकार "क्षुद्रसूक्ताः" (छोटे मन्त्रों के ऋषि) एवं "महासूक्ताः" '(बड़े मन्त्रों के ऋषि) दसवें मण्डल के ऋषि हैं। ऋषियों को दाहिने हाथ के देवतीर्थ से तर्पण किया जाता है। **दूसरे दल के** ऋषियों का तर्पण यज्ञोपवीत को प्राचीनावीत ढंग से (दाहिने कंधे से वाम भाग में लटकता हुआ) करके किया जाता है। दूसरे दल में दो उपदल हैं। **प्रथम उपदल** में 'तृप्यन्तु' एवं 'तृप्यतु' क्रियाएँ आयी हैं और ऋषि हैं—"सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्यास्तृप्यन्तु"[३६]; "जानन्ति-बाहवि-गार्ग्य-गौतम-शाकल्य-बाभ्रव्य-माण्डव्य-माण्डूकेयास्तृप्यन्तु"; "गार्गी—वाचक्नवी तृप्यतु, वडवा—प्रातिथेयी तृप्यतु, सुलभा—मैत्रेयी तृप्यतु।" इन ऋषियों में चार वे हैं जो महाभारत में व्यास के शिष्य रूप में उल्लिखित हैं (सभापर्व ४।११, शान्तिपर्व ३२८।२६-२७)। उपर्युक्त पाँच वाक्यों में तीन नारियाँ भी ऋषिरूप में वर्णित हैं, यथा—गार्गी, वडवा एवं सुलभा। **दूसरे उपदल** में १७ ऋषि हैं, और १८वें ऋषि के रूप में सभी आचार्य आ जाते हैं, यथा—कहोड़ कौषीतक, महाकौषीतक, पैंग्य, महापैंग्य, सुयज्ञ, सांख्यायन, ऐतरेय, महैतरेय, शाकल, बाष्कल, सुजातवक्त्र, औदवाहि, महौदवाहि, सौजामि, शौनक, आश्वलायन, और १८वें हैं "ये चान्ये आचार्यास्ते सर्वे तृप्यन्तु।" ये सभी ऋषि ऋग्वेद, ऋग्वेद के ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं अन्य सम्बन्धित ग्रन्थों (शौनक द्वारा प्रणीत प्रातिशाख्य, सूत्र आदि) से सम्बन्धित हैं। आश्वलायन ने स्वयं अपना नाम ऋषियों में रखा है। शौनक ऋषि आश्वलायन के आचार्य थे।

आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।४।५) ने पितृतर्पण के विषय में अति सूक्ष्म ढंग से लिखा है—"प्रत्येक पीढ़ी के पितरों को पृथक्-पृथक् जल देकर वह अपने घर लौटता है और जो कुछ वह देता है वह ब्रह्मयज्ञ का शुल्क हो जाता है" (तर्पण तो ब्रह्मयज्ञ का ही एक अंश है)। आधुनिक काल में निम्नांकित ढंग अपनाया जाता है—प्रत्येक को (माता, मातामही एवं प्रमातामही के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को छोड़कर) तीन बार पितृ-तीर्थ से जल दिया जाता है और वैसा करते समय पितरों का सम्बन्ध, नाम एवं गोत्र बोला जाता है (यथा पिता के लिए—"अस्मत्पितरम् अमुकशर्माणम् अमुकगोत्रं वसुरूपं स्वधा नमस्तर्पयामि")। क्रम से इन पितरों को जल दिया जाता है—पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, मातामही, प्रमातामही, विमाता, नाना (नाना के साथ मातामहं से संयुक्त सपत्नीकम्), परनाना, परनाना के पिता (उनकी पत्नियों के साथ), अपनी पत्नी, अपना पुत्र या अपने पुत्र (यदि कई मर चुके हों) एवं उनकी पत्नियाँ (यदि मर चुकी हों), पुत्री (दामाद के साथ, यदि दोनों की मृत्यु हो गयी हो), चाचा (मृत चाची के साथ), मामा (मृत मामी के साथ), बहिन (मृत बहनोई के साथ), श्वशुर (मृत सास एवं मृत सालों के साथ), गुरु (गायत्री एवं वेद के आचार्य के रूप में पितातुल्य) एवं शिष्य। स्त्री पितरों के नामों के साथ 'दा' जुड़ा रहता है। पितामहों एवं पितामहियों को 'रुद्ररूपा' तथा प्रपितामहों एवं प्रपितामहियों को 'आदित्यरूपा' कहा जाता है। माता के तीन पितरों को उनकी पत्नियों के साथ क्रम से 'वसुरूप', 'रुद्ररूप' एवं 'आदित्यरूप' कहते हैं। उपर्युक्त पितरों के अतिरिक्त अन्य पुरुषों एवं नारियों को 'वसुरूप' कहा जाता है।

३६. शान्तिपर्व (३५०।११-१२) से पता चलता है कि सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन एवं पैल; ये लोग शुक (व्यास-पुत्र एवं व्यास के शिष्य) के साथ थे।

बहुत-से गृह्यसूत्रों में बहुत-से मतभेद पाये जाये हैं। केवल थोड़े-से विभेद उपस्थित किये जा रहे हैं। प्रत्येक सूत्र में तर्पण के देवता विभिन्न हैं। बहुत-से सूत्रों में "स्वधा नमः" आता ही नहीं। कुछ सूत्रों के मत से सम्बन्धियों के गोत्रों के नाम प्रतिदिन के तर्पण में नहीं लिये जाने चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र (२।५) में तर्पण के विषय का सबसे अधिक विस्तार पाया जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक देवता, ऋषि एवं पितृगणों के पूर्व 'ओम्' शब्द आता है। इसने बहुत-से अन्य देवताओं के भी नाम गिनाये हैं और एक ही देवता के कई नाम दिये हैं (यथा—विनायक, वक्रतुण्ड, हस्तिमुख, एकदन्त, यम, यमराज, धर्म, धर्मराज, काल, नील, वैवस्वत आदि)। इसने ऋषियों की श्रेणी में बहुत-से सूत्रकारों को भी रख दिया है, यथा कण्व, बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ तथा याज्ञवल्क्य एवं व्यास। हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र (२।१९-२०), बौधायनगृह्यसूत्र (३।९) एवं भारद्वाजगृह्यसूत्र (३।९-११) में देवताओं एवं विशेषतः ऋषियों के बहुत से नाम आये हैं।

यदि किसी व्यक्ति को लम्बा तर्पण करने का समय न हो तो धर्मसिन्धु एवं अन्य निबन्धों ने एक सूक्ष्ज विधि बतलायी है; "व्यक्ति दो श्लोक कहकर तीन वार जल प्रदान करे।" इन श्लोकों में देवों, ऋषियों एवं पितरों, मानवों तथा ब्रह्मा से लेकर तृण तक के तर्पण की बात है।

पारस्करगृह्यसूत्र से संलग्न कात्यायन के स्नानसूत्र (तृतीय कण्डिका) में तर्पण का वर्णन है। बौधायन के समान यह भी प्रत्येक देवता के साथ 'ओम्' लगाने की बात कहता है और इसमें तृप्यताम् या तृप्यन्ताम् (बहुवचन) क्रिया का उल्लेख है। इसमें देवता केवल २८ हैं और आश्वलायन की सूची से कुछ भिन्न हैं। ऋषियों में केवल सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु एवं पञ्चशिख (कपिल, आसुरि एवं पंचशिख को सांख्यकारिका ने सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक माना है और वे गुरु एवं शिष्य की परम्परा में आते हैं) के नाम आये हैं। ऋषितर्पण के उपरान्त गृहस्थ को जल में तिल मिलाकर एवं यज्ञोपवीत को दायें कंधे के ऊपर से बायें हाथ के नीचे लटकाकर कव्यवाड् अनल (अग्नि), सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्तों, सोमपों एवं बर्हिषदों को जल देना चाहिए। पानी में तिल मिलाकर उपर्युक्त लोगों को तीन तीन अंजलि जल दिया जाता है। ऐसा तर्पण पिता के रहते भी किया जाना चाहिए। किन्तु तर्पण का शेषांश (पितृतर्पण) केवल अपितृक को ही करना चाहिए। गोभिलस्मृति (२।१८-२०) एवं मत्स्यपुराण (१०२।१४-२१) ने बहुत कुछ स्नानसूत्र की ही भाँति व्यवस्था दी है। आश्वलायन तथा अन्य लोगों के मत से तर्पण दायें हाथ से होता है, किन्तु कात्यायन एवं कुछ अन्य लोगों के मतानुसार दोनों हाथों का प्रयोग करना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १९१) ने मतभेद उपस्थित होने पर गृह्यसूत्र के नियम जानने के लिए प्रेरित किया है। कार्ष्णाजिनि के अनुसार श्राद्ध एवं विवाह में केवल दाहिने हाथ का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु तर्पण में दोनों हाथों का। देवताओं को एक-एक अंजलि जल, दो-दो सनक एवं अन्य ऋषियों को तथा तीन-तीन अंजलि प्रत्येक पितर को देना चाहिए। भीगे हुए वस्त्रों के साथ जल में खड़े होकर तर्पण धारा में ही किया जाता है, किन्तु शुष्क वस्त्र धारण कर लेने पर सोने चाँदी, ताँबे या काँसे के पात्र से जल गिराना चाहिए, किन्तु मिट्टी के पात्र में तर्पण का जल कभी न गिराना चाहिए। यदि उपर्युक्त पात्र न हों तो कुश पर जल गिराना चाहिए (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १९२)। इस विषय में कई मत हैं (देखिए गृहस्थरत्नाकर, पृ० २६३-२६४). आजकल आह्निक तर्पण बहुत कम किया जाता है, केवल थोड़े से कट्टर ब्राह्मण, व्याकरणज्ञ तथा शास्त्रज्ञ प्रति दिन तर्पण करते हुए देखे जाते हैं। सामान्यतः आजकल श्रावण मास में एक दिन ब्रह्मयज्ञ के एक अंश के रूप में अधिकांश ब्राह्मण तर्पण करते हैं।

मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को यदि मंगलवार आता हो तो यम को विशिष्ट तर्पण किया जाता है (स्मृति-चन्द्रिका १, पृ० १९७–१९८, मदनपारिजात, पृ० २९६, पराशरमाधवीय, १।१, पृ० ३६१)। दक्ष (२।५२-५५) के मत मे उपर्युक्त दिन को यम-तर्पण यमुना में होता था और बहुत-से नामों से यम का आवाहन किया जाता था

(देखिए मत्स्यपुराण २१३।२-८)। तैत्तिरीय संहिता (६।५) में यम के सम्मान में प्रति मास बलि देने की बात पायी जाती है। माघ मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी को भीष्म के सम्मान में भी तर्पण होता था (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १९८)।

गोभिलस्मृति (२।२२-३३) ने लिखा है कि संसार में सभी प्रकार के जीव (स्थावर एवं चर) ब्राह्मण से जल की अपेक्षा रखते हैं, अतः उसके द्वारा इनको तर्पण किया जाना चाहिए, यदि वह तर्पण नहीं करता है तो महान् पाप का भागी है, यदि वह तर्पण करता है तो इस प्रकार वह संसार की रक्षा करता है।

कुछ लोगों के मत से तर्पण प्रातः स्नान के उपरान्त किया जाना चाहिए; कुछ लोगों ने लिखा है कि इसे प्रति दिन दो बार करना चाहिए, किन्तु कुछ लोगों ने केवल एक बार करने की व्यवस्था दी है। आश्वलायनगृह्यसूत्र ने स्वाध्याय (या ब्रह्मयज्ञ) के तुरत उपरान्त ही तर्पण का समय रखा है, जिससे पता चलता है कि तर्पण स्वाध्याय का मानो एक अंग था। गोभिलस्मृति (२।२९) का कहना है कि ब्रह्मयज्ञ (जिसमें वैदिक मन्त्रों का जप किया जाता है) तर्पण के पूर्व या प्रातः होम के उपरान्त या वैश्वदेव के अन्त में किया जाना चाहिए, और विशेष कारण को छोड़कर किसी अन्य समय में इसका सम्पादन वर्जित है।

आह्निकप्रकाश (पृ० ३३६-३७७) ने कात्यायन, शंख, बौधायन, विष्णुपुराण, योग-याज्ञवल्क्य, आश्वलायन एवं गोभिलगृह्य के अनुसार तर्पण का सारांश उपस्थित किया है।

अध्याय १८

पञ्च महायज्ञ

वैदिक काल से ही पञ्च महायज्ञों के सम्पादन की व्यवस्था पायी जाती है। शतपथब्राह्मण (११।५।६।१) का कथन है—"केवल पाँच ही महायज्ञ हैं, वे महान् सत्र हैं और वे हैं **भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ।**"[1] तैत्तिरीयारण्यक (११।१०) में आया है—"वास्तव में, ये पञ्च महायज्ञ अजस्र रूप से बढ़ते जा रहे हैं और ये हैं **देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ।**" जब अग्नि में आहुति दी जाती है, भले ही वह मात्र समिधा हो, तो यह **देवयज्ञ** है; जब पितरों को स्वधा (या श्राद्ध) दी जाती है, चाहे वह जल ही क्यों न हो, तो वह **पितृयज्ञ** है; जब जीवों को बलि (भोजन का ग्रास या पिण्ड) दी जाती है तो वह **भूतयज्ञ** कहलाता है; जब ब्राह्मणों (या अतिथियों) को भोजन दिया जाता है तो उसे **मनुष्ययज्ञ** कहते हैं और जब स्वाध्याय किया जाता है, चाहे एक ही ऋचा हो या यजुर्वेद या सामवेद का एक ही सूक्त हो, तो वह **ब्रह्मयज्ञ** कहलाता है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।१।१-४) ने भी पञ्च महायज्ञों की चर्चा करके तैत्तिरीयारण्यक की भाँति ही उनकी परिभाषा दी है और कहा है कि उन्हें प्रति दिन करना चाहिए।[2] आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।१।२) की व्याख्या में नारायण एवं पराशरमाधवीय (१।१, पृ० ११) ने लिखा है कि पञ्च महायज्ञों का आधार तैत्तिरीयारण्यक में ही पाया जाता है। यही बात आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१२।१३-१५ एवं १।४।१३।१) ने भी कही है।[3] गौतम (५।८ एवं ८।१७), बौधायनधर्मसूत्र (२।६।१-८), गोभिलस्मृति (२।१६) तथा अन्य स्मृतियों ने भी पञ्च महायज्ञों का वर्णन किया है। गौतम (८।७) ने तो इन महायज्ञों को संस्कारों के अन्तर्गत गिना है।

पञ्च महायज्ञों की महत्ता

पञ्च महायज्ञों एवं श्रौत यज्ञों में दो प्रकार के अन्तर हैं। पञ्च महायज्ञों में गृहस्थ को किसी व्यावसायिक पुरोहित की सहायता की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु श्रौत यज्ञों में पुरोहित मुख्य हैं और गृहस्थ का स्थान केवल गौण रूप में रहता है। दूसरा अन्तर यह है कि पञ्च महायज्ञों में मुख्य उद्देश्य है विधाता, प्राचीन ऋषियों, पितरों, जीवों एवं

१. पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। शतपथ ब्राह्मण ११।५।६।७। याज्ञवल्क्य (१।१०१) की टीका में विश्वरूप ने भी इसे उद्धृत किया है।

२. अथातः पञ्च यज्ञाः। देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति। आश्व० गृ० ३।१।१-२; पञ्चयज्ञानां हि तैत्तिरीयारण्यकं मूलं पञ्च वा एते महायज्ञा इत्यादि।

३. अथ ब्राह्मणोक्ता विधयः। तेषां महायज्ञा महासत्राणि च संस्तुतिः। अहरहर्भूतबलिर्मनुष्येभ्यो यथाशक्ति दानम्। देवेभ्यः स्वाहाकार आ काष्ठात् पितृभ्यः स्वधाकार ओदपात्रादृषिभ्यः स्वाध्याय इति। आप० ध० सू० (१।४।१२।१३ एवं १।४।१३।१)।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति (जिसमें असंख्य जीव रहते हैं) अपने कर्तव्यों का पालन। किन्तु श्रौत यज्ञों में क्रिया की प्रमुख प्रेरणा है स्वर्ग, सम्पत्ति, पुत्र आदि की कामना। अतः पञ्च महायज्ञों की व्यवस्था में श्रौत यज्ञों की अपेक्षा अधिक नैतिकता, आध्यात्मिकता, प्रगतिशीलता एवं सदाशयता देखने में आती है।

पञ्च महायज्ञों के मूल में क्या है? इनके पीछे कौन से स्थायी भाव हैं? ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों में वर्णित पवित्र श्रौत यज्ञों का सम्पादन सबके लिए सम्भव नहीं था। किन्तु स्वर्ग के मुख अग्नि में एक समिधा डालकर सभी कोई देवों के प्रति अपने सम्मान की भावना को अभिव्यक्त कर सकते थे। इसी प्रकार दो-एक श्लोकों का जप करके कोई भी प्राचीन ऋषियों, साहित्य एवं संस्कृति के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकता था; और इसी प्रकार एक अञ्जलि या एक पात्र-जल के तर्पण से कोई भी पितरों के प्रति भक्ति एवं प्रिय स्मृति प्रकट कर सकता था और पितरों को सन्तुष्ट कर सकता था। सारे विश्व के प्राणी एक ही सृष्टि-बीज के द्योतक हैं, अतः सबमें आदान-प्रदान तथा 'जिओ एवं जीने दो' का प्रमुख सिद्धान्त कार्य रूप में उपस्थित रहना चाहिए। उपर्युक्त वर्णित भक्ति, कृतज्ञता, सम्मान, प्रिय स्मृति, उदारता, सहिष्णुता की भावनाओं ने प्राचीन आर्यों को पञ्च महायज्ञों की महत्ता प्रकट करने को प्रेरित किया। इतना ही नहीं, इसीलिए गौतम ऐसे सूत्रकारों तथा मनु (२।२८) ऐसे व्यवहार-निर्माताओं (कानून बनाने वालों) ने पञ्च महायज्ञों को संस्कारों में परिगणित किया, जिससे कि पञ्च महायज्ञ करनेवाले स्वार्थों से बहुत ऊपर उठकर अपने आत्मा को उच्च बनायें और अपने शरीर को पवित्र कर उसे उच्चतर पदार्थों के योग्य बनायें।[४] कालान्तर में प्रति दिन के महायज्ञों के साथ अन्य उद्देश्य भी आ जुटे। मनु (३।६८-७१), विष्णुधर्मसूत्र (५९।१९-२०), शंख (५।१-२), हारीत, मत्स्यपुराण (५२।१५-१६) तथा अन्य लोगों के मत से प्रत्येक गृहस्थ अग्निकुण्ड, चक्की, झाड़ू, सूप, जलघट तथा अन्य घरेलू सामग्रियों (यथा चूर्णलेप) से प्रति दिन प्राणियों को आहत करता एवं मारता है, अतः इन्हीं पापों से छुटकारा पाने के लिए प्राचीन ऋषियों ने पञ्च महायज्ञों की व्यवस्था की। ये पाँच अतिपूत यज्ञ हैं **ब्रह्मयज्ञ** (वेद का अध्ययन एवं अध्यापन), **पितृयज्ञ** (पितरों का तर्पण), **देवयज्ञ** (अग्नि में आहुतियाँ देना), **भूतयज्ञ** (जीवों को अन्न दान देना) एवं **मनुष्ययज्ञ** (अतिथि-सत्कार)। जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार पञ्च महायज्ञ करता है वह उपर्युक्त वर्णित पाँचों स्थानों से उत्पन्न पापों से मुक्ति पाता है। मनु (३।७३-७४) का कहना है कि प्राचीन ऋषियों ने पञ्च महायज्ञों का अन्य नामों से उल्लेख किया है, यथा **अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्म्य-हुत एवं प्राशित** जो क्रम से **जप** (या ब्रह्मयज्ञ), **होम** (देवयज्ञ), **भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ** एवं **पितृतर्पण** (पितृयज्ञ) हैं। अथर्ववेद (६।७१।२) में उपर्युक्त पाँच में चार का वर्णन मिलता है। **हुत** एवं **प्रहुत** तो बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।२) में **होम** (देवयज्ञ) एवं **बलि** (भूतयज्ञ) के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु गृह्यसूत्रों में इनके अर्थ विभिन्न रूप से लगाये गये हैं, यथा शांखायनगृह्यसूत्र (१।५) एवं पारस्करगृह्यसूत्र (१।४) के अनुसार चार **पाकयज्ञ** हैं—हुत, अहुत, प्रहुत एवं प्राशित, जो शांखायनगृह्यसूत्र (१।१०।७) के मत से क्रमशः अग्निहोत्र (या देवयज्ञ), बलि (भूतयज्ञ), पितृयज्ञ एवं ब्राह्म्य-हुत (या मनुष्ययज्ञ) हैं।

हारीतधर्मसूत्र ने बड़े ही मनोरम ढंग से एक उक्ति कही है—"अब हम **सूनाओं** (घातक स्थलों) की व्याख्या करेंगे। ये **सूना** इसी लिए कही जाती हैं कि चल एवं अचल प्राणियों की हत्या करती हैं। **प्रथम** सूना वह है जो अचानक जल में प्रवेश, जल में डुबकी लेने, जल में हिलोरें लेने, विभिन्न दिशाओं में थपेड़े देने, वस्त्र से बिना छाने हुए जल ग्रहण करने एवं गाड़ियों के चलाने आदि की क्रियाओं से उत्पन्न होती है; **दूसरी** वह है जो अन्धकार में इधर-उधर चलने, मार्ग को

४. स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु (२।२८)।

छोड़कर चलने, शीघ्रता से हिल जाने या कीड़े-मकोड़ों पर चढ़ जाने आदि से उत्पन्न होती है; तीसरी वह है जो पीटने या काटने (कुल्हाड़ी से वृक्ष काटने आदि), चूर्ण करने, चीरने (लकड़ी आदि) आदि से उत्पन्न होती है; चौथी वह है जो अनाज कूटने, रगड़ने या पीसने से उत्पन्न होती है; और पाँचवीं वह है जो घर्षण (लकड़ी से) करने, गर्म करने (जल आदि), भूनने, छीलने या पकाने से उत्पन्न होती है। ये पाँचों सूना, जो हमें नरक में ले जाती हैं, लोगों द्वारा प्रतिदिन सम्पादित होती हैं। ब्रह्मचारी प्रथम तीन सूनाओं से छुटकारा पाते हैं अग्नि-होम, गुरु-सेवा एवं वेदाध्ययन से; गृहस्थ लोग एवं वानप्रस्थ लोग इन पाँचों सूनाओं से छुटकारा पाँच यज्ञ करके पाते हैं; यति लोग प्रथम दो सूनाओं से छुटकारा पवित्र ज्ञान एवं मनोयोग से प्राप्त करते हैं, किन्तु बिना पकाये गये बीजों को दाँतों तले दबाने से जो सूना होती है वह उपर्युक्त किसी भी साधन से दूर नहीं होती।"

यद्यपि आपस्तम्बधर्मसूत्र एवं अन्य ग्रन्थों में पाँचों यज्ञों का क्रम है —भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ एवं स्वाध्याय, किन्तु उनके सम्पादन के कालों के अनुसार उनका क्रम होना चाहिए ब्रह्मयज्ञ (जप आदि), देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ एवं मनुष्ययज्ञ। हम इसी क्रम से पाँचों का विवेचन करेंगे। ब्रह्मयज्ञ एवं पितृयज्ञ के काल एवं स्वरूप के विषय में कई मत हैं। हम उन मतों का विवेचन यहीं उपस्थित कर दे रहे हैं। गोभिलस्मृति (२।२८-२९) के अनुसार सन्ध्या-पूजा के समय के जप को ही ब्रह्मयज्ञ मान लेना चाहिए, अतः ब्रह्मयज्ञ को तर्पण के पूर्व प्रातः-होम के पूर्व या वैश्वदेव के उपरान्त करना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।२।१) की व्याख्या में नारायण ने कहा है कि ब्रह्मयज्ञ वैश्वदेव के पूर्व या उपरान्त किया जा सकता है। कात्यायन के स्नानसूत्र के अनुसार ब्रह्मयज्ञ तर्पण के पूर्व होता है। आश्वलायन-गृह्यसूत्र ने, जैसा कि हमने ऊपर तर्पण के विवेचन में देख लिया है, तर्पण को ब्रह्मयज्ञ का अंग मान लिया है। मनु (३। ८२, विष्णुधर्मसूत्र ६७।२३-२५) के मत से भोज्य या जल या दूध या कन्द-मूल-फलों से आह्निक श्राद्ध सम्पादित करके पितरों को परितृप्त करना चाहिए। मनु (३।७० एवं २८३) ने पुनः कहा है कि (स्नान के उपरान्त किया हुआ) तर्पण पितृयज्ञ का अंग है। अतः गोभिल (२।२८) के मत से पितृयज्ञ में श्राद्ध, तर्पण एवं बलि पायी जाती हैं, इनमें से एक के प्रयोग से पितृयज्ञ पूर्ण हो जाता है और तीनों के सम्पादन की कोई आवश्यकता नहीं है। बलिहरण में (जिसका वर्णन आगे किया जायगा) बलि का शेषांश पितरों को दिया जाता है (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२।११ एवं मनु ३।९१)।

ब्रह्मयज्ञ

ब्रह्मयज्ञ के विषय में सम्भवतः अत्यन्त प्राचीन वर्णन शतपथब्राह्मण (११।५।६।३-८) में मिलता है। इस ब्राह्मण ने बताया है कि ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन का वेदाध्ययन (या स्वाध्याय) है। इस ब्राह्मण ने ब्रह्मयज्ञ के कुछ आवश्यक उपकरणों के नाम दिये हैं, यथा जुहू चमस, उपभृत, ध्रुवा, स्रुव, अवभृथ (यज्ञ के उपरान्त पवित्र स्नान)। (इन पात्रों की व्याख्या श्रौत यज्ञों के अध्ययन में होगी।) वाणी, मन, आँख, मानसिक शक्ति, सत्य एवं निष्कर्ष (जो ब्रह्मयज्ञ में उपस्थित रहते हैं) स्वर्ग के प्रतिनिधि-से हैं। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि जो दिन-प्रति-दिन स्वाध्याय करता (वैदिक पाठ पढ़ता) है उसे उस लोक से तिगुना फल होता है, जो दान देने या पुरोहित को धन-धान्य से पूर्ण सारा संसार देने से प्राप्त होता है। देवों को जो दूध, घी, सोम आदि दिये जाते हैं उनकी और ऋचाओं, यजुओं, सामों एवं अथर्वांगिरसों की तुल्यता कही गयी है। यह भी आया है कि देवता लोग प्रसन्न होकर ब्रह्मयज्ञ करने वाले को सुरक्षा, सम्पत्ति, आयु, बीज, उसका सम्पूर्ण सत्त्व तथा सभी प्रकार के मंगलमय पदार्थ देते हैं, और उसके पितरों को घी एवं मधु की धारा से सन्तुष्ट करते हैं।

शतपथब्राह्मण (११।५।६।८) ने वेदों के अतिरिक्त ब्रह्मयज्ञ में अन्य ग्रन्थों के अध्ययन की बात चलायी है, यथा—अनुशासन (वेदांग), विद्या (सर्प एवं देवजन विद्या—छान्दोग्योपनिषद् ७।१।१), वाकोवाक्य (ब्रह्मोद्य नामक

धार्मिक वाद-विवाद—वाजसनेयी संहिता २३।९-१२ एवं ४५-६२), इतिहास-पुराण, गाथाएँ, नाराशंसी (नायकों की प्रशंसा में कही गयी कविताएँ)। इनके पढ़ने से भी देव लोग प्रसन्न होकर उपर्युक्त वरदान देते हैं। तैत्तिरीयारण्यक (२।१०-१३) में ब्रह्मयज्ञ के विषय का बड़ा विस्तार है। इसमें आया है कि अथर्वांगिरस का पाठ मधु की आहुतियाँ है, तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, इतिहासों, पुराणों, कल्पों (श्रौत कृत्य-सम्बन्धी ग्रन्थों), गाथाओं एवं नाराशंसियों का पाठ मांस की आहुतियों के बराबर है। ब्रह्मयज्ञ से प्रसन्न होकर देव लोग जो पुरस्कार देते हैं वे हैं दीर्घ आयु, दीप्ति, चमक (तेज), सम्पत्ति, यश, आध्यात्मिक उच्चता एवं भोजन। तैत्तिरीयारण्यक (२।११) ने ब्रह्मयज्ञ करने के स्थल के विषय में यों लिखा है—"ब्रह्मयज्ञ करने वाले को इतनी दूर पूर्व, उत्तर या उत्तर-पूर्व में चला जाना चाहिए कि गाँव के घरों के छाजन न दिखाई पड़ें; जब सूर्योदय होने लगे तो उसे यज्ञोपवीत (उपवीत ढंग से) अपने दाहिने हाथ के नीचे डाल लेना चाहिए; एक पूत स्थल पर बैठ जाना चाहिए, अपने दोनों हाथों को स्वच्छ करना चाहिए, तीन बार आचमन करना चाहिए, हाथ को जल से दो बार धो लेना चाहिए, अपने अधरों पर जल छिड़कना चाहिए; सिर, आँखों को, नाक-छिद्रों को, कानों को, हृदय को छूना चाहिए; दर्भ की एक बड़ी चटाई बिछाकर उस पर पूर्वाभिमुख हो पद्मासन (बायाँ पैर नीचे तथा दाहिना पैर बायीं जाँघ पर) से बैठ जाना चाहिए और तब वेद का पाठ करना चाहिए; (ऐसा कहा गया है कि) दर्भ भाँति-भाँति के जलों एवं जड़ी-बूटियों की मधुरता अपने में समेटे रहता है, अतः वह (दर्भों पर आसन ग्रहण करने के कारण) वेद को माधुर्य से भर देता है। अपने बायें हाथ को दाहिने पैर पर रखकर, करतल को दाहिने करतल से ढककर और दो हाथों के बीच में दर्भ (पवित्र) को रखकर 'ओम्' कहना चाहिए जो 'यजु' है, और है तीनों वेदों का प्रतिनिधि, जो वाणी है, और है सर्वोत्तम शब्द; यह बात ऋग्वेद में (१।१६४।३९ को उद्धृत करके) कही गयी है। तब वह भूः, भुवः, स्वः का उच्चारण करता है और इस प्रकार (व्याहृतियों का पाठ करके) वह तीनों वेदों का प्रयोग करता है। यह वाणी का सत्य (सत्त या सार) है; वह इसके द्वारा वाणी का सत्य अपनाता है। तब वह तीन बार गायत्री पढ़ता है, जो सविता को सम्बोधित, है; पृथक्-पृथक् पादों के साथ, इसके उपरान्त इसका आधा और पुनः पूरा बिना रुके कहता जाता है। सूर्य यश का स्रष्टा है, वह स्वयं यश को प्राप्त करता है; तब वह (दूसरे दिन) आगे का वेद-पाठ करता है।" तैत्तिरीयारण्यक (२।१२) का कहना है कि यदि व्यक्ति बाहर न जा सके तो उसे गाँव में ही दिन या रात्रि में ब्रह्मयज्ञ करना चाहिए; यदि वह बैठ न सके तो खड़े होकर या लेटकर ब्रह्मयज्ञ कर सकता है, क्योंकि मुख्य विषय है वेद-पाठ (काल एवं स्थान गौण है)। तैत्तिरीयारण्यक (२।१३) कहता है कि उसे ब्रह्मयज्ञ का अन्त "नमो ब्रह्मणे नमो स्वग्नये नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः। नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे बृहते करोमि।" नामक मन्त्र को तीन बार कहकर करना चाहिए। इसके उपरान्त आचमन करके घर आ जाना चाहिए; और तब वह जो कुछ देता है वह ब्रह्मयज्ञ का शुल्क हो जाता है।"

उपर्युक्त ब्रह्मयज्ञ-विधि आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।२।२, ३।३।४) में ज्यों-की-त्यों पायी जाती है। लगता है, अन्य ग्रन्थों ने तैत्तिरीयारण्यक को ही इस विषय में आदर्श माना है। दो-एक स्थानों पर कुछ विभेद दिखाई पड़ते हैं। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।३।४) ने ध्यानमग्नता के लिए क्षितिज की ओर देखते रहने, या आँखें बन्द कर रखने आदि की व्यवस्था दी है। इस सूत्र ने ब्रह्मयज्ञ का सूक्ष्म रूप यों बताया है—"ओं भूर्भुवः स्वः, तीन बार गायत्री मन्त्र, कम-से-कम एक ऋग्वेद मन्त्र और 'नमो ब्रह्मणे . . .' वाला मन्त्र तीन बार कहना चाहिए।" आह्निकप्रकाश (पृ० ३२९) का कहना है कि जो वेद का केवल एक अंश जानता है, उसे पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०) एवं अन्य ऋचाओं का पाठ ब्रह्म-यज्ञ में करना चाहिए, और जो केवल गायत्री जानता है, उसे 'ओम्' का जप ब्रह्मयज्ञ के रूप में प्रति दिन करना चाहिए। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।३।१) ने स्वाध्याय के लिए निम्न ग्रन्थों के नाम लिये हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व-

वेद, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास एवं पुराण। किन्तु मनोयोगपूर्वक जितना स्वाध्याय किया जा सके उतना ही करना चाहिए।

शांखायनगृह्यसूत्र (१।४) ने ब्रह्मयज्ञ के लिए ऋग्वेद के बहुत-से सूक्तों एवं मन्त्रों के पाठ की बात कही है। अन्य गृह्यसूत्रों में अपने वेद एवं शाखा के अनुसार ब्रह्मयज्ञ के लिए विभिन्न मन्त्रों के पाठ या स्वाध्याय की बात कही गयी है। याज्ञवल्क्यस्मृति (१।१०१) में लिखा है कि समय एवं योग्यता के अनुसार ब्रह्मयज्ञ में अथर्ववेद सहित अन्य वेदों के साथ इतिहास एवं दार्शनिक ग्रन्थ भी पढ़े जा सकते हैं।

आधुनिक काल में अत्यन्त कट्टर वैदिकों एवं शास्त्रियों को छोड़कर ब्रह्मयज्ञ प्रति दिन कोई नहीं करता। आजकल वर्ष में केवल एक बार श्रावण मास में निर्धारित एक सूत्र के अनुसार ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। ऋग्वेद के छात्र के लिए वह सूत्र यों है—"ओं भूर्भुवः स्वः एवं गायत्री के पाठ के उपरान्त वह ऋग्वेद के १।१।१-९ मन्त्रों का पाठ करता है, तब ऐतरेय ब्राह्मण का प्रथम वाक्य, ऐतरेय ब्राह्मण के पाँचों विभागों के प्रथम वाक्यों, कृष्ण एवं शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम वाक्यों, सामवेद, अथर्ववेद के प्रथम वाक्यों, एवं छः वेदांगों (आश्वलायनश्रौतसूत्र, निरुक्त, छन्द, निघण्टु, ज्योतिष, शिक्षा) के प्रथम वाक्यों, पाणिनि व्याकरण के प्रथम सूत्र, याज्ञवल्क्यस्मृति (१।१) के प्रथम श्लोकार्ध, महाभारत (१।१।१) के प्रथम श्लोकार्ध, न्याय, पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा के प्रथम सूत्र, तब कल्याणप्रद सूत्र, यथा 'तच्छंयोरावृणीमहे...चतुष्पदे', और अन्त में 'नमो ब्रह्मणे...' नामक मन्त्र का पाठ करता है।" इस ब्रह्मयज्ञ के उपरान्त देवों, ऋषियों एवं पितरों का तर्पण आरम्भ होता है।

धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० २९९) के मत से ब्रह्मयज्ञ एक बार प्रातःहोम या मध्याह्न-सन्ध्या या वैश्वदेव के उपरान्त करना चाहिए, किन्तु आश्वलायनसूत्रपाठी को मध्याह्न-सन्ध्या के उपरान्त ही करना चाहिए। आचमन एवं प्राणायाम के उपरान्त यह संकल्प करना चाहिए—"श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं ब्रह्मयज्ञं करिष्ये तदंगतया देवर्ष्याचार्य-तर्पणं करिष्ये।' यदि पिता न हो तो संकल्प में इतना जोड़ देना चाहिए—"पितृतर्पणं च करिष्ये।" इसके उपरान्त धर्मसिन्धु उन लोगों के लिए ब्रह्मयज्ञ की व्यवस्था करता है जो सभी वेद जानते हैं या एक ही वेद जानते हैं या केवल एक अंश जानते हैं या उनके पास समय नहीं है। धर्मसिन्धु का कहना है कि तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी 'विद्युदसि विद्य मे पाप्मानमृतात् सत्यमुपैमि' आरम्भ में तथा 'वृष्टिरसि वृश्च मे पाप्मानमृतात् सत्यमुपागाम्' अन्त में कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति बैठकर ब्रह्मयज्ञ न करे सके तो वह लेटे हुए भी इसे सम्पादित कर सकता है।

धर्मसिन्धु का कहना है कि तैत्तिरीय शाखा के अनुयायियों एवं वाजसनेयी संहिता के अनुसार तर्पण ब्रह्मयज्ञ का कोई अंग नहीं है, अतः तर्पण का सम्पादन ब्रह्मयज्ञ के पूर्व या इसके कुछ समय उपरान्त हो सकता है।

अध्याय १९

देवयज्ञ

देवयज्ञ का सम्पादन अग्नि में समिधा डालने से होता है (तैत्तिरीयारण्यक २।१०)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१३।१), बौधायनधर्मसूत्र[1] (२।६।४) एवं गौतम (५।८-९) के अनुसार देवता का नाम लेकर 'स्वाहा' शब्द के उच्चारण के साथ अग्नि में हवि या कम-से-कम एक समिधा डालना देवयज्ञ है। मनु (३।७०) ने होम को देवयज्ञ कहा है। विभिन्न गृह्य एवं धर्मसूत्रों के अनुसार विभिन्न देवताओं के लिए होम या देवयज्ञ किया जाता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२।२) के मत से देवयज्ञ के देवता ये हैं—"अग्निहोत्र के देव (सूर्य या अग्नि एवं प्रजापति), सोम वनस्पति, अग्नि एवं सोम, इन्द्र एवं अग्नि, द्यौ एवं पृथिवी, धन्वन्तरि, इन्द्र, विश्वे देव, ब्रह्मा।" गौतम के अनुसार देवता हैं "अग्नि, धवन्तरि, विश्वे देव, प्रजापति एवं अग्नि स्विष्टकृत्।" मानवगृह्यसूत्र (२।१२।२) में विभिन्न नाम मिलते हैं। पश्चात्कालीन स्मृतियों ने होम (या देवयज्ञ) एवं देवपूजा में अन्तर बताया है। याज्ञवल्क्य (१।१००) तर्पण तथा देव-पूजा की चर्चा करने के उपरान्त पञ्चयज्ञों में होम को सम्मिलित करते देखे जाते हैं। मनु (२।१७६) ने भी यही अन्तर दर्शाया है। मध्य काल के ग्रन्थकारों ने वैश्वदेव को ही देवयज्ञ माना है, किन्तु अन्य लोगों ने देवों के होम को वैश्वदेव से भिन्न माना है (देखिए आपस्तम्बधर्मसूत्र १।४।१३।१ पर हरदत्त)। स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ३८३) में उद्धृत मरीचि एवं हारीत के अनुसार प्रातः-होम के उपरान्त या मध्याह्न में ब्रह्मयज्ञ एवं तर्पण के उपरान्त **देवपूजा** की जाती है। मध्य एवं आधुनिक काल में होम-सम्बन्धी प्राचीन विचार निम्न भूमि में चला गया और उसका स्थान **देवपूजा** (घर में ही रखी मूर्तियों के पूजन) की विस्तृत विधि ने ले लिया है। यहाँ पर मूर्ति-पूजा के विषय में थोड़ा सा लिखा जा रहा है।

मूर्ति-पूजा का उद्गम

प्राचीन वैदिक काल में मूर्ति-पूजा होती थी कि नहीं, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद एवं अन्य वेदों के लेखानुसार अग्नि, सूर्य, वरुण एवं अन्य देवताओं का पूजन होता था, किन्तु वह परोक्ष रूप में होता था और ये देव या तो एक ही दैवी या दिव्य व्यक्ति की शक्तियाँ या अभिव्यक्तियाँ थे, या प्राकृतिक दृश्य या आकस्मिक वस्तु थे, या सम्पूर्ण विश्व की विभिन्न गतियाँ थे। ऋग्वेद में कई स्थानों पर देव लोग भौतिक (शारीरिक) उपाधियों से युक्त भी माने गये हैं। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद (८।१७।३) में इन्द्र को 'तुविग्रीव' (शक्तिशाली या मोटी गरदन वाला), 'वपोदर' (बड़े उदर वाला) एवं 'सुबाहु' (सुन्दर बाहुओं वाला) कहा गया है। ऋग्वेद (८।१७।५) में इन्द्र के अंगों एवं पार्श्वों का वर्णन है और उसे अपनी जिह्वा से मधु पीने को कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्र को रंगीन बालों एवं दाढ़ी

१. अहरहः स्वाहा कुर्यादाकाष्ठात्तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति। बौ० ध० २।६।४; देवपितृमनुष्ययज्ञाः स्वाध्यायश्च बलिकर्म। अग्नावग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वेदेवाः प्रजापतिः स्विष्टकृदिति होमः। गौतम (५।८-९)। मन्त्र होते हैं—'सोमाय वनस्पतये स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा...आदि'; जब स्वाहा कहा जाता है तो आहुति अग्नि में डाली जाती है।

वाला (ऋ० १०।९७।८), हरे रंग की ठुड्डी वाला (ऋ० १०।१०५।७) कहा गया है। रुद्र को 'ऋदूदर' (जिसका पेट कोमल हो), बभ्रु (भूरे रंग का) एवं 'सुशिप्र' (सुन्दर ठुड्डी या नाक वाला) कहा गया है (ऋ० २।२३।५)। वाजसनेयी संहिता में रुद्र को गहरे आसमानी (नील) रंग वाले गले का एवं लाल रंग का (१६।७) तथा चर्म (कृत्ति) पहनने वाला कहा गया है (१६।५१)। ऋग्वेद (१।१५५।६) ने विष्णु को बृहत् शरीर एवं युवा रूप में युद्ध में जाते देखा है। ऋग्वेद (३।५३।६) में इन्द्र को सोमरस पीकर घर जाने को कहा गया है, क्योंकि उसकी स्त्री सुन्दर एवं आकर्षक है और उसका घर रमणीक है। ऋग्वेद (१०।२६।७) में पूषा को दाढ़ी हिलाते हुए कहा गया है। ऋग्वेद (४।५३।२) में सविता को द्रापि (कवच) पहनने वाला कहा गया है; और इसी प्रकार ऋग्वेद (१।२५।१३) ने वरुण को सोने की द्रापि वाला कहा है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह सब वर्णन कवित्वमय एवं आलंकारिक मात्र है। किन्तु ऋग्वेद के दो उदाहरण कठिनाई उपस्थित कर देते हैं। ऋग्वेद (४।२४।१०) में आया है—"मेरे इस इन्द्र को दस गायों के बदले कौन खरीदेगा और जब यह (इन्द्र) शत्रुओं को मार डालेगा तब इसे लौटा देगा?" ऋग्वेद (८।१।५) में पुनः आया है—"हे इन्द्र, मैं तुम्हें बड़े दामों पर भी नहीं दूंगा, चाहे एक सौ, एक सहस्र, या एक अयुत (१० सहस्र) क्यों न मिले।"[2] इन दोनों उदाहरणों से अर्थ निकाला जा सकता है कि इनमें इन्द्र की प्रतिमा की ओर संकेत है। किन्तु यह जँचनेवाली बात नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि इन उदाहरणों में इन्द्र के प्रति उसके भक्तों की अटूट श्रद्धा का संकेत प्राप्त होता है। यदि हम ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित यज्ञों एवं यज्ञ की सामग्रियों का अवलोकन करें तो यही स्पष्ट होता है कि प्राचीन ऋषियों ने देवताओं को परोक्ष रूप में ही पूजा है, हाँ, कवित्वमय ढंग से उन्हें हाथों, पैरों एवं अन्य अंगों से रूपायित माना है। यत्र-तत्र कुछ ऐसे वर्णन अवश्य मिलते हैं जिनसे मूर्ति-पूजा का निर्देश मिल जाता है, यथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।६।१७) में आया है—"होता याजक उन तीन देवियों की पूजा करे जो सुवर्णमयी हैं, सुन्दर हैं और बृहत् हैं।"[3] लगता है, तीनों देवियों की सोने की मूर्तियाँ थीं। इतना कहा जा सकता है कि उच्चस्तरीय आर्यों के धार्मिक कृत्यों में घर या मन्दिर में मूर्तिपूजा का कोई स्थान नहीं था। किन्तु वैदिक भारत के निम्नस्तरीय लोगों के धार्मिक आचार-व्यवहारों के विषय में हमें कोई साहित्यिक निर्देश नहीं प्राप्त होता। ऋग्वेद (७।२१।५) में वसिष्ठ इन्द्र से प्रार्थना करते हैं—"हमारे धार्मिक आचार-व्यवहार (ऋत) पर शिश्नदेवों का प्रभाव न पड़े।" इसी प्रकार ऋग्वेद (१०।९९।३) की प्रार्थना है—"इन्द्र शिश्नदेवों को मार-पीटकर अपने स्वरूप एवं शक्ति से जीत ले।" 'शिश्नदेव' शब्द के अर्थ के विषय में मतैक्य नहीं है।[4] कुछ लोग शिश्नदेवों को लिंग-पूजा करनेवाले मानते हैं (देखिए वेदिक इण्डैक्स, जिल्द २, पृ० ३८२)। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह शब्द गौण एवं रूपक की भाँति प्रयुक्त हुआ है, जिसका तात्पर्य है "वे लोग, जो मैथुन-तृप्ति में संलग्न रहते हैं और किसी अन्य कार्य को महत्ता नहीं देते।" यास्क ने ऋग्वेद (७।२१।५) को उद्धृत कर समझाया है कि शिश्नदेव लोग वे हैं जो ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करते। अधिकांश विद्वान् लोग इसी दूसरे मत को स्वीकार करते हैं।

२. क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। यदा वृत्राणि जंघनदथैनं मे पुनर्ददत्॥ ऋग्वेद (४।२४।१०); महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्। न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥ ऋग्वेद (८।१।५)।

३. होता यक्षत्पेशस्वतीः। तिस्रो देवीर्हिरण्ययीः। भारतीर्बृहतीर्महीः। तै० ब्रा० (२।६।१७)। ये तीनों देवियाँ हैं भारती, इडा एवं सरस्वती।

४. मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥ ऋ० ७।२।५; [illegible]देवाँ अभि वर्पसा भूत्॥ ऋ० १०।९९।३; 'मा शिश्नदेवाः [illegible], [illegible], [illegible] नः [illegible] वा यज्ञं वा।' निरुक्त (४।१९)।

मोहेंजोदड़ो (देखिए सर जॉन मार्शल, जिल्द १, पृ० ५८-६३) में लिंग-पूजा के चिह्न मिले हैं। इनके अतिरिक्त लिंग-मूर्तियाँ ईसापूर्व पहली शताब्दी के आगे की नहीं प्राप्त हो सकी हैं। किन्तु ईसा से कई शताब्दियों पूर्व भारत में मूर्ति-पूजा का विस्तार हो चुका था। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (२०।१।३) की टीका में लिखित हरदत्त के मत से ईशान, उनकी पत्नी एवं पुत्र जयन्त (विजेता स्कन्द) की मूर्तियों की पूजा होती थी। मानवगृह्य (२।१५।६) ने लिखा है कि यदि (काष्ठ, प्रस्तर या धातु की) मूर्ति जल जाय, उसका अंग भंग हो जाय, या वह गिर जाती है और उसके कई टुकड़े हो जाते हैं, वह हँसती है या स्थानान्तरित हो जाती है, तो मूर्ति वाले गृहस्थ को वैदिक मन्त्रों के साथ अग्नि में दस आहुतियाँ देनी चाहिए।[५] बौधायनगृह्यसूत्र (२।२।१३) ने उपनिष्क्रमण (प्रथम बार बच्चे को घर से बाहर ले जाने) के समय पिता द्वारा मूर्ति-पूजा की बात कही है। लौगाक्षिगृह्य (१८।३) ने देवतायतन (देवालय या मन्दिर) की बात कही है। इसी प्रकार गौतम (९।१३-१४ एवं ९।६६), शांखायनगृह्यसूत्र (४।१२।१५), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।११।३०।२८) में देवतायतन की चर्चा हुई है। मनु (२।१७६) ने लिखा है कि ब्रह्मचारी को मूर्ति-पूजा करनी चाहिए, लोगों को यात्रा में जब मूर्तियाँ मिलें, तो प्रदक्षिणा करनी चाहिए (४।३९), मूर्ति की छाया को लाँघना नहीं चाहिए (४।१३०)। मनु ने यह भी लिखा है कि साक्षियों को देवमूर्तियों एवं ब्राह्मणों के समक्ष शपथ लेनी चाहिए (८।८७)। और देखिए मनु (३।११७ एवं ९।२८५)। विष्णुधर्मसूत्र (२३।३४, ६३।२७) ने देवतार्चाओं (देवमूर्तियों) की तथा भगवान् वासुदेव की मूर्ति का उल्लेख किया है। वसिष्ठ (११।३१) एवं विष्णुधर्मसूत्र (६९।७, ३०।१५, ७०।१३, ९१।१०) में 'देवतायतन' एवं 'देवायतन' शब्द आये हैं। किन्तु इन ग्रन्थों की तिथियाँ अभी निश्चित नहीं की जा सकी हैं। किन्तु इतना तो ठीक ही है कि मानव, बौधायन एवं शांखायन नामक गृह्यसूत्र तथा गौतम एवं आपस्तम्ब के धर्मसूत्र ईसा पूर्व ५वीं या ४थी शताब्दियों के बाद के नहीं हो सकते। पाणिनि ने भी देवमूर्ति की चर्चा की है (५।३।९९) और उनकी तिथि ई० पू० ३०० के उपरान्त नहीं रखी जा सकती।[६] पतञ्जलि (महाभाष्य, जिल्द २, पृ० २२२, ३१४, ४२९) ने भी मूर्तियों का उल्लेख किया है। महाभारत (आदिपर्व ७०।४९, अनुशासनपर्व १०।२०-२१, आश्वमेधिक ७०।१६, भीष्म० ११२।११ आदि में देवायतनों का उल्लेख हुआ है। कलिंग के राजा खारवेल (ई० पू० दूसरी शताब्दी का उत्तरार्ध) ने नन्दराज द्वारा ले जायी गयी जिन-मूर्ति की स्थापना की थी, और उसे 'सर्वदेवायतन-संखार-कारक' (सभी मंदिरों की सुरक्षा एवं जीर्णोद्धार करनेवाले) की उपाधि मिली थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (२।४) में (जिसकी तिथि ई० पू० ३०० से ईसा बाद २५० तक विभिन्न विद्वानों द्वारा रखी गयी है) आया है कि राजधानियों के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त की तथा शिव, वैश्रवण, लक्ष्मी एवं मदिरा के मन्दिरों की स्थापना होनी चाहिए। उपर्युक्त विवेचनों से प्रकट होता है कि पाणिनि के बहुत पहले से ही मूर्ति-

५. यद्यर्चा दहेद्वा नश्येद्वा प्रपतेद्वा प्रभज्जेद्वा प्रचलेद्वा...एताभिर्जुहुयात्...इति दशाहुतयः। मानवगृह्य (२।१५।६)।

६. जीविकार्थे चापण्ये। पाणिनि ५।३।९९; 'अपण्य इत्युच्यते। तत्रेदं न सिध्यति शिवः स्कन्दः विशाख इति। किं कारणम्। मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।' महाभाष्य, जिल्द २, पृ० ४२९; दीर्घनासिक्यर्चा तुंगनासिक्यर्चा। महाभाष्य, जिल्द २, पृ० २२२ (पाणिनि ४।१।५४ पर); 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्। पाणिनि ४।३।९८; 'अथवा नैषा क्षत्रियाख्या। संज्ञैषा तत्रभवतः।' महाभाष्य, जिल्द २, पृ० ३१४; देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ८० एवं डा० आर० जी० भण्डारकर कृत "वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म" (१९१३), पृ० ३।४।

पूजा से उत्पन्न जीविका वाले लोग प्रचलित हो चुके थे तथा चौथी या पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में देवालय उपस्थित थे।

भारत में मूर्ति-पूजा एवं देवायतन-निर्माण का प्रचलन साथ-साथ हुआ या वैदिक आर्यों ने इस विषय में किसी अन्य जाति या सम्प्रदाय से विचार ग्रहण किया? इस विषय में बहुधा वाद-विवाद होता रहा है। तीन मत अधिक प्रसिद्ध हैं—(१) मूर्ति-पूजा शूद्रों एवं द्रविड़ों से ग्रहण की गयी और ब्राह्मण धर्म में समाहित हो गयी। (२) मूर्तियों का निर्माण बौद्धों की अनुकृति है, तथा (३) यह प्रथा स्वाभाविक विकास का प्रतिफल है। दूसरा मत सत्य से बहुत दूर है, क्योंकि परिनिर्वाण के उपरान्त बहुत दिनों तक बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण नहीं हुआ। आरम्भ में बुद्ध केवल प्रतीकों द्वारा व्यक्त किये जाते थे। बुद्ध का काल है ई० पू० ५६३-४८३, जो बहुत-से विद्वानों को मान्य है। हमने पहले ही देख लिया है कि मूर्ति-पूजा एवं देवायतन-निर्माण का प्रचलन ई० पू० चौथी या पाँचवीं शताब्दी में हो चुका था। प्रथम मत का समर्थन डा० फर्कुहर (जे० आर० ए० एस्०, १९२८, पृ० १५-२३) एवं डा० कार्पेंटियर (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १९२७, पृ० ८९ एवं १२०) ने किया है। किन्तु इन लोगों का तर्क उचित नहीं जँचता। ब्राह्मणों ने ईसा पूर्व ४०० के लगभग शूद्रों से मूर्ति-पूजा ग्रहण की, इस विषय में कोई स्पष्ट तर्क नहीं प्राप्त होता। जैसा कि पुरुषसूक्त से प्रकट है, शूद्र लोग लगभग एक सहस्र वर्ष ई० पूर्व में भारतीय समाज का एक अंग बन चुके थे। सूत्रकाल में ब्राह्मण लोग शूद्रों का पकाया हुआ अन्न ग्रहण कर सकते थे और शूद्र नारियों से विवाह भी कर लेते थे। अतः यदि मूर्ति-पूजा शूद्रों की देन थी तो इसे ईसा पूर्व ४०० की अपेक्षा एक सहस्र वर्ष पूर्व से प्रचलित रहना चाहिए था। देवलोक ब्राह्मण (वह ब्राह्मण जो मूर्ति-पूजा का व्यवसाय करता है या पूजा में जो कुछ प्राप्त होता है उसे ग्रहण करता है) को श्राद्ध के समय नहीं बुलाया जाता था, और उसे समाज में अपेक्षाकृत नीचा स्थान प्राप्त था (मनु ३।१५२)। मूर्ति-पूजकों की संस्था मनु के समय में श्रौत एवं गृह्ययज्ञों की अपेक्षा बहुत पुरानी नहीं थी। लगता है, मूर्तिपूजकों ने क्रमशः ब्राह्मण-कर्त्तव्य (यथा वेदाध्ययन) छोड़ दिया था, अतः ऐसे ब्राह्मण हेय दृष्टि से देखे जाते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में भी साधारण गृह्य यज्ञ श्रौत कृत्यों के स्तर पर लाये जा रहे थे, क्योंकि श्रौत कृत्य अब उतने अधिक नहीं किये जाते थे, अर्थात् उनका प्रचलन क्रमशः कम होता जा रहा था। ऐतरेय ब्राह्मण (२।८) में आया है कि जब कोई किसी देवता को कुछ (हवि) देना चाहता था, तो 'वषट्' कहने के पूर्व उसे उस देवता का ध्यान करना पड़ता था।[७] इससे पूजक स्वभावतः अपने देवता को मानवीय स्वरूप एवं उपाधियाँ या गुण देने की प्रेरणा ग्रहण करेगा। निरुक्त ने वैदिक मन्त्रों में निर्देशित देवताऽऽकृतियों के प्रश्न पर कुछ लिखा है (७।६-७)। इसने तीन मत प्रकाशित किये हैं—(१) देवता लोग पुरुषविध (पुरुष आकार वाले) हैं, (२) वे अपुरुषविध हैं तथा (३) वे उभयविध हैं, अर्थात् वे हैं तो अपुरुषविध किन्तु किसी कार्यवश या उद्देश्य से कई प्रकार के स्वरूप धारण कर सकते हैं।[८] इस अन्तिम मत में अवतारों का सिद्धान्त पाया जाता है। जब कई कारणों से वैदिक यज्ञ क्रमशः कम मनाये जाने लगे (अहिंसा के सिद्धान्त, विभिन्न उपासनाओं एवं उपनिषदों में वर्णित परब्रह्म के दार्शनिक मत आदि के कारण), तब क्रमशः मूर्ति-पूजा को प्रधानता दी जाने लगी। आरम्भ में मूर्ति-पूजा का इतना विस्तार नहीं था, जैसा कि मध्य एवं आधुनिक काल में पाया जाने लगा।

७. यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्। ऐ० ब्रा० २।८ (वेदान्तसूत्र, पृ० १।३।३३ में शंकराचार्य द्वारा उद्धृत)।

८. अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।...अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्।...अपि वा उभयविधाः स्युः, अपि वा अपुरुषविधानामेव सतामेते कर्मात्मानः स्युः। निरुक्त ७।६-७।

मूर्ति-पूजा-सम्बन्धी विषय

मूर्ति-पूजा सम्बन्धी साहित्य बहुत लम्बा-चौड़ा है। मूर्ति-पूजा से सम्बन्ध रखनेवाले विषय ये हैं—वे पदार्थ जिनसे मूर्तियाँ बनती है, वे प्रमुख देवता जिनकी मूर्तियों की पूजा होती थी या होती है, मूर्ति-निर्माण में शरीरावयवों के आनुपातिक क्रम, मूर्तियों एवं देवालयों की स्थापना एवं मूर्ति-विषयक कृत्य।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता (अध्याय ५८, जहाँ ८ या ४ या २ बाहुओं वाली राम एवं विष्णु की मूर्तियों के विषय में तथा बलदेव, एकानंशा, ब्रह्मा, स्कन्द, शिव, गिरिजा—शिव की अर्धांगिनी के रूप में, बुद्ध, जिन, सूर्य, मातृका, यम, वरुण एवं कुबेर की मूर्तियों के विषय में उल्लेख है) में, मत्स्यपुराण (अध्याय २५८-२६४) में, अग्निपुराण (अध्याय ४४।५३) में, विष्णुधर्मोत्तर (३।४४) तथा अन्य पुराणों में, मानसार, हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि (व्रत-खण्ड, जिल्द २, १, पृ० ७६-२२२) एवं कतिपय आगम ग्रन्थों में, १५वीं शताब्दी के सूत्रधार मण्डन कृत देवतामूर्ति-प्रकरण में तथा अन्य पुस्तकों में **प्रतिमालक्षण** के विषय में विस्तृत नियम दिये गये हैं। स्थानाभाव के कारण हम विस्तार में नहीं जायँगे। आधुनिक काल में बहुत-सी अध्ययन-सामग्री, ग्रन्थ एवं लेख प्रकाशित हुए हैं।

मध्यकाल के निबन्धों में स्मृतिचन्द्रिका, स्मृतिमुक्ताफल, पूजाप्रकाश आदि ग्रन्थ देवपूजा तथा उसके विभिन्न स्वरूपों पर विस्तार के साथ प्रकाश डालते हैं। पूजाप्रकाश ३८२ पृष्ठों में मुद्रित हुआ है। हम नीचे कुछ विषयों पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

मूर्तिपूजा का अधिकारी, स्थल आदि

पाणिनि के वार्तिक ('उपाद् देवपूजा०', १।३।२५ पर) में 'देवपूजा' शब्द आया है। निबन्धों ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि याग (यज्ञ) एवं पूजा समानार्थक हैं, क्योंकि दोनों में देवता के लिए द्रव्य-समर्पण की बात पायी जाती है।

अब प्रश्न उठता है; देवपूजा करने का अधिकारी कौन है? नृसिंहपुराण एवं वृद्ध हारीत (६।६ एवं २५६) के मत से नृसिंह के रूप में विष्णु की पूजा सभी वर्णों के स्त्री-पुरुष, यहाँ तक कि अछूत लोग भी कर सकते हैं। व्यवहार-मयूख (पृ० १३३) में उद्धृत शाकल के मत से संयुक्त परिवार के सभी सदस्य अलग अलग रूप से सन्ध्या, ब्रह्मयज्ञ एवं अग्निहोत्र (यदि उन्होंने श्रौत एवं गृह्य अग्नियाँ प्रज्वलित की हों) कर सकते हैं, किन्तु देवपूजा एवं वैश्वदेव पूरे परिवार के इकट्ठे होंगे। देवपूजा का समय मध्याह्न के तर्पण के उपरान्त एवं वैश्वदेव के पूर्व है; किन्तु कुछ लोग इसे वैश्वदेव के उपरान्त भी करते हैं। दक्ष (२।३०-३१) के अनुसार सभी देवकार्य दिन के पूर्वार्ध भाग के भीतर ही हो जाने चाहिए।

हिन्दू धर्म में एक विचित्र बात है **अधिकार-भेद** (बुद्धि, संवेग एवं आध्यात्मिक बल के आधार पर अधिकारों, कर्तव्यों, उत्सवों एवं पूजा में अन्तर)। सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के अनुशासन एवं अन्नपान-विधि या पथ्यापथ्य नियम के योग्य नहीं माने जा सकते। मूर्ति-पूजा भी सभी व्यक्तियों के लिए अत्यावश्यक नहीं थी। प्राचीन ग्रन्थकारों ने यह कभी नहीं सोचा कि वे मूर्ति की पूजा भौतिक वस्तु की पूजा के रूप में करते हैं। उन्हें यह पूर्ण विश्वास था कि मूर्ति के रूप में वे परमात्मा का ध्यान करते हैं।

नारद, भागवतपुराण (११।२७।९) एवं वृद्ध हारीत (६।१२८-१२९) के मत से हरि की पूजा जल, अग्नि, हृदय, सूर्य, वेदी, ब्राह्मणों एवं मूर्तियों में होती है। शातातप का कहना है—"साधारण लोगों के देव जल में हैं, ज्ञानियों के स्वर्ग में, अज्ञानियों एवं अल्प बुद्धि वालों के काठ एवं मिट्टी (अर्थात् मूर्ति) में तथा योगियों के देव उनके सत्त्व (या

हृदय) में रहते हैं। ईश्वर की पूजा अग्नि में आहुतियों से होती है, जल में पुष्प अर्पण करने से, हृदय में ध्यान से एवं सूर्य के मण्डल में जप करने से होती है।"[१]

प्रतिमा-निर्माण के उपकरण एवं प्रतिमा-आकार

रत्न, सुवर्ण, रजत, ताम्र, पित्तल, लोह, काष्ठ या मिट्टी से प्रतिमाएँ बन सकती हैं, जिनमें बहुमूल्य रत्नों से निर्मित सर्वश्रेष्ठ एवं मिट्टी से निर्मित घटिया मानी जाती हैं। भागवतपुराण (११।२७।१२) के अनुसार मूर्तियाँ आठ प्रकार की होती हैं; प्रस्तर, काष्ठ, लोह, चन्दन (या तादृश किसी लेप वाली), चित्र, बालुका की, बहुमूल्य रत्नों की तथा मानसिक। मत्स्यपुराण (२५८।२०-२१) ने उपर्युक्त सूची में सीसे एवं काँसे की बनी मूर्तियाँ भी जोड़ दी हैं (देखिए वृद्ध हारीत ८।१२०)। विष्णु-पूजा के लिए प्रस्तर-मूर्तियों में शालग्राम प्रस्तर (गण्डकी नदी के उद्गम पर शालग्राम नामक ग्राम में पाये जानेवाले काले प्रस्तर-खण्ड) एवं द्वारका के प्रस्तर (गोमतीचक्र जिन पर चक्र बने हों) बड़े महत्त्व के माने जाते हैं। वृद्ध हारीत (८।१८३-१८९) ने शालग्राम-पूजा की बड़ी महत्ता गायी है। उनके मत से शालग्राम की पूजा केवल द्विज ही कर सकते हैं, शूद्र नहीं। किन्तु कई पुराणों के मत से (पूजाप्रकाश, पृ० २०-२१ में उद्धृत) नारियाँ एवं शूद्र भी बिना स्पर्श किये शालग्राम की पूजा कर सकते हैं। ऋषियों द्वारा अतीत में संस्थापित लिंगों की पूजा भी स्त्रियाँ एवं शूद्र नहीं कर सकते थे। शालग्राम-पूजा पर्याप्त प्राचीन है, क्योंकि वेदान्तसूत्र-भाष्य (१।२।७) में शंकराचार्य ने हरि के प्रतीक के रूप में इसकी चर्चा की है। पूजा में पाँच प्रकार के प्रस्तर प्रयोग में आते रहे हैं—(१) शिव-पूजा में नर्मदा का बाण-लिंग, (२) विष्णु-पूजा में शालग्राम, (३) दुर्गा-पूजा में धातु-मय प्रस्तर, (४) सूर्य-पूजा में स्फटिक प्रस्तर एवं गणेश-पूजा में लाल प्रस्तर। राजतरंगिणी (२।१३१ एवं ७।१८५) ने कश्मीर में नर्मदा से प्राप्त शिव के बाणलिंगों की स्थापना की चर्चा की है।

घर में पूजने की मूर्तियों के विषय में मत्स्यपुराण (२५८।२२) ने कहा है कि उनका आकार अँगूठे से लेकर १२ अंगुल से अधिक नहीं होना चाहिए, किन्तु मन्दिर में स्थापित होनेवाली मूर्तियों का आकार १६ अंगुल से अधिक नहीं होना चाहिए, या उचित ऊँचाई के लिए निम्न नियम काम में लाना चाहिए—मन्दिर के द्वार की ऊँचाई को आठ भागों मे बाँटिए, पुनः सात भागों को एक-तिहाई एवं दो-तिहाई भागों में बाँटिए; मूर्ति का आधार सात भागों की एक तिहाई तथा मूर्ति दो-तिहाई (अर्थात् द्वार के ७/८ का २/३) होनी चाहिए (मत्स्यपुराण २५८।२३-२५)।

१. (क) साकारा विकृतिर्ज्ञेया तस्य सर्वं जगत्स्मृतम्। पूजाध्यानादिकं कार्यं साकारस्यैव शस्यते॥ विष्णुधर्मोत्तर ३।४६।३; नारदोपि। अप्स्वग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च। षट्स्थानेषु हरेः सम्यगर्चनं मुनिभिः स्मृतम्॥ पूजाप्रकाश (पृ० १०) एवं स्मृतिचन्द्रिका (आह्निक, पृ० ३८४) में उद्धृत; ऋग्विधान ३।२९।२ में भी यही बात पायी जाती है। हृदये प्रतिमायां वा जले सवितृमण्डले। वह्नौ च स्थण्डिले वापि चिन्तयेद्विष्णुमव्ययम्॥ बृहद्धारीत ६।१२८-१२९; अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे। द्रव्येण भक्तियुक्तोर्चेत् स्वगुरुं माममायया॥ भागवत ११।२७।९; देखिए बृहद्धारीत ८।९१-९२।

(ख) अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम्। काष्ठलोष्ठेषु मूर्खाणां युक्तस्यात्मनि देवता॥ शातातप (आह्निकप्रकाश, पृ० ३८२ में उद्धृत); अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम्। प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः॥ पूजाप्रकाश (पृ० ८) में उद्धृत (नृसिंहपुराण ६२।५ एवं ऋग्विधान ३।२९।३); हविषाग्नौ जले पुष्पैर्ध्यानैर्वा हृदये हरिम्। अर्चन्ति सूरयो नित्यं जपेन रविमण्डले॥ स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ३८४)।

मूर्तिपूजा के देव, पञ्चायतन पूजा एवं दशावतार

जिन देवों की मूर्तियों की पूजा होती है, उनमें मुख्य हैं विष्णु (बहुत-से नामों एवं अवतारों के साथ), शिव (अपने बहुत से स्वरूपों के साथ), दुर्गा, गणेश एवं सूर्य। इन देवों की पूजा (पञ्चायतन पूजा) की प्रसिद्धि का श्रेय श्री शंकराचार्य को है। आजकल भी इन पांचों देवों की पूजा होती है, किन्तु उनके स्थान-क्रम में निम्न प्रकार की विशेषता पायी जाती है—

पूर्व

उत्तर

विष्णुपञ्चायतन	शिवपञ्चायतन	सूर्यपञ्चायतन	देवीपञ्चायतन	गणेशपञ्चायतन
शंकर २ गणेश ३	विष्णु २ सूर्य ३	शंकर २ गणेश ३	विष्णु २ शंकर ३	विष्णु २ शंकर ३
विष्णु १	शंकर १	सूर्य १	देवी १	गणेश १
देवी ५ सूर्य ४	देवी ५ गणेश ४	देवी ५ विष्णु ४	सूर्य ५ गणेश ४	देवी ५ सूर्य ४

दक्षिण

पश्चिम

मध्य एवं आधुनिक काल के धार्मिकों ने विष्णु को जगत् एवं इसकी संस्कृति की रक्षा के लिए अवतार रूप में कई बार इस संसार में देखा है। अब हम संक्षेप में अवतारों के सिद्धान्त के विषय में चर्चा करेंगे। विष्णु के बहुत प्रसिद्ध दस अवतार माने गये हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में अवतार की धारणा के विषय में धुँधला-सा संकेत मिल जाता है। ऋग्वेद (८।१७।१३) में इन्द्र को ऋषि शृंगवृष का पौत्र माना गया है, जिसका तात्पर्य हुआ कि इन्द्र इस पृथिवी पर मनुष्य रूप में उतरे थे। ऋग्वेद (४।२६।१) में ऋषि वामदेव ने कहा है—"मैं मनु था, मैं सूर्य भी था।" इस उक्ति की ओर बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।१०) में भी संकेत मिलता है और इसे आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त के समर्थन में बहुधा उद्धृत किया जाता है। चाहे जो हो, इतना तो कहना ठीक ही जँचता है कि वैदिक ऋषि ने सूर्य को इस पृथिवी पर मनुष्य रूप में अवतरित होते हुए कल्पित किया था। शतपथ ब्राह्मण (१।८।१।१-६) में मनु की कथा आयी है; जब अत्यधिक बाढ़ में मनु की नौका डूब-सी रही थी तो उन्होंने (मनु ने) उसे एक सींग वाली मछली के सींग में बांध दिया था और उस मछली ने मनु की रक्षा की थी। इस गाथा से मत्स्यावतार की धुँधली झलक मिल जाती है।[१०]

शतपथ ब्राह्मण (७।५।१।५) के कथन से सम्भवतः कूर्मावतार की झलक भी मिलती है। वहाँ ऐसा आया है कि प्रजापति ने कूर्म का रूप धारण करके प्राणियों की सृष्टि की। 'कूर्म' एवं 'कश्यप' शब्दों का अर्थ एक ही है, अतः

१०. स औघ उत्थिते नावमापेदे तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे तस्य शृंगे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव। शतपथ ब्राह्मण १।८।१।५। और देखिए जे० आर० ए० एस्०, १८९५, पृ० १६५-१८९ में प्रो० मैक्डोनेल का लेख जिसमें अवतारों से सम्बन्ध रखने वाली जनश्रुतियों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

सभी प्राणी कश्यप के वंशज या उससे सम्बन्धित माने जायेंगे।[11] इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (१४।१।२।११) में वराह अवतार की कथा झलकती है—"एमूष नामक वराह ने पृथिवी को ऊपर उठाया, वह उसका (पृथिवी का) स्वामी प्रजापति था।" ऋग्वेद (१।६१।७) में आया है कि विष्णु ने वराह को फाड़ दिया। वह इन्द्र द्वारा प्रेरित होकर पूजक के पास एक सौ भैंसें, खीर एवं एमूष नामक वराह लाता है (ऋ० ८।७७।१०)। तैत्तिरीय आरण्यक (१।१।३) ने इस किंवदन्ती की ओर संकेत किया है।[12] काठकसंहिता (८।२) में प्रजापति को वराह बनकर पानी में डुबकी लेते कहा गया है (देखिए तैत्तिरीय संहिता ७।१।५।१ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३)। नृसिंहावतार की कथा की झलक हमें इन्द्र एवं नमुचि की गाथा में मिल जाती है। हिरण्यकशिपु का विष्णु द्वारा सत्यानाश बहुत कुछ उन्हीं परिस्थितियों में हुआ जिनमें इन्द्र ने नमुचि का नाश किया। इन्द्र ने नमुचि से कहा था—"तुम्हें दिन या रात में नहीं मारूँगा, सूखे या गीले, हथेली या मुक्के से, या छड़ी या धनुष आदि से नहीं मारूँगा" (शतपथब्राह्मण १२।७।३।१-४)। हमें शतपथब्राह्मण द्वारा उद्धृत ऋग्वेद (८।१४।१३) से पता चलता है कि इन्द्र ने नमुचि का सिर पानी के फेन से काट डाला था। 'सिलप्प-दिकारम्' नामक प्राचीन तमिल ग्रन्थ में नरसिंहावतार की ओर संकेत है। वामनावतार की कथा की ओर संकेत (वामन ने तीन पद भूमि की याचना की थी) ऋग्वेद से प्राप्त होता है, जहाँ विष्णु के प्रमुख पराक्रम हैं तीन पद रखना एवं पृथिवी को स्थिर कर देना।[13] देखिए वामनावतार के लिए शतपथब्राह्मण (१।२।५।१)। छान्दोग्योपनिषद् (३।१७।६) में आया है कि ऋषि घोर आंगिरस ने देवकी के पुत्र कृष्ण को कोई उपदेश दिया। इसने महाभारत एवं पुराणों के कृष्ण की आख्यायिकाओं पर कुछ प्रभाव डाला होगा।

पतंजलि ने वासुदेव को केवल क्षत्रिय नहीं प्रत्युत परमात्मा का अवतार माना है (महाभाष्य, जिल्द २, पृ० ३१४)। पतंजलि ने कंस, उग्रसेन (अन्धक जाति के सदस्य), विश्वक्सेन (वृष्णि), बलदेव, सत्यभामा एवं अक्रूर का उल्लेख किया है (देखिए क्रम से महाभाष्य जिल्द २, पृ० ३६ एवं ११९, जिल्द २, पृ० २५७, जिल्द १, पृ० १११, जिल्द २, पृ० २९५)। इससे स्पष्ट होता है कि कृष्ण एवं उनके साथ के लोगों की कथाएँ (जो महाभारत एवं हरिवंश में पायी जाती हैं) पतंजलि एवं कुछ सीमा तक पाणिनि को ज्ञात थीं। हेलियोडोरस के वेसनगर स्तम्भ-लेख (एपि-ग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १०, अनुसूची पृ० ६३, नं० ६६९) से पता चलता है कि यूनानी भी विष्णु के भक्त हो जाया करते थे। एरण प्रस्तर-लेख (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० १५८, नं० ३६) में वराहावतार का उल्लेख हुआ है। भागवत पुराण (२।४।१८) ने लिखा है कि जब किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, सुह्म, यवन, खश एवं अन्य

११. स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तदकरोत्तस्मात्कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति। शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५।

१२. इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः। शतपथ ब्राह्मण १४।१।२।११; उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना। भूमिर्धेनुर्धरणी लोकधारिणी। तैत्तिरीयारण्यक १०।१। ऋग्वेद में वराह का अर्थ 'वराह के समान बादल-राक्षस' या 'वराह' हो सकता है। देखिए निरुक्त ५।४।

१३. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। ऋग्वेद १।२२।१७-१८; और देखिए ऋग्वेद १।१५४।१-४, १।१५५।४, ५।४९।१३ आदि; न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप। उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः॥...व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः॥ ऋग्वेद ७।९९।२-३।

पापी गण भक्त रूप में विष्णु की शरण में आते हैं तो पवित्र हो जाते हैं। इन बातों से स्पष्ट होता है कि विष्णु के अवतार (दस से कम या अधिक) ईसा के कई शताब्दियों पहले से प्रसिद्धि पा चुके थे।

महाभारत एवं रामायण में ऐसा आया है कि दुष्टों को दण्ड देने, सज्जनों की रक्षा करने एवं धर्म के संस्थापन के लिए भगवान् इस पृथिवी पर आते हैं।[१४] शान्तिपर्व (३३९।१०३-१०४) में भी दस अवतारों के नाम आये हैं, किन्तु यहाँ बुद्ध के स्थान पर नया नाम 'हंस' आया है एवं कृष्ण को सात्वत कहा गया है। पुराणों में से भी कुछ बुद्ध को अवतार रूप में नहीं घोषित करते। मार्कण्डेयपुराण (४७।७) ने मत्स्य, कूर्म एवं वराह को अवतार माना है और ४।५३-५४ में वराह से आरम्भ कर नृसिंह, वामन एवं माथुर (कृष्ण) के नाम लिये हैं। मत्स्यपुराण (४७।३९-४५) ने १२ अवतार बताये हैं जिनमें कुछ सर्वथा भिन्न हैं, इसने यह भी लिखा है कि भृगु ने विष्णु को सात बार मनुष्य रूप में जन्म लेने का शाप दिया, क्योंकि उन्होंने अपनी स्त्री को मार डाला था। किन्तु मत्स्यपुराण (२८५।६-७) में उल्लिखित अवतारों में बुद्ध का भी नाम है। इस पुराण (४७।२४०) ने बुद्ध को नवाँ अवतार माना है। नृसिंह पुराण (अध्याय ३६), अग्निपुराण (अध्याय २ से १६) एवं वराहपुराण (४।२) ने प्रसिद्ध दशावतारों के नाम लिये हैं। वृद्धहारीतस्मृति (१०।१४५-१४६) में दशावतारों में बुद्ध के स्थान पर हयग्रीव आया है, और यह कहा गया है कि बुद्ध की पूजा नहीं होनी चाहिए। रामायण (अयोध्याकाण्ड, १०९।३४) में बुद्ध को चोर एवं नास्तिक कहा गया है।[१५] किन्तु यह उक्ति क्षेपक भी हो सकती है। भागवतपुराण में अवतारों की तीन सूचियाँ हैं—(१) १।३ में २२ अवतार हैं, जिनमें बुद्ध, कल्कि, व्यास, बलराम एवं कृष्ण पृथक्-पृथक् आये हैं, (२) २।७० में प्रसिद्ध अवतारों के साथ कपिल, दत्तात्रेय एवं अन्य नाम हैं तथा (३) ६।८ में बुद्ध और ६।१७ में बुद्ध एवं कल्कि दोनों उल्लिखित हैं। कृत्यरत्नाकर (पृ० १५९-१६०) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर बताया है कि वैशाख शुक्ल सप्तमी को व्रत करना चाहिए, क्योंकि उसी दिन विष्णु ने बुद्ध रूप में शाक्यधर्म चलाया; वैशाख की सप्तमी को पुष्य नक्षत्र में बुद्धप्रतिमा को शाक्य-वचन के साथ स्नान कराना चाहिए और शाक्य साधुओं को वस्त्र दान करना चाहिए। इसी ग्रन्थ में बुद्ध-द्वादशी की चर्चा है जब कि सोने की बुद्धप्रतिमा को स्नान कराकर ब्राह्मण को दान कर देने का उल्लेख है। सातवीं शताब्दी के एक अभिलेख में भी बुद्ध का नाम दशावतारों में वर्णित है।[१६] इन विवेचनों से स्पष्ट होता है कि अवतार रूप में बुद्ध की पूजा लगभग सातवीं शताब्दी से होने लगी थी। उस समय तक भी कुछ लोग उन्हें अवतार मानने को उद्यत नहीं थे, यथा कुमारिल भट्ट (लगभग ६५० से ७५० ई०)। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (६०।१९) में लिखा है—"जो लोग देवताओं के

१४. विष्णु के अवतारों के विषय में विस्तार से अध्ययन के लिए देखिए हाप्किन्स की 'एपिक मैथोलाजी', १९१५, पृ० २०९-२१९ एवं इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द ११, पृ० १२१; पढ़िए 'असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च। अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये॥ वनपर्व २७२।७१; बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम। धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥ आश्वमेधिक पर्व ५४।१३; भगवद्गीता ४।७-८; वनपर्व २७२।६१-७०, २७६।८ आदि; अयोध्याकाण्ड १।७, उत्तरकाण्ड ८।२७; हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावाद् द्विजोत्तम। वराहो नारसिंहश्च वामनो राम एव च॥ रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च॥ शान्तिपर्व ३३९।१०३-१०४।

१५. यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि। अयोध्याकाण्ड १०९।३४।

१६. मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश॥ वराहपुराण ४।२; देखिए डा० आर० जी० भण्डारकर कृत "वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म", पृ० ४१।४२। और देखिए अभिलेख के लिए आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इण्डिया (मेम्वायर संख्या २६)।

मन्दिरों में पुजारी होना चाहते हैं, यथा विष्णु के भागवत, सूर्य-मन्दिरों में मग (शाकद्वीपीय ब्राह्मण), शिव-मन्दिरों में विभूति लगाये द्विज, देवी के मंदिरों में मातृमंडल जानने वाले, ब्रह्मा के मन्दिर में ब्राह्मण, शान्तिप्रिय एवं उदारहृदय बुद्ध के मन्दिरों में बौद्ध, जिनों के मन्दिरों में नग्न साधु तथा इसी प्रकार के अन्य लोग; इनको अपने सम्प्रदाय में व्यवस्थित विधि के अनुसार देवपूजा करनी चाहिए।[१७] क्षेमेन्द्र (१०६६ ई० के लगभग) ने अपने दशावतार-चरित में एवं जयदेव (लगभग ११८०-१२०० ई०) ने अपने गीतगोविन्द में बुद्ध को विष्णु का अवतार माना है। अतः लगभग १०वीं शताब्दी में बुद्ध सारे भारतवर्ष में विष्णु के अवतार रूप में विख्यात हो चुके थे।

भारतवर्ष में बौद्धधर्म का लुप्त हो जाना एक अति विचित्र घटना है। यद्यपि बुद्ध ने वेद एवं ब्राह्मणों के आधिपत्य को न माना, न तो व्यक्तिगत आत्मा एवं परमात्मा के अस्तित्व में ही विश्वास किया, किन्तु उन्होंने 'कर्म' एवं पुनर्जन्म तथा विरक्ति एवं इच्छारहित होने पर संस्कारों से छुटकारा पाने के सिद्धान्तों में विश्वास किया। जब बौद्धों ने बुद्ध का पूजन आरम्भ कर दिया, जब पशुबलि एक प्रकार से समाप्त हो गयी; जब सार्वभौम दयाशीलता, उदार भावना एवं आत्म-निग्रह की भावना सभी को स्वीकृत हो गयी और वैदिक धर्मावलम्बियों ने बौद्ध धर्म के व्यापक सिद्धान्त मान लिये, तब बुद्ध विष्णु के अवतार रूप में स्वीकृत हो गये। तब उनके अन्य-धर्मत्व की आवश्यकता न प्रतीत हुई। किन्तु भिक्षु-भिक्षुणियों के नैतिक पतन से बौद्ध धर्म की अवनति की गति अति तीव्र हो गयी और अन्त में मुसलमानों के आक्रमणों ने लगभग १२०० ई० में बौद्धधर्म को सदा के लिए भारत से बिदा कर दिया।

ईसा की कई शताब्दियों पूर्व से **राम** एवं **कृष्ण** को अवतारों के रूप में पूजा जा रहा था। कालिदास ने रघुवंश (११।२२) एवं मेघदूत में वामन को राम के समान ही अवतार माना है। इसी प्रकार कादम्बरी में वराह एवं नरसिंह के अवतारों का उल्लेख है। त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश-शिव को एक देव के रूप में मानने) की धारणा अति

१७. विष्णोर्भागवतान्मगांश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान्, मातॄणामपि मातृमण्डलविदो विप्रान् विदुर्ब्रह्मणः। शाक्यान्सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नाञ्जिनानां विदुर्ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया।। बृहत्संहिता ६०।११। देखिए विलसन का विष्णुपुराण (जिल्द ५, पृ० ३८२), जहाँ भविष्यपुराण का (अन्तिम १२ अध्यायों का) विश्लेषण किया गया है। अभिशप्त होने पर साम्ब ने शिव का मन्दिर बनवाया और शकद्वीप से मगों के १८ कुटुम्ब बुला लिये, जिनके साथ यादवों के एक वर्ग भोजों ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और तब मग लोग भोजक कहलाये। बाण के हर्षचरित (४) में भोजक ज्योतिषाचार्य तारक का उल्लेख हुआ है, जिसने हर्ष के जन्म पर उसकी महत्ता का वर्णन किया है और टीकाकार के अनुसार 'भोजक' का अर्थ है 'मग'। देखिए शेरिंग की पुस्तक 'हिन्दू ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स' (जिल्द १, पृ० १०२-१०३) जिसमें उन्होंने शाकद्वीपी ब्राह्मणों को मागध ब्राह्मण कहा है; न कि 'मग'। "मग और सूर्य-पूजा" के विषय में देखिए डा० आर० जी० भण्डारकर कृत "वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म", पृ० १५१।१५५। देखिए मग ब्राह्मणों के लिए बेवर का लेख 'मगव्यक्ति आव कृष्णदास' (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० ३३०), मग कवि गंगाधर का गोविन्दपुर प्रस्तर-लेख (१०५९ शकाब्द—११३७-३८ ई०), जिसमें ऐसा उल्लेख है कि मग लोग सूर्य के शरीर से उद्भूत हुए हैं, कृष्ण के पुत्र साम्ब द्वारा शकद्वीप से लाये गये हैं और प्रथम मग भारद्वाज था। और देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृ० २७९—प्रतिहार कक्कक का घटियालक शिलालेख, जो मातृरवि नामक मग द्वारा लिखित है (संवत् ९१८—८६१—८६२ ई०)। देखिए भविष्यपुराण (अध्याय १३९-४०), जहाँ दाढ़ी बढ़ाने वाले भोजक कहे गये हैं, आदि। भीष्मपर्व (अध्याय ११) ने शाकद्वीप का उल्लेख किया है और ३६वें श्लोक ने मंगों (मगों) के देश की बात चलायी है।

प्राचीन रही है। महाभारत में आया है कि प्रजापति ब्रह्मा रूप में सृष्टि करता है, महान् पुरुष के रूप में रक्षा करता है तथा रुद्र रूप में नाश करता है (वनपर्व)। ब्रह्मा के मन्दिर अब बहुत ही कम पाये जाते हैं; अत्यन्त प्रसिद्ध मन्दिर है अजमेर के पास पुष्कर का मन्दिर। सावित्री के शाप से ब्रह्मा की पूजा अवनति को प्राप्त हुई कही गयी है (पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, १७)।

शिव-पूजा सम्भवतः प्राचीनतम पूजा है। सर जॉन मार्शल के ग्रन्थ मोहेन्जोदड़ो (जिल्द १, पृ० ५२-५३ एवं चित्र १२, संख्या १७) से पता चलता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय सम्भवतः शिव-पूजा प्रचलित थी, क्योंकि एक चित्र में एक योगी के चतुर्दिक् हाथी, व्याघ्र, गैंडा एवं भैंस पशु हैं (शिव को पशुपति भी कहा जाता है)। कालिदास के बहुत पहले से शिव की पूजा अर्ध पुरुष एवं अर्ध नारी के रूप में प्रचलित थी (मालविकाग्निमित्र का प्रथम पद्य एवं कुमारसम्भव ७।२८)। शिव को बहुधा पंचतुण्ड (पंचमुख—पंचानन) भी कहा जाता है और इनके पाँच स्वरूप हैं क्रम से सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान (देखिए तैत्तिरीय आरण्यक १०।४३-४७ एवं विष्णुधर्मोत्तर ३। ४८।१)। कालान्तर में शैवों एवं वैष्णवों में एक-दूसरे के विरुद्ध पर्याप्त कहा-सुनी हुई, किन्तु महाभारत एवं पुराणों के कालों में इनमें कोई वैमनस्य नहीं था प्रत्युत बड़ा सौहार्द एवं सहिष्णुता थी। देखिए वनपर्व ३९।७६ एवं १८९।५-६, शान्तिपर्व ३४३।१३२, मत्स्यपुराण ५२।२३। अनुशासनपर्व (१४९।१४-१२०) में विष्णु के १००० नाम तथा अनुशासन (१७) एवं शान्तिपर्व (२८५।७४) में शिव के भी १००० नाम दिये गये हैं।

गणेश के विषय में हमने पहले भी पढ़ लिया है (अध्याय ७)। जैनों ने भी गणेश की पूजा की है (देखिए आचारदिनकर, संवत् १४६८, जर्नल आव इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द १८, १९३९, पृ० १५८, जिनमें गणेश की विभिन्न आकृतियों एवं एक आकृति में १८ बाहुओं का वर्णन है)। आचारदिनकर के अनुसार गणेश की प्रतिमाओं के २, ४, ६, ९, १८ या १०८ हाथ हो सकते हैं। अग्निपुराण (अध्याय ७१), मुद्गलपुराण एवं गणेशपुराण में गणेश-पूजा का वर्णन है, किन्तु इन पुराणों की तिथियाँ अनिश्चित हैं। वराहपुराण (अध्याय २३) ने गणेश के जन्म के विषय में एक विचित्र कथा लिखी है। गणपत्यथर्वशीर्ष ने गणेश को ब्रह्म माना है।

ग्रहों की प्रतिमाओं का पूजन अपेक्षाकृत प्राचीन है। याज्ञवल्क्यस्मृति (१।२९६-२९८) ने लिखा है कि नौ ग्रहों (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु) की पूजा के लिए उनकी मूर्तियाँ क्रम से ताम्र, स्फटिक, लाल चन्दन, सोना (बुध एवं बृहस्पति के लिए), रजत, लोहा, सीसा एवं काँसे की बनी होनी चाहिए।

विद्या की देवी **सरस्वती** के बारे में दण्डी (६०० ई० के पश्चात् नहीं) ने लिखा है कि वे सर्व-शुक्ला हैं।

दत्तात्रेय की पूजा बहुधा दक्षिण में होती है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही दत्तात्रेय की पूजा अवश्य आरम्भ हो गयी थी। जाबालोपनिषद् में वे परमहंस कहे गये हैं और उनके नाम पर एक उपनिषद् भी है। वनपर्व (११५), अनुशासन (१५३) एवं शान्तिपर्व (४९।३६) का कहना है कि उन्होंने कार्तवीर्य को वरदान दिये। मार्कण्डेय पुराण (अध्याय १६-१९) ने उनके जन्म के बारे में लिखा है और उन्हें योगी माना है तथा कहा है कि उनके भक्तगण उन्हें शराब एवं मांस देते थे। भागवतपुराण (९।२२।२३), मत्स्यपुराण (४७।२४२-२४६) तथा अन्य पुराणों ने भी इनके बारे में लिखा है। माघ ने शिशुपालवध में इन्हें अवतार माना है।

देवपूजा की विधि, षोडश उपचार

विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ६५) में (वासुदेव या विष्णु की) देवपूजा का सबसे आरम्भिक स्वरूप पाया जाता है; "अच्छी तरह स्नान करके, हाथ-पैर धोकर तथा आचमन करके यज्ञ-स्थल पर मूर्ति के समक्ष अनादि एवं अनन्त वासुदेव की पूजा करनी चाहिए। मन में मन्त्र "प्राणवन्त अश्विन् लोग तुम्हें प्राण दें" (मैत्रायणी संहिता २।३।४) कहकर

'युञ्जते मनः' नामक अनुवाक (ऋग्वेद ५।८१) के साथ विष्णु को आमन्त्रित कर घुटने, हाथ एवं सिर टेककर विष्णु की पूजा करनी चाहिए। ऋग्वेद के तीन मन्त्रों (१०।९।१-३) को कहकर **अर्घ्य** (हाथ धोने के लिए सम्मान सहित जल देने) की घोषणा करनी चाहिए। इसके उपरान्त चार मन्त्रों के साथ (तैत्तिरीय संहिता ५।६।१।१-२) **पाद्य** (पैर धोने के लिए जल) देना चाहिए (अथर्ववेद १।६।४); और फिर **आचमनीय** कराना चाहिए। तब **स्नान** के लिए जल देना चाहिए। इसके उपरान्त "रथों, कुल्हाड़ियों, बैलों की शक्ति" मंत्र के साथ **लेप** एवं **आभूषण** देने चाहिए; ऋग्वेद (३।८।४) के साथ वस्त्र देना चाहिए; तब **पुष्प, धूप, दीप, मधुपर्क** देना चाहिए; तब **भोज्य पदार्थ, चामर, दर्पण, छत्र, रथ, आसन** देते समय गायत्री मन्त्र कहना चाहिए। प्रत्येक कार्य के साथ वैदिक मन्त्र कहने का विधान है।" यहाँ सब विस्तार से नहीं दिया जा रहा है। इस प्रकार पूजा के उपरान्त **पुरुषसूक्त** का पाठ करना चाहिए। तब कल्याणार्थी को **घृत की आहुतियाँ** देनी चाहिए। बौधायनगृह्यपरिशेषसूत्र (२।१४) में विष्णु-पूजा का विस्तृत वर्णन है। इसी प्रकार इस परिशेषसूत्र (२।१७) में महादेव (शिव) की पूजा का भी विधान पाया जाता है। विष्णु एवं शिव की पूजा-विधि में कोई विशेष अन्तर नहीं है, हाँ शिव-पूजा में शिव के कई नाम, यथा—महादेव, भव, रुद्र एवं त्र्यम्बक आये हैं, कहीं-कहीं कुछ मन्त्रों में भी अन्तर है। जब स्थापित मूर्ति की पूजा होती है तो आवाहन और विसर्जन की विधि नहीं की जाती।

पूजाप्रकाश (पृ० ९७-१४९) एवं अन्य निबन्धों में शौनक, गृह्यपरिशिष्ट, ऋग्विधान, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भागवतपुराण, नरसिंहपुराण के अनुसार देवपूजा की विधि दी हुई है, जिसे हम स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दे रहे हैं। उपर्युक्त विवेचन से व्यक्त हुआ होगा कि देवपूजा में कई **उपचार** पाये जाते हैं, जो सामान्यतः १६ कहे जाते हैं, यथा—आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, अनलेपन या गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य (या उपहार), नमस्कार, प्रदक्षिणा एवं विसर्जन या उद्वासन। विभिन्न ग्रन्थों में कुछ अन्तर भी है। कुछ ग्रन्थों में यज्ञोपवीत के उपरान्त भूषण, प्रदक्षिणा या नैवेद्य के उपरान्त ताम्बूल (या मुखवास) भी देने की व्यवस्था है (वृद्धहारीत ६।३१-३२ एवं पूजाप्रकाश, पृ० ९८)। अतः इस प्रकार उपचार १८ हो गये।[18] कुछ ने 'आवाहन' छोड़कर 'आसन' के उपरान्त 'स्वागत', 'आचमनीय' के उपरान्त 'मधुपर्क' जोड़ दिया है। इसी प्रकार कुछ लोगों ने 'स्तोत्र' (स्तुति) एवं 'प्रणाम' को उपचार से पृथक् माना है, और कुछ लोगों ने इन दोनों को एक ही तथा प्रदक्षिणा को विसर्जन का अंग माना है (पूजाप्रकाश, पृ० ९८)। यदि किसी के पास वस्त्र एवं अलंकार न हों तो वह १६ में १० उपचार ही कर सकता है (केवल **पाद्य से नैवेद्य** तक), यदि ये दस भी न हो सकें तो केवल पांच (**पञ्चोपचार-पूजा**) अर्थात् **गन्ध** से **नैवेद्य** तक करे। किन्तु यदि पास में कुछ भी न हो तो पुष्प से ही सोलहों उपचार सम्पादित हो सकते हैं। जब मूर्ति अचल रहती है तो आवाहन एवं विसर्जन की बात नहीं उठती और उपचार केवल १४ ही रह जाते हैं, किन्तु यदि सोलह पूरे करने हों तो उनके स्थान पर मन्त्र के साथ पुष्पों का व्यवहार हो सकता है।[19] जो लोग पुरुषसूक्त कह सकें, उन्हें प्रत्येक उपचार

१८. सोलह उपचारों के लिए देखिए नरसिंहपुराण ६२।९-१३ (अपरार्क, पृ० १४०-१४१ में उद्धृत); ऋग्विधान (३।३१।६।१०); स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १९९); पराशरमाधवीय १।१, पृ० ३६७; नित्याचारपद्धति (विद्याकर लिखित, पृ० ५३६-३७); संस्काररत्नमाला (पृ० २७); आचाररत्न (पृ० ७१)।

१९. देखिए, नित्याचारपद्धति, पृ० ५४९। जयवर्मा द्वितीय (सं० १३१७—१२५०-५१ ई०) के मान्धाता लेख में पंचोपचार पूजा का उल्लेख है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृ० ११७, ११९)। प्रतिष्ठितप्रतिमायामावाहनविसर्जनयोरभावेन चतुर्दशोपचारैव पूजा। अथवावाहनविसर्जनयोः स्थाने मन्त्रपुष्पाञ्जलिदानम्। नूतनप्रतिमायां तु षोडशोपचारैव पूजा। संस्काररत्नमाला, पृ० २७।

के साथ उसका एक एक मन्त्र कहना चाहिए। स्त्रियों एवं शूद्रों को केवल "शिवाय नमः" या "विष्णवे नमः" कहना चाहिए। वृद्धहारीत (११।८१) के मत से स्त्रियों को बाल-कृष्ण तथा विधवाओं को हरि की पूजा (१०।२०८) करनी चाहिए। स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत एवं नैवेद्य में प्रत्येक के उपरान्त आचमन होना चाहिए (नरसिंहपुराण ६२।१४)। कुछ उपचारों के नाम आश्वलायनगृह्यसूत्र (४।७।१० एवं ४।८।१) में भी श्राद्ध के समय आमन्त्रित ब्राह्मणों की पूजा में प्रयुक्त हुए हैं, यथा—स्नान, अर्घ्य, गन्ध, माल्य (पुष्प), धूप, दीप एवं आच्छादन (वस्त्र)।

देवपूजा एवं पितृ-कृत्य के लिए जल उसी दिन का लाया हुआ होना चाहिए (विष्णुधर्मसूत्र ६६।१)। पूजा करनेवाले को बाँस या प्रस्तर, यज्ञ के काम में न आनेवाले काष्ठ, खाली पृथिवी, घास से बने या हरी घास से निर्मित **आसन** पर नहीं बैठना चाहिए, बल्कि उसे कम्बल, रेशम के वस्त्र या मृगचर्म पर बैठना चाहिए (पूजाप्रकाश, पृ० ९५)। अर्घ्य में निम्नलिखित आठ या जितनी सम्भव हो सकें, सामग्रियाँ डालनी चाहिए—दही, धान, कुश के ऊपरी भाग, दूध, दूर्वा, मधु, यव एवं सफेद सरसों (मत्स्यपुराण २६७।२, पूजाप्रकाश, पृ० ३४ में उद्धृत)। यह भी कहा गया है कि विष्णु को अर्घ्य देने के लिए शंख में जल के साथ चन्दन, पुष्प एवं अक्षत होने चाहिए। **आचमन** के जल में इलायची, लवंग, उशीर (खस) तथा जितना सम्भव हो उतना कक्कोल मिला देना चाहिए। मूर्ति के **स्नान** के लिए **पञ्चामृत** (दूध, दही, घृत, मधु एवं शक्कर) होना चाहिए। इनमें सबका प्रयोग क्रम से होना चाहिए और शक्कर अन्त में पड़नी चाहिए, जिससे कि घृत आदि से उत्पन्न मसृण अंश समाप्त हो जाय। इसके उपरान्त पवित्र जल से **स्नान** होता है। पंचामृत स्नान में पांच मन्त्र कहे जाते हैं, यथा ऋग्वेद १।९१।१६, ४।३९।६, २।३।११, १।९०।६, ९।८५।६। किन्तु चित्र एवं मिट्टी की मूर्ति को स्नान नहीं कराया जाता। यदि स्नान के लिए अन्य पदार्थ न हों तो विष्णु को उनकी प्रिय तुलसी की पत्तियाँ जल में डालकर स्नान करा देना चाहिए। मूर्ति के स्नान वाला जल बड़ा पवित्र माना जाता है, पूजा करने वाला, कुटुम्ब के लोग, मित्र-गण उसका आचमन करते हैं और उस जल को **तीर्थ** कहा जाता है। लोग इसे अपने सिर पर भी छिड़कते हैं। **अनुलेप** या **गन्ध** के विषय में बहुत से नियम बने हैं। अनुलेप का निर्माण चन्दन, देवदारु, कस्तूरी, कर्पूर, कुंकुम एवं जातिफल (या जातीफल) से होता है। **आभूषण** के लिए सच्चा सोना या बहुमूल्य रत्न होने चाहिए, नकली नहीं (विष्णुधर्मसूत्र ६६।२, ६६।४)। **पुष्पों** के विषय में बड़े लम्बे नियम बने हैं। पूजा-प्रकाश (पृ० ४२।४९) ने विष्णुपूजा में तुलसी की बड़ी महिमा गायी है। इसकी पत्तियाँ पुष्प के अभाव में प्रयुक्त होती हैं। पुष्प-सम्बन्धी नियमों को हम स्थानाभाव के कारण छोड़ रहे हैं। पूजा के दिन जो पुष्प चढ़ाये जाते हैं, उन्हें दूसरे दिन पूजा के समय उठा लिया जाता है और उन्हें **निर्माल्य** कहा जाता है; उनका बड़ा महत्त्व माना जाता है और उन्हें सिर पर चढ़ाया जाता है। शिव-पूजा में क्रम से ये पुष्प अच्छे कहे जाते हैं, यथा—अर्क, करवीर, बिल्वपत्र, द्रोण, अपामार्ग-पत्र, कुश-पुष्प, शमीपत्र, नील कमलदल, धत्तूर पुष्प, शमी-पुष्प, नील कमल। नील कमल को सर्व-श्रेष्ठ माना गया है। पुष्पाभावे फल, फलाभावे पत्र, या केवल अक्षत या केवल जल प्रयोग में लाना चाहिए। **दीप** में घृत होना चाहिए किन्तु घृताभावे सरसों का तेल दिया जा सकता है। मूर्ति के समक्ष कर्पूर जलाना चाहिए। एक प्रथा है **आरात्रिक** (आरती) की (मूर्ति के चतुर्दिक् दीप घुमाने की क्रिया)। आरती का कृत्य एक थाल में दीप या कर्पूर के टुकड़े जलाकर मूर्ति के चतुर्दिक् तथा सिर पर घुमाकर सम्पादित होता है। **नैवेद्य** में वर्जित भोजन नहीं होना चाहिए और न बकरी या भैंस का दूध होना चाहिए (यद्यपि हमारे लिए इसका उपयोग वर्जित नहीं है); इसी प्रकार पाँच नखों वाले पशुओं, मछली तथा सूअर का मांस भी वर्जित है। सामान्य नियम है—"जो भोजन व्यक्ति करता है वही देवताओं को भी देना चाहिए (अयोध्याकाण्ड १०३।३०)। नैवेद्य सोने, चाँदी, काँसे, ताम्र या मिट्टी के पात्र, पलाश-पत्र या कमल-दल में देना चाहिए। ब्रह्मपुराण (अपरार्क, पृ० १५३।१५४ एवं पूजाप्रकाश, पृ० ८२ में उद्धृत) के मत से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, देवी, मातृका, भूत, प्रेत, पिशाच को दिया गया नैवेद्य ब्राह्मणों, सात्वतों (भागवतों), भस्म लगानेवालों, भगों,

शाक्तों, स्त्रियों एवं दरिद्र को देना चाहिए। स्वयं पूजा करनेवाला भी नैवेद्य ले सकता है। नैवेद्य के उपरान्त ताम्बूल दिया जाता है। प्राचीन गृह्य एवं धर्मसूत्रों में ताम्बूल एवं मुखवास का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। सम्भवतः ईसा के कुछ शताब्दियों पहले या आरम्भ में ताम्बूल सर्वप्रथम दक्षिण भारत में प्रयुक्त हुआ और फिर क्रमशः उत्तर भारत में भी प्रचलित हो गया। स्मृतियों में संवर्त (५५), लघु-हारीत, लघु-आश्वलायन (१।१६०-१६१ एवं २३।१०५), औशनस ने भोजन के उपरान्त ताम्बूल-चर्वण का उल्लेख किया है। कालिदास (रघुवंश ६।६४) ने ताम्बूल पौधों को ताम्बूल-लताओं से घिरा हुआ लिखा है। कामसूत्र (१।४।१६) ने लिखा है कि व्यक्ति को प्रातः मुख धोकर, आदर्श (दर्पण) में मुख देखकर और ताम्बूल खाकर अपने श्वास को सुगन्धित करते हुए प्रतिदिन के कार्यों में लग जाना चाहिए (अन्य ताम्बूल-सम्बन्धी संकेतों के लिए देखिए कामसूत्र ३।४।४०, ४।१।३६, ५।२।२१ एवं २४, ६।१।२९, ६।२।८)।[20] वराहमिहिर की बृहत्संहिता (७७।२५-३७) में ताम्बूल एवं इसके अन्य उपकरणों के गुणों का बखान है। कादम्बरी (३५) में राजप्रासाद की तुलना ताम्बूलिक (तमोली) के घर से की गयी है, जिसमें लवली, लवंग, इलायची, कक्कोल संगृहीत रहते हैं। पराशरमाधवीय (१।१, पृ० ४३४) ने वसिष्ठ के उद्धरण द्वारा बताया है कि किस प्रकार ताम्बूल की दोनों नोकों को काटकर खाया जाता है। चतुर्वर्गचिन्तामणि (जिल्द २, भाग १, पृ० २४२) के व्रतखण्ड में हेमाद्रि ने रत्नकोष का उद्धरण देकर समझाया है कि ताम्बूल का अर्थ है ताम्बूल का पत्र एवं चूना तथा मुखवास का तात्पर्य है इलायची, कर्पूर, कक्कोल, चोप्र एवं मातुलुंग के टुकड़ों का एक साथ प्रयोग। नित्याचारपद्धति (पृ० ५४९) में ताम्बूल के नौ उपकरणों का वर्णन है, यथा—सुपारी, ताम्बूल पत्र, चूना, कर्पूर, इलायची, लवंग, कक्कोल, चोप्र, मातुलुंग फल।[21] आधुनिक काल में बादाम के टुकड़े, जातीफल एवं उसकी छाल, कुंकुम, खदिरसार लिया जाता है, किन्तु मातुलुंग छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार ताम्बूल के १३ उपकरण हैं। आजकल ताम्बूल के १३ गुण (या तो १३ उपकरणों के कारण या अन्य गुणों के कारण) विख्यात हैं।[22]

कुछ लोगों के मत से **प्रदक्षिणा** (दाहिनी ओर से मूर्ति के चतुर्दिक् जाना) एवं **नमस्कार** केवल एक उपचार कहे जाते हैं। नमस्कार या तो **अष्टांग** (आठ अंगों के साथ) होता है या **पंचांग** (पाँच अंगों के साथ) होता है। अष्टांग में व्यक्ति पृथिवी पर इस प्रकार पड़ जाता है कि हथेलियाँ, पैर, घुटने, छाती, मस्तक पृथिवी को स्पर्श करते हैं, मन, वाणी एवं आँखें मूर्ति की ओर लगी रहती हैं तथा पंचांग में हाथों, पैरों एवं सिर के बल पृथिवी पर पड़ जाना होता है।

आजकल सूर्य के लिए १२ नमस्कार या १२ के कई गुने नमस्कार प्रचलित हैं। सूर्य को १२ नामों से नमस्कार होता है, जो ये हैं—मित्र, रवि, सूर्य, भानु, खग, पूषा, हिरण्यगर्भ, मरीचि, आदित्य, सविता, अर्क एवं भास्कर।

पूजाप्रकाश (पृ० १६६-१८८) ने ३२ अपराध गिनाये हैं, जिनसे पूजा के समय दूर रहना चाहिए। वराहपुराण (१३०।५) ने भी इन ३२ अपराधों की चर्चा की है।

२०. स प्रातरुत्थाय कृतनियतकृत्यो गृहीतदन्तधावनः... दृष्ट्वादर्शे मुखं गृहीतमुखवासताम्बूलः कार्याण्यनुतिष्ठेत्। कामसूत्र १।४।१६।

२१. क्रमुकादित्रयं गन्धकर्पूरमेलकां तथा। लवंगं चैव कक्कोलं नारिकेलं सुपक्वकम्। मातुलुंगं तथा पक्वं ताम्बूलांगान्यमूनि वै॥ इति नवांगताम्बूलं प्रधानतया दद्यात्। नित्याचारपद्धति, पृ० ५४९।

२२. ताम्बूलं कटु तिक्तमुष्णमधुरं क्षारं कषायान्वितं वातघ्नं कफनाशनं कृमिहरं दुर्गन्धिविध्वंसकम्। वक्त्रस्याभरणं विशुद्धिकरणं कामाग्निसंदीपनं ताम्बूलस्य सखे त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽपि ते दुर्लभाः॥ सुभाषित।

शिव-पूजा

श्री आर० जी० भण्डारकर ने अपनी पुस्तक "वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म" में दर्शाया है कि ऋग्वेद में रुद्र एक महत्त्वपूर्ण देवता हैं, तैत्तिरीयसंहिता (४।५।१-११) में (रुद्र नामक) ११ अनुवाक हैं, जिनमें रुद्र के विषय में एक उच्च स्तुति है। कतिपय शैव सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त भी कालान्तर में उठ खड़े हुए। शिव के चार नामों को लेकर पाणिनि (४।१।४९) ने भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी एवं मृडानी नामक चार शब्द बनाये हैं। गृह्यसूत्रों में वर्णित 'शूलगव' नामक यज्ञ में रुद्र को महान् देवता मानकर पूजा गया है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (४।९।१६) ने रुद्र के १२ नाम गिनाये हैं और कहा है कि इस संसार के सभी नाम, सभी सेनाएँ एवं सभी महान् वस्तुएँ रुद्र की हैं। पतञ्जलि ने शिव-भागवत (शिव के भक्त) का उल्लेख किया है (जिल्द २, पृ० ३८६-३८८)। शंकराचार्य के मत से वेदान्तसूत्र की एक उक्ति (२।२।३७) शैवों के पाशुपत सम्प्रदाय के विरोध में लिखी गयी है। शान्तिपर्व (२८४।१२१-१२४) में पाशुपत लोग वर्णाश्रमधर्म के विरोधी कहे गये हैं। कूर्मपुराण (पूर्वार्ध, अध्याय १६) ने शैव सम्प्रदायों के शास्त्रों का उल्लेख किया है और निम्नोक्त सम्प्रदायों को संसार को भ्रामक मार्ग में ले जानेवाले माना है, यथा—कापाल, नाकुल (लाकुल ?), वाम, भैरव, पाशुपत। शिव के असुर भक्त बाण ने विभिन्न स्थानों पर १४ करोड़ लिंगों की स्थापना की थी। इन लिंगों को बाण-लिंग कहते हैं (नित्याचारपद्धति, पृ० ५५६) और नर्मदा, गंगा एवं अन्य पवित्र नदियों में पाये जानेवाले श्वेत प्रस्तर बाण-लिंग ही कहे जाते हैं। प्रसिद्ध १२ ज्योतिर्लिंग ये हैं—मान्धाता में **ओंकार**, उज्जयिनी में **महाकाल**, नासिक के पास **त्र्यम्बक**, एलोरा में **घृष्णेश्वर**, अहमदनगर से पूर्व **नागनाथ**, सह्याद्रि पर्वत में भीमा नदी के उद्गम-स्थल पर **भीमाशंकर**, गढ़वाल में **केदारनाथ**, बनारस (वाराणसी) में **विश्वेश्वर**, सौराष्ट्र में **सोमनाथ**, परली के पास **वैद्यनाथ**, श्रीशैल पर **मल्लिकार्जुन** तथा दक्षिण में **रामेश्वर**। इनमें बहुत-से मन्दिर मध्य एवं पश्चिम भारत में पास-पास पाये जाते हैं।

पूजाप्रकाश (पृ० १९४) ने हारीत को उद्धृत कर बताया है कि महेश्वर की पूजा पाँच अक्षरों से (नमः शिवाय) या रुद्रगायत्री[२३] से या 'ओम्' से या 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' (तैत्तिरीयारण्यक १०।४७) नामक मन्त्र से या रुद्र-मन्त्र (तैत्तिरीय संहिता ४।५।१-११) से या 'त्र्यम्बकं यजामहे' (ऋग्वेद ७।५९।१२) नामक मन्त्र से हो सकती है। शिव के भक्त को रुद्राक्ष की माला पहनना आवश्यक है, जो हाथ पर, बाहु पर, गले में या सिर पर धारण की जा सकती है। शिवलिंग का गाय के दूध, दही, घृत, मधु, ईख के रस, पंचगव्य, कर्पूर एवं अगरु-मिश्रित जल आदि से अभिषेक किया जाता है। बहुत प्राचीन काल से मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी शिव के लिए पवित्र मानी जाती रही है।

दुर्गा-पूजा

बहुत प्राचीन काल से दुर्गा-पूजा की परम्पराएँ गूंजती रही हैं। दुर्गा कई नामों एवं स्वरूपों से पूजित होती रही हैं। तैत्तिरीयारण्यक (१०।१८) में शिव अम्बिका या उमा के पति कहे गये हैं। केनोपनिषद् में उमा हैमवती का इन्द्र को ब्रह्मज्ञान देना वर्णित है (३।२५)। दुर्गा के विभिन्न नाम ये हैं—उमा, पार्वती, देवी, अम्बिका, गौरी, चण्डी (या चण्डिका), काली, कुमारी, ललिता आदि। महाभारत (विराटपर्व ६ एवं भीष्मपर्व २३) में दुर्गा को विन्ध्य-वासिनी, रक्त एवं मदिरा पीनेवाली कहा गया है। वनपर्व में आया है कि उमा ने शिव के किरात बनने पर (अर्जुन

२३. तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥ तै० आ० १०।१ एवं काठकसंहिता १७।११।

की परीक्षा के लिए) किराती का वेश धारण किया था (३९।४)। कुमारसम्भव (१।२६ एवं ५।२८) में कालिदास ने पार्वती, उमा एवं अपर्णा की चर्चा करके अन्तिम दो की व्युत्पत्ति की है। याज्ञवल्क्य (१।२९०) ने अम्बिका को विनायक की माता कहा है। मार्कण्डेयपुराण (अध्याय ८१-९३) के देवीमाहात्म्य का उत्तर भारत में प्रभूत महत्त्व है। एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द ९, पृ० १८९) से पता चलता है कि सन् ६२५ ई० के लगभग दुर्गा का आवाहन एक महती देवी के रूप में होता था। बाण ने कादम्बरी में चण्डिका के मन्दिर, रक्त-दान, त्रिशूल एवं महिषासुर के वध का वर्णन किया है। कृत्यरत्नाकर (पृ० ३५१) ने देवीपुराण का उद्धरण देकर व्यक्त किया है कि मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी (विशेषतः आश्विन मास की) देवी के लिए पवित्र है और उस दिन बकरे या भैंसे की बलि होनी चाहिए। बंगाल के कालीमन्दिर एवं दुर्गा के अन्य मन्दिरों में रक्तरंजित कृत्य अब भी सम्पादित होता है।[२४] बंगाल में आश्विन मास की दुर्गा-पूजा एक विशिष्ट पर्व होता है। रघुनन्दन ने दुर्गार्चन-पद्धति में आश्विन मास की दुर्गा-पूजा का विशद वर्णन किया है। दुर्गा की पूजा शक्ति के रूप में भी होती है। शाक्त पूजा का सारे भारत में प्रभाव रहा है। इस पर हम आगे लिखेंगे।

ईसा की आरम्भिक शताब्दियों से ही तान्त्रिक साहित्य ने देव-पूजा के कृत्यों पर प्रभाव डाला है और बहुत पहले से पूजा करनेवालों के मन में पूजा-सम्बन्धी मुद्राओं, न्यासों एवं अन्य रहस्यपूर्ण आसनों ने घर कर रखा है। भागवतपुराण (११।२७।७) के मत से देव-पूजा के तीन प्रकार हैं, वैदिकी, तान्त्रिकी एवं मिश्रा, जिनमें प्रथम एवं तृतीय उच्च वर्णों के लिए तथा द्वितीय शूद्रों के लिए है।

२४. स्वमांसरुधिरैर्वस्तैर्देवी तुष्यति वै भृशम्। महिषीछागमेषाणां रुधिरेण तथा नृप॥ एवं नानाम्लेच्छगणैः पूज्यते सर्वदस्युभिः। अंगवंगकलिंगैश्च किन्नरैर्बर्बरैः शकैः॥ कृत्यरत्नाकर (पृ० ३५७) में उद्धृत भविष्यपुराण।

अध्याय २०
वैश्वदेव

वैश्वदेव का अर्थ है देवताओं को पक्वान्न देना। दक्ष (२।५६) का कहना है कि दिन के पाँचवें भाग में गृहस्थ को अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों, यहाँ तक कि कीड़ों-मकोड़ों को भोजन देना चाहिए। शातातप (मनु ५।७ की व्याख्या में मेधातिथि द्वारा एवं अपरार्क पृ० १४२ द्वारा उद्धृत) के मत से वैश्वदेव बलि, यदि सुरक्षित हो तो गृह्याग्नि में, नहीं तो लौकिक अग्नि (साधारण अग्नि) में देनी चाहिए। यदि अग्नि न हो तो इसे जल में या पृथिवी पर छोड़ देना चाहिए। यही बात लघु-व्यास (२।५२) में भी पायी जाती है।

कुछ मध्यकालिक ग्रन्थों, यथा स्मृत्यर्थसार, पराशरमाधवीय (१।१, पृ० ३८९) आदि के अनुसर वैश्वदव का तात्पर्य है प्रति दिन के लिए तीन यज्ञ, अर्थात् देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं पितृयज्ञ। इसे वैश्वदेव इसलिए कहा गया है कि इस कृत्य में सभी देवताओं को आहुतियाँ दी जाती हैं, या इस कृत्य में सभी देवताओं के लिए भोजन पकाया जाता है।[1] शांखायनगृह्यसूत्र (२।१४) ने वैश्वदेव की चर्चा की है, किन्तु गोभिलगृ० (१।४।१-१५), खादिरगृ० (१।५।२२-३५) ने केवल बलिहरण का उल्लेख किया है। सम्भवतः आश्वलायनगृह्य० ने भी सांकेतिक ढंग से इसकी चर्चा की है। पाणिनि (६।२।३९) ने क्षुल्लक-वैश्वदेव का सामासिक प्रयोग किया है। वैखानस (६।१७) ने स्पष्ट लिखा है कि देवयज्ञ देवताओं का वह यज्ञ है जिसमें सभी देवताओं को पक्वान्न दिया जाता है।[2] गौतम (५।९) के अनुसार वैश्वदेव के देवता हैं अग्नि, धन्वन्तरि, विश्वेदेव, प्रजापति एवं स्विष्टकृत् (अग्नि)। मनु (३।८४-८६) के अनुसार देवता हैं अग्नि, सोम, अग्नीषोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहू, अनुमति, प्रजापति, द्यावापृथिवी, (अग्नि) स्विष्टकृत्। शांखायनगृ० (२।१४।४) ने १० देवों के नाम दिये हैं, किन्तु उसकी सूची तथा मनु की सूची में कुछ अन्तर है। पारस्करगृ० (२।९) के अनुसार वैश्वदेव-देवता ये हैं—ब्रह्मा, प्रजापति, गृह्या, कश्यप, अनुमति। विष्णुधर्मसूत्र (६७।१।३) के मत से वैश्वदेव के देवता हैं वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध, पुरुष, सत्य, अच्युत, अग्नि, सोम, मित्र, वरुण, इन्द्र, इन्द्राग्नि, विश्वे देव, प्रजापति, अनुमति, धन्वन्तरि, वास्तोष्पति, (अग्नि) स्विष्टकृत्। इसी प्रकार अन्य गृह्यसूत्रों ने अपनी-अपनी सूचियाँ उपस्थित की हैं। इसी विभिन्नता के कारण मदनपारिजात (पृ० ३१७) ने लिखा है कि वैश्वदेव-देवता दो प्रकार के हैं—(१) एक तो वे जो सबके लिए एक-से हैं और जिनके नाम मनुस्मृति आदि में हैं, और (२) दूसरे वे जो अपने-अपने गृह्यसूत्रों में पाये जाते हैं। यही बात स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० २१२) ने भी कही है।[3]

१. एते देवयज्ञभूतयज्ञपितृयज्ञा वैश्वदेव उच्यते। स्मृत्यर्थसार, पृ० ४७; त एते देवयज्ञभूतयज्ञपितृयज्ञास्त्रयोपि वैश्वदेवशब्देनोच्यन्ते। यत्र विश्वे देवा इज्यन्ते तद्वैश्वदेविकं कर्म। देवयज्ञे च एतन्नाम मुख्यम्। पितृयज्ञे छत्रिन्यायेन। पराशरमाधवीय (१।१, पृ० ३८९)।

२. पक्वेनान्नेन वैश्वदेवेन देवेभ्यो होमो देवयज्ञः। वैखानसस्मार्त (६।१७)।

३. वैश्वदेवं प्रकुर्वीत स्वशाखाविहितं यथा। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका, पृ० २१२ में उद्धृत)।

सभी प्राचीन स्मृतियों में ऐसा विधान है कि वैश्वदेव प्रातः एवं सायं दोनों बार करना चाहिए, किन्तु कालान्तर में प्रातः की ही परम्परा रह गयी और संकल्प में दोनों कालों को एक में बाँध दिया गया।[4] ऋग्वेद (५।४।५) के मन्त्र 'जुष्टो दमूना' एवं 'एह्यग्ने' (ऋ० १।७६।२) अग्नि के आवाहन के लिए प्रयुक्त हैं और इसी प्रकार अग्नि के कुछ अन्य लक्षण भी अग्नि-ध्यान के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। अपने खाने के लिए जो भोजन बनाया जाता है, उसका थोड़ा भाग पृथक् पात्र में रख दिया जाता है और उस पर घृत छोड़ दिया जाता है, तब उसे तीन भागों में विभाजित किया जाता है। इसके उपरान्त बायें हाथ को अपने हृदय पर रखकर दाहिने हाथ से एक आँवले के बराबर भोजन को (तीन भागों में से एक को) उठाकर तथा अँगूठे से दबाकर उसमें से थोड़ा-थोड़ा अन्न का भाग दाहिने हाथ से ही सूर्य, प्रजापति, सोम, वनस्पति, अग्नी-षोम, इन्द्राग्नि, द्यावापृथिवी, धन्वन्तरि, इन्द्र, विश्वे-देवों एवं ब्रह्मा को दिया जाता है। तब अग्नि में से 'मान नस्तोके' (ऋ० १।११४।८) मन्त्र के साथ भस्म लेकर मस्तक, गले, नाभि, दाहिने एवं बायें कंधों एवं सिर पर लगाया जाता है। इसके उपरान्त अग्नि की अन्तिम पूजा की जाती है जिससे कि बुद्धि, स्मृति, यश आदि की प्राप्ति हो।

कुछ मध्यकालिक निबन्धों में वाद-विवाद खड़ा हो गया है (यथा मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य १।१०३); क्या वैश्वदेव पुरुषार्थ मात्र (कुछ कल्याणकारी लाभ के लिए पुरुष का कर्तव्य) है या पुरुषार्थ के साथ-साथ पक्वान्न देने का एक संस्कार भी है? दूसरे पक्ष में भोजन प्रधान और वैश्वदेव गौण हो जायगा, किन्तु पहले रूप में (जब कि वैश्वदेव केवल पुरुषार्थ है) भोजन गौण तथा वैश्वदेव प्रधान हो जायगा। आश्वलायनगृ० (१२।१) के आधार पर कुछ लोगों के मत से वैश्वदेव पक्वान्न का संस्कार है और आश्वलायनगृ० (३।१।१ एवं ४) के आधार पर यह पुरुषार्थ है। मिताक्षरा ने मनु (२।२८) के आधार पर वैश्वदेव को पुरुषार्थ माना है। यही बात स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० २१२) एवं पराशरमाधवीय (१।१, पृ० ३९०) में भी पायी जाती है। किन्तु स्मृत्यर्थसार (पृ० ४६) एवं लघु आश्वलायन (१।११६) के अनुसार वैश्वदेव गृहस्थों एवं पक्वान्न दोनों का संस्कार है।[5]

वैश्वदेव का कृत्य श्राद्ध के पूर्व हो या उपरान्त तथा श्राद्ध के लिए भोजन पृथक् बने या साथ? इस प्रश्न के उत्तर में मतैक्य नहीं है। अपरार्क (पृ० ४६२) ने इस विषय में तीन मत दिये हैं—(१) वैश्वदेव भोजन तैयार होने के तुरन्त बाद ही होना चाहिए, या (२) बलिहरण के उपरान्त होना चाहिए, या (३) श्राद्ध समाप्त हो जाने पर इसे करना चाहिए। मदनपारिजात (पृ० ३२०), बृहत्पराशर (पृ० १५६) आदि के मत से वैश्वदेव श्राद्ध के पूर्व अवश्य हो जाना चाहिए (देखिए इस विषय में स्मृतिमुक्ताफल, पृ० ४०६-४०७), किन्तु अनुशासनपर्व (९७।१६-१८) के अनुसार श्राद्ध के दिन पहले पितृतर्पण होता है, तब बलिहरण और अन्त में वैश्वदेव। मदनपारिजात (पृ० ३१८) के मत से वैश्वदेव का भोजन श्राद्ध-भोजन से पृथक् बनना चाहिए। संयुक्त परिवार में पिता या ज्येष्ठ भाई वैश्वदेव करता है। किसी असमर्थता के कारण पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता द्वारा आज्ञापित होने पर पुत्र या छोटा भाई भी इसे सम्पादित कर सकता है (लघु आश्वलायन १।११७-११९)।

पक्वान्न पर घृत, दही या दूध छिड़कना चाहिए किन्तु तेल एवं नमक नहीं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१५।१२-

४. आधुनिक संकल्प यह है—ममोपात्तदुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थमात्मान्नसंस्कारपञ्चसूनाजनितदोषपरिहारार्थं प्रातर्वैश्वदेवं सायं वैश्वदेवं च सह मन्त्रेण करिष्ये।

५. गृहस्थो वैश्वदेवाख्यं कर्म प्रारभते द्विजा। अन्नस्य चात्मनश्चैव सुसंस्कारार्थमिष्यते॥ स्मृत्यर्थसार, पृ० ४६; शुद्ध्यर्थं चात्मनोऽन्नस्य वैश्वदेवं समाचरेत्। लघ्वाश्वलायन (१।११६)।

१४) के मत से क्षार एवं लवण का होम नहीं होता और न घटिया अन्नों (यथा कुलत्थ आदि) का ही वैश्वदेव होता है, किन्तु यदि दरिद्रता के कारण अच्छे अन्न न मिल सकें तो जो कुछ पका हो उसी को गृह्याग्नि या साधारण अग्नि को उत्तर दिशा में ले जाकर उसके भस्म पर डाल देना चाहिए। स्मृत्यर्थसार (पृ० ४७) ने भी चना, मसूर आदि को वैश्वदेव-वर्जित माना है।[६] भले ही उस दिन स्वयं भोजन, किसी कारण से, न करे, किन्तु वैश्वदेव तो होना ही चाहिए (अपरार्क, पृ० १४५)। भोजन न रहने पर फल, कन्दमूल या केवल जल दिया जा सकता है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।३।१ एवं ४) के मत से वैश्वदेव का अन्न आर्यों (द्विज लोगों) द्वारा स्नान करने के उपरान्त पकाया जाना चाहिए, किन्तु आर्यों की अध्यक्षता में शूद्र भी पका सकता है। मध्यकाल के निबन्धों के मत से शूद्र द्वारा भोजन बनाने की बात प्राचीन युग की है। अर्थात् यह युगान्तर का विषय है, कलियुग में वर्जित है (स्मृतिमुक्ताफल, आह्निक, पृ० ३९९)। यदि किसी दिन वैश्वदेव का भोजन किसी कारण से न बनाया जा सके तो गृहस्थ को एक रात और दिन तक उपवास करना चाहिए (गोभिलस्मृति ३।१२०)। जो व्यक्ति बिना वैश्वदेव के स्वयं खा लेता है, वह नरक में जाता है (स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० २१३)। हाँ, आपत्ति या कोई परेशानी या क्लेश आ जाने पर बात दूसरी है।

शूद्र इन पंच महायज्ञों को बिना वैदिक या पौराणिक मन्त्रों के कर सकता है, किन्तु 'नमः' शब्द का उच्चारण कर सकता है। वह बिना पका हुआ भोजन वैश्वदेव के लिए प्रयोग में ला सकता है (देखिए याज्ञवल्क्यस्मृति १।१२१, मिताक्षरा एवं आह्निकप्रकाश, पृ० ४०१)।

बलिहरण या भूतयज्ञ

बलिहरण के विषय में भी प्राचीन गृह्यसूत्रों, मध्यकालिक निबन्धों एवं आधुनिक व्यवहारों में मतैक्य नहीं है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२।३-११) ने इसके विषय में विस्तार किया है। निम्न देवताओं को बलि (या वैश्वदेव करते समय पक्वान्न का एक अंश) दी जाती है—देवयज्ञ वाले देवताओं, जलों, जड़ी-बूटियों, वृक्षों, घर, घरेलू देवताओं (कुलदेवताओं), जहाँ पर घर बना रहता है उस स्थल के देवताओं, इन्द्र तथा उसके अनुचरों, यम तथा उसके अनुचरों, वरुण तथा वरुण के अनुचरों, सोम तथा उसके अनुचरों (कई दिशाओं में), ब्रह्मा तथा ब्रह्मा के अनुचरों (मध्य में), विश्वेदेवों, दिन में चलने वाले सभी प्राणियों एवं उत्तर में राक्षसों को बलि दी जाती है। "पितरों को स्वधा" शब्दों के साथ शेषांश दक्षिण में छोड़ दिया जाता है। बलिहरण करते समय जनेऊ को दाहिने कंधे पर रखना चाहिए। जब बलिहरण रात्रि में हो तो "दिन में चलने वाले सभी प्राणियों" के स्थान पर "रात्रि में चलने वाले सभी प्राणियों" बोलकर बलि देनी चाहिए।

इस विषय को लेकर गोभिलगृह्यसूत्र (१।४।५-१५), पारस्करगृह्यसूत्र (२।९) एवं अन्य गृह्यसूत्रों तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।३।१५ एवं २।२।४।९) एवं गौतम (५।१०-१५) में पर्याप्त मतभेद है, जिसे हम स्थानाभाव से यहाँ छोड़ रहे हैं।

भूतयज्ञ में बलि अग्नि में न देकर पृथिवी पर दी जाती है; पहले भू-स्थल हाथ से स्वच्छ कर दिया जाता है, वहाँ जल छिड़क दिया जाता है, तब बलि रखकर उस पर जल छोड़ा जाता है (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२।३।१५)।

६. कोद्रवं चणकं माषं मसूरं च कुलत्थकम्। क्षारं च लवणं सर्वं वैश्वदेवे विवर्जयेत्॥ स्मृत्यर्थसार (पृ० ४७)।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।५-६) के मत से कुत्तों एवं चाण्डालों को वैश्वदेव का पक्वान्न देना चाहिए।[7] मनु (३।८७-९३) के मत से वैश्वदेव के उपरान्त सभी दिशाओं में इन्द्र, यम, वरुण, सोम तथा उनके अनुचरों को, द्वार पर मरुतों को, जलों को, वृक्षों को, घर के शिखर की लक्ष्मी (श्री) को, घर की नींव की भद्रकाली को, घर के मध्य के ब्रह्मा एवं वास्तोष्पति को, विश्वेदेवों को (आकाश में फेंककर), दिन में चलने वाले प्राणियों को (जब बलिहरण दिन में किया जाता है) और रात्रि में चलने वाले प्राणियों को बलि दी जाती है। घर के प्रथम खण्ड में सबकी भलाई के लिए बलि देनी चाहिए, दक्षिण में बलि का शेषांश पितरों को देना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि बहुत सावधानी तथा धीरे से (जिससे धूल भोजन में न मिल सके) कुत्तों, चाण्डालों, जातिच्युतों, कोढ़ जैसे रोग से पीड़ितों, कौओं, कीड़ों-मकोड़ों को बलि दे। याज्ञवल्क्य (१।१०३) ने गृहस्थों से कहा है कि वे कुत्तों, चाण्डालों एवं कौओं को बलि पृथिवी पर ही दें।[8] इस विषय में देखिए शांखायनगृह्यसूत्र (२।१४), वनपर्व (२।५९) एवं अपरार्क (पृ० १४५)। मनु (३।१२१) ने कहा है कि स्त्रियाँ बिना मन्त्रोच्चारण के सायंकाल की बलि दे सकती हैं। किन्तु वे देवताओं का ध्यान कर सकती हैं।

पितृयज्ञ

यह शब्द ऋग्वेद (१०।१६।१०) में आया है, किन्तु इसका अर्थ अनिश्चित है। पितृयज्ञ तीन प्रकार से सम्पादित होता है; (१) तर्पण द्वारा (मनु ३।७० एवं २८३), (२) बलिहरण द्वारा, जिसमें बलि का शेषांश पितरों को दिया जाता है (मनु ३।९१ एवं आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२।११) एवं (३) प्रति दिन श्राद्ध द्वारा, जिसमें कम से कम एक ब्राह्मण को खिलाया जाता है (मनु ३।८२-८३)। प्रति दिन के श्राद्ध में पिण्डदान नहीं होता है और न पार्वण श्राद्ध की विधि एवं नियमों का पालन ही होता है। श्राद्ध के विषय में आगे लिखा जायगा। तर्पण एवं बलि-हरण के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है।

७. सर्वान् वैश्वदेवे भागिनः कुर्वीताश्वचण्डालेभ्यः। नानर्हद्भ्यो दद्यादित्येके। आप० ध० (२।४।९।५-६)।

८. देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद् भूतबलिं हरेत्। अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत्॥ याज्ञवल्क्य (१।१०३)।

अध्याय २१

नृयज्ञ या मनुष्ययज्ञ

नृयज्ञ या मनुष्ययज्ञ का तात्पर्य है अतिथि का सत्कार या सम्मान। यही अर्थ मनु को मान्य है (मनु ३।७०)। ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों में अग्नि को यज्ञ करने वाले के घर का अतिथि कहा गया है (ऋग्वेद १।७३।१, ५।१।८-९, ५।४।५, ७।४२।४)। ऋग्वेद (४।४।१०) में आया है—"तुम उसके रक्षक एवं मित्र बनो, जो तुम्हें विधिवत् आतिथ्य देता है।"[1] 'आतिथ्य' शब्द के लिए देखिए ऋग्वेद (४।३३।७) एवं तैत्तिरीयसंहिता (१।२।१०।१)। अथर्ववेद (९।६) में अतिथि-सत्कार की प्रशस्ति गायी गयी है। तैत्तिरीयसंहिता (५।२।२।४) में लिखा है—"जब अतिथि का पदार्पण होता है, तो उसे आतिथ्य (जिसमें घी का आधिक्य रहता है) दिया जाता है।" उसमें पुनः आया है—"जो रथ या गाड़ी में आता है वह बहुत सम्माननीय अतिथि है।" इस संहिता में एक स्थान (६।२।१।२) पर आया है कि राजा के साथ जो आते हैं, उनका आतिथ्य होता है। और देखिए शांखायनब्राह्मण (२।९), तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।१।३), ऐतरेय ब्राह्मण (२५।५), शतपथ ब्राह्मण (२।१।४।२) आदि। शतपथ ब्राह्मण (३।४।१।२) ने लिखा है कि "राजा या ब्राह्मण के अतिथि रूप में रहने पर एक बैल या बकरा पकाया गया।" ऐतरेय ब्राह्मण (३।४) ने भी राजा या किसी अन्य सामर्थ्यवान् के आतिथ्य में बैल या बाँझ (बन्ध्या) गाय की बलि की बात कही है। याज्ञवल्क्य (१।१०९) ने लिखा है कि वेदज्ञ के आतिथ्य के लिए एक बड़ा बैल या बकरा रखा रहता था।[2] ऐतरेय ब्राह्मण (१।१।१) में आया है—"जो अच्छा है और प्रसिद्धि पा चुका है, वह (वास्तविक) अतिथि है, अयोग्य व्यक्ति का लोग आतिथ्य नहीं करते।" समावर्तन के समय गुरु शिष्य से कहता है—"अतिथिदेवो भव" (अतिथि-सत्कार करो), तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११।२)। इसी उपनिषद् (३।१०।१) में आतिथ्य की भी चर्चा हुई है। कठोपनिषद् (१।७।९) में ब्राह्मण अतिथि को अग्नि (वैश्वानर) कहा गया है।[3] निरुक्त (४।५) ने ऋग्वेद (५।४।५) (जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण) की व्याख्या में 'अतिथि' की व्युत्पत्ति की है। मनु (३।१०२), पराशर (१।४२) एवं मार्कण्डेयपुराण (२९।२-९) ने भी अतिथि की व्युत्पत्ति की है। मनु एवं अन्य लोगों के मत से 'अतिथि' उसे कहा जाता है जो पूरे दिन (तिथि) नहीं रुकता है, या अतिथि वह ब्राह्मण है जो एक रात्रि के लिए रुकता है (एकरात्रं हि निवसन् ब्राह्मणो ह्यतिथिः स्मृतः। अनित्यास्य स्थितिर्यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते॥ मनु ३।१०२)।

१. प्रियो विशामतिथिर्मानुषीणाम्। ऋ० ५।१।९, "अग्नि सभी मानव प्राणियों का अतिथि एवं प्रिय है।" तस्य भ्राता भवति तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग्जुजोषत्। ऋ० ४।४।१०।

२. अत्र यद्यपि गृहागतश्रोत्रियतृप्त्यर्थं गोवधः कर्तव्य इति श्रूयते तथापि कलियुगे नायं धर्मः किन्तु युगान्तरे। आह्निकप्रकाश, पृ० ४५१।

३. वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्। तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ कठोपनिषद् १।७; आप० ध० २।३।६।३। वसिष्ठ (११।१३) ने प्रथम भाग उद्धृत किया है।

बलिहरण के उपरान्त अतिथि-सत्कार किया जाता है। बौधायनगृह्यसूत्र (२।९।१-२), वसिष्ठ (११।६), विष्णुपुराण (३।२।५५) की आज्ञा है कि बलिहरण के उपरान्त गृहस्थ को अपने घर के आगे अतिथि के स्वागत के लिए उतनी देर तक बाट देखनी चाहिए जितनी देर में गाय दुह ली जाती है (या अपने मन से पर्याप्त देर तक जोहना चाहिए)। मार्कण्डेयपुराण (२९।२४-२५) के अनुसार एक मुहूर्त के आठवें भाग तक जोहना चाहिए (स्मृतिचन्द्रिका ४१, पृ० २१७ में उद्धृत)।[४] आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।३।६।३ से २।४।९।६ तक) ने अतिथि-सत्कार पर विशद रूप से लिखा है। गौतम (५।३६), मनु (३।१०२-१०३) एवं याज्ञवल्क्य (१।१०७ एवं १११) ने लिखा है कि वही व्यक्ति अतिथि है जो दूसरे ग्राम का है, एक ही रात्रि रहने के लिए सन्ध्याकाल में पहुँचता है; वह जो खाने के लिए पहले से ही आमंत्रित है अतिथि नहीं कहलाता, वह जो अपने ग्राम का है, मित्र है या सहपाठी है अतिथि नहीं कहलाता। अपनी सामर्थ्य के अनुसार अतिथि-सत्कार करना चाहिए, अतिथियों का सत्कार-क्रम वर्णों के अनुसार होना चाहिए और ब्राह्मणों में श्रोत्रिय को या उसे जिसने कम-से-कम एक वेद पढ़ लिया है अपेक्षाकृत पहले सम्मान देना चाहिए। वसिष्ठधर्मसूत्र (१।६) के अनुसार योग्यतम व्यक्ति का सम्मान सर्वप्रथम होना चाहिए। गौतम (५।३९-४२), मनु (३।११०-११२) के मत से क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ब्राह्मणों के अतिथि नहीं हो सकते, यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण के यहाँ अतिथि रूप से चला आता है (यात्री के रूप में, पास में जब भोजन-सामग्री न हो तथा भोजन के समय आ गया हो) तो उसका सम्मान ब्राह्मण अतिथि के उपरान्त होता है तथा वैश्यों एवं शूद्रों को भोजन घर के नौकरों के साथ दिया जाना चाहिए।[५] आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।५) का कहना है कि वैश्वदेव के उपरान्त जो भी आये उसे भोजन देना चाहिए, यहाँ तक कि चाण्डालों को भी। हरदत्त का कहना है कि यदि योग्य व्यक्ति को आतिथ्य नहीं दिया जाता तो पाप लगता है, किन्तु अयोग्य को भोजन न देने से पाप नहीं लगता है परन्तु दे देने से पुण्य प्राप्त होता है। पराशर (१।४०) एवं शातातप (स्मृतिचन्द्रिका १० पृ० २१७ में उद्धृत) ने लिखा है कि जब वह व्यक्ति, जिसे गृहस्थ घृणा की दृष्टि से देखता है या वह जो मूर्ख है, भोजन के समय उपस्थित हो तो गृहस्थ को भोजन देना चाहिए। शान्तिपर्व (१४६।५) ने लिखा है कि जिस प्रकार पेड़ काटने वाले को भी छाया देता है, उसी प्रकार यदि शत्रु भी आ जाय तो उसका आतिथ्य सत्कार करना चाहिए। किन्तु आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।३।६।१९), मनु (४।२१३) एवं याज्ञवल्क्य (१।१६२) इसके विरोधी हैं और कहते हैं कि अतिथि आतिथ्यकर्ता का विद्वेषी है, तो उसे भोजन नहीं कराना चाहिए, और न ऐसे आतिथ्यकर्ता का भोजन करना चाहिए जो दोष मढ़ता है या उस पर किसी अपराध की शंका करता है। वृद्ध गौतम (पृ० ५३५-५३६) ने चाण्डाल तक को भोजन देने की व्यवस्था दी है। वृद्ध हारीत (८।२३९-२४०) ने अपनी मानवता इस प्रकार प्रदर्शित की है—यदि यात्री शूद्र हो या प्रतिलोम जाति का (यथा चाण्डाल) हो, जब वह थका-माँदा, भूखा-प्यासा घर आ जाय तो गृहस्थ को उसे भोजन देना चाहिए; किन्तु यदि नास्तिक, धर्मविद्वेषी या पतित (पापों के कारण जातिच्युत) हो और उसी थकी एवं भूखी स्थिति में आये तो उसे पका भोजन न देकर अन्न देना चाहिए। मिलाइए मनु (४।३०)। बौधायनगृह्यसूत्र (२।९।२१) में चाण्डाल समेत सभी प्रकार के यात्रियों के अतिथि-सत्कार की व्यवस्था की गयी है।

४. अथ वैश्वदेवं हुत्वातिथिमाकांक्षेदागोदोहकालम्। अग्रं वोद्धृत्य वद्यात्। विज्ञायते यज्ञो वा एष पञ्चमो यदतिथिः। बौधायनगृह्यसूत्र २।९।१-३ एवं भरद्वाजगृह्य० ३।१४; देखिए मनु ३।९४ भी। मुहूर्तस्याष्टमं भागमुदीक्ष्यो ह्यतिथिर्भवेत्॥ मार्कण्डेयपुराण २९।२५।

५. ब्राह्मणस्यानतिथिरब्राह्मणः...भोजनं तु क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः। अन्यान् भृत्यैः सहानृशंस्यार्थम्। गौतम ५।३९-४२।

अतिथि-सत्कार के नियम ये हैं—आगे बढ़कर स्वागत करना, पैर धोने के लिए जल देना, आसन देना, दीपक जला कर रख देना, भोजन एवं ठहरने का स्थान देना, व्यक्तिगत ध्यान देना, सोने के लिए खटिया-बिछावन देना और जाते समय कुछ दूर तक पहुँचा देना (देखिए गौतम ५।२९-३४ एवं ३७, आप० ध० २।३।६।७-१५, मनु ३।९९, १०७ एवं ४।२९, दक्ष ३।५-८)। वनपर्व (२००।२२-२५) एवं अनुशासनपर्व ने आतिथ्य की महत्ता गायी है। अनुशासनपर्व (७।६) में आया है—"आतिथ्यकर्ता को अपनी आँख, मन, मीठी बोली, व्यक्तिगत ध्यान एवं अनुगमन (जाते समय साथ-साथ कुछ दूर तक जाना) देने चाहिए; इस यज्ञ (आतिथ्य) में यही पाँच प्रकार की दक्षिणा है।"[6] आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।४।१६-२१) का कहना है कि यदि वेद न जानने वाला ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य घर आ जाय तो उसे आसन, जल एवं भोजन देना चाहिए, किन्तु उठकर आवभगत नहीं करनी चाहिए, किन्तु यदि शूद्र अतिथि बनकर ब्राह्मण के घर आये तो ब्राह्मण को उससे काम लेकर उसे भोजन देना चाहिए, किन्तु यदि उसके पास कुछ न हो तो उसे अपना दास भेजकर राजकुल से सामग्री मँगानी चाहिए। हरदत्त ने एक रोचक टिप्पणी की है कि राजा को चाहिए कि शूद्रों के अतिथि-सत्कार के लिए ग्राम-ग्राम में कुछ धन या अन्न रखने की व्यवस्था करे।[7] गौतम (५।३३), मनु (३।१०१), वनपर्व (२।५४), उद्योगपर्व (३६।३४), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।४।१३-१४), याज्ञवल्क्य (१।१०७), बौधायनगृह्यसूत्र (२।९।२१-२३) का कहना है कि यदि गृहस्थ के पास और कुछ सामग्री न हो तो उसे जल, निवास, घास एवं मीठी बोली से ही सम्मान करना चाहिए। गौतम (५।३७-३८) के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति के अतिथियों का क्रम से 'कुशल', 'अनामय' एवं 'आरोग्य' शब्दों से स्वागत करना चाहिए। शूद्रों से भी आरोग्य कहना चाहिए (मनु २।१२७)।

अतिथि-सत्कार के पीछे एकमात्र प्रेरक शक्ति सार्वभौम दया-भावना थी। किन्तु इस कर्तव्य की भावना को महत्ता देने के लिए स्मृतियों ने अन्य प्रेरक भी जोड़ दिये हैं। शांखायनगृह्यसूत्र (२।१७।१) का कहना है—"खेत में गिरा हुआ अन्न इकट्ठा करके जीविका चलाने वाले एवं अग्निहोत्र करने वाले गृहस्थ के घर में यदि ब्राह्मण बिना आतिथ्य-सत्कार पाये रह जाता है तो वह उस गृहस्थ के सारे पुण्यों को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् हर लेता है।" यही बात मनु (३।१००) भी कहते हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।३।६।६) के मत से अतिथि-सत्कार द्वारा स्वर्ग एवं विपत्ति-मुक्ति प्राप्त होती है। देखिए आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।७।१६), विष्णुधर्मसूत्र (६७।३३), शान्तिपर्व (१९१।१२), विष्णुपुराण (३।९।१५), मार्कण्डेयपुराण (२९।३१), ब्रह्मपुरण (११४।३६)। ब्रह्मपुराण का कथन है—यदि अतिथि निराश होकर लौट जाता है तो वह अपने पाप गृहस्थ को देकर उसके पुण्यों को लेकर जाता है।[8] वायुपुराण (७१।७४) एवं बृहत्संहिता का कहना है कि योगी एवं सिद्ध लोग मनुष्यों के कल्याण के लिए विभिन्न स्वरूप धारण कर घूमा करते हैं, अतः दोनों हाथ जोड़कर अतिथि का स्वागत करना चाहिए, यदि कोई

६. चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्। अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः।। अनुशासन ७।६।

७. ब्राह्मणायानधीयानायासनमुदकमन्नमिति देयं न प्रत्युत्तिष्ठेत। राजन्यवैश्यौ च। शूद्रमभ्यागतं कर्मणि नियुञ्ज्यात्। अथास्मै दद्यात्। दासा वा राजकुलादाहृत्यातिथिवच्छूद्रं पूजयेयुः।। आप० ध० २।२।४।१६-२१; अत एव ज्ञायते शूद्राणामतिथीनां पूजार्थं व्रीह्यादिकं राज्ञा ग्रामे ग्रामे स्थापयितव्यमिति। हरदत्त (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२।४।२१)।

८. तस्य पूजायां शान्तिः स्वर्गश्च। आप० ध० २।३।६।६; देखिए विष्णुधर्मसूत्र ६७।३२। अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते। स दत्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति।। मार्कण्डेय २९।६; सिद्धा हि विप्ररूपेण चरन्ति

बहुत-से अतिथियों का सत्कार करने में असमर्थ हो तो उसे क्रम से श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न व्यक्ति का, या प्रथम आनेवाले का, या श्रोत्रिय (वेदज्ञ) का सत्कार करना चाहिए (बौधायनधर्मसूत्र २।३।१५-१८)।

पराशर (१।४६-४७) का कहना है कि ब्रह्मचारी तथा यति को सत्कार में प्रमुखता मिलती है। इन्हें बिना भोजन दिये खा लेने पर चान्द्रायण प्रायश्चित्त करने पर ही छुटकारा मिलता है। यदि कोई यति घर आये तो उसे जल, भोजन और पुनः जल देना चाहिए। ऐसा करने से भोजन मेरु पर्वत के समान तथा जल समुद्र के समान हो जाता है। यति के अतिथि-सत्कार का माहात्म्य अपने ढंग का होता है। यदि गृहस्थ के घर यति एक दिन भी ठहर जाय तो उसके सारे पाप कट जाते हैं। इसी प्रकार कहा गया है कि यति का ठहरना स्वयं विष्णु का ठहरना है (लघु-विष्णु २।१२-१४, दक्ष ७।४२-४४ एवं वृद्ध हारीत ८।८९)।[9]

यदि कुछ अतिथियों के खा लेने पर अन्य अतिथि आ जायँ तो पुनः भोजन बनवाना चाहिए, किन्तु इस बार वैश्वदेव एवं बलिहरण आवश्यक नहीं है (मनु ३।१०५ एवं १०८)। अतिथि से पूर्व खा लेने पर घर की सम्पत्ति, सन्तान, पशु एवं पुण्य नष्ट हो जाते हैं (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।३।७।३)। मनु (३।११४, विष्णुधर्मसूत्र ६७।३९) के मत से नवविवाहित पुत्रियों एवं बहिनों, अविवाहित कन्याओं, रोगियों एवं गर्भवती नारियों को अतिथियों से पूर्व खिला देना चाहिए, किन्तु गौतम (५।२३) ने उन्हें अतिथि के खिलाने के समय ही खिलाने को कहा है। मनु (३।११३, ११६-११८), विष्णुधर्मसूत्र (६७।३८-४३), याज्ञवल्क्य (१।१०५, १०८), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।१०), बौधायनधर्मसूत्र (२।३।१९) के मत से गृहस्थ तथा उसकी पत्नी को चाहिए कि वे मित्रों, सम्बन्धियों एवं नौकरों को खिलाकर ही स्वयं खायँ, उन्हें अतिथियों आदि को खिलाने के लिए नौकरों के भोजन में कटौती नहीं करनी चाहिए। जो अन्य लोगों की परवाह न करके स्वयं खाता है, वह केवल अपने पापों को निगलता है, किन्तु जो देवताओं, प्राणियों, पितरों एवं अतिथियों को खिलाकर खाता है, वही वास्तविक रूप से खाता है। मनु (३।२८५, वनपर्व २।६०) ने लिखा है कि ब्राह्मणों एवं अतिथियों के खा लेने के उपरान्त जो शेष रहता है, उसे **विघस** तथा यज्ञ करने के उपरान्त जो शेष रहता है, उसे **अमृत** कहते हैं, और इन्हें ही खाना चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र (२।३।६८ एवं २१-२२) का कहना है—सभी लोग भोजन पर निर्भर रहते हैं, वेद के अनुसार भोजन जीवन (प्राण) है, अतः भोजन देना चाहिए, क्योंकि वह सर्वोत्तम हवि है, बिना किसी अन्य व्यक्ति को दिये भोजन नहीं करना चाहिए।[10]

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।२-४) का कहना है कि अतिथि के लौटते समय आतिथ्यकर्ता को अतिथि की सवारी (गाड़ी) तक जाना चाहिए, यदि सवारी न हो तो वहाँ तक जाना चाहिए जहाँ अतिथि लौटने को कह दे, किन्तु

पृथिवीमिमाम्। तस्मादतिथिमायान्तमभिगच्छेत् कृताञ्जलिः॥ वायुपुराण ७१।७४;; योगिनो विविधैर्वेषैर्भ्रमन्ति धरणीतले। नराणामुपकाराय ते चाज्ञातस्वरूपिणः। तस्मादभ्यर्चयेत्प्राप्तं श्राद्धकालेऽतिथिं द्विजः॥ बृहत्पराशर (पृ० ९९)।

९. यतिर्यस्य गृहे भुंक्ते तस्य भुंक्ते हरिः स्वयम्। वृद्धहारीत ८।८९; संचितं यद् गृहस्थेन पापमामरणान्तिकम्। निर्दहत्येव तत्सर्वमेकरात्रोषितो यतिः॥ दक्ष ७।४३।

१०. अन्ने श्रितानि भूतानि अन्नं प्राणमिति श्रुतिः। तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः॥ न त्वेव कदाचिददत्त्वा भुञ्जीत। अथाप्यत्रान्नगीतौ श्लोकावुदाहरन्ति। यो मामदत्त्वा पितृदेवताभ्यो भृत्यातिथीनां च सुहृज्जनस्य। संपन्नमश्नन्विषमत्ति मोहात्तमद्म्यहं तस्य च मृत्युरस्मि॥ बौ० ध० सू० २।३।६८, २१-२२। 'अन्नं प्राणः।' ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१ एवं 'अन्नं प्राणमन्नमपानमाहुः' (तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।८)।

यदि अतिथि लौटने को न कहे तो गाँव की सीमा तक जाना चाहिए। वसिष्ठधर्मसूत्र (११।१५) एवं याज्ञवल्क्य ने सीमा तक जाने की व्यवस्था दी है। अपरार्क के अनुसार सीमा आतिथ्यकर्ता के घर-द्वार या उसके खेत या गाँव तक परिणत हो सकती है। शंख-लिखित के अनुसार वहाँ तक साथ-साथ जाना चाहिए जहाँ जन-उपवन या जन-सभागृह (आराम या सभा) हो, प्रपा (धर्मार्थ पानी पिलाने का स्थान) हो, या तालाब, मन्दिर, कोई पवित्र वृक्ष (पीपल या बरगद) या नदी हो। वहाँ अतिथि की प्रदक्षिणा करके कहना चाहिए कि हम पुनः मिलेंगे।[11]

११. समेत्य न्यायतो निवर्तेत। आरामसभाप्रपातडागदेवगृहमहाद्रुमनदीनामन्यतरस्मिन् प्रदक्षिणं कुर्याद् वाचमुत्सृज्य पुनर्दर्शनायेति। शंखलिखित (गृहस्थरत्नाकर पृ० २९२)।

अध्याय २२
भोजन

धर्मशास्त्रकारों ने भोजन-सम्बन्धी नियमों एवं प्रतिबन्धों के विषय में जो विवेचन उपस्थित किया है, उससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने नियम-निर्माण के विषय में विवाह-संस्कार के उपरान्त इसी को सर्वाधिक प्रमुखता दी है। भोजन करने के सिलसिले में दक्ष (२।५६ एवं ६८) ने लिखा है कि दिन के पाँचवें भाग में गृहस्थ को अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवों, पितरों, मनुष्यों एवं कीट-पतंगों को खिलाकर ही शेष का उपभोग करना चाहिए।[1] दिन के पाँचवें भाग में भोजन करने का तात्पर्य है दोपहर (मध्याह्न) के उपरान्त लगभग १॥ घण्टे के भीतर ही गृहस्थ को भोजन कर लेना चाहिए। यहाँ भोजन सम्बन्धी विवेचन में निम्न बातों पर प्रकाश डाला जायगा—(१) कितनी बार भोजन करना चाहिए, (२) भोज्य एवं पेय पदार्थों के प्रकार तथा तत्सम्बन्धी आज्ञा एवं प्रतिबन्ध, (३) भोजन दूषित कैसे हो जाता है, (४) मांस-भोजन एवं मद्य-पान, (५) किसका भोजन करना चाहिए तथा (६) भोजन के पूर्व भोजन करते समय एवं भोजन के उपरान्त के कृत्य एवं शिष्टाचार।

आहारशुद्धि पर प्राचीन काल से ही बल दिया गया है। छान्दोग्योपनिषद् (७।२६।२) ने लिखा है कि आहार-शुद्धि से सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धि से सुन्दर एवं अटल स्मृति प्राप्त होती है एवं अटल स्मृति (वास्तविक सत्त्वज्ञान) से सारे बन्धन (जिनसे आत्मा इस संसार में बँधा रहता है) कट जाते हैं।[2]

भोजन करना

वैदिक साहित्य में पायी जाने वाली विधियों एवं नियमों का उद्घाटन हम संक्षेप में करेंगे। ऋग्वेद (६।३०।३) से पता चलता है कि बैठकर भोजन किया जाता था ('जिस प्रकार लोग खाने के लिए बैठ जाते हैं, उसी प्रकार पर्वत नीचे धँस गया!')। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।४।९) एवं शतपथ ब्राह्मण (२।४।२।६) के अनुसार भोजन दो बार किया जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में भी भोजन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध थे। तैत्तिरीय संहिता (२।५।१।१) के अनुसार वृक्ष का लाल द्रवरस या काटने पर वृक्ष से जो स्राव निकलता है उसे नहीं खाना चाहिए, क्योंकि वह रंग या वर्ण ब्रह्महत्या के बराबर माना जाता है। इसी प्रकार बच्चा देने पर गाय का दूध दस दिनों तक नहीं पीना चाहिए (तैत्तिरीय ब्राह्मण २।१।१, ३।१।३)। वैदिक यज्ञ के लिए दीक्षित व्यक्ति का भोजन वपाहोम के समाप्त होने के पूर्व नहीं करना चाहिए (ऐतरेय ब्राह्मण ६।९)। ऋग्वेद (१।१८७।१-७) ने भोजन की स्तुति की है। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित उषस्ति चाक्रायण की कथा बताती है कि आपत्ति काल में भोजन न मिलने पर कुछ भी खाया जा सकता है,

१. पञ्चमे च तथा भागे संविभागो यथार्हतः। देवपितृमनुष्याणां कीटानां चोपदिश्यते॥ संविभागं ततः कृत्वा गृहस्थः शेषभुग्भवेत्। दक्ष २।५६ एवं ६८। प्रथम पद्य का उद्धरण अपरार्क (पृ० १४३) ने भी दिया है।

२. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। छान्दोग्य० ७।२६।२।

यहाँ तक कि जूठा भोजन भी खाया जा सकता है। ऐतरेयारण्यक (५।३।३) एवं कौषीतकिब्राह्मण (१२।३) ने भी कुछ प्रतिबन्धों की ओर संकेत किया है। मांस-भोजन एवं मद्य-पान के बारे में आगे लिखा जायगा।

मनु (५।४) ने ब्राह्मणों की मृत्यु के चार कारण बताये हैं—(१) वेदाध्ययन का अभाव, (२) सम्यक् कर्तव्यों एवं कार्यों का त्याग, (३) प्रमाद एवं (४) भोजन सम्बन्धी दोष। गृहस्थरत्नाकर (पृ० ३४७) के मत से दूसरे का भोजन करना उसका पाप लेना है. . .। भोजन-सम्बन्धी सभी प्रकार के विषयों के बारे में विस्तार के साथ नियम एवं प्रतिबन्ध निर्मित हुए हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।११।३१।१), वसिष्ठधर्मसूत्र (१२।१८), विष्णुधर्मसूत्र (४८।४०), मनु (२।५) के अनुसार खाते समय पूर्वाभिमुख होना चाहिए तथा विष्णुधर्मसूत्र (६८।४१) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।८।१९।१-२) के अनुसार दक्षिणाभिमुख होकर भी (किन्तु माता के जीवित रहते) खाया जा सकता है। मनु (२। ५२=अनुशासनपर्व १०४।५७) के मत से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर की ओर मुख करके खाने से क्रम से दीर्घायु, यश, धन एवं सत्य की प्राप्ति होती है। किन्तु वामनपुराण एवं विष्णुपुराण ने दक्षिण एवं पश्चिम ओर मुख करने को मना किया है (गृहस्थरत्नाकर, पृ० ३१२ में उद्धृत)। भोजन एकान्त में लोगों की दृष्टि से दूर होकर करना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका ने देवल, उशना एवं पद्मपुराण को उद्धृत कर लिखा है—एकान्त में भोजन करना चाहिए, क्योंकि इससे धन प्राप्ति होती है, सबके सामने खाने से धनाभाव होता है। जिस प्रकार बहुत लोगों के समक्ष (जो खा न रहे हों) नहीं खाना चाहिए, उसी प्रकार बहुत-से लोगों को एक व्यक्ति के समक्ष (जो खा न रहा हो, केवल तृष्णालु होकर देख रहा हो) नहीं खाना चाहिए। अपने पुत्रों, छोटे भाइयों, भृत्यों आदि के साथ खाया जा सकता है (ब्रह्मपुराण, गृहस्थरत्नाकर, पृ० ३११ में उद्धृत)। किन्तु कुछ ग्रन्थकारों ने कुछ साथियों के विरोध की बात कही है, यथा—'एकान्त में खाना चाहिए, अपने सगे सम्बन्धी के साथ भी नहीं खाना चाहिए, क्योंकि किसी के गुप्त पाप को कौन जानता है?' बृहस्पति ने लिखा है कि एक पंक्ति में खाने से एक का पाप दूसरे को लग जाता है (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २२८ में उद्धृत)। उत्तर भारत में भोजन-सम्बन्धी बहुत-से प्रतिबन्ध हैं। कहावत भी है—"तीन प्राणी तेरह चूल्हे" या "आठ कनौजिया नौ चूल्हे" आदि। जहाँ भोजन किया जाता है, वह स्थल गोबर से लिपा रहना चाहिए। नाव या लकड़ी से बने उच्च स्थल पर भोजन नहीं करना चाहिए, पवित्र फर्श पर खाना चाहिए (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।५।१७-६-८)। हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाड़ी, कब्र, मन्दिर, बिस्तर या कुर्सी पर नहीं खाना चाहिए, हथेली में लेकर भी नहीं खाना चाहिए (गृहस्थरत्नाकर, पृ० ३२५ में उद्धृत ब्रह्मपुराण)। भोजन करने के पूर्व हाथ-पैर धो लेना चाहिए। यही बात मनु (४।७६), अनुशासनपर्व (१०४।६१-६२) एवं अत्रि में भी पायी जाती है। व्यास ने भोजन के समय दोनों हाथ, दोनों पैर एवं मुख (पाँच अंगों) के धोने की बात कही है (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २२१)। सभी धर्मशास्त्रों ने भोजन करते समय मौन रहने की बात कही है (बौधायनधर्मसूत्र २।७।२, लघु-हारीत ४० आदि)। वृद्ध मनु (स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० २२३ में उद्धृत) के अनुसार पाँच ग्रासों तक महामौन रहना चाहिए एवं उसके उपरान्त जहाँ तक हो सके वाणी पर नियन्त्रण करना चाहिए।

गौतम (९।५९), बौधायनधर्मसूत्र (२।७।३६), मनु (२।५६), संवर्त (१२) आदि के मतानुसार गृहस्थ को केवल दो बार खाना चाहिए, उसे सन्धिकाल में नहीं खाना चाहिए। गोभिलस्मृति (२।२३) ने और जोड़ दिया है—रात्रि के ४।। घण्टों (१।। प्रहर) के उपरान्त तक भोजन किया जा सकता है। न तो प्रातः बहुत पहले न अर्ध-रात्रि में और न सन्धिकाल में भोजन करना चाहिए (मनु ४।५५ एवं ६२ एवं विष्णुधर्मसूत्र ६८।४८)। हाँ, दोनों भोजनों के मध्य में कन्द-मूल, फल आदि खाये जा सकते हैं (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।८।१९।१०)। भोजन-पात्र (थाली, पत्तल आदि) के नीचे जल से या पवित्र भस्म से रेखाएँ खींच देनी चाहिए। ब्रह्मपुराण (गृहस्थरत्नाकर, पृ० ३११ उद्धृत) के मत से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के लिए क्रम से त्रिभुज, वृत्त एवं अर्धचन्द्र का मण्डला या रेखा

होनी चाहिए। शंख, लघु-शातातप (१३३), अत्रि के मत से शूद्रों को पात्र के नीचे छिड़क देना पर्याप्त है। मण्डल बनाने से आदित्य, वसु, रुद्र, ब्रह्मा तथा अन्य देवता भोजन ग्रहण करते हैं, नहीं तो राक्षस-पिशाच आ धमकते हैं। भोजन करनेवाले को चार पैर वाले पीढ़े पर, ऊन के आसन पर या बकरी के चर्म पर बैठकर खाना चाहिए (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।८।१९।१)। उपलों (गोबर से बनी चिपरियों, या ठीकरों या गोहरों) पर बैठकर या मिट्टी के आसन पर, अश्वत्थ या पलाश या अर्क के पत्तों पर या लकड़ी के दो तख्तों को जोड़कर बने आसन पर, अधजले या लोहे की काँटियों से जुड़े हुए तख्तों वाले पीढ़े पर बैठकर नहीं खाना चाहिए (स्मृत्यर्थसार पृ० ६९)। पृथ्वी पर खिचे मण्डल पर ही भोजन-पात्र रहना चाहिए। भोजन-पात्र सोने, चाँदी, ताम्र, कमलदल या पलाश-दल का हो सकता है (देखिए, व्यास ३।६७-६८, पैठीनसि)। ताम्र के स्थान पर काँसे का पात्र अच्छा माना जाता है। आपस्तम्बधर्म-सूत्र (२।८।१९।३) के मत से मध्यस्थित सोने वाले ताम्रपात्र में खाना चाहिए। लोहे एवं मिट्टी के पात्र में नहीं खाना चाहिए (हारीत, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २२२ में उद्धृत)। किन्तु आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।९-१२) ने विकल्प से इन पात्रों के प्रयोग की बात कही है, यथा——जिसमें भोजन न पका हो या जो भोजन पका लेने के उपरान्त अग्नि में गर्म कर लिया गया हो, उस मिट्टी के पात्र को हम भोजन-पात्र के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार भस्म से माँजकर लोहे के पात्र को भोजन के लिए शुद्ध किया जा सकता है। उस लकड़ी के पात्र को, जो भीतर से भली भाँति खरादा गया हो, हम भोजन-पात्र के रूप में काम में ला सकते हैं। मनु (४।६५) ने टूटे पात्र में खाने को मना किया है, किन्तु पैठीनसि के मत से सोने, चाँदी, ताम्र, शंख या प्रस्तर के टूटे हुए पात्रों में भोजन किया जा सकता है।[३] कुछ स्मृतियों ने कमल-दल एवं पलाश-पत्र को भोजन-पात्र के रूप में वर्जित माना है, किन्तु आह्निकप्रकाश (पृ० ४६७) का कहना है कि यह प्रतिबन्ध केवल पृथिवी पर उगे हुए (जल या तालाब में नहीं) कमल-दल या छोटे छोटे पलाश के पत्रों के लिए ही है। पैठीनसि के अनुसार धनेच्छुक लोगों को वट, अर्क, अश्वत्थ, कुम्भी, तिन्दुक, कोविदार एवं करंज की पत्तियों से निर्मित पात्रों अथवा पत्तलों पर भोजन नहीं करना चाहिए। वृद्ध हारीत (८।२५०-२५६) ने लिखा है कि भोजन-पात्र सोने, रजत, ताम्र या किसी भी शास्त्रानुमोदित वृक्ष-पत्र से निर्मित हो सकता है, किन्तु गृहस्थों के लिए कमल-दल एवं पलाश के पत्र वर्जित हैं, इन्हें केवल यति, वानप्रस्थ एवं श्राद्ध करनेवाले लोग ही प्रयोग में ला सकते हैं।

भोजन करने के पूर्व आचमन दो बार पहले ही कर लेना चाहिए और भोजनोपरान्त भी यही क्रम होना चाहिए। इस प्रकार का आचमन बहुत प्राचीन है (छान्दोग्योपनिषद् ५।२।२ एवं बृहदारण्यकोपनिषद् ६।१।१४, आपस्तम्बधर्मसूत्र १।५।१६।९, मनु २।५२, ५।१३८ आदि)। भोजन करने के लिए बैठते समय जनेऊ (यज्ञोपवीत) को उपवीत ढंग से पहन लेना चाहिए और उपवस्त्र धारण (बिना सिर ढँके) करना चाहिए (मनु ४।४५, ३।२३८, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२।४।२२-२३ एवं २।८।१९।१२)। घी, तेल, पक्वान्न, सभी प्रकार के व्यञ्जन, नमक (ये वस्तुएँ खाली हाथों से नहीं दी जातीं) आदि को दर्वी (चम्मच आदि) से देना चाहिए, किन्तु अन्य वस्तुएँ, यथा जल, न पकायी गयी वस्तुएँ आदि यों ही दी जानी चाहिए, अर्थात् इनके लिए दर्वी का प्रयोग आवश्यक नहीं है। भोजन के समय गृहस्थ को सोना, जवाहरात (अँगूठी आदि) धारण कर लेना चाहिए। जब भोजन आ जाय तो उसका सम्मान करना चाहिए, उसे देखकर प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए और उसमें दोष न खोजना चाहिए (गौतम ९।५९, वसिष्ठ-धर्मसूत्र ३।६९, मनु २।५४-५५)। वसिष्ठधर्मसूत्र (३।६९-७१) का कहना है कि 'रोचते इति' (अर्थात् मुझे यह प्रिय

३. ताम्ररजतसुवर्णशुक्त्यश्मघटितानां भिन्नमभिन्नमिति पैठीनसिः (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २२२)।

है) का उच्चारण प्रातः एवं सायं के भोजन के समय करना चाहिए, श्राद्ध के भोजन को 'स्वदितमिति' (अर्थात् खाने में यह स्वादिष्ठ था) तथा आभ्युदयिक कृत्यों (विवाह आदि) के भोजन को 'सम्पन्नमिति' (अर्थात् यह पूर्ण था) कहना चाहिए। भोजन को देखकर दोनों हाथ जोड़ने चाहिए और झुककर प्रणाम करना चाहिए और कहना चाहिए "यही हमें सदैव मिला करे", भगवान् विष्णु ने कहा है कि जो ऐसा करता है, वह मुझे सम्मानित करता है (ब्रह्मपुराण, गृहस्थरत्नाकर, पृ० ३१४)। भोजन प्राप्त हो जाने पर पात्र के चतुर्दिक् जल छिड़क कर कहना चाहिए—"मैं तुम्हें, जो ऋत के साथ सत्य है, जल छिड़कता हूँ" (प्रातः), "मैं तुम्हें, जो सत्य के साथ ऋत है, जल छिड़कता हूँ" (सायं)।[४] कुछ लोगों के मत से तब भोजन-पात्र के दाहिने पृथिवी पर थोड़ा भोजन पश्चिम से पूर्व धर्मराज (यम), चित्रगुप्त एवं प्रेत के लिए रख दिया जाता है (भविष्यपुराण, स्मृतिचन्द्रिका, पृ० २२४ में उद्धृत एवं आह्निकप्रकाश, पृ० ४६५)। अन्य लोगों के मत से भूपति, भुवनपति एवं भूतानांपति को बलि दी जाती है। किन्तु आजकल ये बलियाँ चित्र, चित्रगुप्त, यम एवं यमदूत (कुल लोगों ने पाँचवीं भी जोड़ दिया है, यथा—सर्वेभ्यो भूतेभ्यः स्वाहा) को दी जाती हैं। इसके उपरान्त "अमृतोपस्तरणमसि" (तुम अमृत के उपस्तरण हो) के साथ आचमन करना चाहिए और भोजनोपरान्त "अमृतापिधानमसि" (तुम अमृत के अपिधान हो) से आचमन करना चाहिए। यह सब बहुत प्राचीन काल से चला आया है। याज्ञवल्क्य (१।१०६) ने इस प्रकार के आचमन को "आपोशन" (जल ग्रहण करना) कहा है। इसके उपरान्त पाँच कौर भोजन पर घृत छिड़क कर प्राणों के पाँचों प्रकारों को समर्पित किया जाता है और प्रत्येक बार पहले 'ओम्' और बाद में 'स्वाहा' कहा जाता है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१९-२३) में इन पाँचों प्रकारों को क्रम से प्राण, व्यान, अपान, समान एवं उदान कहा गया है। इन्हें प्राणाहुतियाँ कहा जाता है। मध्यकाल के निबन्धों में प्राणाहुतियों के अतिरिक्त छठी बलि ब्रह्मा को देने की व्यवस्था है, जो आज भी प्रचलित है। प्राणाहुतियों के समय पूर्ण मौन धारण किया जाता है, यहाँ तक कि 'हूँ' का उच्चारण तक नहीं किया जाता। बौधायनधर्मसूत्र (२।७।६) के अनुसार पूरे भोजन-काल तक मौन रहना चाहिए और यदि किसी प्रकार बोलना ही पड़े तो "ओं भूर्भुवः स्वः ओम्" कहकर तब पुनः भोजन आरम्भ करना चाहिए। किन्तु कुछ लोग प्राणाहुतियों के उपरान्त भोजन लेने या धर्म के लिए बोलना मना नहीं करते (स्मृतिचन्द्रिका, आह्निक, पृ० ४२३)—"गृहस्थों के लिए भोजन के समय मौन धारण आवश्यक नहीं है, जिनके साथ भोजन किया जा रहा हो उनके प्रति औत्सुक्य आदि प्रकट करने के लिए बोलना या उनसे बातचीत भी करनी चाहिए।" प्राणाहुतियाँ कितनी अँगुलियों से दी जायें, इसमें मतभेद रहा है। स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० २२६) में उद्धृत हारीत के अनुसार मार्जन, बलि, पूजा एवं भोजन अँगुलियों के पोरों से करना चाहिए। श्राद्ध-भोजन करते समय पात्र पृथिवी पर रखा रहना चाहिए और बायें हाथ के अँगूठे तथा उसके पास की दो अँगुलियों से भोजन-पात्र दबा रखना चाहिए, किन्तु यदि बहुत भीड़ हो और किसी समय धूल आदि उड़ जाय तो पाँच कौर खा लेने के उपरान्त भोजन-पात्र ऊपर उठाया जा सकता है। पाँचों अँगुलियों से कौर मुख में डालना चाहिए। व्यञ्जनों के चुनाव में विष्णुपुराण (३।२।८३-८४) एवं ब्रह्मपुराण (गृहस्थरत्नाकर, पृ० २२४ में उद्धृत) ने नियम बतलाये हैं—सर्वप्रथम मीठा एवं तरल पदार्थ खाना चाहिए, तब नमकीन एवं खट्टा पदार्थ, तब कटु एवं तीक्ष्ण व्यञ्जन और अन्त में दूध, जिसके उपरान्त दही का सेवन नहीं होना चाहिए। गृहस्थ को घृतमिश्रित भोजन करना चाहिए। भोजन अर्थात् रोटी, कन्द-मूल, फल या मांस दाँत से काटकर नहीं खाना चाहिए (बौधायनधर्मसूत्र

४. ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायं परिषिञ्चति। सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रातः। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।१।११)।

२।७।१०)। खाते समय आसन का परिवर्तन नहीं होना चाहिए और न पैरों में जूते, चप्पल आदि होने चाहिए। उस समय चमड़े का स्पर्श वर्जित है।

मनु (४।४।३), विष्णुधर्मसूत्र (६८।४६) एवं वसिष्ठधर्मसूत्र (१२।३१) के मत से पत्नी के साथ बैठकर नहीं खाना चाहिए। यात्रा में ब्राह्मण अपनी ब्राह्मणी के साथ एक ही थाली में खा सकता है (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २२७)। स्मृत्यर्थसार (पृ० ६९) एवं मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।१३१) के मत से विवाह के समय पति-पत्नी का एक ही थाली में साथ-साथ खाना मना नहीं है।

भोजन की मात्रा के विषय में कई नियम बने हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।१३), वसिष्ठधर्मसूत्र (६।२०-२१) एवं बौधायनधर्मसूत्र (२।७।३१-३२) के अनुसार संन्यासी को ८ कौर, वानप्रस्थ को १६, गृहस्थ को ३२ एवं ब्रह्मचारी (वेदपाठी) को जितने चाहे उतने कौर खाने चाहिए। गृहस्थ को पर्याप्त भोजन करना चाहिए, जिससे कि वह अपना कार्य ठीक से कर सके (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।४।९।१२)। इसी प्रकार शबर (जैमिनि ५।१।२०) ने लिखा है कि आहिताग्नि गृहस्थ दिन में कई बार खा सकता है।[५]

भोजन के समय शिष्टाचार, पंक्तिपावन एवं पंक्तिदूषक ब्राह्मण

पंक्ति में प्रथम स्थान तभी ग्रहण करना चाहिए जब कि उसके लिए विशेष रूप से आग्रह किया जाय। किन्तु प्रथम आसन पर बैठ जाने पर सबसे पहले भोजन नहीं आरम्भ करना चाहिए, प्रत्युत सबके भोजन आरम्भ करने के बाद में (शंख, अपरार्क द्वारा पृ० १५० में उद्धृत)। यदि एक ही पंक्ति में कई ब्राह्मण बैठे हों और कोई व्यक्ति सबसे पहले आचमन कर ले या अपना अवशिष्ट भोजन शिष्य को दे दे या उठ पड़े तो अन्य लोगों को भी भोजन छोड़कर उठ जाना चाहिए। इस प्रकार जो व्यक्ति समय से पहले उठ जाता है, उसे **ब्रह्महा** (ब्राह्मण को मारने वाला) या **ब्रह्मकण्टक** कहा जाता है। ये नियम स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० २२७), गृहस्थरत्नाकर (पृ० ३३१) एवं स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ४२७) में उद्धृत हैं। इस प्रकार के अशिष्ट व्यवहार को रोकने के लिए कई विधियाँ काम ले लायी गयी हैं। एक पंक्ति की शृंखला तब टूट जाती है जब कि खाने वालों के बीच में अग्नि हो, राख हो, स्तम्भ हो, मार्ग हो, द्वार हो या पृथिवी में ढाल पड़ जाय। इसी प्रकार का व्यवधान डालकर विभिन्न जाति के लोगों को बैठाया जा सकता है। जन्म, चरित्र एवं विद्या के कारण अयोग्य व्यक्तियों की पंक्ति में नहीं बैठना चाहिए (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।५।१७।२)।

हमने बहुत पहले देख लिया है कि कतिपय उद्योग-धंधों वाले ब्राह्मण श्राद्ध में निमन्त्रित करने योग्य नहीं होते (अध्याय २)। गौतम (१५।२८-२९), बौधायनधर्मसूत्र (२।८।२), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।७।१७।२१-२२), वसिष्ठधर्मसूत्र (३।१९), विष्णु (८३।२।२१), मनु (३।१८४-८६), शंख (१४।१-८), अनुशासनपर्व (९०।३४), वायु (अध्याय ७९ एवं ८३) तथा अन्य पुराणों में ऐसे ब्राह्मणों की सूचियाँ हैं जो **पंक्तिपावन** एवं **पंक्तिदूषक** कहे जाते हैं। जो अपनी उपस्थिति से पंक्ति में बैठने वालों को पवित्र करते हैं, उन्हें पंक्तिपावन कहा जाता है, और जो पंक्ति दूषित करते हैं उन्हें पंक्तिदूषक कहा जाता है। पंक्तिपावन उन्हें कहा जाता है जो वेद के छः अंगों को जानते हैं, जो ज्येष्ठ साम पढ़े रहते हैं, जिन्होंने नाचिकेत अग्नि में होम किया है, जो तीन मधुपद जानते हैं, जो

५. यथा देवदत्तः प्रातरपूपं भक्षयति मध्यन्दिने विविधमन्नमश्नाति अपराह्णे मोदकान्भक्षयतीति। एकस्मिन्नहनीति गम्यते। शबर (जैमिनि ५।१।२०)।

त्रिसुपर्ण पढ़े रहते हैं, जो पंचाग्नि रखते हैं, जो वेदाध्ययन के उपरान्त समावर्तन-स्नान किये रहते हैं अर्थात् जो स्नातक होते हैं, जो अपने वेद के ब्राह्मण एवं मन्त्र जानते हैं, जो धर्मशास्त्रज्ञ होते हैं और होते हैं ब्राह्म-विवाह वाली संस्कृत माता की सन्तान। आपस्तम्बधर्मसूत्र एक लक्षण और जोड़ता है—"जो चारों मेध (अश्वमेध, सर्वमेध, पुरुषमेध एवं पितृमेध) सम्पादित कर चुके हैं।" मनु ने वेदज्ञ, वेदव्याख्याता, ब्रह्मचारी, दाता (सहस्र गौओं का दान करनेवाले) एवं सौ वर्ष की अवस्था वाले व्यक्ति को भी पंक्तिपावन कहा है। शंख ने योगियों, उनको जो सोने और मिट्टी के टुकड़े के बराबर समझते हैं, और ध्यान में मग्न रहने वाले यतियों को पंक्तिपावन कहा है। अनुशासनपर्व (९०।३४) ने भाष्य, व्याकरण एवं पुराण पढ़नेवाले को भी पंक्तिपावन कहा है। कोढ़ी, खल्वाट, व्यभिचारी, आयुध-जीवी के पुत्र (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।७।१७।२१), ब्राह्मणों के लिए अयोग्य कार्य करने वाले, धूर्त, कम या अधिक अंग वाले, जिसने वेद, पवित्र अग्नियों, माता-पिता, गुरुओं का त्याग कर दिया हो तथा वे लोग जो शूद्रों के भोजन पर जीते हों, पंक्तिदूषक कहे जाते हैं (देखिए शंख १४।२-४ एवं अपरार्क, पृ० ४५३-४५५)।

एक पंक्ति में बैठे हुए लोगों को एक ही प्रकार के व्यञ्जन परोसे जाने चाहिए, किसी प्रकार का विभेद करने से ब्रह्महत्या का दोष लगता है (व्यासस्मृति ४।६३)। खाते समय यदि कोई ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को छू ले तो भोजन करना छोड़ देना चाहिए या भोजनोपरान्त गायत्री का १०८ बार जप कर लेना चाहिए। आजकल ऐसा हो जाने पर जल से आँखों का स्पर्श कर लिया जाता है। यदि भोजन करनेवाला परोसने वाले को छू ले तो परोसने वाले को चाहिए कि वह भोजन को पृथिवी पर रखकर आचमन करे, और उस पर जल छिड़कने के उपरान्त उसे पुनः परोसे। बायें हाथ से खाना एवं पीना वर्जित है। खाना खाते समय गिलास से या पानी पीने के पात्र से पानी पीना चाहिए, दोनों हाथों को मिलाकर पानी नहीं पीना चाहिए (याज्ञवल्क्य १।१३८)। किन्तु जब खाना न खाया जा रहा हो तो दाहिने हाथ से जल ग्रहण किया जा सकता है। भोजनोपरान्त 'आपोशन' ('अमृतापिधानमसि' का उच्चारण) करना चाहिए और थोड़ा जल ग्रहण करना चाहिए; तब हाथ धोना, दो बार आचमन करना, दाँतों के बीच के भोजन-कणों को हटाने के लिए हलके ढंग से दाँतों को धोना तथा अन्त में ताम्बूल ग्रहण करना चाहिए। आश्वलायन ने भोजनोपरान्त मुख धोने के लिए १६ कुल्ले (गण्डूष) करने की बात चलायी है। यति, ब्रह्मचारी तथा विधवा को पान नहीं खाना चाहिए।

भोज्यान्न में से सभी कुछ नहीं खा डालना चाहिए, प्रत्युत भोजन-पात्र में दही, मधु, घृत, दूध एवं सक्तु (सत्तू) के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों का कुछ अंश छोड़ देना चाहिए। जो बच रहता है वह पत्नी या नौकर को दे दिया जाता है (पराशरमाधवीय १।१, पृ० ४२२)। किसी को दूसरे का जूठा न तो खाना चाहिए और न देना चाहिए। हाँ, बच्चा अपने माता-पिता या गुरु का जूठा खा सकता है (स्मृतिमुक्ताफल, आह्निक, पृ० ४३१)। अपने आश्रित शूद्र के अतिरिक्त किसी अन्य शूद्र को अपना जूठा नहीं देना चाहिए (मनु ४।८०, आपस्तम्बधर्मसूत्र १।११।३१।२५-२६)। जब तक भोजन-पात्र हटा नहीं लिया जाता, स्थल को गोबर से लीप नहीं दिया जाता और जब तक स्वयं खानेवाला दूर नहीं हट जाता तब तक वह आचमन कर लेने पर भी अपवित्र ही कहा जाता है। देखिए आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।२।४।२४) भी। ब्राह्मण का भोजन-पात्र ब्राह्मण ही उठा सकता है (कोई अन्य नहीं), श्राद्ध करने वाला पुत्र या शिष्य श्राद्ध के भोजन-पात्र को उठा सकता है, किन्तु वह जिसका उपनयन न हुआ हो, पत्नी तथा कोई अन्य व्यक्ति नहीं उठा सकता (लघु-आश्वलायन १।१६५-१६६)।

ग्रहण या किसी विषम स्थिति में भोजन-त्याग

सूर्य एवं चन्द्र के ग्रहणों के समय भोजन न करने के विषय में बहुत-से नियम बने हैं। स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ०

२२८-२२९), स्मृत्यर्थसार (पृ० ६९), मत्स्यपुराण (६७), अपरार्क (पृ० १५१, ४२७-४३०) आदि ने नियम लिखे हैं। ग्रहण के समय भोजन करना वर्जित है। बच्चों, बूढ़ों एवं रोगियों को छोड़कर अन्य लोगों को सूर्य-ग्रहण एवं चन्द्र-ग्रहण लगने के क्रम से १२ घंटा (४ प्रहर) एवं ९ घंटा (३ प्रहर) पूर्व से ही खाना बन्द कर देना चाहिए। इस नियम का पालन अभी हाल तक होता रहा है। ग्रहण आरम्भ हो जाने पर स्नान करना, दान देना, तर्पण करना एवं श्राद्ध करना आवश्यक माना जाता है। ग्रहणोपरान्त स्नान करके भोजन किया जा सकता है। यदि ग्रहण के साथ सूर्यास्त हो जाय तो दूसरे दिन सूर्य को देखकर तथा स्नान करके ही भोजन करना चाहिए। यदि ग्रहण-युक्त चन्द्र उदित हो तो दूसरे दिन भर भोजन नहीं करना चाहिए। ये नियम पर्याप्त प्राचीन हैं (विष्णुधर्म-सूत्र ६८।१-३)। ऋग्वेद (५।४०।५-९) में भी सूर्य-ग्रहण वर्णित है, किन्तु वहाँ यह असुर द्वारा लाया गया कल्पित किया गया है। असुर स्वर्भानु ने सूर्य पर अन्धकार डाल दिया, ऐसा काठकसंहिता (११।५) एवं तैत्तिरीय संहिता (२।१।२।२) में आया है। शांखायनब्राह्मण (२४।३) एवं ताण्ड्य ब्राह्मण (४।५।२, ४।६।१३) भी ग्रहण की चर्चा करते हैं। अथर्ववेद (१९।९।१०) में सूर्य और राहु एक साथ ला खड़े कर दिये गये हैं। छान्दोग्योपनिषद् (८।१३।१) में आया है—"ब्रह्मलोक में जाते समय सचेत आत्मा शरीर को उसी प्रकार हिलाकर छोड़ देता है जिस प्रकार घोड़ा अपने बालों को छिटका देता है या राहु के मुख से चन्द्र छुटकारा पाता है।"

विष्णुधर्मसूत्र (६८।४-५) ने व्यवस्था दी है कि जब गाय या ब्राह्मण पर कोई आपत्ति आ जाय या राजा पर क्लेश पड़े या उसकी मृत्यु हो जाय तो भोजन नहीं करना चाहिए।

विहित और निषिद्ध

क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए तथा किसका खाना चाहिए और किसका नहीं खाना चाहिए; इस विषय में विस्तृत नियम बने हैं। यों तो सभी स्मृतियों ने भोजन के विधि-निषेध के विषय में व्यवस्थाएँ दी हैं, किन्तु गौतम (१७), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१६।१७—१।६।१९), वसिष्ठधर्मसूत्र (१४), मनु (६।२०७-२२३) तथा याज्ञवल्क्य (१।१६७-१८१) ने विस्तार के साथ चर्चा की है। शान्तिपर्व (अध्याय ३६ एवं ७३), कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, अध्याय १७), पद्म (आदिखण्ड, अध्याय ५६) तथा अन्य पुराणों ने भी नियम बतलाये हैं। निबन्धों में स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ४१८-४२९), गृहस्थरत्नाकर (पृ० ३३४-३९५), मदनपारिजात (पृ० ३३७-३४३), स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ४३३-४५१), आह्निकप्रकाश (पृ० ४८८-५५०) ने ग्राह्य-अग्राह्य के विषय में विशद वर्णन उपस्थित किया है। हम क्रम से इन नियमों की चर्चा करेंगे।

अपरार्क (पृ० २४१) ने भविष्यपुराण को उद्धृत कर वर्जित भोजन का उल्लेख किया है, यथा **जातिदुष्ट** या **स्वभावदुष्ट** (स्वभाव से ही वर्जित), जैसे लहसुन, प्याज आदि; **क्रियादुष्ट** (कुछ क्रियाओं के कारण वर्जित), यथा खाली हाथ से परोसा हुआ, या पतित (जातिच्युत), चाण्डालों, कुत्तों आदि द्वारा देख लिया गया भोजन या पंक्ति में बैठे हुए किसी व्यक्ति द्वारा आचमन करके सबसे पहले उठ जाने के कारण अपवित्र भोजन; **कालदुष्ट** (समय बीत जाने पर या अनुचित या अनुपयुक्त समय का भोजन), यथा बासी भोजन, ग्रहण में पकाया हुआ, बच्चा देने के उपरान्त पशु का दस दिनों के भीतर का दूध; **संसर्गदुष्ट** (निकृष्ट संसर्ग या संस्पर्श से भ्रष्ट हुआ भोजन), यथा कुत्ते, मद्य, लहसुन, बाल, कीट आदि के सम्पर्क में आया हुआ भोजन; **सहृल्लेख** (घृणा या अरुचि उत्पन्न करने वाला भोजन), यथा मल आदि। इन पाँचों प्रकारों के साथ **रसदुष्ट** (जिसका स्वाद समाप्त हो गया हो), यथा दूसरे दिन पायस या क्षीर एवं **परिग्रहदुष्ट** (जो पतित, व्यभिचारी आदि का हो) जोड़े जा सकते हैं। अपरार्क ने लिखा है कि वर्जित भोजन, जिसके खाने से उपपातक लगता है, छः प्रकार के कारणों से उत्पन्न होता है, यथा—स्वभाव, काल, सम्पर्क

(संसर्ग), क्रिया, भाव एवं परिग्रह। ईख के रस से मदिरा बनती है, यदि यह जानकर उसका पान किया जाय तो यह **भावदुष्ट** कहलाएगा। किन्तु गौतम (१७।१२) के मत से **भावदुष्ट** भोजन उसे कहते हैं जो अनादर के साथ दिया जाय, या जिसे खाने वाला घृणा करे या जिससे वह ऊब उठे।[६]

मांस-भक्षण—आगे कुछ कहने के पूर्व मांस-भक्षण पर कुछ लिख देना अत्यावश्यक है। ऋग्वेद में देवताओं के लिए बैल का मांस पकाने की ओर कई संकेत किये गये हैं; उदाहरणार्थ, इन्द्र कहता है—"वे मेरे लिए १५+२० बैल पकाते हैं" (ऋग्वेद १०।८६।१४, और मिलाइए ऋग्वेद १०।२७।२)। ऋग्वेद (१०।९१।१४) में आया है कि अग्नि के लिए घोड़ों, बैलों, साँडों, बाँझ गायों एवं भेड़ों की बलि दी गयी। देखिए ऋग्वेद (८।४३।११, १०।७९।६)। किन्तु उसी में गौ को 'अघ्न्या' (ऋग्वेद १।१६४।२७ एवं ४०, ४।१।६, ५।८३।८, ८।६९।२१, १०।८७।१६ आदि) भी कहा गया है, जिसका अर्थ निरुक्त (१०।४३) ने यों लगाया है—"अघ्न्या अहन्तव्या भवति अघघ्नी इति वा", अर्थात् "वह जो मारे जाने योग्य नहीं है।" कभी-कभी यह शब्द (अघ्न्या) 'धेनु' के विरोध में भी प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद ४।१।६, ८।६९।२), अतः यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि ऋग्वेद के काल में दूध देनेवाली गायें काटे जाने योग्य नहीं मानी जाती थीं। हम इसी तर्क के आधार पर गायों के प्रति प्रशंसात्मक सूक्तों का भी अर्थ लगा सकते हैं, यथा—ऋग्वेद (६।२८।१-८ एवं ८।१०१।१५ एवं १६)। ऋग्वेद (८।१०१।१५-१६) में गाय को रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की बहिन एवं अमृत का केन्द्र माना गया है और ऋषि ने अन्त में कहा है—"गाय की हत्या न करो, यह निर्दोष है और स्वयं अदिति है।" ऋग्वेद (८।१०१।१६) में गाय को देवी भी कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि गाय क्रमशः देवत्व को प्राप्त होती जा रही थी। दूध के विषय में गाय की अत्यधिक महत्ता, कृषि में बैलों की उपयोगिता तथा परिवार में आदान-प्रदान एवं विनिमय सम्बन्धी अर्थनीतिक उपयोगिता एवं महत्ता के कारण गाय को देवत्व प्राप्त हो गया। अथर्ववेद (१२।४) में भी गाय की पूतता (पवित्रता) मानी गयी है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से पता चलता है कि तब तक गाय की बलि दी जाती थी (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।९।८, शतपथ ब्राह्मण ३।१।२।२१)। ऐतरेय ब्राह्मण (६।८) के मत से घोड़ा, बैल, बकरा, भेड़ बलि के पशु हैं, किन्तु किम्पुरुष, गौरमृग, गवय, ऊँट एवं शरभ (आठ पैरों वाला कल्पनात्मक जन्तु) नामक पशुओं की न तो बलि हो सकती है और न वे खाये जा सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१।२।३।९) में भी यही बात पायी जाती है। शतपथ ब्राह्मण (११।७।१।३) ने घोषित किया है कि मांस सर्वश्रेष्ठ भोजन है। आगे चलकर गाय इतनी पवित्र हो गयी कि बहुत-से दोषों के निवारणार्थ उसके दूध, दही, घृत, मूत्र एवं गोबर से 'पञ्चगव्य' बनने लगा। पंचगव्य के विषय में जो नियम बने हैं, उनकी जानकारी के लिए देखिए याज्ञवल्क्य (३।३१४), बौधायनगृह्यसूत्र (२।२०), पराशर (११।२८-३४), देवल (६२-६५), लघु-शातातप (१५८-१६२), मत्स्यपुराण (२६७।५-६)। पराशर एवं अत्रि में पंचगव्य निर्माण की विधियाँ हैं, जिन्हें स्थानाभाव के कारण हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। **पंचगव्य** को **ब्रह्मकूर्च** भी कहा जाता है। गाय के सभी अंग (मुख के अतिरिक्त) पवित्र माने गये हैं। मनु (५।१२८) ने गाय द्वारा सूँघे या चाटे गये पदार्थों के पवित्रीकरण की बात चलायी

६. भविष्यत्पुराणम्। जातिदुष्टं क्रियादुष्टं कालाश्रयविदूषितम्। संसर्गाश्रयदुष्टं च सहृल्लेखं स्वभावतः॥ अपरार्क पृ० २४१। मिलाइए वृद्धहारीत ११।१२२-१२३—भावदुष्टं क्रियादुष्टं कालदुष्टं तथैव च। संसर्गदुष्टं च तथा वर्जयेद्यज्ञकर्मणि॥ अन्नस्य च निन्दितत्वं स्वभाव-काल-संपर्क-क्रिया-भाव-परिग्रहैः षोढा भवति। अपरार्क पृ० ११५७। इनमें से कुछ शब्द वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।२८) में भी पाये जाते हैं—'अन्नं पर्युषितं भावदुष्टं सहृल्लेखं पुनः सिद्धमाममांसं पक्वं च।'

है, क्योंकि उसका मुख अपवित्र माना गया है। मनु (११।७९) ने गाय की प्रशंसा की है—जो ब्राह्मणों एवं गायों की रक्षा में अपने प्राण दे देता है वह ब्रह्महत्या-जैसे जघन्य पापों से मुक्त हो जाता है। विष्णुधर्मसूत्र (१६।१८) ने घोषित किया है कि ब्राह्मणों, गायों, स्त्रियों एवं बच्चों की रक्षा में प्राण देने वाले अछूत (वाह्य) भी स्वर्ग को चले गये। रुद्रदामन् (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ४४) के शिलालेख में "गौ-ब्राह्मण-हित" (गायों एवं ब्राह्मणों का कल्याण) शब्द प्रयुक्त हुआ है (ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी)। और देखिए रामायण (बालकाण्ड २६।५, अरण्यकाण्ड २३।२८) एवं मत्स्यपुराण (१०४।१६)। कपिला गाय अत्यधिक मंगलकारी मानी गयी है और इसका दूध अग्निहोत्र एवं ब्राह्मणों के लिए उत्तम माना गया है, किन्तु यदि उसे शूद्र पिये तो वह नरक का भागी होता है (वृद्धगौतम, पृ० ५६८)।

कालान्तर में मांस-मक्षण के प्रति न केवल अनिच्छा प्रत्युत घृणा का भाव भी रखा जाने लगा। शतपथब्राह्मण ने यह भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि मांसभक्षी आगे के जन्म में उन्हीं पशुओं द्वारा खाया जायगा, अर्थात् उदाहरणार्थ, जो इस जन्म में गाय का मांस खायेगा तो आगे के जन्म में उसे इस जन्म वाली खायी गयी गाय खायेगी। छान्दोग्योपनिषद् (३।१७) ने तप, दया, (दान) सरलता (ऋजुता), अहिंसा एवं सत्य को प्रतीकात्मक यज्ञ की दक्षिणा माना है। इसी उपनिषद् (८।१५।१) ने पुनः कहा है कि ब्रह्मज्ञानी समस्त जीवों के प्रति अहिंसा प्रकट करते हैं। जो बहुत-से लोगों ने आगे चलकर मांस-मक्षण छोड़ दिया उसके कई कारण थे; (१) आध्यात्मिक धारणा—एक ही ब्रह्म सर्वत्र विराजमान है, (२) सभी जीव एक हैं, (३) छोटे-छोटे कीट भी उसी दैवी शक्ति के अभिव्यंजन-मात्र हैं, क्योंकि (४) वे लोग जो अपनी वासनाओं एवं कठोर वृत्तियों तथा तृष्णाओं पर नियन्त्रण नहीं रखते और सार्वभौम दया एवं सहानुभूति नहीं प्रकट करते, दार्शनिक सत्यों का दर्शन नहीं कर सकते। एक अन्य कारण भी कहा जा सकता है—मांस-मक्षण से अशुद्धि प्राप्त होती है (इस विचार से भी अहिंसा के प्रति झुकाव बढ़ा)। ज्यों-ज्यों आर्य भारत के मध्य, पूर्व एवं दक्षिण में फैलते गये, जल-वायु एवं अत्यधिक साग-सब्जियों (शाक-भाजियों) एवं अन्नों के कारण मांस-भक्षण में कमी पायी जाने लगी। सचमुच, यह एक आश्चर्य है कि भारतवर्ष में आज मांस-भक्षण उत्तम नहीं कहा जाता, जब कि हमारे पूर्वज ऋषि आदि मांस-भोजी थे। यह एक विलक्षण ऐतिहासिक तथ्य है और संसार के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीन धर्मसूत्रों ने भोजन एवं यज्ञ के लिए जीव-हत्या की व्यवस्था की थी। आश्चर्य तो यह है कि उस समय कर्म एवं आवागमन के सिद्धान्त प्रचलित थे तब भी जीवहत्या की व्यवस्था की गयी थी। वेदान्तसूत्र (३।१।२५) में भी यज्ञ के लिए पशु-हनन अपवित्र नहीं माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२) ने आवागमन के सिद्धान्त का विवेचन किया है। किन्तु साथ-ही-साथ इसने उस व्यक्ति के लिए, जो बुद्धिमान् पुत्र का इच्छुक है, बैल या साँड़ या किसी अन्य पशु के मांस को चावल एवं घृत में पकाने का निर्देश किया है (६।४।१८)। गृह्य एवं धर्मसूत्रों के अनुसार कतिपय अवसरों पर न केवल अन्य पशुओं की प्रत्युत गाय की भी बलि दी जाती थी, यथा (१) **श्राद्ध में** (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।७।१६।२५), (२) सम्मानित अतिथि के लिए **मधुपर्क में** (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२४।२२-२६, वसिष्ठधर्मसूत्र ४।८), (३) **अष्टका श्राद्ध में** (हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र २।१५।१, बौधायनगृह्यसूत्र २।२।५, वैखानस ४।३) एवं (४) **शूलगव यज्ञ** में एक बैल (आश्वलायनगृह्यसूत्र ४।९।१०)।

धर्मसूत्रों में कतिपय पशुओं, पक्षियों एवं मछलियों के मांस भक्षण के विषय में नियम दिये गये हैं। गौतम (१७।२७।३१), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।३५), वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।३९-४०), याज्ञवल्क्य (१।१७७), विष्णुधर्मसूत्र (५१।६), शंख (अपरार्क, पृ० ११६७ में उद्धृत), रामायण (किष्किधाकाण्ड १७।३९), मार्कण्डेयपुराण (३५।२-४) ने साही, खरगोश, श्वाविध् (सूअर), गोधा या गोह (एक प्रकार की छिपकली), गैंडा, कछुआ को

छोड़कर अन्य पाँच नाखून वाले (पञ्चनख) पशुओं को खाने से मना किया है। गौतम ने जबड़ों में दाँत वाले पशुओं, बाल वाले तथा बिना बाल वाले (यथा सर्प) पशुओं, ग्रामीण मुर्गों, ग्रामीण सूअरों, गायों एवं बैलों को खाने से मना किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।५।१५) ने एक खुर वाले पशुओं, ऊँटों, गवयों (घुड़रोजों), ग्रामीण सूअरों, शरभों एवं गायों के मांस को वर्जित किया है, किन्तु बैलों के मांस को वाजसनेयक के अनुसार पवित्र माना है। इसी धर्मसूत्र (२।२।५।१५) ने उपाकर्म से उत्सर्जन तक के मासों में वेदाध्यापक को मांस खाने से मना किया है, जिससे प्रकट होता है कि अन्य मासों में ब्राह्मण आचार्य लोग मांस-भक्षण करते थे। बासी भोजन एवं बिना पका मांस खाने वाले छात्र को अनध्याय नहीं करना पड़ता था (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।३।११।४)। इस धर्मसूत्र (२।३।७।४) ने लिखा है कि अतिथि को मांस देने से द्वादशाह यज्ञ करने का फल मिलता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (११।३४) ने लिखा है कि श्राद्ध या देवपूजा में दिये गये मांस को यदि प्रार्थना करने पर यति नहीं खाता है तो वह असंख्य वर्षों तक नरक में रहता है। किन्तु क्रमशः लोगों के मनोभावों में परिवर्तन हुआ। मेगस्थनीज (पृ० ९९) एवं स्ट्रैबो (१६।१।५९) ने लिखा है कि दार्शनिकों की प्रथम जाति, जो दो उपविभागों में विभाजित है, यथा—ब्रचमनेस (ब्राह्मण) एवं सर्मनेस (श्रमण), पशु-मांस नहीं खाती और न मैथुन करती है (सम्भवतः ब्रह्मचारी के रूप में), किन्तु ३७ वर्षों तक इस प्रकार रहकर यह जाति उन पशुओं का, जो कृषि के लिए बेकार होते हैं, मांस खाती है। सम्राट् अशोक भी पहले मांसभोजी था, किन्तु क्रमशः उसने अपने राजकीय भोजनालय में पशु-मांस बनना बन्द करा दिया।

प्राचीन ऋषियों ने देवयज्ञ, मधुपर्क एवं श्राद्ध में मांस-बलि की व्यवस्था दी है अतः मनु एवं वसिष्ठ ने इस विषय में दो बातें कही हैं। मनु (५।२७-४४) ने केवल मधुपर्क, यज्ञ, देवकृत्य एवं श्राद्ध में पशु-हनन की आज्ञा दी है।[7] मनु (५।२७ एवं ३२) ने लिखा है कि जब प्राण संकट में हों (अकाल या रोग के कारण) तो मांस-भक्षण से पाप नहीं लगता। यही बात याज्ञवल्क्य (१।१७९) ने भी कही है। मनु ने आगे चलकर लिखा है कि पशु-हनन से व्यक्ति मारे गये पशु के रोमों की संख्या वाले जन्मों तक स्वयं मारा जाता है (विष्णुधर्मसूत्र ५१।६०)। मनु (५।४० एवं ४४—विष्णुधर्मसूत्र २।६३, ६७) ने लिखा है कि पौधे, पशु, वृक्ष (जिनसे यज्ञ के लिए स्तम्भ आदि बनते हैं), छोटे जीव, पक्षी आदि, जो यज्ञ करने के सिलसिले में आहत होते हैं, अच्छी योनियों में पुनः जन्म लेते हैं। वैदिक हिंसा हिंसा नहीं कहलाती क्योंकि वेद से ही धर्म का प्रकाश निकला है। यही बात दूसरे ढंग से वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।३९-४०, ६।५-६) ने भी कही है। आगे चलकर मनु (५।४६-५५) ने यज्ञों में भी पशुबलि को वर्जित कर दिया (विष्णुधर्मसूत्र ५१।६९-७८)। मनु (५।५३) ने अन्त में अपना निष्कर्ष दिया है—मांसभक्षण, मद्यपान एव मैथुन में दोष नहीं है, क्योंकि वे स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। कुछ अवसरों एवं कुछ लोगों के लिए ये शास्त्रानुमोदित हैं, किन्तु इनसे दूर रहने पर (उन अवसरों पर भी जिनके लिए शास्त्रों की आज्ञा मिल चुकी है) महाफल की प्राप्ति होती है।[8] मनु,

७. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥ मनु ५।४१। यही बात वसिष्ठ (४।६), विष्णुधर्मसूत्र (५१।६४) एवं शांखायनगृह्यसूत्र (२।१६।१) में भी पायी जाती है।

८. न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ मनु ५।५६। तन्त्रवार्तिक (पृ० १९१) ने इसे उद्धृत किया है। बृहस्पति ने इसका वास्तविक अर्थ बताया है—'सौत्रामण्यां तथा मद्यं श्रुतौ भक्ष्यमुदाहृतम्। ऋतौ च मैथुनं धर्म्यं पुत्रोत्पत्तिनिमित्ततः॥ स्वर्गं प्राप्नोति नैवं तु प्रत्यवायेन युज्यते॥ मनु (५।५०) की व्याख्या में सर्वज्ञ नारायण द्वारा उद्धृत।

विष्णु एवं वसिष्ठ की उपर्युक्त उक्तियों से प्रकट होता है कि उनके समय में दो प्रकार के व्यक्ति थे; एक वे जो मांस-भक्षण को वैदिक मानते थे, किन्तु वेद के कथनानुसार यज्ञादि अवसरों पर ही पशु-बलि करते थे, और दूसरे लोग वे थे जो बिना नियन्त्रण के मांस-भक्षण करते थे। मनु यह जानते थे कि श्राद्ध आदि ऐसे अवसरों पर मांस-भक्षण होता था और उन्होंने स्वयं लिखा है कि श्राद्ध के समय विभिन्न प्रकार के मांस के साथ भाँति-भाँति के व्यञ्जन बनने चाहिए (३।२२७)। याज्ञवल्क्य (१।२५८-२६०) ने लिखा है कि श्राद्ध के समय ब्राह्मणों को भाँति-भाँति के पशुओं का मांस देने से पितरों को बहुत दिनों तक सन्तोष मिलता है।

क्रमशः मांस-भक्षण कम होता गया। वैष्णव धर्म के विकास से भी पशु-बलि में कमी होती गयी। भागवत-पुराण (७।१५।७-८) में मांस-भक्षण वर्जित माना गया है। मध्य एवं वर्तमान काल में उत्तरी एवं पूर्वी भारत को (जहाँ के कुछ ब्राह्मण मछली को वर्जित नहीं मानते, यथा मैथिल ब्राह्मण आदि) छोड़कर अन्यत्र ब्राह्मण मांस नहीं खाते हैं। वैश्य लोग भी विशेषतः जो वैष्णव हैं, मांस नहीं खाते हैं। बहुत-से शूद्र भी मांस से दूर रहते हैं। किन्तु प्राचीन काल से ही क्षत्रिय लोग मांसभोजी रहे हैं। महाभारत में क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों के मांस-भक्षण की चर्चाएँ बहुत हुई हैं, यथा वनपर्व (५०।४) में आया है कि पाण्डवों ने विषरहित तीरों से हिरन मारे और उनका मांस ब्राह्मणों को देने के उपरान्त स्वयं खाया, युधिष्ठिर ने (सभापर्व ४।१-२) मयसभा के उद्घाटन के अवसर पर दस सहस्र ब्राह्मणों को वन्य सूकर एवं हिरनों के मांस भी खाने को दिये। इसी प्रकार देखिए वनपर्व (२०८।११-१२), अनुशासनपर्व (११६।३, १६-१९)। किन्तु महाभारत ने भी मनु के मनोभाव प्रकट किये हैं और कहा है कि मांस-भक्षण से दूर रहना चाहिए (अनुशासन ११५)। मनु (५।५१) ने तो यहाँ तक कहा है कि जो व्यक्ति पशु को मारने की सम्मति देता है, जो पशु-हनन करता है, जो अंग-अंग पृथक् करता है, जो मांस बेचता या खरीदता है, जो पकाता है, जो परोसता है और जो खाता है—इनमें सभी मारने के अपराधी होते हैं। यम ने कहा है कि मांसभोजी सबसे बडा पापी है, क्योंकि यदि वह न होता तो कोई भी पशु हनन न करता (आह्निकप्रकाश, पृ० ५३३)।

किन पक्षियों को खाया जाय और किन्हें न खाया जाय, इस विषय में गौतम (१७।२९ एवं ३४-३५), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।३२-३४), वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।४८), विष्णुधर्मसूत्र (५१।२९-३१), मनु (५।११-१४), याज्ञवल्क्य (१।१७२-१७५) आदि में लम्बी सूचियाँ हैं। कच्चा मांस खाने वाले पक्षी (गिद्ध, चील आदि), चातक, तोता, हंस, ग्रामीण पक्षी (कबूतर आदि), बक, गोहड़उर या बिल खोद-खोदकर अपना भोजन ढूंढ़ने वाले पक्षी वर्जित माने गये हैं, किन्तु जंगली मुर्ग एवं तीतर वर्जित नहीं हैं। शबर ने जैमिनि (५।३।२६-२८) की टीका में लिखा है कि अग्निचित् को (जिसने यज्ञ के लिए वेदी बना ली हो) पक्षी तब तक नहीं खाना चाहिए जब तक यज्ञ समाप्त न हो जाय।

मछली के भक्षण के विषय में कोई मतैक्य नहीं है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।३६-३७) के मत से चेत (मगर या घड़ियाल?) वर्जित हैं। सर्प की भाँति सिर वाली, मकर, शव खानेवाली तथा विचित्र आकृति वाली मछलियाँ नहीं खानी चाहिए। मनु (५।१४-१५) ने सभी प्रकार की मछलियों के भक्षण को निकृष्ट मांस-भक्षण माना है, किन्तु देवकृत्यों तथा श्राद्ध में पाठीन, रोहित, राजीव, सिंह की मुखाकृति वाली एवं वल्कल वाली मछलियों की छूट दी गयी है (५।१६)। देखिए वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।४१-४२), गौतम (१७।३६) एवं याज्ञवल्क्य (१। १७७-१७८)।

दुग्ध-प्रयोग—दूध के विषय में स्मृतियों ने बहुत-से नियम बनाये हैं। गौतम (१७।२२-२६), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।२२-२४), वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।३४-३५), बौधायनधर्मसूत्र (१।५।१५६-१५८), मनु (५।८-९),

विष्णुधर्मसूत्र (५१।३८-४१), याज्ञवल्क्य (१।१७०) के अनुसार जो सन्धिनी[9] गाय हो, जिसका बछड़ा मर गया हो, जिसे जुड़वाँ बछड़े उत्पन्न हो गये हों, बछड़ा देने पर अभी जिसको दस दिन पूरे न हुए हों, जिसके स्तन से अपने-आप दूध निकलता हो, उसका दूध नहीं पीना चाहिए। बछड़ा देने के दस दिन तक बकरी एवं भैंस का दूध भी नहीं पीना चाहिए। भेड़ों, ऊँटनियों तथा एक खुर वाले पशुओं का दूध सर्वथा वर्जित माना गया है। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य (१।१७०) के अनुसार वर्जित दूध का दही भी वर्जित है, किन्तु विश्वरूप के कथनानुसार वर्जित दूध का दही तथा उसके अन्य पदार्थ वर्जित नहीं हैं। अपवित्र भोजन करने वाली गाय का दूध भी वर्जित माना गया है (विष्णुधर्मसूत्र ५१।४१ एवं अत्रि ३०१)। वायुपुराण में भैंस का दूध भी वर्जित माना गया है।[10] बौधायनधर्मसूत्र (१।५।१५९-१६०) ने गाय के दूध को छोड़कर अन्य वर्जित दूध पीने पर प्राजापत्य प्रायश्चित्त करने की तथा वर्जित गाय का दूध पीने पर तीन दिनों के उपवास की व्यवस्था दी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (पद्य) में ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य लोगों के लिए कपिला गाय का दूध वर्जित माना गया है, किन्तु भविष्यपुराण में देव-कृत्यों से बच रहे कपिला गाय के दूध को ही ब्राह्मणों के प्रयोग के लिए उचित ठहराया गया है। ब्रह्मपुराण के अनुसार रात्रि में यात्रा करते समय भी दही का सेवन नहीं करना चाहिए, किन्तु रात्रि के समय मधुपर्क में इसे डाला जा सकता है। दिन में भुने अन्न, रात्रि में दही एवं जौ तथा सभी कालों में कोविदार एवं कपित्थ (वृक्ष या फल) के प्रयोग से दुर्भाग्य का आगमन होता है।

शाक-भाजी, तरकारी का प्रयोग—अति प्राचीन काल से कुछ शाक-भाजियाँ वर्जित ठहरायी गयी हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।२५-२७) के मत से वे सभी शाक, जिनसे मदिरा निकाली जाती है, कलञ्ज (लाल लहसुन), पलाण्डु (प्याज), परारिक (काला लहसुन) तथा वे शाक-भाजियाँ जिन्हें भद्र लोग नहीं खाते, खाने के प्रयोग में नहीं लायी जानी चाहिए। इसी प्रकार 'क्याकु' (कवक, कुकुरमुत्ता) भी नहीं खाना चाहिए। गौतम (१७।३२-३३) ने पेड़ों की कोमल पत्तियों, क्याकु, लशुन (लहसुन), वृक्षों की राल तथा वृक्षों पर क्षत कर देने पर छाल से जो लाल स्राव निकलता है, इन सब को वर्जित माना है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।३३) ने लशुन, पलाण्डु, गृञ्जन (शिखामूल या शलजम), श्लेष्मातक, वृक्ष-स्राव एवं छाल से निकले लाल झाग को वर्जित माना है। मनु (५।५-६) ने लशुन, पलाण्डु, गृञ्जन, कवक (कुकुरमुत्ता), अपवित्र मिट्टी से उपजी हुई सभी प्रकार की शाक-भाजियों, लाल वृक्ष-स्राव एवं लाल वृक्ष-झाग तथा शेलु फलों को वर्जित माना है। याज्ञवल्क्य (१।१७१) ने शिग्रु जोड़ दिया है और वर्जित पदार्थों के प्रयोग पर चान्द्रायण व्रत की व्यवस्था दी है। प्राचीन काल में प्रयुक्त शाक-भाजियों के आधुनिक पर्याय नामों की जानकारी बहुत कठिन है। गृहस्थरत्नाकर (पृ० ३५६) में उद्धृत स्मृतिमञ्जरी के अनुसार पलाण्डु के दस प्रकार हैं, जिनमें गृञ्जन (शलजम) भी एक है।[11] इसी प्रकार अपरार्क (पृ० २४९), गृहस्थरत्नाकर

९. 'सन्धिनी' के तीन अर्थ बताये गये हैं—(१) गम गाय अर्थात् जो गर्भवती होना चाहती है, (२) वह गाय जो दिन में केवल एक बार दूध देती है तथा (३) वह गाय जो दूसरे बछड़े के लाने पर दूध देती है, अर्थात् जिसका बछड़ा मर गया हो और दूसरे बछड़े से अभिसंधानित हो चुकी हो।

१०. अजा गावो महिष्यश्च अमेध्यं भक्षयन्ति याः। दुग्धं हव्ये च कव्ये च गोमयं न विलेपयेत्॥ अत्रि ३०१। आविकं मार्गमौष्ट्रं च सर्वमेकशफं च यत्। माहिषं चामरं चैव पयो वर्ज्यं विजानता॥ वायुपुराण ७८।१७।

११. रसोनो दीर्घपत्रश्च पिच्छगन्धो महौषधम्। हिरण्यश्च पलाण्डुश्च लवतक्कः परारिका। गृञ्जनं यवनेष्टं च पलाण्डोर्दश जातयः॥ इति स्मृतिमञ्जरीकारलिखितवैद्यकश्लोकात्। गृहस्थरत्नाकर, पृ० ३५६ एवं आह्निक-प्रकाश (पृ० ५१४)।

(पृ० ३५४-३५६) आदि ने भी वर्जित शाक-सब्जियों की सूची उपस्थित की है। सुमन्तु के एक सूत्र (याज्ञवल्क्य ३।२९० की टीका में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत) के अनुसार दवा के रूप में लहसुन का प्रयोग वर्जित नहीं है। गौतम (१७।३२) की टीका में हरदत्त ने लिखा है कि यह नहीं ज्ञात है कि हिंगु (हींग) किसी पेड़ का स्राव है या काट दिये जाने पर निकला हुआ झाग है, किन्तु सभी भद्र व्यक्ति इसे प्रयोग में लाते हैं, और कपूर का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि न तो यह लाल है, न स्राव है और न है काटे हुए पेड़ की छाल का झाग या रस। स्मृतिचन्द्रिका (पृ० ४१३) ने लिखा है कि कुछ स्मृतियों ने हींग को वर्जित माना है किन्तु आदिपुराण ने नहीं, अतः अपनी रुचि के अनुसार इसका प्रयोग हो सकता है। गृहस्थरत्नाकर (पृ० ३५४) ने लिखा है कि गोल अलाबु (लौकी) वर्जित है। वर्जित शाक-भाजियों के नामों के लिए देखिए वृद्ध-हारीत (७।११३-११९) एवं स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ४३४-४३५)।

वर्जित अन्न—आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।८।१८।२) ने श्राद्ध में माष जैसे काले अन्न वर्जित माने हैं। महाभाष्य (जिल्द १, पृ० १२७) ने विशिष्ट अवसरों पर माष को वर्जित अन्न माना है और लिखा है कि जब यह घोषित है कि माष नहीं खाना चाहिए, तो उसे अन्य अन्नों के साथ मिलाकर भी नहीं खाना चाहिए। राजमाष, स्थूल मुद्ग, मसूर आदि को वर्जित माना गया है (ब्रह्मपुराण, गृहस्थरत्नाकर, पृ० ३५९)। आह्निकप्रकाश (पृ० ३९४) में उद्धृत शंखलिखित में आया है कि कोद्रव, चणक (चना), माष, मसूर, कुलत्थ एवं उद्दालक को छोड़कर सभी अन्न देवयज्ञ में प्रयुक्त हो सकते हैं। वृद्ध-हारीत (७।११०-१११) ने भी वर्जित अन्नों की सूची दी है।

वर्जित पक्व पदार्थ—गौतम (१७।१४), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।१७-१९), वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।२८-२९ एवं ३७-३८), मनु (५।१०, २४-२५) एवं याज्ञवल्क्य (१।१६७) के अनुसार बासी पक्वान्न (बनाकर बहुत देर से रखा हुआ भोजन) या जो अन्य पदार्थों से मिश्रित कर रख दिया गया हो, या वह भोजन जो रात और दिन अर्थात् लगभग २४ घण्टे का हो चुका हो, नहीं खाना चाहिए। दही, मक्खन, तरकारियों, रोटियों, भुने अन्नों, हलुवा, पापड़ों, तेल या घी में पकाये हुए अन्न, दूध तथा मधु में मिश्रित पदार्थों को छोड़कर दोबारा पकाये हुए पदार्थों को नहीं खाना चाहिए। वह बासी भोजन जिसमें घी या दही मिला हो या जो देवों का प्रसाद हो खा लेना चाहिए। मनु (५।२५), वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।३७-३८), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।१९) एवं याज्ञवल्क्य (१।१६९) के मत से गेहूँ एवं जौ के बासी भोज्य पदार्थ तथा दूध के बासी पदार्थ, बिना घी के मिश्रण के भी द्विजातियों द्वारा प्रयोग में लाये जा सकते हैं, किन्तु ये पदार्थ जब खट्टे हो जायँ तो खाने के योग्य नहीं होते।

वर्जित या त्याज्य भोजन—उपरिलिखित वर्जित मांस, दुग्ध एवं शाक-भाजियाँ **जातिदुष्ट** या **स्वभावदुष्ट** भोजन के अन्तर्गत आती हैं। समय बीत जाने से उत्पन्न बासी या खट्टे भोजन **कालदुष्ट** कहे जाते हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१६।१९-२० एवं २४-२९), मनु (४।२०७-२०९, २१२, २१७) एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार भोज्य पदार्थ यदि पलांडु जैसे वर्जित पदार्थों से मिश्रित हो जायँ, या अपवित्र द्रव्य के सम्पर्क में आ जायँ, या जिसमें बाल या कीट पड़ जायँ, या जिसमें चूहे की बीट, अंग या पूंछ पड़ी मिल जाय, या जो रजस्वला नारी से छू जाय, या जिसमें कौए की चोंच लग जाय, या जिसे सूअर छू ले या गाय सूंघ ले, या जो ऐसे घर से आया हो जहाँ कोई मर गया हो या बच्चा उत्पन्न हुआ हो अर्थात् जहाँ सूतक लगा हो, तो उसे वर्जित मानना चाहिए। यदि खाते समय सूअर, अपपात्र, चाण्डाल, कुत्ता, कौआ, मुर्गा या रजस्वला नारी दिखाई पड़ जाय तो भोजन छोड़कर उठ जाना चाहिए। मनु (३।२३९-२४०) ने उपर्युक्त सूची में नपुंसक व्यक्ति भी जोड़ दिया है और कहा है कि इन्हें देवकृत्य, श्राद्ध या दान-कर्म के सिलसिले में या खाते समय नहीं देखना चाहिए। कात्यायन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि ब्राह्मण खाते समय चाण्डाल, पतित, रजस्वला नारी का स्वर सुन ले तो उसे भोजन छोड़कर उठ जाना चाहिए, किन्तु यदि उसने

स्वर सुनने के उपरान्त एक कौर भी खा लिया है तो उसे एक दिन का उपवास करना चाहिए। मृत्यु-शोक वाले घर के भोजन को **निमित्तदुष्ट** (किसी अवसर या संयोग के कारण वर्जित) कहा जाता है। अस्वस्थ या अपवित्र वस्तुओं या लहसुन आदि के सम्पर्क में आगत भोजन **संसर्गदुष्ट** का उदाहरण है। कुत्ता आदि से देखा गया भोजन **क्रियादुष्ट** (कुछ विशिष्ट कारणों से दूषित) कहा जाता है। स्मृतिकारों ने व्यावहारिक ज्ञान का भी प्रदर्शन किया है। बौधायन-धर्मसूत्र (२।७।७) एवं वैखानस (९।१५) का कथन है कि यदि विपुल भोजन-राशि में बाल, नाखून के टुकड़े, चर्म, कीट, मूसे की लेंड़ियाँ दिखाई पड़ जायँ, तो वहाँ से थोड़ा भोजन निकाल लेना चाहिए, उस पर पवित्र भस्म (भभूत) छिड़ककर, पानी छिड़ककर तथा ब्राह्मणों द्वारा उसे पवित्र घोषित करवाकर खाना चाहिए। पराशर (६।७१-७४) ने भी यही बात दूसरे ढंग से कही है और पवित्रीकरण के लिए सोने की शलाका का स्पर्श, अग्नि-स्पर्श (जलते कुश से) तथा ब्राह्मण द्वारा पढ़े गये मन्त्र की विधि बतायी है।

केवल अपने लिए पकाये हुए भोजन को (जिसका कुछ भी अंश देवों या अतिथि के लिए नहीं हो) वर्जित माना गया है (गौतम १७।१९ एवं मनु ४।२१३)। ऐसे भोजन को **संस्कारदुष्ट** (पवित्र क्रियाओं या कृत्यों के अभाव के कारण दूषित या त्याज्य) कहा गया है (स्मृत्यर्थसार, पृ० ६८)। **परिग्रहदुष्ट** भोजन (भोजन भले ही अच्छा हो, किन्तु विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा लाये जाने अथवा उपस्थित किये जाने के कारण जो त्याज्य माना जाता है) के विषय में बहुत-से नियम बने हैं। इस सम्बन्ध में आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६।१८-१६-३३ एवं १।६।१९।१), गौतम (१५।१८ एवं १७।१७-१८), वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।२-११), मनु (४।२०५-२२०), याज्ञवल्क्य (१।१६०-१६५), व्यास (३।५०-५४), ब्रह्मपुराण तथा अन्य ग्रन्थों में निम्नलिखित व्यक्तियों की चर्चा हुई है---पवित्र अग्नियों (श्रौत एवं गृह्य अग्नियों) को न रखने वाला, कंजूस (जो अपने माता-पिता, बच्चों एवं पत्नी को लोभ के कारण भूखे रखता है), वन्दी, चोर, नपुंसक, पहलवान (या अभिनय करके जीविका चलाने वाला), वैण (बाँस का काम करने वाला या विश्वरूप के अनुसार नट), गायक, अभिनेता, अभिशस्त (महापातक का अपराधी), बलात् ग्राही (अर्थात् जबरदस्ती हड़प जाने वाला या दूसरे की सम्पत्ति पर बलात् अधिकार करने वाला), वेश्या, संघ या गण (दुष्ट ब्राह्मणों या दुष्ट लोगों का दल), वैदिक यज्ञ करने के लिए दीक्षित (जिसने अभी यज्ञ समाप्त न किया हो, अर्थात् जिसने अभी सोम नहीं मँगाया है और अग्नि तथा सोम को पशु-बलि नहीं दी है), वैद्य (जो औषध से जीविका चलाता है), चीर-फाड़ करने वाला (जर्राह), व्याध, आखेटक (या मछली बेचने वाला), न अच्छे होनेवाले रोग से पीड़ित, क्रूर, व्यभिचारिणी, मत्त (मदिरा के नशे में या धन-सम्पत्ति या विद्या के मद में चूर), वैरी, उग्र (क्रोधी स्वभाव वाला या उग्र जाति का व्यक्ति), पतित (जातिच्युत), व्रात्य, कपटी, जूठा खानेवाला, विधवा, अपुत्र, स्वर्णकार, स्त्रैण (स्त्री के वश में रहने वाला), ग्राम-पुरोहित, अस्त्र-शस्त्र बेचने वाला, लोहार, निषाद, दर्जी, श्ववृत्ति (कुत्ते का व्यवसाय करने वाला या सेवक), राजा, राजपुरोहित, धोबी (या रंगरेज), कृतघ्न, पशु मारकर जीविका चलाने वाला, मदिरा बनाने एवं बेचने वाला, जो अपनी पत्नी के जार (प्रेमी) के घर में ठहरता है, सोम लता बेचने वाला, चुगलखोर, झूठा, तेली, भाट, दायाद (जब तक उसे सन्तान न हो जाय), पुत्रहीन, बिना वेद पढ़े यज्ञ करने वाला, यज्ञ करने वाली स्त्री, बढ़ई, ज्योतिषी (ज्योतिष से जीविका चलाने वाला), घण्टी बजाने वाला (राजा को जगाने के लिए घण्टी बजाने वाला), ग्रामकूट (ग्राम का अधिकारी), परिवित्ति, परिविविदान, शूद्र नारी का पति, (पुनर्विवाहित) विधवा का पति, पुनर्भू का पुत्र, खाल का काम करने वाला, कुम्भकार, गुप्तचर, संन्यास आश्रम के नियमों का पालन न करने वाला संन्यासी, पागल, जो धर्ण (धरने) में अपने ऋणी के घर पर बैठ गया हो। मनु (४।२२२) ने उपर्युक्त व्यक्तियों का भोजन बिना जाने हुए कर लेने पर भी तीन दिनों के व्रत की व्यवस्था तथा जानकारी में इनका भोजन खा लेने पर कृच्छ्र की व्यवस्था दी है। बौधायनधर्मसूत्र (२।३।१०) ने ऋग्वेद

(९।५८) के जप की व्यवस्था दी है, और यही व्यवस्था मनु (९।२५३) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५।६।६) ने भी दी है।

विहित भोजन एवं भोज्यान्न—गौतम एवं आपस्तम्ब के काल में ब्राह्मण लोग क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के यहाँ खा सकते थे, किन्तु कालान्तर में यह छूट नियन्त्रित हो गयी और केवल उन्हीं शूद्रों के यहाँ ब्राह्मण खा सकते थे जो ब्राह्मण की कृषि साझे में करते हों, कुटुम्ब या परिवार के मित्र हों, अपने चरवाहे हों, अपने नाई (नापित) या दास हों। इस विषय में देखिए गौतम (१७।६), मनु (४।२५३), विष्णुधर्मसूत्र (५७।१६), याज्ञवल्क्य (१।१६६), अंगिरा (१२०-१२१), व्यास (३।५५) एवं पराशर (११।२१)। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने घोषित किया है कि ऐसा शूद्र जो यह कहे कि वह ब्राह्मण का आश्रित होने जा रहा है, उसके जीवन के कार्य-कलाप इस प्रकार के रहे हैं, और वह ब्राह्मण की सेवा करेगा, तो वह भोज्यान्न (जिसका भोजन खाया जा सकता है) कहलाता है। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।१६६ पर एक सूत्र उद्धृत कर) तथा देवल ने कुम्भकार को भी भोज्यान्न घोषित किया है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।४), मनु (४।२११ एवं २२३) एवं याज्ञवल्क्य (१।१६०) ने शूद्रों के भोजन की वर्जितता के विषय में सामान्य नियम दिये हैं। अंगिरा (१२१) ने लिखा है कि उपर्युक्त वर्णित पाँच प्रकार के शूद्रों के अतिरिक्त अन्य शूद्रों के यहाँ भोजन करने पर चान्द्रायण व्रत करना पड़ता है। अत्रि (१७२-१७३) ने धोबी, अभिनेता, बाँस का काम करने वाले के यहाँ भोजन करने वालों के लिए चान्द्रायण व्रत तथा अन्त्यजों के यहाँ भोजन करने या रहने वालों के लिए पराक प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। इस विषय में और देखिए वसिष्ठधर्मसूत्र (६।२६-२९), अंगिरा (६९-७०), आपस्तम्ब (पद्य) ८।९-१०) आदि। अंगिरा (७५) एवं आपस्तम्ब (पद्य, ८।८।९) ने लिखा है कि यदि अग्निहोत्री शूद्र के यहाँ खाता है तो उसकी पाँच वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं, यथा—आत्मा, वैदिक ज्ञान एवं तीन पवित्र अग्नियाँ। मनु (५।८४) की टीका में मेधातिथि ने स्पष्ट लिखा है कि नापित (नाई) स्पृश्य और भोज्यान्न है (उसका भोजन खाया जा सकता है)। इससे स्पष्ट होता है कि नवीं शताब्दी तक कुछ शूद्रों के यहाँ भोजन करना भारत के सभी भागों में वर्जित नहीं था। अंगिरा (७७-७८), आपस्तम्ब (पद्य, ८।११-१३) एवं यम (गृहस्थरत्नाकर, पृ० ३३४ में उद्धृत) ने घोषित किया है कि ब्राह्मण ब्राह्मणों के यहाँ सभी समयों में, क्षत्रिय के यहाँ केवल (पूर्णमासी आदि) पर्व के समय, वैश्यों के यहाँ केवल यज्ञ के लिए दीक्षित होते समय भोजन कर सकता है, किन्तु शूद्रों के यहाँ कभी भी नहीं खा सकता; चारों वर्णों का भोजन क्रम से अमृत, दूध, भोजन एवं रक्त है। यदि कोई अन्य जीविका न हो तो मनु (४।२२३) के अनुसार ब्राह्मण शूद्र के यहाँ एक रात्रि के लिए बिना पकाया हुआ भोजन ले सकता है। क्षत्रियों एवं वैश्यों के यहाँ भोजन करना कब वर्जित हुआ, यह कहना कठिन है। गौतम (१७।१) ने लिखा है कि ईंधन, जल, भूसा (चारा), कन्दमूल, फल, मधु, रक्षा, बिना मांगे जो मिले, शय्या, आसन, आश्रय, गाड़ी, दूध, दही, भुना अन्न, शफरी (छोटी मछली), प्रियंगु (ज्वार), माला, हिरन का मांस, शाक आदि जब अचानक दिये जायँ तो अस्वीकार नहीं करने चाहिए। यही बात वसिष्ठधर्मसूत्र (१४।१२) एवं मनु (४।५०) में भी पायी जाती है। गृहस्थरत्नाकर (पृ० ३३७) द्वारा उद्धृत अंगिरा के मत से शूद्र के घर से गाय का दूध, जौ का आटा, तेल, तेल में बने खाद्य, आटे की बनी रोटियाँ तथा दूध में बनी सभी प्रकार की वस्तुएँ ग्रहण की जा सकती हैं। बृहत्पराशर (६) के अनुसार बिना पका मांस, घृत, मधु तथा फलों से निकाले हुए तेल यदि म्लेच्छ के बरतनों में रखे हुए हों तो ज्यों ही वे उससे निकाल लिये जाते हैं पवित्र समझे जाते हैं। इसी प्रकार आभीरों (अहीरों) के पात्रों में रखा हुआ दूध एवं दही पवित्र है और वे पात्र भी इन वस्तुओं के कारण पवित्र हैं। लघु-शातातप (१२८) के अनुसार खेत या खलिहान का अन्न, कुएँ से खींचा हुआ जल, गोशाला का दूध आदि उनसे भी ग्रहण किये जा सकते हैं जिनका भोजन वर्जित समझा जाता है। पश्चात्कालीन ग्रन्थकारों (यथा हरदत्त) ने मनु (४।२५३) द्वारा वर्णित पाँच प्रकार के शूद्रों के यहाँ केवल आपत्काल में भोजन करने को लिखा है।

कुछ विशेष पदार्थ विशिष्ट कालों तक ही नहीं खाये जा सकते, यथा---ब्रह्मचारी को मधु, मांस एवं क्षार-लवण खाना वर्जित है (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।४।६, मानवगृह्यसूत्र १।१।१२); किन्तु आपत्काल में वह इन्हें खा सकता है (मेधातिथि, मनु ५।२७)। इसी प्रकार वानप्रस्थ एवं यति लोग बहुत-सी वस्तुएँ नहीं खा सकते थे (इसका उल्लेख आगे किया जायगा)। क्षत्रियों को सोम पीना वर्जित था।

भोजन बनाने एवं परोसने वाले---पाचकों (भोजन बनाने वालों) एवं परोसने वालों के विषय में भी बहुत-से नियम बने हुए हैं। प्राचीन काल में ब्राह्मण सभी वर्णों के यहाँ भोजन कर सकता था, यहाँ तक कि पाँच प्रकार के शूद्रों के यहाँ भी, अतः पाचकों एवं परोसने वालों के विषय में उन दिनों कोई कठिनाई नहीं थी। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।३।१-६) के अनुसार वैश्वदेव के लिए आर्य लोग (तीन वर्णों के लोग) स्नान से पवित्र होकर भोजन बना सकते हैं, पर वे भोजन की ओर मुँह करके बोल, खाँस एवं थूक नहीं सकते, यदि वे बाल, शरीरांग एवं अपना परिधान छू लें तो उन्हें जल-स्पर्श करना चाहिए। आर्यों की अध्यक्षता में शूद्र लोग भोजन बना सकते हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र का कहना है कि शूद्र पाचक को प्रति दिन या आठवें दिन या पर्व के दिनों में अपने केश, दाढ़ी एवं नाखून कटा लेने चाहिए और सारे वस्त्रों के साथ स्नान करना चाहिए। लघु-आश्वलायन (१।१७६) के मत से पत्नी, वधू, पुत्र, शिष्य बड़ी अवस्था के सम्बन्धी, आचार्य भोजन बना सकते हैं। नारायण (अपरार्क, पृ० ५००) के मत से द्विजातियों को अपनी जाति वाली पत्नी भोजन परोस सकती है।

आदर्श तो यह था कि कोई गृहस्थ किसी के यहाँ यथासम्भव भोजन न करे, किन्तु दोषरहित व्यक्ति द्वारा निमन्त्रित होने पर भोजन करना ही चाहिए (गौतम १७।८, मनु ३।१०४, याज्ञवल्क्य १।११२)। मनु (३।१०४) के मत से जो व्यक्ति सदा दूसरों के अन्न पर ही जीवित रहना चाहता है वह मृत्यु के उपरान्त भोजन देनेवाले के यहाँ पशु रूप में जन्म पाता है।

मद्यपान---ऋग्वेद ने सोम एवं सुरा में अन्तर बताया है। सोम मदमत्त करने वाला पेय पदार्थ था और इसका प्रयोग केवल देवगण एवं पुरोहित लोग कर सकते थे, किन्तु सुरा का प्रयोग अन्य कोई भी कर सकता था, और वह बहुधा देवताओं को समर्पित नहीं होती थी। ऋग्वेद (७।८६।६) में वसिष्ठ ऋषि ने वरुण से प्रार्थनाभरे शब्दों में कहा है कि मनुष्य स्वयं अपनी वृत्ति या शक्ति से पाप नहीं करता, प्रत्युत भाग्य, सुरा, क्रोध, जुआ एवं असावधानी के कारण वह ऐसा करता है। सोम एवं सुरा के विषय में अन्य संकेत देखिए ऋग्वेद (८।२।१२, १।११६।७, १।१९१।१०, १०।१०७।९, १०।१३१।४ एवं ५)। अथर्ववेद (४।३४।६) में ऐसा आया है कि यज्ञ करने वाले को स्वर्ग में घृत एवं मधु की झीलें एवं जल की भाँति बहती हुई सुरा मिलती हैं। ऋग्वेद (१०।१३१।४) में सोम-मिश्रित सुरा को सुराम कहते हैं और इसका प्रयोग इन्द्र ने असुर नमुचि के युद्ध में किया था। अथर्ववेद में सुरा का वर्णन कई स्थानों पर हुआ है, यथा १४।१।३५-३६, १५।९।२-३। वाजसनेयी संहिता (१९।७) में भी सुरा एवं सोम का अन्तर स्पष्ट किया गया है। तैत्तिरीय संहिता (२।५।१) तथा शतपथब्राह्मण (१।६।३ एवं ५।५।४) में त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की गाथा आयी है। विश्वरूप के तीन सिर थे, एक से वह सोम पीता था, दूसरे से सुरा तथा तीसरे से भोजन करता था। इन्द्र ने विश्वरूप के सिर काट डाले, इस पर त्वष्टा बहुत क्रोधित हुआ और उसने सोमयज्ञ किया जिसमें इन्द्र को आमन्त्रित नहीं किया। इन्द्र ने बिना निमन्त्रित हुए सारा सोम पी लिया। इतना पी लेने से इन्द्र को महान् कष्ट हुआ, अतः देवताओं ने सौत्रामणी नामक इष्टि द्वारा उसे अच्छा किया। सौत्रामणी यज्ञ उस पुरोहित के लिए भी किया जाता था जो अधिक सोम पी जाता था। इससे मदमत्त व्यक्ति वमन या विरेचन करता था (देखिए कात्यायनश्रौतसूत्र १९।१।४)। शतपथ ब्राह्मण (१२।७।३।५) एवं कात्यायनश्रौतसूत्र (१९।१।२०-२७) में सुरा बनाने की विधि बतायी गयी है। जैमिनि (३।५।१४-१५) में सौत्रामणी यज्ञ के विषय में चर्चा है। इस यज्ञ में कोई ब्राह्मण बुलाया जाता

था और उसे सुरा का तलछट पीना पड़ता था। शतपथ ब्राह्मण (५।५।४।२८) ने सोम को 'सत्य, समृद्धि एवं प्रकाश' तथा सुरा को 'असत्य, क्लेश एवं अन्धकार' कहा है। इसी ब्राह्मण (५।५।४।२१) ने सोम एवं सुरा के मिश्रण के भयानक रूप का वर्णन किया है। काठकसंहिता (१२।१२) में मनोरंजक वर्णन आया है; "अतः प्रौढ, युवक, वधुएँ और श्वशुर सुरा पीते हैं, साथ-साथ प्रलाप करते हैं; मूर्खता (विचारहीनता) सचमुच अपराध है, अतः ब्राह्मण यह सोचकर कि यदि मैं पीऊँगा तो अपराध करूँगा, सुरा नहीं पीता, अतः यह क्षत्रिय के लिए है; ब्राह्मण से कहना चाहिए—यदि क्षत्रिय सुरा पिये तो उसकी हानि नहीं होगी।" इस कथन से स्पष्ट है कि काठकसंहिता के काल में सामान्यतः ब्राह्मण लोग सुरा पीना छोड़ चुके थे। सौत्रामणी यज्ञ में सुरा का तलछट पीने के लिए भी ब्राह्मण का मिलना कठिन हो गया था (तैत्तिरीय ब्राह्मण १।८।६)। ऐतरेय ब्राह्मण (३७।४) में अभिषेक के समय पुरोहित द्वारा राजा के हाथ में सुरापात्र का रखा जाना वर्णित है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९) में सुरापान करने वाले को पाँच पापियों में परिगणित किया गया है। इसी उपनिषद् (५।११।५) में केकय के राजा अश्वपति ने कहा है कि उसके राज्य में मद्यप नहीं पाये जाते।

कुछ गृह्यसूत्रों में एक विचित्र बात पायी जाती है—अन्वष्टका के दिन जब पुरुष पितरों को पिण्ड दिया जाता है तो माता, पितामही (दादी) एवं प्रपितामही को पिण्डदान के साथ सुरा भी दी जाती है। उदाहरणार्थ, आश्वलायनगृह्यसूत्र (२।५।५) में आया है—"पितरों की पत्नियों को सुरा दी जाती है और पके हुए चावल का अवशेष भी।" यही बात पारस्करगृह्यसूत्र (३।३) में भी पायी जाती है। काठकगृह्यसूत्र (६५।७-८) में आया है कि अन्वष्टका में नारी पितरों के पिण्डों पर चमस से सुरा छिड़की जानी चाहिए और वे पिण्ड नौकरों या निषादों द्वारा खाये जाने चाहिए, या उन्हें पानी या अग्नि में फेंक देना चाहिए या ब्राह्मणों को खाने के लिए दे देना चाहिए। इस विचित्र बात का कारण बताना कठिन है। यदि अनुमान द्वारा कारण बताया जा सके तो कहा जा सकता है कि (१) उन दिनों नारियाँ सुरापान किया करती थीं (सम्भवतः लुक-छिपकर), या (२) गृह्यसूत्रों के काल में अन्तर्जातीय विवाह चलते थे और घरमें क्षत्रिय एवं वैश्य पत्नियाँ सुरापान किया करती थीं। मनु (११।९५) ने ब्राह्मणों के लिए सुरापान वर्जित माना है, किन्तु कुल्लूक का कथन है कि कुछ टीकाकारों के मत से यह प्रतिबन्ध नारियों पर लागू नहीं होता था। गृह्यसूत्रों की दृष्टि में उपर्युक्त छूट के लिए जो भी कारण रहे हों, किन्तु यह बात काठकसंहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के लिए ही नहीं प्रत्युत एकमत से धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के लिए पूर्णरूपेण अमान्य रही है।

गौतम (२।२५), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१७।२१), मनु (११।९४) ने एक स्वर से ब्राह्मणों के लिए सभी अवस्थाओं में सभी प्रकार की नशीली वस्तुओं को वर्जित जाना है। सुरा या मद्य का पान एक महापातक कहा गया है (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।७।२१।८, वसिष्ठधर्मसूत्र १।२०, विष्णुधर्मसूत्र १५।१, मनु ११।५४, याज्ञवल्क्य ३।२२७)। यह सब होते हुए भी बौधायनधर्मसूत्र (१।२।४) ने लिखा है कि उत्तर के ब्राह्मणों के व्यवहार में लायी जाने वाली विचित्र पाँच वस्तुओं में सीधु (आसव) भी है। इस धर्मसूत्र ने उन सभी विलक्षण पाँचों वस्तुओं की भर्त्सना की है। मनु (११।९३-९४) की ये बातें निबन्धों एवं टीकाकारों ने उद्धृत की हैं—"सुरा भोजन का मल है, और पाप को मल कहते हैं, अतः ब्राह्मणों, राजन्यों (क्षत्रियों) एवं वैश्यों को चाहिए कि वे सुरा का पान न करें। सुरा तीन प्रकार की होती है—गुड़ वाली, आटे वाली तथा मधूक (महुआ) के फूलों वाली (गौड़ी, पैष्टी एवं माध्वी), इनमें किसी को भी ब्राह्मण न पिये।"[१२] महाभारत (उद्योगपर्व ५५।५) में वासुदेव एवं अर्जुन मदिरा पीकर मत्त हुए

१२. सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते। तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्।। गौडी पैष्टी

कहे गये हैं। यह मदिरा मधु से बनी थी। तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९-२१०) ने लिखा है कि क्षत्रियों को यह वर्जित नहीं थी अतः वासुदेव एवं अर्जुन क्षत्रिय होने के नाते पापी नहीं हुए। मनु (११।९३-९४) एवं गौतम (२।२५) ने ब्राह्मणों के लिए सभी प्रकार की सुरा वर्जित मानी है, किन्तु क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए केवल पैष्टी वर्जित है। शूद्रों के लिए मद्यपान वर्जित नहीं था, यद्यपि वृद्ध-हारीत (९।२७७-२७८) ने लिखा है कि कुछ लोगों के मत से सत्-शूद्रों को सुरापान नहीं करना चाहिए। मनु की बात करते हुए बृद्ध हारीत ने कहा है कि झूठ बोलने, मांस-भक्षण करने, मद्यपान करने, चोरी करने या दूसरे की पत्नी चुराने से शूद्र भी पतित हो जाता है। प्रत्येक वर्ण के ब्रह्मचारी को सुरापान से दूर रहना पड़ता था (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।२।२३, मनु २।१७७ एवं याज्ञवल्क्य १।३३)। याज्ञवल्क्य (१।३३) की टीका में विश्वरूप ने चरक-शाखा की बात का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जब श्वेतकेतु को **किलास** नामक चर्म रोग हो गया तो अश्विनौ ने उससे मधु (शहद या आसव) एवं मांस औषध के रूप में खाने को कहा। जब श्वेतकेतु ने यह कहा कि वह ब्रह्मचारी के रूप में इन वस्तुओं का प्रयोग नहीं कर सकता, तो अश्विनौ ने कहा कि मनुष्य को रोग एवं मृत्यु से अपनी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि जीकर ही तो वह पुण्यकारी कार्य कर सकता है। अपरार्क (पृ० ६३) ने ब्रह्मपुराण का हवाला देते हुए लिखा है कि कलियुग में नरमेध, अश्वमेध, मद्यपान तीनों उच्च वर्णों के लिए वर्जित हैं और ब्राह्मणों के लिए तो सभी युगों में। किन्तु यह उक्ति ऐतिहासिक तथ्यों एवं परम्पराओं के विरोध में पड़ती है। महाभारत (आदिपर्व ७६।७७) ने शुक्र, उनकी पुत्री देवयानी एवं शिष्य कच की गाथा कही है और लिखा है कि शुक्र ने सबसे पहले ब्राह्मणों के लिए सुरापान वर्जित माना और व्यवस्था दी कि उसके उपरान्त सुरापान करने वाला ब्राह्मण ब्रह्महत्या का अपराधी माना जायगा। मौशलपर्व (१।२९-३०) में आया है कि बलराम ने उस दिन से जब कि यादवों के सर्वनाश के लिए मूसल उत्पन्न किया गया, सुरापान वर्जित कर दिया और आज्ञा दी कि इस अनुशासन का पालन न करने से लोग शूली पर चढ़ा दिये जायँगे। शान्तिपर्व (११०।२९) ने लिखा है कि जन्म काल से ही जो मधु, मांस एवं मदिरा के सेवन से दूर रहता है वह कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता है। शान्तिपर्व (३४।२०) ने यह भी लिखा है कि यदि कोई भय या अज्ञान से सुरापान करता है तो उसे पुनः उपनयन करना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र (२२।८३-८५) के अनुसार ब्राह्मणों के लिए वर्जित मद्य १० प्रकार की हैं—**माधूक** (महुआ वाली), ऐक्षव (ईख वाली), **टांक** (टंक या कपित्थ फल वाली), **कौल** (कोल या बदर या उन्नाव नामक बेर वाली), **खार्जूर** (खजूर वाली), **पानस** (कटहर वाली), **अंगूरी**, **माध्वी** (मधु वाली), **मैरेय** (एक पौधे के फूलों वाली) एवं **नारिकेलज** (नारिकेल वाली)। किन्तु ये दसों क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए वर्जित नहीं हैं। सुरा नामक मदिरा चावल के आटे से बनती थी।

मनु (९।८०) एवं याज्ञवल्क्य (१।७३) के मतानुसार मद्यपान करने वाली पत्नी (चाहे वह शूद्र ही क्या न हो और ब्राह्मण को ही क्यों न ब्याही गयी हो) त्याज्य है। मिताक्षरा ने उपर्युक्त याज्ञवल्क्य के कथन की टीका में पराशर (१०।२६) एवं वसिष्ठधर्मसूत्र का हवाला देते हुए कहा है कि मद्यपान करने वाली स्त्री के पति का अर्ध शरीर बड़े भारी पाप का भागी होता है।[13] वसिष्ठधर्मसूत्र (२१।१) ने लिखा है कि यदि ब्राह्मण-पत्नी सुरापान

च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा। यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥ मनु (११।९३-९४)। सर्वज्ञ नारायण ने माध्वी की व्याख्या तीन प्रकार से की है—माध्वी द्राक्षारसकृतेति केचित्। मधूकपुष्पेण मधुना वा कृता माध्वी।

१३. पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत्। पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥ वसिष्ठ २१।१५ एवं पराशर १०।२६।

करती है तो वह अपने पति के लोक (मृत्यूपरान्त) को नहीं प्राप्त कर सकती, वह इसी लोक में जोंक एवं सीपी-घोंघा बनकर जल में घूमती रहती है। याज्ञवल्क्य (३।२५६) ने कहा है कि सुरापान करने वाली पत्नी अपने आगे के जन्मों में इस संसार में कुतिया, चील या सूअर होती है।

याज्ञवल्क्य (१।१४०) की टीका में विश्वरूप ने लिखा है कि मद्य या सुरा बेचने वाले को चाहिए कि वह अपनी दूकान के आगे एक झंडा गाड़ दे कि लोग उसे जान सकें, उसकी दूकान ग्राम के मध्य में होनी चाहिए, उसे चाहिए कि वह अन्त्यजों को, आपत्काल को छोड़कर अन्य समयों में, सुरा न बेचे।

मेगस्थनीज (पृ० ६९) एवं स्ट्रैबो (१५।१।५३) ने लिखा है कि यज्ञों के कालों को छोड़कर भारतीय कभी भी सुरापान नहीं करते (चौथी शताब्दी, ईसा पूर्व)। गौतम (२३।१), मनु (११।९०-९१) एवं याज्ञवल्क्य (३। २५३) ने लिखा है कि यदि कोई जान-बूझकर और बहुधा सुरा (=पैष्टी) पीता है तो वह मुख में खौलती हुई सुरा या जल या घृत या गाय का मूत्र या दूध डलवाकर मर जाने के उपरान्त ही पवित्र हो सकता है। अज्ञान में सुरा पी लेने पर कृच्छ्र प्रायश्चित्त से ही पवित्र हुआ जा सकता है (वसिष्ठधर्मसूत्र २०।१९, मनु ११।१४६, याज्ञवल्क्य ३। २५५)। अपरार्क (पृ० १०७०) ने कुमार की स्मृति को उद्धृत करते हुए लिखा है कि पाँच वर्ष की अवस्था वाले बच्चे के लिए सुरापान करने पर कोई प्रायश्चित्त नहीं है, किन्तु उसके ऊपर एवं उपनयन के पूर्व सुरापान करने पर उसके माता-पिता, अन्य सम्बन्धी एवं मित्र को तीन कृच्छ्रों का प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

मनु (७।४७-५२) ने राजाओं के अवगुणों में दस को आनन्द—काम से उत्पन्न तथा आठ को क्रोध से उत्पन्न माना है और इन अवगुणों में आनन्द के लिए सुरापान, जुआ, नारियों एवं मृगया को निकृष्ट माना है, किन्तु सुरापान को तो सबसे निकृष्ट दोष गिना है। यही बात कौटिल्य (८।३) में भी पायी जाती है। गौतम (१२।३८) एवं याज्ञवल्क्य (२।४७) ने घोषित किया है कि यद्यपि सन्तानों को पितरों के ऋण से मुक्त होना चाहिए और ऐसा करना उनका पावन कार्य है, किन्तु पितरों द्वारा सुरापान के लिए किये गये ऋण को अदा करना उनका कोई कर्तव्य नहीं है। ब्राह्मण के वर्जित पेशों (व्यवसायों) में सुरा-व्यापार भी है (मनु १०।८९ एवं याज्ञवल्क्य ३।२७)।

भोजन के उपरान्त के कृत्य

अब हम पुनः भोजन के विषय की चर्चा में लग जायँ। दिन के भोजन (मध्याह्नकाल के भोजन) के उपरान्त ताम्बूल या मुखवास खाया जाता था। प्राचीन काल में भी लोग धुआँ-धक्कड़ (धूमपान) करते थे, जो सुगंधित जड़ी-बूटियों से (आजकल के तम्बाकू से नहीं) निर्मित पदार्थों से होता था। कादम्बरी में बाण ने लिखा है कि राजा शूद्रक दिन के भोजन के उपरान्त सुगन्धित बूटियों का धूमपान करके ताम्बूल का चर्वण करता था। चरकसंहिता (सूत्रस्थान, अध्याय ५) में आया है कि आठ अंगुल लंबे एवं अँगूठे-जैसे मोटे, खोखले पदार्थ में चन्दन, जातीफल, इलायची तथा अन्य बूटियाँ एवं मसाले भरकर सुखा दिया जाता था और अन्त में खोखले पदार्थ से निकालकर सूखी हुई वस्तु का धूमपान होता था। इस विषय का विस्तार देखिए, इण्डियन ऐक्टीक्वेरी (जिल्द ४०, पृ० ३७-४०)।

विष्णुपुराण (३।११।९४) के अनुसार दिन के भोजन के उपरान्त कोई शारीरिक परिश्रम नहीं करना चाहिए। दक्ष (२।६८-६९) के अनुसार दिन के भोजन के उपरान्त चुपचाप आराम करना चाहिए, जिससे कि भोजन पच जाय। इतिहास एवं पुराणों का श्रवण दिन के छठे एवं सातवें भाग तक करके आठवें भाग में गृहस्थ को घर-गृहस्थी का या सांसारिक कार्य देखना चाहिए और इस प्रकार सन्ध्या आने पर सन्ध्या-वन्दन करना चाहिए। याज्ञवल्क्य (१।११३-११४) के मत से सन्ध्या होने तक का समय शिष्ट लोगों एवं प्रिय संबंधियों की संगति में बिताना चाहिए। इसके उपरान्त सन्ध्या-वन्दन करके, तीनों पवित्र (वैदिक) अग्नियों में आहुतियाँ देकर या गृह्य अग्नि में हवन करके

गृहस्थ को चाहिए कि वह अतिथि को (यदि वह आया हो तो) खिलाये और फिर बच्चों एवं नौकरों से घिरकर स्वयं भोजन करे, किन्तु अधिक न खाय और फिर सो जाय। दक्ष (२।७०।७१) का कहना है कि सन्ध्या होने के उपरान्त (गृहस्थ को) होम करना चाहिए, तब खाना चाहिए, घर-गृहस्थी के अन्य कार्य करने चाहिए, इसके उपरान्त वेद का कुछ अंश दुहराना चाहिए और दो प्रहरों (६ घंटों) तक सोना चाहिए, गृहस्थ को चाहिए कि वह पहले के पढ़े हुए वेद को प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में अवश्य दुहराये।

निद्रा

गौतम (२।१३ एवं ९।१०), मनु (४।५७, १७५–१७६), याज्ञवल्क्य (१।१३६), विष्णुपुराण (३।११। १०७-१०९) आदि तथा निबन्धों ने सोने के विषय में (यथा सिर कहाँ रहे, शय्या कैसी रहे, कहाँ सोया जाय, कौन सा वेदांश पढ़ा जाय आदि) बहुत-से नियम बतलाये हैं। हम यहाँ विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ७०) का वर्णन उपस्थित करते हैं—"भींगे पैर नहीं सोना चाहिए, सिर उत्तर या पश्चिम या शरीर के अन्य अंगों से नीचे न रहे, नग्न नहीं सोना चाहिए, छत की धरन की लम्बाई के नीचे नहीं सोना चाहिए, खुले स्थान में नहीं सोना चाहिए, पलाश वृक्ष की बनी खाट पर नहीं सोना चाहिए और न पंच प्रकार की लकड़ियों (उदुम्बर-गूलर, वट, अश्वत्थ-पीपल, प्लक्ष एवं जम्बू) से बनी खाट पर ही सोना चाहिए, हाथी द्वारा तोड़े गये पेड़ की लकड़ी एवं बिजली से जली हुई लकड़ी के पर्यंक पर भी नहीं सोना चाहिए, टूटी खाट पर भी नहीं सोना चाहिए, जली खाट तथा घड़े से सींचे गये पेड़ की खाट पर भी नहीं सोना चाहिए। श्मशान या कब्रगाह में, जिस घर में कोई न रहता हो उसमें, मंदिर में, दुष्ट लोगों की संगति में, नारियों के मध्य में, अनाज पर, गौशाला में. बड़े लोगों (बुजुर्गों) की खाट पर, अग्नि पर, मूर्ति पर, भोजनोपरान्त बिना मुँह एवं हाथ धोये, दिन में, सायंकाल, राख पर, गन्दे स्थान पर, भींगे स्थान पर और पर्वत पर नहीं सोना चाहिए।" अन्य विस्तृत वर्णन के लिए देखिए स्मृत्यर्थसार (पृ० ७०), गृहस्थरत्नाकर (पृ० ३९७-३९९), स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ४५३-४५८), आह्निकप्रकाश (पृ० ५५६-५५८) आदि। दो-एक बातें निम्नोक्त हैं। स्मृत्यर्थसार के अनुसार सोने के पूर्व अपने प्रिय देवता को माथा नवाना चाहिए और सोते समय पास में बाँस का डण्डा रखना चाहिए। स्मृतिरत्न ने लिखा है कि आँख के रोगी, कोढ़ी तथा उनके साथ जो यक्ष्मा, दमा, खाँसी या ज्वर से आक्रान्त हों या जिन्हें मृगी आती हो उनके साथ एक ही बिस्तर पर नहीं सोना चाहिए। रत्नावली (स्मृतिमुक्ताफल, आह्निक, पृ० ४५७ में उद्धृत) के अनुसार शय्या के पास में जलपूर्ण घड़ा होना चाहिए, वैदिक मन्त्र बोलने चाहिए, जिससे कि विष से रक्षा हो, रात्रि-सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए, घनघोर सोनेवाले पाँच महापुरुषों, यथा—अगस्ति, माधव, मुचकुन्द, कपिल एवं आस्तीक के नाम स्मरण करने चाहिए, विष्णु को प्रणाम करके तब सोना चाहिए। वृद्ध-हारीत (८।३०९-३२०) ने लिखा है कि यति, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, विधवा को खाट पर न सोकर पृथिवी पर मृगचर्म, कम्बल या कुश बिछाकर सोना चाहिए।

स्त्री-प्रसंग—रात्रि में सोने के विषय में चर्चा करते समय स्मृतियों एवं निबन्धों ने पति-पत्नी के संभोग के विषय में प्रभूत चर्चा कर रखी है। संभोग के उचित कालों के विषय में हमने कुछ नियमों की चर्चा पहले भी कर दी है (अध्याय ६, गर्भाधान)। गौतम (५।१-२ एवं ९।२८-२९) और आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१।१।१६-२३) का कहना है कि गृहस्थ को उचित दिनों में, या वर्जित दिनों को छोड़कर कभी भी, या जब पत्नी की इच्छा हो, उसके पास जाना चाहिए; दिन में या जब पत्नी बीमार हो, संभोग नहीं करना चाहिए; जब पत्नी ऋतुमती हो तब उससे दूर रहना चाहिए, यहाँ तक कि आलिंगन भी नहीं करना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१।१।१९), वसिष्ठधर्मसूत्र (१२।२४) एवं याज्ञवल्क्य (१।८१) ने इन्द्र द्वारा स्त्रियों को दिये गये एक वरदान की कथा लिखी है जो तैत्तिरीयसंहिता (२।५।१)

में वर्णित है। जब इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डाला तो सभी लोगों ने उसे 'ब्रह्महा' (ब्राह्मण की हत्या करने वाला) कहना आरम्भ कर दिया। इन्द्र अपने पाप (ब्रह्महत्या के पाप) को बाँटने के लिए भागीदारों को सम्पूर्ण विश्व में खोजने लगा। उसके पाप का एक-तिहाई भाग पृथिवी ने लिया। उसे वरदान मिला कि यदि उसमें कहीं गड्ढा हो जाय तो वह वर्ष के भीतर भर जायगा, एक-तिहाई वृक्षों ने लिया। उन्हें वरदान मिला कि जब वे काट, तोड़ या छाँट लिये जायँ तो पुनः अंकुरित हो उठेंगे। उनमें से जो स्राव निकलता है वह ब्रह्महत्या का ही भाग है, अतः लाल स्राव या झाग नहीं खाना चाहिए। एक-तिहाई भाग स्त्रियों ने ग्रहण किया और उन्हें वरदान मिला कि वे मासिक धर्म के प्रथम सोलह दिनों में ही गर्भ धारण करेंगी, और बच्चा उत्पन्न होने तक वे संभोग कर सकती हैं, स्त्रियों में ब्रह्महत्या प्रति मास रजोधर्म के रूप में प्रकट होती है। विष्णुधर्मसूत्र (६९) ने सभी नियम एक साथ दिये हैं, जिनमें कुछ ये हैं---श्राद्ध में निमन्त्रित होने, श्राद्ध-भोजन करने, श्राद्ध-भोजन खिलाने या सोम-यज्ञ के आरम्भिक कृत्य कर चुकने पर मैथुन नहीं करना चाहिए; मंदिर, श्मशान, खाली मकान, वृक्ष की जड़ (आड़) एवं दिन या सायंकाल में संभोग नहीं करना चाहिए; इतना ही नहीं, अपने से बड़ी अवस्था वाली नारी, गर्भवती या अधिक या कम अंगों वाली नारी के साथ भी संभोग नहीं करना चाहिए (देखिए विष्णुपुराण ३।११।११०-१२३)। उपर्युक्त नियमों में बहुत से प्रजनन-विषयक या स्वास्थ्य-सम्बन्धी हैं, इनमें कुछ तो धार्मिक एवं अन्धविश्वासपूर्ण हैं। गौतम (९।२६), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१।१।२१-२३ एवं २।१।२।१), मनु (४।४ एवं ५।१४४) के कथनानुसार संभोग के उपरान्त पति-पत्नी को स्नान करना चाहिए या कम-से-कम हाथ-मुँह धोकर तथा आचमन करके शरीर पर जल छिड़ककर पृथक्-पृथक् बिस्तरों पर सोना चाहिए। अन्य लेखकों ने विभिन्न नियम एवं मत उद्धृत किये हैं।

रजस्वला-धर्म

तैत्तिरीयसंहिता के काल से ही रजस्वला नारी, उसके पति तथा अन्य लोगों के धर्मों के विषय में नियम आदि की चर्चा होती आयी है। तैत्तिरीयसंहिता (२।५।१) में आया है---"रजस्वला नारी (जो गन्दी रहती है) से न तो बोलना चाहिए, न उसके पास बैठना चाहिए और न उसका दिया हुआ कुछ खाना चाहिए, क्योंकि वह ब्रह्महत्या के रंग से युक्त है (देखिए इन्द्र की ऊपर वाली कथा); लोगों का कहना है कि रजस्वला नारी का भोजन अभ्यञ्जन (संभोग-मल) है अतः उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।" तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।७।१) में आया है कि यदि यज्ञ करने के पूर्व पत्नी ऋतुमती (रजस्वला) हो जाय तो आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है। किन्तु यदि याज्ञिक अपनी रजस्वला पत्नी को कहीं अलग या दूसरे घर में रखकर यज्ञ करता है तो पूर्ण फल मिलता है। तैत्तिरीयसंहिता ने इस संबंध में १३ नियम दिये हैं और कहा है कि उनके उल्लंघन से बुरे फलों की प्राप्ति होती है। वे नियम ये हैं---(रजस्वला के साथ) मैथुन नहीं होना चाहिए, स्नानोपरान्त वन में मैथुन नहीं होना चाहिए, स्नानोपरान्त भी पत्नी के मन के विरुद्ध मैथुन नहीं होना चाहिए, रजस्वला को प्रथम तीन दिनों तक स्नान नहीं करना चाहिए, तेल भी उन दिनों नहीं लगाना चाहिए, कंघी नहीं करना चाहिए, अंजन नहीं लगाना चाहिए, दन्तधावन नहीं करना चाहिए, नाखून नहीं काटना चाहिए, न तो रस्सी बटना चाहिए और न सूत कातना चाहिए, पलाशपत्र के पात्र (द्रोण= दोना) में पानी नहीं पीना चाहिए और न अग्नि में पके (मिट्टी के) बरतन में ही जल ग्रहण करना चाहिए। इन नियमों के उल्लंघन से क्रम से निम्नलिखित फल मिलते हैं; उसका उत्पन्न पुत्र भयानक अपराध के सन्देह में पकड़ा जाता है, चोर, लज्जालु, जल में डूबकर मर जानेवाला, चर्मरोगी, खल्वाट खोपड़ी वाला, दुर्बल, टेढ़ी आँख वाला, काले दाँत वाला, असुन्दर नाखूनों वाला, नपुंसक, आत्महत्यारा, पागल या बौना हो जाता है। तैत्तिरीयसंहिता ने लिखा है कि नियमों का पालन तीन रात्रियों तक होता है, उस समय रजस्वला अंजलि से पानी पीती है या ऐसे पात्र से जो अग्नि में

पकाया हुआ नहीं हो। बृहदारण्योकपनिषद् (५।४।१३) में आया है कि विवाहित नारी को रजस्वला होने पर काँसे के पात्र में जल न ग्रहण करना चाहिए, उसे अपने कपड़े नहीं धोने चाहिए, शूद्र नारी या पुरुष उसे न छूए, तीन रात्रियों के उपरान्त उसे स्नान करना चाहिए और तब उसे चावल साफ करने का काम या धान कूटने का काम करना चाहिए। बहुत-से सूत्रों (यथा—आपस्तम्बगृह्यसूत्र ८।१२, हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र १।२४।७, भारद्वाजगृह्यसूत्र १।२०, बौधायनगृह्यसूत्र १।७।२२-२६, बौधायनधर्मसूत्र १।५।१३९) ने तैत्तिरीयसंहिता के नियमों का हवाला दिया है। वसिष्ठ-धर्मसूत्र (५।७-९) ने इन्द्र एवं उसके वरदान की गाथा का उल्लेख किया है और रजस्वला के धर्मों की चर्चा की है। इसके बहुत-से नियम उपर्युक्त नियमों के समान ही हैं, कुछ विशिष्ट ये हैं—रजस्वला को पृथिवी पर सोना चाहिए, उसके लिए दिन में सोना, मांस खाना, ग्रहों की ओर देखना और हँसना वर्जित है। लघु-हारीत (३८) के अनुसार रजस्वला को अपने हाथ पर ही खाना चाहिए। वृद्ध-हारीत (११।२१०-११) ने भी यही लिखा है और जोड़ा है कि विधवा रजस्वला को तीन दिन व्रत तथा सुहागिनी रजस्वला को दिन में केवल एक बार भोजन करना चाहिए। रजस्वला नारियाँ भी एक-दूसरी को स्पर्श नहीं कर सकती थीं। विष्णुधर्मसूत्र (२२।७३-७४) के मत से यदि रजस्वला नारी अपने से निम्न जाति की रजस्वला नारी को छू ले तो उसे तब तक उपवास करना चाहिए जब तक चौथे दिन का स्नान न हो जाय, यदि वह अपनी ही जाति वाली या अपने से उच्च वर्ण की रजस्वला नारी को छू लेती है तो उसे स्नान करके ही भोजन करना चाहिए। अन्य नियमों के लिए देखिए अंगिरा (४८, यहाँ पंचगव्य की व्यवस्था है), अत्रि (२७९-२८३), आपस्तम्ब (पद्य, ७।२०-२२), बृहद्-यम (३।६४-६८) एवं पराशर (७।११-१५)। यदि रजस्वला को चाण्डाल या कोई अन्त्यज या कुत्ता या कौआ छू ले तो उसे चौथे दिन स्नानोपरान्त ही भोजन करना चाहिए (अंगिरा ४७, अत्रि २७७-२७९ एवं आपस्तम्ब ७।५-८)। यदि ज्वराक्रान्त अवस्था में नारी रजस्वला हो जाय तो उसे पवित्र होने के लिए स्नान नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे स्पर्श करके दूसरी नारी वस्त्रसहित स्नान करे और यह कृत्य (स्नान) प्रत्येक बार आचमन करके दस बार करना चाहिए। ऐसा करने के उपरान्त बीमार नारी का वस्त्र बदल दिया जाता है और सामर्थ्य के अनुसार दान आदि दिया जाता है, तब कहीं पवित्रता प्राप्त होती है (मिताक्षरा द्वारा याज्ञवल्क्य ३।२० की टीका में उद्धृत उशना, और देखिए अंगिरा २२-२३)। यही कृत्य यदि रोगी पुरुष रजस्वला को छू ले तो उसके लिए किया जाता है। इस विषय में एक स्वस्थ पुरुष सात से दस बार स्नान करता है (अंगिरा २१, पराशर ७।१९-२, मिताक्षरा द्वारा याज्ञवल्क्य ३।२० की टीका में उद्धृत)। यदि रजस्वला मर जाय तो उसका शव पंचगव्य से नहलाया जाना चाहिए तथा उसे अन्य वस्त्र से ढककर ही जलाना चाहिए। किन्तु अंगिरा (४२) ने लिखा है कि तीन दिनों के बाद ही शव को नहलाकर जलाना चाहिए। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ३।२०) ने लिखा है कि यदि मास में ठीक समय से ऋतुमती होनेवाली नारी १७ दिनों के भीतर ही ऋतुमती (रजस्वला) हो जाय तो वह अपवित्र नहीं मानी जाती, किन्तु १८वें दिन पर वह एक दिन में, १९वें दिन पर दो दिनों में तथा उसके बाद के दिनों पर तीन दिनों में ही पवित्रता प्राप्त करती है (देखिए अंगिरा ४३, आपस्तम्ब, पद्य ७।२, पराशर ७।१६-१७)।

राजा के धर्म

अब तक हमने साधारण मनुष्यों (विशेषतः ब्राह्मणों) के आह्निक कर्तव्यों की चर्चा की है। राजा के आह्निक धर्मों (कर्तव्यों) के विषय में मनु (७।१४५-१४७, १५१-१५४, २१६-२२६,), याज्ञवल्क्य (१।३२७-३३३) एव कौटिल्य (१।१९) ने प्रभूत चर्चा की है। कौटिल्य ने रात और दिन दोनों को पृथक्-पृथक् आठ भागों में बाँटा है और लिखा है कि दिन के प्रथम भाग में राजा को अपनी सुरक्षा के लिए उपचार आदि करना चाहिए एवं आय-व्यय

का ब्यौरा देखना चाहिए, दूसरे भाग में नगर एवं ग्राम के लोगों के झगड़ों का निपटारा करना चाहिए, तीसरे भाग में स्नान, वेदाध्ययन या वेदपाठ एवं भोजन करना चाहिए, चौथे भाग में सोने के रूप में कर लेना तथा अध्यक्षों की नियुक्ति करनी चाहिए, पाँचवें भाग में मन्त्रि-परिषद् से वार्ता या लिखा-पढ़ी करना तथा गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचार सुनना चाहिए, छठे भाग में उसे क्रीड़ा-कौतुक आदि में लगना तथा राजकीय कार्यों पर विचार-विमर्श करना चाहिए, सातवें में उसे हाथियों, घोड़ों, रथों एवं सैनिकों का निरीक्षण या देखभाल करनी चाहिए, तथा आठवें भाग में राजा को अपने प्रधान सेनापति के साथ आक्रमण करने की योजनाओं पर विचार विमर्श करना चाहिए। दिवसावसान पर राजा को सन्ध्या-वन्दन करना चाहिए। रात्रि के प्रथम भाग में उसे गुप्त दूतों से भेंट करनी चाहिए, दूसरे भाग में वह स्नान कर सकता है, पाठ दुहरा सकता है एवं भोजन कर सकता है, तीसरे भाग में उसे दुन्दुभि एवं नगाड़ों की धुन में पर्यंक पर पड़ जाना चाहिए और चौथे एवं पाँचवें भाग तक सोना चाहिए। छठे भाग में उसे वाद्ययन्त्रों की धुन के साथ जग जाना चाहिए, शास्त्रों में लिखित अनुशासनों का ध्यान करना चाहिए तथा उन्हें कार्यान्वित करने की विधि पर सुविचारणा करनी चाहिए, सातवें भाग में उसे निर्णय करना चाहिए एवं गुप्त दूतों को बाहर भेजना चाहिए, तथा आठवें भाग में उसे यज्ञ कराने वाले आचार्यों एवं पुरोहितों के साथ आशीर्वचन ग्रहण करना चाहिए तथा अपने वैद्य, प्रधान पाचक एवं ज्योतिषी को देखना चाहिए। इसके उपरान्त बछड़े सहित गाय एवं बैल की प्रदक्षिणा कर उसे राज्यसभा में जाना चाहिए। राजा अपनी योग्यता के अनुसार रात एवं दिन को (अपने मन के अनुसार) विभाजित कर सकता है। अन्य स्मृतिकारों के मतों में यत्र-तत्र कुछ अंतर पाया जाता है। याज्ञवल्क्य (१।३२७-३३३) ने कौटिल्य की तालिका को संक्षिप्त रूप में मान लिया है। मनुस्मृति में भी कौटिल्य द्वारा उपस्थित समय-तालिका एवं राजकर्तव्य का ब्यौरा पाया जाता है, और कोई अन्य महत्त्वपूर्ण बात नहीं जोड़ी गयी है। दशकुमारचरित (उच्छ्वास ८) के लेखक ने कौटिल्य की तालिका ज्यों-की-त्यों मान ली है। उसमें वर्णित विदूषक विहारभद्र द्वारा कौटिल्य के प्रति उपस्थापित हास्य अवलोकनीय है।

अन्य वर्णों के धर्म

स्मृतियों में वैश्यों एवं शूद्रों के लिए कोई विशिष्ट आह्निक कर्तव्य नहीं रखे गये हैं। ब्राह्मणों के लिए रचे गये नियमों के अनुसार उन्हें अपने को अभियोजित करना पड़ता था। वैश्य भी द्विजातियों में आते हैं, वे केवल पौरोहित्य, वेदाध्यापन एवं दान-ग्रहण के कार्यों को छोड़कर अन्य सभी ब्राह्मण-धर्मों के अनुसार चल सकते थे। शूद्रों के विशेषाधिकारों एवं उनकी अयोग्यताओं या सीमाओं के विषय में देखिए इस भाग का तीसरा अध्याय।

अध्याय २३

उपाकर्म या उपाकरण एवं उत्सर्जन या उत्सर्ग

उपाकर्म या **उपाकरण** का तात्पर्य है 'उद्‌घाटन करना या प्रारम्भ करना' (मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य १।१४२) तथा **उत्सर्जन** या **उत्सर्ग** (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।५।१३) का अर्थ है 'वर्ष में कुछ काल के लिए वेदाध्ययन से विराम।' किन्तु आपस्तम्बगृह्यसूत्र (८।१) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।३।११।२) ने 'उत्सर्जन' के स्थान पर 'समापन' का प्रयोग किया है। अति प्राचीन काल में ये दोनों कृत्य विभिन्न मासों एवं विभिन्न तिथियों में सम्पादित होते थे, किन्तु वेदाध्ययन के ह्रास के कारण मध्यकाल में एक ही दिन सम्पादित होने लगे। बहुत-से सूत्रों में **उपाकर्म** को **अध्यायोपाकरण** (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।५।१) या **अध्यायोपाकर्म** (पारस्करगृह्यसूत्र २।१०, वसिष्ठधर्मसूत्र १३।१) कहा गया है। अतः यहाँ पर 'अध्याय' का अर्थ है 'वेदाध्ययन' या केवल 'वेद', क्योंकि इसमें वेद का अध्ययन (विशिष्ट रूप से) होता है। अतः वह कृत्य जो वर्ष में वेदाध्ययन के आरम्भ-काल में होता है, उपाकर्म कहलाता है।[1] गौतम (१६।१) में उपाकर्म के कृत्य को 'वार्षिक' सम्भवतः इसीलिए कहा गया है कि यह या तो वर्षा (वर्षाकाल) में आरम्भ होता था या यह वर्ष में एक बार होता था। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।५।१९) ने भी इस कृत्य को वार्षिक कहा है।

उपाकर्म

काल एवं तिथि—सूत्रों में उपाकर्म का काल कई ढंगों से व्यक्त किया गया है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।५।२-३) का कहना है—"जब ओषधियाँ (वनस्पतियाँ) उपज जाती हैं, श्रावण मास के श्रवण एवं चन्द्र के मिलन में (अर्थात् पूर्णमासी को) या हस्त नक्षत्र में श्रावण की पंचमी को (उपाकर्म होता है)।"[2] पारस्करगृ० (२।१०) के अनुसार ओषधियों के निकल आने पर श्रावण की पूर्णमासी को या श्रावण की पंचमी को हस्त नक्षत्र में उपाकर्म होना चाहिए। गौतम (१६।१) एवं वसिष्ठधर्मसूत्र (१३।१) के अनुसार उपाकर्म श्रावण या भाद्रपद की पूर्णमासी को सम्पादित होना चाहिए। खादिरगृ० (३।२।१४-१५) एवं गोभिल (३।३।१ एवं १३) के अनुसार यह भाद्रपद की

१. 'अध्ययनमध्यायस्तस्योपाकरणं प्रारम्भो येन कर्मणा तदध्यायोपाकरणम्'—नारायण (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।५।१); 'अधीयन्ते इत्यध्याया वेदास्तेषामुपाकर्म उपक्रमनोषधीनां प्रादुर्भावे'—मिताक्षरा (याज्ञ० १।१४२)।

२. ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावणस्य। पञ्चम्यां हस्तेन वा। आश्व० गृ० ३।५।१-२; ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्रावणस्य पञ्चमीं हस्तेन वा। पारस्करगृ० २।१०; प्रौष्ठपदीं हस्ते वाध्यायानुपाकुर्युः। श्रावणीमित्येके। खादिरगृ० ३।२।१४-१५; प्रौष्ठपदीं हस्तेनोपाकरणम्।...श्रवणामेके उपाकृत्यैतमा सावित्रात्कालं कांक्षन्ते। गोभिलगृ० ३।३।१ एवं १३; अथातः स्वाध्यायोपाकर्म श्रावण्यां पौर्णमास्यां प्रौष्ठपद्यां वा। वसिष्ठ १३।१; हुतानुकृतिरुपाकर्म। श्रावण्यां पौर्णमास्यां क्रियेतापि वा आषाढ्याम्। बौ० गृ० ३।१।१-२; श्रावणपक्षे ओषधीषु जातासु हस्तेन पौर्णमास्यां वाध्यायोपाकर्म। हिरण्यकेशिगृ० २।१८।२।

पूर्णमासी या पंचमी को या कुछ लोगों के मत से श्रावण की पूर्णमासी को किया जाना चाहिए। बौधायनगृ० (३।१२) के मत से उपाकर्म श्रावण या आषाढ़ की पूर्णमासी को सम्पादित करना चाहिए। मनु (४।९५) ने उपाकर्म के लिए श्रावण या भाद्रपद की पूर्णमासी ठीक समझी है। इसी प्रकार विभिन्न मत हैं। इसी से मिताक्षरा ने अपने-अपने गृह्यसूत्र के अनुसार चलने को कहा है। संस्कारप्रकाश (पृ० ४९७-४९८), स्मृतिमुक्ताफल (पृ० ३२-३३), निर्णयसिन्धु (११४-१२०) ने विभिन्न तिथियों का निराकरण किया है। श्रावण मास ही वेदाध्ययन के लिए क्यों चुना गया, इसका कारण बताना कठिन है। हो सकता है, वर्षा हो जाने से यह समय अपेक्षाकृत ठण्डा रहता है, ब्राह्मण लोग बहुधा इन दिनों घर पर ही रहते हैं और प्रकृति में हरियाली के कारण सौन्दर्य निखर उठता है। श्रावण मास की पूर्णमासी सर्वोत्तम दिन समझा जाता है ('सोम' दूसरे अर्थ में ब्राह्मणों का राजा कहा जाता है)। पूर्णमासी के अतिरिक्त हस्त नक्षत्र की शुक्ल पंचमी तिथि सर्वोत्तम मानी जाती है। श्रवण नक्षत्र का योग होने के कारण श्रावण की पूर्णमासी को श्रावणी भी कहते हैं, अतः वेदाध्ययन के वार्षिक सत्र-प्रारम्भ के लिए श्रवण नक्षत्र को विशिष्ट महत्ता दी जाने लगी। वास्तव में श्रवण नक्षत्र का उपाकर्म से कोई सीधा सम्पर्क नहीं था। क्योंकि बहुत-से सूत्रों ने उसका उल्लेख तक नहीं किया है। गोभिल एवं खादिर ने श्रावण की श्रावणी (पूर्णमासी) को न मानकर भाद्रपद एवं हस्त नक्षत्र को उपाकर्म के लिए महत्ता दी है। हस्त के देवता हैं सविता, वेदाध्ययन गायत्री मंत्र से आरम्भ होता है, अतः वेदाध्ययन के लिए उपाकर्म का सम्बन्ध हस्त नक्षत्र से हो सकता है।

उपाकर्म प्रातःकाल किया जाता है। यह ब्रह्मचारियों, गृहस्थों एवं वानप्रस्थों द्वारा सम्पादित होता है। अध्यापक शिष्यों (चाहे वे ब्रह्मचारी हों या न हों) के साथ करते हैं और अपनी गृह्याग्नि में ही होम करते हैं (पारस्करगृ० २।११)। पारस्करगृ० के टीकाकार कर्क के कथनानुसार यदि अध्यापक या गुरु के पास शिष्य न हों तो उसे गृह्याग्नि में उपाकर्म करने का कोई अधिकार नहीं है। हरिहर का कहना है कि साधारण लौकिक अग्नि में वेदपाठी छात्र के साथ उपाकर्म करना प्रामाणिक नहीं है, यह केवल व्यवहार मात्र है।

विधि—आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।५।४-१२) में उपाकर्म की विधि यों वर्णित है—दो आज्यभागों (घृत के कुछ अंश) की आहुतियाँ देने के उपरान्त निम्नलिखित देवताओं को आज्य देना चाहिए, यथा सावित्री, ब्रह्मा, श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धारणा (स्मृति), सदसस्पति, अनुमति, छन्द एवं ऋषि। इसके उपरान्त जौ के आटे (सक्तु) में दही मिलाकर आहुतियाँ ऋग्वेद के मंत्रों के साथ दी जाती हैं, ये मन्त्र हैं—१।१।१, १।१९१।१६, २।४३।३, ३।६२।१८, ४।५८।११, ५।८७।९, ६।७५।१९, ७।१०४।२५, ८।१०३।१४, ९।११४।४, १०।१९१।४। वेदाध्ययन प्रारम्भ करते समय, जब अन्य शिष्य गुरु के साथ हो लेते हैं (उसका हाथ पकड़ कर बैठ जाते हैं) तब उसे देवताओं के लिए हवन करना चाहिए, तदनन्तर स्विष्टकृत् अग्नि को आहुति देनी चाहिए और सक्तु (जौ का आटा) के साथ मिश्रित दही खाकर मार्जन करना चाहिए। अग्नि के पश्चिम ऐसे दर्भासन पर बैठकर जिसकी नोकें पूर्व की ओर हों, कुश-पवित्रों को जलपात्र में रख देना चाहिए, इसके उपरान्त आचार्य महोदय ब्रह्माञ्जलि के रूप में हाथों को जोड़कर शिष्यों के साथ निम्न पाठ करते हैं—ओम् के साथ तथा केवल तीनों व्याहृतियाँ, सावित्री मन्त्र (ऋग्वेद ३।६२। १०) का तीन बार पाठ तथा ऋग्वेद का प्रारम्भिक अंश (केवल एक मन्त्र या एक अनुवाक)।

अन्य गृह्यसूत्रों में मन्त्रों, देवताओं एवं आहुति के पदार्थों के विषय में बहुत-से मत हैं। हम यहाँ स्थानाभाव के कारण मतमतान्तर में नहीं पड़ेंगे। पाठकों से अनुरोध है कि विस्तार के लिए वे पारस्करगृह्यसूत्र (२।१०) का अध्ययन करें।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र (८।१-२) ने बहुत संक्षेप में उपाकर्म का वर्णन किया है। उसका कहना है कि वेदाध्ययन प्रारम्भ एवं समाप्त करने के कृत्यों के समय काण्ड (तैत्तिरीयसंहिता के भाग) के ऋषि ही देवता होते हैं, उन्हीं को

प्रमुखता दी जाती है और दूसरे स्थान पर सदसस्पति की पूजा होती है। सुदर्शनाचार्य ने इस गृह्यसूत्र के दोनों सूत्रों की लंबी व्याख्या की है जो संक्षेप में यों है—सम्पूर्ण वेद (कृष्ण यजुर्वेद) के अध्ययन का प्रारम्भ (उपाकर्म) श्रावण की पूर्णमासी को होता है, ऋषियों का तर्पण होता है, जिन्हें आज्य की नौ आहुतियाँ दी जाती हैं और नवीं आहुति 'सदसस्पतिम्' (ऋग्वेद १।१८।६—आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ १।९।८) के साथ दी जाती है। किन्तु जब किसी काण्ड का प्रारम्भ होता है तो दूसरा उपाकर्म होता है और इसके लिए भी होम किया जाता है।

क्रमशः गृह्यसूत्रों में वर्णित सीधी उपाकर्म-विधि में बहुत-से निरर्थक विस्तार जुड़ते चले गये। आधुनिक काल में बड़े विस्तार के साथ उपाकर्म सम्पादित होता है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ कोई विस्तार नहीं दे पा रहे हैं

उपाकर्म कृत्य के उपरान्त गृह्यसूत्रों ने अनध्याय (छुट्टी) की व्यवस्था दी है, किन्तु अनध्याय की अवधि के विषय में मतैक्य नहीं है। पारस्करगृह्यसूत्र (२।१०) ने तीन दिन-रात के लिए अनध्याय सूचित किया है और कहा है उस अवधि में बाल बनवाना एवं नाखून कटवाना वर्जित है। कुछ लोगों के मत से उत्सर्जन तक अर्थात् लगभग ५॥ महीने तक के लिए बाल एवं नाखून कटवाना वर्जित माना गया है। शांखायनगृह्यसूत्र (४।५।१७) एवं मनु (४।११९) ने उपाकर्म एवं उत्सर्जन के उपरान्त तीन दिनों की छुट्टी (अनध्याय) की बात कही है। अन्य मतों के लिए देखिए गोभिलगृह्यसूत्र (३।३।९ एवं ११), भारद्वाजगृह्यसूत्र (३।८)।

उत्सर्जन

काल एवं तिथि—उत्सर्जन के काल के विषय में भी विभिन्न मत हैं। बौधायनगृ० (१।५।१६३) ने पौष या माघ की पूर्णमासी तिथि को उपयुक्त माना है। आश्वलायनगृ० (३।५।१४) ने वेदाध्ययन के लिए उपाकर्म से उत्सर्जन तक ६ मास की अवधि ठहरायी है, अतः यदि उपाकर्म श्रावणी (श्रावण की पूर्णिमा) को सम्पादित हुआ तो माघ की पूर्णिमा को उत्सर्जन होगा। पारस्करगृ० (२।११) के मत से ५॥ या ६ मास तक वेदाध्ययन करके गुरु एवं शिष्यों को उत्सर्जन (उत्सर्ग अर्थात् वेदाध्ययन की आवधिक समाप्ति) करना चाहिए। इसी प्रकार गोभिलगृ० (३।३।१४), खादिरगृ० (३।२।२४), शांखायन गृह्य० (४।६।१) ने क्रम से तैष (पौष) की पूर्णमासी, वही अर्थात् पौष की पूर्णिमा, माघ के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को उत्सर्जन की तिथि माना है। इसी प्रकार अन्य धर्मशास्त्रकारों ने अपने मत दिये हैं, जिनमें काल ४॥, ५ या ५॥, ६ या ६॥ महीनों तक बतलाया गया है। फलतः पौष या माघ मास ही उत्सर्जन के लिए उपयुक्त माना गया है।

विधि—आश्वलायनगृह्य० (३।५।१३) ने उपाकर्म से उत्सर्जन तक की विधि का वर्णन किया है। उत्सर्जन में घृत के स्थान पर पके हुए चावल की आहुतियाँ दी जाती हैं, उसके उपरान्त स्नान तथा देवताओं, आचार्यों, ऋषियों, पितरों (जैसा कि ब्रह्मयज्ञ में होता है) को तर्पण किया जाता है। नारायण के मत से उपाकर्म के समान उत्सर्जन में जौ के सत्तू में दही मिश्रित करके खाना तथा मार्जन नहीं होता है। पारस्करगृह्य० (२।१२) ने उत्सर्जन की विधि इस प्रकार दी है—उन्हें (आचार्य एवं शिष्यों को) जल के किनारे (नदी, तालाब आदि० पर) जाना चाहिए, देवताओं, छन्दों, वेदों, ऋषियों, प्राचीन आचार्यों, गन्धर्वों, अन्य गुरुओं, विभाग के साथ वर्ष, पितरों, आचार्यों तथा उनके मृत सम्बन्धियों का तर्पण करना चाहिए। इसके उपरान्त सावित्री का शीघ्रता से चार बार पाठ करके कहना चाहिए—'हमने (वेदाध्ययन) बन्द कर दिया।' उत्सर्जन में भी उपाकर्म की भाँति अनध्याय होता है और तदनंतर वेदपाठ अर्थात् पढ़े हुए वेदमन्त्रों का दुहराना होता है। इस विषय में अन्य मत देखिए गोभिल (३।३।१५), मनु (४।९७) एवं याज्ञवल्क्य (१।१४४)।

कई महीनों तक वेदाध्ययन छोड़ देना सम्भवत: अच्छा नहीं माना जाता था, अतः मनु (४।९८), वसिष्ठ-धर्मसूत्र तथा औशनस (पृ० ५१५) ने उत्सर्जन के उपरान्त उपाकर्म तक महीनों के शुक्ल पक्षों में वेदाध्ययन तथा कृष्ण पक्षों में या जैसी इच्छा हो, वेदांगों का अध्ययन करने की व्यवस्था दी है। क्रमशः पौष एवं माघ के उत्सर्जन कृत्य की परम्परा समाप्त हो गयी। मानवगृह्य (१।५१) की टीका में अष्टावक्र ने अपने समय की भर्त्सना की है जब कि उत्सर्जन कृत्य बन्द सा हो गया था। स्मृत्यर्थसार (पृ० ११) ने लिखा है कि उपाकर्म के पश्चात् एक वर्ष तक वेदाध्ययन करने के उपरान्त उपाकर्म के दिन उत्सर्जन किया जा सकता है या नहीं भी किया जा सकता है। आजकल उत्सर्जन उसी दिन सम्पादित होता है जिस दिन उपाकर्म होता है। ये दोनों श्रावणी (श्रावण की पूर्णिमा) को या श्रवण नक्षत्र में या श्रावण शुक्ल पञ्चमी को सम्पादित होते हैं, अतः इन्हें श्रावणी भी कहते हैं।

अध्याय २४

अप्रधान गृह्य तथा अन्य कृत्य

गृह्यसूत्रों ने वर्ष की कुछ निश्चित तिथियों के कुछ अन्य कृत्यों का वर्णन किया है। अब इनकी बहुत-सी विधियाँ समाप्त हो चुकी हैं, किन्तु कुछ के अवशेष चिह्न अब भी पाये जाते हैं। गौतम (८।१९) ने अपने चालीस संस्कारों में सात पाकयज्ञ-संस्थाओं की भी गणना की है। इन सात पाकयज्ञों में अष्टका, पार्वण एवं श्राद्ध का वर्णन हम श्राद्ध नामक अध्याय में आगे करेंगे। सात हविर्यज्ञों एवं सात सोमसंस्थाओं का वर्णन श्रौत-सम्बन्धी टिप्पणी में किया जायगा। कुछ कृत्यों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

पार्वण स्थालीपाक

गौतम द्वारा वर्णित सात पाकयज्ञ-संस्थाओं में एक है **पार्वण स्थालीपाक**। जब कोई विवाह करके पत्नी को घर लाता है तो उस नव-विवाहिता से बहुत-से भोज्य पदार्थ पकवाकर उन्हें देवताओं को अग्नि-होम द्वारा अर्पित करता है। पत्नी चावल कूटती है और उससे स्थालीपाक बनाती है। वह भोजन पकाकर उस पर आज्य छिड़कती है और अग्नि से उठाकर ले जाती है। तब पति उसे वैदिक दर्श-पूर्णमास के देवताओं को चढ़ाता है और फिर स्विष्टकृत् अग्नि को देता है। बचे हुए भोजन को वह एक विद्वान् ब्राह्मण को देता है और उसे एक बैल दक्षिणा में देता है। उस समय से गृहस्थ सभी पूर्णिमा एवं अमावस्या के दिनों में ऐसा ही पका भोजन अग्नि को चढ़ाता है। जो व्यक्ति तीन वैदिक अग्नियाँ नहीं प्रतिष्ठित करता, उसका स्थालीपाक द्रव्य अग्नि के लिए (आग्नेय) होता है। जो तीनों वैदिक अग्नियाँ स्थापित रखता है उसका पूर्णिमा वाला स्थालीपाक **अग्नीषोमीय** एवं अमावस्या वाला **ऐन्द्र** या **महेन्द्र** या **ऐन्द्राग्न** कहलाता है (खादिरगृह्यसूत्र २।२।१-३, आश्वलायनगृह्यसूत्र १।३।८-१२)। पति एवं पत्नी पूर्णिमा एवं अमावस्या के दिन उपवास करते हैं या केवल एक बार प्रातःकाल खाते हैं। संक्षेप में यह पार्वण स्थालीपाक है। यह विवाहोपरान्त प्रथम पूर्णिमा को प्रारम्भ होकर पति-पत्नी के जीवन भर चलता रहता है। बैल की दक्षिणा केवल प्रथम बार ही होती है, जीवन भर नहीं। विस्तार के लिए देखिए आश्वलायनगृ० (१।१०), आपस्तम्बगृ० (७।१-१९), संस्कारकौस्तुभ (पृ० ८२३) एवं संस्कारप्रकाश (पृ० ९०४-६)।

चैत्री

यह कृत्य चैत्र मास की पूर्णिमा को होता है। गौतम (८।१९) की टीका में हरदत्त ने लिखा है कि आपस्तम्ब-गृ० (१९।१३) के अनुयायियों के लिए चैत्री शूलगव (ईशानबलि) के समान है। वैखानस (४।८) ने इसका वर्णन किया है---चैत्र की पूर्णिमा को घर स्वच्छ एवं अलंकृत किया जाता है; पति-पत्नी नये वस्त्र, पुष्प आदि से अलंकृत होते हैं, अग्नि में जब दो आघार[1] दे दिये जाते हैं तथा देवों के लिए पात्र में चावल पका लिया जाता है तो 'ग्रीष्मो हेमन्तः'

१. लगातार एक धार से घृत का अग्नि में डालना 'आघार' का सूचक होता है। यह आघार प्रजापति के लिए उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व में तथा इन्द्र के लिए दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व में होता है।

(तैत्तिरीयसंहिता ५।७।२।४), 'ऊनं मे पूर्यताम्', 'श्रिये जातः' (ऋग्वेद ९।९४।४), 'वैष्णवम्' (तैत्तिरीयसंहिता १।२।१३।३) नामक मन्त्रों के साथ घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं, तब पके हुए चावल को घी में मिश्रित कर मधु,[२] माधव, शुक्र, शुचि, नमः, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहः, सहस्य, तपः, तपस्य को, ऋतुओं, ओषधियों, ओषधिपतियों, श्री, श्रीपति तथा विष्णु को आहुतियाँ दी जाती हैं; अग्नि के पश्चिम श्री की एवं पूर्वाभिमुख श्रीपति की पूजा करके हवि अर्पित की जाती है। इसके उपरान्त अन्न की स्तुति के साथ पका हुआ चैत्र्य भोजन ब्राह्मणों को देकर सपिण्ड लोगों की संगति में स्वयं खा लिया जाता है।

सीतायज्ञ

इस यज्ञ का तात्पर्य है "जोते हुए खेत का यज्ञ।" गोभिलगृह्य० (४।४।२७) में इस यज्ञ का संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है। यह यज्ञ स्मार्त या औपासन अग्नि वाले व्यक्ति द्वारा खेत जोतने के समय किया जाता है। शुभ मुहूर्त में यज्ञ का भोजन बनाकर इन देवताओं को आहुतियाँ दी जाती हैं—इन्द्र, मरुद्गण, पर्जन्य, अशनि एवं भग। सीता, आशा, अरडा एवं अनघा को घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं। पारस्करगृ० (२।१७) में यह यज्ञ विस्तार से वर्णित है, जिसे हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं। पारस्करगृह्य० (२।१३) ने हल को निकालने एवं जोतने के प्रयोग में लाने के समय कई प्रकार के कृत्यों का वर्णन किया है। (उत्तर प्रदेश में भी कहीं कहीं 'समहुत' के समय कुछ ऐसी ही पूजा आज भी की जाती है।)

श्रावणी या श्रवणाकर्म एवं सर्पबलि

गृह्यसूत्रों में आश्वलायन (२।१।१-१५), पारस्कर (२।१४), गोभिल (३।७।१-२३), शांखायन (४।१५), भारद्वाज (२।१), आपस्तम्ब आदि ने इन दोनों कृत्यों का वर्णन किया है। ये कृत्य श्रावण की पूर्णमासी को सम्पादित होते हैं। आश्वलायनगृ० ने इनका वर्णन निम्न रूप से किया है—"एक नये घड़े में भुने हुए जौ रखकर उसे एक नये शिक्य (सिकहर—घड़ा आदि रखने के लिए पतली छड़ियों से बने ढांचे) पर बलि देने के लिए एक चम्मच के साथ रख दिया जाता है। जौ के भुने हुए अन्न का आधा भाग घृत में मिला दिया जाता है। सूर्यास्त के समय स्थालीपाक भोजन बनाया जाता है और मृत्पात्र पर एक रोटी पकायी जाती है तथा चार मन्त्रों (ऋग्वेद १।१८९।१-४) के साथ भोजन की आहुतियाँ दी जाती हैं। रोटी घृत में पूर्णरूपेण डुबो दी जाती है या उसका ऊपरी भाग दिखाई पड़ता रहना चाहिए। रोटी का मन्त्र के साथ (ऋग्वेद १।१८९-५) हवन कर सारा घृत (जिसमें रोटी डुबोयी गयी थी) उड़ेल दिया जाता है। इसके उपरान्त भुना हुआ जौ अंजलि में लेकर अग्नि में डाला जाता है। जिस भुने जौ में घृत नहीं मिश्रित रहता वह अन्य लोगों (पुत्र आदि) को दे दिया जाता है। घड़े में से जौ का अन्न चम्मच में भरकर घर के बाहर पूर्वाभिमुख एक पवित्र स्थल पर पानी गिराया जाता है और सर्पों को वह भुना अन्न दिया जाता है ('सर्पदेवजनेभ्यः स्वाहा' कहा जाता है) और उनकी सब प्रकार से अभ्यर्थना कर पूजा की जाती है और बलि दी जाती है। इस प्रकार सर्प-पूजा का एक लम्बा विधान है, जिसका विस्तार स्थानाभाव के कारण छोड़ा जा रहा है। पारस्करगृ० (२।१४) ने सर्प-बलि का लम्बा विस्तार दिया है। पति की अनुपस्थिति में पत्नी सर्पबलि कर सकती है।

२. मधु से लेकर तपस्य तक प्राचीन काल के महीनों के नाम हैं (तैत्तिरीय संहिता १।४।१४।१) एवं वाजसनेयी संहिता ७।३०)।

सर्प-दंश के भय से ही सर्प-पूजा की परम्परा चली है। सर्प-पूजा बहुत प्राचीन है (तैत्तिरीयसंहिता ४।२।८।३)। इस विषय में अथर्ववेद (८।७।२३ एवं ११।९।१६ एवं २४) में दिये गये सर्पों के नाम प्रसिद्ध हैं, यथा तक्षक, धृतराष्ट्र एवं ऐरावत। वर्षा के दिनों में साँपों का विशेष भय होता है, क्योंकि वे बिलों में जल प्रवेश हो जाने के कारण तथा चूहे, मेंढक आदि आहार के लिए बस्ती में आ जाते हैं। इसी से लोग श्रावण मास में सर्पयज्ञ, सर्पपूजा या नागपूजा करते थे। फिर लगातार चार महीनों, अर्थात् मार्गशीर्ष की पूर्णमासी तक प्रति दिन सर्पों को बलि दी जाती थी। मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को ही प्रत्यवरोहण (पुनः उतरना, अर्थात् पलंग से उतरकर पृथिवी पर सोना) भी होता था। महाभारत में नागों की चर्चा बहुधा हुई है (आदिपर्व ३५ एवं १२३।७१; उद्योगपर्व १०३, ९-१६; अनुशासनपर्व १५०।४१), जहाँ वासुकि, अनन्त आदि सात सर्पों के नाम आये हैं। अनुशासनपर्व (१४।५५) में शिव को अपने शरीर पर यज्ञोपवीत की भाँति नाग रखने वाला कहा गया है। पुराणों में भी नागों के विषय में कहानियाँ हैं। नागपूजा दक्षिण भारत में खूब होती है। आजकल नागपूजा श्रावणी (श्रावण की पूर्णमासी) को न होकर श्रावण शुक्ल पञ्चमी को होती है। इस तिथि को आजकल नागपंचमी कहा जाता है। व्रतों के उल्लेख में हम नागपंचमी के विषय में थोड़ा विवरण देंगे। भारत में जितने प्रकार के सर्प पाये जाते हैं उतने कहीं भी नहीं देखने में आते और अन्य देशों की अपेक्षा भारत में सर्प-दंश से प्रति वर्ष सहस्रों व्यक्ति मर जाते हैं।

नागबलि

कुछ मध्यकालिक निबन्धों तथा संस्कारकौस्तुभ (पृ० १२२) में नागबलि नामक कृत्य का वर्णन मिलता है। यह कृत्य सिनीवाली (वह दिन जब चन्द्र दिखाई पड़ता है, किन्तु दूसरे दिन अमावस्या पड़ जाती है) के दिन या पूर्णिमा के दिन या पंचमी या नवमी को (जब चन्द्र आश्लेषा नक्षत्र में रहता है, इस नक्षत्र के देवता हैं सर्प) सम्पादित होता है। यह कृत्य या तो सर्पों को मार देने पर पाप-मोचन के लिए किया जाता है, या सन्तान उत्पन्न होने के लिए (सर्प मार देने के कारण सर्प-क्रोध शान्त्यर्थ) किया जाता है। चावल, गेहूँ या सरसों के आटे की एक सर्पाकृति बनायी जाती है, तब उसका सोलहों उपचारों के साथ पूजन होता है और पायस (चावल-दूध या खीर) की बलि दी जाती है। घृत की एक आहुति 'ओम्' एवं तीन व्याहृतियाँ कहकर सर्पाकृति के मुँह में दी जाती है और आज्य का शेषांश उसके शरीर पर छिड़क दिया जाता है। तैत्तिरीय संहिता (४।२।८।३) एवं कुछ पुराणों के मंत्र पढ़े जाते हैं और सर्पाकृति अग्नि में जला दी जाती है। इसके उपरान्त पति अपनी पत्नी के साथ तीन दिनों या एक दिन का अशौच मनाता है। तब ८ ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया जाता है। वे जली हुई सर्पाकृति के स्थान पर कल्पित रूप से खड़े होते हैं, तब वे सोलहों उपचारों से पूजे जाते हैं, भोजन एवं दक्षिणा दी जाती है। इसके उपरान्त जलपूर्ण घड़े (कलश) में सोने की सर्पाकृति रखी जाती है और वह आकृति या एक गाय ब्राह्मण को दान कर दी जाती है।

इन्द्रयज्ञ

प्रोष्ठपद (भाद्रपद) की पूर्णमासी के दिन इन्द्रयज्ञ होता था। इसका वर्णन हमें पारस्करगृ० (२।१५) में प्राप्त होता है। इन्द्रयज्ञ संक्षेप में इस प्रकार है—इन्द्र के लिए पायस एवं रोटियाँ पकाकर अग्नि के चतुर्दिक् चार रोटियाँ रखकर और दो आज्यभाग देकर इन्द्र को पायस दिया जाता है; आज्य-आहुतियाँ इन्द्र, इन्द्राणी, अज एकपाद, अहिर्बुध्न्य एवं प्रोष्ठपदाओं को दी जाती हैं; इन्द्र को पायस दिया जाता है, इन्द्र को देने के उपरान्त मरुतों को बलि दी जाती है (क्योंकि मरुत अहुत को खाते हैं—शतपथब्राह्मण ४।५।२।१६); मरुतों को बलि अश्वत्थ के पत्तों पर दी जाती है (क्योंकि मरुत अश्वत्थ वृक्ष पर रहते हैं—शतपथब्राह्मण ४।३।३।६)। वाजसनेयी संहिता (१७।८०-

८५) एवं शतपथब्राह्मण (९।३।१।२६) और पुनः वाजसनेयी संहिता (१७।८६) के मन्त्रों का पाठ होता है और अन्त म ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है।

कौशिकसूत्र (१४०) ने राजाओं के लिए इन्द्र के सम्मान में एक उत्सव करने की विधि का वर्णन किया है। यह उत्सव भाद्रपद या आश्विन के शुक्लपक्ष की अष्टमी को किया जाता है। इसमें श्रवण नक्षत्र में एक झंडा खड़ा किया जाता है। याज्ञवल्क्य (१।१४७) ने इन्द्र का झंडा फहराने एवं उतारने के दिन को अनध्याय (छुट्टी) घोषित किया है। अपरार्क ने गर्ग को उद्धृत कर बताया है कि राजा द्वारा पताका भाद्रपद शुक्ल पक्ष की द्वादशी को फहरायी जाती है (जब कि चन्द्र उत्तराषाढ़, श्रवण या धनिष्ठा में रहता है) तथा भाद्रपद की पूर्णमासी या भरणी को उतारी जाती है। कृत्यरत्नाकर (पृ० २९२-९३) में आया है कि इस उत्सव के दिनों में ईख के टुकड़ों के बने इन्द्र, शची (इन्द्राणी या इन्द्र की स्त्री) एवं जयन्त (इन्द्र के पुत्र) की मूर्तियों (आकृतियों) की पूजा होती है, पताकाएँ शनिवार या मंगल या जन्म-मरण के अशौच के दिन या भूकम्प के दिन नहीं खड़ी की जाती हैं। आदिपर्व (६३।१-२९) से पता चलता है कि इस उत्सव (इन्द्रमह) का प्रारम्भ उपरिचर वसु ने किया था। वहाँ ऐसा आया है कि इन्द्र ने राजा को वानप्रस्थ ग्रहण करने से रोका और चेदि राज्य पर राजा रूप में बने रहने को विवश किया। इन्द्र ने राजा को एक बाँस का डण्डा प्रीति-उपहार के रूप में दिया। राजा ने कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए उस डण्डे को पृथिवी में गाड़ दिया। तब से प्रति वर्ष राजा तथा अन्य साधारण लोग बाँस के डण्डे पृथिवी में गाड़ने लगे और दूसरे दिन उसमें सुगन्धित द्रव्य एवं आभूषण आदि बाँधकर मालाएँ लटकाने लगे। यह सम्भव है कि चैत्र मास के प्रथम दिन दक्षिण भारत एवं अन्य स्थानों में बाँस गाड़ने की जो प्रथा है, वह सम्भवतः इन्द्र के सम्मान में ध्वजा खड़ी करने की परम्परा की ही द्योतक हो। ब्रह्मसंहिता (अध्याय ४३) ने इन्द्रमह उत्सव मनाने की विधि का वर्णन लगभग ६० श्लोकों में किया है। हम स्थानाभाव से उस विधि का वर्णन नहीं कर रहे हैं।

आश्वयुजी

गौतम (८।१९) ने अपने ४० संस्कारों के अन्तर्गत सात पाकयज्ञों में आश्वयुजी की भी परिगणना की है। आश्वलायनगृ० (२।२।१-३) ने इस कृत्य का वर्णन यों किया है—आश्वयुज अर्थात् आश्विन की पूर्णिमा को आश्वयुजी कृत्य किया जाता है। घर को अलंकृत करके, स्नानोपरान्त स्वच्छ श्वेत वस्त्र धारण कर पका हुआ भोजन "पशुपतये शिवाय शंकराय पृषातकाय स्वाहा" मंत्र के साथ पशुपति को देना चाहिए। चावल एवं घृत मिलाकर उसे अञ्जलि से "ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मोपसदत् पृषातकाय स्वाहेति" मन्त्र के साथ देना चाहिए।

शांखायनगृह्य (४।१६) का कहना है कि इस कृत्य में घृत की आहुतियाँ अश्विनी, अश्वयुक् नक्षत्र के दोनों तारों, आश्विन की पूर्णिमा, शरद् एवं पशुपति को दी जानी चाहिए; आज्य का दान ऋग्वेद के मन्त्र "आ गावो अग्मन्" के साथ होना चाहिए। उस दिन रात्रि में बछड़े अपनी माताओं का दूध पीने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। पारस्करगृ० (२।१६) ने इस कृत्य को "पृषातकाः" कहा है, गोभिलगृह्य० (३।८।१) ने 'पृषातक' नाम दिया है। और देखिए खादिरगृ० (३।३।१-५) एवं वैखानस (४।९)।

आग्रयण

बहुत-से गृह्यसूत्रों म आश्वयुजी के उपरान्त आग्रयण कृत्य का वर्णन हुआ है। गोभिलस्मृति (पद्य, ३।१०३) एवं मनु (४।२७) ने इसे क्रम से नवयज्ञ एवं नवसस्येष्टि कहा है। यह वह कृत्य है जिसमें "नव फल (उपज) सर्वप्रथम

देवों को दिये जाते हैं" या जिसमें "नव अन्न सर्वप्रथम दिया या खाया जाता है।"[3] आश्वलायनश्रौतसूत्र (२।९) के अनुसार आग्रयण इष्टि केवल आहिताग्नियों (जिन्होंने तीनों वैदिक अग्नि स्थापित की हों) द्वारा ही की जानी चाहिए। नारायण ने टीका में लिखा है कि आहिताग्नि को श्रौतसूत्र के अनुसार नव अन्न का यज्ञ करना चाहिए, यदि कठिनाई हो तो यह कृत्य आश्वलायनगृ० (२।२।४) के अनुसार त्रेता अग्नियों में भी किया जा सकता है तथा जिन्होंने तीन अग्नियाँ न जलायी हों तो वे शाला (अर्थात् औपासन) अग्नि में भी इसे कर सकते हैं। चावल, जौ एवं श्यामाक नामक अन्नों का उपयोग बिना आग्रयण किये नहीं हो सकता था। किन्तु अन्य अन्नों एवं शाकों के प्रयोग के विषय में ऐसी बात नहीं थी। श्रौत आग्रयण के देवता तीन हैं, यथा इन्द्राग्नी (या अग्नीन्द्रौ), विश्वे देव एवं द्यावापृथिवी, किन्तु गृह्य आग्रयण में स्विष्टकृत् अग्नि भी जोड़ दिया गया है। आश्वलायनगृह्य० (२।२।४-५) में इस कृत्य का वर्णन है, जिसे हम यहाँ स्थानाभाव से नहीं दे रहे हैं। इस कृत्य का वर्णन आपस्तम्बगृ० (१९।६-७), शांखायनगृ० (३।८), पारस्करगृ० (३।१), गोभिलगृ० (३।८।९-२४), खादिरगृ० (३।३।६-१५), वैखानस (४।२), मानवगृ० (२।३।९-१४) आदि में भी पाया जाता है। वैखानस ने देवताओं के साथ पितरों को भी जोड़ दिया है। मानवगृ० ने वसन्त में किसी पर्व के दिन जौ अन्न का तथा शरद् में चावल का-इस कृत्य के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। वैखानस ने बिना आग्रयण कृत्य किये नवान्न प्रयोग करने पर पादकृच्छ्र प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है (६।१९)।

आग्रहायणी

यह कृत्य गौतम (८।१९) द्वारा वर्णित चालीस संस्कारों में परिगणित है, और सात पाकयज्ञों में एक पाकयज्ञ है। मार्गशीर्ष (अगहन) की पूर्णमासी को आग्रहायणी कहा जाता है, अतः उस दिन जो कृत्य सम्पादित हो उसे भी वही संज्ञा मिली है। इसमें **प्रत्यवरोहण कृत्य** द्वारा पर्यंक एवं खाटों पर सोना छोड़ दिया जाता है। शांखायनगृ० (४।१५। २२) के मत से श्रावणी (श्रावण मास की पूर्णमासी) से लोग पृथिवी पर सोना छोड़ देते हैं, क्योंकि सर्प-दंश का डर रहता है। कुछ लोग **आग्रहायणी** एवं **प्रत्यवरोहण** को दो विशिष्ट कृत्य मानते हैं, जिनमें प्रथम मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को तथा दूसरा हेमन्त की प्रथम रात्रि को मनाया जाता है (देखिए आपस्तम्बगृह्य १९।३-५ एवं ८-१२)। इस कृत्य के काल एवं विधि के विषय में कई मत हैं, जिनके पचड़े में हम यहाँ नहीं पड़ेंगे। पारस्करगृ० (३।२) एवं गोभिलगृ० (३।९।१-२३) में इसके विषय का विस्तार दिया हुआ है। आजकल यह कृत्य बिल्कुल नहीं किया जाता, अतः बहुत ही संक्षेप में यहाँ इसका वर्णन किया जा रहा है। घर को पुनः (अर्थात् 'आश्वयुजी' के उपरान्त) स्वच्छ किया जाता है (लीपा-पोता जाता है, चिकनी मिट्टी तथा गोबर से स्वच्छ करने की प्रथा रही है)। फर्श को समतल कर दिया जाता है। सायंकाल पायस की आहुतियाँ दी जाती हैं। इसमें स्विष्टकृत् अग्नि को आहुति नहीं दी जाती। अग्नि के पश्चिम में घास बिछा दी जाती है जिस पर गृहस्थ अपने घर वालों के साथ सिर को पूर्व दिशा में रखकर उत्तराभिमुख हो ऋग्वेद (१।२२।१५) के मन्त्र के साथ बैठ जाता है। इसी प्रकार मन्त्रों के उच्चारण के साथ सबको उठना पड़ता है। ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। अंगुत्तर-निकाय (पालि-ग्रन्थ) में भी 'पच्चोरोहनिवग्ग' नामक खण्ड में ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित प्रत्यवरोहण कृत्य का वर्णन है। इस कृत्य का वर्णन अन्य गृह्यसूत्रों में भी पाया

३. आपस्तम्बगृह्य० (१९।६) की टीका में सुदर्शन लिखते हैं—येन कर्मणा अग्रं नवद्रव्यं देवान्प्रापयतीति यत्कर्म कृत्वैव वाग्रयणं प्रथमायनं नवान्नप्राशनप्राप्तिर्भवतीति। हरदत्त ने इसकी व्याख्या में कहा है—एतिरत्र प्राशनार्थः।

जाता है, यथा खादिर (३।३।१-२६), गोभिल (३।९), मानव (२।७।१-५), भारद्वाज (२।२), आपस्तम्ब (२।१७।१)। बौधायन (२।१०) ने प्रत्यवरोहण नामक कृत्य का वर्णन किया है जो सभी ऋतुओं के आरम्भ में तथा अधिक मास (मलमास) में किया जाता था, किन्तु यह कृत्य दूसरा ही है, आग्रहायणी नहीं।

शूलगव या ईशानबलि

आरम्भिक रूप में यह कृत्य शिव को बैल का मांस देने से सम्बन्धित था। इसके काल के विषय में मतभेद है। आश्वलानगृह्य० (४।९।२) के अनुसार यह शरद् या वसन्त में आर्द्रा नक्षत्र में किया जाता था। किन्तु बौधायनगृ० (२।७।१-२) के मत से यह मार्गशीर्ष की पूर्णिमा या आर्द्रा नक्षत्र में सम्पादित होना चाहिए। इसी प्रकार अन्य मत भी हैं। इस कृत्य के नाम के विषय में कई व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं। नारायण ने कहा है कि यहाँ 'शूल' का अर्थ है वह जो नोकीला दण्ड रखे, अर्थात् शिव, जिनको 'शूली' कहा जाता है और इस यज्ञ में बैल यज्ञपशु के रूप में शूली रुद्र को दिया जाता है। हरदत्त का कहना है कि इसमें बैल पर (शिव के) दण्ड का चिह्न अंकित होता है।

इस कृत्य का वर्णन इन गृह्यसूत्रों में पाया जाता है—आश्वलायन (४।९), बौधायन (२।७), हिरण्यकेशि (२।८-९), भारद्वाज (२।८-१०), पारस्कर (३।८)। लगता है कि गृह्यसूत्रों के कालों में भी बहुत लोग इस कृत्य को नहीं पसन्द करते थे, क्योंकि बौधायन (२।७।२६-२७) में आया है कि बैल न मिलने पर बकरा या भेड़ा दिया जा सकता है या ईशान के लिए केवल स्थालीपाक पर्याप्त है। काठक (५२।१) के टीकाकार देवपाल का कहना है कि केवल बकरा चढ़ाया जाता है, क्योंकि लोग वृषभ-बलि के पक्ष में नहीं हैं।[४] यह कृत्य अब नहीं किया जाता, अतः बहुत संक्षेप में हम इसका वर्णन कर रहे हैं। मानवगृह्य० (२।५।१-६) का कहना है—रुद्र के अनुरंजन के लिए शरद् में शूलगव कृत्य किया जाता है। रात्रि में ग्राम की उत्तर-पूर्व दिशा में कुछ दूर पर बैलों के बीच में एक यूप गाड़ दिया जाता है। स्विष्टकृत् अग्नि के होम के पूर्व (अर्थात् पके हुए चावल के साधारण होम के उपरान्त) पत्तियों की आठ दोनियों (द्रोणों) में रक्त भरकर दिक्पालों को दिया जाता है और आठ दोने अनुवाक मन्त्रों के साथ मध्यवर्ती दिशाओं को दिये जाते हैं। बिना पका हुआ उपहार ग्राम में नहीं लाया जाता। पशु के अवशेष चिह्न (चर्मसहित) पृथिवी में गाड़ देने चाहिए।

वास्तु-प्रतिष्ठा

इस कृत्य का अर्थ है नवीन गृह का निर्माण एवं उसमें प्रवेश। नये मकान के निर्माण के विषय में गृह्यसूत्रों (आश्वलायन २।७-९, शांखायन ३।२-४, पारस्कर ३।४, आपस्तम्ब १७।१-१३, खादिर ४।२।६-२२ आदि) में पर्याप्त वर्णन है। आश्वलायन (२।७) के मतानुसार सर्वप्रथम स्थल की परीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि स्थल क्षाररहित होना चाहिए, उसमें ओषधियाँ (वनस्पतियाँ), कुश, वीरण तृण, घास जमी रहनी चाहिए। उसमें से कँटीले पौधे तथा ऐसी जड़ें, जिनसे दूध निकलता हो, निकाल बाहर करनी चाहिए और अपामार्ग, तिल्वक आदि पौधे भी निकाल देने चाहिए। उस स्थल पर चारों ओर से पानी आकर दाहिनी ओर बहता हुआ पूर्व दिशा में निकल जाना चाहिए। ऐसे

४. अथ यदि गां न लभते मेषमजं वालभते। ईशानाय स्थालीपाकं वा श्रपयति तस्मादेतत्सर्वं करोति यद् गवा कार्यम्॥ बौ० गृ० २।७।२६-२७। अवदानहोमान्तत्वं च छागपक्ष एव। गोः पुनरुत्सर्ग एव लोकविरोधात्। देवपाल (काठकगृ० ५२।१)।

स्थल में शुभ गुण होते हैं। उस स्थल पर कहीं गज भर खोदकर देख लेना चाहिए और पुनः निकाली हुई मिट्टी ही भर देनी चाहिए। यदि भरते समय कुछ मिट्टी बच जाय तो स्थल को सर्वोत्तम समझना चाहिए, यदि गड्ढा भरने के लिए मिट्टी पूरी हो जाय तो उसे मध्यम तथा यदि गड्ढा भरने के लिए मिट्टी कम पड़ जाय तो उसे निकृष्ट स्थल समझकर छोड़ देना चाहिए। स्थल-पहचान की दूसरी विधि भी है। गड्ढे में पानी भरकर रात भर छोड़ देना चाहिए, यदि प्रातःकाल तक पानी पाया जाय तो स्थल सर्वोत्तम, यदि भींगा रहे तो मध्यम तथा सूखा रहे तो निकृष्ट समझकर छोड़ देना चाहिए। द्विजातियों को क्रम से श्वेत, लाल एवं पीत स्थल खोजना चाहिए। स्थल वर्गाकार या चतुर्भुजाकार होना चाहिए और स्वामी को चाहिए कि वह उस पर जोत की एक सहस्र हराइयाँ कर दे। शमी या उदुम्बर की टहनी से तीन बार प्रदक्षिणा करके दाहिने हाथ से उस पर जल छिड़कना चाहिए और शान्तातीय स्तोत्र (ऋग्वेद ७।३५।१-१५) का पाठ करना चाहिए। यह बिना रुके तीन बार करना चाहिए तथा 'आपो हि ष्ठा' (ऋग्वेद १०।९।१-३) का पाठ करना चाहिए। इस प्रकार की एक बहुत विस्तृत विधि है।

मत्स्यपुराण (अध्याय २५२-२५७) ने वास्तुशास्त्र पर एक लम्बा विवरण उपस्थित किया है। उसके अनुसार (२५६।१०-११) वास्तुयज्ञ पाँच बार किया जाना चाहिए; नींव रखते समय, प्रथम स्तम्भ गाड़ते समय, प्रथम द्वार के साथ चौखट खड़ी करते समय, गृह-प्रवेश के समय तथा वास्तु-शान्ति के समय (जब कोई उपद्रव आदि उठ खड़ा हो तब)। इसके उपरान्त मत्स्यपुराण ने अन्य विधियों का विशद वर्णन उपस्थित किया है, जिसे हम यहाँ उपस्थित नहीं कर रहे हैं।

आजकल गृह-प्रवेश का उत्सव बड़े ठाठ-बाट से किया जाता है। ज्योतिषी से पूछकर एक शुभ दिन निश्चित किया जाता है। गृह-प्रवेश की विधि बड़ी लम्बी-चौड़ी होती है। दो-एक बातें यहाँ दी जा रही हैं। एक मण्डल बनाया जाता है जिसमें ८१ वर्ग बनाये जाते हैं और उसमें आगमन के लिए ६२ देवताओं का आवाहन किया जाता है। इसके उपरान्त समिधा, तिल एवं आज्य की २८ आहुतियों के साथ ९ ग्रहों का होम किया जाता है। घर को पूर्व दिशा से आरम्भ कर तीन बार सूत्र से घेर दिया जाता है और उसके साथ रक्षोघ्न (ऋग्वेद ४।४।१-१५, या १०।८७।१-२५) तथा पवमान (ऋग्वेद ९।१।१-१०) नामक सूक्तों का पाठ होता है। इसी प्रकार अन्य बातें विधिवत् की जाती हैं और बाजे-गाजे के साथ स्वामी अपनी पत्नी, बच्चों ब्राह्मणों के साथ हाथ जोड़कर तथा अन्य शुभ सामग्रियाँ लेकर गृह में प्रवेश करता है। इसके उपरान्त पुण्याहवाचन किया जाता है। ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। इसके उपरान्त गृह-स्वामी अपने मित्रों के साथ भोजन करता है।

अध्याय २५

दान

मनु (१।८६) के कथनानुसार कृत (सत्ययुग), त्रेता, द्वापर एवं कलियुगों में धार्मिक जीवन के प्रमुख रूप क्रम से तप, आध्यात्मिक ज्ञान, यज्ञ एवं दान हैं।[1] मनु (३।७८) ने गृहस्थाश्रम की महत्ता गायी है और कहा है कि अन्य आश्रमों से यह श्रेष्ठ है, क्योंकि इसी के द्वारा अन्य आश्रमों के लोगों का परिपालन होता है। यम ने चारों आश्रमों के विशिष्ट लक्षण इस प्रकार द्योतित किये हैं—"यतियों का धर्म है शम, वनौकसों (वानप्रस्थों) का साधारण भोजन का त्याग, गृहस्थों का दान एवं ब्रह्मचारियों का धर्म है शुश्रूषा (या आज्ञापालन)।" दक्ष (१।१२-१३) ने भी चारों आश्रमों के विशेष लक्षणों का वर्णन किया है। हम इस अध्याय में 'दान' का विवेचन करेंगे।

वैदिक काल में दान की महत्ता

ऋग्वेद ने विविध प्रकार के दानों एवं दाताओं की प्रशस्ति गायी है (१।१२५, १।१२६-१।५, ५।६१, ६।४७। २२-२५, ७।१८।२२-२५, ८।५।३७-३९, ८।६।४६-४८, ८।४६।२१-२४ ८।६८।१४-१९)। दानों में गो-दान की महत्ता विशेष रूप से प्रचलित है। दानों में गायों, रथों, अश्वों, ऊँटों, नारियों (दासियों), भोजन आदि का विशिष्ट उल्लेख हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् (४।१-२) में आया है कि जानश्रुति पौत्रायण ने स्थान-स्थान पर ऐसी भोजन-शालाएँ बनवा रखी थीं, जहाँ पर सभी दिशाओं से लोग आकर भोजन प्राप्त कर सकते थे, ऐसी थी उनकी सदाशयता एवं मानव के प्रति श्रद्धा। ऋग्वेद में तीन स्थानों पर (१०।१०७।२, ७) आया है—"जो (गायों या दक्षिणा का) दान करता है वह स्वर्ग में उच्च स्थान पर जाता है, जो अश्व-दान करता है वह सूर्य-लोक में निवास करता है, जो स्वर्ण का दानी है वह देवता होता है, जो परिधान का दान करता है वह दीर्घ जीवन का लाभ करता है...।"

क्रमशः अश्व के दान की महत्ता में अन्तर पड़ता चला गया। पहले उसका स्थान गाय के बाद था, किन्तु कालान्तर में अश्व के दान की महिमा घट गयी। तैत्तिरीय संहिता (२।३।१२।१) का कहना है—"जो अश्व-दान लेता है उसे वरुण पकड़ता है, अर्थात् वह जलोदर या शोथ से ग्रस्त हो जाता है....।" काठकसंहिता (१२।६) में भी आया है कि अश्व का दान नहीं लेना चाहिए, क्योंकि इसके जबड़ों में दो दन्त-पंक्तियाँ होती हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।२।५) में सोने, परिधान, गाय, अश्व, मनुष्य, पर्यंक एवं अन्य कई प्रकार की वस्तुओं के दान करने की ओर संकेत मिलता है, और इन पदार्थों के देवता हैं अग्नि, सोम, इन्द्र, वरुण, प्रजापति आदि। तैत्तिरीय संहिता (२।२।६।३) के मत से जो व्यक्ति दो दन्तपंक्तियों वाले जीव, यथा अश्व या मनुष्य को, दान रूप में ग्रहण करता है, उसे वैश्वानर को १२ कपालों में स्थालीपाक देना चाहिए। मनु (१०।८९) के मत से अश्व तथा अन्य बिना फटे

१. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ मनु १।८६=शान्तिपर्व २३२।२८=पराशर १।२३=वायुपुराण ८।६५-६६। यतीनां तु शमो धर्मस्त्वनाहारो वनौकसाम्। दानमेव गृहस्थानां शुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम्॥ यम (हेमाद्रि, दान, पृ० ६ में उद्धृत)।

खुर वाले पशुओं का व्यापार वर्जित है, किन्तु गरीबनाथ के पेहोवा शिलालेख से पता चलता है कि ब्राह्मण लोग भी अश्व के क्रय-विक्रय का व्यापार करते थे और इस व्यापार से उत्पन्न लाभ को मन्दिरों के प्रबन्ध में व्यय किया जाता था (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० १८६)। गौतम (१९।१६) ने अपराधों के प्रायश्चित्त के लिए अश्व-दान की चर्चा की है। दान के विषय में और देखिए शांखायन ब्राह्मण (२५।१४) एवं ऐतरेय ब्राह्मण (३०।९)।

शतपथब्राह्मण (२।२।१०।६) का कहना है—"देव दो प्रकार के होते हैं; स्वर्ग के देव एवं मानव देव, अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण; इन्हीं दोनों में यज्ञ का विभाजन होता है, अर्थात् आहुतियाँ देवों को मिलती हैं तथा दक्षिणा मानव देवों (वेदज्ञ ब्राह्मणों) को।" तैत्तिरीयसंहिता (६।१।६।३) का कहना है कि व्यक्ति जब अपना सर्वस्व दान कर देता है तो वह भी तपस्या ही है। बृहदारण्यकोपनिषद् (५।२।३) के अनुसार तीन विशिष्ट गुण हैं दम, दान एवं दया। ऐतरेय ब्राह्मण (३९।६-७) ने भी सोने, पृथिवी एवं पशु के दान की चर्चा की है। छान्दोग्योपनिषद् (४।२।४-५) में आया है कि जानश्रुति ने संवर्ग विद्या के अध्ययन हेतु रैक्व को एक सहस्र गौएँ, एक सोने की सिकड़ी, एक रथ जिसमें खच्चर जुते थे, अपनी कन्या (पत्नी के रूप में) एवं कुछ ग्राम दान में दिये थे। रैक्व को प्रदत्त गाँव कालान्तर में महावर्ष देश में रैक्वपर्ण ग्राम के नाम से विख्यात हुए।

दान-सम्बन्धी साहित्य बहुत लम्बा-चौड़ा है। महाभारत के सभी पर्वों में दान-सम्बन्धी सामान्य संकेत मिलते हैं तथा अनुशासन पर्व में विशेष रूप से दान के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। पुराणों में विशेषतः अग्नि (अध्याय २०८-२१५ एवं २१७), मत्स्य (अध्याय ८२-९१ एवं २७४-२८९) एवं वराह (अध्याय ९९-१११) दान के विषय में कतिपय चर्चा करते हैं। कुछ निबन्धों ने दान पर पृथक् प्रकरण उपस्थित किये हैं। इस विषय में हेमाद्रि का दानखण्ड (चतुर्वर्गचिन्तामणि), गोविन्दानन्द की दानक्रियाकौमुदी, नीलकण्ठ का दानमयूख, विद्यापति की दानवाक्यावलि, वल्लालसेन का दानसागर एवं मित्र मिश्र का दानप्रकाश अधिक प्रसिद्ध हैं। नीचे हम इनका संक्षिप्त आशय दे रहे हैं।

'दान' का अर्थ

'दान' का अर्थ प्राचीन काल में ही स्पष्ट कर दिया गया था। याग, होम एवं दान में अन्तर है। याग में देवता के लिए वैदिक मन्त्रों के साथ कुछ वस्तुओं का त्याग होता है, होम में अपनी किसी वस्तु की आहुति किसी देवता के लिए अग्नि में दी जाती है, दान में किसी दूसरे को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है। दान लेने की स्वीकृति मानसिक या वाचिक या शारीरिक रूप से हो सकती है (देखिए जैमिनि ४।२।२८, ७।१।५ एवं ९।४।३२ पर शबर, तथा याज्ञवल्क्य २।२७ पर मिताक्षरा)। मिताक्षरा का कहना है कि शारीरिक (कायिक) स्वीकृति एक हाथ में ले लेने या छू देने से हो जाती है।[२] दानक्रियाकौमुदी (पृ० ७) में उद्धृत विष्णुधर्मोत्तर, बृहत्पराशर (अध्याय ८, पृ० २४२) आदि में दान लेने की विधियों का विशद वर्णन पाया जाता है। धर्मशास्त्र में 'प्रतिग्रह' शब्द का विशिष्ट अर्थ होता है। मनु (४।५)

२. एष च यजिः यद्द्रव्यं देवतामुद्दिश्य मन्त्रेण त्यज्यते। जैमिनि ७।१।५ की व्याख्या में शबर। स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनं च दानम्। परस्वत्वापादनं च परो यदि स्वीकरोति तदा सम्पद्यते नान्यथा। स्वीकारश्च त्रिविधः। मानसो वाचिकः कायिकश्चेति।...कायिकः पुनरुपादानाभिमर्शनादिरूपोऽनेकविधः। तत्र च नियमः स्मर्यते। दद्यात्कृष्णाजिनं पृष्ठे गां पुच्छे करिणं करे। केसरेषु तथैवाश्वं दासीं शिरसि दापयेत्॥ इति...क्षेत्रादौ पुनः फलोपभोगव्यतिरेकेण कायिकस्वीकारासम्भवात् स्वल्पेनाप्युपभोगेन भवितव्यम्। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य २।२७)।

की टीका में मेधातिथि का कथन है—"ग्रहण मात्र प्रतिग्रह नहीं है। उसी को प्रतिग्रह कहते हैं जो विशिष्ट स्वीकृति का परिचायक हो, अर्थात् जब उसे स्वीकार किया जाय तो दाता को अदृष्ट आध्यात्मिक पुण्य प्राप्त हो और जिसे देते समय वैदिक मन्त्र पढ़ा जाय। जब कोई भिक्षा देता है तब वह कोई मन्त्रोच्चारण (यथा 'देवस्य त्वा') नहीं करता, अतः वह शास्त्रविहित दान नहीं है और न स्नेह से मित्र या नौकर को दिया गया पदार्थ ही प्रतिग्रह है।"[3] इसी प्रकार जब 'विद्यादान' शब्द का प्रयोग होता है तो यहाँ दान शब्द मात्र आलंकारिक है, नहीं तो गुरु को शिष्य के लिए दक्षिणा देनी पड़ जायगी, किन्तु ऐसी बात है नहीं, क्योंकि वास्तव में शिष्य ही गुरु को दक्षिणा देता है। इसी प्रकार जब किसी मूर्ति को दान दिया जाता है तो वहाँ भी 'दान' शब्द का प्रयोग गौण अर्थ में ही है, क्योंकि वास्तव में मूर्ति कोई दान ग्रहण नहीं कर सकती। देवल ने शास्त्रोक्त 'दान' की परिभाषा यों की है—"शास्त्र द्वारा उचित माने गये व्यक्ति के लिए शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धन को दान कहा जाता है। जब किसी उचित व्यक्ति को केवल अपना कर्तव्य समझकर कुछ दिया जाता है तो उसे धर्मदान कहा जाता है।"[4] दानमयूख (पृ० ३) ने व्याख्या की है कि देवल की परिभाषा केवल सात्त्विक दान से सम्बन्धित है न कि सामान्य दान से। यदि दाता दान भेजे किन्तु वह मार्ग में ही खो जाय और पाने वाले के यहाँ न पहुँचे तो वह दान नहीं है और न उसके देने से दान का फल ही प्राप्त हो सकता है।

दान के छः अंग

देवल ने दान के छः अंग वर्णित किये हैं; दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, धर्मयुक्त देय (उचित ढंग से प्राप्त धन), उचित काल एवं उचित देश (स्थान)। इनमें प्रथम चार का स्पष्ट उल्लेख मनु (४।२२६-२२७) में भी है। इन छः अंगों का वर्णन हम करेंगे।

इष्टापूर्त—आगे कुछ लिखने के पूर्व हम इष्टापूर्त शब्द का अर्थ समझ लें। यह शब्द ऋग्वेद में भी आया है (१०।१४।८)। इसका अर्थ है "यज्ञ-कर्मों तथा दान-कर्मों से उत्पन्न पुण्य।" ऋग्वेद (१०।१४।८) में हाल में (तुरंत) मरे हुए एक आत्मा के विषय में आया है—"तुम पितरों से मिल सको, तुम यम से मिल सको तथा मिल सको स्वर्ग में अपने इष्टापूर्त से।" 'इष्ट' का अर्थ है 'जो यज्ञ के लिए दिया गया है' और 'पूर्त' का अर्थ है 'जो भर गया है'। अथर्ववेद में भी आया है—"हमारे पूर्वजों के इष्टापूर्त (शत्रुओं से) हमारी रक्षा करें...(२।१२।४)।" और देखिए अथर्ववेद (३।२९।१)। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता (५।७।७।१-३), तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।५।५७, ३।१।१४), वाजसनेयी संहिता (१५।५४), कठोपनिषद् (१।१।८) एवं माण्डूक्योपनिषद् (१।२।१०) में भी इष्टापूर्त का प्रयोग हुआ है। कठोपनिषद् में आया है कि जो अतिथि को बिना भोजन कराये घर में ठहराता है वह अपने इष्टापूर्त का, सन्तानों एवं पशुओं का नाश करता है। माण्डूक्योपनिषद् ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो इष्टापूर्त को सर्वोच्च

३. नैव ग्रहणमात्रं परिग्रहः। विशिष्ट एव स्वीकारे प्रतिपूर्वो गृह्णातिर्वर्तते। अदृष्टबुद्ध्या दीयमानं मन्त्रपूर्वं गृह्णतः प्रतिग्रहो भवति। न च भैक्ष्ये देवस्य त्वादिमन्त्रोच्चारणमस्ति। न च प्रीत्यादिना दानग्रहणे। नच तत्र प्रतिग्रहव्यवहारः। मेधातिथि (मनु ५।४)।

४. अर्थानामुदिते पात्रे यथावत्प्रतिपादनम्। दानमित्यभिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते॥ देवल (अपरार्क पृ० २८७ में, दानक्रियाकौमुदी पृ० २, हेमाद्रि, दानखण्ड, पृ० १३, दानवाक्यावलि आदि द्वारा उद्धृत)। पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनवेक्ष्य प्रयोजनम्। केवलं धर्मबुद्ध्या यद्धर्मदानं तदुच्यते॥ देवल (हेमाद्रि द्वारा दान, पृ० १४ में उद्धृत)।

महत्ता देते हैं और उसके ऊपर किसी अन्य को मानते ही नहीं। इस उपनिषद् ने तर्क उपस्थित किया है कि इष्टापूर्त व्यक्ति को अन्तिम आनन्द नहीं दे सकता, उससे तो व्यक्ति को केवल स्वर्गानन्द मिलता है, जिसे भोगकर व्यक्ति पुनः इस संसार में या इससे भी नीचे के लोक में उतर आता है।

अपरार्क ने 'इष्ट' एवं 'पूर्त' के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए महाभारत का हवाला दिया है—"जो कुछ एक अग्नि (गृह्य अग्नि) में डाला जाता है तथा जो कुछ तीनों श्रौत अग्नियों में डाला जाता है एवं वेदी (श्रौत यज्ञों) में दान किया जाता है उसे 'इष्ट' कहते हैं; किन्तु गहरे कूपों, आयताकार कूपों, तड़ागों (तालाबों), देवतायतनों (मन्दिरों) का समर्पण, अन्नदान एवं आराम (जन-वाटिका) का प्रबन्ध 'पूर्त' कहलाता है।"[5] अपरार्क ने नारद को उद्धृत कर लिखा है—"आतिथ्य तथा वैश्वदेव-कर्म इष्ट हैं, किन्तु तालाबों, कूपों, मन्दिरों, आरामों का लोकहितार्थ समर्पण पूर्त है, इसी प्रकार चन्द्र एवं सूर्य के ग्रहणों के समय का दान भी पूर्त है।" रोगियों की सेवा भी पूर्त है (हेमाद्रि, दान, पृ० २०)। मनु ने भी इष्ट एवं पूर्त करने की बात कही है। उनके अनुसार इष्ट एवं पूर्त सदैव करते जाना चाहिए, क्योंकि श्रद्धा एवं उचित ढंग से प्राप्त धन से किये गये इष्ट एवं पूर्त अक्षय होते हैं (मनु ४।२२६)।

सभी लोग, यहाँ तक कि नारियाँ एवं शूद्र भी, दान दे सकते हैं। दानधर्म की बड़ी महत्ता कही गयी है। अपरार्क ने एक पद्य उद्धृत किया है—"दो प्रकार के व्यक्तियों के गले में शिला बाँधकर डुबो देना चाहिए; अदानी धनवान् एवं अतपस्वी दरिद्र।"[6] सभी द्विजातियों के लिए इष्ट एवं पूर्त करना धर्म माना जाता था; शूद्र लोग पूर्त धर्म कर सकते थे किन्तु वैदिक धर्म नहीं। देवल के अनुसार दाता को पापरोग से हीन, धार्मिक, दित्सु (श्रद्धालु), दुर्गुणहीन, शुचि (पवित्र), निन्दित व्यवसाय से रहित होना चाहिए। बहुत-सी स्मृतियों ने ऐसा लिखा है कि बहुत कम लोग स्वार्जित धन दान में देते देखे जाते हैं। व्यास ने लिखा है—"सौ में एक शूर, सहस्रों में एक विद्वान्, शत सहस्रों में एक वक्ता मिलता है, दाता तो शायद ही मिल सकता है और नहीं भी।"[7]

दान के पात्र—इस भाग के अध्याय ३ में योग्य एवं अयोग्य पात्रों के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। दो-एक शब्द यहाँ भी कहे जाते हैं। दक्ष (३।१७-१८) ने लिखा है—"माता-पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान् व्यक्ति, उपकारी, दरिद्र (दीन), असहाय (अनाथ), विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य प्राप्त होता है, किन्तु धूर्तों, बन्दियों (वन्दना करनेवालों), मल्लों (कुश्ती लड़नेवालों), कुवैद्यों, जुआरियों, वञ्चकों, चाटों, चारणों एवं चोरों को दिया गया दान निष्फल होता है। मनु (४।१९३-२००=विष्णुधर्मसूत्र ९३।७-१३) ने कपटी एवं वेद न जाननेवाले

५. महाभारतम्। एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥ अपरार्क पृ० २९०; दूसरा पद्य अत्रि (४४) का है। अत्रि ने इष्ट को यों कहा है—"अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥" अत्रि (४३)।

६. द्वावेवाप्सु प्रवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा महाशिलाम्। धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥ अपरार्क (पृ० १९९); दानवाक्यावलि; यह उद्योगपर्व (३०।६०) का पद्य है।

७. इष्टापूर्तौ द्विजातीनां धर्मः सामान्य इष्यते। अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्ते धर्मे न वैदिके॥ अत्रि ४६, लिखित ६; इसे अपरार्क (पृ० २४) ने जातुकर्ण्य का माना है। अपापरोगी धर्मात्मा दित्सुरव्यसनः शुचिः। अनिन्द्याजीवकर्मा च षड्भिर्दाता प्रशस्यते॥ देवल (अपरार्क पृ० २८८ एवं हेमाद्रि, दान, पृ० १४)। पापरोग आठ प्रकार के होते हैं—यक्ष्मा आदि। शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्रेषु दाता भवति वा न वा॥ व्यास ४।६०।

ब्राह्मण को दान का पात्र नहीं माना है। बृहद्यम (३।३४।३८) ने भी कुपात्रों के नाम गिनाये हैं, यथा कोढ़ी, न अच्छे होनेवाले रोग से पीड़ित, शूद्रों का यज्ञ करानेवाले, देवलक, वेद बेचनेवाले (पहले से शुल्क निश्चित करके वेद पढ़ाने वाले) ब्राह्मणों को न तो श्राद्ध में बुलाना चाहिए और न उन्हें दान देना चाहिए। बृहद्यम ने पुनः लिखा है कि निकृष्ट *कर्म करनेवाले, लोभी, वेद, सन्ध्या आदि कर्मों से हीन, ब्राह्मणोचित धर्मों से च्युत, दुष्ट एवं व्यसनी ब्राह्मणों को दान* नहीं देना चाहिए। इसी प्रकार कुपात्रों एवं सुपात्रों की जानकारी के लिए देखिए वनपर्व (२००।५-९), बृहत्पराशर (८, पृ० २४१-२४२), गौतम (३, पृ० ५०८-५०९) आदि। वैश्वदेव के उपरान्त सबको भोजन देना चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर ने लिखा है कि भोजन एवं वस्त्र के दान में मनुष्य की आवश्यकता देखनी चाहिए न कि उसकी जाति। किसी सच्चे प्रार्थी को देखते ही जिसके मुख पर सुख की लहरें उत्पन्न हो जाती हैं और जो प्रेमपूर्वक एवं सम्मान के साथ देता है, वह वास्तविक श्रद्धा की अभिव्यक्ति करता है। आदर से देनेवाले एवं आदर से लेनेवाले स्वर्ग प्राप्त करते हैं और इस नियम के अपवादी नरक में जाते हैं (मनु ४।२३५)।

देय—दान के पदार्थों एवं उपकरणों के विषय में बहुत-से नियम बने हैं। अनुशासनपर्व (५०।७) के मत से संसार के सर्वश्रेष्ठ प्यारे पदार्थ तथा जिसे व्यक्ति बहुत मूल्यवान् समझता है उसका गुणवान् व्यक्ति को दिया जाना अक्षय गुण एवं पुण्य देनेवाला दान कहा जाता है। देवल के मत से वह वस्तु देय है जिसे दाता ने बिना किसी को सताये, चिन्ता एवं दुःख दिये स्वयं प्राप्त किया हो, वह चाहे छोटी हो या मूल्यवान् हो। देय की बड़ाई या छोटाई अथवा न्यूनता या अधिकता पर पुण्य नहीं निर्भर रहता, वह तो मनोभाव, दाता की समर्थता तथा उसके धनार्जन के ढंग पर निर्भर रहता है। श्रद्धा से जो कुछ सुपात्र को दिया जाय वह सफल देय है, किन्तु अश्रद्धा से या कुपात्र को दिया गया धन निष्फल होता है। अपनी समर्थता के अनुसार देना चाहिए।[८]

देय पदार्थों में कुछ उत्तम, कुछ मध्यम एवं कुछ निकृष्ट माने जाते हैं। उत्तम पदार्थ हैं—भोजन, दही, मधु, रक्षा, गाय, भूमि, सोना, अश्व एवं हाथी। मध्यम हैं—विद्या, आश्रयगृह, घरेलू उपकरण (यथा पलंग आदि), औषधें तथा निकृष्ट हैं—जूते, हिंडोले, गाड़ियाँ, छत्र (छाता), बरतन, आसन, दीपक, लकड़ी, फल या अन्य जीर्ण-शीर्ण वस्तुएँ (देखिए देवल, अपरार्क, पृ० २८९-९० में उद्धृत एवं हेमाद्रि, दान, पृ० १६)। याज्ञवल्क्य (१।२१०-११) की तालिका भी अवलोकनीय है। ऊपर की तालिका एवं याज्ञवल्क्य की तालिका में कोई मौलिक भेद नहीं है, अतः हम उसे यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे हैं। तीन प्रकार के देय सर्वोत्तम कहे गये हैं, यथा गाय, भूमि एवं सरस्वती (विद्या) और इन्हें **अतिदान** कहा जाता है (वसिष्ठधर्मसूत्र २९।१९ एवं बृहस्पति १८)। वसिष्ठधर्मसूत्र (२९।१९), मनु (४।२३३), अत्रि (३४०) एवं याज्ञवल्क्य (१।२१२) का कहना है कि विद्या सर्वश्रेष्ठ देय है, अर्थात् यह जल, भोजन, गाय, भूजि, वस्त्र, तिल, सोने एवं मधु से श्रेष्ठ है। किन्तु अनुशासनपर्व (६२।२) एवं विष्णुधर्मोत्तर (अपरार्क, पृ० ३६९ में उद्धृत) की दृष्टि में भूमि का दान सर्वश्रेष्ठ है। विष्णुधर्मसूत्र ने अभयदान को सर्वश्रेष्ठ माना है। कुछ पदार्थों का दान महादान कहा जाता है, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

दान-प्रकार—दान के प्रकार हैं **नित्य** (**आजस्रिक**, देवल के मत से), **नैमित्तिक** एवं **काम्य**। जो प्रतिदिन दिया

८. अन्यायाधिगतां दत्त्वा सकलां पृथिवीमपि। श्रद्धावर्जमपात्राय न कांचिद् भूतिमाप्नुयात्॥ प्रदाय शाकमुष्टिं वा श्रद्धाभक्तिसमुद्यताम्। महते पात्रभूताय सर्वाभ्युदयमाप्नुयात्॥ देवल (अपरार्क २९०); सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च। दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः॥ आश्वमेधिकपर्व (९०।९६-९७); एकां गां दशगुर्दद्याद् दश दद्याच्च गोशती। शतं सहस्रगुर्दद्यात्सर्वे तुल्यफला हि ते॥ अग्निपुराण (२११।१)।

जाय (यथा वैश्वदेव आदि के उपरान्त भोजन) उसे **नित्य**, जो किन्हीं विशिष्ट अवसरों (यथा ग्रहण) पर दिया जाय उसे **नैमित्तिक** तथा जो सन्तानोत्पत्ति, विजय, समृद्धि, स्वर्ग या पत्नी के लिए दिया जाय उसे **काम्य** कहते हैं। वाटिका, कूप आदि का समर्पण **ध्रुवदान** कहा जाता है (देवल)। कूर्मपुराण ने इन तीनों प्रकारों में एक और जोड़ दिया है, यथा **विमल** (पवित्र), जो ब्रह्मज्ञानी को श्रद्धासहित भगवत्प्राप्ति के लिए दिया जाता है। भगवद्गीता (१७।२०-२२) ने दान को **सात्विक, राजस** एवं **तामस** नामक श्रेणियों में बाँटा है और कहा है—"जब देश, काल एवं पात्र के अनुसार अपना कर्तव्य समझ कर दान दिया जाता है और लेनेवाला अस्वीकार नहीं करता, तो ऐसे दान को **सात्विक दान** कहा जाता है; जब किसी इच्छा की पूर्ति के लिए या अनुत्साह से दिया जाय तो उसे **राजस दान** तथा जो दान अनुचित काल, स्थान एवं पात्र को, बिना श्रद्धा तथा घृणा के साथ दिया जाय उसे **तामस दान** कहते हैं। योगी-याज्ञवल्क्य का कहना है कि गुप्त दान, बिना अहंकार का ज्ञान तथा बिना अन्य लोगों को दिखाये जप करना अनन्त फल देने वाला होता है। देवल ने भी ऐसा ही कहा है।

बिना माँगा दान—मनु (४।२४७-२५०), याज्ञवल्क्य (१।२१४-२१५), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६।१९। १३-१४), विष्णुधर्मसूत्र (५७।११) के मत से कुश, कच्ची तरकारियाँ, दूध, शय्या, आसन, भुना हुआ जौ, जल, मूल्यवान् रत्न, समिधा, फल, कन्दमूल, मधुर भोजन यदि बिना माँगे मिले तो अस्वीकार नहीं करना चाहिए (किन्तु नपुंसक, वेश्याओं एवं पतितों द्वारा दिये जाने पर अस्वीकार कर देना चाहिए)।

अदेय पदार्थ—कुछ वस्तुएँ दान में नहीं दी जानी चाहिए। अदेय पदार्थों में कुछ तो ऐसे हैं जिन पर अपना स्वत्व नहीं होता तथा कुछ ऐसे हैं जिन्हें ऋषियों ने दान के लिए वर्जित ठहराया है। जैमिनि (६।७।१-७) ने इस विषय में कुछ सिद्धान्त दिये हैं—(१) अपनी ही वस्तु का दान हो सकता है, (२) विश्वजित् यज्ञ में अपने सम्बन्धियों, यथा माता-पिता, पुत्रों एवं अन्य लोगों का दान नहीं हो सकता, (३) राजा अपने सम्पूर्ण राज्य का दान नहीं कर सकता, (४) उस यज्ञ में अश्वों का दान नहीं हो सकता, क्योंकि यह उस यज्ञ में श्रुतिवर्जित है, (५) शूद्र जो केवल नौकरी के लिए याज्ञिक की सेवा करता है, दान में नहीं दिया जा सकता तथा (६) विश्वजित् यज्ञ में वही पदार्थ दक्षिणास्वरूप दिया जा सकता है जिस पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार एवं स्वामित्व हो। नारद (दत्ताप्रदानिक ४-५) ने आठ प्रकार के दान वर्जित माने हैं—(१) ऋण चुकाने के लिए ऋणी द्वारा ऋणदाता को देने के लिए तीसरे व्यक्ति को दिया गया धन, (२) प्रयोग में लाने के लिए उधार ली गयी सामग्री (यथा उत्सव के अवसर पर उधार लिया गया आभूषण), (३) न्यास (ट्रस्ट), (४) संयुक्त या कई लोगों के साझे वाली सम्पत्ति, (५) निक्षेप अर्थात् किसी का जमा किया हुआ धन, (६) पुत्र एवं पत्नी, (७) सन्तानों के रहने पर अपनी पूरी सम्पत्ति एवं (८) दूसरे को पहले से ही दिया हुआ पदार्थ। दक्ष (३।१९-२०) ने उपर्युक्त सूची में दो बातें और जोड़ दी हैं (मित्र का धन एवं भय से दान) तथा एक बात निकाल दी है (वह पदार्थ जो दूसरे को पहले से ही दे दिया गया हो)। याज्ञवल्क्य (१।१७५) में भी यही ध्वनि है। अपरार्क (पृ० ७७९) ने बृहस्पति एवं कात्यायन के इसी प्रकार के वचन उद्धृत किये हैं।

धर्मशास्त्रकारों ने दान-क्रिया के ऊपर प्रतिबन्ध भी लगा रखा है। दान देना चाहिए और अवश्य देना चाहिए, किन्तु भूतानुकम्पा (दयालुता) अपने धन के विषय में भी होनी चाहिए (व्यास ४।१६, १८, २४, २६, ३०-३१; अग्निपुराण २०९।३२-३३)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।१०-१२), बौधायनधर्मसूत्र (२।३।१९) ने लिखा है कि अपने आश्रितों (जिनका भरण-पोषण करना अपना विशिष्ट उत्तरदायित्व है), नौकरों एवं दासों की चिन्ता (परवाह) न करके अतिथियों एवं अन्य को भोजन बाँट देना अनुचित है। याज्ञवल्क्य (२।१७५) ने लिखा है कि अपने कुटुम्ब की परवाह करते हुए दान देना चाहिए। बृहस्पति एवं मनु (११।९-१०) ने वैसे दान की भर्त्सना की है जो अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण की परवाह न करके दिया जाता है, इसे उन्होंने धर्म का गलत अनुकरण माना है। "अपने लोग भूखों

मरें और अन्य लोग घरों में दान लेकर मौज उड़ायें" यह बुद्धिमानी नहीं है। यही बात अनुशासनपर्व (३७।२-३) में भी पायी जाती है। हेमाद्रि ने शिवधर्म[९] को उद्धृत कर लिखा है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपने धन को पाँच भागों में करके तीन भाग अपने तथा अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण में लगाये और शेष दो भाग धर्म-कार्य मे, क्योंकि यह जीवन क्षणभंगुर है।

अस्वीकार के योग्य दान---कुछ पदार्थों को दान रूप में स्वीकार करना वर्जित माना गया है। श्रुति ने दो दन्तपंक्तियों वाले पशुओं को दान रूप में ग्रहण करना वर्जित किया है (जैमिनि ६।७।४ पर शबर की व्याख्या) 'वसिष्ठ-धर्मसूत्र (१३।५५) ने ब्राह्मणों के लिए अस्त्र-शस्त्र, विषैले पदार्थ एवं उन्मत्तकारी पदार्थों का ग्रहण वर्जित ठहराया है। मनु (४।१८८) का कहना है कि अविद्वान् ब्राह्मण को सोने, भूमि, अश्वों, गाय, भोजन, वस्त्र, तिल एवं घृत का दान नहीं लेना चाहिए, यदि वह लेगा तो लकड़ी की भाँति भस्म हो जायगा (अर्थात् नष्ट हो जायगा)। हेमाद्रि (दान, पृष्ठ ५७) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर लिखा है कि ब्राह्मण को चाहिए कि वह भेड़ों, अश्वों, बहुमूल्य रत्नों, हाथी, तिल एवं लोहे का दान न ले, यदि ब्राह्मण मृगचर्म या तिल स्वीकार करता है तो वह पुनः पुरुष रूप से नहीं जन्मेगा, और वह जो मरे हुए की शय्या, आभूषण एवं परिधान ग्रहण करता है वह नरक में जायगा।

दान के काल---दान करने के उचित कालों के विषय में बहुत-से नियम बने हुए हैं। प्रति दिन के दान-कर्म के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट अवसरों के दान की व्यवस्था करते हुए धर्मशास्त्रकारों ने लिखा है कि प्रति दिन के दान-कर्म से विशिष्ट अवसरों के दान-कर्म अधिक सफल एवं पुण्यप्रद माने जाते हैं (याज्ञवल्क्य १।२०३)। लघु-शातातप (१४५-१५३) ने लिखा है कि अयनों (सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन) के प्रथम दिन में, षडशीति के प्रारम्भ में, सूर्य-चन्द्र ग्रहणों के समय दान अवश्य देना चाहिए, क्योंकि इन अवसरों के दान अक्षय फलों के दाता माने जाते हैं।[१०] वनपर्व (२००।१२५) ने भी यही कहा है। अमावस्या के दिन, तिथिक्षय में, विषुव के दिन (जब रात-दिन बराबर हों) एवं व्यतिपात के दिन का दान क्रम से सौ गुना, सहस्र गुना, लाख गुना एवं अक्षय फल देनेवाला है। संवर्त (२०८-२०९) का कहना है कि अयन, विषुव, व्यतिपात, दिनक्षय, द्वादशी, संक्रान्ति को दिया हुआ दान अक्षय फल देनेवाला होता है; इसी प्रकार उपर्युक्त दिनों या तिथियों के अतिरिक्त रविवार का दिन स्नान, जप होम, ब्राह्मण-भोजन, उपवास एवं दान के लिए उपयुक्त ठहराया गया है।[११] शातातप (१४६), विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।२१४-२१७),

९. **तस्मात् त्रिभागं वित्तस्य जीवनाय प्रकल्पयेत्। भागद्वयं तु धर्मार्थमनित्यं जीवितं यतः॥ हेमाद्रि (दान, पृ० ४४) एवं दानमयूख (पृ० ५) द्वारा उद्धृत; भागवत, शुक्राचार्य का राजा बलि के प्रति उपदेश (३७।१९।८)।**

१०. **अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च। चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते॥ वनपर्व २००।१२५; अयनादौ सदा दद्याद् द्रव्यमिष्टं गृहे वसन्। षडशीतिमुखे चैव विमुक्ते चन्द्रसूर्ययोः॥ लघुशातातप (अपरार्क, पृ० २९१ में शातातप नाम से उद्धृत)। मिथुन, कन्या धनु एवं मीन राशियों में जब सूर्य का प्रवेश होता है तो उसे षडशीति कहते हैं; बृहत्पराशर पृ० २४५ एवं अपरार्क पृ० २९२, जहाँ वसिष्ठ, अग्निपुराण (२०९।९-१०) उद्धृत हैं।**

११. **शतमिन्दुक्षये दानं सहस्रं तु दिनक्षये। विषुवे शतसाहस्रं व्यतीपाते त्वनन्तकम्॥ लघुशातातप (१५०), अपरार्क द्वारा व्यास के उद्धरण के रूप में उद्धृत। जब तीन तिथियाँ एक ही दिन पड़ जाती हैं तो इसे दिनक्षय कहा जाता है, क्योंकि बीच वाली तिथि पंचांग में दबा दी जाती है (देखिए अपरार्क पृ० २९२); व्यतिपात २७ योगों में, जिनका आरम्भ विष्कम्भ से होता है, एक योग है, इसकी परिभाषा यों दी गयी है---श्रवणाश्विधनिष्ठार्द्रानागदैवत-मस्तके। यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते॥ (वृद्ध मनु, अपरार्क पृ० ४२६) अर्थात् जब चन्द्र श्रवण, अश्विनी,**

प्रजापति (२५ एव २८), अत्रि (३२७) ने दान-काल के विषय में नियम दिये हैं। विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ८९) ने वर्ष की पूर्णिमाओं के दिन विभिन्न प्रकार के पदार्थों के दान करने से उत्पन्न फलों की चर्चा की है। अनुशासनपर्व (अध्याय ६४) ने कृत्तिका से आगे के २७ नक्षत्रों के दानों का उल्लेख किया है।

एक सामान्य नियम यह है कि रात्रि में दान नहीं दिया जाना चाहिए। किन्तु कुछ अपवाद भी हैं। अत्रि (३२७) ने लिखा है कि ग्रहणों, विवाहों, संक्रान्तियों एवं पुत्ररत्न-लाभ के अवसर पर रात्रि में दान दिये-लिये जा सकते हैं। और देखिए पराशरमाधवीय १।१, पृ० १९४ में उद्धृत देवल।

उपर्युक्त अवसरों एवं नियमों का दिग्दर्शन शिलालेखों में भी हो जाता है। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। सूर्य-ग्रहण के अवसर पर भूमि एवं ग्रामों के दान की चर्चा ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों में हुई है, यथा राष्ट्रकूट नन्नराज का तिवरखेड पत्र (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ११, पृ० २७९, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० ७३, सन् ६१३ ई०), चालुक्य कीर्तिवर्मा द्वितीय के समय का लेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ३, पृ० १००, सन् ६६० ई०)। चन्द्र-ग्रहण के अवसर पर प्रदत्त दानों का उल्लेख जे० बी० ओ० आर० एस्० (जिल्द २०, पृ० १३५), एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द १, पृ० ३४१, जिल्द १९ पृ० ४१, जिल्द २०, पृ० १२५) में हुआ है। अयनों (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) के अवसर वाले दानपत्रों के लिए देखिए इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द १२, पृ० १९३, संजन-पत्र (अमोघवर्ष का)। संक्रान्तियों के अवसर के दानपत्रों की चर्चा के लिए देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० १८२, जिल्द १२, पृ० १४२, जिल्द ८, पृ० १५९। इस प्रकार अन्य तिथियों पर दिये गये दानपत्रों की चर्चा के लिए देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ७, पृ० ९३, जिल्द १४, पृ० ३२४, जिल्द १४, पृ० १९८, जिल्द ७, पृ० ९८, जिल्द १०, पृ० ७५।

दान के स्थल--स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों में देश (स्थान या स्थल) के विषय में प्रभूत चर्चाएँ हुई हैं। दानमयूख (पृ० ८) में आया है कि घर में दिया गया दान दस गुना, गौशाला में सौ गुना, तीर्थों में सहस्रगुना तथा शिव की मूर्ति (लिंग) के समक्ष का दान अनन्त फल देनेवाला होता है। स्कन्दपुराण (हेमाद्रि, दान, पृ० ८३ में उद्धृत) के मत से वाराणसी, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर (अजमेर), गंगा एवं समुद्र के तट, नैमिषारण्य, अमरकण्टक, श्री-पर्वत, महाकाल (उज्जयिनी में), गोकर्ण, वेद पर्वत तथा इन्हीं के समान अन्य स्थल पवित्र हैं, जहाँ देवता एवं सिद्ध रहते हैं; सभी पर्वत, सभी नदियाँ एवं समुद्र पवित्र हैं; गोशाला, सिद्ध एवं ऋषि लोगों के वास-स्थल पवित्र हैं, इन स्थानों में जो कुछ दान दिया जाता है वह अनन्त फल देनेवाला होता है।[12]

दान की दक्षिणा--किसी भी वस्तु का दान करते समय दान देनेवाले के हाथ पर जल गिराना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।९।९-१०) के अनुसार सभी प्रकार के दानों में जल-प्रयोग होता है (केवल वैदिक यज्ञों को छोड़कर, जिनमें वैदिक उक्तियों के अनुसार कृत्य किये जाते हैं), सभी प्रकार के दानों में दक्षिणा देना भी अनिवार्य है। किन्तु अग्निपुराण (२११।३१) ने सोने-चाँदी, ताम्र, चावल, अन्न के दान में तथा आह्निक श्राद्ध एवं आह्निक

धनिष्ठा, आर्द्रा, आश्लेषा में पड़ जाता है एवं अमावस्या रविवार को पड़ती है तो इसे व्यतीपात कहते हैं। बाण ने भी हर्षचरित (४) में लिखा है कि हर्ष का जन्म व्यतीपात-जैसी अशुभ घड़ियों से रहित समय में हुआ था।

१२. वाराणसी कुरुक्षेत्रं प्रयागः पुष्कराणि च। गंगा समुद्रतीरं च नैमिषामरकण्टकम्॥ श्रीपर्वतमहाकालं गोकर्णं वेदपर्वतम्। इत्याद्याः कीर्तिता देशाः सुरसिद्धनिषेविताः॥ सर्वे शिलोच्चयाः पुण्याः सर्वा नद्यः ससागराः। गोसिद्धमुनिवासाश्च देशाः पुण्याः प्रकीर्तिताः॥ एषु तीर्थेषु यद्दत्तं फलस्यानन्त्यकृद् भवेत्। स्कन्दपुराण (हेमाद्रि, दान, पृ० ८३ में उद्धृत)।

देवपूजा के समय दक्षिणा देना अनिवार्य नहीं माना है। दक्षिणा सोने के रूप में ही दी जाती थी, किन्तु सोने के दान में चाँदी की दक्षिणा दी जा सकती थी। बहुमूल्य वस्तु के दान में, यथा तुलापुरुष दान में दक्षिणा एक सौ या पचास या पचीस या दस निष्कों की या दान की हुई वस्तु का एक-दसवाँ भाग या सामर्थ्य के अनुसार हो सकती है।

दान के देवता—बहुत से पदार्थों के देवता होते हैं। हेमाद्रि (दान, पृ० ९६-९७) एवं दानमयूख (पृ० ११-१२) ने विष्णुधर्मोत्तर को उद्धृत कर दान-पदार्थ के देवताओं के नाम लिये हैं, यथा सोने के देवता हैं अग्नि, दास के प्रजापति, गायों के रुद्र आदि। जब किसी पदार्थ के कोई विशिष्ट देवता नहीं होते तो विष्णु को ही देवता मान लिया जाता है। इस प्रकार का विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों से लिया गया है, जहाँ रुद्र, सोम, प्रजापति आदि क्रम से गायों, परिधानों, मानवों आदि के देवता कहे गये हैं (देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।५, आपस्तम्बधर्मसूत्र १४।११।३)।

दान देने की विधि—दाता एवं प्रतिग्रहीता को स्नान करके दो पवित्र धवल वस्त्र धारण कर लेने चाहिए, दाता को पवित्री पहनकर आचमन करना चाहिए, पूर्वाभिमुख होकर उपवीत ढंग से यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए, स्वयं पवित्र आसन (कुशासन) पर बैठकर प्रतिग्रहीता (दान लेने वाले) को उत्तराभिमुख बैठाकर दान के पदार्थ का नाम, उसके देवता का नाम तथा दान देने का उद्देश्य उच्चारित करना चाहिए और कहना चाहिए—"मैं इस पदार्थ का दान आपको कर रहा हूँ", तब प्रतिग्रहीता के हाथ पर जल गिराना चाहिए। जब प्रतिग्रहीता कहे "दीजिए", तब दाता को देय पदार्थ पर जल छिड़कना चाहिए और उसे प्रतिग्रहीता के हाथ पर रख देना चाहिए, तब प्रतिग्रहीता "ओम्" कहकर "स्वस्ति" का उच्चारण करता है। इसके उपरान्त प्रतिग्रहीता को दक्षिणा दी जाती है। अग्निपुराण (२०९। ५९-६१) ने निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए दान की चर्चा की है—पुत्र, पौत्र, गृहैश्वर्य, पत्नी, धर्मार्थ, कीर्ति, विद्या, सौभाग्य, आरोग्य, सर्वपापोपशान्ति, स्वर्गार्थ, भुक्तिमुक्ति।[13] समय एवं देय पदार्थों के अनुसार विधि में परिवर्तन किया जा सकता है, यथा भूमि का दान हाथ से नहीं लिया जा सकता, वैसी स्थिति में दान की हुई भूमि की प्रदक्षिणा या उसमें प्रवेश मात्र पर्याप्त है।

राजा द्वारा दान—याज्ञवल्क्य (१।१३३) के मत से राजा को चाहिए कि वह प्रतिदिन वेदज्ञ (श्रोत्रिय) ब्राह्मणों को दुधारू गायें, सोना, भूमि, घर, विवाह करने के उपकरण आदि दे। यह बहुत प्राचीन परम्परा रही है। वनपर्व (१८६।१५) में आया है कि जो ब्राह्म विवाह के लिए कन्या दान एवं भूमि दान करता है, वह इन्द्रलोक के आनन्द का उपभोग करता है। नहपान के दामाद उषवदात (प्रथम शताब्दी ई० सन्) के शिलालेख से पता चलता है कि वह प्रति वर्ष तीन लाख गायें एवं १६ ग्राम ब्राह्मणों एवं देवताओं को दान देता था; प्रति वर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन देता था; उसने प्रभास (सौराष्ट्र) में अपने व्यय से आठ ब्राह्मणों के विवाह कराये; उसने बार्णासा नदी के किनारे सीढ़ियाँ बनवायीं; भरुकच्छ (आधुनिक भरोंच), दशपुर (मालवा), गोवर्धन (नासिक) एवं शूर्पारक (सोपारा) में चतुःशालाएँ, गृह एवं प्रतिश्रय (ठहरने के स्थान) बनवाये; कूप एवं तालाब बनवाये; इबा, पारदा, दमणा, तापी, करबेणा, दाहानुका (ये सभी थाना एवं सूरत के बीच में हैं) नामक नदियों पर निःशुल्क नावें चलवायीं; जल वितरण के लिए आश्रय-स्थल एवं सभागृह बनवाये; शूर्पारक में रामतीर्थ एवं अन्य तीन स्थानों के चरक शाखा के ब्राह्मणों की सभा में ननगोला (आधुनिक नर्गोल) में, ३२००० नारियल दिये। उषवदात ने यह भी लिखा है कि उसने एक ब्राह्मण से

१३. पुत्रपौत्रगृहैश्वर्यपत्नीधर्मार्थसद्गुणाः। कीर्तिविद्यामहाकाम-सौभाग्यारोग्यवृद्धये। सर्वपापोपशान्त्यर्थं स्वर्गार्थं भुक्तिमुक्तये। एतत्तुभ्यं संप्रवदे प्रीयतां मे हरिः शिवः॥ अग्निपुराण (२०९।५९-६१)।

४००० कार्षापण देकर भूमि खरीदी और उसे अपने (अर्थात् उषवदात) द्वारा निर्मित गुफा में चारों ओर से आनेवाले भिक्षुओं को दे दिया।

विवाह के लिए ब्राह्मण को तथा उसे पूर्णरूपेण व्यवस्थित करने के लिए जो दान दिया जाता है, उसकी भी प्रभूत महत्ता गायी गयी है। दक्ष ने लिखा है—"मातृपितृविहीन ब्राह्मण के संस्कार एवं विवाह आदि कराने से जो पुण्य होता है उसे कूता नहीं जा सकता, एक ब्राह्मण को व्यवस्थित करने से जो फल प्राप्त होता है, वह अग्निहोम एवं अग्निष्टोम यज्ञ करने से प्राप्त नहीं होता" (दक्ष ३।३२-३३)। **नैवेशिक दान** के विषय में अपरार्क (पृ० ३७७) ने कालिकापुराण से लम्बी उक्ति उद्धृत की है, जिसका संक्षेप यों है—"दाता को श्रोत्रिय ११ ब्राह्मण चुनकर उनके लिए ११ मकान बनवा देने चाहिए, अपने व्यय से उनका विवाह सम्पादित करा देना चाहिए, उनके घरों को अन्न-भण्डार, पशु, नौकरानियों, शय्या, आसन, मिट्टी के भाण्डों, ताम्र आदि के बरतनों एवं वस्त्रों से सुसज्जित कर देना चाहिए; ऐसा करके उसे चाहिए कि वह प्रत्येक ब्राह्मण के भरण-पोषण के लिए १०० निवर्तनों की भूमि या एक गाँव या आधा गाँव दे और उन ब्राह्मणों को अग्निहोत्री बनने की प्रेरणा करे। ऐसा करने से दाता सभी प्रकार के यज्ञ, व्रत, दान एवं तीर्थयात्राएँ करने का पुण्य पा लेता है और स्वर्गानन्द प्राप्त करता है। यदि कोई दाता इतना न कर सके तो कम-से-कम एक श्रोत्रिय के लिए वैसा-कर देने पर उतना ही पुण्य प्राप्त करता है।" शिलालेखों के अनुशीलन से पता चलता है कि बहुत-से राजाओं ने ब्राह्मणों के विवाहों में धन-व्यय किया है। आदित्यसेन के अफसाद शिलालेख (देखिए गुप्त इंस्क्रिप्शंस, सं० ४२, पृ० २०३) में अग्रहारों के दानों से १०० ब्राह्मण कन्याओं के विवाह कराने का वर्णन आया है। शिलाहार राजकुमार गण्डरादित्य के शिलालेख से पता चलता है कि राजा ने १६ ब्राह्मणों के विवाह कराये और उनके भरण-पोषण के लिए तीन निवर्तनों का प्रबन्ध किया (देखिए जे० बी० बी० आर० ए० एस०, जिल्द १३, पृ० १)। ब्राह्मणों का जीवन सादा, सरल और उनके विचार उच्च थे, वे देश के पवित्र साहित्य को वसीयत के रूप में प्राप्त कर उसकी रक्षा करते थे और उसे दूसरों तक पहुँचाते थे, वे लोगों को निःशुल्क पढ़ाते थे। उन दिनों राज्य में आधुनिक काल की भाँति शिक्षण-संस्थाएँ नहीं थीं, अतः राजाओं का यह कर्तव्य था कि वे ब्राह्मणों की ऐसी सहायता करते कि वे अपने कार्यों को सम्यक् रूप से सम्पादित कर पाते। याज्ञवल्क्य (२।१८५) ने राजाओं के लिए यह लिखा है कि उन्हें विद्वान् एवं वेदज्ञ ब्राह्मणों की सुख-सुविधा का प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे कि वे स्वधर्म सम्पादित कर सकें। अपरार्क (पृ० ७९२) ने बृहस्पति की उक्तियाँ उद्धृत करके लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह अग्निहोत्री एवं विद्वान् ब्राह्मणों के भरण-पोषण के लिए निःशुल्क भूमि का दान करे और ब्राह्मणों को चाहिए कि वे अपना कर्तव्य करें और धार्मिक कार्य करते हुए लोक-मंगल की भावना से पूर्ण अपना जीवन व्यतीत करें। ब्राह्मणों को यह भी चाहिए कि वे जनता के सन्देह दूर करें और ग्रामों, गणों एवं निगमों के लिए नियम, विधान तथा परम्पराएँ स्थिर करें। कौटिल्य (२।१) ने भी ब्राह्मणों के लिए निःशुल्क भूमि के दान की बात चलायी है।

भूमि-दान

बहुत प्राचीन काल से ही भूमि-दान को सर्वोच्च पुण्यकारी कृत्य माना गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र (२९।१६), बृहस्पति (७), विष्णुधर्मोत्तर, मत्स्यपुराण (अपरार्क, पृ० ३६९-३७० में उद्धृत), महाभारत (अनुशासनपर्व ६२। १९) आदि में भूदान की महत्ता गायी गयी है। अनुशासनपर्व (६२।१९) ने लिखा है—"परिस्थितिवश व्यक्ति जो कुछ पाप कर बैठता है वह गोचर्म मात्र भूदान से मिट सकता है।"[१४] अपरार्क (पृष्ठ ३६८, ३७०) ने विष्णुधर्मोत्तर,

१४. यत्किंचित्कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्शितः। अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुध्यति॥ वसिष्ठ (२९।१६),

आदित्यपुराण एवं मत्स्यपुराण को उद्धृत कर लिखा है कि भूदान से उच्च फलों की प्राप्ति होती है। वनपर्व (९३। ७८-७९) ने लिखा है कि राजा शासन करते समय जो भी पाप करता है, उसे यज्ञ एवं दान करके, ब्राह्मणों को भूमि एवं सहस्रों गायें देकर नष्ट कर देता है; जिस प्रकार चन्द्र राहु से छुटकारा पाता है, उसी प्रकार राजा भी पापमुक्त हो जाता है। अनुशासनपर्व (५९।५) में कहा है--सोने, गायों एवं भूमि के दान से दुष्ट व्यक्ति छुटकारा पा सकता है।

भूमि-दान की महत्ता के कारण स्मृतियों ने इसके विषय में बहुत-से नियम बनाये हैं। याज्ञवल्क्य (१।३१८-३२०) ने लिखा है--"जब राजा भू-दान या निबन्ध-दान (निश्चित दान जो प्रति वर्ष या प्रति मास या विशिष्ट अवसरों पर किया जाता है) करे तो उसे आगामी भद्र (अच्छे) राजाओं के लिए लिखित आदेश छोड़ने चाहिए। राजा को चाहिए कि वह अपनी मुद्रा को किसी वस्त्र-खण्ड या ताम्रपत्र के ऊपर चिह्नित कर दे और नीचे अपना तथा पूर्वजों का नाम अंकित कर दे और दान का परिमाण एवं उन स्मृतियों की उक्तियाँ लिख दे जो दिये हुए दान के लौटा लेने पर (दाता की) भर्त्सना करती हैं।"[15] याज्ञवल्क्य के सबसे प्राचीन टीकाकार विश्वरूप ने लिखा है कि दान-पत्र पर आज्ञा, दूतक आदि राजकर्मचारियों एवं राजसेना के ठहराव के स्थल आदि के नाम भी अंकित होने चाहिए, स्त्रियों (रानी या राजमाता) के नाम भी उल्लिखित होने चाहिए और होनी चाहिए चर्चा उन कुफलों की जो दान लौटा लेने से प्राप्त होते हैं। इसी विषय पर अपरार्क (पृ० ५७९-५८०) ने बृहस्पति एवं व्यास को उद्धृत किया है।

यदि हम अब तक के प्राप्त सहस्रों शिलालेखों या दान-पत्रों का अवलोकन करें तो पता चलता है कि स्मृतियों की उपर्युक्त उक्तियों का अक्षरशः पालन होता रहा है, विशेषतः पाँचवीं शताब्दी से याज्ञवल्क्य, बृहस्पति एवं व्यास आदि की उक्तियों के अनुसार ही दान-पत्र लिखे जाते रहे हैं। अत्यन्त प्राचीन शिलालेखों में दान-फल एवं दान देकर लौटा लेने के विषय में कुछ नहीं पाया जाता (देखिए गुप्त इंस्क्रिप्शंस, संख्या ८, पृ० ३६, जहाँ केवल इतना ही आया है--

अनुशासन (६२।१९), बृहस्पति (७), भविष्यपुराण (४।१६४।१८)। याज्ञवल्क्य (१।२१०) की टीका में मिताक्षरा ने इसे मनु की उक्ति माना है और द्वितीय पाद को 'ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा' लिखा है। बृहस्पति ने 'गोचर्म' को १० निवर्तनों के समान तथा एक निवर्तन को ३० लट्ठों के समान तथा एक लट्ठे को १० हाथों के समान माना है; दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डैर्निवर्तनम्। दश तान्येव विस्तारो गोचर्मैतन्महाफलम्॥ बृहस्पति (८)। बृहस्पति (९) ने गोचर्म की एक अन्य परिभाषा की है--गोचर्म उसे कहते हैं, जहाँ एक सहस्र गायें अपने बछड़ों एवं साँड़ के साथ स्वतन्त्र रूप से खड़ी रहती हैं--'सवृषं गोसहस्रं तु यत्र तिष्ठत्यतन्द्रितम्। बालवत्साप्रसूतानां तद् गोचर्म इति स्मृतम्॥' गोचर्म की अन्य परिभाषाओं के लिए देखिए पराशर (१२।४९), विष्णुधर्मसूत्र (५।१८१), अपरार्क (पृ० १२२५), हेमाद्रि (व्रतखण्ड भाग १, पृ० ५२-५३)। कौटिल्य (२।२०) ने एक दण्ड को चार अरत्नियों के बराबर, दस दण्डों को एक रज्जु के बराबर तथा तीन रज्जुओं को एक निवर्तन के बराबर माना है। निवर्तन शब्द नासिक शिलालेख (संख्या ५--एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ७३) एवं पल्लवों के राजा शिवस्कन्द वर्मा (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृष्ठ ६) के शिलालेख में आया है। इस प्रकार की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ११, पृ० २८०।

१५. दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं तु कारयेत्। आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः॥ पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम्। अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः॥ प्रतिग्रहपरीमाणं दानच्छेदोपवर्णनम्। स्वहस्तकालसम्पन्नं शासनं कारयेत्स्थिरम्॥ याज्ञवल्क्य (१।३१८-३२०)।

'जो भी कोई इस दातव्य को समाप्त करेगा वह पंच महापापों का भागी होगा', इसी प्रकार संख्या ५ (पृ० ३२) में आया है—'जो इस दातव्य को समाप्त करेगा वह ब्रह्महत्या एवं गोहत्या एवं पंच महापापों का अपराधी होगा।')

आरम्भिक अभिलेखों में दान-महत्ता एवं दान लौटा लेने के विषय में कोई विशेष चर्चा नहीं देखने में आती, किन्तु पश्चात्कालीन अभिलेखों में प्रभूत चर्चाएँ हुई हैं। कुछ उक्तियाँ तो सामान्य रूप से सारे भारत में उद्धृत की जाती रही हैं—"सगर तथा अन्य राजाओं ने पृथिवी का दान किया था; जो भी राजा पृथिवीपति होता है वह भूमि-दान का पुण्य कमाता है। भूमिदाता स्वर्ग में ६०,००० वर्षों तक आनन्द ग्रहण करता है, और जो दान लौटा लेता है वह उतने ही वर्षों तक नरक में वास करता है।" इन विधानों के रहते हुए भी कुछ राजाओं ने दान में दी गयी सम्पत्ति लौटा ली है, यथा इन्द्रराज तृतीय के अभिलेख (८३६ शकाब्द) से पता चलता है कि राजा ने ४०० ग्राम दानपात्रों को लौटाये, जो कि उसके पूर्व के राजाओं ने जप्त कर लिये थे (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृ० १४)। चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम (६६० ई०) के तलमंत्रि ताम्रपत्र से पता चलता है कि राजा ने मन्दिरों एवं ब्राह्मणों को पुनः तीन राज्यों में हृत दान लौटा दिये (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृ० १००)। राजतरंगिणी (१६६-१७०) से पता चलता है कि अवन्ति-वर्मा के पुत्र शंकरवर्मा ने अपने ऐश-आराम (व्यसनों) से खाली हुए कोश को मन्दिरों की सम्पत्ति छीनकर पूरा किया। पराशर (१२।५१) ने लिखा है कि दान में पूर्वदत्त सम्पत्ति को छीन लेने से एक सौ वाजपेय यज्ञ करने या लाखों गायें देने पर भी प्रायश्चित्त नहीं होता। परिव्राजक महाराज संक्षोभ के कोह पत्रों से एक विचित्र उक्ति का पता चलता है—'जो व्यक्ति मेरे इस दान को तोड़ेगा उसे मैं दूसरे जन्म में रहकर भी भयंकर शामाग्नि में जला दूँगा....' (देखिए, गुप्त इंस्क्रिप्शंस, संख्या २३, पृ० १०७)। बहुत से शिलालेखों में वर्णित दानों में ऐसा उल्लेख है कि "इस पूर्व-दान से रहित भूमि-खण्ड या स्थल में सब कुछ दिया जा रहा है...", यथा "पूर्वप्रत्त-देव-ब्रह्म-दाय-रहितः"। परमर्दि-देव (चन्देलों के राजा) के एक दान में (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २२ पृ० १२९) बुद्ध (बुद्ध-मन्दिर) को दिये गये पाँच हलों (भूमि-माप) को छोड़कर अन्य भू-भाग देने की चर्चा है। इससे स्पष्ट है कि वेदानुयायी राजा भी बुद्धमन्दिर को दिये गये दान का सम्मान करता था (देवश्रीबुद्ध-सत्क-पंच-हलं बहिष्कृत्य)। बहुत-से ऐसे उदाहरण मिले हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि राजाओं ने प्रतिग्रहीता की भूमि खरीदकर पुनः उसे वह दान में दे दी (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १७, पृ० ३४५)। राजा लोग दान दी हुई भूमि से किसी प्रकार का कर नहीं लेते थे (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ६५, वही, जिल्द ६, पृ० ८७, गुप्त इंस्क्रिप्शंस, संख्या ५५, पृ० २३५)।

भूमि या ग्राम के दान-पत्रों में आठ **भोगों** का वर्णन आया है (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ६, पृ० ९७)। विरूपाक्ष के श्रीशैल-पत्रों में भोगों के नाम आये हैं, यथा **निधि, निक्षेप** (भूमि पर जो कुछ दिया गया हो), **वारि** (जल), **अश्मा** (प्रस्तर, खानें), **अक्षिणी** (वास्तविक विशेषाधिकार), **आगामी** (भविष्य में होनेवाला लाभ), **सिद्ध** (जो भू-खंड कृषि के काम में ले लिया है) एवं **साध्य** (बंजर भूमि, जो कभी खेती के काम में आ सकती है)। इन शब्दों के अर्थ के लिए देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १३, पृ० ३४ एवं इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द १९, पृ०, २४४। मराठों के काल में भूमि-खण्डों एवं ग्रामों के दानों में 'जलतरुतृणकाष्ठपाषाणनिधिनिक्षेप' (जल, तरु, घास, लकड़ी, पत्थर, कोश एवं जमा) लिखा रहता था।

भूमि पर स्वामित्व किसका?—इस प्रश्न के विषय में बहुत प्राचीन काल से वाद-विवाद होता आया है। जैमिनि (६।७।३) ने लिखा है कि विश्वजित् यज्ञ में (जिसमें याज्ञिक अर्थात् यज्ञ करने वाला अपना सर्वस्व दान कर देता है) सम्राट् भी सम्पूर्ण पृथिवी का दान नहीं कर सकता, क्योंकि पृथिवी सब की है (सम्राट् तथा उनकी जो जोतते हैं और प्रयोग में लाते हैं)। शबर ने जैमिनि की इस उक्ति की व्याख्या की है और अन्त में कहा है कि पृथिवी पर सम्राट्

एवं अन्य लोगों के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं है। व्यवहारमयूख (पृ० ९१) ने भी उपर्युक्त बात दुहरायी है। उपर्युक्त मत के अनुसार पृथिवी के भू-खण्डों पर अधिकार उनका है जो जोतते हैं, बोते हैं, राजा को केवल कर एकत्र करने का अधिकार है। जब राजा स्वयं भूमि खरीद लेता है तो उसे उस भूमि को दान रूप में देने का पूर्ण अधिकार है। इससे स्पष्ट है कि भूमि पर राज्य का स्वामित्व नहीं है, वह केवल कर लेने का अधिकारी है।

एक दूसरा मत यह है कि राजा ही भूमि का स्वामी है, प्रजाजन केवल भोगी या अधिकारी मात्र हैं। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य १।३१८) ने लिखा है कि याज्ञवल्क्य के शब्दों से निर्देश मिलता है कि भू-दान करने या निबन्ध देने का अधिकार केवल राजा को है न कि किसी जनपद के शासक को।[१६] मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य २।११४) ने एक स्मृति की उक्ति उद्धृत की है—"छः परिस्थितियों में भूमि जाती है अर्थात् दी जाती है—अपने आप, ग्राम, ज्ञातियों (जाति भाई लोगों), सामन्तों, दायादों की अनुमति तथा संकल्प-जल से।" यहाँ राजा की अनुमति की चर्चा नहीं है। किन्तु कभी कभी राजा की आज्ञा की भी आवश्यकता समझी गयी है (देखिए गुप्त इंस्क्रिप्शंस, संख्या ३१, पृ० १३५)।

दान-सम्बन्धी ताम्रपत्रों की बड़ी महत्ता थी और कभी-कभी लोग कपटलेख का सहारा लेकर भू-सम्पत्ति पर अधिकार जताते थे। हर्षवर्धन के धुवन ताम्रपत्र (एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द ७, पृ० १५५) में वामरथ्य नामक ब्राह्मण के (सोमकुण्ड के ग्राम के विषय में) कूट लेख का प्रमाण दिया हुआ है। मनु (९।२३२) ने कपटाचरण से राजकीय आज्ञाओं की प्राप्ति पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है (देखिए फ्लीट का "स्पूरिएस इण्डिएन रेकार्ड्स" नामक लेख, इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ३०, पृ० २०१)।

मनु तथा अन्य स्मृतिकारों के कथनानुसार यह पता चलता है कि कर्षित भूमि (खेती के काम में लायी जाती भूमि) पर कृषकों का स्वामित्व था और राजा को उसकी रक्षा करने के हेतु कर दिया जाता था। मनु (७।१३०-१३२) में आया है—"राजा को पशुओं एवं सोने का १/५० भाग, अनाजों का १/६, १/८ या १/१२ भाग तथा वृक्षों, मांस, मधु, घृत, गंधों, जड़ी-बूटियों (ओषधियों), तरल पदार्थों (मदिरा आदि, पुष्पों), जड़-मूलों, फलों आदि का १/६ भाग लेना चाहिए। मनु (१०।११८) ने अप्रत्याशित अवसरों पर भूमि की उपज पर १/४ भाग तक कर लगा देने की व्यवस्था दी है। मनु (९।४४) ने लिखा है कि भूमि उसी की है, जो घास, फूस, झाड आदि को दूर कर उसे खेती के योग्य बनाता है। मनु (८।३९) ने लिखा है कि भूमि में गड़े धन या खान में पाये गये धन का भागी राजा इसीलिए होता है कि वह पृथ्वी का शासक और रक्षक है। इस उक्ति से स्पष्ट है कि मनु राजा को भूमि का स्वामी नहीं मानते थे। नहीं तो गड़े हुए धन तथा खानों की सम्पत्ति पर वे उसका (राजा का) पूर्ण अधिकार बताते और केवल थोड़ा भाग पा लेने का अधिकारी न बताते। मनु (८।२४३) ने समय पर खेती न करने वाले कृषकों पर दण्ड की व्यवस्था की है। इस दण्ड का अर्थ केवल इतना ही है कि खेती न करने से राजा का भाग मारा जाता है, क्योंकि दूसरे व्यक्ति को जोतने-बोने तथा समय से खेती करने से राजा को कर के रूप में अपना भाग मिलता है। उपर्युक्त उक्तियों से प्रकट होता है कि मनु कृषकों को अर्थात् खेती करने वालों को ही भूमि का स्वामी मानते थे, वे राजा को केवल कर या भाग लेने का अधिकारी मानते थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुछ अच्छे राजा कृषकों से भूमि खरीदकर प्रतिग्रहीता ब्राह्मणों या धार्मिक स्थानों को

१६. अनेन भूपतेरेव भूमिदाने निबन्धदाने चाधिकारो न भोगपतेरिति दर्शितम्। मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य १।३१८। बहुत-से दानपत्र राष्ट्रपतियों, विषयपतियों, भोगपतियों आदि को सम्बोधित हैं। देखिए गुप्त इंस्क्रिप्शंस, संख्या २४, पृ० ११०, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ११, पृ० ८२ एवं जिल्द १२, पृ० ३४ में 'भोग' शब्द (जो राज्य में जिले या जनपद का द्योतक है) की व्याख्या देखिए; यही अर्थ 'भुक्ति' शब्द का भी है।

दान करते थे। हाँ, वह भूमि जो कर्षित नहीं थी, वह राजा के पूर्ण अधिकार में थी। मनु (७।११५, ११९) के मत से राजा को एक ग्राम के लिए एक मुखिया तथा दस, बीस, सौ एवं एक सहस्र ग्रामों के लिए अधिकारी नियुक्त करने चाहिए, जिनमें प्रत्येक को अपने ऊपर के अधिकारी को अपनी सीमा के अपराधों तथा अन्य बातों की सूचना देनी चाहिए। मुखिया को भोजन, ईंधन आदि के लिए अर्थात् अपनी जीविका के लिए गाँव पर ही निर्भर रहना पड़ता था (वह उतना पा सकता था, जितना कि राजा गाँव से प्रति दिन पाने का अधिकारी था), तथा अन्य अधिकारियों को भूमि दान में मिलती थी (वैसी ही भूमि जो कर्षित नहीं होती थी)। कौटिल्य (२।१) का कहना है कि खेती के योग्य बनायी गयी भूमि कृषकों को दी जानी चाहिए, क्योंकि वे जीवनभर कर देंगे, किन्तु जो खेत नहीं जोतते उनकी भूमि जप्त कर दूसरे को दे दी जानी चाहिए, किन्तु अध्यक्षों, आय-व्यय का ब्यौरा रखनेवालों तथा अन्य लोगों को दी गयी भूमि न तो उनके द्वारा बेची जा सकती और न बन्धक रखी जा सकती है। स्थानाभाव के कारण इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को हम आगे नहीं ले जा सकते। भूमि पर लगी मालगुजारी किराया है या कर है? इस प्रश्न का उत्तर कई ढंग से दिया जाता है। बैडेन पावेल ने अपनी पुस्तक "लैण्ड सिस्टम आव ब्रिटिश इण्डिया" (पृ० २४०, २८०) में लिखा है कि भूमि का लगान किराया नहीं कर है।

अग्रहार––अति प्राचीन काल से ब्राह्मणों को दान में दिये गये ग्राम या भूमिखण्ड **अग्रहार** के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। महाभारत में इसकी चर्चा बहुत बार हुई है (वनपर्व ६८।४, आश्रमवासिपर्व २।२, १०।४१, १३।११, १४।१४, २५।५)। और देखिए इस विषय में एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द, १ पृ० ८८, मधुवन ताम्रपत्र (वही, जिल्द १ पृ० ७३ एवं जिल्द ७ पृ० १५८)।

महादान

कुछ वस्तुओं के दान महादान कहे जाते थे। अग्निपुराण (२०९।२३-२४) के अनुसार दस महादान ये हैं–– सोने, अश्वों, तिल, हाथियों, दासियों, रथों, भूमि, घर, दुलहिन एवं कपिला गाय का दान। पुराणों में सामान्यतः महादानों की संख्या १६ है जो निम्नोक्त हैं––तुलापुरुष (मनुष्य के बराबर सोना या चाँदी तोलकर ब्राह्मणों में बाँट देना), हिरण्यगर्भ, ब्रह्माण्ड, कल्पवृक्ष, गोसहस्र, कामधेनु (या हिरण्य-कामधेनु), हिरण्याश्व, हिरण्याश्वरथ (या केवल अश्वरथ), हेमहस्तिरथ (या केवल हस्तिरथ), पंचलांगल, धरादान (या हैमधरादान), विश्वचक्र, कल्पलता (या महाकल्प), सप्तसागर, रत्नधेनु, महाभूतघट। लिंगपुराण (उत्तरार्ध, अध्याय २८) में इन नामों में कुछ विभिन्नता है। इनमें से कुछ नाम बहुत प्राचीन हैं। महाभारत (आश्रमवासिपर्व ३।३१, १३।१५) में 'महादानानि' शब्द आया है। हाथीगुम्फा अभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ७९) में 'कल्पवृक्ष' दान का नाम आया है। बाण ने भी महादानों तथा गोसहस्र नामक महादान की चर्चा की है (हर्षचरित ३)। उषवदात ने जिन वस्तुओं का दान किया था, उनमें कुछ महादानों की सूची में आ जाते हैं (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ७ पृष्ठ ५७ एवं जिल्द ८ पृ० ७८)। अभिलेखों में **तुलापुरुष** का उल्लेख कई बार हुआ है (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ७ पृ० २६; १०, पृ० ११२; ९, पृ० २४; ११, पृ० २०; १४, पृ० १९७; ७, पृ० १७)। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन ने, **हेमाश्वरथ** नामक महादान करते समय एक ग्राम दान में दिया था (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १२ पृ० १०)। अमोघवर्ष के सञ्जन पत्रों में **हिरण्यगर्भ** नामक महादान की चर्चा हुई है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १८, पृ० २३५, २३८)। इसी प्रकार पंचलांगल व्रत का भी उल्लेख हुआ है (जे० बी० बी० आर० एस० जिल्द १३ पृ० १)।

महादान-विधि––मत्स्यपुराण (अध्याय २७४-२८९) ने लगभग ४०० श्लोकों में महादानों की विधि की चर्चा की है, इनमें से तथा भविष्योत्तरपुराण से बहुत से पद्य लेकर अपरार्क (पृ० ३१३-२४४) ने उद्धृत किये हैं। हेमाद्रि (दान-

खण्ड, पृ० १६६-३४५) ने बहुत विशद वर्णन उपस्थित किया है और लिंग, गरुड़ तथा अन्य पुराणों एवं तन्त्र तथा आगम ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। दानमयूख ने ८६ से १५१ पृ० तक १६ महादानों के विषय में लिखा है। मत्स्यपुराण (२७४। ११-१२) ने लिखा है कि वासुदेव, अम्बरीष, भार्गव, कार्तवीर्य-अर्जुन, राम, प्रह्लाद, पृथु एवं भरत ने महादान किये थे। इसके उपरान्त इस पुराण ने 'मण्डप' के निर्माण के विषय में नियम दिये हैं, मण्डप कई प्रकार के होते हैं, अर्थात् उनकी आकृतियाँ कई प्रकार की हो सकती हैं और उनके आकार भी विविध ढंग के हो सकते हैं, यथा—१६ अरत्नियों वाले (१ अरत्नि = दाता के २१ अंगुल की) या १२ या १० हाथ वाले, जिनमें चार द्वार और एक वेदी का होना आवश्यक है। वेदी ईंटों से बनी ७ या ५ हाथ की होनी चाहिए, छादन सँभालने के लिए एक तनोवा चाहिए, ९ या ५ कुण्ड होने चाहिए। दो-दो मंगल-घट मण्डप के प्रत्येक द्वार पर होने चाहिए,[१७] तुला दो पलड़े वाली होनी चाहिए, जिसकी डाँड़ी अश्वत्थ, बिल्व, पलाश आदि की लकड़ी की होनी चाहिए और उसमें सोने के आभूषण जड़े होने चाहिए। अन्य विस्तार स्थानाभाव के कारण नहीं दिये जा रहे हैं। चारों दिशाओं में चार वेदज्ञ ब्राह्मण बैठने चाहिए, यथा पूर्व में ऋग्वेदी, दक्षिण में यजुर्वेदी, पश्चिम में सामवेदी एवं उत्तर में अथर्ववेदी। इसके उपरान्त गणेश, ग्रह, लोकपालों, आठ वसुओं, आदित्यों, मरुतों, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, ओषधियों को चार चार आहुति होम किया जाता है, तथा इनसे सम्बन्धित वैदिक मन्त्र पढ़े जाते हैं।

तुला-पुरुष—होम के उपरान्त गुरु पुष्प एवं गन्ध के साथ पौराणिक मन्त्रों का उच्चारण करके लोकपालों का आवाहन करते हैं, यथा—इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, सोम, ईशान, अनन्त एवं ब्रह्मा। इसके उपरान्त दाता सोने के आभूषण, कर्णभूषण, सोने की सिकड़ियाँ, कंगन, अंगूठियाँ एवं परिधान पुरोहितों को तथा इनके दूने (जो प्रत्येक ऋत्विक् को दिया जाय उसका दूना) पदार्थ गुरु को देने के लिए प्रस्तुत करता है। तब ब्राह्मण शान्ति-सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों का पाठ करते है। इसके उपरान्त दाता पुनः स्नान करके, श्वेत वस्त्र धारण करके, श्वेत पुष्पों की माला पहन कर तथ हाथों में पुष्प लेकर तुला का (कल्पित विष्णु का) आवाहन करता है और तुला की परिक्रमा करके एक पलड़े पर चढ़ जाता है, दूसरे पलड़े पर ब्राह्मण लोग सोना रख देते हैं। इसके उपरान्त पृथिवी का आवाहन होता है और दाता तुला को छोड़कर हट जाता है। फिर वह सोने का एक आधा भाग गुरु को तथा दूसरा भाग ब्राह्मणों को, उनके हाथों पर जल गिराते हुए देता है। दाता अपने गुरु एवं ऋत्विजों को ग्राम-दान भी कर सकता हैं। जो यह कृत्य करता है वह अनन्त काल तक विष्णुलोक में निवास करता है। यही विधि रजत या कर्पूर तुलादान में भी अपनायी जाती है (अपरार्क पृ० ३२०, हेमाद्रि-दानखण्ड, पृ० २१४)। राजा लोग कभी-कभी स्वर्ण का तुलादान अर्थात् तुलापुरुष महादान तो करते ही थे, कभी-कभी मन्त्रियों ने भी ऐसा किया है, जैसा कि मिथिला के राजाओं के मन्त्री चण्डेश्वर ने अपनी पुस्तक विवादरत्नाकर में अभिमान के साथ वर्णन किया है।

१७. नीलकण्ठ के पुत्र शंकर द्वारा प्रणीत कुण्डार्क नामक ग्रन्थ ने १५ पद्यों में कुण्डों के विषय में उल्लेख किया है। कुण्ड दस प्रकार के होते हैं—वृत्ताकार, कमलाकार, चन्द्राकार, योनिवत्, त्रिभुजाकार, पंच भुजाकार, षड्भुजाकार, सप्तभुजाकार एवं अष्टभुजाकार। उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा में खींचा हुआ कर्ण एक, दो, चार, छः या आठ हाथों का हो सकता है, जो १००० से १०,००० आहुतियों या १०,००० से लेकर एक लाख या एक लाख आहुतियों से एक करोड़ आहुतियों वाला (८ हाथ लम्बा कर्ण) हो सकता है। कर्ण की इतनी बड़ी लम्बाई का कारण यही है कि आहुतियाँ कुण्ड के बाहर न गिरें। विभिन्न प्रकार के कुण्ड विभिन्न प्रकार के कृत्यों के लिए निर्धारित हैं। विस्तार के लिए पढ़िए हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० १२५-१३४)।

हिरण्यगर्भ—इस विषय में देखिए मत्स्यपुराण (२७५) एवं लिंगपुराण (२।२९)। मण्डप, काल, स्थल, पदार्थ (सामग्रियाँ), पुण्याहवाचन, लोकपालों का आवाहन आदि इस महादान तथा अन्य महादानों में वैसा ही है जैसा कि तुलापुरुष में होता है। दाता एक सोने का कुण्ड (थाल या परात या बरतन), जो ७२ अंगुल ऊँचा एवं ४८ अंगुल चौड़ा होता है, लाता है। यह कुण्ड मुरजाकार (मृदंगाकार) होता है या सुनहले कमल (आठ दल वाले) के भीतरी भाग के आकार का होता है। यह स्वर्णिम पात्र, जो हिरण्यगर्भ कहलाता है, तिल की राशि पर रखा जाता है। इसके उपरान्त पौराणिक मन्त्रों के साथ सोने के पात्र को सम्बोधित किया जाता है और उसे हिरण्यगर्भ (स्रष्टा) के समान माना जाता है।[18] तब दाता उस हिरण्यगर्भ के अन्दर उत्तराभिमुख बैठ जाता है और गर्भस्थ शिशु की भाँति पाँच श्वासों के काल तक बैठा रहता है, उस समय उसके हाथों में ब्रह्मा एवं धर्मराज की स्वर्णाकृतियाँ रहती हैं। तब गुरु स्वर्णपात्र (हिरण्यगर्भ) के ऊपर गर्भाधान, पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन के मन्त्रों का उच्चारण करता है। इसके उपरान्त गुरु वाद्य-यन्त्रों या मंगलगानों के साथ हिरण्यपात्र से दाता को बाहर निकल आने को कहता है। इसके उपरान्त शेष बारहों संस्कार प्रतीकात्मक ढंग से सम्पादित किये जाते हैं। दाता हिरण्यगर्भ के लिए मन्त्रपाठ करता है और कहता है—"पहले मैं मरणशील के रूप में माँ से उत्पन्न हुआ था, किन्तु अब आप से उत्पन्न होने के कारण दिव्य शरीर धारण करूँगा।" इसके उपरान्त दाता सोने के आसन पर बैठकर 'देवस्य त्वा' नामक मन्त्र के साथ स्नान करता है और हिरण्यगर्भ को गुरु एवं अन्य ऋत्विजों में बाँटता है।

ब्रह्माण्ड—देखिए मत्स्यपुराण (२७६)। इस दान में दो ऐसे स्वर्ण-पात्र निर्मित होते हैं, जो गोलार्ध के दो भागों के समान होते हैं, जिनमें एक द्यौ (स्वर्ग) तथा दूसरा पृथिवी माना जाता है। ये दोनों अर्ध पात्र दाता की सामर्थ्य के अनुसार बीस से लेकर एक सहस्र पलों के वजन के हो सकते हैं और उनकी लम्बाई-चौड़ाई १२ से १०० अंगुल तक हो सकती है। इन दोनों अर्धों पर आठ दिग्गजों, वेदों, छः अंगों, अष्ट लोकपालों, ब्रह्मा (मध्य में), शिव, विष्णु, सूर्य (ऊपर), उमा, लक्ष्मी, वसुओं, आदित्यों, (भीतर) मरुतों की आकृतियाँ (सोने की) होनी चाहिए, दोनों को रेशमी वस्त्र से लपेटकर तिल की राशि पर रख देना चाहिए और उनके चतुर्दिक् १८ प्रकार के अन्न सजा देने चाहिए। इसके उपरान्त आठों दिशाओं में, पूर्व दिशा से आरम्भ कर अनन्तशयन (सर्प पर सोये हुए विष्णु), प्रद्युम्न, प्रकृति, संकर्षण, चारों वेदों, अनिरुद्ध, अग्नि, वासुदेव की स्वर्णिम आकृतियाँ क्रम से सजा देनी चाहिए। वस्त्रों से ढके हुए दस घट पास में रख देने चाहिए। स्वर्णजटित सींगों वाली दस गायें, दूध दुहने के लिए वस्त्रों से ढके हुए कांस्य-पात्रों के साथ दान में दी जानी चाहिए। चप्पलों, छाताओं, आसनों, दर्पणों की भेट भी दी जानी चाहिए। इसके उपरान्त सोने के पात्र (जिसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है) का पौराणिक मन्त्रों के साथ सम्बोधन होता है और सोना गुरु एवं ऋत्विजों या पुरोहितों में (दो भाग गुरु को तथा शेषांश आठ ऋत्विजों को) बाँट दिया जाता है।

कल्पपादप या कल्पवृक्ष—(मत्स्य २७७, लिंग २।३३)। भाँति-भाँति के फलों, आभूषणों एवं परिधानों से सुसज्जित कल्पवृक्ष का निर्माण किया जाता है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार सोने की मात्रा तीन पलों से लेकर एक सहस्र तक हो सकती है। आधे सोने से कल्पपादप बनाया जाता है और ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं सूर्य की आकृतियाँ रख दी जाती हैं। पाँच शाखाएँ भी रहती हैं। इनके अतिरिक्त बचे हुए आधे सोने की चार टहनियाँ, जो क्रम से सन्तान, मन्दार, पारिजातक एवं हरिचन्दन की होती हैं, बनायी जाती हैं, जिन्हें क्रम से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर में रख दिया

१८. ऋग्वेद का १०।१२१।१-१० वाला अंश हिरण्यगर्भ के लिए है और उसका आरम्भ 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' से होता है।

जाता है। कल्पपादप (कल्पवृक्ष) के नीचे कामदेव एवं उसकी चार स्त्रियों की सोने की आकृतियाँ रख दी जाती हैं। जलपूर्ण आठ कलश वस्त्र से ढककर दीपकों, चामरों एवं छातों के साथ रख दिये जाते हैं। इनके साथ १८ धान्य रहते हैं।[१९] संसाररूपी समुद्र से पार कराने के लिए कल्पवृक्ष की स्तुतियाँ की जाती हैं। इसके उपरान्त कल्पवृक्ष गुरु को तथा अन्य चार टहनियाँ चार पुरोहितों को दे दी जाती हैं।[२०] सन्तानहीन पुरुष एवं स्त्री को यह महादान करना चाहिए (अपरार्क, पृ० ३२६)।

गोसहस्र—(मत्स्य २७८ एवं लिंग २।३८)। दाता को तीन या एक दिन केवल दूध पर रहना चाहिए और तब लोकपालों के आवाहन, पुण्याहवाचन, होम आदि कृत्यों का सम्पादन होना चाहिए। इसके उपरान्त एक सुवर्णमय बैल के शरीर पर सुगंधित पदार्थ का लेप करके उसे वेदी पर खड़ा करना चाहिए और एक सहस्र गायों में से १० गायों को चुन लेना चाहिए। इन गायों पर वस्त्र उढ़ाया रहना चाहिए, इनके सींगों के ऊपर सुनहरा पानी चढ़ा देना या सोने का पत्र लगा देना चाहिए, खुरों पर चाँदी चढ़ा देनी चाहिए और तब उन्हें मण्डप में लाकर सम्मानित करना चाहिए। इन दसों गायों के मध्य में नन्दिकेश्वर (शिव के बैल) को खड़ा कर देना चाहिए। नन्दिकेश्वर के गले में सोने की घण्टियाँ, ऊपर रेशमी वस्त्र, गन्ध, पुष्प होने चाहिए तथा उसके सींगों पर सोना चढ़ा रहना चाहिए। इसके उपरान्त दाता को सर्वौषधियों[२१] से पूरित जल में स्नान करके हाथों में पुष्प लेकर मन्त्रों के साथ गायों का आह्वान करना चाहिए और उनकी महत्ता की प्रशंसा करनी चाहिए। इसी प्रकार दाता को चाहिए कि वह नन्दिकेश्वर बैल (नन्दी) को धर्म कहकर पुकारे। इसके उपरान्त दाता दो गायों के साथ नन्दी की स्वर्णाकृति गुरु को तथा आठ पुरोहितों में प्रत्येक को एक-एक गाय देता है। शेष गायों को, ५ या १० की संख्या में, अन्य ब्राह्मणों में बाँट दिया जाता है। दाता को पुनः एक दिन दूध पर ही रह जाना पड़ता है तथा पूर्ण सन्तोष रखना पड़ता है। इस महादान के करने से दाता शिवलोक की प्राप्ति करता है तथा अपने पितरों, नाना एवं अन्य मातृपितरों की रक्षा करता है।

कामधेनु—(मत्स्य २७९, लिंग २।३५)। बहुत अच्छी सोने की दो आकृतियाँ बनायी जाती हैं; एक गाय की और दूसरी बछड़े की। सोने की तोल १००० या ५०० या २५० पलों की या सामर्थ्य के अनुसार केवल तीन पलों की हो सकती है। वेदी पर एक काले मृग का चर्म बिछा देना चाहिए जिस पर सोने की गाय आठ मंगल-घटों, फलों, १८ प्रकार के अनाजों, चामरों, ताम्रपात्रों, दीपों, छाता, दो रेशमी वस्त्रों, घंटियों, गले के आभूषणों आदि के साथ रख दी जाती है। दाता पौराणिक मन्त्रों के साथ गाय का आह्वान करता है और तब गुरु को गाय एवं बछड़े का दान करता है।

हिरण्याश्व—(मत्स्य २८०)। वेदी पर मृगचर्म बिछाकर उस पर तिल रख देने चाहिए। कामधेनु के बराबर तोल वाले सोने का एक घोड़ा बनाना चाहिए। दाता घोड़े का भगवान् के रूप में आह्वान करता है और वह आकृति

१९. श्यामाकधान्ययवमुद्गतिलाणुमाषगोधूमकोद्रवकुलत्थसतीनशिम्बैः।
अष्टादशं चणकलायमयोष्टराजमाषप्रियंगुसहितं च मसूरमाहुः॥ (अपरार्क पृ० ३२३)।
मत्स्यपुराण (२७६।७) ने भी १८ अन्न बताये हैं।

२०. पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥ अर्थात् कल्पवृक्ष (अभिकांक्षा की पूर्ति करनेवाले) पाँच हैं—मन्दार, पारिजातक, सन्तान, कल्पवृक्ष एवं हरिचन्दन।

२१. सर्वौषधियाँ दस हैं—"कुष्ठं मांसी हरिद्रे द्वे मुरा शैलेयचन्दनम्। वचाचम्पकमुस्तं च सर्वौषध्यो दश स्मृताः॥ छन्दोगपरिशिष्ट (दानमयूख पृ० १७ में उद्धृत)।

गुरु को दान में दे देता है। हेमाद्रि ने घोड़े की आकृति के चारों पैरों एवं मुख पर चाँदी की चद्दर लगाने की बात कही है (दानखण्ड, पृ० २७८)।

हिरण्याश्वरथ—(मत्स्य २८१)। सात या चार घोड़ों, चार पहियों एवं ध्वजा वाला एक सोने का रथ बनवाना चाहिए। ध्वजा पर नीले रंग का कलश रहना चाहिए। चार मंगल-घट होते हैं। इसका दान चामरों, छाता, रेशमी परिधानों एवं सामर्थ्य के अनुसार गायों के साथ किया जाता है।

हेमहस्तिरथ—(मत्स्य २८२)। चार पहियों एवं मध्य में आठ लोकपालों, ब्रह्मा, शिव, सूर्य, नारायण, लक्ष्मी एवं पुष्टि की आकृतियों के साथ एक सोने का रथ (छोटा अर्थात् खिलौने के आकार का) बनवाना चाहिए। ध्वजा पर गरुड़ एवं स्तम्भ पर गणेश की आकृति होनी चाहिए। रथ में चार हाथी होने चाहिए। आह्वान के उपरान्त रथ का दान कर दिया जाता है।

पञ्चलांगलक—(मत्स्य २८३)। पुष्ट वृक्षों की लकड़ी के पाँच हल बनवाने चाहिए। इसी प्रकार पाँच फाल सोने के होने चाहिए। दस बैलों को सजाना चाहिए; उनके सींगों पर सोना, पूँछ में मोती, खुरों में चाँदी लगानी चाहिए। उपर्युक्त वस्तुओं का दान सामर्थ्य के अनुसार एक खर्वट के बराबर भूमि, खेट या ग्राम या १०० या ५० निवर्तनों के साथ होना चाहिए। एक सपत्नीक ब्राह्मण को सोने की सिकड़ियों, अँगूठियों, रेशमी वस्त्रों एवं कंगनों का दान करना चाहिए।

धरादान या हैमधरादान—(मत्स्य २८४)। अपनी सामर्थ्य के अनुसार ५ पलों से लेकर १००० पल सोने की पृथिवी का निर्माण कराना चाहिए। पृथिवी की आकृति जम्बूद्वीप-जैसी होनी चाहिए, जिसमें किनारे पर अनेक पर्वत, मध्य में मेरु पर्वत और सैकड़ों आकृतियाँ एवं सातों समुद्र बने रहने चाहिए। इसका पुनः आवाहन किया जाता है। आकृति का १/२ या १/४ गुरु को तथा शेष पुरोहितों को बाँट दिया जाता है।

विश्वचक्र—(मत्स्य २८५)। एक सोने के चक्र का निर्माण होना चाहिए, जिसमें १६ तीलियाँ एवं ८ मण्डल (परिधि) हों और उसकी तोल अपनी सामर्थ्य के अनुसार २० पलों से लेकर १००० पलों तक होनी चाहिए। प्रथम मध्यमाग पर योगी की मुद्रा में विष्णु की आकृति होनी चाहिए, जिसके पास शंख एवं चक्र तथा आठ देवियों की आकृतियाँ रहनी चाहिए। दूसरे मण्डल पर अत्रि, भृगु, वसिष्ठ, ब्रह्मा, कश्यप तथा दशावतारों की आकृतियाँ खुदी रहनी चाहिए। तीसरे पर गौरी एवं माता-देवियों, चौथे पर १२ आदित्यों तथा चार वेदों, पाँचवें पर पाँच भूतों (क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीर) एवं ११ रुद्रों, छठे पर आठ लोकपालों एवं दिशाओं, आठ हस्तियों, सातवें पर आठ अस्त्र-शस्त्रों[22] एवं आठ मंगलमय वस्तुओं तथा आठवें पर सीमा के देवताओं की आकृतियाँ बनी रहती हैं। दाता चक्र का आवाहन करके दान कर देता है।

महाकल्पलता—(मत्स्य २८६)। विभिन्न पुष्पों एवं फलों की आकृतियों के साथ सोने की दस कल्पलताएँ बनानी चाहिए, जिन पर विद्याधरों की जोड़ियों, लोकपालों से मिलते हुए देवताओं एवं ब्राह्मी, अनन्तशक्ति, आग्नेयी, वारुणी तथा अन्य शक्तियों की आकृतियाँ होनी चाहिए तथा सबके ऊपर एक वितान की आकृति भी होनी चाहिए।

२२. आठ प्रकार के अस्त्र-शस्त्र ये हैं—खड्ग शूलगदाशक्तिकुन्तांकुशधनूंषि च। स्वधितिश्चेति शस्त्राणि तेषु चापं प्रशस्यते ॥ गरुडपुराण (हेमाद्रि, दानखण्ड, पृ० ३३३)। आठ प्रकार के मंगल्य पदार्थ ये हैं—दक्षिणावर्तशंखश्च रोचना चन्दनं तथा। मुक्ताफलं हिरण्यं च छत्रं चामरमेव च। आदर्शश्चेति विज्ञेयं मंगल्यं मंगलावहम् ॥ पराशर (हेमाद्रि, वही)।

वेदी पर खिंचे हुए एक वृत्त के मध्य में दो कल्पलताएँ तथा वेदी की आठों दिशाओं में अन्य आठ कल्पलताएँ रख दी जानी चाहिए। दस गायें एवं मंगल-घट भी होने चाहिए। दो कल्पलताएँ गुरु तथा अन्य आठ कल्पलताएँ पुरोहितों को दान में दे दी जानी चाहिए।

सप्तसागरक—(मत्स्य २८७)। सामर्थ्य के अनुसार ७ पलों से लेकर १००० पलों तक के सोने से १०$^{1}/_{2}$ अंगुल (प्रादेश) या २१ अंगुल कर्ण वाले सात पात्र (कुण्ड) बनाये जाने चाहिए, जिनमें क्रम से नमक, दूध, घृत, इक्षुरस, दही, चीनी एवं पवित्र जल रखा जाना चाहिए। इन कुण्डों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, इन्द्र, लक्ष्मी एवं पार्वती की आकृतियाँ डुबो देनी चाहिए और उनमें सभी रत्न डाले जाने चाहिए तथा उनके चतुर्दिक् सभी धान्य सजा देने चाहिए। वरुण का होम करके सातों समुद्रों का (कुण्डों के प्रतीक के रूप में) आवाहन करना चाहिए और इसके उपरान्त उनका दान करना चाहिए।

रत्नधेनु—बहुमूल्य रत्नों से एक गाय की सुन्दर आकृति बनायी जाती है। उस आकृति के मुख में ८१ पद्मराग-दल रखे जाते हैं, नाक की पोर के ऊपर १०० पुष्पराग-दल, मस्तक पर स्वर्णिम तिलक, आँखों में १०० मोती, भौंहों पर १०० सीपियाँ रखी जाती हैं, कान के स्थान पर सीपियों के दो टुकड़े रहते हैं। सींग सोने के होते हैं। सिर १०० हीरक मणियों का होता है। गरदन (ग्रीवा) पर १०० हीरक मणियाँ होती हैं। पीठ पर १०० नील मणियाँ, दोनों पार्श्वों में १०० वैदूर्य मणियाँ, पेट पर स्फटिक पत्थर, कमर पर १०० सौगन्धिक पत्थर होते हैं। खुर सोने के एवं पूँछ मोतियों की होती है। इसी तरह शरीर के अन्यान्य भाग विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत किये जाते हैं। जीभ शक्कर की, मूत्र घृत का, गोबर गुड़ का होता है। गाय का बछड़ा गाय की सामग्रियों के आधे भाग का बना होता है। गाय एवं बछड़े का दान हो जाता है।

महाभूतघट—(मत्स्य २८९)। १०$^{1}/_{2}$ अंगुल से लेकर १०० अंगुल तक के कर्ण पर रखे हुए बहुमूल्य रत्नों पर एक सोने का घट रखा जाता है। इसे दूध एवं घी से भरा जाता है और इस पर ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की आकृतियाँ रची जाती हैं। कूर्म द्वारा उठायी गयी पृथिवी, मकर (वाहन) के साथ वरुण, भेड़े (वाहन) के साथ अग्नि, मृग (वाहन) के साथ वायु, चूहे (वाहन) के साथ गणेश की आकृतियाँ घट में रखी जाती हैं। इनके अतिरिक्त जपमाला के साथ ऋग्वेद, कमल के साथ यजुर्वेद, बाँसुरी के साथ सामवेद एवं स्रुक्-स्रुवों (करछुलों) के साथ अथर्ववेद एवं जपमाला तथा जलपूर्ण कलश के साथ पुराणों (पाँचवें वेद) की आकृतियाँ भी घट में रखी जाती हैं। इसके उपरान्त सोने का घड़ा दान में दे दिया जाता है।

गोदान

गोदान-महिमा—अधिकांश स्मृतियों ने गाय के दान की बड़ी प्रशंसा की है। मनु (४।२३१) के अनुसार गोदान करनेवाला सूर्यलोक में जाता है। याज्ञवल्क्य (१।२०४-२०५) एवं अग्निपुराण (२१०।३०) के अनुसार देय गाय के सींग तथा खुर क्रम से सोने एवं चाँदी से जटित होने चाहिए। गाय के गले में घण्टी, उसको दुहने के लिए पात्र एवं उसके ऊपर वस्त्रावरण होना चाहिए। गाय सीधी होनी चाहिए (मरकही=मारने वाली, लात, सींग चलाने वाली न हो)। दान के साथ दक्षिणा होनी चाहिए। जो इस प्रकार की गाय का दान करता है वह उतने ही वर्षों तक स्वर्ग में रहता है जितने कि गाय के शरीर पर बाल होते हैं (देखिए संवर्त, ७१, ७४-७५)। अनुशासनपर्व (५१। २६-३४) में गोदान की महिमा का वर्णन है।[23] अनुशासनपर्व (८३।१७-१) ने लिखा है कि गाय यज्ञ का मूलभूत

२३. गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत। कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव॥ गवां प्रशस्यते

साधन है, क्योंकि यह मनुष्य का दूध से प्रतिपालन करती है एवं इसकी सन्तानों (बैलों) से कृषि का कार्य होता है, अतः इसकी प्रशंसा का गान होना चाहिए। अपरार्क (पृ० २९५-२९७) ने पुराणों द्वारा की गयी प्रशंसा उद्धृत की है। गायों में कपिला गाय के दान की प्रभूत महत्ता गायी गयी है; इस गाय का दान सर्वश्रेष्ठ कहा गया है (अनुशासन ७३।४२ एवं ७७।८)। याज्ञवल्क्य (१।२०५) ने लिखा है कि कपिला गाय का दाता अपने साथ अपनी सात पीढ़ियों को तार देता है (पाप से रक्षा करता है)। एक कपिला गाय अन्य १० साधारण गायों के समान है (अपरार्क, पृ० २९७, संवर्त का उद्धरण)।

गोदान की विधि—वराहपुराण (१११) ने गोदान का वर्णन किया है जिसे हम यहाँ संक्षेप में देते हैं। कपिला गाय को बछड़े के साथ पूर्वाभिमुख करके दाता (स्नान करके तथा शिखा बाँधकर) उसकी पूजा करता है। वह उसकी पूँछ के पास बैठता है और प्रतिग्रहीता उत्तराभिमुख बैठता है। दाता अपने हाथ में घृतपूर्ण पात्र लेता है जिसमें सोने का एक टुकड़ा रख दिया जाता है। गाय की पूँछ को मक्खन में डुबोकर प्रतिग्रहीता के दाहिने हाथ में पकड़ा दिया जाता है, किन्तु गाय की पूँछ का बाल वाला भाग पूर्व दिशा में ही रखा जाता है। प्रतिग्रहीता के हाथ में जल, तिल एवं कुश रख दिये जाते हैं। दाता अपने हाथ में जलपात्र लेकर पौराणिक मन्त्रों के साथ जल छिड़कता है, दक्षिणा देता है और जब गाय प्रतिग्रहीता के साथ चलने लगती है तो वह कुछ कदम आगे अनुसरण करके गाय की स्तुति करता है। अग्निपुराण ने मरणासन्न मनुष्य के लिए काली गाय का दान श्रेयस्कर माना है, क्योंकि उससे यमलोक की नदी वैतरणी को पार करने में सुगमता होती है। इसी से गाय को भी 'वैतरणी' कहा गया है।

उभयतोमुखी-गोदान—याज्ञवल्क्य (१।२०६-२०७), अग्निपुराण (२१०।३३), विष्णुधर्मसूत्र (८८।१-४), वनपर्व (२००।६९-७१), अत्रि (३३३), वराहपुराण (११२) आदि ने उभयतोमुखी गाय (जो तुरन्त ही बछड़ा देने वाली हो) के दान की विशिष्टता प्रकट की है और कहा है कि दाता स्वर्ग में उतने ही वर्ष रहता है जितने कि गाय एवं बछड़े के शरीर पर रोम होते हैं। च्यवन को उद्धृत कर अपरार्क (पृ० २९९-३०१) ने इस प्रकार के दान की विधि बतायी है। जब गाय के पेट से बछड़े का सिर बाहर प्रकट हो तो दाता को प्रतिग्रहीता से कहना चाहिए; मेरे कल्याण के लिए, न कि केवल दान की इच्छा से, इस गाय को स्वीकार करो और ऋग्वेद (४।१९।६) का पाठ करो। इसके उपरान्त दाता गाय को पकड़कर 'क इदं कस्मा अदात्' के सूक्त (अथर्ववेद ३।२९।७, आश्वलायनश्रौतसूत्र ५।१३, आपस्तम्बश्रौतसूत्र १४।११।२) पढ़कर बछड़े को नीचे उतारता है और उच्च स्वर से 'गर्भे नु' (ऋग्वेद ४।२७।१) का पाठ करता है। इसके उपरान्त अग्नि प्रज्वलित करके दाता देवों, पितरों, नदियों, पर्वतों, पौधों, समुद्रों, सर्पों एवं ओषधियों को सम्बोधित मन्त्रों (ऋग्वेद १।१३९।११, १०।१६।१२, १०।७५।५, ९।७५।४, ३।८।११, ७।४९।१, ६।७५।१४, १।९०।६) का पाठ करता है। फिर वह पृथिवी को मन्त्रपाठ (ऋग्वेद १।११२।१, १।२२।१३, १।१८५।७, १।१६४।४१) से प्रसन्न करता है। तब दाता को घृत की ८४ आहुतियाँ देनी चाहिए, ब्राह्मणों को भोजन देकर उनसे आशीर्वाद लेना चाहिए, यथा "स्वस्ति नो" (ऋग्वेद ५।५१।१७)। इस प्रकार के गोदान के साथ सोने, चाँदी, खेत, अनाज, वस्त्र, नमक, चन्दन आदि का दान करना चाहिए। इससे वर्जित भोजन करने, ब्राह्मण-

वीर सर्वपापहरं शिवम्।...स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ। गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम्॥ गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः॥ अनुशासन ५१।२६ एवं ३१; अनुशासन ७१।३३—दत्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च। यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम्॥ यह याज्ञवल्क्य (१।२०५) के सदृश है।

हत्या करने, व्यभिचार करने (अगम्यागमन, यथा मातृगमन, स्वसृगमन आदि वर्जित गमन) से उत्पन्न पापों से छुटकारा हो जाता है।

धेनुदान

धेनु-संख्या—गोदान की अनुकृति में कुछ अन्य पदार्थों का दान किया जाता है। उन पदार्थों को धेनु कहा जाता है। मत्स्यपुराण (८२।१७-२२) ने दस धेनुओं के नाम लिये हैं, यथा—गुड़, घृत, तिल, जल, क्षीर, मधु, शर्करा, दधि, रस (अन्य तरल पदार्थ) एवं गोधेनु (स्वयं गाय)। इस पुराण ने गुड़धेनु का वर्णन करते हुए लिखा है कि तरल धेनुओं को घड़ों में रखना चाहिए तथा अन्य धेनुओं को राशि के रूप में रखना चाहिए। सबके दान की विधि एक-सी है। कुछ लोगों ने अन्य धेनुओं के नाम भी लिये हैं, यथा—सुवर्णधेनु, नवनीतधेनु (मक्खन की गाय) एवं रत्नधेनु। अग्निपुराण (२१०।११-१२) ने भी दस धेनुओं के नाम लिये हैं। अनुशासनपर्व (७१।३९-४१) में घृत, तिल एवं जल नामक धेनुओं का वर्णन है। वराहपुराण (अध्याय ९९-११०) ने १२ धेनुओं का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसकी सूची में मत्स्यपुराण के घृत एवं गोधेनु नहीं हैं तथा नवनीत, लवण, कार्पास (कपास-रुई) एवं धान्य (अनाज) नाम नये जोड़े गये हैं।

विधि—चार हाथ लम्बा काला मृगचर्म गोबर से लिपी भूमि पर बिछा दिया जाता है। जिस स्थल पर मृगचर्म बिछा रहता है उस पर कुश, जिनकी नोकें पूर्वाभिमुख होती हैं, बिछे रहते हैं। यह रूप गाय का प्रतीक माना जाता है। उसी की भाँति बिछा हुआ एक छोटा सा मृगचर्म बछड़े का प्रतीक माना जाता है। यदि यह गुड़धेनु है, तो यह २ या ४ भारों[२४] की तथा बछड़ा इसके चौथाई भाग का बना होता है। गाय के विभिन्न भागों के प्रतीक के रूप में बहुत-से पदार्थ, यथा—शंख, ईख के टुकड़े, मोती, चमर, सीपी आदि रखे जाते हैं और धूप-दीप से पूजा करके पौराणिक मन्त्रों से गौ का आह्वान किया जाता है। इसके उपरान्त वस्तुओं का दान कर दिया जाता है। हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० ४०१), दानमयूख (पृ० १७२-१८४) ने अन्य विस्तारें भी दिये हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दे रहे हैं।

वर्जित गोदान

गोदान की महत्ता के फलस्वरूप दाता लोग कभी-कभी बूढ़ी एवं दुर्बल गायें भी दान में दे देते थे। कठोपनिषद् (१।१।३) ने इस प्रकार के व्यवहार की भर्त्सना की है—"जो लोग केवल जल पीनेवाली एवं घास खानेवाली, किन्तु न तो दूध देनेवाली या न बिआने वाली गाय का दान करते हैं, वे अनन्द (आनन्द न देनेवाले) लोक में पहुँचते हैं।" यही बात अनुशासनपर्व (७७।५-६) में पायी जाती है। अनुशासनपर्व में एक स्थल (६६।५३) पर यह भी आया है कि ब्राह्मण को कृश, बिना बछड़े की, बाँझ, रोगी, व्यंग (जिसका कोई अंग भंग हो गया हो) एवं थकी हुई गाय नहीं

२४. ५ कृष्णल=१ माष, १६ माष=१ सुवर्ण, ४ सुवर्ण=१ पल, १०० पल=१ तुला, २० तुला=१ भार। देखिए अपरार्क (पृ० ३०३) एवं अग्निपुराण (२१०।१७-१८)।

भविष्यपुराण को उद्धृत कर हेमाद्रि (व्रतखण्ड, पृ० ६७) एवं पराशरमाधवीय (२।१, पृ० १४१) ने अन्न की तोल के बटखरों की सूची यों दी है—२ पल=प्रसृति, २ प्रसृति=कुडव, ४ कुडव=प्रस्थ, ४ प्रस्थ=आढक, ४ आढक=द्रोण, १६ द्रोण=खारी। किन्तु देश-देश में विभिन्न बटखरे चलते थे।

देनी चाहिए। हेमाद्रि (दान, पृ० ४४८-४४९) ने इसे उद्धृत किया है और लिखा है कि इस प्रकार के गोदान से नरक मिलता है।

पर्वत-दान

विभिन्न नाम—मत्स्यपुराण (अध्याय ८३।९२) ने इस प्रकार के **पर्वतदानों या मेरुदानों** का वर्णन किया है जो ये हैं—"धान्य (अनाज), लवण, गुड़, हेम (सोना), तिल, कार्पास (कपास), घृत, रत्न, रजत (चाँदी) एवं शर्करा।" अग्निपुराण (२१०।६-१०) में भी यही सूची पायी जाती है। हेमाद्रि (दान, पृ० ३४६-३९६) ने कालोत्तर नामक एक शैव ग्रन्थ को उद्धृत कर १२ दानों की चर्चा की है। इन्हें पर्वत, शैल या अचल दान इसलिए कहा जाता है कि देय पदार्थ पहाड़ों की भाँति रखकर दान में दिये जाते हैं।

विधि—सभी प्रकार के पर्वत-दानों की विधि एक-सी है। एक उत्तर-पूर्व या पूर्व की ओर झुका हुआ वर्गाकार उन्नत स्थान बनाया जाता है जिस पर गोबर से लीपकर कुश बिछा दिये जाते हैं। इसके मध्य में एक राशि पर्वताकार तथा अन्य राशियाँ पहाड़ियों की भाँति बना दी जाती हैं। अनाज के पर्वत के निर्माण में १००० या ५०० या ३०० द्रोण की तोल की अन्न-राशि होनी चाहिए। इस राशि के मध्य भाग में सोने के तीन वृक्ष होने चाहिए और चारों दिशाओं में क्रम से मोतियों के, गोमेद एवं पुष्पराग के, मरकत एवं नीलमणियों के तथा वैदूर्य के कमलवत् पौधे होने चाहिए। मत्स्यपुराण ने ८१ देवताओं की स्वर्ण एवं रजत आकृतियों की भी चर्चा की है। होम के लिए एक गुरु और चार पुरोहितों का चुनाव होता है और प्रत्येक देवता को १३-१३ आहुतियाँ दी जाती हैं। लवण के दान में १ से १६ द्रोणों, सोने के दान में १ से १००० पलों, तिल के दान में ३ से १० द्रोणों, कपास के दान में ५ से २० भारों, घी के दान में २ कुम्भों से २० कुम्भों, रत्नों के दान में २०० मोतियों से १००० मोतियों तक का प्रयोग किया जाता है तथा बहुमूल्य रत्नों वाली पहाड़ियों में मोतियों के १/४ भाग का, कपास में २० पलों से १०,००० पलों का, शर्करा में १/२ भार से ८-भारों का प्रयोग होता है।

पशुओं, वस्त्रों, मृगचर्म तथा प्रपा आदि का दान

स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों ने हाथियों, घोड़ों, भैंसों, वस्त्रों, मृगचर्मों, छातों, जूतों आदि के दान की चर्चा की है जिसे हम स्थानाभाव के कारण यहाँ छोड़ रहे हैं। किन्तु इनमें से दो या तीन दानों का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। अपरार्क ने भविष्योत्तर से एक लम्बा विवरण उपस्थित किया है, जिसमें चैत्र मास में यात्रियों को जल पिलाने के लिए एक मण्डप-निर्माण की चर्चा हुई है। नगर के मध्य में या मरुभूमि में या किसी मन्दिर के पास इस मण्डप का निर्माण होता था। एक ब्राह्मण को पानी पिलाने के लिए शुल्क पर नियुक्त किया जाता था। यह मण्डप ४ या ३ महीनों तक चलता था। इसे उत्तर भारत में पौसरा (प्याऊ) भी कहते हैं।

पुस्तक-दान

रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों की हस्तलिखित प्रतियों का भी दान हुआ करता था। अपरार्क (पृ० ३८९-४०३) एवं हेमाद्रि (दान, पृ० ५२६-५४०) ने भविष्योत्तर, मत्स्य तथा अन्य पुराणों को उद्धृत कर इस प्रकार के दानों की महत्ता गायी है। भविष्यपुराण ने लिखा है कि जो व्यक्ति विष्णु, शिव या सूर्य के मन्दिरों में लोगों के प्रयोग के लिए पुस्तकों का प्रबन्ध करते हैं वे गोदान, भूमिदान एवं स्वर्णदान का फल पाते हैं। कुछ शिलालेखों

में भी ऐसा वर्णन आया है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १८, पृ० ३४०)। अग्निपुराण (२११।६१) ने सिद्धान्त नामक ग्रन्थों के पठन की व्यवस्था करने वाले दाताओं के दानों की प्रशस्ति गायी है।

ग्रहशान्ति के लिए दान

मध्य एवं आधुनिक कालों में ग्रहों की शान्ति के लिए भी दान करने की व्यवस्था की गयी है। इस प्रकार के मनोभाव सूत्रकाल में भी पाये जाते थे। गौतम (११।१५) ने राजा को ज्योतिषियों द्वारा बताये गये कृत्य करने के लिए उत्साहित किया है। ग्रहों के बुरे प्रभाव से बचने के लिए आचार्यों ने कुछ विशिष्ट कृत्यों की व्यवस्था की है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।१२।१६)· ने लिखा है कि पुरोहित को चाहिए कि वह राजा को सूर्य की दिशा से (जब युद्ध रात्रि में हो रहा हो या) उस दिशा से जहाँ शुक्र रहता है, युद्ध करने को कहे। याज्ञवल्क्य (१।२९५-३०८) ने भी ग्रहशान्ति पर लिखा है। उन्होंने कहा है कि समृद्धि के लिए, आपत्तियाँ दूर करने के लिए, अच्छी वर्षा के लिए, दीर्घायु एवं स्वास्थ्य तथा शत्रु-नाश के लिए ग्रह-यज्ञ करना चाहिए। उन्होंने नौ ग्रहों, यथा—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु, और उनकी आकृतियाँ बनाने के लिए पदार्थ बताये हैं, यथा—ताम्र, स्फटिक, लाल चन्दन, सोना (बुध एवं बृहस्पति दोनों के लिए), चांदी, लोहा, सीसा एवं कांस्य। ये आकृतियाँ पदार्थों के रंगों से भी कपड़े पर बनायी जाती हैं या यों ही पृथिवी पर वृत्ताकार एवं रंगयुक्त बनायी जाती हैं। इन्हें पुष्प, वस्त्र चढ़ाये जाते हैं जिनके रंग ग्रहों के रंग के होते हैं। सुगंधित पदार्थ, धूप, गुग्गुल आदि चढ़ाये जाते हैं और मन्त्रों (ऋग्वेद १।३५।२, वाजसनेयी संहिता ९।४०, ऋग्वेद ८।४४।१६, वाजसनेयी संहिता १५।५४, ऋग्वेद २।२३।१५, वाजसनेयी संहिता १९।७५, ऋग्वेद १०।९।४, वाजसनेयी संहिता १३।२०, ऋग्वेद १।६।३) के साथ अग्नि में पके भोजन की आहुतियाँ दी जाती हैं। नौ ग्रहों के लिए क्रम से निम्नलिखित वृक्षों की समिधा होनी चाहिए—अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पिप्पल, उदुम्बर, शमी, दूर्वा एवं कुश। घृत, मधु, दही एवं दूध में लिपटी प्रत्येक की १०८ या २८ समिधाएँ अग्नि में डाली जानी चाहिए। ग्रहयज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों को जो भोजन कराया जाता है वह निम्न प्रकार का होता है—गुड़ मिश्रित चावल, दूध में पकाया गया चावल, हविष्य भोजन (जिस पर संन्यासी जीते हैं), साठी चावल जो दूध में पकाया गया हो, दही-भात, घृत-मिश्रित चावल, पिसे हुए तिल में मिश्रित चावल, चावलमिश्रित दाल, कई रंगों वाले चावल। दक्षिणा के रूप में निम्न वस्तुएं हैं—दुधारू गाय, शंख, बढ़ी बैल, सोना, वस्त्र, श्वेत अश्व, काली गाय, लोहे का अस्त्र, एक बकरी। याज्ञवल्क्य (१।३०८) ने लिखा है कि राजाओं का उत्कर्षापकर्ष एवं संसार का अस्तित्व एवं नाश ग्रहों पर आधारित है अतः ग्रहों की जितनी पूजा हो सके, की जानी चाहिए। आजकल धर्म-सिन्धु के नियमों के अनुसार ग्रहशान्ति की जाती है। संस्काररत्नमाला (पृ० १२३-१६४) में **ग्रहमख** (ग्रहशान्ति के लिए एक कृत्य) का विशद वर्णन किया गया है। ग्रहमख या तो **नित्य** (विषुव के दिन, अयन के दिन या जन्म-नक्षत्र के दिन) या **नैमित्तिक** (उपनयन-जैसे अवसरों पर सम्पादित) या **काम्य** (विपत्ति आदि दूर करने के लिए या किसी अन्य अभिलाषा या कामना से किया जाने वाला) होता है।

आरोग्यशाला-स्थापना

अपरार्क (पृ० ३६५-३६६) ने याज्ञवल्क्य (१।२०९) की टीका में नन्दिपुराण से आरोग्यशाला (अस्पताल) की स्थापना के विषय में एक लम्बा विवरण उद्धृत किया है। इस प्रकार की आरोग्यशाला में औषधें निःशुल्क दी जाती हैं। "धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थ स्वास्थ्य पर निर्भर हैं, अतः स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए जो प्रबन्ध करता है वह सभी प्रकार की वस्तुओं का दानी कहा जाता है।" इसके लिए एक अच्छे वैद्य की नियुक्ति

करनी चाहिए। हेमाद्रि (दान, पृ० ८९३-९५) ने भी इसे तथा स्कन्दपुराण को उद्धृत कर आरोग्यशाला की स्थापना के महत्व पर प्रकाश डाला है।

असत्प्रतिग्रह

स्मृतियों के अनुसार वर्जित दान ग्रहण करने पर पाप लगता है, जो दत्त वस्तु के परित्याग, वैदिक मन्त्रों के (गायत्री के समान) जप एवं तपों (प्रायश्चित्तों) से दूर किया जा सकता है (देखिए मनु ११।१९३, विष्णुधर्मसूत्र ५४।२८)। इस पाप का कारण है असत्प्रतिग्रह, जो जाति या दाता की क्रिया (दाता चाण्डाल या पतित हो सकता है) आदि से उत्पन्न होता है। यह किसी विशिष्ट काल और देश में (यथा कुरुक्षेत्र में या ग्रहण के समय) लेने से या किसी देय पदार्थ (मद्य या भेड़ या मृतक की शय्या या उभयतोमुखी गाय) के ग्रहण करने से उत्पन्न होता है। मनु (११।१९४), विष्णुधर्मसूत्र (५४।२४) एवं याज्ञवल्क्य (३।२८९) ने असत्प्रतिग्रह के पाप से मुक्त होने के लिए गौशाला में एक मास रहने, केवल दूध पर रहने, पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य पालन करने एवं प्रति दिन ३००० बार गायत्री मन्त्र के जप की व्यवस्था दी है। उपर्युक्त दोनों दशाओं में दाता को कोई पाप नहीं लगता। केवल दान लेने वाला (दान-प्रतिग्रहीता) ही पाप का भागी होता है। दानक्रियाकौमुदी (पृ० ८४-८५) ने कतिपय पुराणों से उद्धरण देकर लिखा है कि गंगा तथा अन्य पवित्र नदियों पर दान नहीं लेना चाहिए, इसी प्रकार हाथियों, घोड़ों, रथों, मृत लोगों की शय्या एवं आसनों, काले मृग के चर्म एवं उभयतोमुखी गाय का दान नहीं लेना चाहिए। दानचन्द्रिका ने पद्मपुराण का उद्धरण देकर समझाया है कि आपत्काल में ब्राह्मण गंगा तथा अन्य पवित्र नदियों पर दान ले सकता है। किन्तु उसे दान का दशमांश दान कर देना चाहिए; ऐसा करने से पाप नहीं लगता।

प्रतिश्रुत दान की देयता

याज्ञवल्क्य (२।१७६) ने लिखा है कि प्रतिश्रुत दान दिया जाना चाहिए और प्रदत्त दान वापस नहीं लेना चाहिए। नारद (दत्ताप्रदानिक, ८) ने घोषित किया है कि पण्यमूल्य (सामान के क्रय में दिया गया मूल्य), वेतन (नौकर आदि को), आनन्द के लिए दिया गया धन (संगीत, नृत्य आदि में), स्नेह-दान, श्रद्धा-दान, कन्या के क्रय में दिया गया धन एवं धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्यों से दिया गया दान वापस नहीं लिया जाता। किन्तु यदि दान अभी दिया न गया हो, केवल अभी वचन दिया हो तो उसे पूरा नहीं माना जाना चाहिए और उसका अन्यथाकरण हो सकता है। गौतम (५।२१) ने लिखा है कि यदि दान लेने वाला व्यक्ति कुपात्र हो, अधार्मिक या वेश्यागामी हो तो उसे प्रतिश्रुत दान नहीं देना चाहिए। यही बात मनु (८।२१२, में भी पायी जाती है। कात्यायन ने लिखा है कि ब्राह्मण को प्रतिश्रुत धन न देने से व्यक्ति उस ब्राह्मण का इस लोक एवं परलोक में ऋणी हो जाता है (अपरार्क पृ० ७८३)।

अप्रामाणिक दान

गौतम (५।२२) ने लिखा है कि भावावेश में आकर, यथा क्रोध या अत्यधिक प्रसन्नता के कारण, भयभीत होकर, रुग्णावस्था में, लोभ के कारण, अल्पावस्था (१६ वर्ष के भीतर) के कारण, अत्यधिक बुढ़ापे में, मूर्खतावश, मत्तावस्था में या पागलपन के कारण प्रतिश्रुत किया गया दान नहीं भी दिया जा सकता। नारद ने १६ प्रकार के अप्रामाणिक दानों की चर्चा की है—उपर्युक्त वर्णित (गौतम ५।२३, जिसमें प्रसन्नता एवं लोभ-जनित दानों को छोड़ दिया गया है) दान, घूस में, परिहास में, बिना पहचाने अन्य को वचन रूप में दिया गया दान, छल से प्रतिश्रुत हो जाने में, अस्वामित्व

होने में, प्रतिलाभ की दशा में, कुपात्र एवं पापी को वचन रूप में दिये गये दान अप्रामाणिक माने जाते हैं।[२५] कात्यायन (अपरार्क पृ० ७८१ में उद्धृत) ने भी यही बात कही है, किन्तु यह भी जोड़ दिया है कि यदि कोई प्राणभय के कारण अपनी सम्पत्ति दे देने के लिए प्रतिश्रुत हो गया हो तो वह अपने वचन से पलट सकता है। और देखिए बृहस्पति (अपरार्क, पृ० ७८२)। मनु (८।१६५) के मत से छल द्वारा सम्पादित बिक्री, इजारा (बन्धक), दान या वे सारे कारबार जिनमें कपटाचरण पाया जाय, राजा द्वारा रद्द कर दिये जाने चाहिए। किन्तु कात्यायन ने एक अपवाद दिया है; स्वस्थता या अस्वस्थता की दशा में धार्मिक उपयोग के लिए पिता द्वारा प्रतिश्रुत दान पिता के मर जाने पर पुत्र द्वारा दिया जाना चाहिए (अपरार्क पृ० ७८२)।

२५. क्रुद्धहृष्टभीतार्तलुब्धबालस्थविरमूढमत्तोन्मत्तवाक्यान्यनृतान्यपातकानि। गौतम ५।२। अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगसमन्वितैः। तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः॥ बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितैः। कर्ता ममायं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत्॥ अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये वा धर्मसंहिते। यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तमिति तत्स्मृतम्॥ नारद (दत्ताप्रदानिक, ९-१०)।

अध्याय २६

प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग

गत अध्याय में हमने दान के विषय में विस्तार के साथ अध्ययन किया। इसके उपरान्त हम स्वभावतः प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग की चर्चा पर आ जाते हैं। जनकल्याण के लिए मन्दिरों का निर्माण, उनमें देवों की प्रतिमाओं की स्थापना एवं कूप, तालाब, वाटिका आदि का समर्पण प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग के नाम से पुकारे जाते हैं। हमने बहुत पहले पढ़ लिया है कि मन्दिरों, कूपों तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं का निर्माण पूर्त धर्म के अन्तर्गत आता है और शूद्र लोग यह कार्य कर सकते थे। याज्ञवल्क्य (२।११४) की टीका मिताक्षरा के मत से स्त्रियाँ (विधवा भी) पूर्त कार्यों के लिए धन व्यय कर सकती थीं (यद्यपि वे वैदिक यज्ञ आदि नहीं कर सकती थीं)। बहुत प्राचीन काल से सार्वजनिक लाभ एवं उपयोग के लिए दातव्य कार्यों एवं वस्तुओं से सम्बन्धित नियम बने हुए हैं। शबर ने स्मृतियों के प्रतिष्ठा विषयक नियमों को श्रुति पर आधारित माना है (जैमिनि १।३।२)। ऋग्वेद (१०।१०७।१०) में पुष्करिणी (तालाब) का उल्लेख हुआ है। विष्णुधर्मसूत्र (९१।१-२) के मत से जो व्यक्ति जन-हित के लिए कूप खुदवाता है, उसके आधे पाप उसमें पानी निकालने के समय ही नष्ट हो जाते हैं, जो व्यक्ति तालाब खुदवाता है वह सदा प्रसन्न (निष्पाप) रहता है और वरुण-लोक में निवास करता है। बाण ने कादम्बरी में लिखा है कि स्मृतियों के अनुसार लोगों को जन-सभाभवन, आश्रय, कूप, प्रपाएँ (पौसरे), वाटिकाएँ, मन्दिर, बाँध, जल-यन्त्र (घटयन्त्र) आदि बनवाने चाहिए। कुछ ऋषियों ने तो यहाँ तक कहा है कि यज्ञों से केवल स्वर्ग मिलता है, किन्तु पूर्त, अर्थात् मन्दिरों, तालाबों एवं वाटिकाओं के निर्माण से संसार से मुक्ति हो जाती है।[1] इससे स्पष्ट है कि जन-कल्याण के लिए किये गये कार्य, यज्ञादि कृत्यों से, जिनमें केवल ब्राह्मणों को लाभ होता था, कई गुने अच्छे माने जाते थे।

कूप या तालाब की प्रतिष्ठा-विधि—शांखायनगृह्यसूत्र (५।२) ने कूप या तालाब खुदाने एवं उनकी प्रतिष्ठा के विषय में विधि लिखी है, यथा शुक्ल पक्ष में या किसी मंगलमय तिथि के दिन दूध में जौ का चरु (उबाला हुआ भोजन) पकाकर दाता को 'त्वं नो अग्ने' (ऋग्वेद ४।१।४-५) तथा 'अब ते हेड' (ऋग्वेद १।२४।१४), 'इमं मे वरुणं' (ऋग्वेद १।२५।१९), 'उदुत्तमं वरुण' (ऋग्वेद १।२४।१५), 'इमां धियम्' (ऋग्वेद ८।४२।३) नामक मन्त्रों के साथ यज्ञ करना चाहिए। मध्य में दूध की आहुतियाँ दी जाती हैं और मन्त्रोच्चारण (ऋग्वेद १०।८१।३७, १।२२।१७ एवं ७।८९।५) होता है। इस यज्ञ की दक्षिणा है एक जोड़ा धोती तथा एक गाय। इसके उपरान्त ब्रह्म-भोज होता है।

कूप एवं जलाशय के प्रदान तथा प्रतिष्ठा के विषय में अन्य धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में पर्याप्त विस्तार पाया जाता है (आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट ४।९, पारस्करगृह्यपरिशिष्ट, मत्स्यपुराण ५८, अग्निपुराण ६४)। किन्तु हम इस विस्तार में नहीं पड़ेंगे। क्रमशः पुराणों में वर्णित विधि को ही संप्रति महत्व दिया जाने लगा है (अपरार्क पृ० १५)।

१. इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसम्मतौ। प्रतिष्ठाद्यं तयोः पूर्तमिष्टं यज्ञादिलक्षणम्॥ भुक्ति-मुक्तिप्रदं पूर्तमिष्टं भोगार्थसाधनम्॥ कालिकापुराण (कृत्यरत्नाकर, पृ० १० में उद्धृत)।

अपरार्क (पृ० ४०९-४१४), हेमाद्रि (दान, पृ० ९९७-१०२९), दानक्रियाकौमुदी (पृ० १६०-१८१), जलाशयोत्सर्गतत्त्व (रघुनन्दन कृत), नीलकंठ कृत प्रतिष्ठामयूख एवं उत्सर्गमयूख, राजधर्मकौस्तुभ (पृ० १७१-२२३) आदि ग्रन्थों ने कूपों, जलाशयों, पुष्करिणियों आदि की प्रतिष्ठा के विषय में विशद विधि दी है। यह विधि गृह्यपरिशिष्टों, पुराणों (मत्स्य ५८ आदि), तन्त्रों, पाञ्चरात्र तथा अन्य ग्रन्थों पर आधारित है। हम इस विधि का वर्णन यहाँ नहीं दे सकेंगे। विस्तारपूर्ण विधि के मूल में जो बात है वह केवल जलाशय के जल की पवित्रता से सम्बन्धित है, क्योंकि पूजा-पाठ तथा धार्मिक क्रिया-कलाप से वस्तु की पवित्रता प्रतिष्ठित हो जाती है। प्रतिष्ठा का सामान्य तात्पर्य है व्यवस्थित कृत्यों के साथ जनता को समर्पण।[2] प्रतिष्ठा की विधि में चार मुख्य स्तर हैं—(१) संकल्प, (२) होम, (३) उत्सर्ग (इसका उद्घोष कि वस्तु दे दी गयी है) तथा (४) दक्षिणा एवं ब्राह्मण-भोजन। मन्दिर के लिए उचित शब्द है प्रतिष्ठा न कि उत्सर्ग।

दान एवं उत्सर्ग में भेद—दान एवं उत्सर्ग के पारिभाषिक अर्थ में कुछ अन्तर है। दान में स्वामी अपना स्वामित्व किसी अन्य को दे देता है और उसका उस वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, अर्थात् न तो वह उसका प्रयोग कर सकता और न उस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण ही रख सकता है। किन्तु जब उत्सर्ग किया जाता है तो वस्तु जनता की हो जाती है और दाता जनता के सदस्य के रूप में उसका उपयोग कर सकता है। यह धारणा अधिकांश लेखकों की है, किन्तु कुछ लेखक उत्सर्ग की हुई वस्तु का दाता द्वारा प्रयोग अनुचित ठहराते हैं।

जलाशयों के प्रकार

जन-कल्याण के लिए खुदाये हुए जलाशयों के चार प्रकार होते हैं—कूप, वापी, पुष्करिणी एवं तड़ाग। कुछ ग्रन्थों ने लिखा है कि चतुर्भुजाकार या वृत्ताकार होने से **कूप** का व्यास ५ हाथ से ५० हाथ तक हो सकता है, और इसमें साधारणतः पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ नहीं होतीं। **वापी** वह कूप होता है जिसमें चारों ओर से या तीन, दो या एक ओर से सीढ़ियाँ हों और जिसका मुख ५० से १०० हाथ तक हो। **पुष्करिणी** १०० से २०० हाथ व्यास की होती है। **तड़ाग** २०० से ३०० हाथ लम्बा होता है। मत्स्यपुराण (१५४।५१२) के अनुसार वापी १० कूपों के बराबर एवं ह्रद (गहरा जलाशय) १० वापियों के बराबर होता है; एक पुत्र १० ह्रदों के बराबर तथा एक वृक्ष १० पुत्रों के बराबर होता है। रघुनन्दन द्वारा उद्धृत वसिष्ठसंहिता के अनुसार पुष्करिणी ४०० हाथ लम्बी और तड़ाग इसका पाँच गुना बड़ा होता है।

वृक्ष-महत्ता एवं वृक्षारोपण आदि

वृक्षमहत्ता—भारत में वृक्षों की महत्ता सभी कालों में गायी गयी है। वे यज्ञ में यूपों (जिनमें बलि का पशु बाँधा जाता है) के लिए, इध्म (ईंधन या समिधाओं) के लिए, स्रुव, जुहू आदि यज्ञपात्रों एवं करछुलों आदि के लिए उपयोगी होते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।३) ने सात प्रकार के पवित्र वृक्ष बताये हैं। तैत्तिरीय संहिता (३।४।८।४) के मत से इध्म (समिधाएँ) न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ एवं प्लक्ष नामक वृक्षों की होती हैं, क्योंकि उनमें गन्धर्वों एवं

२. सदा जलं पवित्रं स्यादपवित्रमसंस्कृतम्। कुशाग्रेणापि राजेन्द्र न स्प्रष्टव्यमसंस्कृतम्।। वापीकूपतडागाद्यौ यज्जलं स्यादसंस्कृतम्। अपेयं तद् भवेत्सर्वं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्।। भविष्यपुराण (निर्णयसिन्धु, ३ पूर्वार्ध, पृ० ३३४ में उद्धृत)। प्रतिष्ठापनं सविधिकोत्सर्जनमित्यर्थः। दानक्रियाकौमुदी, पृ० १६६।

अप्सराओं का निवास है। इसके अतिरिक्त वृक्ष अपने हरित पत्रांकों में पक्षियों को शीतल एवं उष्ण नींद देते हैं, बहुत-से वृक्षों की हरी पत्तियाँ (यथा आम आदि वृक्षों की) आजकल भी शुभावसरों पर मण्डपों या द्वारों पर तोरण रूप में बाँधी जाती हैं। हेमाद्रि ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर लिखा है कि अश्वत्थ, उदुम्बर, प्लक्ष, आम (आम्र) एवं न्यग्रोध की टहनियाँ एवं पत्तियाँ **पञ्चभंग** कही जाती हैं और सभी कृत्यों में मंगलमय मानी जाती हैं। बौधायन-धर्मसूत्र (२।३।२५) में आया है कि पलाश परम पवित्र है, अतः उसके भाग से आसन, खड़ाम्, दन्तधावन आदि नहीं बनने चाहिए। वृक्ष धूप से बचाते हैं तथा देवों एवं पितरों को चढ़ाने के लिए पुष्प-फल देते हैं।[3] गिर जाने पर उनकी लकड़ियों से घर बनाते हैं, उनसे नाना प्रकार के सामान बनाये जाते हैं तथा उन्हें जलाकर भोजन बनाया जाता है एवं शीत से रक्षा की जाती है। अपने सातवें स्तम्भाभिलेख में अशोक ने आठ कोस की दूरी पर कूप-निर्माण एवं वट वृक्ष लगाने की चर्चा की है (देखिए कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द १, पृ० १३४-१३५)। महाभाष्य (जिल्द १, पृ० १४) ने एक अति प्राचीन पद्य का अंश उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य है कि जो आम को पानी देता है और उसकी सेवा करता है उसके पितृगण उससे प्रसन्न रहते हैं।[4] मनु (४।२९) एवं याज्ञवल्क्य (१।१३३) ने स्नातकों के लिए मार्ग के प्रसिद्ध वृक्षों (यथा अश्वत्थ) की परिक्रमा करना आवश्यक माना है। बाण ने कादम्बरी में पुत्र की इच्छा करनेवाली स्त्री द्वारा वृक्षों की पूजा की चर्चा की है।

वृक्षों के प्रकार एवं उनकी सेवा—महाभारत (अनुशासनपर्व ५८।२३-३२) ने पेड़-पौधों के जीवन की प्रभूत प्रशंसा की है और उन्हें ६ भागों में बाँटा है, यथा—**वृक्ष** (पेड़), **लता** (जो वृक्षों के सहारे लटकी रहती हैं), **वल्ली** (जो पृथिवी पर फैलती हैं), **गुल्म** (झाड़ियाँ), **त्वक्सार** (ऐसे वृक्ष जिनका ऊपरी भाग प्रबल या मजबूत रहता है, किन्तु जो भीतर से पोले रहते हैं, जैसे बाँस आदि) एवं **घास**। महाभारत में वहीं यह भी आया है कि जो वृक्ष लगाते हैं वे उनसे रक्षा पाते हैं, अतः उनकी सेवा पुत्रों के समान करनी चाहिए। यही बात दूसरे ढंग से विष्णुधर्मसूत्र (९१।४) में भी पायी जाती है।[5] हेमाद्रि (दान, पृ० १०३०-३१) ने पद्मपुराण को उद्धृत कर बताया है कि किस प्रकार अश्वत्थ, अशोक, अम्लिका (इमली), दाड़िम (अनार) आदि पेड़-पौधे लगाने से क्रम से सम्पत्ति, पापमोचन, दीर्घायु, स्त्री आदि की प्राप्ति होती है। वृद्ध-गौतम ने अश्वत्थ की समता श्री कृष्ण से की है। महाभारत ने चैत्य (समाधिस्तूप या विश्रामस्थल) वाले अश्वत्थ वृक्ष की पत्तियाँ तक तोड़ना वर्जित माना है (शान्तिपर्व ६९।४२)। शान्तिपर्व (१८४।१-१७)

३. वृक्ष की उपयोगिता से प्रभावित हो कवि ने उसकी आलंकारिक प्रशंसा में निम्न उद्‌गार कहा है—

एक पैर से मूक अड़ा है, रात-दिवस तरु वहीं खड़ा है!
झंझा और प्रवातों में ऋषि, ले किसलय मृदु फूल खड़ा है।

४. आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः। महाभाष्य, जिल्द १, पृ० १४। वृक्षों से जो लाभ होते हैं, उनके विषय में देखिए अनुशासनपर्व (५८।२८-३०) एवं विष्णुधर्मसूत्र (९१।५-८)। आधुनिक भारत में स्वतन्त्रता के उपरान्त प्रति वर्ष वन-महोत्सव मनाया जाता है और स्थान-स्थान पर वृक्षा रोपण हो रहा है। पहाड़ों के वृक्षों के कट जाने से जल का अभाव होता जा रहा है, अनावृष्टि से कहीं-कहीं हाहाकार हो रहा है। भारत-सरकार अब वृक्षों के महत्त्व को समझ रही है। हमारे ऋषियों ने वृक्षों की महत्ता पर जो कुछ लिखा है वह सार्थक था, क्योंकि आजकल के भूगर्भ-शास्त्रियों तथा भूगोल विद्या-विशारदों ने वृक्ष-महत्ता की वैज्ञानिकता स्पष्ट कर दी है। (अ०)

५. वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च। तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोर्थिना सदा।। पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः। अनुशासन ५८।३०-३१; वृक्षारोपयितुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवन्ति। विष्णुधर्मसूत्र ९१।४।

ने पेड़-पौधों में जीवन माना है और कहा है कि वे भी सुख-दुख (हर्ष-क्लेश) का अनुभव करते हैं और काट लिये जाने पर अंकुरित होते हैं। उत्सर्गमयूख (पृ० १६) में उद्धृत भविष्यपुराण के मत से जो व्यक्ति एक अश्वत्थ या एक पिचुमर्द (नीम) या एक न्यग्रोध या दस इमली या तीन कपित्थ, बिल्व तथा आमलक या पाँच आम के पेड़ लगाता है वह नरक में नहीं जाता।[६] मत्स्यपुराण (२७०।२८-२९) के अनुसार मन्दिर के मण्डप के पूर्व फलदायक वृक्ष लगाये जाने चाहिए, दक्षिण में दूध की तरह रस वाले वृक्ष लगाये जाने चाहिए, पश्चिम भाग में कमलों से पूर्ण जलाशय रहना चाहिए तथा उत्तर में पुष्प-वाटिका तथा सरल एवं ताल के वृक्ष होने चाहिए। वसिष्ठधर्मसूत्र (१९।११-१२) ने यज्ञ में काम आने वाले वृक्षों तथा खेती की भूमि वाले वृक्षों के अतिरिक्त अन्य फूल-फल देने वाले वृक्षों को काटने से मना किया है। विष्णुधर्मसूत्र (५।५५।५९) ने फल देने वाले, पुष्प देने वाले वृक्षों को तोड़ने तथा लता, गुल्म या घास काटने वाले लोगों के लिए राजा द्वारा दण्ड दिये जाने की व्यवस्था दी है।

वाटिका-दानविधि—हेमाद्रि (दान, पृ० १०२९-१०५५) ने वृक्षारोपण, वाटिका-समर्पण तथा वृक्ष-दान से उत्पन्न पुण्य के विषय में सविस्तर लिखा है। शांखायनगृह्यपरिशिष्ट (४।१०), मत्स्यपुराण (५९), अग्निपुराण (७०) तथा अन्य ग्रन्थों में वाटिका के समर्पण की विधि बतायी गयी है। यह विधि कूपों एवं तड़ागों के समर्पण की विधि पर आधारित है, केवल मन्त्रों में विभिन्नता है। संक्षेप में शांखायनगृह्य (५।२) द्वारा उपस्थित विधि यों है—वाटिका में पवित्र अग्नि प्रज्वलित कर, स्थालीपाक (भोजन) तैयार करके दाता को "विष्णवे स्वाहा, इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा, विश्वकर्मणे स्वाहा" तथा ऋग्वेद (३।८।६) के मन्त्र पढ़कर होम करना चाहिए। इसके उपरान्त वह वाटिका में 'वनस्पते शतवल्शो विरोह' (ऋग्वेद ३।८।११) नामक मन्त्र पढ़ता है। इस यज्ञ की दक्षिणा सोना होती है।

देव-प्रतिष्ठा

देवपूजा के प्रकार—यद्यपि धर्मसूत्रों में मन्दिरों एवं प्रतिमाओं का उल्लेख पाया जाता है, किन्तु देवता-प्रतिष्ठापन की विधि की चर्चा किसी भी प्रमुख गृह्य या धर्मसूत्र में नहीं पायी जाती। पुराणों एवं कुछ निबन्धों में देव-प्रतिष्ठा पर सविस्तर लिखा गया है (मत्स्यपुराण २६४, अग्निपुराण ६० एवं ६६ आदि)। विष्णु, शिव आदि की प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापन पर अलग-अलग अध्याय लिखे गये हैं। यहाँ सबका विस्तार देना कठिन है। देवता-पूजा दो रूपों में हो सकती है; (१) बिना किसी प्रतीक के तथा (२) प्रतीक के साथ। प्रथम प्रकार की पूजा स्तुति एवं हवन से सम्पादित होती है और दूसरे प्रकार की मूर्ति-पूजा के रूप में। मूर्तिपूजक भी यह जानते हैं कि देवता केवल चित्, अद्वितीय, बिना अवयवों का एवं बिना शरीर का होता है, विभिन्न मूर्तियों के रूप में रहने वाले देवता की स्थिति कल्पना मात्र है।[७]

मूर्ति रूप में देव-पूजा के प्रकार—मूर्ति के रूप में देव-पूजा भी दो प्रकार की होती है; (१) अपने घर में की जाने वाली तथा (२) जन-मन्दिर में। द्वितीय प्रकार सर्वोत्तम कहा गया है (कुछ ग्रन्थों द्वारा), क्योंकि इसके द्वारा

६. अश्वत्थमेकं पिचुमर्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश चिञ्चिणीकम्।
कपित्थबिल्वामलकत्रयं च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत्॥
भविष्यपुराण (उत्सर्गमयूख पृ० १६ एवं राजधर्मकौस्तुभ, पृ० १९३ में उद्धृत)।

७. चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥ (रघुनन्दन के देवप्रतिष्ठातत्त्व, पृ० ५० में उद्धृत)।

उत्सवों का मनाना तथा उपचार के विविध ढंगों को पूर्णता के साथ अपनाना सरल एवं सम्भव होता है। हमने देवपूजा के अध्याय में व्यक्तिगत मूर्ति-पूजा के विषय में लिखा है। हम यहाँ मन्दिर की देव-पूजा का वर्णन उपस्थित करेंगे।

मन्दिरों में मूर्ति-स्थापना के प्रकार——मन्दिरों में मूर्ति-स्थापना के दो प्रकार हैं; (१) **चलार्चा** (जिसमें मूर्ति उठायी जा सकती है और अन्यत्र भी रखी जा सकती है) तथा (२) **स्थिरार्चा** (जहाँ मूर्ति स्थिर रूप से फलक पर जमी रहती है और इधर-उधर हटायी नहीं जा सकती)। इन दोनों प्रकार की प्रतिष्ठाओं के विवरण में कुछ अन्तर है। मत्स्यपुराण (अध्याय २६४-२६६) में विशद वर्णन किया गया है, जिसे हम यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दे रहे हैं। जिज्ञासु पाठकों को चाहिए कि वे मत्स्यपुराण का अध्ययन कर लें। मध्य काल के निबन्धों (यथा देवप्रतिष्ठातत्त्व आदि) में कुछ तान्त्रिक ग्रन्थों के उद्धरणों से विस्तार बढ़ गया है।

मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, नृसिंहपुराण निर्णयसिन्धु तथा अन्य ग्रन्थों में वासुदेव, शिवलिंग एवं अन्य देवताओं की मूर्तियों की स्थापना के विषय में विशद वर्णन पाया जाता है। इन ग्रन्थों में तान्त्रिक प्रयोगों के अनुसार मातृकान्यास, तत्त्वन्यास एवं यन्त्रन्यास नामक कई न्यासों की चर्चा हुई है।

वैखानसस्मार्तसूत्र (४।१०-११) में विष्णुमूर्ति की स्थापना के विषय में वर्णन मिलता है। किन्तु मूर्ति-स्थापना का यह विवरण किसी विशिष्ट व्यक्ति के घर में स्थापित मूर्ति के विषय में ही है। इस विवरण को हम उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

देवदासी

बहुत प्राचीन काल से ही मन्दिरों से संलग्न नर्तकियों की व्यवस्था रही है। इस व्यवस्था का उद्गम रोम की **वेस्टल वर्जिन्स** नामक संस्था के समान ही है। राजतरंगिणी (४।२६९) में दो मन्दिर-नर्तकियों की चर्चा हुई है (देव-गृहाश्रिते नर्तक्यौ), जो पृथिवी में दबे एक मन्दिर के स्थल पर नाचती-गाती थीं। वाघली (खानदेश जिला) के शिलालेख (१०६९-१०७० ई०) में गोविन्दराज के दान-वर्णन से पता चलता है कि उन्होंने नाचने-गाने वाली विलासिनियों का प्रबन्ध किया था (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० २२७)। चाहमान राजा जोजलदेव के शिलालेख (१०९० ९१ ई०) से ज्ञात होता है कि उन्होंने एक उत्सव में सभी मन्दिरों की नर्तकियों को सुन्दर से सुन्दर वस्त्राभरणों से सुसज्जित होकर आने का आदेश दिया था और जो नहीं आ सकी थीं, उनके प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया था (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृ० २६-२७)। इस विषय में और देखिए, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १३, पृ० ५८। उपर्युक्त प्रथा को **देवदासी की प्रथा** कहते हैं। रत्नागिरि जिले (दक्षिण भारत) में इस प्रथा को भाविनों की प्रथा कहा जाता था। अब यह प्रथा गैरकानूनी ठहरा दी गयी है। पहले मन्दिरों की स्थापना तथा मूर्ति-प्रतिष्ठा के साथ कन्याओं का भी दान होता था, जो देवदासी कहलाती थीं। देवदासियों को पवित्र ढंग से रहते हुए देव-पूजा के समय या समय-समय पर नृत्य-गान करना पड़ता था। किन्तु कालान्तर में यह प्रथा व्यभिचार की सृष्टि करने लगी और मन्दिरों से संलग्न देवदासियाँ वेश्याओं के समान समझी जाने लगीं। भाग्यवश अब यह प्रथा समाप्त हो गयी है। देवदासी का मानसिक विवाह मूर्ति से होता था।

८. (मन्दिरों की मूर्तियों से नाबालिग कन्याओं का विवाह कर दिया जाता था।) 'देवदासी' का अर्थ है 'देव की दासी' और 'भाविन्' शब्द 'भाविनी' शब्द से निकला है और इसका अर्थ है 'भाव रखने वाली नारी'; 'भाव' का अर्थ 'देव का प्रेम' (रतिर्देवादि-विषया. . .भाव इति प्रोक्तः, काव्यप्रकाश ४।३५) है।

पुनः प्रतिष्ठा

देवप्रतिष्ठातत्त्व एवं निर्णयसिन्धु ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत करते हुए लिखा है कि निम्नोक्त दस दशाओं में देवता मूर्ति में निवास करना छोड़ देते हैं; जब मूर्ति खण्डित हो जाय, चकनाचूर हो जाय, जला दी जाय, फलक (आधार) से हटा दी जाय, उसका अपमान हो जाय, उसकी पूजा बन्द हो गयी हो, गदहा-जैसे पशुओं से छू ली गयी हो, अपवित्र स्थान पर गिर जाय, दूसरे देवताओं के मन्त्रों से पूजित हो गयी हो, पतितों या जातिच्युतों से छू ली गयी हो, जब मूर्ति का स्पर्श ब्राह्मण-रक्त से, शव से या पतित से हो जाय तो उसकी पुनः प्रतिष्ठा होनी चाहिए। जब मूर्ति के टुकड़े हो जायँ या चकनाचूर हो जाय तो उसे हटाकर उसके स्थान पर दूसरी मूर्ति स्थापित करनी चाहिए। जब मूर्ति तोड़ दी जाय या चुरा ली जाय तो उपवास करना चाहिए। यदि धातुओं की मूर्तियाँ चोरों या चाण्डालों द्वारा छू ली जायँ तो उन्हें अन्य पात्रों की भाँति पवित्र कर फिर से प्रतिष्ठित करना चाहिए। जब उचित रूप से स्थापित हो जाने के उपरान्त मूर्ति की पूजा भूल से एक रात्रि या एक मास या दोमासों तक न हो या उसे कोई शूद्र या रजस्वला नारी छू ले, तो उसका जल-अधिवास (जल में रखना) होना चाहिए, उसे घट-जल से नहलाकर, पंचगव्य से धोना चाहिए, इसके उपरान्त घड़ों के स्वच्छ जल से पुरुष-सूक्त पढ़कर नहलाना चाहिए (ऋग्वेद १०।९०)। पुरुषसूक्त का पाठ ८००० बार या ८०० बार या २८ बार होना चाहिए। इसके उपरान्त चन्दन एवं पुष्प से पूजा कर, नैवेद्य (गुड़ के साथ चावल पकाकर) देना चाहिए। यह पुनःस्थापन की विधि है।

जीर्णोद्धार

पुनः प्रतिष्ठा के साथ यह विषय सम्बन्धित है। अग्निपुराण (अध्याय ६७ एवं १०३) में वर्णित बातों के आधार पर निर्णयसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० ३५३) एवं धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० ३३५) ने विस्तृत विवरण उपस्थित किया है। मन्दिर की मूर्ति के जल जाने, उखड़ जाने या स्थानान्तरित किये जाने पर जीर्णोद्धार किया जाता है। अग्निपुराण (१०३।४) ने लिखा है कि यदि कोई लिंग या मूर्ति तीव्र धारा में बह जाय तो उसका शास्त्र के नियमों के अनुसार पुनःस्थापन होना चाहिए। अग्निपुराण (१०३।२१) के मत से असुरों (बाणासुर आदि) या मुनियों या देवताओं या तन्त्रविद्याविशारदों द्वारा स्थापित लिंग को, चाहे वह पुराना हो गया हो या टूट गया हो, दूसरे स्थान पर नहीं ले जाना चाहिए, चाहे भली भाँति पूजा आदि सम्पादित कर दी गयी हो।[1] अग्निपुराण (६७।३-६) ने लिखा है कि जीर्ण-शीर्ण काष्ठ-प्रतिमा जला डाली जानी चाहिए, वैसी ही प्रस्तर-मूर्ति जल में प्रवाहित कर देनी चाहिए, धातु एवं रत्नों (मोती आदि) की बनी जीर्ण-शीर्ण मूर्ति गहरे जल या समुद्र में डाल दी जानी चाहिए। यह कार्य बड़े ठाठ-बाट तथा बाजे-गाजे के साथ तथा मूर्ति को वस्त्र से लपेट कर करना चाहिए और उसी दिन उसी वस्तु से निर्मित तथा उतनी ही बड़ी दूसरी मूर्ति विधिवत् पूजा के उपरान्त स्थापित कर देनी चाहिए। जब प्रतिदिन की पूजा बन्द हो जाय, या जब मूर्ति को शूद्र आदि छू लें तो पुनः प्रतिष्ठापन के उपरान्त ही पवित्रीकरण हो सकता है।

निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु तथा अन्य ग्रन्थों में जीर्णोद्धार-विधि विशद रूप से वर्णित है। वृद्ध-हारीत (९।४०९-४१५) ने भी इस पर लिखा है। विवादरत्नाकर द्वारा उद्धृत शंखलिखित में आया है कि जब प्रतिमा, वाटिका, कूप, पुल, ध्वजा, बाँध, जलाशय को कोई तोड़-फोड दे तो उनका जीर्णोद्धार होना चाहिए तथा अपराधी को ८००

१. नादेयेन प्रवाहेण तदपाक्रियते यदि। ततोन्यत्रापि संस्थाप्यं विधिदृष्टेन कर्मणा॥ असुरैर्मुनिभिर्गोत्रैःस्वतन्त्रविद्भिः प्रतिष्ठितम्। जीर्णं वाप्यथवा भग्नं विधिनापि न चालयेत्॥ अग्निपुराण, १०३।४ एवं २१।

दण्ड मिलना चाहिए।[10] पूजा बन्द हो जाने पर कुछ लेखकों ने पुनःप्रतिष्ठा की बात चलायी है, किन्तु कुछ अन्य लोगों ने केवल 'प्रोक्षण' की व्यवस्था दी है (देवप्रतिष्ठातत्त्व, पृ० ५१२ एवं धर्मसिन्धु ३, पूर्वार्ध, पृ० ३३४)। मुसलमानों द्वारा तोड़ी गयी एक प्रतिमा के पुनःस्थापन का वर्णन एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द २०, अनुक्रमणिका, पृ० ५६, संख्या ३८१) में वर्णित एक शिलालेख (११७८-७९ ई०) में पाया जाता है।

मठ-प्रतिष्ठा

मठों का अर्थ—मठ प्रतिष्ठा का तात्पर्य है मुनिवास, आश्रम, विहार या मठ की या अध्यापकों तथा छात्रों के लिए महाविद्यालय की स्थापना। मठ-स्थापना बहुत प्राचीन प्रथा नहीं है। बौधायनधर्मसूत्र (३।१।१६) ने अग्निहोत्री ब्राह्मण के विषय में लिखा है—"अपने गृह से प्रस्थान करने के उपरान्त वह (गृहस्थ) ग्राम की सीमा पर ठहर जाता है, वहाँ वह एक कुटी या पर्णशाला (मठ) बनाता है और उसमें प्रवेश करता है।" यहाँ 'मठ' शब्द का कोई पारिभाषिक अर्थ नहीं है। अमरकोश में मठ की परिभाषा यों दी हुई है—"वह स्थान जहाँ शिष्य (और उनके गुरु) रहते हैं।" मन्दिर या मठ के निर्माण के पीछे एक ही प्रकार की धार्मिक प्रेरणा या मनोभाव है, किन्तु उनके उद्देश्य पृथक्-पृथक् हैं। मन्दिर का निर्माण मुख्यतः पूजा एवं स्तुति करने के लिए होता है, किन्तु इसमें धार्मिक शिक्षा, महाभारत, रामायण एवं पुराणों का पाठ तथा संगीतमय कीर्तन आदि की भी व्यवस्था होती थी; किन्तु ये बातें गौण मात्र थीं। मठों की बातें निराली थीं, वहाँ ऐसे शिष्यों या अन्य साधारण जनों की शिक्षा का प्रबन्ध था, जिन के गुरु किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों या किसी दर्शन के सिद्धान्तों या व्याकरण, मीमांसा, ज्योतिष आदि विद्या-शाखाओं की शिक्षा दिया करते थे। बहुत से मठों में देवस्थल या मन्दिर आदि भी साथ-साथ संस्थापित रहते थे, किन्तु किसी विशिष्ट देवता की पूजा करना मठों का प्रमुख कर्तव्य नहीं था। सम्भवतः वैदिक धर्मावलम्बियों के मठों की स्थापना बौद्ध विहारों की अनुकृति पर ही हुई।[11] आद्य शंकराचार्य ने चार मठों की स्थापना की थी; शृंगेरी, पुरी (गोवर्धन मठ), द्वारका (शारदा मठ) एवं बदरी (ज्योतिर्मठ)। अद्वैतगुरु शंकराचार्य ने अपने वेदान्त-सिद्धान्त के प्रसार के लिए ही उपर्युक्त मठों की स्थापना की थी। भारतवर्ष में विविध प्रकार के मठ पाये जाते हैं। रामानुज एवं माध्व जैसे आचार्यों ने अपने-अपने मठ स्थापित किये। आज तो सम्भवतः सभी प्रकार के धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के मठ पाये जाते हैं। मौलिक रूप में शंकराचार्य जैसे संन्यासियों द्वारा स्थापित मठों में कोई सम्पत्ति नहीं थी, क्योंकि शास्त्रों ने संन्यासियों के लिए सम्पत्ति को वर्जित ठहराया है। संन्यासी लोग केवल खड़ाऊँ, परिधान, भोजपत्र या ताड़पत्र पर लिखित या कागद पर लिखित धार्मिक पुस्तकें तथा अन्य साधारण वस्तुओं के अतिरिक्त अपने पास कुछ नहीं रख सकते थे। संन्यासी लोगों को एक स्थान पर बहुत दिनों तक रहना भी वर्जित था। अतः लोग संन्यासियों के आने पर उनके आश्रय के लिए अपने कसबे या ग्राम में कुटियाँ बनवा देते थे, जिन्हें मठ कहा जाता था, जिसका संकीर्ण रूप में अर्थ है 'वह स्थान जहाँ संन्यासी रहते हैं।' किन्तु इसका विस्तीर्ण रूप में अर्थ है वह स्थान या संस्था जहाँ आचार्य या गुरु की अध्यक्षता में बहुत-से शिष्य धार्मिक सिद्धान्तों, आचारों तथा तत्सम्बन्धी विवेचनों का अध्ययन करते हैं या शिक्षा-दीक्षा पाते हैं। किन्तु कालान्तर में बड़े-बड़े आचार्यों के अनुयायियों एवं शिष्यों के अत्यधिक उत्साह, श्रद्धा एवं लगन से मठों को चल एवं अचल सम्पत्तियाँ प्राप्त हो गयीं।

१०. प्रतिमारामकूपसंक्रमध्वजसेतुनिपानभंगेषु तत्समुत्थापनं प्रतिसंस्कारोऽष्टशतं च। विवादरत्नाकर (पृ० ३६४)।

११. देखिए विहारों एवं उनकी दशा के विषय में चुल्लवग्ग (६।२ एवं १५)।

महन्त की नियुक्ति—मठ के मुख्य संन्यासी को स्वामी, मठपति, मठाधिपति या महन्त कहा जाता है। महन्त की नियुक्ति प्रत्येक मठ के रीति-रिवाजों या परम्पराओं के अनुसार होती है, नियुक्ति मुख्यतया तीन रूपों में होती है; (१) मठ का अधिपति (महन्त) अपने शिष्यों में किसी एक योग्य व्यक्ति को चुनकर अपना उत्तराधिकारी बना लेता है, (२) शिष्य लोग अपने में से किसी एक को अपने गुरु का उत्तराधिकारी चुन लेते हैं तथा (३) शासन करनेवाला या मठ का संस्थापक या उसके उत्तराधिकारी लोग महन्त की गद्दी खाली होने पर किसी की नियुक्ति कर देते हैं।

मन्दिर एवं मठ

मन्दिर एवं मठ धार्मिक एवं आध्यात्मिक कार्यों में एक दूसरे के पूरक रहे हैं। मन्दिरों में इतिहासों, पुराणों आदि का पाठ हुआ करता था। बाण ने लिखा है कि उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में महाभारत का नियमित पाठ हुआ करता था। राजतरंगिणी (५।२९) में आया है कि कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा ने रामट उपाध्याय की नियुक्ति मन्दिर में व्याकरण के व्याख्याता के पद (अध्यापक पद) पर की (९०० ई० के लगभग)। अग्निपुराण (२११।५७) के मत से जो व्यक्ति शिव, विष्णु या सूर्य के मन्दिर में ग्रन्थ का वाचन करता है वह सब प्रकार की विद्या के दान का पुण्य पाता है।[१२] कुछ मठों में न केवल आध्यात्मिक विद्या का दान किया जाता था, प्रत्युत वहाँ धर्म-निरपेक्ष अर्थात् लौकिक विद्या-दान करने की व्यवस्था थी। (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृष्ठ ३३८ तथा एपिग्रैफिया कर्नाटिका, जिल्द ६, संख्या ११)।

दानचन्द्रिका द्वारा उपस्थापित स्कन्दपुराण के उद्धरण से पता चलता है कि मठ में चौकियों एवं आसनों की व्यवस्था रहती थी, मठ तृणों से आच्छादित होता था और उसमें उन्नत स्थान (वेदिकाएँ) आदि बने रहते थे। ऐसे मठ ब्राह्मणों या संन्यासियों को मंगलमय मुहूर्त में दान किये जाते थे। इस प्रकार के दान से इच्छाओं की पूर्ति होती थी और निष्काम दान देने पर मोक्ष प्राप्त होता था।[१३]

'मठ' शब्द का प्रयोग कभी-कभी 'धर्मशाला' (जहाँ दूर-दूर से आकर यात्री कुछ दिनों के लिए ठहर जाते हैं) के अर्थ में भी हुआ है। राजतरंगिणी (६।३००) में आया है कि रानी दिद्दा ने मध्यदेश, लाट एवं सौराष्ट्र से आनेवाले लोगों के ठहरने के लिए मठ का निर्माण कराया (९७२ ई० के लगभग)।

मठों एवं मन्दिरों की सम्पत्ति का प्रबन्ध

सारे भारतवर्ष में मन्दिरों एवं मठों के स्थल पाये जाते हैं और उनमें बहुतों के पास पर्याप्त सम्पत्ति है। इन धार्मिक संस्थाओं की संपत्ति का प्रबन्ध तथा उनसे सम्बन्धित न्याय कार्य किस प्रकार होता था तथा उनके कुप्रबन्धों पर किस प्रकार के प्रतिबन्ध थे, इस विषय में हमें विस्तार के साथ विवरण कहीं नहीं प्राप्त होता। वास्तव में बात यह थी कि प्राचीन काल के धर्माधिकारी, देवस्थलाधिकारी, पुरोहित आदि इतने उज्ज्वल चरित्र वाले थे कि उनके प्रबन्ध में कोई हस्तक्षेप ही नहीं करता था और धर्मशास्त्रकारों ने उनके पूत जीवन एवं धर्माचरण के ऊपर किसी विशिष्ट कानून-

१२. शिवालये विष्णुगृहे सूर्यस्य भवने तथा। सर्वदानप्रदः स स्यात्पुस्तकं वाचयेत्तु यः॥ अग्निपुराण २११।५७।

१३. कृत्वा मठं प्रयत्नेन शयनासनसंयुतम्। तृणैराच्छादितं चैव वेदिकाभिः सुशोभितम्॥ पुण्यकाले द्विजेभ्यो वा यतिभ्यो वा निवेदयेत्। सर्वान् कामानवाप्नोति निष्कामो मोक्षमाप्नुयात्॥ स्कन्दपुराण (दानचन्द्रिका, पृ० १५२ में उद्धृत)।

व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं समझी। मनु (११।२६) ने लिखा है कि 'जो व्यक्ति देव-सम्पत्ति या ब्राह्मण-सम्पत्ति छीनता है वह दूसरे लोक में गृद्धों का उच्छिष्ट भोजन करता है। जैमिनि (९।१।९) की व्याख्या में शबर ने लिखा है कि यदि यह कहा जाय कि ग्राम या खेत देवता का है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि देवता उस ग्राम या खेत का प्रयोग करता है, प्रत्युत इसका तात्पर्य यह है कि देवता के पुजारी आदि का उस सम्पत्ति से भरण-पोषण होता है और वह सम्पत्ति उसी की है जो उसे अपने मन के अनुसार काम में लाता है। अतः अन्य दानों तथा मूर्ति के लिए दिये गये दानों में अन्तर है। मेधातिथि (मनु ११।२६ एवं ३।१८९) ने लिखा है कि मूर्तियाँ या प्रतिमाएँ शाब्दिक अर्थ में स्वामी-पद नहीं पा सकतीं, केवल गौण अर्थ में ही उन्हें सम्पत्ति के स्वामी का पद मिल सकता है, क्योंकि वे अपनी इच्छा के अनुसार सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकतीं और न उनकी रक्षा ही कर सकती हैं। सम्पत्ति का स्वामित्व तो उसी को प्राप्त होता है जो उसे अपनी इच्छा के अनुसार अपने प्रयोग में ला सके और उसकी रक्षा कर सके।'[१४]

आधुनिक काल के भारतीय न्यायालयों ने मूर्ति को सम्पत्ति का स्वामी मान लिया है, किन्तु वास्तव में स्वामित्व एवं प्रबन्ध मैनेजर या ट्रस्टी को प्राप्त है। मठ, इसी स्थिति में एक मूर्ति है। मूर्ति या मठ के अधिकारों की रक्षा एवं प्रतिपादन क्रम से मन्दिर के मैनेजर (प्रबन्धक) या ट्रस्टी तथा महन्त के हाथ में है। मनु एवं अन्य स्मृतिकारों ने लिखा है कि मन्दिरों की सम्पत्ति में किसी प्रकार के अवरोध उपस्थित करनेवाले तथा उसका नाश करनेवाले व्यक्तियों को दण्डित करना राजा का कर्तव्य है। याज्ञवल्क्य (२।२२८) ने मन्दिरों के पास के या पवित्र स्थलों के या श्मशान घाटों के वृक्षों या निर्मित उन्नत स्थलों पर जमे हुए पेड़ों की टहनियों या पेड़ों को काटने पर ४०, ८० या १८० पण दण्ड की व्यवस्था दी है। याज्ञवल्क्य (२।२४० एवं २९५) ने राजा द्वारा दिये गये दानपत्रों में अपनी ओर से कुछ जोड़ देने या घटा देने पर कठिन-से-कठिन दण्ड की व्यवस्था दी है। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य २।१८६) के मत से तड़ागों, मन्दिरों एवं गायों के चरागाहों की रक्षा के लिए बने नियमों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। मनु (९।२८०) ने लिखा है कि जो राज्य के भण्डार-गृह में सेंध लगाता है या शस्त्रागार या मन्दिर में चोरी करने की इच्छा से प्रवेश करता है उसे प्राण-दण्ड मिलना चाहिए, जो मूर्ति को तोड़ता है उसे जीर्णोद्धार का पूरा व्यय तथा ५०० पण जुरमाने में देने चाहिए। कौटिल्य (३।९) ने भी मन्दिरों पर अनधिकार चेष्टा करनेवाले को दण्डित करने की व्यवस्था दी है। कौटिल्य (५।२) ने 'देवताध्यक्ष' नामक राज्यकर्मचारी की नियुक्ति की बात कही है, जो आवश्यकता पड़ने पर मन्दिरों की सम्पत्ति दुर्गों में लाकर रख सकता था और प्रयोग में ला सकता था (और सम्भवतः विपत्ति टल जाने पर उसे लौटा देता था)। नारद (३), स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहार, पृ० २७), कात्यायन तथा अन्य लेखकों की कृतियों से पता चलता है कि राजा लोग मन्दिरों, तड़ागों, कूपों आदि की सम्पत्तियों पर निगरानी रखते थे और उन पर किसी प्रकार की विपत्ति आने पर उनकी रक्षा करते थे।

प्राचीन काल में (लगभग ई० पू० तीसरी या दूसरी शताब्दी से ही) धार्मिक संस्थाओं की भी एक समिति होती थी, जिसे **गोष्ठी** कहा जाता था, और उसके सदस्यों को **गोष्ठिक** कहा जाता था। कुछ शिलालेखों में मन्दिरों के अधीक्षकों

१४. देवग्रामो देवक्षेत्रमिति उपचारमात्रम्। यो यदभिप्रेतं विनियोक्तुमर्हति तत्तस्य स्वम्। न च ग्रामं क्षेत्रं वा यथाभिप्रायं विनियुंक्ते देवता।...देवपरिचारकाणां तु ततो भृतिर्भवति देवतामुद्दिश्य यत्त्यक्तम्। शबर (जैमिनि ९।१।९)। नहि देवतानां स्वस्वामिभावोस्ति मुख्यार्थासंभवाद् गौण एवार्थो ग्राह्यः। मेधातिथि (मनु ३।१८९); देवानुद्दिश्य यागादिक्रियार्थं यद्धनमुत्सृष्टं तद्देवस्वं मुख्यस्य स्वस्वामिसम्बन्धस्य देवानामसम्भवात्। न हि देवता इच्छया धनं नियुञ्जते। न च परिपालनव्यापारस्तासां दृश्यते। स्वं लोके च तादृशमुच्यते। मेधातिथि (मनु ९।२६)।

को स्थानपति कहा गया है (श्रीरंगम् दान-पत्र, देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १८, पृ० १३८)। महाशिवगुप्त (८वीं या ९वीं शताब्दी) के सिरपुर प्रस्तर-शिलालेख से पता चलता है कि मन्दिरों की सम्पत्ति के लेन-देन में राजा की आज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। अपरार्क (पृ० ७४६) द्वारा उद्धृत पैठीनसि के कथन से ज्ञात होता है कि राजा को मन्दिरों एवं संस्थाओं की सम्पत्ति लेना वर्जित था। किन्तु मन्दिरों की सम्पत्ति से सम्बन्धित झगड़ों में राजा हस्तक्षेप करते थे और आगे चलकर अंग्रेजी सरकार ने पुराने राजाओं का हवाला देकर मन्दिरों एवं मठों की सम्पत्तियों पर प्रबन्ध-सम्बन्धी दोष आदि मढ़कर हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया, और बहुत-से कानून बनाये। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में देवता को दी गयी सम्पत्ति को देवोत्तर कहा जाता है।

मनु (९।२१९) ने अविभाज्य पदार्थों में योगक्षेम को परिगणित किया है। 'योगक्षेम' के कई अर्थ कहे गये हैं, किन्तु मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य २।११८-११९) ने इसे 'इष्ट' एवं 'पूर्त' के अर्थ में गिना है।[15] अतः मिताक्षरा ने ऐसा घोषित किया है कि किसी व्यक्ति द्वारा बाप-दादों की सम्पत्ति से बनवाये गये तड़ाग, आराम (वाटिका) एवं मन्दिर आदि का दान अविभाज्य है, अर्थात् ये दान उस दानीय के पुत्रों एवं पौत्रों में बाँटे नहीं जा सकते। यही नियम आज तक रहा है। मन्दिरों तथा अन्य धार्मिक उपयोगों के लिए दी गयी सम्पत्ति भी साधारणतः अविच्छेद्य है। किन्तु स्वयं मन्दिरों तथा संस्थाओं के लाभ के लिए सम्पत्ति का हेर-फेर हो सकता है।

क्या उत्सर्ग की हुई वस्तु पर उत्सर्गकर्ता का कोई अधिकार पाया जाता है? वीरमित्रोदय (व्यवहार) ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। जिस प्रकार अग्नि में आहुति डालने वाले का आहुति पर कोई अधिकार नहीं रहता, किन्तु वह किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसे नष्ट किये जाते हुए नहीं देख सकता, प्रत्युत वह उसे अग्नि में भस्म हो जाते देखना चाहता है, उसी प्रकार उत्सर्गकर्ता अपनी उत्सर्ग की वस्तु पर कोई स्वामित्व नहीं रखता, किन्तु वह उस पर किसी तीसरे व्यक्ति का स्वामित्व नहीं देख सकता। उत्सर्गकर्ता का यह कर्तव्य है कि वह उत्सर्ग की हुई वस्तु का जन-कल्याण के लिए सदुपयोग होने दे। इस कथन से स्पष्ट है कि दानी का इतना अधिकार है कि वह अपनी उत्सर्ग की हुई वस्तु को नष्ट होने से बचाता रहे।

क्या प्रबन्धकर्ता या ट्रस्टी प्राचीन मूर्ति को हटा सकता है? क्या वह नयी मूर्ति की स्थापना कर सकता है? इस विषय में धर्मशास्त्र मूक है। आज के कानून के अनुसार यदि पुजारी लोग न चाहें तो मन्दिर का मैनेजर या ट्रस्टी मूर्ति का स्थानान्तरण नहीं कर सकता।

१५. योगश्च क्षेमं च योगक्षेमम्। योगशब्देनालब्धलाभकारणं श्रौतस्मार्ताग्निसाध्यमिष्टं कर्म लक्ष्यते। क्षेमशब्देन लब्धपरिरक्षणहेतुभूतं बहिर्वेदि दानतडागारामनिर्माणादि पूर्तं कर्म लक्ष्यते। तदुभयं पैतृकमपि पितृद्रव्यविरोधार्जितमप्यविभाज्यम्। यथाह लौगाक्षिः। क्षेमं पूर्तं योगमिष्टमित्याहुस्तत्त्वदर्शिनः। अविभाज्ये च ते प्रोक्ते शयनासनमेव च॥ इति मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य २।११८-११९)।

अध्याय २७

वानप्रस्थ

वानप्रस्थ एवं वैखानस—'वानप्रस्थ' के लिए प्राचीन काल में सम्भवतः 'वैखानस' शब्द प्रयुक्त होता था। ऋग्-अनुक्रमणी में १०० वैखानस ऋग्वेद ९।६६ के ऋषि कहे गये हैं, और ऋग्वेद १०।९९ के ऋषि हैं वम्र वैखानस। तैत्तिरीयारण्यक (१।२३) ने 'वैखानस' शब्द का सम्बन्ध प्रजापति के नखों से स्थापित किया है।[1] लगता है, अति प्राचीन काल में 'वैखानसशास्त्र' नामक कोई ग्रन्थ था, जिसमें वन के मुनियों के विषय में नियम लिखे हुए थे। गौतम (३।२) ने वानप्रस्थ आश्रम के लिए 'वैखानस' शब्द का प्रयोग किया है। बौधायनधर्मसूत्र (२।६।१९) ने उसी को वानप्रस्थ माना है जो वैखानस-शास्त्र से अनुमोदित नियमों का पालन करता है।[2] वृद्ध-गौतम (अध्याय ८, पृ० ५६४) ने सम्भवतः वैष्णवों के दो सम्प्रदाय बताये हैं; वैखानस एवं पाञ्चरात्रिक जिनमें प्रथम सम्प्रदाय ने विष्णु को पुरुष, अच्युत एवं अनिरुद्ध उपाधियों से पुकारा है तथा दूसरे सम्प्रदाय ने विष्णु को वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध नामक चार मूर्तियों या व्यूहों वाला माना है। पराशरमाधवीय (भाग २, पृ० १३९) ने वसिष्ठधर्मसूत्र (९।११) को उद्धृत करके (श्रामणकेनाग्निमाधाय) लिखा है कि 'श्रामणक' वह वैखानस-सूत्र है जिसने तपस्वियों के कर्तव्यों का वर्णन किया है। कालिदास ने शाकुन्तल में कण्व ऋषि की पर्णकुटी में रहती हुई शकुन्तला के जीवन को वैखानस-व्रत कहा है (१।२७)। मनु (६।२१) ने वानप्रस्थ को वैखानस के मत के अनुसार चलने को कहा है और मेधातिथि ने वैखानस को ऐसा शास्त्र माना है जिसमें वन में रहने वाले मुनियों या यतियों (वानप्रस्थ) के कर्तव्यों का वर्णन हो। महाभारत (शान्तिपर्व २०।६ एवं २६।६) के अनुसार वैखानसों का विचार यह है—"धन के पीछे पड़ने की अपेक्षा धन एकत्र करने की इच्छा न रखना ही अच्छा है।" शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य (३।४।२०) में तीसरे आश्रम को वैखानस कहा है और छान्दोग्योपनिषद् (२।२३।१) में प्रयुक्त 'तपस्' शब्द की ओर संकेत किया है।

मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ३।४५) के अनुसार वानप्रस्थ शब्द वनप्रस्थ ही है, जिसका तात्पर्य है 'वह जो वन में सर्वोत्तम ढंग से (जीवन के कठोर नियमों का पालन करते हुए) रहता है। किन्तु क्षीरस्वामी ने इसकी व्युत्पत्ति दूसरे ढंग से की है।[3]

वानप्रस्थ का काल

वानप्रस्थ होने का समय दो प्रकार से होता है। जाबालोपनिषद् (४) के मत से कोई व्यक्ति छात्र-जीवन के

१. ये नखास्ते वैखानसाः। ये वालास्ते वालखिल्याः। तै० आ० १।२३।

२. वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रसमुदाचारः। बौ० ध० सू० २।६।१९।

३. वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः, वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः। संज्ञायां दैर्घ्यम्। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।४५)। क्षीरस्वामी ने दूसरे ढंग से कहा है—'प्रतिष्ठन्ते अस्मिन् प्रस्थः; वनप्रस्थे भवो वानप्रस्थः वैखानसाख्यः'।

उपरान्त या गृहस्थ रूप में कुछ वर्ष व्यतीत कर लेने के उपरान्त वानप्रस्थ हो सकता है। मनु (६।२) के अनुसार 'जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखे, उसके बाल पक जायँ, और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जायँ तो उसे वन की राह लेनी चाहिए। इस विषय में टीकाकारों के विभिन्न मत हैं। कोई तीनों दशाओं (झुर्रियाँ, केश पक जाना, पौत्र उत्पन्न हो जाना) को, कोई इनमें किसी एक के उत्पन्न हो जाने को तथा कोई ५० वर्ष की अवस्था प्राप्त हो जाने को वानप्रस्थ बन जाने का उपयुक्त समय समझता है। कुल्लूक (मनु ३।५०) ने एक स्मृति का उद्धरण देकर ५० वर्ष की अवस्था को वानप्रस्थ के लिए उपयुक्त ठहराया है।

वानप्रस्थ के नियम

गौतम (३।२५-३४), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।९।२१।१८ एवं २।९।२३।२), बौधायनधर्मसूत्र (३।३), वसिष्ठधर्मसूत्र (९), मनु (६।१-३२), याज्ञवल्क्य (३।४५-५५), विष्णुधर्मसूत्र (९५), वैखानस (१०।५), शंख-स्मृति (६।१-७), शान्तिपर्व (२४५।१-१४), अनुशासनपर्व (१४२), आश्वमेधिकपर्व (४६।९-१६), लघु-विष्णु (३), कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, २७) आदि ने वानप्रस्थ के कतिपय नियमों का ब्यौरा दिया है। हम नीचे प्रमुख बातें दे रहे हैं।

(१) वन में अपनी पत्नी के साथ या उसे पुत्रों के आश्रय में छोड़कर जाना हो सकता है (मनु ६।३ एवं याज्ञ० ३।४५)। यदि स्त्री चाहे तो साथ जा सकती है। मेधातिथि ने टिप्पणी की है कि यदि पत्नी युवती हो तो वह पुत्रों के साथ रह सकती है, किन्तु बूढ़ी हो तो वह पति का अनुसरण कर सकती है।

(२) वानप्रस्थ अपने साथ तीनों वैदिक अग्नियाँ, गृह्याग्नि तथा यज्ञ में काम आने वाले पात्र, यथा—स्रुक्, स्रुव आदि ले लेता है।[४] साधारणतः यज्ञों में पत्नी का सहयोग आवश्यक माना जाता है, किन्तु जब वह अपने पुत्रों के साथ रह सकती है, तो यज्ञों में उसके सहयोग की बात नहीं भी उठायी जा सकती। वन में पहुँच जाने पर व्यक्ति को अमावस्या-पूर्णिमा के दिन श्रौत यज्ञ करने चाहिए, यथा—आग्रयण इष्टि, चातुर्मास्य, तुरायण एवं दाक्षायण (मनु ६।४,९-१० एवं याज्ञवल्क्य ३।४५)। यज्ञ के लिए भोजन वन में उत्पन्न होने वाले नीवार नामक अन्न से बनाना चाहिए। कुछ लोगों के अनुसार वानप्रस्थ को श्रौत एवं गृह्य अग्नियों का त्याग कर श्रामणक (अर्थात् वैखानस-सूत्र)

४. यदि व्यक्ति ने अर्धाधान ढंग का अनुसरण किया है तो उसके पास श्रौत एवं गृह्य अग्नियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। किन्तु यदि उसने सर्वाधान ढंग स्वीकार किया है तो उसके पास केवल श्रौत अग्नियाँ होती हैं, और वह केवल उन्हीं को साथ लेकर चलता है। जब कोई तीनों श्रौत अग्नियाँ जलाता है, तो वह अपनी स्मार्त अग्नि का आधा भाग साथ रख सकता है, इसी को अर्धाधान ढंग कहा जाता है। जब कोई स्मार्त अग्नि पृथक् रूप से नहीं रखता, तो उसे सर्वाधान ढंग कहा जाता है (देखिए आपस्तम्बश्रौतसूत्र ५-४।१२-१५ एवं ५।७।८ एवं निर्णयसिन्धु ३, पूर्वार्ध, पृ० ३७०)। यदि व्यक्ति के पास श्रौत अग्नियाँ नहीं होतीं तो वह केवल गृह्याग्नि लेकर चलता है। जिसकी पत्नी मर गयी हो वह भी वानप्रस्थ ग्रहण कर सकता है (मिताक्षरा, याज्ञ० ३।४५)। दाक्षायण नामक यज्ञ दर्शपूर्णमास यज्ञ का परिमार्जन मात्र है (आप० श्रौ० ३।१७।४ एवं ११, आश्वलायनश्रौत० २।१४।७ तथा कात्यायनश्रौ० ११२।११ की टीका)। तुरायण तो आश्व० श्रौ० (२।१४।४-६) के अनुसार इष्ट्ययन तथा आपस्तम्ब० (२३।१४।१) के अनुसार सत्र है।

के नियमों के अनुसार नवीन अग्नि प्रज्वलित करके यज्ञाहुतियाँ देनी चाहिए।[5] इस विषय में और देखिए गौतम (३।३६), आप० ध० सू० (२।९।२१।२०) एवं वसिष्ठधर्म० (९।१०)। अन्त में वानप्रस्थ को अपने शरीर में ही पवित्र अग्नियों को स्थापित कर बाह्य रूप से उनका त्याग कर देना चाहिए (वैखानस सूत्र)। देखिए मनु (६।२५) एवं याज्ञवल्क्य (३।४५)।

(३) मनु (६।५) एवं गौतम (३।२६ एवं २८) के मत से वानप्रस्थ को अपने गाँव वाला भोजन तथा गृहस्थी के सामान (गाय, अश्व, शयनासन आदि) का त्याग कर देना चाहिए, और फूल, फल, कन्द-मूल पर तथा वन में या पानी में उगने वाली वनस्पतियों या यतियों के योग्य नीवार, श्यामाक (साँवा) आदि अनाजों पर निर्भर रहना चाहिए। किन्तु उसे मधु, मांस, पृथिवी पर उगने वाले कुकुरमुत्ता, भूस्तृण, शिग्रुक तथा श्लेष्मातक फल का सेवन नहीं करना चाहिए (मनु ६।१४)। गौतम ने कुछ नहीं मिलने पर मांसभोजी पशुओं द्वारा मारे गये पशुओं के मांस के सेवन की व्यवस्था दी है। याज्ञवल्क्य (३।५४-५५) एवं मनु (६।२७-२८) ने अन्य यतियों के यहाँ भिक्षा माँगने या गाँवों में जाकर आठ मास भोजन माँगने की छूट दी है। मनु (६।१२) के मत से वह अपने द्वारा बनाया हुआ नमक खा सकता है।

(४) उसे प्रति दिन पंच महायज्ञ करने चाहिए, अर्थात् देवों, ऋषियों, पितरों, मानवों (अतिथियों) एवं भूतों (प्राणियों) की पूजा कर उन्हें यतियों के योग्य भोजन देना चाहिए या फलों, कन्दमूलों एवं वनस्पतियों से सत्कार करना चाहिए, इन्ही की भिक्षा देनी चाहिए।

(५) उसे तीन बार स्नान करना चाहिए; प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल (मनु ६।२२ एवं २४, याज्ञ० ३।४८, वसिष्ठ० ९।९)। मनु (६।६) ने दो बार (प्रातः एवं सायं) के स्नान की भी व्यवस्था दी है।

(६) उसे मृगचर्म, वृक्ष की छाल या कुश से शरीर ढँकना चाहिए, और सिर के बाल एवं नख बढ़ने देने चाहिए (मनु ६।६, गौतम ३।३४, वसिष्ठ० ९।११)।

(७) उसे वेदाध्ययन में श्रद्धा रखनी चाहिए और वेद का मौन पाठ करना चाहिए (आप० ध० २।९।२२।९, मनु ६।८ एवं याज्ञवल्क्य ३।४८)।

(८) उसे संयमी, आत्म-निग्रही, हितैषी, सचेत तथा सदय (उदार) होना चाहिए। कुल्लूक का यह मत कि वानप्रस्थ को, साथ में पत्नी के रहने पर, नियमित कालों में मैथुन करना चाहिए, भ्रामक है, क्योंकि मनु (६।२६), याज्ञ० (३।४५) एवं वसिष्ठ (९।५) ने इसे वर्जित माना है।

(९) उसे हल से जोते हुए खेत के अन्न का, चाहे वह कृषक द्वारा छोड़ ही क्यों न दिया गया हो, प्रयोग नहीं करना चाहिए, और न गाँवों में उत्पन्न फलों एवं कंद-मूलों का ही प्रयोग करना चाहिए (मनु ६।१६ एवं याज्ञवल्क्य ३।४६)।

(१०) वह वन में उत्पन्न अन्न को पका सकता है या जो स्वयं पक जाय (यथा फल) उसे खा सकता है या अन्न को पत्थरों से कुचलकर खा सकता है, अपने दाँतों से चबाकर खा सकता है। वह अपने भोजन तथा धार्मिक कृत्यों में घी का प्रयोग नहीं कर सकता; वह केवल वन में उत्पन्न होने वाले तेल का ही प्रयोग कर सकता है (मनु ६।१७ एवं याज्ञ० ३।४९)।

५. मेधातिथि (मनु ६।९) के अनुसार 'श्रामणक' अग्नि उसी के द्वारा प्रज्वलित की जाती थी जिसकी पत्नी मर जाती थी अथवा जो छात्र-जीवन के तुरत बाद ही वानप्रस्थ हो जाता था।

(११) वह रात या दिन में केवल एक बार खा सकता है, या एक दिन या दो या तीन दिनों के अन्तर पर खा सकता है (विष्णुधर्म० ९५।५-६ तथा मनु ६।१९)। वह चान्द्रायण व्रत (मनु ११।२१६) भी कर सकता है या केवल वन में उत्पन्न फलों, कन्दमूलों, फूलों (मनु ६।२०-२१ एवं याज्ञ० ३।५०) को खा सकता है या अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक पक्ष के उपरान्त खा सकता है। क्रमशः उसे इस प्रकार केवल जल या वायु पर ही निर्भर रहना चाहिए (आपस्तम्ब-धर्म० २।९।२३।२, मनु ६।३१, विष्णुधर्म० ९५।७-१२)।

(१२) उसे भोजन-सामग्री एक दिन के लिए या एक मास या केवल एक वर्ष के लिए एकत्र करनी चाहिए और प्रति वर्ष एकत्र की हुई सामग्री आश्विन मास में वितरित कर देनी चाहिए (मनु ६।१५, याज्ञ० ३।४७, आप० ध० २।९।२२।२४)।

(१३) उसे पंचाग्नि (चारों दिशाओं में चार अग्नि एवं ऊपर सूर्य) के बीच बैठकर, वर्षा में बाहर खड़े होकर, जाड़े में भीगे वस्त्र धारण कर (मनु ६।२३, ३४, याज्ञ० ३।५२ एवं विष्णुधर्म० ९५।२।४) कठिन तपस्या करनी चाहिए और अपने शरीर को भाँति-भाँति के कष्ट देकर अपने को सब कुछ सह सकने का अभ्यासी बना लेना चाहिए।

(१४) उसे क्रमशः किसी घर में रहना बन्द कर पेड़ के नीचे निवास करना चाहिए और केवल फलों एवं कन्द-मूलों पर निर्वाह करना चाहिए (मनु ६।२५, वसिष्ठ०, ९।११, याज्ञ० ३।५४, आपस्तम्बधर्म० २।९।२१।२०)।

(१५) रात्रि में उसे खाली पृथिवी पर शयन करना चाहिए। जागरण की दशा में बैठकर या चलते हुए या योगाभ्यास करते हुए समय बिताना चाहिए। उसे आनन्द लेने वाली वस्तु के सेवन से दूर रहना चाहिए (मनु ६।२२ एवं २६ तथा याज्ञवल्क्य ३।५१)।

(१६) उसे अपने शरीर की पवित्रता, ज्ञान-वर्धन एवं अन्त में मोक्ष-पद-प्राप्ति के लिए उपनिषदों का पाठ करना चाहिए (मनु ६।२९-३०)।

(१७) यदि वानप्रस्थ किसी असाध्य रोग से पीड़ित है, अपने कर्तव्य नहीं कर पाता और अपनी मृत्यु को पास में आयी हुई समझता है, तो उसे उत्तर-पूर्व की ओर मुख करके महाप्रस्थान कर देना चाहिए और केवल जल एवं वायु पर रहना चाहिए और तब तक चलते रहना चाहिए जब तक कि वह ऐसा गिरे कि पुनः न उठ सके (मनु ६।३१, याज्ञवल्क्य ३।५५)। मिताक्षरा एवं अपरार्क (पृ० ९४५) ने याज्ञवल्क्य (३।५५) की व्याख्या में किसी स्मृति का उद्धरण दिया है कि वानप्रस्थ को किसी लम्बी यात्रा में लग जाना चाहिए या जल या अग्नि में अपने को छोड़ देना चाहिए या अपने को ऊँचाई से नीचे ढकेल देना चाहिए।[1]

वानप्रस्थों के प्रकार

बौधायनधर्मसूत्र (३।१) ने वानप्रस्थों के प्रकार यों बताये हैं—पचमानक (जो पका हुआ भोजन या फल खाते हैं) एवं अपचमानक (जो अपना भोजन पकाते नहीं), ये दोनों पुनः पाँच भागों में विभाजित हैं। पाँच पचमानक ये हैं—सर्वारण्यक, वैतुषिक, वे जो केवल फलों, कन्दमूलों आदि पर निर्भर रहते हैं, जो केवल फलों पर रहते हैं तथा वे जो केवल शाक-पात खाते हैं। इन पाँचों में सर्वारण्यक लोग दो प्रकार के होते हैं—इन्द्रावसिक्त (जो लता, गुल्म आदि लाकर पकाते हैं, उनसे अग्निहोत्र करते हैं और उन्हें अतिथि को समर्पित कर स्वयं खाते हैं) एवं रेतोवसिक्त (जो

१. वानप्रस्थो दूराध्वानं ज्वलनाम्बुप्रवेशनं भृगुप्रपतनं वानुतिष्ठेत्। इति स्मरणात्। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य, ३।५५)

व्याघ्रों, भेड़ियों एवं बाज द्वारा मारे गये जन्तुओं का मांस खाते हैं, पकाकर अग्नि को चढ़ाते हैं और स्वयं खाते हैं)। अपचमानक के पाँच प्रकार ये हैं---**उन्मज्जक** (जो भोजन रखने के लिए लोहे या पत्थर का साधन नहीं रखते), **प्रवृत्ताशिनः** (जो बिना पात्र लिये केवल हाथ में ही लेकर खाते हैं), **मुखेनादायिनः** (जो बिना हाथ के प्रयोग के पशुओं की भाँति केवल मुख से ही खाते हैं), **तोयाहार** (जो केवल जल पीते हैं) तथा **वायुभक्ष** (जो पूर्ण रूप से उपवास करते हैं)। बौधायन के अनुसार ये ही **वैखानस** की दस दीक्षा हैं। मनु (६।२९) ने भी वन की दीक्षाओं के लिए कुछ नियमों की व्यवस्था बतलायी है।

बृहत्पराशर (अध्याय ११, पृ० २९०) ने वानप्रस्थों के चार प्रकार बताये हैं; **वैखानस, उदुम्बर, वालखिल्य** एवं **वनेवासी**। वैखानस (८।७) के मत में वानप्रस्थ या तो सपत्नीक या अपत्नीक होते हैं, जिनमें सपत्नीक पुनः चार प्रकार के हैं; **औदुम्बर, वैरिञ्च, वालखिल्य** एवं **फेनप**। रामायण (अरण्यकाण्ड, अध्याय १९।२-६) ने वानप्रस्थों को वालखिल्य, अश्मकुट्ट आदि नामों से पुकारा है।

वानप्रस्थ के अधिकारी

शूद्रों को छोड़कर अन्य तीन वर्णों में कोई भी वानप्रस्थ हो सकता है। शान्तिपर्व (२१।१५) में आया है कि क्षत्रिय को राज्यकार्य पुत्र पर सौंपकर वन में चला जाना चाहिए और वन में उत्पन्न खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए तथा श्रावण (श्रामणक) शास्त्रों के अनुसार चलना चाहिए।[७] आश्वमेधिक पर्व (३५।४३) में स्पष्ट शब्दों में लिखित है कि वानप्रस्थ आश्रम तीनों द्विजातियों के लिए है। महाभारत ने बहुत-से वानप्रस्थ राजाओं की चर्चा की है। राजा ययाति ने अपने पुत्र पुरु को राजा बनाकर स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण किया (आदिपर्व ८६।१) और वन में कठिन तप करके उपवास से शरीर त्याग दिया (आदिपर्व ८६।१२-१७ एवं ७५।५८)। आश्वमेधिकपर्व (अध्याय १९) में आया है कि धृतराष्ट्र ने अपनी स्त्री गान्धारी के साथ वानप्रस्थ ग्रहण करके वृक्ष की छालों एवं मृगचर्म को वस्त्र रूप में धारण किया। पराशरमाधवीय (१।२, पृ० १३९) ने मनु (६।२), यम तथा अन्य लेखकों का उल्लेख करके तीनों उच्च वर्णों को वानप्रस्थ के योग्य ठहराया है। स्त्रियां भी वानप्रस्थ हो सकती थीं। मौशलपर्व (७।७४) में आया है कि श्री कृष्ण के स्वर्ग-गमन के उपरान्त उनकी सत्यभामा आदि पत्नियाँ वन में चली गयीं और कठिन तपस्या में लीन हो गयीं। आदिपर्व (१२८।१२-१३) ने लिखा है कि पाण्डु की मृत्यु के उपरान्त सत्यवती अपनी दो पुत्रवधुओं के साथ तप करने को वन में चली गयी और वहीं मर गयी। और देखिए शान्तिपर्व (१४७।१०, महाप्रस्थान के लिए) एवं आश्रमवासिपर्व (३७।२७-२८)। वैखानस (८।१) एवं वामनपुराण (१।४।११७-११८) के अनुसार ब्राह्मण चार आश्रमों, क्षत्रिय तीन (संन्यास को छोड़कर), वैश्य दो (ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ) एवं शूद्र केवल एक (गृहस्थ) आश्रम का अधिकारी होता है। शम्बूक नामक शूद्र की गाथा प्रसिद्ध ही है।

आत्म-हत्या का प्रश्न एवं वानप्रस्थ का प्राण-त्याग

वानप्रस्थ का महाप्रस्थान एवं उच्च शिखर आदि से गिरकर प्राण त्याग करना कहाँ तक संगत है, इस पर धर्मशास्त्र के लेखकों के विभिन्न मत हैं। धर्मशास्त्रकारों ने सामान्यतः आत्महत्या की भर्त्सना की है तथा आत्महत्या

७. पुत्रसंक्रामितश्रीश्च वने वन्येन वर्तयन्। विधिना श्रावणेनैव कुर्यात्कर्माण्यतन्द्रितः॥ शान्तिपर्व २१।१५। श्रावण शब्द सम्भवतः श्रमण या श्रामणक का ही एक भेद है।

करने के प्रयत्न को महापाप माना है। पराशर (४।१-२) ने लिखा है कि जो स्त्री या पुरुष घमण्ड या क्रोध या क्लेश या भय के कारण आत्महत्या करता है वह ६० सहस्र वर्ष तक नरक वास करता है।[8] मनु ने लिखा है कि जो अपने को मार डालता है उसकी आत्मा की शान्ति के लिए तर्पण नहीं करना चाहिए (५।८९)। आदिपर्व (१७९।२०) ने घोषित किया है कि आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोकों में नहीं जा सकता। वसिष्ठधर्मसूत्र (२३।१४-१६) ने कहा है—जो आत्महत्या करता है वह अभिशप्त हो जाता है और उसके सपिण्ड लोग उसका श्राद्ध नहीं करते; जो व्यक्ति अपने को अग्नि, जल, मृत्खण्ड (ढेला), पत्थर, हथियार, विष या रस्सी से मार डालता है वह आत्महन्ता कहलाता है। जो द्विज स्नेहवश आत्महन्ता की अन्तिम क्रिया करता है उसे तप्तकृच्छ्र के साथ चान्द्रायण व्रत करना पड़ता है। आत्म-हत्या करने का प्रण करने पर भी प्रायश्चित्त आवश्यक है (वसिष्ठधर्मसूत्र २३।१८)। यम (२०।२१) ने लिखा है कि जो रस्सी से लटककर मर जाना चाहता है, वह यदि मर जाय तो उसके शव को अपवित्र वस्तुओं से लिप्त कर देना चाहिए, यदि वह बच जाता है तो उसको २०० पण का दण्ड देना चाहिए, उसके मित्रों एवं पुत्रों में प्रत्येक को एक-एक पण का दण्ड मिलना चाहिए और शास्त्र में कहे हुए प्रायश्चित्त एवं व्रत आदि करने चाहिए।[9]

उपर्युक्त सामान्य धारणा के रहते हुए भी स्मृतियों, महाकाव्यों एवं पुराणों में अपवाद कहे गये हैं। मनु (११।७३) एवं याज्ञवल्क्य (३।२४८) में आया है कि ब्रह्महत्या करनेवाला व्यक्ति युद्ध में धनुर्धारियों से अपनी हत्या करा सकता है या वह अपने को अग्नि में झोंक सकता है। इसी प्रकार मद्य पीने वाला खौलती हुई मदिरा, जल, घी, गाय का दूध या गाय का मूत्र पीकर अपने प्राणों की हत्या कर सकता है (मनु ११।९०-९१, याज्ञ० ३।२५३, गौतम २३।१, वसिष्ठधर्म० २०।२२)। इसी प्रकार व्यभिचारी, चोर आदि के लिए वसिष्ठधर्म० (१३।१४), गौतम (२३।१), आप-स्तम्ब (१।९।२५।१-३ एवं ६) ने मर जाने की व्यवस्था दी है। शल्यपर्व (३९।३३-३४) ने लिखा है—"जो सरस्वती के उत्तरी तट पर पृथूदक नामक स्थल पर वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ अपना शरीर छोड़ देता है वह पुनः मृत्यु का क्लेश नहीं पाता।" अनुशासनपर्व (२५।६२-६४) में आया है कि जो वेदान्त के अनुसार अपने जीवन को क्षणिक समझकर पवित्र हिमालय में उपवास करके प्राण त्याग देता है वह ब्रह्मलोक पहुँच जाता है (देखिए वनपर्व ८५।८३, प्रयाग में आत्महत्या करने के विषय में)। मत्स्यपुराण (१८६।३४-३५) में आया है कि जो अमरकण्टक की चोटी पर अग्नि, विष, जल, उपवास से या गिरकर मर जाता है वह पुनः इस संसार में लौट कर नहीं आता।

उपर्युक्त धारणाओं के साकार उदाहरण शिलालेखों में भी पाये जाते हैं। यशःकर्णदेव के खैरा दानपत्र से पता चलता है कि कलचुरि राजा गांगेय ने अपनी एक सौ रानियों के साथ प्रयाग में मुक्ति प्राप्त की (सन् १०७३ ई०) (देखिए इस विषय में एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १२, पृ० २०५)। चन्देल कुल के राजा धंगदेव ने १०० वर्ष की अवस्था में रुद्र का ध्यान करते-करते प्रयाग में अपना शरीर छोड़ दिया (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० १४०)। चालुक्य-राज सोमेश्वर ने योग साधन करने के उपरान्त तुंगभद्रा में अपने को डुबो दिया (सन् १०६८ ई०, एपिग्रैफिया कर्नाटिका, जिल्द २, संकेत १३६)। रघुवंश (८।९४) में आया है कि राजा रघु ने वृद्धावस्था में रोग से पीड़ित होने पर गंगा और सरयू के संगम पर उपवास करके अपने को डुबोकर मार डाला और तुरंत ही स्वर्ग का वासी हो गया।

८. अतिमानादतिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्। उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते॥ पूयशोणितसम्पूर्णे अन्धे तमसि मज्जति। षष्टिं वर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते॥ पराशर (४।१।२।)

९. आत्मानं घातयेद्यस्तु रज्ज्वादिभिरुपक्रमैः। मृतोऽमेध्येन लेप्तव्यो जीवतो द्विशतं दमः॥ दण्ड्यास्तत्पुत्रमित्राणि प्रत्येकं पणिकं दमम्। प्रायश्चित्तं ततः कुर्युर्यथाशास्त्रप्रचोदितम्॥ यम (२०।२१)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि धर्मशास्त्रकारों ने आत्म-हत्या के मामले में कुछ अपवादों को छोड़कर अन्य आत्महन्ताओं को किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं माना है। व्रत-उपवासों से एवं पवित्र स्थलों पर मर जाने को धर्मशास्त्रीय छूट मिली थी, और इस प्रकार की आत्महत्या को मुक्ति ऐसे परमोच्च लक्ष्य का साधन भी मान लिया गया था। स्मृतियों ने वानप्रस्थों के लिए भी आत्महत्या की छूट दे दी थी। वे महाप्रस्थान करके मृत्यु का आलिंगन कर सकते थे, वे कुछ परिस्थितियों में अग्निप्रवेश, जल-प्रवेश, उपवास करके तथा पर्वत-शिखर से गिरकर मर सकते थे। वानप्रस्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य लोग भी, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, इन विधियों से आत्महत्या कर सकते थे। गौतम (१४। ११) ने लिखा है कि जो लोग इच्छापूर्वक उपवास करके, हथियार से अपने को काटकर, अग्नि से, विष से, जल प्रवेश से, रस्सी से लटककर या पर्वत-शिखर से गिरकर मर जाते हैं उनके लिए किसी प्रकार के शोक करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु अत्रि (२१८-२१९) ने कुछ अपवाद दिये हैं—यदि वह जो बहुत बूढ़ा हो (७० वर्ष के ऊपर), जो (अत्यधिक दौर्बल्य के कारण) नियमानुकूल शरीर को पवित्र न रख सके, जो असाध्य रोग से पीड़ित हो, वह पर्वतशिखर से गिरकर, अग्नि या जल में प्रवेश कर या उपवास कर अपने प्राणों की हत्या कर दे तो उसके लिए तीन दिनों का अशौच करना चाहिए और उसका श्राद्ध भी कर देना चाहिए।[10] अपरार्क (पृ० ५३६) ने ब्रह्मगर्भ, विवस्वान् एवं गार्ग्य की उक्तियों का उद्धरण दिया है—'यदि कोई गृहस्थ असाध्य रोग या महाव्याधि से पीड़ित हो, या जो अति वृद्ध हो, जो किसी भी इन्द्रिय से उत्पन्न आनन्द का अभिलाषी न हो और जिसने अपने कर्तव्य कर लिये हों, वह महाप्रस्थान, अग्नि या जल में प्रवेश करके या पर्वत-शिखर से गिरकर अपने प्राणों की हत्या कर सकता है। ऐसा करके वह कोई पाप नहीं करता है, उसकी मृत्यु तपों से भी बढ़कर है, शास्त्रानुमोदित कर्तव्यों के पालन में अशक्त होने पर जीने की इच्छा रखना व्यर्थ है।'[11] अपरार्क (पृ० ८७७) एवं पराशरमाधवीय (१।२, पृ० २२८) ने आदि पुराण से बहुत-से श्लोक उद्धृत किये हैं जो यह बताते हैं कि उपवास करके, या अग्नि-प्रवेश या गम्भीर जल में प्रवेश करके या ऊँचाई से गिरकर या हिमालय में महाप्रस्थान करके या प्रयाग में वट की डाल से कूदकर प्राण देने से किसी प्रकार का पाप नहीं लगता, बल्कि कल्याणप्रद लोकों की प्राप्ति होती है। रामायण (अरण्यकाण्ड, अध्याय ९) में वर्णित शरभंग ने अग्नि-प्रवेश से आत्महत्या की। मृच्छकटिक नाटक में राजा शूद्रक को अग्नि में प्रवेश करके मरते हुए व्यक्त किया गया है। गुप्ताभिलेख (संख्या ४२) से पता चलता है कि सम्राट् कुमारगुप्त ने उपलों की अग्नि में प्रवेश कर आत्महत्या कर ली थी।

जैनों में बहुत से नियम उपर्युक्त नियमों से मिलते-जुलते हैं। समन्तभद्र (लगभग द्वितीय शताब्दी, ईसा के उपरान्त) के ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार में सल्लेखना के विषय में लिखा है। आपत्तियों, अकालों, अति वृद्धावस्था एवं

१०. वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः। आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः॥ तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसञ्चयम्। तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत्॥ अत्रि २१८-२१९ (मनु ५।८९ की व्याख्या में मेधातिथि द्वारा, याज्ञवल्क्य ३।६ की टीका में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत), यह अपरार्क पृ० ९०२ में अंगिरा का तथा पराशरमाधवीय १।२, पृ० २२८ में शातातप का उद्धरण माना गया है।

११. तथा च ब्रह्मगर्भः। यो जीवितुं न शक्नोति महाव्याध्युपपीडितः। सोऽग्न्युदकमहायात्रां कुर्वन्नामुत्र दुष्यति॥ विवस्वान्। सर्वेन्द्रियविरक्तस्य वृद्धस्य कृतकर्मणः। व्याधितस्येच्छया तीर्थे मरणं तपसोऽधिकम्॥ तथा गार्ग्योपि गृहस्थमधिकृत्याह। महाप्रस्थानगमनं ज्वलनाम्बुप्रवेशनम्। भृगुप्रपतनं चैव वृथा नेच्छेत्तु जीवितुम्॥ अपरार्क द्वारा उद्धृत (पृ० ५३६)।

असाध्य रोगों में शरीर-त्याग को सल्लेखना कहते हैं।[१२] कालन्द्री (सिरोही) के अभिलेख से पता चलता है कि संवत् १३८९ में एक जैन-समाज के सभी लोगों ने सामूहिक आत्महत्या की थी (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २२, अनुक्रमणिका पृ० ८९, संख्या ६९१)।

मेगस्थनीज़ के विवरण से पता चलता है कि ई० पू० चौथी शताब्दी में भी धार्मिक आत्महत्या प्रचलित थी। स्ट्रैबो ने लिखा है कि भारतीय राजदूतों के साथ अगस्टस सीज़र के यहाँ एक ऐसा व्यक्ति भी आया था, जिसने कैलानोस (एक यूनानी) के समान अपने को अग्नि में झोंक दिया था। कैलानोस ने अलेक्ज़ेंडर (सिकन्दर) के समक्ष ऐसा ही किया था (देखिए मैक्क्रिंडिल, पृ० १०६ एवं स्ट्रैबो १५।१।४)।

पुराणों के समय में महाप्रस्थान, अग्नि-प्रवेश एवं भृगुप्रपतन से आत्महत्या करना वर्जित मान लिया गया और उसे कलिवर्ज्य में परिगणित कर दिया गया है।[१३]

वानप्रस्थ एवं संन्यास

वानप्रस्थों के लिए बने बहुत-से नियम एवं कर्तव्य ज्यों-के-त्यों संन्यासियों के लिए भी व्यवस्थित पाये जाते हैं। मनु (६।२५-२९) ने जो नियम वानप्रस्थों के लिए व्यवस्थित किये हैं वे ही परिव्राजकों के लिए भी हैं (मनु ६।३८, ४३ एवं ४४)। यही बात आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।९।२१।१० एवं २०) में भी पायी जाती है। वानप्रस्थ ही अन्त में संन्यासी हो जाता है। दोनों को ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, भोजननियम आदि का पालन करना पड़ता था और उपनिषदों को मनोयोग से पढ़ना पड़ता था तथा ब्रह्मज्ञान के लिए प्रयत्न करना पड़ता था। दोनो आश्रमों में कुछ अन्तर भी थे। वानप्रस्थ आरम्भ में अपनी स्त्री भी साथ में रख सकता था, किन्तु संन्यासी के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती। वानप्रस्थ को आरम्भ में अग्नि प्रज्वलित रखनी पड़ती थी, आह्निक एवं अन्य यज्ञ करने पड़ते थे, किन्तु संन्यासी अग्नि का त्याग कर देते थे। वानप्रस्थ को तप करने पड़ते थे, आहारादि के अभाव का क्लेश सहना पड़ता था, अपने को तपाना पड़ता था। किन्तु संन्यासी को मुख्यतः अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना पड़ता था एवं परमतत्त्व का ध्यान करना पड़ता था, जैसा कि स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्रभाष्य (३।४।२०) में लिखा है। वानप्रस्थ एवं संन्यास में बहुत साम्य था अतः कालान्तर में लोग गृहस्थाश्रम के उपरान्त सीधे संन्यास में प्रविष्ट हो जाते थे। इसी से गोविन्दस्वामी ने बौधायनधर्मसूत्र (३।३।१४-१७) की व्याख्या में लिखा है—"वानप्रस्थसंन्यासभेदः किमर्थमाचार्यकृत इत्यसावेव प्रष्टव्यः", अर्थात् आचार्य से पूछना चाहिए कि उन्होंने वानप्रस्थ एवं संन्यास को पृथक्-पृथक् क्यों लिखा है। दोनों में इतना साम्य है कि उन्हें पृथक् नहीं रखना चाहिए। इसी से कालान्तर में कोई वानप्रस्थ होता ही नहीं था और इसे कलियुग में वर्जित भी मान लिया गया (बृहन्नारदीय, पूर्वार्ध २४।१४, स्मृत्यर्थसार, पृ० २ श्लोक १७)।

१२. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार (अध्याय ५)।

१३. महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः। एतान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः।। बृहन्नारदीय, पूर्वार्ध, अध्याय २४।१६; स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० १२।

अध्याय २८

संन्यास

छान्दोग्योपनिषद् (२।२३।१) में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ नामक तीन आश्रमों की ओर संकेत मिलता है। सम्भवतः इस उपनिषद् ने संन्यास को चौथे आश्रम के रूप में ग्रहण नहीं किया है, बृहदारण्यकोपनिषद् जैसी प्राचीन उपनिषदों में सांसारिक मोहकता के त्याग, भिक्षा-वृत्ति एवं परब्रह्म-ध्यान पर बल अवश्य दिया गया है, किन्तु इस प्रकार की धारणाओं के साथ संन्यास नामक किसी आश्रम की चर्चा नहीं हुई है। जाबालोपनिषद् (४) ने संन्यास को चौथे आश्रम के रूप में ग्रहण करने को रुच्यधीन छोड़ दिया है और कहा है कि इसका ग्रहण प्रथम दो आश्रमों में किसी के उपरान्त हो सकता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१) में आया है कि याज्ञवल्क्य ने परिव्राजक होने के समय अपनी स्त्री मैत्रेयी से सम्पत्ति को उस (मैत्रेयी) में और कात्यायनी (मैत्रेयी की सौत) में बाँट देने की चर्चा की। इससे प्रकट होता है कि उन दिनों परिव्राजकों को घर-द्वार, पत्नी एवं सारी सम्पत्ति का परित्याग कर देना पड़ता था। इसी उपनिषद् (३।५।१) में आया है कि आत्मविद् व्यक्ति सन्तान, सांसारिक सम्पत्ति, मोह आदि छोड़ देते हैं और भिखारी का जीवन व्यतीत करते हैं; अतः ब्राह्मण को चाहिए कि वह सम्पूर्ण पाण्डित्य-प्राप्ति के उपरान्त बालक-सा बना रहे (अर्थात् उसे अपने पाण्डित्य की अभिव्यक्ति नहीं करनी चाहिए), ज्ञान एवं बाल्य (बच्चों जैसे व्यवहार) के ऊपर उठकर उसे मुनि की स्थिति में आना चाहिए तथा मुनि (मौन रूप में रहने) या अमुनि के रूप से ऊपर उठकर उसे वास्तविक ब्राह्मण (जिसने ब्रह्म की अनुभूति कर ली हो) बन जाना चाहिए।[1] इसी प्रकार के अन्य शब्दों एवं मनोभावों के अध्ययन के लिए देखिए बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२)। जाबालोपनिषद् (५) ने लिखा है कि परिव्राट् लोग विवर्ण-वास (श्वेत वस्त्र नहीं) थे, मुण्डित सिर, बिना सम्पत्ति वाले, पवित्र, अद्रोही, भिक्षा वृत्ति करने वाले थे तथा ब्रह्म-संलग्न रहते थे। परम-हंस, ब्रह्म, नारद-परिव्राजक एवं संन्यास उपनिषदों में संन्यास के विषय में बहुत से नियम हैं। किन्तु इन उपनिषदों की ऐतिहासिकता एवं सचाई पर सन्देह है, अतः हम धर्मसूत्रों एवं प्राचीन स्मृतियों के नियमों की ही चर्चा करेंगे।

संन्यास-धर्म

यतिधर्म अथवा संन्यास-धर्म के विषय में हम निम्नलिखित ग्रन्थों का विवेचन उपस्थित करेंगे, यथा—गौतम (३।१०-२४), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।९।२१।७-२०), बौधायनधर्मसूत्र (२।६।२१-२७ एवं २।१०) वसिष्ठ-

१. मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति। बृह० उ० २।४।१; एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।...तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः। बृह० उ० ३।५।१। और देखिए वेदान्तसूत्र ३।४।४७-४९ एवं ५०, जहाँ अन्तिम अंश पर विवेचन उपस्थित किया गया है।

धर्मसूत्र (१०), मनु (६।३३-८६), याज्ञवल्क्य (३।५६-६६), वैखानस (९।९), विष्णुधर्मसूत्र (९६), शान्तिपर्व (अध्याय २४६ एवं २७९), आदिपर्व (११९।७-२१), आश्वमेधिकपर्व (४६।१८-४६), शंखस्मृति (७, श्लोकबद्ध), दक्ष (७।२८-३८), कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, अध्याय २८), अग्निपुराण (१६१) आदि। हम संन्यास के कर्तव्यों एवं लक्षणों की चर्चा निम्न रूप से करेंगे।

(१) संन्यास आश्रम ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को प्रजापति के लिए यज्ञ करना पड़ता है, अपनी सारी सम्पत्ति पुरोहितों, दरिद्रों एवं असहायों में बाँट देनी होती है (मनु ६।३८, याज्ञ० ३।५६, विष्णुध० ९६।१, शंख ७।१)। जो लोग तीन वैदिक अग्नियाँ रखते हैं उन्हें प्राजापत्येष्टि तथा जिनके पास केवल गृह्य अग्नि होती है वे अग्नि के लिए इष्टि करते हैं (यतिधर्मसंग्रह, पृ० १३)। जाबालोपनिषद् (४) ने केवल अग्नि की इष्टि की बात कही है और प्राजापत्येष्टि का खण्डन किया है। नृसिंहपुराण (६०।२-४) के अनुसार संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व आठ श्राद्ध करने चाहिए। नृसिंहपुराण (५८।३६) ने प्रत्येक वैदिक शाखानुयायी को संन्यासी होने की छूट दी है, यदि वह वाणी, कामसंवेग, भूख, जिह्वा का संयमी हो। आठ प्रकार के श्राद्ध ये हैं—**दैव** (वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों को), **आर्ष** (मरीचि आदि दस ऋषियों को), **दिव्य** (हिरण्यगर्भ एवं वैराज को), **मानुष** (सनक, सनन्दन एवं अन्य पाँच को), **भौतिक** (पंचभूतों, पृथिवी आदि को), **पैतृक** (कव्यवाड् अग्नि, सोम, अर्यमाओं—अग्निष्वात्त आदि पितरों को), **मातृश्राद्ध** (गौरी-पद्मा आदि दस माताओं को) तथा **आत्मश्राद्ध** (परमात्मा को)। इस विषय में देखिए यतिधर्मसंग्रह (पृ० ८९) एवं स्मृतिचन्द्रिका (पृ० १७७)। मनु (६।३५-३७) ने सतर्कता से लिखा है कि वेदाध्ययन, सन्तानोत्पत्ति एवं यज्ञों के उपरान्त (देव-ऋण, ऋषि-ऋण एवं पितृ-ऋण चुकाने के उपरान्त) ही मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए। बौधायन-ध० (२।१०।३-६) एवं वैखानस (९।६) ने लिखा है कि वह गृहस्थ, जिसे सन्तान न हो, जिसकी पत्नी मर गयी हो या जिसके लड़के ठीक से धर्म-मार्ग में लग गये हों या जो ७० वर्ष से अधिक अवस्था का हो चुका हो, संन्यासी हो सकता है। कौटिल्य (२।१) ने लिखा है कि जो व्यक्ति बिना बच्चों एवं पत्नी का प्रबन्ध किये संन्यासी हो जाता है उसे साहस-दण्ड मिलता है। मनु (६।३८) के मत से संन्यासी होनेवाला अपनी अग्नियों को अपने में समाहित कर घर-त्याग करता है।

(२) घर, पत्नी, पुत्रों एवं सम्पत्ति का त्याग करके संन्यासी को गाँव के बाहर रहना चाहिए, उसे बेघर का होना चाहिए, जब सूर्यास्त हो जाय तो पेड़ों के नीचे या परित्यक्त घर में रहना चाहिए, और सदा एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिए। वह केवल वर्षा के मौसम में एक स्थान पर ठहर सकता है (मनु ६।४१, ४३-४४, वसिष्ठधर्म० १०।१२-१५, शंख ७।६)। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ३।५८) द्वारा उद्धृत शंख के वचन से पता चलता है कि संन्यासी वर्षा ऋतु में एक स्थान पर केवल दो मास तक रुक सकता है। कण्व का कहना है कि वह एक रात्रि गाँव में, या पाँच दिन कसबे में (वर्षा ऋतु को छोड़कर) रह सकता है। आषाढ़ की पूर्णिमा से लेकर चार या दो महीनों तक वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रुका जा सकता है। संन्यासी यदि चाहे तो गंगा के तट पर सदा रह सकता है।

(३) संन्यासी को सदा अकेले घूमना चाहिए, नहीं तो मोह एवं बिछोह से वह पीड़ित हो सकता है। दक्ष (७।३४-३८) ने इस बात पर यों बल दिया है—"वास्तविक संन्यासी अकेला रहता है; जब दो एक साथ टिकते हैं तो दोनों एक जोड़ा हो जाते हैं, जब तीन साथ टिकते हैं तो वे ग्राम के समान हो जाते हैं, जब अधिक (अर्थात् तीन से अधिक) एक साथ टिकते हैं तो वे नगर के समान हो जाते हैं। तपस्वी को जोड़ा, ग्राम एवं नगर नहीं बनाना चाहिए, नहीं तो वैसा करने पर वह धर्मच्युत हो जायगा। क्योंकि दो के साथ रहने से राजवार्ता (लोकवार्ता) होने लगती है, एक-दूसरे की भिक्षा के विषय में चर्चा होने लगती है और अत्यधिक सान्निध्य से स्नेह, ईर्ष्या, दुष्टता आदि मनोभावों की उत्पत्ति हो जाती है। कुतपस्वी लोग बहुत-से कार्यों में संलग्न हो जाते हैं, यथा धन-सम्पत्ति या आदर प्राप्ति के लिए व्याख्यान देकर शिष्यों को एकत्र करना आदि। तपस्वियों के लिए केवल चार प्रकार की क्रियाएँ हैं—(१) **ध्यान**,

(२) शौच, (३) भिक्षा एवं (४) एकान्तशीलता (सदा अकेले रहना)।[2] नारद के अनुसार यतियों के लिए छः प्रकार के कार्य राजदण्डवत् अनिवार्य माने गये हैं---भिक्षाटन, जप, ध्यान, स्नान, शौच, देवार्चन।

(४) संन्यासी को ब्रह्मचारी होना चाहिए और सदा ध्यान एवं आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति रखनी चाहिए एवं इन्द्रिय-सुख, आनन्दप्रद वस्तुओं से दूर रहना चाहिए (मनु ६।४१ एवं ४९, गौतम ३।११)।

(५) संन्यासी को बिना जीवों को कष्ट दिये घूमना-फिरना चाहिए, उसे अपमान के प्रति उदासीन रहना चाहिए, यदि कोई उससे क्रोध प्रकट करे तो क्रोधावेश में नहीं आना चाहिए। यदि उसका कोई बुरा करे तो भी उसे कल्याणप्रद शब्दों का उच्चारण करना चाहिए और उसे कभी भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिए (मनु ६।४०, ४७-४८, याज्ञ० ३।६१, गौतम ३।२३)।

(६) उसे श्रौताग्नियाँ, गृह्याग्नि एवं लौकिक अग्नि (भोजन बनाने के लिए) नहीं जलानी चाहिए और केवल भिक्षा से प्राप्त भोजन करना चाहिए (मनु ६।३८ एवं ४३, आपस्तम्बधर्मसूत्र १।९।२१।१० एवं आदिपर्व ९१।१२)।

(७) उसे ग्राम में भिक्षाटन के लिए केवल एक बार जाना चाहिए, वर्षा को छोड़कर रात्रि के समय ग्राम में नहीं रहना चाहिए, किन्तु यदि रुकना ही पड़े तो एक रात्रि से अधिक नहीं रुकना चाहिए (गौतम ३।१३ एवं २०, मनु ६।४३ एवं ५५)।

(८) उसे बिना किसी पूर्व योजना या चुनाव के सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए (वसिष्ठधर्म० १०।७, शंख ७।३, आदिपर्व ११९।१२---५ या १० घर)। बौधायनधर्मसूत्र (२।१०।५७-५८) के मत से शालीन एवं यायावर प्रकार के ब्राह्मण गृहस्थों के यहाँ ही भिक्षा के लिए जाना चाहिए और उतने ही समय तक रुकना चाहिए जितने में एक गाय दुह ली जाती है। बौधायनधर्म० (२।१०।६९) ने अन्य लोगों के मतों को उद्धृत कर बताया है कि संन्यासी किसी भी वर्ण के यहाँ भिक्षा माँग सकता है, किन्तु भोजन केवल द्विजातियों के यहाँ कर सकता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१०।२४) के मत से वह केवल ब्राह्मण के यहाँ ही भिक्षा माँग सकता है। वायुपुराण (१।१८।१७) के अनुसार संन्यासी को केवल एक व्यक्ति के यहाँ ही नहीं, बल्कि कई व्यक्तियों के यहाँ से माँगकर खाना चाहिए। उसे मांस या मधु का सेवन नहीं करना चाहिए, आम श्राद्ध (बिना पके भोजन का श्राद्ध) नहीं ग्रहण करना चाहिए और न ऊपर से नमक का प्रयोग करना चाहिए (नमक के साथ पकायी हुई साग-भाजी खा लेनी चाहिए)। उशना के मतानुसार भिक्षा से प्राप्त भोजन पाँच प्रकार का होता है---(१) माधुकर (किन्हीं तीन, पाँच या सात घरों से प्राप्त भिक्षा, जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न प्रकार के पुष्पों से मधु एकत्र करती है), (२) प्राक्प्रणीत (जब शयन स्थान से उठने के पूर्व ही भक्तों द्वारा भोजन के लिए प्रार्थना की जाती है), (३) अयाचित (भिक्षाटन करने के लिए उठने के पूर्व ही जब कोई भोजन के लिए निमन्त्रित कर दे), (४) तात्कालिक (संन्यासी के पहुँचते ही जब कोई ब्राह्मण भोजन करने की सूचना दे दे) तथा (५) उपपन्न (भक्त शिष्यों या अन्य लोगों के द्वारा मठ में लाया गया पका भोजन)। उशना की यह उक्ति स्मृतिमुक्ताफल (पृ० २००) एवं यतिधर्मसंग्रह (पृ० ७४-७५) में उद्धृत है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१०।३१) के मत से

२. एको भिक्षुर्यथोक्तस्तु द्वौ भिक्षू मिथुनं स्मृतम्। त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते॥ नगरं हि न कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा। एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः॥ राजवार्ता ततस्तेषां भिक्षावार्ता परस्परम्। स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः॥ लाभपूजानिमित्तं तु व्याख्यानं शिष्यसंग्रहः। एते चान्ये च बहवः प्रपञ्चाः कुतपस्विनाम्॥ ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता। भिक्षोश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते॥ दक्ष ७।३४-३८ (अपरार्क पृ० ९५२ में तथा मिताक्षरा, याज्ञ० ३।५८ में उद्धृत)।

ब्राह्मण संन्यासी को शूद्र के घर में भोजन नहीं करना चाहिए, और अपरार्क (पृ० ९६३) की व्याख्या के अनुसार ब्राह्मण-गृहस्थ के घर के अभाव में क्षत्रिय या वैश्य के यहाँ भोजन करना चाहिए। आगे चलकर हर किसी के घर में भिक्षाटन करना कलिवर्ज्य मान लिया गया (यतेस्तु सर्ववर्णेषु न भिक्षाचरणं कलौ)। देखिए, स्मृतिमुक्ताफल (पृ० २०१)। पराशर एवं क्रतु ने बूढ़े एवं रुग्ण संन्यासी के लिए छूट दी है, वह एक दिन या कई दिनों तक एक ही व्यक्ति के यहाँ भोजन कर सकता है या अपने पुत्रों, मित्रों, आचार्य, भाइयों या पत्नी के यहाँ खा सकता है (स्मृतिमुक्ताफल, पृ० २०१, यतिधर्मसंग्रह, पृ० ७५)। पराशर (१।५१) एवं सूतसंहिता (ज्ञान-योग खण्ड, ४।१५-१६) के मत से घर में भोजन करने का प्रथम अधिकार है संन्यासी एवं ब्रह्मचारी का, यदि कोई व्यक्ति बिना उन्हें भिक्षा दिये खा लेता है तो उसे चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। संन्यासी को भोजन देने के पूर्व उसके हाथ पर जल छोड़ा जाता है और भोजन देने के उपरान्त पुनः जल छोड़ा जाता है (हरदत्त द्वारा गौतम ५।१६ की व्याख्या में उद्धृत पराशर १।५३, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२।४।१० एवं याज्ञवल्क्य १।१०७)।

(९) संन्यासी को संध्या समय भिक्षा माँगनी चाहिए, जब कि रसोईघर से धूम का निकलना बन्द हो चुका हो, अग्नि बुझ चुकी हो, बरतन आदि अलग रख दिये गये हों (मनु ६।५६, याज्ञ० ३।५९, वसिष्ठ १०।८ एवं शंख ७।२)। उसे मांस एवं मधु नहीं ग्रहण करना चाहिए (वसिष्ठ १०।२४)। मनु (६।५०-५१) के मत से संन्यासी को न तो भविष्यवाणी करके, शकुन-अशकुन बताकर, ज्योतिष का प्रयोग करके, विद्या, ज्ञान आदि के सिद्धान्तों का उद्घाटन करके और न विवेचन आदि करके भिक्षा माँगने का प्रयत्न करना चाहिए; उसे ऐसे घर में भी नहीं जाना चाहिए जहाँ पहले से ही यति लोग, ब्राह्मण, पक्षी एवं कुत्ते, भिखारी या अन्य लोग आ गये हों।

(१०) संन्यासी को भरपेट भोजन नहीं करना चाहिए, उसे केवल उतना ही पाना चाहिए जिससे वह अपने शरीर एवं आत्मा को एक साथ रख सके, उसे अधिक पाने पर न तो सन्तोष या प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए और न कम मिलने पर निराशा (मनु ६।५७ एवं ५९, वसिष्ठ १०।२१-२२ एवं २५ याज्ञ० ३।५९)। कहा भी गया है; संन्यासी (यति) को ८ ग्रास, वानप्रस्थ को १६ ग्रास, गृहस्थ को ३२ ग्रास तथा ब्रह्मचारी को जितना चाहे उतना खाना चाहिए (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।४।९।१३ एवं बौधायनधर्मसूत्र २।१०।६८)।

(११) संन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्र नहीं करना चाहिए, उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र एवं भिक्षा-पात्र होना चाहिए (मनु ४।४३-४४, गौतम ३।१०, वसिष्ठ १०।६)। देवल (मिताक्षरा द्वारा उद्धृत, याज्ञ० ३।५८) के मत से उसके पास केवल जल-पात्र, पवित्र (जल छानने के लिए वस्त्र), पादुका, आसन एवं कन्था (अति जाड़े से बचने के लिए कथरी) होनी चाहिए। महाभारत (वेदान्तकल्पतरु-परिमल पृ० ६३९ में उद्धृत) में आया है कि काषाय धारण, मौण्ड्य, कमण्डलु, जलपात्र एवं त्रिविष्टब्ध से भोजन की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं। महाभाष्य ने (जिल्द १, पृ० ३६५, पाणिनि २।१।१ की व्याख्या में) घोषित किया है कि त्रिविष्टब्धक (त्रिदण्ड) से ही किसी को परिव्राजक समझा जा सकता है।[३] वायुपुराण (१।८) ने उन सामग्रियों के नाम दिये हैं, जिन्हें संन्यासी अपने पास रख सकता है (अपरार्क, पृ० ९४९-९५० में उद्धृत)।

३. काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलु। लिङ्गान्यत्यर्थमेतानि न मोक्षायेति मे मतिः॥ वेदान्तसूत्र ३।४।१८ की व्याख्या में वेदान्तकल्पतरुपरिमल (पृ० ६३९) द्वारा उद्धृत महाभारत का एक अंश, जिसमें जनक एवं सुलभा की बातचीत का वर्णन है। 'त्रिविष्टब्धकं च दृष्ट्वा परिव्राजक इति।' महाभाष्य, जिल्द १, पृ० ३६५ (पाणिनि २।१।१)।

(१२) संन्यासी को केवल अपना गुप्तांग ढकने के लिए वस्त्र धारण करना चाहिए, उसे अन्य लोगों द्वारा छोड़ा हुआ जीर्ण-शीर्ण किन्तु स्वच्छ वस्त्र पहनना चाहिए (गौतम ३।१७-१८, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।९।२१।११-१२)। कुछ लोगों के मत से उसे नंगा रहना चाहिए। वसिष्ठ (१०।९-११) के मत से उसे अपने शरीर को वस्त्र के टुकड़े से अर्थात् शाटी (गात्रिका) से ढकना चाहिए या मृगचर्म या गायों के लिए काटी गयी घास से। बौधायनधर्मसूत्र (२।६।२४) के अनुसार उसका वस्त्र काषाय होना चाहिए (अपरार्क, पृ० ९६२ में उद्धृत)।

(१३) संन्यासी का भिक्षापात्र तथा जलपात्र मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी या बिना छिद्र वाले बाँस का होना चाहिए, किसी भी दशा में उसे धातु का पात्र प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। उसे अपना जल-पात्र या भोजन-पात्र जल से या गाय के बालों से घर्षण करके स्वच्छ रखना चाहिए (मनु ६।५३-५४, याज्ञ० ३।६० एवं लघु-विष्णु ४।२९-३०)।

(१४) उसे अपने नख, बाल एवं दाढ़ी कटा लेनी चाहिए (मनु ६।५२, वसिष्ठधर्मसूत्र १०।६)। किन्तु गौतम ने विकल्प भी दिया है (३।२१), अर्थात् वह चाहे तो मुण्डित रहे या केवल जटा रखे।

(१५) उसे स्थण्डिल (खाली चबूतरे) पर सोना चाहिए, यदि रोग हो जाय तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए। न तो उसे मृत्यु का स्वागत करना चाहिए और न जीने पर प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए। उसे धैर्यपूर्वक मृत्यु की बाट उसी प्रकार जोहनी चाहिए जिस प्रकार नौकर नौकरी के समय की बाट देखता रहता है (मनु ६।४३ एवं ४६)।

(१६) केवल वैदिक मन्त्रों के जप को छोड़कर उसे साधारणतः मौन-व्रत रखना चाहिए (मनु ६।४३, गौतम ३।१६, बौधायनधर्म० २।१०।७९, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।९।२१।१०)।

(१७) याज्ञवल्क्य (३।५८) के अनुसार उसे त्रिदण्डी (तीन छड़ियों वाला) होना चाहिए, किन्तु मनु (६।५२) ने उसे दण्डी (एक छड़ी लेकर चलनेवाला) ही कहा है। 'दण्ड' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है; (१) बाँस का दण्ड या (२) नियन्त्रण। बौधायनधर्म० (२।१०।५३) का कहना है कि संन्यासी एकदण्डी या त्रि-दण्डी हो सकता है; उसे प्राणियों को वाणी, क्रियाओं एवं विचारों से हानि नहीं पहुँचानी चाहिए (बौ० २।६।२५)। मनु (१२।१०) एवं दक्ष (७।३०) के मत से जो व्यक्ति वाणी, मन एवं शरीर पर संयम या नियन्त्रण रखता है, वही त्रिदण्डी है। दक्ष का कहना है कि देव लोग भी, जो सत्त्वगुण वाले होते हैं, इन्द्रिय-सुख के वशीभूत हो सकते हैं, तो मनुष्यों का क्या कहना है? अतः जिसने आनन्द का स्वाद लेना छोड़ दिया है वही दण्ड धारण कर सकता है; अन्य लोग ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि वे भोग-विलास के वशीभूत हो सकते हैं। केवल बाँस के दण्डों के धारण से कोई संन्यासी त्रिदण्डी नहीं हो जाता, वही त्रिदण्डी है जो अपने में आध्यात्मिक दण्ड रखता है। बहुत-से लोग केवल त्रिदण्ड धारण करके अपनी जीविका चलाते हैं (७।२७-३१)। वाणी के दण्डन या नियन्त्रण का तात्पर्य है मौन-धारण, कर्म-नियन्त्रण है किसी जीव को हानि न पहुँचाना तथा मानसिक नियन्त्रण है प्राणायाम एवं अन्य यौगिक अभ्यास आदि करना। दक्ष के अनुसार त्रिदण्ड यतियों का विशिष्ट बाह्य चिह्न है; मेखला, मृगचर्म एवं दण्ड वैदिक छात्रों का तथा लम्बे-लम्बे नख एवं दाढ़ी वानप्रस्थ का लक्षण है। लघु-विष्णु (४।१२) के मत से संन्यासी एकदण्डी या त्रिदण्डी हो सकता है।

(१८) उसे यज्ञों, देवों एवं दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित वैदिक बातों का अध्ययन एवं उच्चारण करना चाहिए (यथा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)। देखिए मनु (६।८३)।

(१९) उसे भली भाँति आगे भूमि-निरीक्षण करके चलना चाहिए, पानी छानकर पीना चाहिए (जिससे चींटी आदि जीव पेट के भीतर न चले जायँ), सत्य से पवित्र हुए शब्दों का उच्चारण करना चाहिए तथा वही करना चाहिए जिसे करने के लिए अन्तःकरण कहे (मनु ६।४६, शंख ७।७, विष्णुधर्मसूत्र ९६।१४-१७)।

(२०) वैराग्य (इच्छाहीनता) की उत्पत्ति एवं अपनी इन्द्रियों के निग्रह के लिए उसे यह सोचना चाहिए कि यह शरीर रोगपूर्ण होगा ही, एक-न एक दिन यह बूढ़ा होगा ही, यह भाँति-भाँति के अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है।

उसे इस संसार की क्षणभंगुरता पर ध्यान देना चाहिए, उसे गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक की अनगिनत परेशानियों तथा जन्म-मरण के अजस्र प्रवाह की कल्पना करते रहना चाहिए (मनु ६।७६-७७, याज्ञ० ३।६३-६४, विष्णुधर्मसूत्र ९६।२५-४२)।

(२१) सत्यता, अप्रवञ्चना, क्रोधहीनता, विनीतता, पवित्रता, भले एवं बुरे का भेद, मन की स्थिरता, मन-नियन्त्रण, इन्द्रिय-निग्रह, आत्मज्ञान आदि सभी वर्णों के धर्म हैं। संन्यासी को तो इन्हें प्राप्त करना ही है, क्योंकि केवल वेश-भूषा, कमण्डलु आदि से कुछ होता-जाता नहीं—इन्हें तो वञ्चक भी धारण कर सकता है (मनु ६।३६, ९२-९४, याज्ञ० ३।६५-६६, वसिष्ठ १०।३०, बौधायन० २।१०।५५-५६, शान्तिपर्व १।१।१३-१४, वायुपुराण, जिल्द १, ८।१७६-१७८)।

(२२) संन्यासी को प्राणायाम एवं अन्य योगांगों द्वारा अपने मन को पवित्र रखना चाहिए, जिससे कि वह क्रमशः ब्रह्म को समझ ले और अन्त में मोक्ष पद प्राप्त कर ले (मनु ६।७०-७५, ८१ एवं याज्ञ० ३।६२, ६४)।

संन्यासियों के प्रकार

बहुत-से ग्रन्थों में संन्यासियों के प्रकारों का वर्णन पाया जाता है। अनुशासन-पर्व (१४१।८९) ने चार प्रकार बताये हैं; कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस, जिनमें प्रत्येक आगे वाला पिछले से श्रेष्ठ कहा जाता है। वैखानस (८।९), लघु-विष्णु (४।१४-२३), सूतसंहिता (मानयोगखण्ड, अध्याय ६), भिक्षुकोपनिषद्, प्रजापति (अपरार्क, पृ० ९५२ में उद्धृत) ने इन चारों प्रकारों की परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें बहुत मतभेद है। **कुटीचक** संन्यासी अपने गृह में ही संन्यास धारण कर रहता है, शिखा, जनेऊ, त्रिदण्ड, कमण्डलु धारण करता है तथा अपने पुत्रों या कुटुम्बियों से भिक्षा माँगकर खाता है। वह अपने पुत्रों द्वारा निर्मित कुटिया में ही रहता है। कुटीचक लोग गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य एवं हारीत नामक ऋषियों के आश्रमों में भी ठहरते थे, वे प्रति दिन केवल ८ ग्रास भोजन करते थे, योग-मार्ग जानते थे और मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में लगे रहते थे। **बहूदकों** के पास त्रिदण्ड, कमण्डलु, काषाय वस्त्र रहते हैं, वे ऋषितुल्य सात ब्राह्मणों के यहाँ से भिक्षा माँगते हैं, किन्तु मांस, नमक एवं बासी भोजन नहीं लेते। **हंस** लोग ग्राम में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रियों से अधिक भिक्षा माँगने के लिए नहीं ठहरते, वे गोमूत्र या गोबर पीते-खाते हैं या एक मास का उपवास करते हैं या सदैव चान्द्रायण व्रत करते रहते हैं। स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम, पृ० १८४) में उद्धृत पितामह के मत से हंस संन्यासी एकदण्डी होते हैं और केवल भिक्षाटन के लिए ही ग्राम में प्रवेश करते हैं, नहीं तो देव खोह (गुफा) में, नदी-तट पर या पेड़ के नीचे रहते हैं।

परमहंस सदैव पेड़ के नीचे ही खाली मकान या श्मशान में निवास करते हैं। या तो वे नंगे रहते हैं या वस्त्र धारण करते हैं। वे धर्माधर्म, सत्यासत्य, पवित्रापवित्र के द्वन्द्वों या द्वैतों के परे रहते हैं। वे सबको एक-समान मानते हैं, सबको आत्मा के सामन समझते हैं और सभी वर्णों के यहाँ भिक्षा माँगते हैं। पराशरमाधवीय (१।२, पृ० १७२-१७६) के मत से परमहंसों को एक दण्ड धारण करना चाहिए, इसके अनुसार परमहंस के दो प्रकार हैं; **विद्वत्परमहंस** (जिसने ब्रह्मानुभूति कर ली हो) तथा **विविदिषु** (जो आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए सतत सचेष्ट रहते हैं)। पराशरमाधवीय ने **विद्वत्** की व्याख्या के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् पर तथा **विविदिषु** के लिए जाबालोपनिषद् पर जोर दिया है। याज्ञवल्क्य विद्वत्संन्यास के उदाहरण हैं, जिससे **जीवन्मुक्ति** प्राप्त होती है (जीवन्मुक्ति से इसी जीवन में अर्थात् इसी शरीर के साथ मोक्ष प्राप्त होता है)। विविदिषा-संन्यास से मृत्यूपरान्त मोक्ष प्राप्त होता है, जिसे **विदेह-मुक्ति** भी कहा जाता है। देखिए जीवन्मुक्तिविवेक (पृ० ४)।

जाबालोपनिषद् (६) में परमहंसों का विशद वर्णन पाया जाता है। कुछ ऐसे ऋषि हैं, यथा—संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय, रैवतक, जो अपने लिए कोई विशिष्ट चिह्न नहीं रखते। वे यद्यपि पागल नहीं हैं, किन्तु पागलों-जैसा व्यवहार करते हैं; केवल देह एवं आत्मा को साथ रखने के लिए ये लोग भिक्षा के लिए बाहर जाते हैं; भिक्षा की प्राप्ति या अप्राप्ति से अप्रभावित रहते हैं; उनके पास घर नहीं होता, वे सदा घूमा करते हैं और मन्दिर में या घास के झुण्ड पर या वल्मीक पर या पेड़ के नीचे या नदी-तट पर या गुफा में रहते हैं; वे किसी भी वस्तु से मोह नहीं रखते, वे केवल परमात्मा के ध्यान में मग्न रहते हैं।[4] सूतसंहिता (२।६।३-१०) के अनुसार केवल हंस एवं परमहंस ही शिखा एवं जनेऊ का त्याग कर सकते हैं।

संन्यासोपनिषद् (१३) में दो अन्य प्रकार पाये जाते हैं, यथा—तुरीयातीत एवं अवधूत। तुरीयातीत (जो चौथे स्तर अर्थात् परमहंस से ऊपर हो) गाय के समान फल खाता है (हाथों का प्रयोग नहीं करता), यदि वह पका भोजन ले तो केवल तीन घरों से ही लेता है, वह वस्त्र नहीं धारण करता, उसका शरीर यों ही जीता रहता है (किन्तु वह उसके विषय में बिल्कुल सचेत नहीं होता), वह अपने शरीर से ऐसा व्यवहार करता है मानो वह मर चुका है। अवधूत किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं मानता। वह किसी भी वर्ण के यहाँ भोजन कर सकता है, किन्तु पतितों एवं पापियों का भोजन नहीं ग्रहण करता। वह अजगर के समान खाता है (अर्थात् कभी भूखा ही पड़ा रहता या कभी बिना किसी प्रयत्न के मुख खोलते हुए खूब खा लेता है)। वह सदा परब्रह्म के वास्तविक ध्यान में निमग्न रहता है।

संन्यास तथा वर्ण

क्या संन्यास तीनों वर्णों के लोग धारण कर सकते हैं या केवल ब्राह्मण ही? इस प्रश्न के उत्तर में गहरा मतभेद रहा है। श्रुतियों (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२२, ३।५।१, मुण्डकोपनिषद् १।२।१२ आदि) ने तो केवल ब्राह्मणों को ही सन्यास के योग्य माना है। यही बात मनु (६।३८) में भी पायी जाती है। लघु-विष्णु (५।१३) में आया है कि संन्यास ब्राह्मणों के लिए है, अन्य द्विजातियों के लिए केवल तीन ही आश्रम हैं। किन्तु अन्य लेखकों ने श्रुतियों में प्रयुक्त 'ब्राह्मण' शब्द को 'उपलक्षण' अर्थात् उदाहरण के रूप में माना है और सूत्रकार कात्यायन ने तो स्पष्ट कहा है—"वेदाध्ययन के उपरान्त तीनों वर्ण चारों आश्रमों में प्रवेश कर सकते हैं।" जाबालोपनिषद् (४) में आया है—"चाहे व्यक्ति ने व्रत न किये हों, उसने समावर्तन (वेदाध्ययन के उपरान्त कृत्यमय स्नान) चाहे न किया हो, चाहे उसकी वैदिक अग्नियाँ अभी न बुझी हों; यदि वह इस भौतिक संसार से ऊब चुका हो तो वह परिव्राजक संन्यासी हो सकता है।"[5] स्पष्ट है, इस उक्ति से ब्रह्मचारी भी संन्यासी हो सकता है, क्षत्रिय एवं वैश्य भी संन्यासी हो सकता है। याज्ञवल्क्य (३।३२) का कहना है कि द्विजातियों के विषय में मनःशुद्धि का एक साधन है संन्यास। कूर्मपुराण (उत्तरार्ध २८।२) ने भी सभी द्विजों के लिए संन्यासी होना लिखा है।

४. तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वास-ऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिंगा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः...प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्... लाभालाभयोः समो भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलस्थण्डिलेषु तेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणो....अशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम। जाबालोपनिषद् (६)।

५. पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। जाबालोपनिषद् (४३)।

बहुत-से लेखकों ने उपर्युक्त दोनों मतों का समर्थन किया है। महान् विचारक शंकराचार्य ने बृहदारण्यक-उपनिषद् (३।५।१ एवं ४।५।१५) के भाष्य में केवल ब्राह्मणों को ही संन्यास के योग्य माना है। किन्तु शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वर ने शांकरभाष्य के वार्तिक में अपने गुरु के मत का खण्डन किया है। मेधातिथि (मनु ६।९७), मिताक्षरा, मदनपारिजात (पृ० ३६५-३७३), स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम, पृ० १७६) ने केवल ब्राह्मणों को संन्यासाश्रम के योग्य ठहराया है। किन्तु स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ६५) ने दूसरे मत का समर्थन किया है। महाभारत (आदिपर्व ११९) के अनुसार क्षत्रिय भी संन्यासी हो सकते हैं। शान्तिपर्व (६३।१६-२१) ने राजाओं को जीवन के अन्तिम क्षणों में संन्यासी हो जाने को लिखा है। कालिदास ने रघुवंश (८।१४ एवं १६) में रघु के संन्यास का कवित्वमय वर्णन उपस्थित किया है और संन्यासी वृद्ध राजा तथा नये अभिषिक्त राजा की तुलना बड़े मनोरञ्जक ढंग से की है।

संन्यास एवं शूद्र

स्मृतियों एवं मध्य काल के ग्रन्थों के अनुसार शूद्र संन्यास नहीं धारण कर सकता। शान्तिपर्व (६३।११-१४) ने स्पष्ट लिखा है कि शूद्र भिक्षु नहीं हो सकता। इसमें एक स्थान (१८।३२) पर ऐसा आया है कि कुछ लोग (सम्भवतः शूद्र भी) बाह्य रूप से संन्यासी बनकर भिक्षा तथा दान ग्रहण करते हैं। वे सिर मुँड़ाकर, काषाय वस्त्र धारण कर इधर-उधर घूमा करते हैं और वञ्चकता प्रदर्शित करते हैं। किन्तु प्राचीन स्मृतियों के अवलोकन से पता चलता है कि शूद्र लोग भी संन्यासी बन सकते थे। विष्णुधर्मसूत्र (५।११५) एवं याज्ञवल्क्य (२।२४१) में स्पष्ट लिखा है कि जो लोग शूद्र संन्यासी को देवों एवं पितरों के पूजन-कृत्यों के समय भोजन देते हैं, उन पर १०० पण का दण्ड लगना चाहिए। आश्रमवासिकपर्व (२६।३३) में आया है कि विदुर संन्यासी के रूप में गाड़े गये। इस पर टीकाकार नीलकण्ठ ने लिखा है कि इससे स्पष्ट होता है शूद्र भी संन्यासी बन सकते थे।

संन्यास एवं नारियां

प्राचीन ब्राह्मणवादी कालों में कभी-कभी नारियाँ भी संन्यास धारण कर लेती थीं। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ३।५८) ने बौधायन के एक सूत्र (स्त्रीणां चैके) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि कुछ आचार्यों के मत में नारियाँ भी संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो सकती थीं। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य (२, पृ० १००) में शंकरा नामक परिव्राजिका का उल्लेख किया है। स्मृतिचन्द्रिका ने यम (व्यवहार, पृ० २५४) को उद्धृत किया है—"नारियों के लिए न तो वेदों में और न धर्मशास्त्रों में संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने की व्यवस्था पायी जाती है, उनका उचित धर्म है अपनी जाति के पुरुषों से सन्तानोत्पत्ति करना।" अत्रि (१३६-१३७) ने लिखा है कि नारियों एवं शूद्रों के लिए छः कार्य वर्जित हैं, जिनके करने से पाप लगता है—जप, तप, प्रव्रज्या (संन्यास-जीवन), तीर्थयात्रा, मन्त्रसाधन, देवताराधन। कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में पण्डिता कौशिकी को संन्यासी के वेश में दर्शाया है (१।१४)। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि हिन्दू धर्म में सामान्यतः नारियों के लिए अगृही होकर संन्यासियों-जैसा इधर-उधर घूमना अच्छा नहीं माना जाता रहा है।

संन्यास तथा शूद्र एवं नारी की योग्यता

शूद्रों एवं नारियों के संन्यासी बनने का प्रश्न उलझा हुआ-सा है। 'संन्यास' शब्द से दो भावनाएँ प्रकट होती हैं; (१) किसी उद्देश्य की प्राप्ति की अभिकांक्षा से उत्पन्न सभी प्रकार के कार्यों (काम्य कर्म) का परित्याग, एवं (२) किसी विशिष्ट जीवन-ढंग (आश्रम) का अनुसरण, जिसके बाह्य लक्षण हैं दण्ड, काषाय आदि का धारण करना,

और जिसमें प्रवेश करने के पूर्व प्रैष मन्त्र का उच्चारण करना पड़ता है। जीवन्मुक्तिविवेक (पृ० ३) के अनुसार मोक्ष (अमृतत्व) त्याग पर निर्भर रहता है, जैसा कि कैवल्योपनिषद् (२) में आया है—"न तो कर्मों से, न सन्तानोत्पत्ति से और न धन से ही बल्कि त्याग से कुछ लोगों ने मोक्ष प्राप्त किया।" ऐसे त्याग के लिए शूद्रों एवं नारियों, दोनों को छूट है, नारियों के त्याग में सर्वोत्तम त्याग याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी का माना जाता है, जिसने ऋषि याज्ञवल्क्य से स्पष्ट शब्दों में कहा था—"जो मुझे अमर नहीं बनायेगा मैं उसे लेकर क्या करूँगी?" (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।३-४)। भगवद्गीता (१८।२) में भी आया है कि संन्यास (किसी उद्देश्य की प्राप्ति की लालसा से उत्पन्न) कर्मों का त्याग है। जीवन्मुक्तिविवेक में यह भी आया है कि संन्यासी की माता एवं पत्नी के संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने पर वे पुनः स्त्री के रूप में जन्म नहीं लेतीं (प्रत्युत वे पुरुष रूप में उत्पन्न होती हैं)। अतः नारियाँ एवं शूद्र भी कर्मों का त्याग कर सकते हैं, भले ही वे संन्यासियों की विलक्षण वेश-भूषाएँ एवं अन्य बाह्य उपकरण धारण न कर सकें। वेदान्तसूत्र (१।३।३४) के एक भाष्यकार श्रीकर के मत से संन्यास केवल तीन वर्णों के लिए है, किन्तु न्यास (भौतिक आनन्दों एवं कांक्षाओं का त्याग) तो शूद्रों, नारियों एवं वर्णसंकरों (मिश्रित जाति वालों) द्वारा किया जा सकता है।

संन्यास तथा अन्धे, लूले-लँगड़े, नपुंसक आदि

कुछ लोगों के मत से संन्यास केवल अन्धों, लूले-लँगड़ों तथा नपुंसकों के लिए है, क्योंकि ये लोग वैदिक कृत्यों के सम्पादन के अनधिकारी हैं। वेदान्तसूत्र (३।४।२०) के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने तथा सुरेश्वर ने शंकराचार्य के बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में इस मत का खण्डन किया है। मनु (६।३६) की व्याख्या में मेधातिथि ने भी उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि अन्धे, लूले-लँगड़े, नपुंसक आदि संन्यास के अयोग्य हैं, क्योंकि संन्यास के नियमों का पालन उनसे नहीं हो सकता। अन्धों एवं लूले-लँगड़ों का एक गाँव में एक ही रात्रि तक ठहरना तथा नपुंसकों का बिना उपनयन हुए संन्यास धारण करना युक्तिसंगत नहीं जँचता (नपुंसकों का उपनयन-संस्कार नहीं होता)। यही बात मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ३।५६) में भी पायी जाती है। स्मृतिमुक्ताफल (पृ० १७३) एवं यतिधर्मसंग्रह (पृ० ५-६) ने उद्धरण दिया है—"संन्यासधर्म से च्युत का पुत्र, असुन्दर नखों एवं काले दाँतों वाला व्यक्ति, क्षय रोग से दुर्बल, लूला या लँगड़ा व्यक्ति संन्यास नहीं धारण कर सकता। इसी प्रकार वे लोग जो अपराधी, पापी, व्रात्य होते हैं, सत्य, शौच, यज्ञ, व्रत, तप, दया, दान, वेदाध्ययन, होम आदि के त्यागी होते हैं, उन्हें संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है।"

संन्यास एवं नियमभ्रष्टता

यतियों के मुख्य नियमों में एक नियम था पत्नी एवं गृह का त्याग तथा मैथुन के विषय में कभी न सोचना या पुनः गृहस्थ बन जाने की इच्छा पर नियन्त्रण रखना। अत्रि (८।१६ एवं १८) ने घोषित किया है—"मैं उस व्यक्ति के लिए किसी प्रायश्चित्त की कल्पना तक नहीं कर सकता जो संन्यासी हो जाने के उपरान्त भ्रष्ट या च्युत हो जाता है; वह न तो द्विज है और न शूद्र है, उसकी सन्तति चाण्डाल हो जाती है और विदूर कहलाती है।" शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र के भाष्य (३।४।४२) में अत्रि के उपर्युक्त वचन को उद्धृत करके कहा है कि प्रायश्चित्त न होने की बात केवल कामुकता के प्रलोभन से बचने पर बल देने के लिए कही गयी है, वास्तव में प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गयी है। यदि कोई भिक्षु मैथुन कर बैठता है तो उसका प्रायश्चित्त है। दक्ष (७।३३) ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह उस व्यक्ति के मस्तक पर कुत्ते के पैर की मुहर लगाकर देश-निकाला कर दे, जो संन्यासी हो जाने के उपरान्त नियमों (ब्रह्मचर्य रहने या 'लँगोटा कसकर बाँधने' आदि नियमों) का पालन नहीं करता। जो संन्यासी के धर्म से च्युत हो जाता है, वह जीवन भर राजा का दास रहता है। अत्रि के मत से संन्यासी को उस स्थान पर, जहाँ उसके माता, पिता, भाई,

बहिन, पत्नी, पुत्र, वधू, सम्बन्धी, सजातीय, मित्र, पुत्री या पुत्री के पुत्र आदि रहते हैं, एक दिन भी नहीं रहना चाहिए (स्मृतिमुक्ताफल, पृ० २०६)।

संन्यासी तथा मठ एवं उनके झगड़े

आरम्भ मे उपर्युक्त नियमो का पालन भरपूर होता था। स्वमी शंकराचार्य जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे, किन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्तों एवं दर्शन के प्रचार के लिए चार मठ स्थापित किये (शृंगेरी, पुरी, द्वारका एवं बदरी)। श्रद्धालुओं एव भक्तों ने इन मठों को बहुत दानादि दिये। मठों की संख्या बढ़ने लगी और उनमें सम्पत्ति भी एकत्र होने लगी, जिस पर स्वामित्व प्रमुख धर्माध्यक्षों या महन्तों का रहने लगा। केवल अद्वैती संन्यासियां में दस शाखाएँ हो गयी, यथा—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती एवं पुरी।[६] इन्हें स्वामी शंकराचार्य के चार शिष्यों के उत्तराधिकारी शिष्यों के नाम से पुकारा जाता है, यथा— पद्मपाद के शिष्य थे तार्थ एव आश्रम, हस्तामलक के थे वन एवं अरण्य, त्रोटक के थे गिरि, पर्वत एवं सागर तथा सुरेश्वर के थे सरस्वता, भारती एवं पुरी। शृंगेरी, काञ्ची, कुम्भकोणम्, कुड़लिग, संकेश्वर, शिवगंगा नामक मठों के अधिकार-क्षेत्र, धार्मिक प्रमुखता आदि विषयों में बहुत मतभेद एवं झगड़े होते रहे हैं। अपने अधिकारों की अभिव्यक्ति एवं पुष्टता के लिए बहुत से मठों ने गुरुओं एवं शिष्यों की क्रमावलियों में हेर-फेर कर डाला है और बहुत सी मनगढ़न्त बातें जोड़ ली हैं। इस प्रकार विभिन्न मठों द्वारा उपस्थापित सूचियों के नामों में साम्य नहीं पाया जाता। एक सूची के अनुसार सुरेश्वर ७०० या ८०० वर्ष तक जीते रहे। स्वामी शंकराचार्य के समान रामानुजाचार्य एवं मध्वाचार्य के भी बहुत-से शिष्यों ने मठ स्थापित किये। वल्लभाचार्य तथा उनके शिष्यों ने संन्यास नहीं ग्रहण किया। उनके मत से संन्यास कलियुग में वर्जित है; चौथे आश्रम में केवल प्रवेश होने से संन्यास नहीं प्राप्त हो जाता, बल्कि उद्धव ऐसे भक्त के व्यवहार से परित्याग का सार सामने आता है (भागवत, ३।४)। बहुत-से मठों में अपार सम्पत्ति है जो शान-शौकत (सोने की मूर्तियों के निर्माण एवं अन्य खर्चीले कार्यों) में खर्च होती है। बहुत कम ही मठाधीश पढ़े-लिखे हैं, यहाँ तक कि बहुतों को संस्कृत भाषा तक का ज्ञान नहीं होता, बहुधा वे आधुनिक विचारों एवं आवश्यकताओं के प्रति निरपेक्ष होते हैं और सुधार-सम्बन्धी कार्यों के विरुद्ध रहते हैं। केवल इने-गिने मठों के कुछ महन्त जीवन भर ब्रह्मचर्य रख सके हैं। महन्तों में अधिकांश गृहस्थ होने के उपरान्त संन्यासी हुए थे। इसके अतिरिक्त गद्दी प्राप्त करने के लिए भयंकर होड़ एवं झगड़े चलते हैं। बहुत-से मठों के महन्तों की मृत्यु पास आ जाने पर कुछ लोग किसी इच्छुक गृहस्थ को पकड़कर बाबा (महन्त) का चेला बना देते हैं, जो बाबा की मृत्यु के उपरान्त स्वयं मठाधीश हो जाता है। स्वभावतः ऐसा महन्त अपने घर का मोह नहीं छोड़ता और क्रमशः मठ की सम्पत्ति घर या बाल-बच्चों को भेजता रहता है। जब तक उपयुक्त उत्तराधिकारी का चुनाव नहीं होता तब तक मठों का सुधार नहीं हो सकता। वास्तव में महन्त के बहुत-से शिष्य होने चाहिए, महन्त की मृत्यु-शय्या पर चुनाव नहीं होना चाहिए,

६. योगपट्टं च दातव्यं वेदान्ताभ्यासतः परम्। ततो नाम प्रकर्तव्यं गुरुणा सर्वसम्मतम्॥ तीर्थाश्रमवनारण्यगिरिपर्वतसागराः। सरस्वती भारती च पुरी नाम यतेर्दश॥ श्रीपादसंज्ञया वाक्यं (वाच्यं?) नाम तस्य यथातथम्। अथारम्भ त्वया कार्यं दीक्षाव्याख्यादिकं सदा। योगपट्टोपि दातव्यः शिष्ये सम्यक् परीक्षिते॥ स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम, पृ० १८२ तथा यतिधर्मसंग्रह, पृ० १०३) में उद्धृत। और देखिए विल्सन कृत 'Religious Sects of the Hinus' in works, Vol 1 (1861), p. 202 एवं डा० फर्कुहर कृत 'Outlines of the Religious Literature cf India (1920) p. 174 जिसमें दसनामियों के बारे में लिखा हुआ है।

कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की एक प्रतिनिधि-सभा के स्वर का मान होना चाहिए। संन्यासियों के मठों के अधिपति अथवा महन्त कभी-कभी सम्पत्ति, मान-सम्मान एवं अधिकार-क्षेत्र का मामला लेकर कचहरी तक पहुँचते हैं। उदाहरणार्थ हम निम्न मामलों की जाँच कर सकते हैं। शृंगेरी मठ के शंकराचार्य महन्त ने दावा किया कि केवल उन्हें ही पालकी पर चढ़कर मार्ग पर चलने का अधिकार है, लिंगायतों के स्वामी ऐसा नहीं कर सकते (देखिए, ३, मूर की इण्डियन अपील्स, पृ० १९८)। द्वारका के शारदा मठ के शंकराचार्य ने मामला पेश किया कि प्रतिवा ी को शंकराचार्य की उपाधि एवं मान-सम्मान का अधिकार नहीं मिलना चाहिए और न उसे अहमदाबाद की जनता की दान-दक्षिणा और न गुजरात के अन्य स्थानों के दानादि प्राप्त करने का अधिकार है; वह न तो शंकराचार्य है और न शारदा मठ के शंकराचार्य की पदवी का वास्तविक अधिकारी है (देखिए, मधुसूदन पर्वत बनाम श्री माधव तीर्थ, ३३, बम्बई, २७८)। विद्याशंकर बनाम विद्यानरसिंह (५१, बम्बई ४४२, प्रिवी कौंसिल) के मामले में प्रिवी कौंसिल को चार व्यक्तियों के झगड़े को तय करना पड़ा था, जिसमें वादी एवं प्रतिवादी दोनों अपने को संकेश्वर एवं करवीर मठ के शंकराचार्य कहते थे, और उन्होंने अपने उत्तराधिकारी भी पहले से नियुक्त कर लिये थे। इस प्रकार इस मामले में चार व्यक्तियों का स्वार्थ निहित था। इन दोनों उदाहरणों से व्यक्त होता है कि महान् संन्यासी एवं दार्शनिक विद्वान् शंकराचार्य के आदर्शों की पूजा आधुनिक समय में किस प्रकार हो रही है! आश्चर्य है, उन महान् विचारक एवं परम मेधावी दार्शनिक तथा अद्वितीय ब्रह्मचारी संन्यासी के नामधारी आज के संन्यासी मठों की गद्दी पर बैठकर उनका नाम बेच रहे हैं। उन्हें जीवन्मुक्तिविवेक एवं उसके द्वारा उद्धृत मेधातिथि के शब्द स्मरण रखने चाहिए; "यदि निवासस्थान के रूप में कोई संन्यासी कोई मठ प्राप्त करता है तो उसका मन मठ की उन्नति एवं हानि से चलायमान हो उठेगा, अतः किसी संन्यासी को मठ की प्राप्ति नहीं करनी चाहिए, उसे अपने प्रयोग के लिए सोने एवं चाँदी के पात्र एवं बरतन भी नहीं रखने चाहिए और न अपनी सेवा सम्मान, यश-प्रसार एवं धन-लाभ के लिए शिष्य-संग्रह करना चाहिए, उसे केवल लोगों की अबोधता या अज्ञान दूर करने के लिए शिष्य-संग्रह करना चाहिए।"[७]

उत्तरकालीन संन्यासी

वेदान्ती संन्यासियों के विषय में डा० जे० एन० फर्कुहर (जे० आर० ए० एस०, १९२५, पृ० ४७९-४८६) ने एक बहुत ही विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है। उसमें इसका वर्णन है कि किस प्रकार अस्त्रों एवं शस्त्रों से सुसज्जित मुसलमान फ़क़ीरों ने हिन्दू संन्यासियों को कष्ट दिया तथा बहुतों को तलवार के घाट उतार दिया, किस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने सम्राट् अकबर के पास जाकर उससे प्रार्थना की, किस प्रकार पूरी सहायता न पाने पर मधुसूदन सरस्वती ने दसनामियों में सात नामों के संन्यासियों के रूप में क्षत्रियों एवं वैश्यों को दीक्षित कर उन्हें अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित किया, किस प्रकार इन संन्यासियों ने मुसलमान फ़क़ीरों से तथा अपने में युद्ध किया, किस प्रकार अब्राह्मण नारियाँ गिरि एवं पुरी के रूप में दीक्षित हुई और किस प्रकार उत्तर भारत में आज केवल तीर्थ, आश्रम एवं सरस्वती नामक संन्यासी ही एकान्तिक रूप में बचे हुए हैं। उपर्युक्त नयी रीति से दीक्षित संन्यासियों की परम्परा ने आगे चलकर भयंकर परिणाम उपस्थित

७. यदि नियतवासार्थं कंचिन्मठं संपादयेत्तदानीं तस्मिन्ममत्वे सति तदीयहानिवृद्ध्योश्चित्तं विक्षिप्येत।.. यथा मठो न परिग्रहीतव्यस्तथा सौवर्णराजतादीनां भिक्षाचमनादिपात्राणामेकमपि न गृह्णीयात्।...मेधातिथिरपि। आसनं पात्रलोपश्चासंयमः शिष्यसंग्रहः। दिवास्वापो वृथालापो यतेर्बन्धकराणि षट्॥...शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोर्थं वा परिग्रहः। शिष्याणां न तु कारुण्यात्स ज्ञेयः शिष्यसंग्रहः॥ जीवन्मुक्तिविवेक, पृ० १५८-९।

किये। संन्यासियों एवं फकीरों ने बंगाल प्रान्त को छोप-सा लिया। ब्रिटिश शासन के आरम्भिक दिनों में (१८वीं शताब्दी के द्वितीय चरण में)[८] उनके आक्रमणों एवं उपद्रवों ने बंगाल को परेशान एवं तबाह कर रखा था। इससे हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार संन्यासियों का अहिंसा नामक प्रबल सूत्र कालान्तर में बदल गया।

संन्यासी एवं उनके दाय-सम्बन्धी अधिकार

प्राचीन एवं आधुनिक हिन्दू कानूनों के अनुसार संन्यासी हो जाने पर व्यक्ति का अपने परिवार, सम्पत्ति एवं वसीयत से विच्छेद हो जाता है (वसिष्ठधर्मसूत्र १७।५२)। किन्तु यह परिणाम केवल गेरुआ धारण मात्र से ही नहीं होता प्रत्युत उसके लिए (संन्यास-धारण के लिए) आवश्यक कृत्य सम्पादित करने पड़ते हैं। इसी प्रकार संन्यासी की सम्पत्ति (यथा--वस्त्र, खड़ाऊँ, पुस्तकें आदि) उसके घर वालों को नहीं, प्रत्युत उसके शिष्य या शिष्यों को प्राप्त होती हैं (देखिए याज्ञवल्क्य २।१३७ एवं उसी पर मिताक्षरा)। यदि कोई शूद्र संन्यासी हो जाय तो ये नियम उस पर नहीं लागू होते थे।

आदर्श-च्युत संन्यासी एवं घरबारी गोसाईं

संन्यास के आदर्श पर भयंकर कुठाराघात पड़ा उस छूट से जिसमें संन्यासी लोगों को स्त्री या रखैल रखने की आज्ञा मिल गयी। यतिधर्मसंग्रह (पृ० १०८) में उद्धृत वायुपुराण के कथन से पता चलता है कि जो व्यक्ति संन्यासी होने के उपरान्त मैथुन करता है, वह ६०,००० वर्षों तक नाबदान का कीड़ा बना रहता है और उसके उपरान्त चूहे, गिद्ध, कुत्ते, बन्दर, सूअर, पेड़, पुष्प, फल, प्रेत की योनियों को पार करता हुआ चाण्डाल के रूप में जन्म लेता है। राजतरंगिणी (३।१२) का कहना है कि मेघवाहन की रानी द्वारा निर्मित मठ के एक भाग में नियमों के अनुसार चलने वाले संन्यासी रहते थे और दूसरे भाग में वैसे अनियमित संन्यासी रहते थे, जिनके साथ उनकी पत्नियाँ, धन-सम्पत्ति एवं पशु आदि थे (अर्थात् दूसरे भाग में गृहस्थ संन्यासी रहते थे)। ऐसे संन्यासियों को, जो गृहस्थ रूप में रहते हैं, घरबारी गोसाईं कहते हैं। बम्बई प्रान्त में उन्हें घरभारी गोसावी कहा जाता है।

संन्यास एवं नृपति-परिव्राजक

कुछ गुप्त अभिलेखों से पता चलता है कि गुप्त सम्राटों के सामन्तों में कुछ ऐसे राजा थे जिनकी उपाधि थी नृपति-परिव्राजक, अर्थात् राजकीय संन्यासी। डा० फ्लीट (गुप्ताभिलेख, पृ० ९५, पादटिप्पणी १) ने इस उपाधि को 'राजर्षि' नामक उपाधि के समकक्ष रखा है। किन्तु यह बात जँचती नहीं। नृपति-परिव्राजकों का गोत्र था भरद्वाज और उनके संस्थापक कपिल के अवतार माने जाते थे (पृ० ११५)। हो सकता है कि कुल के संस्थापक महोदय राज्य करने के उपरान्त बुढ़ौती में परिव्राजक हो गये हों और उनके वंशज लोग भी उसी परम्परा में राज्य करने के उपरान्त संन्यासी होते गये हों। इसी से सम्भवतः उन्हें नृपति-परिव्राजक कहा जाता था। स्मृतिमुक्ताफल (पृ० १७६) में उद्धृत व्यास एवं यतिधर्मसंग्रह के मत से कलियुग में संन्यास वर्जित है, किन्तु उनके मत से यह भी प्रकट होता है कि जब तक वर्णाश्रमधर्म की परम्परा चलती रहेगी, संन्यास की परम्परा कलियुग में भी मान्य रहेगी।[९] अपने व्रात्यता-

८. देखिए राय साहब यामिनीमोहन घोष द्वारा लिखित (१९३०) ग्रन्थ Sannyasi and Fakir raiders in Bengal.

९. व्यासः। अग्न्याधेयं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥ इति।

प्रायश्चित्तनिर्णय में नागेश ने व्यासकृत संन्यासपद्धति के अनुसार एक विलक्षण उक्ति यह दी है कि जब कलियुग के ४४०० वर्ष बीत जायँ (१२९९ ई० के उपरान्त) तो समझदार ब्राह्मण को संन्यास नहीं धारण करना चाहिए। लगता है, तब तक मुसलिम आक्रामकों ने संन्यासियों पर अपने आक्रमण आरम्भ कर दिये थे, और तभी धर्मशास्त्रकारों ने संन्यासियों को नियमविरुद्ध चलते देखकर तथा उन पर कट्टर मुसलमानों के आक्रमण होते देखकर उपर्युक्त उद्धरण प्रचारित किया। निर्णयसिन्धु (३, पूर्वार्ध, अन्तिम) ने भी व्यास की उपर्युक्त उक्ति दोहरायी है और कहा है कि संन्यास-सम्बन्धी वर्जना केवल त्रिदण्डी संन्यासियों के लिए है।

संन्यास की विधि

संन्यास-विधि का वर्णन बौधायनधर्मसूत्र (२।१०।११-३०), बौधायनगृह्यशेषसूत्र (४।१६), वैखानस (९।६-८) में हुआ है। सम्भवतः बौधा० धर्म० का वर्णन सबसे प्राचीन है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ विधि का विस्तार उपस्थित नहीं करेंगे। जो भी विधि की जाती है, उसका तात्पर्य है भौतिक सम्बन्धों का त्याग, सांसारिक एवं पृथिवी-सम्बन्धी धन के प्रति घृणा, अहिंसामय जीवन, ब्रह्म का चिन्तन एवं उसकी स्वानुभूति करना। सिर, दाढ़ी तथा शरीर के सभी अंगों के बाल बनवाकर, तीन दंडों को एक में जोड़कर, एक वस्त्र-खण्ड (जल छानने के लिए), एक कमण्डलु एवं एक भिक्षा-पात्र लेकर व्यक्ति जप-ध्यान .. कृत्यों में संलग्न होता है।

मध्य काल के ग्रन्थों में, विशेषतः स्मृत्यर्थसार (पृ० ९६-९७), स्मृतिमुक्ताफल (पृ० १७७-१८२), यतिधर्मसंग्रह (पृ० १०-२२), निर्णयसिन्धु (३, उत्तरार्ध, पृ० ६२८-६३२), धर्मसिन्धु ने संन्यास-विधि पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। ऐसे कई ग्रन्थों एवं पद्धतियों ने संन्यास-सम्बन्धी 'ब्रह्मानन्दी' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो अभी तक अप्राप्य है।

आतुर-संन्यास

जाबालोपनिषद् (५) ने उन लोगों के संन्यास का भी वर्णन किया है, जो रोगी हैं या मरणासन्न हैं। ऐसे लोगों के लिए विस्तृत विधि या कृत्यों की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल शब्दों द्वारा उद्घोष एवं मनः संकल्प ही पर्याप्त है। स्मृतिमुक्ताफल (पृ० १७४ एवं १८२) में उद्धृत अंगिरा एवं सुमन्तु का कहना है—"जब व्यक्ति बुढ़ापे से जीर्ण-शीर्ण हो गया हो, शत्रुओं से बहुत कष्ट पा रहा हो या किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो, तो वह केवल 'प्रैष' मन्त्र का उच्चारण करके संन्यासी हो सकता है", अर्थात् उसके लिए विस्तारपूर्ण विधि की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे लोगों के लिए, जो मृत्यु के द्वार पर खड़े हैं, केवल संकल्प, प्रैष (यथा "मैंने सब कुछ त्याग दिया है" जो व्याहृतियों के साथ कहा जाता है) एवं अहिंसा के लिए प्रण कर लेना ही यथेष्ट है, अन्य कृत्य परिस्थितियों के अनुसार किये या नहीं भी किये जा सकते हैं। आजकल ऐसे संन्यास (आतुर संन्यास) में धार्मिक व्यक्ति बहुधा प्रवृत्त होते हैं और संकल्प, क्षौर (सिर आदि का मुण्डन), स॰विश्रीप्रवेश एवं प्रैषोच्चार नामक कृत्य ही पर्याप्त मान लिये जाते हैं।

संन्यास तथा शिखा एवं यज्ञोपवीत (जनेऊ)

क्या संन्यासी को अपनी शिखा एवं जनेऊ का त्याग कर देना चाहिए? इस विषय में प्राचीन काल से ही मत-

तस्यापवादमाह स एव। यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते। तावन्न्यासोऽग्निहोत्रं च कर्तव्यं तु कलौ युगे॥ इति। स्मृतिमुक्ताफल, पृ० १७६ (वर्णाश्रम), यतिधर्मसंग्रह, पृ० २-३।

भेद रहा है। जाबालोपनिषद् (५) के उल्लेख के अनुसार जब अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि संन्यासी हो जाने पर जब व्यक्ति अपने जनेऊ का त्याग कर देता है तो वह ब्राह्मण कैसे कहला सकता है, तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि संन्यासी की आत्मा ही उसका जनेऊ (यज्ञोपवीत) है। जाबालोपनिषद् (६) में यह भी आया है कि परमहंस को जल में अपने तीनों दण्डों, कमण्डलु, शिक्य, भिक्षापात्र, जल छाननेवाले वस्त्र-खण्ड, शिखा एवं यज्ञोपवीत को छोड़ देना चाहिए और आत्मा की खोज में लगा रहना चाहिए। यही बात आरुणिकोपनिषद् (२) में भी पायी जाती है। शंकराचार्य बृहदारण्यकोपनिषद् (३।५।१) के भाष्य में दोनों पक्षों की बातें कहते हुए अन्त में अपना मत देते हैं कि यज्ञोपवीत एवं शिखा का परित्याग हो जाना चाहिए। यही बात विश्वरूप (याज्ञवल्क्य ३।६६) ने भी कही है। किन्तु वृद्ध-हारीत (८।५७) का कहना है—"यदि संन्यासी ब्रह्मकर्म अर्थात् शिखा एवं जनेऊ का परित्याग कर देता है तो वह जीते-जी चाण्डाल हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् कुत्ते का जन्म पाता है।" जीवन्मुक्तिविवेक (पृ० ६) एवं पराशरमाधवीय (१।२, पृ० १६४) ने इस उक्ति का विवेचन उपस्थित कर अन्त में शंकराचार्य की बात दोहरायी है। यही बात मिताक्षरा (याज्ञ० ३।५८) में भी पायी जाती है। आजकल के संन्यासी शिखा एवं जनेऊ नहीं धारण करते।

संन्यास एवं कुछ विशिष्ट नियम

संन्यासियों के आह्निक कृत्यों के विषय में कुछ विशिष्ट नियम निर्मित हैं (यतिधर्मसंग्रह, पृ० ९५)। उनको शौच, दन्तधावन, स्नान आदि गृहस्थों की भाँति ही करना चाहिए। मनु (५।१३७, वसिष्ठधर्मसूत्र ४।१९, विष्णुधर्मसूत्र ६०।२६, शंख १६।२३-२४) का कहना है कि वानप्रस्थों एवं संन्यासियों को गृहस्थों के समान ही क्रम से तीन एवं चार बार शौच-कर्म (शरीर-शुद्धि) करना चाहिए। भोजन केवल एक बार और वह भी केवल ८ ग्रास खाना चाहिए। संन्यासियों को पुरुषोत्तम (चार स्वरूपों के साथ वासुदेव), व्यास (सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन एवं पैल नामक चार शिष्यों के साथ), भाष्यकार शंकर (चारों शिष्यों अर्थात् पद्मपाद, हस्तामलक, त्रोटक एवं सुरेश्वर के साथ) आदि की पूजा करनी चाहिए। आदर-सम्मान के आदान-प्रदान के विषय में भी कुछ नियम बने हैं। संन्यासी को चाहिए कि वह देवों एवं अपने से बड़े संन्यासियों को, जो नियमानुकूल अपने मार्ग पर चलते हों, नमस्कार करे, किन्तु किसी गृहस्थ को, चाहे वह आचारवान् एवं विचारवान् ही क्यों न हो, नमस्कार नहीं करना चाहिए। यदि उसे कोई नमस्कार करे तो उसे केवल 'नारायण' कहना चाहिए, न कि आशीर्वाद देना चाहिए। जब संन्यासी मर जाय (यहाँ तक कि वह भी जिसने मृत्यु-शय्या पर ही संन्यास ग्रहण किया हो) तो उसे जलाना नहीं चाहिए बल्कि पृथिवी में गाड़ देना चाहिए। यति की मृत्यु पर रोदन आदि नहीं करना चाहिए और न श्राद्ध ही करना चाहिए, केवल ११वें दिन पार्वण कर देना चाहिए (अपरार्क पृ० ५३८)। यदि संन्यासी अपने पुत्र की मृत्यु या किसी सम्बन्धी की मृत्यु का समाचार सुने तो वह अपवित्र नहीं होता, और न उसे स्नान ही करना चाहिए, किन्तु माता या पिता की मृत्यु सुनकर वह स्नान अवश्य करता है, किन्तु विलाप नहीं करता।

परिषद्, शिष्ट और धर्मनिर्णय

धर्मशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार राजा न केवल पौर एवं जनपद के शासन का मुख्याधिकारी है, प्रत्युत वह न्याय का प्रमुख स्रोत है। राजा धार्मिक एवं आध्यात्मिक संस्थाओं का सयमनकर्ता एवं रक्षक है। वह जनता को धर्म में नियोजित करता है एवं धार्मिक तथा आध्यात्मिक उल्लंघनों पर दण्ड देता है। संक्षेप में, वह धर्म का रक्षक है (गौतम ११।९-११, विष्णुधर्मसूत्र ३।२-३, नारद, प्रकीर्णक ५।७, याज्ञवल्क्य १।३३७ एवं ३५९, अत्रि १७-२०, मनु ७।१३)। किन्तु राजा धार्मिक एवं आध्यात्मिक बातें स्वतः नहीं तय करता था, प्रत्युत वह पुरोहित एवं मन्त्रियों की सम्मति एवं विद्वान् लोगों की सभाओं अर्थात् परिषद् की राय से ही करता था। जब कभी कोई धार्मिक या प्रायश्चित्त-सम्बन्धी या पतित

के निष्कासन आदि के मामले उठ खड़े होते थे तो परिषद् की सम्मति ली जाती थी। अतः धर्मशास्त्रों (धर्मसूत्रों, स्मृतियों, निबन्धों आदि) में परिषद् के निर्माण के विषय में नियम आदि बतलाये गये हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११) में विद्याध्ययन के उपरान्त गुरु शिष्य से कहता है—"यदि तुम्हें किसी कृत्य या आचार के विषय में किसी प्रकार की आशंका हो तो तुम्हें वैसा ही करना चाहिए जैसा कि तुम्हारे यहाँ के विचारवान्, कर्तव्यपालन में परायण, सदय एवं धार्मिक ब्राह्मण लोग करते हैं. . .तुम्हें भी वैसा ही होना चाहिए. . .।"[१०] ऋग्वेद (१०।३४।६) में प्रयुक्त 'सभा' एवं 'समिति' (१०।९७।६) नामक शब्दों का सम्यक् तात्पर्य अभी विवादग्रस्त है। कहीं-कहीं तो सभा शब्द द्यूत-स्थल का भी द्योतक समझा गया है। किन्तु उपनिषदों में 'समिति' एवं 'परिषद्' जैसे शब्दों ने एक निश्चित अर्थ पकड़ लिया है, 'अर्थात् किसी विशिष्ट स्थान में विद्वान् लोगों की सभा।' छान्दोग्योपनिषद् (५।३।१) में आया है कि जब श्वेतकेतु आरुणेय पञ्चालों की समिति में गया तो वहाँ उससे प्रवाहण जैवलि ने तत्त्व-ज्ञान एवं गूढ़ार्थ सम्बन्धी पाँच प्रश्न किये। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२।१) ने इसी घटना के वर्णन में 'परिषद्' शब्द का प्रयोग किया है।[११] इन उक्तियों से स्पष्ट होता है कि उपनिषदों के काल में विद्वान् लोगों की सभाएँ होती थीं, जहाँ कठिन प्रश्नों पर विवेचन होता था। गौतम (२८।४६) ने भी तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११) की भाँति संदेहात्मक प्रश्नों के लिए विद्वान् लोगों से पूछ लेने की बात चलायी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।३।११।३४) का कहना है कि उसके द्वारा निर्दिष्ट छुट्टियों के अतिरिक्त अन्य छुट्टियाँ परिषदों द्वारा तय की जाती हैं।[१२] बौधायनधर्मसूत्र (२।१।४४-४५) ने परिषद् एवं उसके कार्य की चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि ईसा से लगभग पाँच शताब्दी पूर्व परिषदों को इतना शक्तिशाली बना दिया गया था कि वे सभी प्रकार के निर्णय देने में समर्थ थीं, यथा अध्ययनाध्यापन में अवकाश-निर्णय, गूढ़ प्रश्नों का विवेचन, प्रायश्चित्त-सम्बन्धी व्यवस्था आदि। वसिष्ठधर्म० (१।१६) ने घोषित किया है कि धर्मशास्त्र एवं तीनों वेदों के ज्ञाता लोग जो कुछ कहते हैं, वह धर्म है। यही बात आपस्तम्बधर्म० (१।१।१।२) ने दूसरे ढंग से कही है—"धर्मविद् लोगों द्वारा स्थापित परम्पराएँ अन्य लोगों के लिए प्रमाण होती हैं।" जब स्मृतियाँ यह कहती हैं कि "वेद, स्मृति एवं शिष्टाचार धर्म के तीन उपकरण हैं" (वसिष्ठधर्म० १।४-५), तो इसका तात्पर्य यह है कि शिष्टों को समय-समय पर धार्मिक आचरण के स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। धर्म के निर्णय के सम्बन्ध में तर्क की महत्ता गायी गयी है (मनु १२।१०६, गौतम ११।२३-२४)। मनु (१२।१०८) का कहना है—"जब इस पुस्तक में किसी विशिष्ट बात के विषय में कोई स्पष्ट निर्णय न पाया जाय तो शिष्ट ब्राह्मण लोग जो निर्णय दें उसे ही उचित नियम मानना चाहिए।" याज्ञवल्क्य (३।३००) ने लिखा है कि दोषी या अपराधी को विद्वान् ब्राह्मणों के समक्ष अपने दोष एवं अपराध कह देने चाहिए और परिषद् द्वारा जो व्रत आदि करने को कहे जायँ उनका सम्यक् पालन करना चाहिए। शंकराचार्य ने बृहदारण्यको-

१०. अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः. . .तेषु वर्तेथाः। तै० उप० १।११।

११. श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच। छा० उप० ५।३।१; श्वेतकेतुर्ह आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम। बृह० उप० ६।२।१।

१२. अनाज्ञाते दशावरैः शिष्टैरूहविद्भिरलुब्धैः प्रशस्तं कार्यम्। गौतम २८।४६; यथोक्तमन्यदतः परिषत्सु। आप० धर्म० १।३।११।३४।

पनिषद् के भाष्य में लिखा है—"अतः धर्म के सूक्ष्म निर्णय में किसी परिषद् का होना आवश्यक है तथा विशेष रूप से किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का निर्णय आवश्यक है, जैसा कि नियम भी है—एक परिषद् में कम-से-कम दस या तीन या एक विशिष्ट व्यक्ति का होना परमावश्यक है।"[१३] शंकराचार्य की उपर्युक्त उक्ति से स्पष्ट होता है कि उनसे लगभग १५०० वर्ष पहले परिषदों की परम्पराएँ विद्यमान थीं, जो धर्म एवं आचार-सम्बन्धी निर्णय दिया करती थीं।

परिषद् में कितने व्यक्ति होने चाहिए और उनकी योग्यता कितनी होनी चाहिए? इस विषय में गौतम (२८।४६-४७) के अनुसार परिषद् में कम-से-कम दस व्यक्ति होने चाहिए, यथा—चार वेदज्ञ, एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी, एक गृहस्थ, एक संन्यासी तथा तीन धर्मशास्त्रज्ञ। वसिष्ठधर्म० (३।२०), बौधायन० (१।१।८), पराशर (८।२७) एवं अंगिरा ने घोषित किया है कि परिषद् में दस व्यक्ति होने चाहिए, यथा—चार वेदज्ञ, एक मीमांसक, एक षड्-वेदांगज्ञ, एक धर्मशास्त्रज्ञ, तीन अन्य व्यक्ति, जिनमें एक गृहस्थ, एक वानप्रस्थ एवं एक संन्यासी हो। मनु (१२।१११) के मत से दस पार्षद ये हैं—तीन वेदज्ञ (एक-एक वेद को जाननेवाले, अथर्ववेद को छोड़कर), एक तर्कशास्त्री, एक मीमांसक, एक निरुक्तज्ञ, एक धर्मशास्त्रज्ञ, एक गृहस्थ, एक वानप्रस्थ तथा एक संन्यासी। पराशरमाधवीय (२।१, पृ० २१८) द्वारा उद्धृत बृहस्पति के अनुसार एक परिषद् में ७ या ५ व्यक्ति बैठ सकते हैं, जिनमें प्रत्येक को वेदज्ञ, वेदांगज्ञ, धर्मशास्त्रज्ञ होना चाहिए। इस प्रकार की परिषद् पवित्र एवं यज्ञ के समान मानी जाती है (और देखिए अपरार्क, पृ० २३)। वसिष्ठधर्मसूत्र (३।७), याज्ञवल्क्य (१।९), मनु (१२।११२), पराशर (८।११) के अनुसार परिषद् में कम-से-कम ४ या ३ व्यक्ति होने चाहिए, जिनमें प्रत्येक को वेदज्ञ, अग्निहोत्री एवं धर्मशास्त्रज्ञ होना चाहिए। गौतम (२८।४८) का कहना है कि यदि तीन व्यक्ति न पाये जा सकें तो संशय उपस्थित होने पर विशिष्ट गुणों से समन्वित एक व्यक्ति ही पर्याप्त है। ऐसे व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण, शिष्ट, वेद का गम्भीर अध्येता होना चाहिए (गौतम २८।४८, मनु १२।२१३ एवं अत्रि १४३)। याज्ञवल्क्य (१।७), पराशर (८।१३), अंगिरा का कहना है कि एक ही व्यक्ति यदि वह सर्वोत्तम संन्यासी हो एवं आत्मवित् हो, परिषद् का रूप ले सकता है और संशय उपस्थित होने पर यथोचित नियम का उद्घोष कर सकता है।[१४] यद्यपि समय पड़ने पर एक व्यक्ति द्वारा संशय में निर्णय देने की बात कही गयी है, किन्तु साथ ही धर्मशास्त्रकारों ने यह भी घोषित किया है कि जहाँ तक सम्भव हो एक व्यक्ति ही परिषद न माना जाय; बौधायनधर्मसूत्र (१।१३) का कहना है—"धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म होती है, उसका अनुसरण करना बहुत कठिन है, इसमें बहुत से द्वार हैं (अर्थात् धर्म विभिन्न परिस्थितियों या अवसरों पर विभिन्न रूपों में प्रकट होता है), अतः बहुज्ञ होने पर भी संशय की स्थिति में सर्वथा अकेले ही धर्माचार के विषय में उद्घोष नहीं करना चाहिए।"[१५] धर्म की बातें मूर्ख लोगों के मत से नहीं तय की जानी चाहिए, चाहे वे सहस्रों की संख्या

१३. अतएव धर्मसूक्ष्मनिर्णये परिषद्-व्यापार इष्यते। पुरुषविशेषश्चापेक्ष्यते दशावरा परिषत् त्रयो वैको वेति। शांकरभाष्य (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।२)।

१४. मुनीनामात्मविद्यानां द्विजानां यज्ञयाजिनाम्। वेदव्रतेषु स्नातानामेकोपि परिषद् भवेत्॥ पराशर ८।१३; यतीनां सत्यतपसां ज्ञानविज्ञानचेतसाम्। शिरोव्रतेन स्नातानामेकोपि परिषद् भवेत्॥ (अपरार्क पृ० २३ एवं पराशरमाधवीय २।१, पृ० २१७ द्वारा उद्धृत अंगिरा)। मुण्डकोपनिषद् (३।२।१०) में आया है कि जिन्होंने शिरोव्रत कर लिया है, वे ब्रह्मविद्या पढ़ने के योग्य माने जाते हैं।

१५. बहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दुरनुगा गतिः। तस्मान्न वाच्यो ह्येकेन बहुज्ञेनापि संशये॥ बौ० ध० सू० १।१।१३। मत्स्यपुराण १४३।२७ (वायुपुराण ५७।११२)।

में ही क्यों न उपस्थित हुए हों। मनु (१२।११४-१५, बौधायनधर्मसूत्र ३।५-६, पराशर ८।६ एवं १५) का कहना है—"अव्रती, वेदविहीन एवं केवल जातिबल से ही जीविका चलाने वाले सहस्रों ब्राह्मण परिषद् का रूप नहीं धारण कर सकते। यदि ऐसे व्यक्ति धर्म का उद्घोष (पाप के लिए प्रायश्चित्त का निर्णय) करते हैं तो वह पाप सैकड़ों गुना बढ़कर उन्हीं के (उद्घोष करने वालों के) पास चला जाता है।"

मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ३।३००) ने लिखा है कि परिषद् के सदस्यों की संख्या उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, वास्तव में छोटे-छोटे पापों के लिए थोड़े-से विद्वानों द्वारा प्रायश्चित-निर्णय पर्याप्त है, किन्तु भयानक अपराधों के प्रायश्चित्त-निर्णय में परिषद् के सदस्यों की संख्या लम्बी होनी चाहिए। देवल (याज्ञवल्क्य ३।३०० की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत) ने लिखा है कि जब पाप गम्भीर न हो तो ब्राह्मण लोग बिना राजा को बताये प्रायश्चित्त का निर्णय दे सकते हैं और पापी को उसके अधिकार वापस कर सकते हैं, किन्तु गम्भीर पापों में राजा तथा ब्राह्मण लोग सावधानीपूर्वक जाँच करके प्रायश्चित्त का निर्णय देते हैं। पराशर (८।२८-२९) ने आज्ञा दी है—"ब्राह्मणों को राजा की आज्ञा से पापों के प्रायश्चित्त का उद्घोष करना चाहिए, उन्हें अपने से ही प्रायश्चित्त की व्यवस्था नहीं देनी चाहिए, और न राजा को ही बिना ब्राह्मणों की सहमति के प्रायश्चित्त का उद्घोष करना चाहिए, नहीं तो पाप बढ़कर सौ गुना हो जाता है।" जब व्यक्ति परिषद् के पास आये, अपनी त्रुटियाँ कहे और छुटकारे का उपाय माँगे तो यदि परिषद् प्रायश्चित्त की व्यवस्था जानकर भी उसे सन्तुष्ट न करे तो उसके सदस्यों को अपराधी का पाप लग जाता है। पराशर (८।२) का कहना है कि अपने पाप के ज्ञान के उपरान्त पापी को परिषद् के लोगों के पास जाकर उनके सामने पृथिवी पर दण्डवत् गिर जाना चाहिए और अपने पाप की प्रायश्चित्त-व्यवस्था की माँग करनी चाहिए। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ३।३००) ने कहा है कि पापी को एक गाय या एक बैल या ऐसा ही कुछ देकर परिषद् के समक्ष अपने पाप का उद्घोष करना चाहिए।[16]

संन्यासी एवं परिषद्

मध्यकाल में स्मृतियों द्वारा निर्धारित परिषद्-सम्बन्धी नियमों का पालन राजाओं एवं विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा अक्षरशः किया जाता था। कुछ वर्षों के उपरान्त, विशेषतः दक्षिण में शंकराचार्य के उत्तराधिकारियों ने परिषद् के गुरुतर भार को अपने दुर्बल कंधों पर ले लिया। यह विचित्र परम्परा कब चल उठी, इसका निर्णय करना कठिन है। सन् १२०० ई० के उपरान्त उत्तर भारत का अधिकांश लगभग ५०० वर्षों तक तथा दक्षिण भारत का अल्पांश लगभग ३०० वर्षों तक मुसलमानों के अधिकार में रहा। स्वर्गीय श्री विश्वनाथ के० राजवाड़े (जिन्होंने मराठा इतिहास, मराठी भाषा एवं मराठी साहित्य पर अपने अनुसंधानों से अभूतपूर्व प्रकाश डाला है) एवं उनके मित्रों ने बहुत से लेख्य प्रमाण प्रकाशित किये हैं, जिनसे पता चलता है कि मराठा-आधिपत्य के समय राजा या राज्यमन्त्री द्वारा धार्मिक मामलों में पैठन, नासिक एवं कराड़ के विद्वान् ब्राह्मणों की सम्मति ली जाती थी, कभी-कभी संकेश्वर एवं करवीर

१६. स्वयं तु ब्राह्मणा ब्रूयुरल्पदोषेषु निष्कृतिम्। राजा च ब्राह्मणाश्चैव महत्सु च परीक्षितम्॥ देवल (मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० ३।३०० की व्याख्या में उद्धृत); राजा चानुमते स्थित्वा प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्। स्वयमेव न कर्तव्यं कर्तव्या स्वल्पनिष्कृतिः॥ ब्राह्मणांस्ताननतिक्रम्य राजा कर्तुं यदिच्छति। तत्पापं शतधा भूत्वा राजानमनुगच्छति॥ पराशर ८।२८-२९; आर्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि ये द्विजाः। जानन्तो न प्रयच्छन्ति ते यान्ति समतां तु तैः॥ अंगिरा (मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० ३।३०० में उद्धृत); यथाह पराशरः। पापं विख्यापयेत्पापी दत्त्वा धेनुं तथा वृषम्। इति। एतच्चोपपातकविषयम्। महापातकादिष्वधिकं कल्पनीयम्। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३००)।

की गद्दियों के शंकराचार्य से भी राय ली जाती थी। किन्तु अंग्रेजी शासन काल में शंकराचार्यों ने धार्मिक मामलों में सम्मति देने, जातिच्युत करने या जाति में सम्मिलित कर लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था।

गौतम (२८।४६) ने लिखा है कि परिषद् में शिष्ट लोगों को रहना चाहिए। कतिपय स्मृतियों ने शिष्ट की परिभाषा विभिन्न ढंग से की है। बौधायनधर्मसूत्र (१।१।५-६) के मत से "शिष्ट वे हैं, जो मत्सर एवं अहंकार से दूर हों, जिनके पास उतना अन्न हो जो एक कुम्भी में अट सके, जो लोभ, कपट, दर्प, मोह, क्रोध आदि से रहित हों। शिष्ट वे हैं, जो नियमानुकूल इतिहास एवं पुराणों के साथ वेदाध्ययन कर चुके हों और जो वेद में उचित संकेत पा सकें तथा जो अन्य लोगों को वेद की बातें मानने के लिए प्रेरित कर सकें।"[१७] शिष्टों के विषय में और देखिए वसिष्ठ-धर्मसूत्र (१।६), मत्स्यपुराण (१४५।३४-३६) एवं वायुपुराण (जिल्द १, ५९।३३-३५)।

शिवाजी की मन्त्रि-परिषद् में एक मन्त्री (पंडितराव) भी था, जो धार्मिक मामलों तथा अन्य बातों में शिष्ट लोगों की सम्मतियों का आदर करता था। पंडितराव धर्म या प्रायश्चित्त-सम्बन्धी संशयपूर्ण मामलों में वाई, नासिक, कराड आदि स्थानों के ब्राह्मणों की सम्मति लिया करते थे। पंडितराव इस प्रकार बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये ब्राह्मणों को जाति में सम्मिलित कराते थे।

कभी-कभी संकेश्वर मठ के महन्त भूमि एवं ग्रामों से सम्बन्धित मामलों में भी फैसला देते थे। राजाराम नामक राजा ने श्रीकराचार्य नामक व्यक्ति को एक ग्राम का दान दिया था, जिसको लेकर एक विवाद खड़ा हुआ और उसके पाँच सम्बन्धियों ने उस ग्राम पर अपने अधिकार भी जताने आरम्भ कर दिये। यह मामला करवीर के शंकराचार्य के समक्ष उपस्थित किया गया, जिन्होंने विज्ञानेश्वर, व्यवहारमयूख एवं दानकमलाकर के प्रमाणों के आधार पर यह तय किया कि यद्यपि ग्राम के दान का लेख्य-प्रमाण पाँच व्यक्तियों के नाम से हुआ है किन्तु वास्तविक अधिकारी श्रीकराचार्य ही हैं। इसी प्रकार करवीर मठ के महन्त की एक आज्ञा का पता चला है, जिससे यह व्यक्त होता है कि उन्होंने एक ब्राह्मण के यहाँ अन्य ब्राह्मणों को भोजन कर लेने को कहा है। बात यह थी कि उस ब्राह्मण की स्त्री का एक गोसावी से अनुचित सम्बन्ध था। जब ब्राह्मण ने उचित प्रायश्चित्त कर लिया तो महन्त ने उस प्रकार की आज्ञा निकाली। इसी प्रकार बहुत-से ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनसे पता चलता है कि मध्यकाल में शिष्टों, विद्वान् ब्राह्मणों एवं महन्तों को बहुत-से ऐसे अधिकार प्राप्त थे, जिनके द्वारा वे धार्मिक आदि मामलों में निर्णय दे सकते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सैकड़ों वर्षों तक विद्वान् ब्राह्मण लोग धार्मिक मामलों एवं आचार-सम्बन्धी पापों एवं उनके प्रायश्चित्तों के विषय में निर्णय दिया करते थे। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पूर्व तक यही दशा थी और विद्वान् ब्राह्मणों, शिष्टों एवं आचारवान् धर्मशास्त्रियों से समन्वित परिषदें कठिन एवं संशयात्मक मामलों में निर्णय दिया करती थीं। कुछ दिनों से और वह भी कभी-कभी मठों के महन्त लोग संन्यासी होने के नाते निर्णय देने लग गये। बहुधा शंकराचार्य पदधारी व्यक्ति जो धर्मशास्त्र का 'क' अक्षर भी नहीं जानते थे, कुछ स्वार्थी जनों के फेर में पड़कर अपनी मुहर लगा दिया करते थे। वास्तव में धार्मिक तथा संशयात्मक विषयों का निर्णय विद्वान् लोगों के हाथ में ही रहना चाहिए।

१७. शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकाराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः। धर्मेणाधिगतो येषां वेदः सपरिबृंहणः। शिष्टास्तदनुमानज्ञाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ बौ० ध० सू० १।१।५-६। और देखिए मनु (१२।१०९) एवं वसिष्ठ (६।४३), शिष्टः पुनरकामात्मा। वसिष्ठ १।६। मिलाइए महाभाष्य, जिल्द ३, पृ० १७४ "एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः।"

अध्याय २९

श्रौत (वैदिक) यज्ञ

उपोद्घात

वैदिक साहित्य को भली भाँति समझने, उस साहित्य के निर्माण-काल, विकास एवं उसके विभिन्न भागों के स्तरों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत एक निश्चित मान्यता स्थिर करने, चारों वर्णों एवं जाति-व्यवस्था पर उस साहित्य के प्रभाव की जानकारी, ब्राह्मणों के कतिपय उपजातियों में विभाजित हो जाने के कारणों के ज्ञान तथा विभिन्न गोत्रों एवं प्रवरों के यथातथ्य विवेचन के लिए वैदिक यज्ञों का गम्भीर अध्ययन परमावश्यक है। बहुत-से आरम्भिक यूरोपीय लेखकों ने बिना वैदिक यज्ञों का गम्भीर अध्ययन किये, वेदों का अर्थ केवल व्याकरण, तुलनात्मक भाषाशास्त्र आदि के आधार पर किया, जो आगे चलकर बहुत अंशों में भ्रमात्मक सिद्ध हुआ। यूरोपीय विद्वान् वेदों को अति प्राचीन कहने में संकोच करते थे, अतः अधिकांश यूरोपीय भारत-तत्त्वान्वेषकों ने वैदिक मन्त्रों को ईसापूर्व १४०० वर्षों से पूर्व रचे हुए नहीं माना। इस विषय में सर्वप्रथम संस्कृत-साहित्य एवं भारतीयता के विवेचक एवं प्रसिद्ध विद्वान् मैक्स-मूलर से ही त्रुटि हो गयी और आगे चलकर कुछ अन्य यूरोपीय विद्वानों ने उन्हीं की बातें दुहरायीं। हम यहाँ वैदिक साहित्य के विभिन्न अंगों के काल-विभाजन के पचड़े में नहीं पड़ेंगे, क्योंकि यह विषय इस ग्रन्थ की अध्ययन-परिधि के बाहर है। इसमें सन्देह नहीं रह गया है कि वैदिक मन्त्र ई० पू० १४०० के बहुत पहले, अनेक शताब्दियों पूर्व निर्मित हुए थे। वैदिक वाङमय में अधिकांश (कुछ सीमा तक ऋग्वेद को छोड़कर) संहिताएँ यज्ञों के सम्प्रदाय-सम्बन्धी स्वरूपों के आधार पर गठित हैं। विभिन्न यज्ञों के लिए विभिन्न पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी, और ये विभिन्न पुरोहित अपने पास विभिन्न मन्त्रों के संग्रह रखते थे।

वैदिक यज्ञों के सम्यक् ज्ञान के लिए कतिपय वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों का सावधानीपूर्वक अध्ययन अपेक्षित है। अंग्रेजी में इस सम्बन्ध की पुस्तकें ये हैं—हाग द्वारा ऐतरेय ब्राह्मण का टिप्पणी सहित अनुवाद, प्रो० इग्गेलिंग द्वारा शतपथ ब्राह्मण का टिप्पणी सहित अनुवाद, प्रो० कीथ लिखित "वेद एवं उपनिषदों का धर्म एवं दर्शन" (रिलिजिएन एण्ड फिलॉसॉफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स) नामक पुस्तक, कृष्ण यजुर्वेद एवं ऋग्वेद-ब्राह्मण का अनुवाद, श्री कुन्ते कृत "विसिसिट्यूड्स आव आर्यन् सिविलिज़ेशन इन इण्डिया" (१८८०), विशेषतः पृ० १६७-२३२। इनके अतिरिक्त सर्वश्री वेबर एवं हिल्लेब्रांट ने जर्मन भाषा में वैदिक यज्ञों के विषय में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। सर्वश्री चैलण्ड एवं हेनरी ने अग्निष्टोम पर (१९०६) एक बहुत ही विशद, विद्वत्तापूर्ण एवं व्यवस्थित ग्रन्थ का प्रणयन फ्रांसीसी भाषा में किया है। इसी प्रकार जर्मन भाषा में प्रो० डुमाण्ट कृत 'ल अग्निहोत्र' (१९३९) नामक पुस्तक तथा हिल्लेब्रांट कृत कुछ पुस्तकें अति प्रसिद्ध हैं। इस अध्याय में मौलिक ग्रन्थों के आधार पर ही विवेचन उपस्थित किया जायगा, किन्तु कहीं-कहीं आधुनिक लेखकों के ग्रन्थों की ओर भी संकेत किया जायगा।

जैमिनि ने 'पूर्वमीमांसासूत्र' में मीमांसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में सहस्रों उक्तियाँ संगृहीत की हैं और कतिपय यज्ञों के विस्तार के विषय में अपने निश्चित निष्कर्ष दिये हैं। इस अध्याय में जैमिनि के निष्कर्षों की विशेष चर्चा की जायगी।

वैदिक अग्निष्टोम एवं पारसियों के होम में बहुत-कुछ समता है। पारसियों की प्राचीन धार्मिक पुस्तकों एवं वैदिक साहित्य में प्रयुक्त यज्ञ-सम्बन्धी शब्दों में जो सादृश्य दिखाई पड़ता है, उससे प्रकट होता है कि यज्ञ-सम्बन्धी परम्पराएँ बहुत-प्राचीन हैं, यथा—अथर्वन्, आहुति, उक्थ, बर्हिस्, मन्त्र, यज्ञ, सोम, सवन, स्टोम, होतृ आदि शब्द प्राचीन पारसी-साहित्य में पाये जाते हैं। यद्यपि वैदिक यज्ञ आजकल बहुत कम किये जाते हैं (दर्श-पूर्णमास एवं चातुर्मास्य को छोड़कर), किन्तु वे ईसा से कई शताब्दियों पूर्व बहुत प्रचलित थे। बौद्ध धर्म की स्थापना एवं प्रसार के कई शताब्दियों उपरान्त भी ये यज्ञ यथावत् चलते रहे हैं, जैसा कि शिलालेखों में वर्णित राजाओं द्वारा किये गये यज्ञों से पता चलता है। हरिवंश (३।२।३९-४०), मालविकाग्निमित्र (अंक ५, जिसमें राजसूय का वर्णन है), अयोध्या के शुंगाभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ५४) में सेनापति पुष्पमित्र द्वारा कृत अश्वमेध (या राजसूय) यज्ञ का वर्णन मिलता है। हाथीगुम्फा अभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ७९) में राजा खारवेल द्वारा किये गये राजसूय यज्ञ का वर्णन मिलता है। समुद्रगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था, जैसा कि कुमारगुप्त के बिलसद अभिलेख से पता चलता है (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४३)। पर्दी दानपत्र में त्रैकूटक राजा दह्सेन को अश्वमेध यज्ञ करने वाला कहा गया है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १०, पृ० ५३)। पीकिर दानपत्र में पल्लव राजा अश्वमेध यज्ञ करने वाले तथा एक अन्य दानपत्र में अग्निष्टोम, वाजपेय एवं अश्वमेध नामक यज्ञ करने वाले कहे गये हैं (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० २)। वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, संख्या ५५, पृ० २३६) के छम्मक दानपत्र में प्रवरसेन प्रथम बहुत-से श्रौत यज्ञ करने वाला घोषित किया गया है।

अग्नि-पूजा मूल रूप में व्यक्तिगत एवं जातीय या वर्गीय रही होगी। आह्निक अग्निहोत्र व्यक्तिगत कृत्य था; किन्तु दर्श-पूर्णमास के समान सरल इष्टियों में चार पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी। सोमयज्ञ में १६ पुरोहितों एवं अन्य बहुमूल्य वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती थी और इस प्रकार के यज्ञों में बहुत-से लोग आते थे तथा उनका स्वरूप कुछ सामाजिक था। आरम्भिक काल में अग्निहोत्री लोग कम ही रहे होंगे, क्योंकि ब्राह्मण लोग अपेक्षाकृत निर्धन होते हैं और अग्निहोत्री होने से उन्हें घर पर ही रहना पड़ता तथा जीविका कमाने में गड़बड़ी होती थी। मध्यम वय प्राप्त हो जाने पर ही ब्राह्मणों के लिए अग्न्याधान की व्यवस्था थी (जैमिनि १।३।३ की व्याख्या में शबर)। आह्निक अग्निहोत्र के लिए सैकड़ों कंडों (गाय के गोबर से बने उपलों) एवं समिधाओं के अतिरिक्त कम-से कम दो गायों की परम आवश्यकता होती थी। अग्निहोत्र की व्यवस्था के लिए तथा दर्श-पूर्णमास (जिसमें चार पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है) एवं चातुर्मास्य (जिसमें पाँच पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है) करने के लिए धनवान् होना आवश्यक है। सोमयज्ञ तो केवल राजाओं, सामन्तों, धनी व्यक्तियों के या जो अधिक धन एकत्र कर सके उसी के बूते की बात थी। राजाओं ने दानपत्रों में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण इस दान से बलि, चरु देगा तथा अग्निहोत्र करेगा (यथा बुद्धराज सर्सञ्नी दानपत्र, सन् ६०९-१० ई०, दामोदरपुर दानपत्र, सन् ४४७-४८ ई०)।[1] मुसलमानों के समय में बादशाहों से ऐसे दान नहीं प्राप्त हो सकते थे, अतः वैदिक यज्ञों की परम्पराएँ समाप्त-सी हो गयीं। हाल के लगभग सौ वर्षों के भीतर वैदिक यज्ञ बहुत ही कम किये गये हैं। ऋग्वेद (१०।९०।१६) ने यज्ञों को प्रथम धर्मों अर्थात् कर्तव्यों में गिना है और धर्मशास्त्र जैसे विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ में उनकी चर्चा होनी चाहिए। अतः संक्षेप में, हम यहाँ वैदिक यज्ञों का वर्णन करेंगे।

१. देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ६, पृ० २९१, 'बलिचरुवैश्वदेवाग्निहोत्रादिक्रियोत्सर्पणार्थम्' (सर्सञ्नी दानपत्र); वही, जिल्द १५, पृ० ११३ 'अग्निहोत्रोपयोगाय' (पृ० १३०), 'पञ्चमहायज्ञप्रवर्तनाय' (पृ० १३३), 'बलिचरुसत्रप्रवर्तनगव्यधूपपुष्पमधुपर्कदीपाद्युपयोगाय' (पृ० १४३)—दामोदरपुर दानपत्र।

प्राचीन काल में किये जाने वाले यज्ञों का वर्णन श्रौतसूत्रों में विशद रूप से पाया जाता है। श्रौतसूत्र तो वैदिक यज्ञ करने वालों के लिए मानो व्यावहारिक चर्चाएँ या पद्धतियाँ मात्र हैं और उनमें प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण पर्याप्त मात्रा एवं संख्या में पाये जाते हैं। हम यहाँ केवल कुछ ही वैदिक यज्ञों का वर्णन उपस्थित करेंगे और वह भी संक्षेप में, क्योंकि हमारा उद्देश्य है केवल उनके रूप का परिदर्शन मात्र करा देना। हम यहाँ आश्वलायन, आपस्तम्ब, कात्यायन, बौधायन एवं सत्याषाढ के श्रौतसूत्रों के आधार पर ही अपना विवेचन उपस्थित करेंगे, कहीं-कहीं संहिताओं एवं ब्राह्मणों की ओर भी संकेत किया जाता रहेगा। स्थानाभाव के कारण हम सूत्रों के परस्पर विभेदों, पद्धतियों के अन्तरों एवं आधुनिक व्यवहारों की चर्चा करने में संकोच करेंगे। वाराणसी से नागेश्वर शास्त्री ने "श्रौतपदार्थ-निर्वचन" नामक एक संग्रह प्रकाशित किया है, जो कई अर्थों में बड़ा उपयोगी है, किन्तु अभाग्यवश संग्रहकर्ता ने जो उद्धरण दिये हैं उनका स्थल-संकेत नहीं दिया, अर्थात् यह नहीं लिखा कि ये उद्धरण किस श्रौतसूत्र में कहाँ पर हैं। पूना के मीमांसा-विद्यालय ने वैदिक यज्ञों के काम आनेवाले पात्रों के नामों की सूची बनायी है और पात्रों एवं वेदियों के चित्र एवं मान-चित्र उपस्थित किये हैं। इस अध्याय में चातुर्मास्यों, पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम का वर्णन एवं दर्श-पूर्णमास का विवेचन भी विस्तार से किया जायगा तथा अन्य यज्ञ संक्षिप्त रूप से वर्णित होंगे।

ऋग्वेद में श्रौत यज्ञ

जिन दिनों ऋग्वेद के मन्त्रों का प्रणयन एवं संग्रह हो रहा था, उन्हीं दिनों यज्ञों के प्रमुख प्रकार (लक्षण) भी प्रकट होते जा रहे थे। तीन अग्नियाँ प्रकट हो चुकी थीं। ऋग्वेद (२।३६।४) में अग्नि को तीन स्थानों पर बैठने को कहा गया है। ऋग्वेद (१।१५।४ एवं ५।२।२) में यह भी आया है—मनुष्य तीन स्थानों पर अग्नि प्रज्वलित करते हैं। ऋग्वेद (१।१५।१२) में 'गार्हपत्य' नामक अग्नि का नाम भी आ गया है।[२] ऋग्वेद में तीन सवनों (प्रातः, मध्याह्न एवं सायं में सोम का रस निकालने) का वर्णन आया है, यथा—ऋग्वेद ३।२८।१ में **प्रातःसवन**, ३।२८।४ में **माध्यन्दिन सवन**, ३।२८।५ में **तृतीय सवन**। ऋग्वेद के ३।५२।५-६ एवं ४।१२।१ में आया है कि सभी दिनों में यज्ञ द्वारा अग्नि को तीन बार भोजन मिलता है। और भी देखिए ऋग्वेद (४।३३।११)। सोमयज्ञ में कार्य करने के लिए १६ पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है।[३] सम्भवतः इनके सभी विविध नाम ऋग्वेद

२. श्रौत यज्ञों में 'आहवनीय', 'गार्हपत्य' एवं 'दाक्षिणाग्नि' नामक तीन अग्नियाँ प्रज्वलित की जाती हैं।

३. सोलह पुरोहित या ऋत्विक् ये हैं—'होता मैत्रावरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुदध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंस्याग्नीध्रः पोतोद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्य इति।' आश्वलायनश्रौतसूत्र ४।१।६, आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र १०।१।९। इनमें होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता चार प्रमुख पुरोहित हैं और उपर्युक्त सूची में इन चारों में प्रत्येक के आगे के तीन पुरोहित उसके सहायक होते हैं। इस प्रकार कुल १२ पुरोहित सहायक हुए। चारों प्रमुख ऋत्विकों के कार्य ऋग्वेद (१०।७१।११) में वर्णित हैं। ऋग्वेद (२।४३।१) में हमें सामों (सामवेद के मन्त्रों) के गायक की चर्चा मिलती है। अग्निहोत्र में केवल अध्वर्यु की आवश्यकता पड़ती है। अग्न्याधेय, दर्श-पूर्णमास एवं अन्य इष्टियों में चार पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है, यथा—अध्वर्यु, आग्नीध्र, होता एवं ब्रह्मा। चातुर्मास्यों में पाँच पुरोहितों की, यथा दर्शपूर्णमास के चार पुरोहित तथा प्रतिप्रस्थाता। पशुबन्धयज्ञ में मैत्रावरुण नामक एक छठा पुरोहित भी रहता है। सोम यज्ञों में सभी १६ पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है। साकमेध नामक चातुर्मास्य में आग्नीध्र को 'ब्रह्मपुत्र' (देखिए आश्व० श्रौ० २।१८।१२) नाम से सम्बोधित किया जाता है। पुरोहितों की आवश्यक संख्या के विषय में देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।३।६) एवं बौधा० श्रौ० (२।३)। कुछ लोगों ने एक सत्रहवाँ पुरोहित

में प्राप्त हो जाते हैं, यथा ऋग्वेद (१।१६२।५) में होता, अध्वर्यु, अग्निमिन्ध (अग्नीत् या आग्नीध्र), ग्रावग्राभ, (ग्रावस्तुत्), शंस्ता (प्रशास्ता या मैत्रावरुण), सुविप्र (ब्रह्मा ?); ऋग्वेद (२।१।२) में होता, नेष्टा, अग्नीत्, प्रशास्ता (मैत्रावरुण), अध्वर्यु, ब्रह्मा; ऋग्वेद (२।३६) में होता, पोता (२), आग्नीध्र (४), ब्राह्मण (ब्राह्मणाच्छंसी), एवं प्रशास्ता (६)। ऋग्वेद (२।४३।२) में उद्‌गाता का नाम आया है। ऋग्वेद (३।१०।४, ९।१०।७, १०।३५।१०, १०।६१।१) में सात होताओं की चर्चा हुई है, और ऋग्वेद (२।५।२) में पोता को आठवाँ पुरोहित कहा गया है। ऋग्वेद में 'पुरोहित' शब्द अनेक बार आया है (१।१।१, १।४४।१० एवं १२, ३।२।८, ९।६६।२०, १०।९८।७)। ऋग्वेद ने अतिरात्र (७।१०३।७), त्रिकद्रुक (२।२२।१, ८।१३।१८, ८।९२।२१, १०।१४।१६) के नाम लिये हैं। ऋग्वेद (१।१ ६२।६) में यूप (जिसमें बलि का पशु बाँधा जाता था) एवं उसके शीर्षभाग चषाल का वर्णन आया है। ऋग्वेद का ३।८ वाला अंश यूप की प्रशंसा से भरा पड़ा है। जिस व्यक्ति ने यज्ञ के पशु को मारा (शमिता) उसका वर्णन ऋग्वेद (१।६२।१० एवं ५।४३।४) में हुआ है। घर्म (प्रवर्ग्य कृत्य के लिए उबले हुए दूध के पात्र या सम्भवतः माध्यन्दिन सवन में दधिघर्म) का उल्लेख ऋग्वेद (३।५३।१४, ५।३०।१५, ५।४३।७) में हुआ है। ऐसा विश्वास था कि यज्ञ में बलि किया हुआ पशु स्वर्ग में चला जाता है (ऋग्वेद १।१६२।२१, १।१६३।१३)। दो अरणियों के घर्षण से यज्ञाग्नि उत्पन्न की जाती थी (ऋग्वेद ३।२९।१-३, ५।९।३, ६।४८।५)। दर्वी (ऋक् ५।६।९), स्रुक् (ऋ० ४।१२।१, ६।२।५), जुहू (ऋ० १०।२१।३) का उल्लेख हुआ है। दोनों की प्रशंसा में भी ऋग्वेद में मन्त्र आये हैं (ऋ० १।१२६।३, ८।५।३७)। ऋग्वेद (३।५३।३) में होता (आहाव) का आह्वान तथा अध्वर्यु (प्रतिगर) द्वारा स्वीकृति का उत्तर स्पष्ट रूप से वर्णित है। ऋग्वेद (१०।११४।५) में सोम के बारहों ग्रहों (पात्रों या कलशों) का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद (१।२८।१-२) में चौड़ी सतह वाले पत्थर (ग्रावा) का, जिस पर सोम के डण्ठल कूटे जाते थे, वर्णन है; इसी प्रकार खल का, जिसमें सोम का चूर्ण बनाया जाता था, तथा अधिषवण का, जिस पर सोम का रस निकाला जाता था। सोम पीने के उपयोग में आने वाले चमस (चम्मच) नामक पात्र का भी उल्लेख हुआ है (ऋ० १।२०।६, १।११०।३, १।१६१।१ एवं ८।३२।७)। सोमयज्ञ के अन्त में किये जाने वाले अवभृथ स्नान की चर्चा ऋग्वेद (८।९३।२३) में हुई है। ऋग्वेद के दस आप्री मन्त्रों से पता चलता है कि श्रौत सूत्रों में वर्णित पशु-यज्ञ के बहुत से लक्षण उस समय प्रचलित हो गये थे।

श्रौतकृत्यों के कुछ सामान्य नियम---आगे कुछ लिखने के पूर्व श्रौत कृत्यों के कुछ सामान्य नियमों की जानकारी करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। इस विषय में आश्वलायनश्रौतसूत्र (१।१।८-२२) पठनीय है। जब तक कहा न जाय, याज्ञिक को सदैव उत्तराभिमुख रहना चाहिए, पल्थी मारकर (व्यत्यस्तपाद अर्थात् एक पैर को दूसरे के साथ मोड़कर) बैठना चाहिए, और यज्ञिय उपकरणों (यज्ञ के उपयोग में आने वाली सामग्री, यथा कुश आदि) को पूर्वाभिमुख करके रखना चाहिए। जब तक निवीत या प्राचीनावीत ढंग से पहनने को न कहा जाय तब तक यज्ञोपवीत को उपवीत ढंग से पहने रहना चाहिए। जब तक किसी अन्य शरीरांग का नाम न लिया जाय दाहिने अंगों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए (यथा हाथ, पैर, अंगुली)। जब 'ददाति' शब्द कहा जाय तो इसे यजमान (याज्ञिक) के लिए ही प्रयुक्त समझना चाहिए। कात्यायनश्रौतसूत्र (१।१०।१२) के मतानुसार 'वाचयति' शब्द का संकेत है यजमान की

भी जोड़ दिया है, यथा सदस्य। बौ० (२।३) ने तो उसे तीन सहायक पुरोहित भी दे दिये हैं, किन्तु शतपथ ब्राह्मण (१०।४।२।१९) ने सत्रहवें पुरोहित की नियुक्ति को वर्जित माना है। यज्ञ में ऋत्विकों के अतिरिक्त कुछ अन्य लोग भी होते हैं, यथा शमिता, चमसाध्वर्यु। आप० श्रौ० (१।३-६) में त्रिकद्रुक को ज्योतिः, गौः एवं आयुः कहा गया है।

ओर जब कि वह दान देता है या मन्त्रोच्चारण करता है; यही बात अन्वारम्भण या वरदान के चुनाव या व्रत (सत्यता आदि) करने में या ऊँचाई लेने (याज्ञिक की ही ऊँचाई माप-दण्ड का कार्य करती है) के सिलसिले में समझनी चाहिए। जब बिना कर्ता का नाम लिये किसी कृत्य का वर्णन होता है तो वहाँ अध्वर्यु को ही कर्ता समझना चाहिए, प्रायश्चित्तों के विषय में 'जुहोति' एवं 'यजति' शब्दों का सम्बन्ध है ब्रह्मा पुरोहित (ऋत्विक्) से। जब केवल एक ही 'पाद' का उल्लेख किया जाय, तो इसका तात्पर्य है सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण करना। जब किसी कृत्य में केवल आरम्भिक शब्द व्यक्त किये गये हों तो उससे यह समझना चाहिए कि सम्पूर्ण सूक्त का उच्चारण करना है। जहाँ एक पाद से कुछ अधिक कहा गया हो वहाँ यह समझना चाहिए कि आगे के अन्य दो मन्त्र (कुल मिलाकर तीन मन्त्र) भी पढ़े जाने हैं। जप, आमन्त्रण, अभिमन्त्रण, आप्यायन, उपस्थान के मंत्र और वे मन्त्र जो किये जाने वाले कृत्य की ओर संकेत करें, उपांशु ढंग (मन्द स्वर) से कहे जाने चाहिए। सामान्य नियम (प्रसंग) से विशिष्ट नियम (अपवाद या विशेष विधि) अधिक शक्तिशाली समझा जाता है।

कुछ अन्य सामान्य सिद्धान्त—याग (यज्ञ) में **द्रव्य, देवता** एवं **त्याग** तीन वस्तु मुख्य हैं, अतः याग का तात्पर्य है **देवता** के लिए **द्रव्य** का **त्याग**। **होम** का अर्थ है किसी देवता के लिए अग्नि में द्रव्य की आहुति। यजतियाँ (यज्ञ-सम्बन्धी कृत्य), जिनके लिए कोई फल नहीं मिलता, याग के प्रमुख अंग हैं। मन्त्रों की श्रेणियाँ चार हैं; ऋक्, यजुः, साम एवं निगद, जिनमें ऋक् तो मात्रिक हैं, यजुः के लिए मात्राबद्ध या छन्दबद्ध होना आवश्यक नहीं है, किन्तु वे पूर्ण वाक्य के रूप में अवश्य होते हैं (कात्या० १।३।२), साम का गायन होता है, निगद को **प्रैष** कहते हैं, अर्थात् ऐसे शब्द जो किसी को कोई कार्य करने के लिए सम्बोधित किये जाते हैं, यथा 'प्रोक्षणीरासादय', 'स्रुवः सम्मृड्ढि' (कात्यायन० २।६।३४)। निगद, वास्तव में यजुः ही होते हैं, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि निगदों का उच्चारण जोर से किन्तु यजुः का धीरे से होता है। जैमिनि (२।१।३८-४५) ने साधारण यजुः एवं निगद के अन्तर को समझाया है और ऋक्, साम एवं यजुः के भेदों को भी प्रकट किया है (२।१।३५-३७)। ऋग्वेद एवं सामवेद के पद जोर से, किन्तु यजुः के मन्द स्वर से (कुछ पदों को छोड़कर, यथा—'आश्रुत' अर्थात्—'आश्रावय' के समान अन्य, 'प्रत्याश्रुत' अर्थात्—उत्तर—'अस्तु श्रौषट्', 'प्रवर-मन्त्र' अर्थात्—'अग्निर्देवो होता' आदि, संवाद अर्थात् प्रार्थनाएँ एवं आज्ञाएँ—'क्या मैं पानी छिड़कूँ ? हाँ, छिड़को', सम्प्रैष अर्थात्—कुछ करने के लिए बुलाना, यथा 'प्रोक्षणीरासादय') कहे जाते हैं। उच्च स्वर तीन प्रकार के होते हैं—अति उच्च, मध्यम उच्च एवं कम उच्च। सामिधेनी पद मध्यम स्वर से उच्चारित होते हैं। ज्योतिष्टोम एवं प्रातःसवन में अन्वाधान से लेकर आज्यभाग तक मन्द स्वर से, किन्तु दर्श-पूर्णमास के कृत्यों में आज्यभाग से लेकर स्विष्टकृत् तक सभी मन्त्र मन्द स्वर में उच्चारित होते हैं। स्विष्टकृत् के उपरान्त दर्श-पूर्णमास तथा तृतीय सवन के सब मन्त्र उच्च स्वर में कहे जाते हैं। **उत्कर** वह स्थल है जहाँ वेदी की धूल बटोरकर (बुहारकर) रखी जाती है, आहवनीय से उत्तर के पात्र में रखा गया जल **प्रणीता** कहलाता है। याज्ञिक स्थल, जहाँ अग्नि प्रज्वलित रखी जाती है, **विहार** कहा जाता है। इष्टियों में विहार से आना-जाना प्रणीता एवं उत्कर के बीच से होता है (अर्थात् उत्कर से पूर्व एवं प्रणीता से पश्चिम), किन्तु अन्य स्थितियों में उत्कर एवं चात्वाल के बीच से होता है (आश्व० १।१। ४-६ एवं कात्यायन० १।३।४२-४३)। विहार की ओर जाने के इस मार्ग को या पथ को **तीर्थ** कहा जाता है। **चात्वाल** वह गड्ढा है जो सोम एवं पशु-यज्ञों में आवश्यक माना जाता है। बहुत-से पात्रों एवं बरतनों की आवश्यकता होती है, जिनमें **स्रुव** खदिर नामक काष्ठ से बनाया जाता है। स्रुव एक अरत्नी (हाथ भर) लम्बा होता है और उसका मुख गोलाकार एवं अंगूठे के बराबर होता है। **स्रुक्** (आहुति देने वाली **स्रुची** दर्वी या चमस=चम्मच) एक हाथ लम्बा होता है और उसका मुख हथेली की भाँति होता है, किन्तु निकास हंस की चोंच के समान होता है। स्रुक् तीन प्रकार का होता है—जुहू (दर्वी) जो पलाश का बना होता है, **उपभृत** जो पीपल से बना होता है तथा **ध्रुवा** जो विकंकत काष्ठ से बना

होता है। अन्य याज्ञिक पात्र विकंकत के बने होते हैं। किन्तु वे पात्र, जिनका सम्बन्ध होम से प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता वरण वृक्ष से बने होते हैं। 'स्फ्य' नामक तलवार खदिर की बनी होती है। मुख्य-मुख्य यज्ञपात्र या यज्ञायुध नीचे पाद-, टिप्पणी में दिये गये हैं।[4]

सभी प्रकार के संस्कार (यथा अधिश्रयण, पर्यग्निकरण, किसी यज्ञपात्र का गर्म करना आदि) गार्हपत्य अग्नि (जब तक कि स्पष्ट रूप से कुछ कहा न जाय) में किये जाते हैं, किन्तु हवि का पकाना या तो गार्हपत्य अग्नि में या आहवनीय में अपनी शाखा या सूत्र के अनुसार होता है। जब किसी विशिष्ट वस्तु का नाम न लिया गया हो तो होम घृत से किया जाता है। इसी प्रकार जब कोई दूसरी बात न कही जाय सभी प्रकार के होम आहवनीय में किये जाते हैं, और जुहू का प्रयोग भी इसी प्रकार किया जाता है (कात्या० १।८।४४-४५)। जो कृत्य ऋग्वेद के मन्त्रों से किये जाते हैं उनमें होता रहता है, इसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्रों के साथ अध्वर्यु, सामवेद के मन्त्रों के साथ उद्गाता तथा ब्रह्मा सभी वेदों के मन्त्रों के साथ रहता है (ऐतरेय ब्राह्मण २५।८)। पुरोहित का कार्य केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं (जैमिनि १२।४।४२-४७)। याज्ञिक की पत्नी गार्हपत्य अग्नि के दक्षिण-पश्चिम दिशा में उत्तर-पूर्व की ओर मुख करके बैठती है (कात्या० २।७।१)। किसी इष्टि या कृत्य के आरम्भ में पाँच प्रकार के भू-संस्कार आहवनीय के **खर** (मृत्तिकासंचय या वेदी) तथा दक्षिणाग्नि पर किये जाते हैं और वे ये हैं—(१) **परिसमूहन** (गीले हाथ से बुहारना) जो पूर्व से उत्तर तक तीन बार किया जाता है, (२) **गोमय-उपलेपन** (गोबर से तीन बार लीपना), (३) **स्फ्य** (लकड़ी की तलवार) से दक्षिण से पूर्व या पूर्व से पश्चिम तीन रेखाएँ खींचना, (४) अंगूठे एवं अनामिका अंगुली से रेखाओं की **मिट्टी हटाना** तथा (५) तीन बार **अभ्युक्षण** करना (जल छिड़कना)।

अग्न्याधेय (अग्न्याधान)

गौतम (८।२०-२१) ने सात हविर्यज्ञों एवं सात सोमसंस्थाओं के नाम गिनाये हैं। अग्न्याधेय सात हविर्यज्ञों में प्रथम हविर्यज्ञ है। यह एक इष्टि है। 'इष्टि' शब्द का अर्थ है ऐसा यज्ञ जो यजमान (याज्ञिक) एवं उसकी पत्नी द्वारा

४. तैत्तिरीय संहिता (१।६।८।२-३) के मत से दस यज्ञायुध ये हैं—"यो वै दश यज्ञायुधानि वेद मुखतोस्य यज्ञः कल्पते स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं च दृषच्चोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि।" इस विषय में शतपथब्राह्मण (१।१।१।२२) एवं कात्या० (२।३।८) भी द्रष्टव्य हैं। इन मुख्य दस यज्ञपात्रों के अतिरिक्त अन्य हैं—जुहू, उपभृत्, स्रुक्, ध्रुवा, प्राशित्रहरण, इडापात्र, मेक्षण, पिष्टोद्वपनी, प्रणीताप्रणयन, आज्यस्थाली, वेद, दारुपात्री, योक्त्र, वेदपरिवासन, धृष्टि, इध्मप्रव्रश्चन, अन्वाहार्यस्थाली, मदन्ती, फलीकरणपात्र, अन्तर्धानकट (देखिए कात्या० १।३।३६ पर भाष्य, जिसमें इन उपकरणों के आकार, नाम एवं जिनसे ये बनते थे उन वस्तुओं के नाम आदि दिये हुए हैं)। पवित्र अग्नियों को प्रज्वलित करने वाला जब मर जाता है तो वह वैदिक अग्नियों एवं सारे यज्ञपात्रों (यज्ञायुधों) के साथ जला दिया जाता है (आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च—शबर, जैमिनि ११।३।३४)। इसी को पात्रों का प्रतिपत्तिकर्म कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पात्र व्यक्ति के शव के विभिन्न अंगों पर (यथा जुहू दाहिने हाथ में, उपभृत् बायें हाथ में, ध्रुवा धड़ में आदि) रखे जाते हैं और उन्हें शव के साथ भस्म कर दिया जाता है। इस प्रकार यज्ञपात्रों की अन्तिम प्रतिपत्ति या 'गति' होती है।

५. अग्न्याधेय के पूर्ण विवेचन के लिए देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।२-१०, १।२।१; शतपथ ब्राह्मण २।१ एवं २; आश्व० २।१।९; आप० ५।१-२२; कात्या० ४।७-१०; बौधा० २।६-२१।

चार पुरोहितों की सहायता से सम्पादित होता है। 'इष्टि' का नमूना आगे चलकर दर्श-पूर्णमास के साथ उपस्थित किया जायगा। अग्न्याधेय में दो दिन लग जाते हैं। प्रथम दिन (जिसे **उपवसथ** कहा जाता है) आरम्भिक कृत्यों में निकल जाता है और दूसरा दिन प्रमुख कृत्यों के सम्पादन में बीत जाता है। इसका सम्पादन दो बार किया जाता है; (१) यह निम्नोक्त सातों नक्षत्रों में किसी को उपयुक्त मानकर किया जा सकता है, यथा—कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, विशाखा, उत्तरा भाद्रपदा। आपस्तम्ब ने अन्य नक्षत्रों के भी नाम दिये हैं, यथा—हस्त, चित्रा आदि, तथा कुछ ऐसे नक्षत्रों के भी नाम हैं जिनमें विशिष्ट फलों की अभिकांक्षा लेकर यजमान इस इष्टि का सम्पादन कर सकता है (५।३।३-१४)। शतपथब्राह्मण (२।१।२।१७) एवं आप० (५।३।१३) के मत से क्षत्रिय को चित्रा नक्षत्र में पवित्र अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। (२) द्वितीय बार अग्न्याधेय ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा उपकृष्टों (जो द्विजाति नहीं हैं, किन्तु वैदिक यज्ञ कर सकते हैं, आश्व० २।१। इन्हें बढ़ईगिरी करने वाला वैश्य भी कहा जाता है) द्वारा क्रम से वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा या पतझड़ में किसी पर्व के दिन किया जा सकता है। किन्तु ऋतुओं के चुनाव में उपर्युक्त वर्णित नक्षत्रों को ध्यान में रखना आवश्यक है। सम्पादन-काल के लिए देखिए आप० (५।३।१७-२०), जैमिनि (२।३-४), तै० ब्रा० (१।१।२), शतपथ० (३।१।२।१९ एवं ११।१।१।७)। कठिनाई उपस्थित होने पर अग्न्याधेय किसी भी ऋतु में सम्पादित हो सकता है। यदि किसी ने सोमयज्ञ करने की ठान ली है तो उसे ऋतु या नक्षत्र की बाट जोहने की आवश्यकता नहीं है। अग्न्याधेय करने वाले को न तो बहुत छोटा और न बहुत बूढ़ा होन चाहिए।

अग्न्याधेय का तात्पर्य है गार्हपत्य एवं अन्य अग्नियों को स्थापित करने के लिए प्रज्वलित अंगारों को विशिष्ट मन्त्रों के साथ किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा किसी विशिष्ट काल एवं स्थल में रखना। अरणियों (लकड़ी के दो कुन्दों) के लाने से लेकर पूर्णाहुति तक के बहुत-से कृत्य अग्न्याधेय में सम्मिलित हैं। पूर्णाहुति के उपरान्त कृत्य करने वाला व्यक्ति आहिताग्नि की कोटि (जिसने वैदिक अग्नियाँ प्रज्वलित कर ली हैं) में आ जाता है। अग्न्याधेय सभी यज्ञ-सम्बन्धी कृत्यों के लिए सम्पादित होता है, न कि केवल दर्शपूर्णमासेष्टि करने के लिए किया जाता है (जैमिनि ३।६।१४-१५, ११।३।२)। 'यो अश्वत्थः शमीगर्भः' नामक मन्त्र के साथ शमी वृक्ष की छाया में उगने वाले अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष की दो अरणियों को यजमान अध्वर्यु के द्वारा घर लाता है (आश्व० २।१।१७)। इसके उपरान्त अरणियों के छाँटने एवं उनकी लम्बाई आदि की विधियाँ बतायी गयी हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव के कारण छोड़ रहे हैं। अध्वर्यु वेदी पर सात भौमिक एवं सात काष्ठ-सम्बन्धी उपकरण लाता है या प्रत्येक की पाँच वस्तुएँ या आठ भौमिक उपकरण एकत्र करता है। आठ भौमिक पदार्थ ये हैं—बालू, क्षार मिट्टी, चूहे के बिल की मिट्टी, वल्मीक की मिट्टी, न सूखने वाले जलाशय के तल की मिट्टी, सूअर से खोदी गयी मिट्टी, कंकड़ एवं सोना (आप० ५।१।४)। सात काष्ठ-सम्बन्धी पदार्थ ये हैं—अश्वत्थ, उदुम्बर, पर्ण (पलाश), शमी, विकंकत, विद्युत, अन्धड़ या तुषार से मारे हुए वृक्ष के टुकड़े एवं पान की एक पत्ती। बौधा० (२।१२) ने इन पदार्थों को दूसरे ढंग से वर्णित किया है। यजमान देवयजन (पूजा) के लिए एक उच्च स्थल का निर्माण करता है जो पूर्व की ओर ढालू होता है, उस पर जल छिड़कता है और मन्त्रोच्चारण आदि करता है। उत्तर या पूर्व की ओर प्रमुख बाँस की नोक झुकाकर वेदी के ऊपर एक छाजन (मण्डप) कर दिया जाता है। छाजन के मध्य के एक ओर गार्हपत्य अग्नि का आयतन (स्थल) रहता है, गार्हपत्य अग्नि के पूर्व आहवनीय अग्नि रहती है जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए क्रम से गार्हपत्य अग्नि से आठ, ग्यारह एवं बारह प्रक्रमों (एक प्रक्रम दो या तीन पदों के बराबर होता है) की दूरी पर रहती है, या सभी के लिए २४ पदों की दूरी होनी चाहिए। दक्षिणाग्नि गार्हपत्य के निकट दक्षिण-पश्चिम दिशा में गार्हपत्य एवं आहवनीय की दूरी की तिहाई दूरी पर होती है। बड़े-बड़े यज्ञों में आहवनीय एवं गार्हपत्य नामक अग्नियों के लिए पृथक्-पृथक मण्डप बने होते हैं किन्तु दर्शपूर्णमास ऐसे साधारण यज्ञों में तीनों प्रकार की

अग्नियाँ एक ही मण्डप के भीतर प्रतिष्ठित की जाती हैं। इन तीन अग्नियों में केवल वैदिक क्रियाएँ या कृत्य ही सम्पादित हो सकते हैं, उनमें साधारण भोजन नहीं पकाया जा सकता और न अन्य लौकिक उपयोग में आने वाले कार्य ही किये जा सकते हैं (जैमिनि १२।२।१-७)। गार्हपत्य अग्नि को प्राजहित अग्नि भी कहा जाता है (जैमिनि १२।१।१३) तथा दक्षिणाग्नि को अन्वाहार्यपचन, क्योंकि इसी पर चावल पकाकर अमावस्या के दिन 'पिण्ड-पितृयज्ञ' किया जाता है।

यजमान सिर मुंड़ाकर एवं नख कटाकर स्नान करता है। उसकी पत्नी भी मुंडन के सिवा वही करती है। पति-पत्नी दो-दो रेशमी वस्त्र धारण करते हैं, जो अग्न्याधेय यज्ञ के उपरान्त अध्वर्यु को दे दिये जाते हैं। यजमान को अग्न्याधेय करने का संकल्प करना चाहिए और अपने पुरोहितों का चुनाव (ऋत्विग्-वरण) उचित मन्त्रों के उच्चारण के साथ उनके हाथों को स्पर्श करके करना चाहिए तथा उन्हें मधुपर्क देना चाहिए (आप० १०।१।१३-१४)। दोपहर के उपरान्त (अपराह्ण में) जब सूर्य वृक्षों के ऊपर चला जाय तो अध्वर्यु को चाहिए कि वह औपासन (गृह्याग्नि) का एक अंश ले आये और ब्राह्मौदनिक (जो ब्रह्मौदन के लिए तैयार किया जाता है) नामक अग्नि गार्हपत्य अग्नि वाले स्थल के पश्चिम की ओर प्रज्वलित करे या घर्षण से ही अग्नि उत्पन्न करे। इसके उपरान्त उसे स्थण्डिल (बालू आदि की वेदी) बनाना चाहिए और उस पर पश्चिम से पूर्व तीन रेखाएँ तथा दक्षिण से उत्तर तीन रेखाएँ खींच देनी चाहिए। स्थण्डिल पर जल छिड़कने के उपरान्त औपासन अग्नि से जलते हुए कोयले लाकर खींची हुई रेखाओं पर रख देने चाहिए। यदि वह सम्पूर्ण औपासन अग्नि उठा लेता है तो उसे चाहिए कि उदुम्बर की दो पत्तियों में एक पर जौ की रोटी तथा दूसरी पर चावल की रोटी लेकर उन्हें ब्राह्मौदनिक अग्नि के स्थल पर रख दे (जौ की रोटी को पश्चिम तथा चावल वाली को पूर्व की ओर) और तब उन पर अग्नि रखे। अध्वर्यु रात्रि में ब्राह्मौदनिक अग्नि के पश्चिम बैल की लाल खाल पर, जिसका मुख पूर्व की ओर रहता है और बाल वाला भाग ऊपर रहता है, या बाँस के बरतन में चावल की चार थालियाँ रखता है। यह कार्य मन्त्रों के साथ या मौन रूप से ही किया जाता है। वह चार बरतनों में पानी के साथ चावल या जौ पकाता है। पके भोजन (ब्रह्मौदन) से दर्वी (करछुल) द्वारा कुछ निकालकर अग्नि को देता है और मन्त्रोच्चारण करता है (ऋ० ५।१५।१, तै० ब्रा० १।२।१)। उसे "यह ब्रह्मा के लिए है, मेरे लिए नहीं" कहना चाहिए। चार थालियों में पका भोजन रखकर तथा उस पर पर्याप्त मात्रा में घी डालकर उन्हें (थालियों को) ऋषियों के वंशज चार पुरोहितों को देता है। शेष भोजन (ब्रह्मौदन) बरतनों से निकालकर तथा उस पर शेष घी गिराकर तथा उसमें चित्रिय अश्वत्थ की एक बित्ता वाली गीली तीन समिधाओं को पत्तियों सहित डुबाकर अग्नि में डाल दिया जाता है। ऐसा करते समय ब्राह्मणों के लिए तीन गायत्रियाँ (अग्नि को सम्बोधित कर), क्षत्रियों के लिए तीन त्रिष्टुप् तथा वैश्यों के लिए तीन जगतियाँ कही जाती हैं (आप० ५।६।३)।

जिस समय अग्नि में समिधा डाली जाती है, यजमान द्वारा अध्वर्यु को तीन बछड़े तथा उतने ही बछड़े ब्रह्मौदन खाने वाले अन्य सभी ब्राह्मणों को दिये जाते हैं। अग्न्याधान की तिथि के पूर्व एक वर्ष तक बछड़ों के दान एवं समिधा-आहुति के साथ इस प्रकार ब्रह्मौदन सम्पादित किया जाता है। अग्न्याधेय के दिन से १२, ३, २ या १ दिन पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को, जो तीन पवित्र अग्नियाँ स्थापित करना चाहता है, इस प्रकार की समिधाओं की आहुति देनी पड़ती है। यजमान कुछ व्रत करता है, यथा––मांस-त्याग, ब्रह्मचर्य, घर की अग्नि किसी को न देना, केवल दूध या भात पर तीन दिनों तक रहना, सत्य बोलना, पृथ्वी पर सोना आदि। यदि किसी कारणवश यजमान वर्ष (या १२ दिन आदि) में ब्रह्मौदन के उपरान्त अग्न्याधेय नहीं करता है तो उसे पुनः ब्रह्मौदन पकाना पड़ता है तथा समिधाएँ डालनी पड़ती हैं, तब कहीं वह अग्न्याधान सम्पादित कर पाता है। अग्न्याधान-दिन के पूर्व की रात्रि में अध्वर्यु तथा अन्य पुरोहित भी कुछ व्रत करते हैं, यथा—मांस-त्याग तथा संभोग से दूर रहना। उस रात्रि काले धब्बों वाली एक बकरी गार्हपत्य अग्नि के लिए

बने स्थल के उत्तर बाँध रखी जाती है। उस रात्रि में यजमान मौन रहता है और अन्य लोग उसे बाँसुरी-वीणा आदि बजा-कर जगाये रखते हैं (विकल्प भी है, वह मौन तथा जगा नहीं भी रह सकता है)। यजमान रात्रि भर जागकर ब्राह्मौ-दनिक अग्नि में लकड़ियाँ डाला करता है। यदि वह रात्रि भर जागना न चाहे तो एक बार ही बहुत-सी लकड़ियाँ डाल देता है। प्रातःकाल अध्वर्यु अग्नि में दो अरणियाँ गर्म करता है और मन्त्रोच्चारण करता है (तै० ब्रा० १।२।१)। इसके उपरान्त ब्राह्मौदनिक अग्नि बुझा दी जाती है और दोनों अरणियों का आवाहन किया जाता है। अध्वर्यु उन्हें यजमान को दे देता है। यह सब मन्त्रोच्चारण के साथ होता है। इसके उपरान्त अध्वर्यु गार्हपत्य अग्नि के लिए स्थल की व्यवस्था करता है और उस पर जल छिड़कता है। यही क्रिया वह दक्षिणाग्नि (दक्षिण-पश्चिम दिशा में), आहवनीय, सभ्य एवं आवसथ्य नामक अग्नियों के स्थलों (आयतनों) के लिए करता है। सम्भारों (सामग्रियों) के साथ आनीत बालू के आधे भाग का एक भाग गार्हपत्य तथा दूसरा भाग दक्षिणाग्नि के स्थलों पर बिखेर दिया जाता है। शेष बालू को तीन भागों में कर आहवनीय, सभ्य तथा आवसथ्य नामक अग्नियों के स्थलों में बिखेर दिया जाता है। यदि सभ्य एवं आवसथ्य अग्नियों को जलाना न हो तो बालू को आहवनीयाग्नि के स्थल पर रख दिया जाता है। इसी प्रकार अन्य सामग्रियाँ (सम्भार) अग्नियों के स्थलों पर रख दी जाती हैं। इन कृत्यों के साथ यथोचित मन्त्रों का उच्चारण भी होता रहता है। विभिन्न स्थलों पर चूने के प्रस्तरखण्डों एवं ढेलों को रखकर वह अपने शत्रु का स्मरण करता है। ब्राह्मौदनिक अग्नि की राख को हटाकर वह वहाँ दोनों अरणियों को रखकर घर्षण से अग्नि उत्पन्न करता है। जब सूर्य पूर्व में निकलने को रहता है, उसके पूर्व ही वह ऊपर की अरणी को नीचे रख देता है और 'दश-होतृ' नामक सूक्त पढ़ता है। घर्षण से अग्नि प्रज्वलित करते समय एक श्वेत या लाल घोड़ा (जिसकी आँखों से पानी न गिरता हो, जिसके घुटने काले हों या जिसके अण्डकोष पूर्णरूपेण विकसित हों) उपस्थित रहना चाहिए। उस समय 'शक्ति-सांकृति' का गान होता है। जब धूम निकलता है तो गाथिन कौशिक साम गाया जाता है और 'अरण्योर्निहितो' (ऋ० ३।२९।२) का उच्चारण किया जाता है।

अग्नि प्रज्वलित होते ही अध्वर्यु 'उपावरोह जातवेदः' (तै० ब्रा० २।५।८) नामक मन्त्र का उच्चारण कर अग्नि का आह्वान करता है। इसके उपरान्त अध्वर्यु यजमान से 'चतुर्होतृ' (तै० आ० ३।१-५) नामक मन्त्र पढ़वाता है। अग्नि उत्पन्न हो जाने के उपरान्त यजमान अध्वर्यु को गाय की दक्षिणा देता है। यजमान अग्नि के ऊपर साँस लेता है और 'प्रजापतिस्त्वा' कहता है (तै० सं० ४।२।९।१)। अध्वर्यु अपने जुड़े हाथों को नीचे झुकाकर अग्नि के ऊपर रखता है और लकड़ियों से उसे और प्रज्वलित करता है (तै० सं० ४।३।६।२)। उस समय 'रथन्तर' एवं 'यज्ञायज्ञिय' नामक सामों का गान होता रहता है और अध्वर्यु सम्भारों पर गार्हपत्य अग्नि प्रतिष्ठापित करता है। यजमान के गोत्र एवं प्रवर के अनुसार मन्त्रपाठ किया जाता है। 'धर्मशिरस' के मन्त्रों का भी पाठ किया जाता है।

आहवनीय अग्नि की प्रतिष्ठा पूर्व दिशा में सूर्य के आधे बिम्ब के निकलते-निकलते कर दी जाती है। अध्वर्यु गार्हपत्य पर वैसी लकड़ियाँ जलाता है, जिन्हें वह आगे ले जाता है। उन्हें वह बालू से भरे बरतन में ही रखकर ले जाता है और यजमान से 'अग्नितनु' सूक्त का पाठ कराता है। इसके उपरान्त अग्नि को आहवनीय के स्थल पर रखवाता है।

इसके पश्चात् आग्नीध्र पुरोहित गृह्याग्नि लाता है या घर्षण से उत्पन्न करता है और घुटनों को उठाकर बैठता है तथा दक्षिणाग्नि की प्रतिष्ठा करता है। उस समय यज्ञायज्ञिय साम का गायन होता रहता है। अनेक सूक्तों के पाठ के उपरान्त दक्षिणाग्नि सम्भारों पर रख दी जाती है (आप० ५।१३।८)।

दक्षिणाग्नि की प्रतिष्ठा के लिए अग्नि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के गृह से ली जाती है, किन्तु यदि यजमान समृद्धि का इच्छुक है तो जिसके घर से वह अग्नि लायी जाती है उसे समृद्धिशाली होना चाहिए। अग्नि लाने के उपरान्त यजमान उस घर में फिर कभी भोजन नहीं कर सकता। बौधायन (२।१७) के अनुसार अग्नि गार्हपत्य

अग्नि से और आश्वलायन के अनुसार वैश्य के घर से या किसी धनिक के घर से लायी जा सकती है या घर्षण से उत्पन्न की जा सकती है। गार्हपत्याग्नि की वेदी वृत्ताकार, आहवनीयाग्नि की वर्गाकार तथा दक्षिणाग्नि की अर्धवृत्ताकार होती है।

उपर्युक्त तीनों पवित्र अग्नियों की प्रतिष्ठा के विषय में बहुत विस्तार से वर्णन पाया जाता है जिसे स्थानाभाव के कारण यहाँ छोड़ा जा रहा है।

सभ्य एवं आवसथ्य नामक अग्नियों की प्रतिष्ठा गृह्याग्नि से या घर्षण से उत्पन्न अग्नि से की जाती है। इनकी स्थापना गोत्र के अनुसार कृत्य करके आहवनीयाग्नि से अग्नि लेकर भी की जाती है। अध्वर्यु इनमें प्रत्येक अग्नि पर अश्वत्थ की तीन समिधाएँ रखता है और ऋग्वेद के तीन मन्त्रों (९।६६।१९, २० एवं २१) का उच्चारण करता है, इसी प्रकार वह शमी की तीन समिधाएँ घृत के साथ संयुक्त कर अन्य तीन मन्त्रों (ऋ० ४।५८।१-३) के साथ उन अग्नियों पर रखता है। यदि ये दोनों अग्नियाँ नहीं प्रज्वलित की जातीं तो समिधा आहवनीयाग्नि पर ही रख दी जाती हैं।

इसके उपरान्त अध्वर्यु पूर्णाहुति देता है, यजमान दान करता है, मन्त्रोच्चारण करता है और पाँचों (या केवल तीन) अग्नियों की पूजा करता है। यदि यजमान क्षत्रिय है तो वहीं जुआ खेला जाता है। चारों पुरोहितों को वस्त्र, एक गाय एवं एक बैल, एक नये रथ का दान किया जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मा को एक बकरी, एक पूर्णपात्र एवं एक घोड़ा, अध्वर्यु को एक बैल तथा होता को एक धेनु का दान किया जाता है। यजमान की शक्ति के अनुरूप दान की संख्या एवं मात्रा में अधिकता हो सकती है।

कात्यायन० (४।१०।१६) के मत से वैदिक अग्नियों की प्रतिष्ठापना के उपरान्त यजमान १२ रात्रियों या ६ रात्रियों या ३ रात्रियों तक ब्रह्मचर्य से रहता है और अग्नियों के पास पृथिवी पर ही शयन करता है तथा अग्नियों में दूध का होम करता है। बौधायन० (२।५०) ने तो १२ दिनों तक के लिए कुछ व्रतों की भी व्यवस्था दी है।

पुनराधेय—वर्ष के भीतर ही यदि व्यक्ति वैदिक अग्नियों की प्रतिष्ठापना के उपरान्त किसी भयंकर रोग (यथा जलोदर) से पीड़ित हो जाता है, या दरिद्र हो जाता है, या उसका पुत्र मर जाता है, या उसके निकट-सम्बन्धी कष्ट पाने लगते हैं या शत्रुओं द्वारा बन्दी बना लिये जाते हैं, या वह स्वयं लूला-लँगड़ा हो जाता है, या वह समृद्धि का इच्छुक होता है या यश-कीर्ति कमाना चाहता है, तो पुनः अग्नियाँ प्रज्वलित करता है। अग्नि प्रज्वलित करने की विधि अग्न्याधेय की भाँति ही है, केवल कुछ अन्तर है, तथा अग्नियों को कुश घास दी जाती है न कि लकड़ी या ईंधन, दोनों ही आज्यभाग केवल अग्नि के लिए होते हैं न कि यज्ञ की भाँति अग्नि एवं सोम दोनों के लिए। पुनराधेय वर्षा ऋतु एवं दोपहर में किया जाता है। अन्य अन्तरों को स्थानाभाव के कारण यहाँ उपस्थित नहीं किया जा रहा है (देखिए तै० सं० १।५।१-४, तै० ब्रा० १।३।१, शतपथ ब्राह्मण २।२।३, आश्व० २।८।४-१४, आप० ५।२६-२९, कात्या० ४।११, बौधा० ३।१-३)। जैमिनि (६।४।२६-२७) के मत से पुनराधेय एक प्रकार का प्रायश्चित्त भी है जो गार्हपत्याग्नि एवं आहवनीयाग्नि के बुझ जाने या समाप्त हो जाने के प्रायश्चित्त स्वरूप किया जाता है। किन्तु जैमिनि (१०।३। ३०-३३) के मत से जब किसी विशिष्ट इच्छा से उत्पन्न पुनराधेय किया जाता है तो अग्न्याधेय की दक्षिणा न देकर दूसरे प्रकार की दक्षिणा दी जाती है।

अग्निहोत्र

गौतम (८।२०) द्वारा निर्दिष्ट सात हविर्यज्ञों में अग्निहोत्र का स्थान दूसरा है। अग्न्याधेय के सायंकाल से ही गृहस्थ को अग्निहोत्र करना पड़ता है। अग्निहोत्र प्रातः एवं सायं दो बार जीवनपर्यन्त या संन्यासी होने तक या जैसा कि

शतपथ ब्राह्मण ने लिखा है, मृत्यु तक करना पड़ता है।[६] सत्याषाढ (३।१) के मत से प्रत्येक द्विज के लिए तीनों वैदिक अग्नियों की स्थापना के उपरान्त अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास नामक यज्ञ करना अनिवार्य है, यहाँ तक कि रथकारों तथा निषादों को भी ऐसा करना चाहिए, किन्तु इस अन्तिम नाम पर अन्य सूत्रकारों ने अपनी सहमति नहीं दी है। जैमिनि (६।३।१-७ एवं ८-१०) के मत से अग्निहोत्र अनिवार्य है, अतः वे लोग भी जो सम्पूर्ण विस्तार के साथ इसे सम्पादित नहीं कर सकते, इसे कर सकते हैं, किन्तु उन लोगों को जो किसी इच्छा की पूर्ति के लिए इसे करना चाहते हैं, इसे सम्पूर्णता के साथ सम्पादित करना चाहिए। बहुत-से सूत्रों में मन्त्रों एवं विस्तार के विषय में मतभेद पाया जाता है। कुछ लोगों के मत से गृहस्थ को सभी वैदिक अग्नियाँ प्रज्वलित रखनी चाहिए (कात्या० ४।१३।५), कुछ लोगों के अनुसार केवल गार्हपत्याग्नि को ही सतत रखना चाहिए (आप० ६।२।१२), किन्तु कुछ लोगों के मत से यदि अग्न्याधेय के समय दक्षिणाग्नि अरणि-मन्थन से उत्पन्न कर स्थापित की गयी हो तो उसे सदा के लिए रखना चाहिए। गृहस्थ अध्वर्यु द्वारा गार्हपत्याग्नि से आहवनीयाग्नि मँगाता है और अध्वर्यु यह कार्य प्रातः एवं सायं करता है। किन्तु यदि यजमान यह कार्य प्रति दिन करता है तो उसे अध्वर्यु की कोई आवश्यकता नहीं है। आश्व० (२।२।१) के मत से प्रति दिन के अग्निहोत्र में दक्षिणाग्नि कई प्रकार से प्राप्त की जा सकती है, यथा वैश्य के घर से या किसी धनिक के घर से या घर्षण से, या स्वयं सतत रूप में प्रज्वलित रखी जा सकती है। अन्य विस्तार के लिए देखिए आश्व० (२।२।३ एवं ६), आप० (६।१।७), बौधा० (३।४)।

गृहस्थ को प्रज्वलित गार्हपत्याग्नि से एक बरतन में जलते हुए अंगार लेकर आहवनीयाग्नि के पास मन्त्रोच्चारण (देवं त्वा देवेभ्यः श्रिया उद्धरामि) के साथ जाना चाहिए और पूर्व की ओर जाते समय अन्य मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए, यथा "मुझे पाप से ऊपर उठाइए....जो भी पाप मैंने जान-अनजान में किये हों, उनसे बचाइए।" दिन के पापों के लिए सायंकाल में तथा रात्रि के पापों के लिए प्रातःकाल में प्रार्थना की जाती है। प्रातः एवं सायं सूर्याभिमुख होकर अग्निहोत्र किया जाता है। कात्या० (४।१३।३) के अनुसार प्रातःकाल का अग्निहोत्र सूर्योदय के तथा सायंकाल का सूर्यास्त के पूर्व हो जाना चाहिए, किन्तु आश्वलायन के मत से अग्निहोत्र उदयास्त के उपरान्त ही करना चाहिए। इस विषय में प्राचीन काल से ही दो मत चले आ रहे हैं; कुछ लोगों ने सूर्योदय के पूर्व और कुछ लोगों ने सूर्योदय के उपरान्त अग्निहोत्र करने की व्यवस्था दी है। ऐतरेय ब्राह्मण (२४।४।६) एवं कौषीतकिब्राह्मण (२।९) भी इस विषय में अवलोकनीय हैं। आप० (६।४।७-९) ने इस विषय में चार मतों का उद्घाटन किया है; अग्निहोत्र प्रातः एवं सायं अर्थात् रात्रि एवं दिन के संधिकाल में करना चाहिए, या तब जब प्रथम तारा आकाश में दिखाई पड़े, या रात्रि के प्रथम या द्वितीय प्रहर में, या प्रातः जब सूर्य के मण्डल का एक अंश दिखाई पड़े या जब सूर्य ऊपर आ चुका हो। गृहस्थ को सन्ध्या-पूजा के उपरान्त ही अग्निहोत्र करना चाहिए। गृह्याग्नि में होम अग्निहोत्र के पूर्व होना चाहिए कि उसके

६. तै० ब्रा० (२।१।२) में अग्निहोत्र शब्द की व्युत्पत्ति की गयी है। यह वह कृत्य है जिसमें अग्नि के लिए होम किया जाता है। सायण का कहना है—अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन्कर्मणि इति बहुव्रीहिव्युत्पत्त्याऽग्निहोत्रमिति कर्मनाम। अग्नये होत्रमिति तत्पुरुषव्युत्पत्त्या हविर्नाम। देखिए जैमिनि (१।४।४), जिसमें आया है—"अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः", यहाँ 'अग्निहोत्रं' एक कृत्य का नाम है। शतपथ ब्राह्मण (१२।४।१।१) में आया है— दीर्घसत्रं ह वा एत उपयन्ति येऽग्निहोत्रं जुह्वत्येतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वाव ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा।" सत्याषाढ (३।१) का कहना है--"आधानादग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च नियतौ। निषादरथकारयोराधानादग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च नियम्येते।"

उपरान्त ? इस विषय में मतभेद है। कुछ लोगों के मत से अग्निहोत्र के पूर्व गृह्याग्नि में होम होना चाहिए और कुछ लोग कहते हैं कि वैदिक अग्निहोत्र के उपरान्त ही गृह्याग्नि में होम होना चाहिए।[७] सन्ध्यावन्दन के उपरान्त गृहस्थ या तो गार्हपत्याग्नि एवं दक्षिणाग्नि के बीच में आहवनीयाग्नि की ओर जाता है या इन दोनों अग्नियों के स्थलों के दक्षिण ओर के मार्ग से आहवनीयाग्नि की प्रदक्षिणा कर दक्षिण में अपने स्थान पर बैठ जाता है और उसकी पत्नी भी अपने स्थान पर बैठ जाती है (कात्या० ४।१३।१२ एवं ४।१५।२, आप० ६।५।३ तथा कात्या० ४।१३।१३ एवं आप० ६।५।१-२)। गृहस्थ 'विद्युदसि विद्या मे पाप्मानमृतात्सत्यमुपैमि मयि श्रद्धा' (आप० ६।५।३) नामक मन्त्र के साथ आचमन करता है, उसकी पत्नी भी आचमन करती है।[८] इसके उपरान्त पति एवं पत्नी अग्निहोत्र होने तक मौन साधे रहते हैं। बिना पत्नी वाले गृहस्थ भी दोनों समय अग्निहोत्र सम्पादित कर सकते हैं (ऐतरेयब्रा० ३२।८)। तीनों अग्नियों (गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिण) के लिए परिसमूहन (गीले हाथ से उत्तर पूर्व से उत्तर तक पोंछने) का कार्य अध्वर्यु ही करता है। अध्वर्यु ही आहवनीयाग्नि के चारों ओर दर्भ बिछाता है अर्थात् परिस्तरण करता है। पूर्व एवं पश्चिम वाले कुशों की नोक दक्षिण की ओर तथा उत्तर एवं दक्षिण वालों की पूर्व की ओर होती है। परिस्तरण-कृत्य पूर्व से प्रारम्भ कर क्रम से दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर की ओर किया जाता है। इसी प्रकार अध्वर्यु अन्य दोनों वैदिक अग्नियों (गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि) की चारों दिशाओं में दर्भ बिछा देता है। दाहिने हाथ में जल लेकर वह आहवनीयाग्नि के चतुर्दिक् (उत्तरपूर्व से आरम्भ कर पुनः उत्तर दिशा में समाप्त कर) छिड़कता है। इसके उपरान्त वह पश्चिम की ओर से अजस्र धारा गिराता आहवनीयाग्नि से गार्हपत्याग्नि तक चला जाता है। इसके उपरान्त पर्युक्षण-कृत्य किया जाता है जो गार्हपत्य से आरम्भ कर बायीं ओर से दाहिनी ओर बढ़कर दक्षिणाग्नि तक जल छिड़कने के रूप में अभिव्यक्त होता है। या सर्वप्रथम गार्हपत्याग्नि के चारों ओर जल छिड़का जा सकता है और तब दक्षिणाग्नि के चारों ओर। इसके उपरान्त गार्हपत्य से पूर्व की ओर आहवनीय के चतुर्दिक् जल की धारा गिरायी जाती है (आश्व० २।२।१४)। मन्त्रोच्चारण के विषय में देखिए आश्व० (२।२।११-१३), कात्या० (४।१३।१६-१८) एवं आप० (६।५।४)।

जो व्यक्ति केवल पवित्र कर्तव्य समझकर अग्निहोत्र करता है उसे गाय के दूध से होम करना चाहिए, किन्तु जो व्यक्ति कई ग्राम या अधिक भोजन या शक्ति या यश चाहता है, उसे चाहिए कि वह यवागू, भात, दही या घृत से होम करे (आश्व० २।३।१-२)। इसके उपरान्त गाय दुहने वाले व्यक्ति को आज्ञा दी जाती है। गाय यज्ञ-स्थल की दक्षिण दिशा में खड़ी रखनी चाहिए और उसका बच्चा बछड़ा होना चाहिए। गाय दुहते समय बछड़े को गाय के दक्षिण में रखना चाहिए। पहले बछड़ा दूध पी ले तब उसे हटाकर दुहना चाहिए। गाय को दुहने वाला शूद्र नहीं होना चाहिए

७. संध्यावन्दनानन्तरं पूर्वमग्निहोत्रहोमस्ततः स्मार्तेऽग्नौ। तदुक्तम्—होमं वैतानिके कृत्वा स्मार्तं कुर्याद् विचक्षणः। स्मृतीनां वेदमूलत्वात्स्मार्तं केचित्पुरा विदुः॥ इति। कात्या० ४।१३।१२ का भाष्य; चन्द्रोदय में उद्धृत भरद्वाज। देखिए आचाररत्न (पृ० ५२)।

८. कात्या० (४।१३) के भाष्य में आया है—उपवेशनव्यतिरिक्तं पत्नी किमपि न करोतीति संप्रदायः। तच्च साधुतरम्। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों की यज्ञ-कृत्य-सम्बन्धी सारी महत्ता क्रमशः विलीन होती चली गयी और वे अब यज्ञादि कर्मों में पतियों की बगल में बैठी सारे कृत्यों को मौन रूप से देखती रहती हैं। अब तो केवल यजमान एवं पुरोहित मात्र वाचाल रहते हैं, स्त्रियाँ मूक बनी गठरी-सी बैठी रहती हैं। जैमिनि (६।१।१७-२१) ने लिखा है कि यज्ञ-सम्पादन में पति एवं पत्नी को एक-दूसरे से सहयोग करना चाहिए, किन्तु पुनः इसी सूत्र में आया है (६।१।२४) कि पत्नी यज्ञ के सारे कार्य नहीं कर सकती, वह केवल उतना ही बोलेगी जिसके लिए पद्धति में छूट है।

(कात्या० ४।१४।१), किन्तु आप० (६।३।११-१४) ने ऐसा प्रतिबन्ध नहीं रखा है। बौधा० (३।४) के मत से गाय दुहने वाला ब्राह्मण ही होना चाहिए। गाय दुहने के विषय में भी बहुत-से नियम बने हैं (शतपथ ब्रा० ३।७, तै० ब्रा० २।१।८)। सूर्यास्त होते ही दुहना चाहिए (आप० ६।४।५)। किसी आर्य द्वारा निर्मित मिट्टी के बरतन में ही दूध दुहा जाना चाहिए। पात्र चक्र पर नहीं बना रहना चाहिए। उसका मुँह बड़ा तथा घेरा वृत्ताकार या ढालू नहीं होना चाहिए, बल्कि सीधा खड़ा (कात्या० ४।१४।१, आप० ६।३।७)। इसको अग्निहोत्रस्थाली कहा जाता है (आप० ६।३।१५)। अध्वर्यु गार्हपत्याग्नि से जलती हुई अग्नि लेकर (दूध उबालने के लिए) उसके उत्तर अलग स्थल पर रखता है। तब वह गाय के पास जाकर दूधपात्र को उठाकर आहवनीयाग्नि के पूर्व रखकर गार्हपत्याग्नि के पश्चिम में बैठता है और पात्र को गर्म करता है। वह अतिरिक्त दर्भ लेकर उसे जलाकर दूध के ऊपर प्रकाश करता है। तब वह स्रुव से जल की कुछ बूंदें खौलते हुए दूध में छिड़कता है (आश्व० २।३।३ एवं ५)। इसके उपरान्त वह पुनः प्रयुक्त दर्भ को जलाकर गर्म दूध के ऊपर प्रकाश करता है। यह तीन बार किया जाता है। दूध को खौला देना चाहिए कि केवल गर्म कर देना चाहिए, इस विषय में मतैक्य नहीं है। इसके उपरान्त तीन मन्त्रों के साथ दूध का पात्र धीरे-से उतार लिया जाता है और जलती अग्नि के उत्तर रख दिया जाता है। तब जलती हुई बची अग्नि गार्हपत्याग्नि में डाल दी जाती है। इसके उपरान्त स्रुव एवं स्रुक् को हाथ से झाड़-पोंछकर गार्हपत्याग्नि पर गर्म कर लिया जाता है। यही क्रिया पुनः की जाती है और यजमान से पूछा जाता है—"क्या मैं स्रुव से दूध निकाल सकता हूँ?" यजमान कहता है—"हाँ, निकालिए," तब अध्वर्यु दाहिने हाथ में स्रुव ले तथा बायें हाथ में अग्निहोत्र-हवणी लेकर उसमें दूध के पात्र से दूध निकालता है। यह कृत्य चार बार किया जाता है और स्रुव दूध के पात्र में ही छोड़ दिया जाता है। आपस्तम्ब (६।७।७-८) एवं आश्व० (२।३।१३-१४) के मतानुसार अध्वर्यु गृहस्थ का अभिमत जानते हुए स्रुव से भरपूर दूध निकालता है, क्योंकि ऐसा करने से गृहस्थ को सबसे योग्य पुत्र लाभ की बात होती है, जितना ही कम दूध स्रुव में होता जायगा उसी अनुपात में अन्य पुत्रों के लाभ की बात मानी जायगी। इसके उपरान्त अध्वर्यु एक हाथ लम्बा पलाश-दण्ड स्रुवदण्ड के ऊपर रखकर गार्हपत्याग्नि की ज्वाला के पास रखता है और स्रुव को अपनी नाक के बराबर ऊँचा रखकर आहवनीय तक ले जाता है; गार्हपत्य एवं आहवनीय की दूरी के बीच में वह स्रुव को अपनी नाभि तक लाता है, और पुनः मुख की ऊँचाई तक उठाकर आहवनीय के पास पहुँचता है और उसके पश्चिम स्रुव तथा पलाश-दण्ड की समिधा को दर्भ पर रखता है। वह स्वयं पूर्वाभिमुख हो आहवनीय की उत्तर-पूर्व दिशा में बैठता है। उसके घुटने मुड़े रहते हैं, बायें हाथ में स्रुव एवं दाहिने में समिधा लेकर वह आहवनीयाग्नि में 'रजतां त्वाग्निज्योतिषम्' (आश्व० २।३।१५) मन्त्र के साथ आहुति देता है। इसके उपरान्त वह 'विद्युदसि विद्या मे पाप्मानम्' (आप० ६।९।३, आश्व० २।७।१६) मन्त्र के साथ आचमन करता है। जब डाली हुई समिधा जलने लगती है तो वह 'ओं भूर्भुवः स्वरोम्, अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' नामक मन्त्र के साथ समिधा पर दूध की आहुति छोड़ता है। मन्त्रों के प्रयोग के विषय में कई मत हैं। इस विषय में देखिए वाजसनेयी संहिता (३।९), आप० (६।१०।३), तै० ब्रा० (२।१।२)। इसके उपरान्त वह स्रुव को कुश पर रख देता है और गार्हपत्याग्नि की ओर इस विचार के साथ देखता है—"मुझे पशु दीजिए।" पुनः वह स्रुव उठाता है और पहले से दूनी मात्रा में दूध की दूसरी आहुति देता है। इस बार मौन साधकर प्रजापति का ध्यान करके आहुति दी जाती है। यह दूसरी आहुति प्रथम आहुति के पूर्व या उत्तर में इस प्रकार दी जाती है कि दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पाये। इसके उपरान्त स्रुव में दूसरी आहुति वाले दूध से अधिक दूध लिया जाता है। तब वह स्रुक् को दो बार (आप० ६।११।३ के अनुसार तीन बार) इस प्रकार उठाता है कि अग्नि-ज्वाला उत्तर ओर घूम उठे और ऐसा करके स्रुक् को कूर्च पर रख देता है। इसके उपरान्त वह स्रुव के मुख को नीचे कर हाथ से रगड़कर स्वच्छ कर देता है और पुनः कूर्च (उत्तर वाले कुशों की नोक) की उत्तर दिशा में अपने हाथ पर लगे दूध की बूंदें पोंछकर स्वच्छ कर लेता है और "देवताओं को

प्रणाम" (कात्या० ४।१४।३०) या "तुम्हें पशु प्राप्ति के लिए" नामक शब्दों का उच्चारण करता है। आप० (६।१०।१०) ने प्रातः एवं सायंकाल के समय स्रुव को स्वच्छ करन की एक अलग विधि दी है और तै० सं० (१।१।१।१) के मन्त्र के उच्चारण की बात कही है। इसके उपरान्त हथेली को ऊपर तथा जनेऊ को प्राचीनावीत ढंग से धारण करके वह अपनी अँगुलियों को मौन रूप से "स्वधा पितृभ्यः पितॄन् जिन्व" (आप० ६।११।४) या "स्वधा पितृभ्यः" (कात्या० ४।१४।२१ एवं आश्व० २।३।२१) नामक मन्त्र के साथ दक्षिण दिशा में कुशों की नोक पर रखता है। तब वह पूर्वाभिमुख हो उपवीत ढंग से जनेऊ रखकर आचमन करता है। इसके उपरान्त वह गार्हपत्याग्नि के पास जाता है और एक समिधा खड़े-खड़े उठाता है। पुनः पूर्वाभिमुख हो गार्हपत्याग्नि की उत्तर-पश्चिम दिशा में बैठ जाता है और घुटने झुका कर गार्हपत्याग्नि में समिधा डालता है, फिर स्रुव में दूध लेकर "ता अस्य सूददोहसः" (ऋ० ८।६९।३) या कोई अन्य यथा "इह पुष्टिम् पुष्टिपतिः...पुष्टिपतये स्वाहा" नामक मन्त्र के साथ आहुति देता है। इसके उपरान्त वह कात्या० (४।१४।२४) एवं आश्व० (२।३।२७-२९) के अनुसार किसी भी विधि से दूसरी आहुति मौन रूप में या मन्त्रोच्चारण (ऋ० ९।६६।१९-२१) के साथ देता है। तब वह "अन्नादायान्नपतये स्वाहा" शब्दों के साथ दक्षिणाग्नि में स्रुव द्वारा दुग्धाहुति देता है और दूसरी आहुति मौन रूप से देता है। इसके उपरान्त वह जल स्पर्श करता है, उत्तराभिमुख होता है और अपनी एक अँगुली (कात्या० ४।१४।२६ के मत से अनामिका) से स्रुव में बचे हुए भाग को निकालकर बिना स्वर उत्पन्न किये तथा बिना दाँत के स्पर्श से चाट जाता है। वह फिर आचमन करके पुनः चाटकर आचमन करता है। इसके उपरान्त स्रुक् में बचे हुए दूध आदि को हथेली में या किसी पात्र में लेकर जीभ से चाटता है। आप० (६।११।५ एवं ६।१२।२) एवं बौधा० (३।६) में शेष को चाटने की विधि में कुछ अन्य बातें भी हैं, जिन्हें यहाँ स्थानाभाव से छोड़ा जा रहा है। इसके उपरान्त वह अपना हाथ धोता है, दो बार आचमन करता है, आहवनीयाग्नि के पास जाता है और बैठ जाता है, स्रुक् को जल से भरता है और स्रुव से जल को आहवनीयाग्नि के उत्तर "देवाँ जिन्व" शब्दों के साथ छिड़कता है। प्राचीनावीत ढंग से जनेऊ धारण करके वह यही कृत्य पुनः करता है, किन्तु इस बार आहवनीयाग्नि के दक्षिण पितरों को "पितॄन् जिन्व" नामक शब्दों के साथ जलधारा देता है। तब वह यही क्रिया "सप्तर्षीन् जिन्व" कहकर उत्तरपूर्व में ऊपर को जल से करता है। चौथी बार वह स्रुक् को भरता है, आहवनीयाग्नि के पश्चिम में रखे (कूर्च स्थान के) दर्भ को हटाता है, वहाँ तीन बार पूर्व से उत्तर की ओर जल देता है। इसके उपरान्त वह स्रुव एवं स्रुक् को एक साथ ही आहवनीयाग्नि में गर्म करता है और उन्हें अन्तर्वेदी पर रख देता है या उन्हें किसी परिचारक को दे देता है। तब वह पर्युक्षण वाले क्रम के अनुसार (आह्वनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि या गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय के क्रम से) प्रत्येक अग्नि में समिधा डालता है। इसके उपरान्त गृहस्थ अग्नि की पूजा वात्सप्र स्तुतियों के साथ करता है या वाज० (३।३७) के अनुसार "भूर्भुवः स्वः"...आदि के उच्चारण के साथ संक्षेप में पूजा करता है और एक क्षण आहवनीय के पास बैठकर मौनाराधना करता है। तब वह गार्हपत्य के पास बैठता है या लेट जाता है। इसके उपरान्त वह सभी अग्नियों के लिए पर्युक्षण करता है। तब गृहस्थ अपना मौन तोड़कर आचमन करता है और बाहर निकल जाने पर दक्षिणाग्नि का ध्यान करता है। अन्त में पत्नी भी मौन रूप में आचमन करती है।

कात्या० (४।१२।१-२) के मत से सायंकाल वात्सप्र मन्त्रों (वाज० सं० ३।२-३६ एवं शत० ब्रा० २।३।४।९-४१) के साथ आहुतियाँ देने के उपरान्त उपस्थान करना (अग्नियों की स्तुति करना) इच्छा पर आधारित है, गृहस्थ चाहे तो नहीं भी कर सकता है या केवल एक मन्त्र का उच्चारण मात्र (वाज० सं० ३।३७ एवं शतपथ ब्रा० २।४।१।१-२) कर सकता है। आप० (६।१६।४ एवं ६) ने तो उपस्थान के लिए छः मन्त्रों तथा अन्य मन्त्रों के गायन की बात चलायी है, जिसकी व्याख्या स्थानाभाव से यहाँ नहीं की जा रही है। कुछ लोग उपस्थान को केवल सायंकाल के लिए

ही उचित मानते हैं और कुछ लोग प्रातः एवं सायं दोनों समयों के लिए (देखिए आप० ६।१९।४-९ से लेकर ६।२३ तक)।

क्षत्रियों के विषय में अग्निहोत्र के लिए आप० (६।१५।१०-१३) ने कुछ मनोरम नियम दिये हैं। आपस्तम्ब का कहना है कि क्षत्रिय को आहवनीयाग्नि सदैव रखनी चाहिए, चाहे वह आह्निक अग्निहोत्र करे या न करे। जब साधारण रूप से अग्निहोत्र किया जाय तो क्षत्रिय को चाहिए कि वह अपने घर से ब्राह्मण के लिए भोजन भेजे, जिससे कि उसे अग्निहोत्र करने का पूर्ण लाभ प्राप्त हो, और अध्वर्यु को चाहिए कि वह क्षत्रिय (राजन्य) से अग्न्युपस्थान (अग्निस्तुति के मन्त्रों) का पाठ कराये। जिस राजन्य ने सोमयज्ञ कर लिया हो और जो सत्य बोलता हो, वह आह्निक अग्निहोत्र कर सकता है। आश्व० (२।१।३-५) के मतानुसार क्षत्रिय एवं वैश्य अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन अग्निहोत्र कर सकते हैं तथा अन्य दिनों में उन्हें किसी कर्तव्यपरायण ब्राह्मण के यहाँ पका हुआ भोजन भेजना चाहिए। किन्तु वह क्षत्रिय या वैश्य, जो विचार एवं शब्द (वचन) से सत्यवादी है और सोमयज्ञ कर चुका है, आह्निक (प्रति दिन वाला) अग्निहोत्र कर सकता है। लगता है, इन नियमों द्वारा क्षत्रियों एवं वैश्यों को अन्य कार्य करने के लिए अधिक समय एवं अवसर प्रदान किये गये थे। आप० (६।१५।१४-१६), आश्व० (३।४।२-४) तथा अन्य लोगों के मत से गृहस्थ को स्वयं प्रति दिन अग्निहोत्र करना चाहिए, यदि वह ऐसा न कर सके तो कम-से-कम पर्व के दिनों में तो उसे अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए। उसके लिए पुरोहित, शिष्य या पुत्र भी अग्निहोत्र कर सकता है।

प्रातः एवं सायंकाल के अग्निहोत्र की विधियाँ सामान्यतः एक-सी हैं, केवल विस्तार में कुछ भेद है, यथा आश्व० (२।४।२५) में प्रातः का पर्युक्षण-मन्त्र कुछ और है और सायं का कुछ और (आश्व० २।२।११)। इसी प्रकार कुछ अन्य अन्तर भी हैं (आश्व० २।४।२५ एवं २।२।१६)। अन्य बातों के लिए देखिए कात्या० (४।१५)।

एक रात्रि के लिए या लम्बी अवधि के लिए जब गृहस्थ बाहर जाता है, तो उसे अग्निहोत्र के विषय में क्या करना चाहिए? इसके विषय में सूत्रों में बहुत से नियम पाये जाते हैं। देखिए शतपथ ब्रा० (२।४।१।३-१४), आश्व० (२।५), आप० (६।२४-२७), कात्या० (४।१२।१३-१४)। आश्व० के मत से महत्वपूर्ण नियम ये हैं—वह अग्नि को उद्दीप्त कर देता है (ज्वाला में परिणत कर देता है), आचमन करता है और आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि के पास जाकर उनकी पूजा 'शंस्य पशून् मे पाहि', 'नर्य प्रजां मे पाहि' एवं 'अथर्व पितुं मे पाहि' नामक मन्त्रों (वाजसनेयी सं० ३।३७) के साथ करता है। इसके उपरान्त दक्षिणाग्नि के पास खड़े होकर उसे अन्य दोनों अग्नियों की ओर 'इमान् में मित्रावरुणौ गृहान् गोपायतं...पुनरायनात्' (काठक सं० ६।३, मैत्रायणी संहिता १।५।१४—कुछ अन्तरों के साथ) नामक मन्त्र के साथ देखना चाहिए। वह पुनः आहवनीय के पास आकर उसकी पूजा करता है (तै० सं० १।५।१०।१ नामक मन्त्र के साथ)। इसके उपरान्त उसे बिना पीछे देखे यात्रा में लग जाना चाहिए और 'मा प्रणम' नामक स्तुति का पाठ करना चाहिए। जब वह ऐसे स्थल पर पहुँच जाता है, जहाँ से उसके घर की छत नहीं दिखाई पड़ती, तब वह अपना मौन तोड़ता है। जब अपने घर से गन्तव्य स्थान के मार्ग की ओर पहुँचे तो उसे 'सदा सुगः' (ऋ० ३।५४।२१) का पाठ करना चाहिए। जब वह यात्रा से घर लौट आये, उसे 'अपि पन्थाम्' (ऋ० ६।५१।१६) का पाठ करना चाहिए। इसके उपरान्त उसे मौन साधना चाहिए, अपने हाथ में समिधाएँ लेनी चाहिए और यह सुनने पर कि उसके पुत्र या शिष्य ने अग्नियाँ उद्दीप्त कर दी हैं, उसे आहवनीय की ओर आश्व० (२।५।९) के दो मन्त्रों के साथ देखना चाहिए। इसके उपरान्त समिधाएँ डालकर उसे 'मम नाम तव च' (तै० सं० १।५।१०।१) नामक मन्त्र से आहवनीय की पूजा करनी चाहिए। तब उसे वाज० सं० (३।२८-३०) के एक-एक मन्त्र के साथ आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि में समिधाएँ डालनी चाहिए।

उपर्युक्त नियम तभी लागू होते हैं कि जब गृहस्थ अपनी पत्नी को छोड़कर बाहर जाता है। जब तक वह बाहर रहता है उसे अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास के समय मानसिक जप से अपने सारे कर्तव्य करने चाहिए और सभी प्रकार के व्रतों का पालन करना चाहिए (यथा, जहाँ तक सम्भव हो फल-फूल, कन्द-मूल पर ही जीवन व्यतीत करना चाहिए)। देखिए आप० (४।१६।१८) एवं कात्या० (४।१२।१६) तथा इसका भाष्य। घर से बाहर रहने पर उसे अपनी पत्नी पर अग्नियों का भार सौंप देना चाहिए तथा आवश्यक कृत्यों के सम्पादन के लिए किसी पुरोहित की व्यवस्था कर देनी चाहिए। जब गृहस्थ अपनी पत्नी के साथ यात्रा करता है तो उसे अग्नियाँ साथ में ही रख लेनी चाहिए। यदि वह सपत्नीक यात्रा करे किन्तु अग्नियाँ साथ न रखे तो घर पर पुरोहित का रखना निरर्थक है, क्योंकि पति-पत्नी की अनुपस्थिति में अग्निहोत्र होम नहीं सम्पादित हो सकता, लौटकर आने पर गृहस्थ को अग्नि की प्रतिष्ठा पुनः (पुनराधान) करनी ही पड़ेगी।

अध्याय ३०

दर्श-पूर्णमास

सभी इष्टियों (ऐसे यज्ञ जिनमें पशु-बलि दी जाती है) की प्रकृति पर दर्श-पूर्णमास नामक यज्ञ के वर्णन एवं व्याख्या से प्रकाश पड़ जाता है। इसी से सभी श्रौत सूत्र सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास का वर्णन विस्तार से करते हैं, यों तो क्रम के अनुसार अग्न्याधान का स्थान सर्वप्रथम है। आश्व० (२।१।१) का कहना है कि सभी प्रकार की इष्टियों पर पौर्णमास इष्टि के विवेचन से प्रकाश पड़ जाता है। आप० (३।१४।११-१३) के अनुसार तीनों अग्नियों (गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि) की प्रतिष्ठापना के उपरान्त प्रतिष्ठापक को दर्शपूर्णमास का सम्पादन जीवन भर (या जब तक संन्यासी न हो जाय) या ३० वर्षों तक या जब तक बहुत जीर्ण (कृत्य करने में पूर्णरूपेण अयोग्य) न हो जाय, करते जाना चाहिए।[1]

'अमावस्या' शब्द का अर्थ है 'वह दिन जब (सूर्य एवं चन्द्र) साथ रहें।' यह वह तिथि है, जिस दिन सूर्य एवं चन्द्र एक दूसरे के बहुत पास (अर्थात् न्यूनतम दूरी पर) रहते हैं। 'पूर्णमासी' वह तिथि है, जिस दिन सूर्य एवं चन्द्र एक-दूसरे से अधिकतम दूरी पर रहते हैं। 'पूर्णमास' का तात्पर्य है 'वह क्षण जब कि चन्द्र पूर्ण (पूरा या भरपूर) रहता है।' 'दर्श' का तात्पर्य वही है जो 'अमावस्या' का है। दर्श का अर्थ है 'वह दिन जब चन्द्र को केवल सूर्य ही देख सकता है और अन्य कोई नहीं।' 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' के गौण अर्थ हैं 'वे कृत्य जो क्रम से अमावस्या एवं पूर्णमासी के दिन सम्पादित होते हैं।' 'इष्टि' का तात्पर्य उस यज्ञ से है जिसमें यजमान चार पुरोहितों को नियुक्त करता है। नीचे हम सत्याषाढ एवं आश्वलायन के श्रौतसूत्रों पर आधारित दर्श-पूर्णमास-सम्बन्धी विवेचन उपस्थित करेंगे।

अग्न्याधेय कर चुकनेवाला आगे की प्रथम पूर्णमासी को दर्श-पूर्णमास का सम्पादन कर सकता है। पूर्णमासी के दिन की इष्टि दो दिन हो सकती है, किन्तु सारे कृत्य संक्षिप्त कर एक ही दिन में सम्पादित हो सकते हैं। यदि दो दिनों तक कृत्य किये जायँ, तो वे प्रथम दिन (पूर्णमासी के दिन) तथा प्रतिपदा (पूर्णमासी के आगे के कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन) तक समाप्त हो जाते हैं; प्रथन दिन को **उपवसथ** दिन तथा दूसरे दिन को **यजनीय** दिन कहा जाता है। पूर्णमास कृत्य के सिलसिले में उपवसथ के दिन अन्वाधान (अग्नि में ईंधन डालना) एवं परिस्तरण कृत्य किये जाते हैं और शेष कृत्य यजनीय दिन में सम्पादित होते हैं। यदि प्रारंभिक पूर्णमास इष्टि या दर्श इष्टि हो तो यजमान को अन्वारम्भणीया इष्टि सम्पादित करनी पड़ती है, जिसे नीचे पाद-टिप्पणी में पढ़िए।[2]

१. 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'—जैमिनि (१०।८।३६) की व्याख्या में शबर द्वारा उद्धृत। और देखिए श० ब्रा० (११।१।२।१३), जहाँ ३० वर्षों की चर्चा है। 'ताभ्यां यावज्जीवं यजेत। त्रिंशतं वा वर्षाणि। जीर्णो वा विरमेत्।' आप० (३।१४।११-१३)।

२. सर्वप्रथम तै० सं० (३।५।१।१) के मन्त्रों के साथ सरस्वती को दो आहुतियाँ दी जाती हैं और तब अन्वारम्भणीया का सम्पादन होता है। इसमें अग्नि एवं विष्णु को ११ कपालों (घट-शकलों, मिट्टी के कसोरों या भिन्न पात्रों) में पकायी गयी रोटी दी जाती है। सरस्वती को चरु (एक साथ चावल, जौ, दूध आदि उबालकर बनायी

पूर्णमासी के दिन प्रातःकाल यजमान अपनी स्त्री के साथ आह्निक अग्निहोत्र करने के उपरान्त गार्हपत्य के पश्चिम दर्भों पर बैठकर, अपने हाथ में कुश लेकर तथा प्राणायाम करके 'श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं पौर्णमासेष्ट्या यक्ष्ये' (अमावस्या के दिन वह 'पौर्णमासेष्ट्या' के स्थान पर 'दर्शेष्ट्या' कहता है) नामक संकल्प करता है। इसके उपरान्त वह अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता एवं आग्नीध्र नामक चार पुरोहितों से कहता है—"मैं आपको अपना अध्वर्यु, अपना ब्रह्मा, अपना होता एवं अपना आग्नीध्र चुनता हूँ।" अध्वर्यु गार्हपत्य से अग्नि लेकर आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि के पास जाता है और एक समिधा की नोंक को पूर्वाभिमुख करके आहवनीय पर रखता और मन्त्रोच्चारण करता है (ऋग्वेद १०। १२८।१, तै० सं० ४।७।१४।१)।[3] अध्वर्यु एवं यजमान तीन पद्यों का (शतपथ ब्रा० ११२ में वर्णित तै० ब्रा० ३।७।५ के पद्य) जप करते हैं। जब वह आहवनीय एवं गार्हपत्य के मध्य में रहता है तो खड़े-खड़े 'अन्तराग्नि...मनीषया' (तै० ब्रा० ३।७।४) का पाठ करता है। इसके उपरान्त वह मन्त्र के साथ (ऋ० १०।१२८।२, तै० सं० ४।७।१४।१) गार्हपत्य में समिधा डालता है। अध्वर्यु एवं यजमान 'इह प्रजा...' एवं 'इह पशवः' (तै० ब्रा० ३।७।४, श० ब्रा० ११२) का उच्चारण करते हैं। इसके उपरान्त अध्वर्यु दक्षिणाग्नि में 'मयि देवा' (ऋ० १०।१२८।३४, तै० सं० ४।३।१४।१) के साथ समिधा रखता है। तब दोनों 'अयं पितॄणाम्' (तै० ब्रा० ३।७।४) का पाठ करते हैं। जो सभ्य एवं आवसथ्य अग्नियाँ प्रज्वलित रखते हैं, वे उनमें मन्त्रों के साथ (तै० ब्रा० ३।७।४) समिधाएँ डालते हैं।

उस यजमान को, जिसने सोमयज्ञ पहले ही कर लिया हो, **शाखाहरण** नामक कृत्य करना पड़ता है। उसे **सान्नाय्य** (ताजे दूध में खट्टा दूध या पिछली रात्रि के दूध का दही मिलाने से बना हुआ पदार्थ) देना पड़ता है। तै० सं० (२।५।४।१) के मत से केवल सोमयाजी ही सान्नाय्य देता है। इन्द्र या महेन्द्र को भी सान्नाय्य दिया गया था (शतपथ ब्रा० ११६।४।२१ एवं कात्या० ४।२।१०)। तै० सं० (२।५।४।४) के मत से केवल गतश्री[4] महेन्द्र को सान्नाय्य दे सकता है, किन्तु शत० ब्रा० (११४) के अनुसार सोमयाग के उपरान्त एक या दो वर्षों तक इन्द्र एवं महेन्द्र को सान्नाय्य दिया जाना चाहिए। पूर्णमासी की इष्टि में अग्नि एवं अग्नीषोम को पुरोडाश (रोटी) दिया जाता है और इसमें दो पुरोडाशों के साथ मौन रूप से प्रजापति को आज्य दिया जाता है। दर्श की इष्टि में पुरोडाश के देवता हैं अग्नि एवं इन्द्राग्नी तथा सान्नाय्य इन्द्र या महेन्द्र को दिया जाता है (आश्व० १।३।९-१२)।

शाखाहरण—यह कृत्य केवल उसी से सम्बन्धित है जिसने केवल दर्शेष्टि और सोमयज्ञ कर लिया हो। अध्वर्यु पलाश या शमी वृक्ष की ऐसी डाल से नयी शाखा लाता है जो कहीं से सूखी न हो और जिसमें अधिक संख्या में पत्तियाँ

हुई वस्तु), सरस्वान् को १२ घट-शकलों पर पकायी गयी रोटी तथा अग्नि भगिन् को ८ घट-शकलों पर पकायी गयी रोटी दी जाती है। जैमिनि (९।१।३४-३५) के मतानुसार अन्वारम्भणीया प्रति बार नहीं की जाती, केवल एक बार इसका सम्पादन पर्याप्त है। अन्य विस्तारों के लिए देखिए तै० सं० (३।५।१), आश्व० (२।८), आप० (५।२३।४-९), बौधा० (२।२१)।

३. सामान्यतः मन्त्रोच्चारण 'ओम्' से आरम्भ किया जाता है। किन्तु श्रौत कृत्यों में यह कोई नियम नहीं है और इसी से श्रौत सूत्रों में इसका उल्लेख भी कहीं नहीं हुआ है। यजमान एवं अध्वर्यु दोनों में से कोई भी समिधा डाल सकता है (कात्या० २।१।२)।

४. गतश्री लोग तीनों अग्नियों को सदा रखते हैं (कात्या० ४।१३।५ एवं आप० ६।२।१२)। वे लोग पूर्ण रूपेण पढ़े-लिखे एवं पण्डित ब्राह्मण, विजयी क्षत्रिय एवं ग्राम के सबसे बड़े वैश्य होते हैं—"गतश्रिभिस्तु सर्वेऽग्नयः सदा धार्यन्ते। त्रयो ह वै गतश्रियः शुश्रुवान् ब्राह्मणः क्षत्रियो विजयी राजा वैश्यो ग्रामणीरिति" (कात्या० ४।१३)।

हों। शाखा वृक्ष की पूर्व, उत्तर या उत्तर-पूर्व दिशा से ली जाती है (जैमिनि ४।२।७)। वह उसे 'इषे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१) शब्दों के साथ काटता है, जल-स्पर्श करता है और 'ऊर्जे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१) के साथ शाखा को सीधी करता है या स्वच्छ करता है। इसके उपरान्त वह उस शाखा को 'इयं प्राची' (तै० ब्रा० ३।४।७) के साथ यज्ञ-स्थल पर लाता है। इस शाखा द्वारा वह छः बछड़ों को उनकी माताओं (गायों) से पृथक् करता है (तै० सं० १।१।१।१)। अध्वर्यु यजमान की गायों को तै० सं० के मन्त्र (१।१।१।१) के साथ चरने को छोड़ देता है, जब वे चल देती हैं तो उन्हें पुकारता है (ऋ० ६।२८।७, तै० ब्रा० २।८।८)। तब वह यजमान के घर लौट आता है और शाखा को परिचित स्थल पर (जिससे वह भुलायी न जा सके) या यज्ञ-स्थल पर या अग्नियों के पास काठ के बने घेरे (कठघरे) में रख देता है। जैमिनि (३।६।२८-२९) का कहना है कि शाखाहरण प्रातः एवं सायं दोनों समयों में गाय के दुहे जाने से सम्बन्धित है।

यजमान आहवनीय के पश्चिम से जाकर उसके दक्षिण में हो जाता है और आचमन करता है। तब वह सागर का ध्यान करता है और अग्नि, वायु, आदित्य एवं व्रतपति की पूजा करता है (तै० सं० १।५।१०।३ एवं तै० ब्रा० ३।७।४)।

बर्हिराहरण—इस कृत्य का तात्पर्य है प्रयोग में लाने के लिए पवित्र कुशों की पूलियाँ लाना। इस कृत्य के कई स्तर हैं जिनमें प्रत्येक के अपने विशिष्ट मन्त्र हैं। सभी मन्त्र छोटे-छोटे गद्यात्मक सूत्र हैं जो तै० सं० में पाये जाते हैं (१।१।२)। उन्हें हम स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दे रहे हैं। कतिपय स्तर निम्न हैं—अध्वर्यु हँसिया या घोड़े या बैल की छाती की एक हड्डी लेता है जो गार्हपत्य के उत्तर रखी रहती है और मन्त्रोच्चारण करता है। साथ साथ वह गार्हपत्य की स्तुति करता है। हँसिया (हड्डी नहीं) गार्हपत्य में गर्म कर ली जाती है, तब वह विहार (यज्ञ-स्थल) के उत्तर या पूर्व कुछ दूर जाता है और कुश-स्थल का चुनाव करता है, एक दर्भ-गुच्छ के स्थल को छोड़कर आवश्यकता के अनुसार अन्य स्थलों पर चिह्न बना देता है। "इसे पशुओं के लिए छोड़ रहा हूँ" और "इसे देवों के लिए काट रहा हूँ" कहकर वह अपने बायें हाथ की अँगुलियों में कुश को दबाकर मन्त्रों के साथ हँसिया से काट लेता है। इन प्रथम मुट्ठी भर कुशों को **प्रस्तर** कहा जाता है। इसके उपरान्त वह विषम संख्या में कई मुट्ठियों में कुश काट लेता है (३,५,७,९, ११)। प्रत्येक मुट्ठी के साथ पूर्ववत् कृत्य किये जाते हैं और अध्वर्यु कहता है—"हे बर्हि देवता, तुम सैकड़ों शाखाओं में होकर उगो।" वह अपने हृदय-स्थल को छूकर कहता है—"हम भी सहस्रों शाखाओं में बढ़ें।" वह जलस्पर्श करके एक शुल्व (रस्सी) में मुट्ठी भर दर्भ बायें से दाहिने रखता है और उन पर अन्य ३ या ५ कुश-पूलियों को रखता है और रस्सी (शुल्व) से बाँध देता है। पूलियों की नोंकें उत्तर या पूर्व पृथ्वी पर रखी जाती हैं। इस प्रकार एक बड़ा गट्ठर बना लिया जाता है और उसके ऊपर प्रस्तर रखा जाता है। सारा गट्ठर पुनः कसकर बाँध दिया जाता है। अध्वर्यु उसी मार्ग से गट्ठर यज्ञ-स्थल में लाकर वेदी पर कुश के ऊपर (खुली पृथिवी पर नहीं) मध्य परिधि वाले स्थल के पास ही उसे रख देता है। वह बर्हि को इस प्रकार रखकर मन्त्रोच्चारण करता है और गार्हपत्य के पास एक चटाई या उसी के समान किसी अन्य वस्तु पर उसे रख देता है। अध्वर्यु मौन रूप से बर्हि के साथ अन्य दर्भों को, जिन्हें **परिभोजनीय** कहा जाता है, लाता है। वह इसी प्रकार शुष्क कुश (उलपराजि) भी लाता है।[5]

इध्माहरण—इस कृत्य का तात्पर्य है ईंधन लाना। पलाश या खादिर की २१ समिधाओं की आवश्यकता पड़ती

५. परिभोजनीय दर्भों से पुरोहितों, यजमान एवं यजमानपत्नी के लिए आसन बनाये जाते हैं। देखिए ऐतरेय ब्राह्मण का हॉग-कृत अनुवाद, पृ० ७९, जिसमें बर्हि, परिभोजनीय एवं वेद पर टिप्पणियाँ दी हुई हैं।

है, जिनमें १५ सामिधेनी मन्त्रों के उच्चारण के साथ अग्नि में डालने के लिए होती हैं, ३ परिधियाँ होती हैं,[६] २ का प्रयोग दो आधारों के लिए तथा अन्तिम अर्थात् २१वीं समिधा अनुयाज के लिए होती है। दर्भ से बनी रस्सी को पृथिवी पर बिछा दिया जाता है जिस पर मन्त्र के साथ (आप० १।६।१, शत० ब्रा० १।२, पृ० ८९) इध्मों का ढेर रख दिया जाता है। इध्म का गट्ठर वर्हि के गट्ठर के पास ही रख दिया जाता है। इध्म काटते समय लकड़ी के जो भाग बच रहते हैं उन्हें **इध्मप्रव्रश्चन** कहा जाता है। दर्भ के एक गुच्छ से वेद का निर्माण किया जाता है, जिसका आकार एक बछड़े के घुटने के बराबर होता है। वेद से मन्त्र के साथ वेदी का स्थल स्वच्छ किया जाता है। यजमान की स्त्री को यह वेद दे दिया जाता है। वेद बनाने से दर्भ के जो भाग बच रहते हैं उन्हें **वेद-परिवासन** कहा जाता है। इसके उपरान्त **इध्मप्रव्रश्चन** एवं **वेद-परिवासन** को एक साथ रख दिया जाता है। इसके उपरान्त वह एक टहनी लेता है, उसकी पत्तियाँ (कुछ को छोड़कर) काट देता है, और नोकदार एक काष्ठकुदाल बना लेता है, जिसे **उपवेष** की संज्ञा दी गयी है। उपवेष का मन्त्र पढ़ा जाता है (आप० १।६।७)। पूर्णमासी के यज्ञ में उपवेष का निर्माण मौन रूप से किया जाता है। तब वह उपवेष पर तीन दर्भगुच्छ रखता है और उनका मन्त्र के साथ आह्वान करता है। दर्भ के इस रूप को **पवित्र** कहा जाता है (तै० ब्रा० ३।७।४, आप० १।६।१०, शत० ब्रा० १।३, पृ० ९२)।

इसके उपरान्त अपराह्न में पिण्ड-पितृयज्ञ किया जाता है। यह कृत्य दर्शेष्टि में ही होता है न कि पूर्णमासेष्टि में। हम पिण्डपितृयज्ञ का वर्णन आगे करेंगे।

सायंदोह—यदि यजमान ने कभी सोमयज्ञ कर लिया है तो उसे सायंदोह का सम्पादन करना पड़ता है। सायं अग्निहोत्र सम्पादन के उपरान्त गृहस्थ गार्हपत्य के उत्तर दर्भ फैला देता है, सान्नाय्य पात्रों को (जो सायंदोह में भी प्रयुक्त होते हैं) दो-दो करके धोता है और उन्हें दर्भ पर अधोमुख करके रख देता है।[७] इसके उपरान्त वह समान आकृति एवं वर्ण वाले दो दर्भों के दो पवित्र लेता है, जो एक बित्ता लम्बे होते हैं और जिनकी नोंक कटी हुई नहीं होती, और जो तने से चाकू या हँसिया द्वारा काटे गये हैं न कि नखों से, और जिनको काटते समय मन्त्रोच्चारण किया गया है (तै०

६. परिधि का तात्पर्य है लकड़ी की वह छड़ी जो वृत्ताकार हो; 'अग्नेः परितो धीयन्ते तानि दारूणि परिधयः' (शत० ब्रा० १।२ का भाष्य०, पृ० ८८)। ऐसी लकड़ियाँ (समिधाएँ) पलाश, काश्मर्य, खदिर, उदुम्बर आदि यज्ञिय (यज्ञ के काम में आने वाले) वृक्षों की होती हैं। वे गीली या सूखी हो सकती हैं, किन्तु छिलके के साथ ही प्रयुक्त होती हैं। मध्य वाली सबसे मोटी, दक्षिण वाली सबसे लम्बी तथा उत्तर वाली सबसे पतली एवं छोटी होनी चाहिए (आप० १।५।७-१० एवं कात्या० २।८।१)। परिधियाँ तीन बित्तों की या एक बाहु लम्बी होती हैं, समिधाएँ दो बित्तों की (प्रादेश, अर्थात् अँगूठे से लेकर तर्जनी तक की) होती हैं।

७. सान्नाय्य या सायंदोह पात्रों की तालिका यों है—अग्निहोत्रहवणीमुखामुपवेषं शाखापवित्रमभिधानीं निदाने दोहनमयस्पात्रं दारुपात्रं वा पिधानार्थम्। सत्याषाढ १।३, पृ० ९३। ये पात्र आठ हैं। इनके लिए देखिए आप० (१।११।५)। अग्निहोत्रहवणी एवं उपवेश में प्रथम वह पात्र है जिसके द्वारा अग्निहोत्र किया जाता है और वह विकंकत काष्ठ का बना होता है। 'अङ्गारप्रेषणार्थं काष्ठमुपवेष इति समाख्यायते', अर्थात् उपवेष वह है जिसके द्वारा अंगार हटाये या बढ़ाये जाते हैं। उखा तो आपस्तम्ब की कुम्भी ही है, यह मिट्टी का एक बड़ा पात्र होता है। अभिधानी वह रस्सी है, जिससे गाय या बछड़ा बाँधा जाता है। दोनों निदान वे रस्सियाँ हैं जिनसे गाय के पीछे के पैर (खुर एवं जाँघ के पास) बाँधे जाते हैं। दोहन वह पात्र है जिसमें गाय दुही जाती है। दोहन को ढँकने के लिए काठ या धातु का ढक्कन होता है। शाखापवित्र उस शाखा से निर्मित होता है जिससे उपवेष बना होता है।

ब्रा० ३।७।४)। अध्वर्यु उन्हें नीचे से ऊपर की ओर जल से धो देता है। जैमिनि (३।८।३२) का कहना है कि दो पवित्र और विधृतियाँ कटे हुए बर्हिओं से नहीं बनायी जाती हैं, प्रत्युत परिभोजनीय नामक कुशों से बनायी जाती हैं। अध्वर्यु उच्च स्वर से उद्घोष करता है—"गाय, रस्सियों एवं सभी पात्रों को पवित्र करो।" तब वह अग्निहोत्रहवणी के भीतर दो पवित्र रख देता है, उसमें जल छोड़ता है, पवित्रों को पूर्व दिशा में रखकर जल का पवित्र करता है, इसी प्रकार पवित्रों को पुनः उनके स्थान पर लाता है और उनके ऊपरी छोरों को तीन बार उत्तर की ओर उठाकर तै० सं० (१।१।५।१) का मन्त्र पढ़ता है। तब वह जल का आह्वान करता है (तै० सं० १।१।५।१, वाज० १।१२-१३), पात्रों के मुख को ऊपर करता है, उन पर तीन बार जल छिड़कता है और कहता है—"आप देव-पूजा के लिए इस दिव्य कृत्य को पवित्र करें" (तै० सं० १।१।३।१)। वह दोनों पवित्रों को सुपरिचित स्थान पर रख देता है। वह 'एता आचरन्ति' ('तै० ब्रा० ३।७।४) नामक मन्त्र के साथ चरागाह से आनेवाली गायों की बाट जोहता है। अध्वर्यु मन्त्र के साथ (तै० सं० १।१।७।१) उपवेष द्वारा गार्हपत्य से अंगार लेकर उत्तर की ओर ले जाता है। उखा को उन अंगारों पर रख देता है और उसके चारों ओर कोयले सुलगा देता है और कहता है—"आप लोग भृगुओं एवं अंगिराओं के तप की भाँति गर्म हो जायें" (तै० सं० १।१।७।२)। तब वह दूध दुहने वाले को आज्ञा देता है—"जब बछड़ा गाय के पास चला जाय तो मुझसे कहना।" वह मन्त्र के साथ उखा में पूर्व की ओर नोंक करके शाखापवित्र को रखता है और उसका स्पर्श करके मौन हो जाता है तथा शाखापवित्र को पकड़े रहता है; दूध दुहने वाला अभिधानी (रस्सी) को 'अदित्यै रास्नासि' (तै० सं० १।१।२।२) के साथ एवं दो निदानों (रस्सियों) को चुपचाप उठाता है और 'तुम पूषा हो' कहकर बछड़े को गाय से मिला देता है। अध्वर्यु कहता है—"बछड़े को पिलाती हुई गाय और विहार (यज्ञ-स्थल) के बीच से कोई न आये-जाये।" सभी लोग आज्ञा का पालन करते हैं। अध्वर्यु एक मन्त्र के साथ गाय का आह्वान करता है और दुहने वाला गाय के पास बैठ जाता है।[८] दुहने वाला भी मन्त्र पढ़ता है। गाय दुहे जाते समय गृहस्थ मन्त्रपाठ करता है और जब पात्र में दुग्ध धारा गिरने लगती है और वह सुनने लगता है तो दूसरे मन्त्र का पाठ करता है। दुहने वाला अध्वर्यु के पास आता है और अध्वर्यु उससे पूछता है—"तुमने किसे दुहा? घोषणा करो यह इन्द्र के लिए है, यह शक्ति है।" दुहने वाला गाय का नाम (यथा गंगा) बताता हुआ कहता है—"इसमें देवों एवं मानवों के लिए दूध पाया जाता है।" अध्वर्यु कहता है—"यह (गाय) सबका जीवन है।" तब वह उखा (या कुम्भी) में पवित्र रखता है और उसमें पवित्र के द्वारा मन्त्रोच्चारण के साथ दूध डालता है। इसी प्रकार अध्वर्यु दो अन्य गायें दुहाता है। यहाँ गायों के नामों में अन्तर होगा (यथा यमुना आदि) और दूसरी एवं तीसरी गायें क्रम से 'विश्वव्यचाः' एवं 'विश्वकर्मा' कही जायँगी न कि 'विश्वायुः'। जब तीन गायें दुह ली जाती हैं तो वह उद्घोष करता है—"इन्द्र के लिए अधिक दूध दुहो, देवों, बछड़ों, मानवों के लिए आहुति बढ़े, दुहने के लिए पुनः तैयार हो जाओ।" यदि अन्य गायें भी हों (साधारणतः छः होती हैं) तो उन्हें भी इसी प्रकार दुहना चाहिए, किन्तु अध्वर्यु बोलता रहता है और कुम्भी नहीं छूता है। उस रात्रि घर के लोगों को दूध नहीं मिलता, क्योंकि सारा-का-सारा दूध सान्नाय्य के लिए रख लिया जाता है। जब पूरी गायें दुह ली जाती हैं और वह स्थल जहाँ दूध की कुछ बूँदें टपक गयी रहती हैं, स्वच्छ कर लिया जाता है, तब मन्त्र के साथ अध्वर्यु उस पात्र का आह्वान करता है जिसमें कि सान्नाय बनाया जाता है। दूध के पात्र का

८. बछड़े के द्वारा गाय दुही जाती है न कि स्तन पर हस्तक्रिया से, "वत्सेन च दोहार्थं प्रसवः साध्यः" (शत० ब्रा० १।३, पृ० ९६ पर भाष्य)। यही बात तै० ब्रा० (२।१।८) में भी है। आप० (१।१२।१५) के मत से इस यज्ञ में गाय को दुहने वाला शूद्र भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।

भीतरी भाग जल द्वारा धो दिया जाता है, और वह जल साम्नाय्य वाले पात्र में छोड़ दिया जाता है। अध्वर्यु दूध गर्म करता है और उसमें घृत छोड़ता है (अभिधारण)। अँगारों से वह गर्म पात्र इस प्रकार खींचता है कि पृथिवी पर एक रेखा बन जाती है और उसे पूर्व, उत्तर या पूर्वोत्तर भाग में मन्त्र के साथ रख देता है। जब पात्र ठण्डा हो जाता है तो उसमें वह दही डाल देता है जिससे कि दूध जम जाय और कहता है—"मैं सोम (दही) मिलाता हूँ, जिससे कि इन्द्र के लिए दही बन जाय" (तै० सं० १।१।३)।[९] अग्निहोत्र हो जाने के उपरान्त पात्र में या स्रुक् में जो द्रव्य बचा रहता है, वह इसमें मिला दिया जाता है। इसके उपरान्त ढक्कन वाले पात्र में जल छोड़कर उसे गर्म दूध के ऊपर रख दिया जाता है। यदि ढक्कन मिट्टी से बना पात्र हो तो उस पर घास या टहनियाँ रख दी जाती हैं। तब अध्वर्यु शाखापवित्र को मन्त्र के साथ (यदि वह पलाश का हो) या मौन रूप से (यदि शमी का हो) उठाता है और सुरक्षित स्थल में रखता है। अध्वर्यु साम्नाय्य को गार्हपत्य के भाग में एक शिक्य (छींके) पर रख देता है और कहता है—"हे विष्णु, इस आहुति की रक्षा करो।"

प्रमुख दिन में अध्वर्यु दूसरी शाखा से या दर्भों से गायों के बछड़ों को प्रातर्दोह के लिए अलग करता है। प्रातर्दोह में भी सायंदोह की विधि लागू होती है। दो-एक मन्त्रों में कुछ अन्तर पाया जाता है। प्रातर्दोह वाले दूध में जमाने के लिए जामन (दही आदि) नहीं मिलाया जाता। स्थानाभाव के कारण अन्य अन्तर नहीं बताये जा रहे हैं।

सायंदोह के उपरान्त अध्वर्यु आग्नीध्र या किसी अन्य पुरोहित या अपने को आदेश देता है—"अग्नियों के चतुर्दिक्, पहले आहवनीय, तब गार्हपत्य और अन्त में दक्षिणाग्नि के चतुर्दिक् कुश फैला दो", या क्रम यों हो सकता है कि पहले गार्हपत्य, तब दक्षिणाग्नि और अन्त में आहवनीय। दक्षिण और उत्तर दिशाओं में फैलाये गये दर्भों की नोंक पूर्व की ओर रहती है। कुशों को फैलाते समय यजमान मन्त्र पढ़ता है।

उपर्युक्त कृत्योपरान्त वह अमावस्या को उपवसथ के रूप में ग्रहण करता है। अमावस्या के दिन वह अन्वन्वाधान (अग्नियों में ईंधन की आहुतियाँ देना) करता है, शाखा से बछड़ों को (गायों से) अलग करता है, सायंदोह (सायंकाल में गाय दुहाना) करता है, बर्हि एवं ईंधन लाता है, वेद और वेदी बनाता है और व्रत करता है। किन्तु बछड़ों को पृथक् करने का कृत्य एवं सायंदोह सम्पादन वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने सोमयज्ञ कर लिया हो। यदि पूर्णमास-इष्टि दो दिनों में सम्पादित की जाने वाली हो तो पूर्णमासी के दिन केवल अन्वन्वाधान एवं अग्नियों के चतुर्दिक् कुश बिछाने के कृत्य सम्पादित होते हैं, दूसरे दिन बर्हि, इध्म (ईंधन) लाये जाते हैं तथा वेद-निर्माण एवं अन्य कृत्य किये जाते हैं। किन्तु यदि इष्टि एक ही दिन में की जाती है तो वेद-निर्माण के उपरान्त कुश बिछाये जाते हैं।

मुख्य दिन (पूर्णमास के सिलसिले में कृष्णपक्ष के प्रथम दिन) में यजमान सूर्योदय के पूर्व अग्निहोत्र करता है और सूर्योदय के उपरान्त पूर्णमास-इष्टि आरम्भ करता है (दर्श-इष्टि के सिलसिले में सूर्योदय के पूर्व ही कृत्य आरम्भ हो

९. दही मिलाने के विषय में कई मत हैं। उपवसथ के एक दिन पूर्व (अर्थात् १४वें दिन) एक, दो या तीन गायें दुह ली जाती हैं, उनका दूध उपवसथ दिन के सायं वाले गर्म दूध में मिला दिया जाता है। दूसरी विधि यह है—गायें १२वें दिन दुह ली जाती हैं, उस दूध को १३वें दिन के दूध में मिला दिया जाता है और इस प्रकार दो दिन से प्राप्त दही को १४वें दिन के दूध में मिला दिया जाता है। इस प्रकार दूध दुहना और मिलाना १२वें, १३वें एवं १४वें दिन तक या १३वें या १४वें दिन तक चला करता है। देखिए आप० (१।१३।१२) एवं शत० ब्रा० (१।३, पृ० ९९)। जब दूध न मिले तो चावल या पलाश की छाल के टुकड़े या ग्राम्य या जंगली बदर फल या पूतीक पौधा (सोम का प्रतिनिधि) डाल दिया जाता है, जिससे कि दूध खट्टा हो जाय।

जाता है)। वह मन्त्र (तै० सं० १।१।४।१) के साथ अपने दोनों हाथ धोता है। गार्हपत्याग्नि से आहवनीयाग्नि तक कुशों की नोंकों को पूर्वाभिमुख करके तै० सं० के मन्त्र (३।२।४) का उच्चारण करते हुए उन्हें एक रेखा में बिछाता है। वह इस रेखा के दक्षिण एवं उत्तर में मौन रूप से कुश बिछा देता है। आहवनीय के दक्षिण कुशासन बनाये जाते हैं, जिन पर ब्रह्मा एवं यजमान बैठते हैं (ब्रह्मा यजमान के पूर्व में बैठता है)। यजमान का आसन वेदी के पूर्व-दक्षिण कोने में होता है। गार्हपत्याग्नि के उत्तर कुशों को (नोंकों को पूर्व या उत्तर में करके) बिछा दिया जाता है, जिन पर जल से धोकर तथा मुखों को नीचे झुकाकर (स्फ्य एवं कपाल आदि) यज्ञिय पात्रों को जोड़े में रख दिया जाता है। इस कृत्य को **पात्रासादन** कहते हैं। 'पात्रासादन' का तात्पर्य है पात्रों को पास में रखना।

ब्रह्मवरण—अपने आसन पर उत्तराभिमुख बैठकर यजमान 'ब्रह्मा' नामक पुरोहित को चुनता है, जो तै० ब्रा० के मन्त्र (३।७।६) के साथ पूर्वाभिमुख उत्कर के पास बैठता है। ब्रह्मा एक लम्बा मन्त्र-पाठ करता है (आप० ३।१८।४, तै० ब्रा० ३।७।६)। इसके उपरान्त वह उच्च स्वर से कहता है—"हे बृहस्पति, यज्ञ की रक्षा कीजिए" और आहवनीय के पश्चिम से वेदी को पार करता दक्षिण की ओर जाता हुआ वह अपने आसन के दक्षिण में उत्तराभिमुख हो खड़ा हो जाता है और अपने आसन के कुशों से एक कुश उठाकर दक्षिण-पश्चिम दिशा (निर्ऋति, दुर्भाग्य की दिशा) में फेंकता है और कहता है—"अरे दैधिषव्य (विवाहित विधवा के पुत्र), इस स्थल से उठ और मुझसे अधिक नासमझ के यहाँ विराजमान हो" (तै० सं० २।२।४।४), तब जल स्पर्श करके पूर्वाभिमुख हो वह मन्त्र के साथ बैठ जाता है और फिर मन्त्र के साथ आहवनीय के सम्मुख हो जाता है (आप० ३।१८।४, कात्या० २।१।२४)। ब्रह्मा पुरोहित को वैदिक शास्त्रों में पारंगत होना चाहिए (ब्रह्मिष्ठ, आप० ३।१८।१) और होना चाहिए सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ एवं श्रोत्रिय। ब्रह्मा मन्त्रोच्चारण के समय मौन रहता है और सभी क्रियाओं एवं कृत्यों के अधीक्षक रूप में विद्यमान रहता है। अध्वर्यु उसी से आज्ञा लेकर कृत्य करता है। दर्श-पूर्णमास में चार पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है। यजमान भी आहवनीय के पश्चिम से दक्षिण जाता हुआ, पूर्वाभिमुख हो अपने आसन पर कुश डालकर उस पर विराजमान हो जाता है। अध्वर्यु दो समान मोटे दर्भों को, जिनकी नोंक कटी न हो, लेकर एक बित्ते का आकार देता है और बिना नख का प्रयोग किये उनकी जड़ें काट देता है।

गार्हपत्य अग्नि के पश्चिम (या उत्तर) बैठकर अध्वर्यु चमस (चम्मच) धारण करता है, जिसमें 'दक्ष के लिए तुझको' (आप० १।१७।१) के साथ जल भरा जाता है, वह उसे तीन बार जल से धोता है—एक बार मन्त्र से और दो बार मौन रूप से। मन्त्र यह है—"तू पौधों से बना है, तुझे देवों के लिए स्वच्छ किया जाता है, तू देवों के लिए चमक, तू देवों के लिए पवित्र हो जा" (आप० १।१६।३)। अध्वर्यु चमस में दो पवित्र रखता है और उसमें जल भरता है और मन्त्रोच्चारण करता है (आप० १।१६।३)। उसी समय वह पृथिवी का ध्यान करता है। तब वह एक पात्र भरता है, किन्तु उसके मुख को कुछ खाली रखता है और उत्पवन की विधि से जल को पवित्र करता है।[10] इसके उपरान्त वह देवों का आह्वान करता है (तैत्तिरीय संहिता १।१।५।१)। अध्वर्यु को ब्रह्मा पुरोहित से आदेश लेना पड़ता है; "ब्रह्मन्, क्या मैं जल को आगे ले चलूँ और आदेशित करूँ कि 'हे याज्ञिक, मौन हो जाओ?" तब ब्रह्मा पुरोहित मन्त्र का उच्चारण करता है और अध्वर्यु को आदेश देता है। अध्वर्यु आदेशित हो मन्त्र पढ़ता है और जल लेकर आगे बढ़ता है। जल ले

१०. आपस्तम्ब (१।११।९) के अनुसार उत्पवन विधि यह है—उत्पवनमुदगग्राभ्यां पवित्राभ्यामूर्ध्वपवनं शोधनमपाम्। याज्ञिका हस्तद्वयेन गृहीत्वोत्पुनन्ति तन्मूलमन्वेष्टव्यम्।

जाते समय यज्ञ करनेवाला मन्त्रोच्चारण करता है।[11] इसके उपरान्त अध्वर्यु आहवनीय अग्नि के उत्तर दर्भ घास पर जलपूर्ण पात्र रखता है और मन्त्रोच्चारण करता है[12] और कुशों से पात्र को ढक देता है। इन कृत्यों को **प्रणीताप्रणयन** की संज्ञा दी गयी है। आहवनीय अग्नि के निकट जल रखते समय याज्ञिक आगे का मन्त्र पढ़ता है और सम्पूर्ण यज्ञ-भूमि पर दृष्टिपात करता है। आहवनीय अग्नि एवं प्रणीता-जल के मध्य से कोई आ-जा नहीं सकता (कात्यायन २।३।४)। प्रणीता जल का मुख्य उपयोग है पीसे हुए अन्नों (आटे) को पुरोडाश के लिए सिक्त करना, अर्थात् उससे आटा साना जाता है, जिससे पुरोडाश बनाया जाता है, जो अन्त में वेदी में डाला जाता है (जैमिनि ४।२।१४-१५)।

इसके उपरान्त **निर्वाप** कृत्य किया जाता है। निर्वाप का तात्पर्य है एक मुट्ठी अन्न निकालना या अन्य यज्ञिय (यज्ञ-सम्बन्धी) सामानों का एक भाग निकालना।[13] अध्वर्यु अपने हाथ में अग्निहोत्रहवणी ग्रहण करता है, उसे बायें हाथ में रखकर दायें हाथ में शूर्प (सूप) ग्रहण करता है। इसके उपरान्त वह दर्वी (अग्निहोत्रहवणी) को गार्हपत्य अग्नि पर गर्म करता है और कहता है—"राक्षस भस्म हो गये, शत्रु भस्म हो गये।" तब वह जल का स्पर्श करता है।[14] इसके उपरान्त अध्वर्यु याज्ञिक से पूछता है—"हे याज्ञिक, क्या मैं यज्ञिय सामग्री निकालूँ?" याज्ञिक से आज्ञा प्राप्त कर वह कहता है—"मैं बाहर जा रहा हूँ।" ऐसा कहकर अध्वर्यु आहवनीय या गार्हपत्य अग्नि के पश्चिम में खड़े शकट या लकड़ी की पेटी के पास जाता है, जिसमें चटाइयों से ढका चावल या जौ रखा रहता है। वहाँ वह भाँति-भाँति के कृत्य करता है, जिन्हें हम स्थानाभाव के कारण यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे हैं। विभिन्न कृत्यों के उपरान्त अध्वर्यु अन्न निकालता है। इस प्रकार अध्वर्यु के लगे रहते समय या निर्वाप करते समय याज्ञिक मन्त्र पढ़ता है—"मैं यहाँ अग्नि, होता, यज्ञाभिमुख देवों को बुलाता हूँ, प्रसन्नवदन देव यहाँ आयें और मेरी आहुतियाँ ग्रहण करें।" अध्वर्यु केवल चार मुट्ठी अन्न ग्रहण करता है और पुनः उस पर अर्थात् चार मुट्ठियों वाले अन्न पर कुछ और अन्न डाल देता है। यदि गाड़ी न हो तो अन्न मिट्टी के घड़े या पात्र में रखा जा सकता है, जैसा कि आधुनिक काल में होता भी है। यही कृत्य अन्य देवों के लिए बनाये जाने वाले पुरोडाश के लिए भी किया जाता है। अन्न को स्वच्छ करने, उसे पीसने आदि के विषय में एक लम्बी विधि दी गयी है जिसे हम यहाँ स्थानसंकोच से नहीं दे पा रहे हैं। अन्न के आटे से पुरोडाश निर्मित किया जाता है और उसे विधिपूर्वक पकाया जाता है।

आहवनीय के पश्चिम वेदी का निर्माण किया जाता है। वेदी की लम्बाई याज्ञिक की लम्बाई के बराबर या उपयोग के अनुसार होती है और उसकी गोलाकार आकृति टेढ़ी-मेढ़ी होती है। अध्वर्यु एवं यजमान (याज्ञिक) वेदी के स्थान के निरीक्षण, सफाई, निर्माण, सजावट आदि के कृत्यों में विभिन्न प्रकार के मन्त्र उच्चारण करते हैं, जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

११. मन्त्र यह है—भूश्च कश्च वाक् चर्क् च गाश्च वट् च खं च धूंश्च नूंश्च पूंश्चैकाक्षराः पूर्वंगमा विराजो या इदं विश्वं भुवनं व्यानशुस्ता नो देवीस्तरसा संविदानाः स्वस्ति यज्ञं नयत प्रजानतीः (आप० ४।४।४)।

१२. वही।

१३. 'देवतार्थत्वेन पृथक्करणं निर्वापः' (आप० १।१७।१० की टीका)।

१४. जब राक्षसों के लिए किसी मन्त्र का उच्चारण किया जाता है तो अन्य कृत्य करने के पूर्व जल का स्पर्श कर लिया जाता है, देखिए—"रौद्रं राक्षसमासुरमाभिचरणिकं मन्त्रमुक्त्वा पित्र्यमात्मानं चालभ्योपस्पृशेत्। कात्यायन १।१०।१४।

इसके उपरान्त जुहू, उपभृत् एवं ध्रुवा नामक तीन दर्वियों तथा स्रुव का आह्वान किया जाता है, उन्हें स्वच्छ किया जाता है और तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के कृत्य मन्त्रों के उच्चारण के साथ सम्पादित होते हैं।

पत्नीसन्नहन—यह कृत्य यजमान की पत्नी को मेखला पहनाने से सम्बन्धित है। आग्नीध्र महोदय वेद की टहनी, आज्यस्थाली, योक्त्र[15] तथा दो दर्भांकुर ग्रहण करते हैं। गार्हपत्य अग्नि के दक्षिण-पश्चिम यजमान की पत्नी पंजों के बल पर बैठी रहती है, अर्थात् उसके घुटने उठे रहते हैं या खड़ी रहती है और उसे आग्नीध्र या अध्वर्यु मेखला पहनाता है। यह मेखला मूंज (योक्त्र) की होती है। आजकल पत्नी मेखला स्वयं धारण कर लेती है। आग्नीध्र या अध्वर्यु मेखला को वस्त्र के ऊपर से नहीं, प्रत्युत भीतर से पहनाता है (आपस्तम्ब २।५।५ में विकल्प भी पाया जाता है, अर्थात् मेखला वस्त्र के ऊपर भी धारण की जा सकती है)। पत्नी खड़ी होकर गार्हपत्य अग्नि की स्तुति करती है और कहती है—"हे अग्नि, तू गृह का स्वामी है, मुझे अपने निकट बुला ले।" इसी प्रकार गार्हपत्य के पश्चिम वह देवताओं की पत्नियों की स्तुति करती है और दक्षिण-पश्चिम दिशा में पुनः स्तुति करती है तथा अपने सधवापन एवं सन्ततियों के लिए अग्नि से वरदान माँगती है। आग्नीध्र वस्त्र से ढके हुए घृतपूर्ण घड़े का मुख खोलता है और कृत्य के लिए जितना चाहिए उससे कुछ अधिक घृत निकालता है और उसे दक्षिण-अग्नि पर गर्म करता है। इसके उपरान्त वह पात्रों के समूह से आज्यस्थाली (जिसमें घृत रखा जाता है) निकालता है और उसमें दो पवित्रों को रखकर पर्याप्त मात्रा में घृत भर देता है। इस कृत्य को **घृत-निर्वाप** भी कहा जाता है। आग्नीध्र उस घृत को विभिन्न विधियों से गार्हपत्य के जलते अंगारों पर गर्म करता है। इसी प्रकार उस घृत को पुनीत बनाने के लिए अनेक विधियाँ हैं, जिन्हें स्थानाभाव से यहाँ वर्णित नहीं किया जा रहा है।

बर्हिरास्तरण—इस कृत्य का तात्पर्य है वेदी पर कुश बिछाना। अध्वर्यु बर्हि के गट्ठर की गाँठ खोलकर प्रस्तर-गुच्छ को खींचता है और उस पर दो पवित्र रखता है तथा उसे ब्रह्मा को दे देता है और ब्रह्मा उसे यजमान को देता है। उसके उपरान्त अध्वर्यु वेदी पर दर्भ बिछाता है और उस पर बर्हि बाँधने वाली रस्सी रख देता है। बर्हि रखते समय यजमान उसकी स्तुति करता है। इसी प्रकार अनेक कृत्य किये जाते हैं जिनका वर्णन आवश्यक नहीं है।

इसके उपरान्त अध्वर्यु होता के लिए आसन बनाता है और वह आहवनीय के उत्तर-पूर्व में बैठता है। होता के बैठने का ढंग भी निराला होता है। वह अनेक प्रकार की स्तुतियाँ करके आसन ग्रहण करता है और अपने को पवित्र करता है। यजमान 'दश-होतृ०' मन्त्रों का उच्चारण करता है (तैत्तिरीयारण्यक ३।१)।

इसके उपरान्त **सामिधेनी** मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। दर्श-पूर्णमास में पन्द्रह सामिधेनी मन्त्र कहे जाते हैं जिनका आरंभ ऋग्वेद की ३।२७।१ संख्यक ऋचा से है, अर्थात् इस ऋचा के "प्र वो वाजा" में प्रत्येक को तथा अन्तिम (आ जुहोत, ऋग्वेद ५।२८।६) को तीन बार कहा जाता है। एक ही स्वर से सब पद्यों को उच्चारित किया जाता है, अर्थात् वहाँ **उदात्त**, **अनुदात्त** तथा **स्वरित** नामक स्वरोच्चारणों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। उच्चारण की इस विधि को **एकश्रुति** संज्ञा दी गयी है। प्रत्येक पद्य के अन्त में 'ओम्' कहा जाता है। होता के 'ओम्' कहने पर अध्वर्यु आहवनीय में एक समिधा डाल देता है। उस स्थिति में यजमान 'अग्नय इदं न मम' का उच्चारण करता है। ऐसा वह प्रत्येक समिधा प्रक्षेपण के साथ करता है। इस प्रकार ग्यारह समिधा डाली जाती हैं। एक को छोड़कर, जो अनुयाजों

१५. आज्यस्थाली वह पात्र है जिसमें दो पवित्रों को रखकर घृत रखा जाता है। योक्त्र मूंज की तीन शाखाओं वाली रस्सी है जिससे यजमान की पत्नी की कटि में मेखला (करधनी) बाँधी जाती है। पत्नी मेखला पहन लेने के उपरान्त ही यज्ञ में सम्मिलित हो सकती है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।३।३)।

के लिए रहती है, अन्य शेष को अन्तिम पद्य कहे जाने के पूर्व अग्नि में छोड़ दिया जाता है। आश्वलायन (१।२।८-२२) ने इन सामिधेनियों के विषय में बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

इसके उपरान्त होता प्रवर ऋषियों का आवाहन करता है। इसी प्रकार वह अग्नि की स्तुति करता है, जिससे वह अन्य देवों को बुला दे, यथा अग्नि, सोम, अग्नि, प्रजापति, अग्नीषोम, घृत पीनेवाले देवों को।

इस प्रकार देवताओं का आवाहन करके होता घुटनों के बल बैठ जाता है (अब तक के सारे कृत्य वह खड़ा होकर करता है), वेदी से कुश उत्तर की ओर हटा देता है और वेदी का एक बित्ता स्थल नाप लेता है तथा स्तुति करता है (आश्वलायन १।३।२२)। यजमान भी स्तुति करता है (काठक संहिता ४।१४)। यजमान अन्य विधियों के साथ आहवनीय में घृत डालता है। इस कृत्य को **आघार** की संज्ञा मिली है। आघार की विधि भी लम्बी-चौड़ी है, जिसे स्थानाभाव से यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है।

इसी प्रकार होतृवरण एवं प्रयाजों की क्रियाएँ हैं, जिन्हें हम यहाँ नहीं लिख सकते, क्योंकि उनका विशेष महत्त्व कृत्यों से है और उन्हें करके ही समझाया जा सकता है। आज्यभाग का कृत्य भी विस्तारभय से छोड़ दिया जा रहा है।

उपर्युक्त कृत्यों के उपरान्त प्रमुख यज्ञ का आरम्भ होता है। अध्वर्यु होता से स्तुति करने को कहता है और वह ऋग्वेद ८।१६ से आरम्भ करता है। अध्वर्यु पुरोडाश का अंश अग्नि में डालता है। इसकी विधि भी विस्तार से भरी है, जिसका वर्णन यहाँ अनावश्यक है। इस प्रकार अग्नि, प्रजापति या विष्णु को आहुतियाँ दी जाती हैं। दूसरा पुरोडाश अग्नि एवं सोम को दिया जाता है। अन्य बातें विस्तारभय से छोड़ दी जा रही हैं।

प्रमुख आहुतियों के उपरान्त स्विष्टकृत् अग्नि की पूजा की जाती है और उसे घृत, हवि आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं। इसी प्रकार इडापात्र[१६] से पुरोडाश के दक्षिणी अंश का एक भाग काट लिया जाता है। इसी प्रकार अध्वर्यु क्रम से पुरोडाश के पूर्वी अर्ध-भाग के एक अंश को काट लेता है। इसी प्रकार पुरोडाश के दक्षिणी एवं पूर्वी भाग के बीच से कुछ अंश काटा जाता है। इसी क्रम से अन्त में उत्तरी भाग का अंश भी ले लिया जाता है। अध्वर्यु इस प्रकार इन अंशों पर आज्य छिड़ककर वेदी के पूर्व में रख देता है। इसके उपरान्त कई एक कृत्य किये जाते हैं, जिन्हें हम यहाँ उद्धृत नहीं करेंगे।

आश्वलायन (१।७।७) में इडोपह्वानम् (इडा के आह्वान) का विस्तार के साथ वर्णन है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार की स्तुति एवं आह्वान से इडा देवता यजमान के पक्ष में हो जाता है।

इडा के आह्वान के उपरान्त अध्वर्यु आहवनीयाग्नि के पूर्व से प्रदक्षिणा करता हुआ प्राशित्र ब्रह्मा को देता है। आश्वलायन (१।१३।२) ने ब्रह्मा के कृत्य का वर्णन विस्तार से किया है। होता अवान्तरेडा खाता है और ब्रह्मा प्राशित्र खाता है, दोनों मन्त्रोच्चारण करते हैं (आश्वलायन १।७।८ एवं आपस्तम्ब ३।२।१०-११ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।५)। इसी प्रकार सभी पुरोहित अर्थात् अध्वर्यु, आग्नीध्र, ब्रह्मा, होता एवं यजमान इडा खाते हैं तथा मन्त्र पढ़ते हैं। जब तक वे मार्जन कर नहीं लेते, मौन धारण करते हैं।

दक्षिणाग्नि पर पर्याप्त मात्रा में चावल पकाया जाता है। इसे **अन्वाहार्य** की संज्ञा दी गयी है। यजमान चारों पुरोहितों को अन्वाहार्य खाने के लिए प्रार्थना करता है। इसके उपरान्त यजमान 'सप्तहोतृ०' का जप करता है। सप्त-

१६. 'इडा' एक देवता का नाम है, किन्तु गौण रूप से एक कृत्य तथा यज्ञिय सामग्रियों से भी इसका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इडा-पात्र अश्वत्थ (पीपल) की लकड़ी से निर्मित होता है। यह पात्र चार अंगुल चौड़ा तथा यजमान के पाँव के बराबर लम्बा होता है, इसकी पकड़न (मूठ) चार अंगुल लम्बी होती है।

होतृ-वर्ग में अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा, आग्नीध्र, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता आदि आते हैं। प्रत्येक जप में यजमान त्याग का मन्त्र पढ़ता है। अनुयाज तीन प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रथम में 'देवान् यज' तथा अन्य दो में केवल 'यज' कहा जाता है।[१७]

इसके उपरान्त कई अन्य कृत्य किये जाते हैं, जिनका वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है। होता पत्नी की मेखला (योक्त्र) खोल देता है और मन्त्र पढ़ता है (ऋग्वेद १०।८५।२४)। पत्नी योक्त्र को अलग कर देती है और अध्वर्यु उससे मन्त्रोच्चारण कराता है (तैत्तिरीय संहिता १।१।१०।२)। अन्य अन्तिम कृत्य स्थानाभाव से यहाँ लिखे नहीं जा रहे हैं।

दर्शेष्टि की विधि में पूर्णमासेष्टि की अपेक्षा अधिक मत-मतान्तर पाये जाते हैं। दर्श-पूर्णमास के कई परिष्कृत रूप हैं, यथा दाक्षायण यज्ञ, वैमृध, साकम्प्रस्थीय आदि, जिन्हें हम स्थानसंकोच के कारण यहाँ नहीं दे रहे हैं। जैमिनि (२।३।५-११) के कथनानुसार दाक्षायण, साकम्प्रस्थीय एवं संक्रम यज्ञ दर्श-पूर्णमास के ही परिष्कृत रूप हैं।

पिण्डपितृयज्ञ

इस कृत्य में पके हुए चावल के पिण्ड पितरों को दिये जाते हैं, अतः इसे पिण्डपितृयज्ञ की संज्ञा दी गयी है।[१८] जैमिनि (४।४।१९-२१) के अनुसार पिण्डपितृयज्ञ एक स्वतन्त्र कृत्य है न कि दर्श यज्ञ के अन्तर्गत अथवा उसका अंग। किन्तु कतिपय लेखकों के अनुसार यह दर्श नामक यज्ञ का एक अंग है (कात्यायन ४।१)। इस यज्ञ के विस्तार के लिए ये ग्रन्थ अवलोकनीय हैं, यथा—शतपथ ब्राह्मण २।४।२, तैत्तिरीय ब्राह्मण १।३।१०, २।६।१६, आश्वलायन २।६-७, आपस्तम्ब १।७-१०, कात्यायन ४।१।१-३०, शत० २।७, बौधायन ३।१०-११। यह कृत्य उस दिन किया जाता है जब कि चन्द्र का दर्शन नहीं होता, अर्थात् अमावस्या के तीसरे भाग में, जब सूर्य की किरणें वृक्षों के ऊपरी भाग पर रहती हैं। स्थानाभाव से इस यज्ञ का वर्णन नहीं किया जा रहा है।

इस यज्ञ को वह गृहस्थ भी कर सकता है जिसने तीन वैदिक अग्नियाँ नहीं स्थापित की हैं। ऐसा गृहस्थ अमावस्या के दिन गृह्य अग्नि में आहुतियाँ देता है (देखिए आश्वलायनश्रौतसूत्र २।७।१८, संस्कारकौस्तुभ, संस्कारप्रकाश आदि)। गौतम (५।५) का कहना है कि प्रत्येक गृहस्थ को कम-से-कम जल-तर्पण अवश्य करना चाहिए, उसे यथाशक्ति भोजन आदि की भी आहुतियाँ देनी चाहिए। मनु ने भी दैनिक पितृतर्पण की बात चलायी है (२।१७६)।

१७. देखिए आश्वलायन (१।८।७), तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।५।९), तैत्तिरीय संहिता (१।६।४।१) एवं आपस्तम्ब (४।१२)।

१८. अमावास्यायां यदहश्चन्द्रमसं न पश्यन्ति तदहः पिण्डपितृयज्ञं कुरुते (आप० १।७।१-२)। रुद्रदत्त ने व्याख्या की है—"पिण्डैः पितृणां यज्ञः"; सत्याषाढ की टीका में महादेव ने कहा है—"पिण्डैः पिण्डदानेन सहितः पितृभ्यो देवेभ्यो यज्ञो होमः स पिण्डपितृयज्ञः" (२।७, पृ० २४५)।

अध्याय ३१

चातुर्मास्य (ऋतु-सम्बन्धी यज्ञ)

आश्वलायन (२।१४।१) के मतानुसार इष्ट्ययन के अन्तर्गत चातुर्मास्य, तुरायण, दाक्षायण तथा अन्य इष्टियाँ आ जाती हैं। चातुर्मास्य तीन हैं, यथा—**वैश्वदेव, वरुणप्रघास एवं साकमेध**; किन्तु कुछ लेखकों ने **शुनासीरीय** नामक एक चौथा चातुर्मास्य भी सम्मिलित कर लिया है। इनमें प्रत्येक चातुर्मास्य को **पर्व** (अंग या संधि) कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक प्रति चौथे मास के अन्त में किया जाता है अतः इन्हें **चातुर्मास्य** संज्ञा मिली है। ये क्रम से फाल्गुन या चैत्र, आषाढ़ तथा कार्तिक की पूर्णमासी को या पूर्णमासी के पाँचवें दिन या साकमेध के दो या तीन दिन पूर्व किये जाते हैं। इनसे तीन ऋतुओं, यथा वसन्त, वर्षा एवं हेमन्त के आगमन का निर्देश मिलता है। शुनासीरीय के लिए कोई निश्चित तिथि नहीं है। यह साकमेध के उपरान्त या इसके दो, तीन या चार दिनों या एक या चार मासों के उपरान्त सम्पादित किया जा सकता है (देखिए कात्यायन ५।११।१-२ और इसकी टीका)। यदि वैश्वदेव पर्व चैत्र की पूर्णमासी को सम्पादित हो तो वरुणप्रघास एवं साकमेध क्रम से श्रावण एवं मार्गशीर्ष की पूर्णिमाओं के अवसर पर होते हैं।

वैश्वदेव

आश्वलायन के मत से फाल्गुन की पूर्णिमा के एक दिन पूर्व चातुर्मास्य के निमित्त वैश्वानर (अग्नि) एवं पर्जन्य के लिए एक इष्टि करनी चाहिए। कात्यायन (५।१।२) ने यहाँ विकल्प किया है कि उस दिन व्यक्ति यह इष्टि करे या अन्वारम्भणीया इष्टि करे। पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल वैश्वदेव किया जाता है और तब पूर्णमास इष्टि की जाती है। कात्यायन (५।१) की टीका के मत से वैश्वदेव-इष्टि पूर्णिमा के एक दिन उपरान्त प्रातःकाल की जाती है और तभी फाल्गुन की पूर्णमास-इष्टि की विधि उचित मानी जाती है। चातुर्मास्य के सभी पर्वों में यजमान के लिए कुछ व्रत या कृत्य करना आवश्यक होता है, यथा सिर-मुण्डन या दाढ़ी बनवाना, पृथिवी पर सोना, मधु-सेवन न करना; मांस, नमक, मिथुन, शरीरालंकरण आदि से दूर रहना आदि। मूँछ एवं दाढ़ी बनवाने के विषय में विकल्प भी पाया जाता है, यथा—या तो व्यक्ति प्रथम दिन तथा अन्तिम दिन या चारों अवसरों पर ऐसा कर सकता है। सभी चातुर्मास्यों में पाँच कृत्य आवश्यक माने गये हैं, यथा अग्नि के लिए आठ घट-शकलों (कपालों) का एक पुरोडाश (रोटी), सोम के लिए पकाया हुआ चावल अर्थात् भात, सविता (उपांशु) के लिए बारह या आठ कपालों वाला एक पुरोडाश, सरस्वती के लिए चरु तथा पूषा के लिए चावल के आटे का चरु। चातुर्मास्यों के सम्पादन से यजमान को स्वर्ग मिलता है। ये यज्ञ जीवन भर या केवल एक वर्ष के लिए किये जा सकते हैं।

वैश्वानर एवं पर्जन्य की आरम्भिक इष्टि में वैश्वानर के लिए बारह कपालों वाली रोटी तथा पर्जन्य के लिए

१. देखिए तैत्तिरीय संहिता १।८।२-७, तैत्तिरीय ब्राह्मण १।४।९-१० एवं १।५।५-६, शतपथ ब्राह्मण २।५।१-३ एवं ९।५।२, आपस्तम्ब ८, कात्यायन ५, आश्वलायन २।१५-२०, बौधायन ५।

चरु बनाया जाता है। दोनों के लिए अनुवाक्या पद भी होते हैं (आश्वलायन २।१५।२ एवं ऋग्वेद ७।१०२।१)। याज्या पद भी गाये जाते हैं (ऋग्वेद १।९८।२ एवं ५।८३।४)। वैश्वदेव पर्व में ही (सभी चातुर्मास्यों में पाँच आहुतियाँ सामान्य रूप से दी जाती हैं) तीन अन्य आहुतियाँ हैं, यथा—मरुत स्वतवों या मरुतों के लिए एक पुरोडाश (सात कपालों वाला), सभी देवों (विश्वे देवों) के लिए एक पयस्या (या आमिक्षा) तथा द्यावापृथिवी के लिए एक कपाल वाली रोटी।[२]

कात्यायन (५।१।२१-२४) के मत से वैश्वदेव पर्व ऐसे स्थल पर करना चाहिए जो पूर्व की ओर झुका हुआ हो। यजमान और पत्नी नया वस्त्र धारण करते हैं जिसे वे दोनों पुनः वरुणप्रघास पर्व में धारण करते हैं। शतपथ ब्राह्मण (२।५।१) के आधार पर कात्यायन (५।१।२५-२६) का मत है कि बर्हि (वह पवित्र दर्भ जिसे यज्ञ-स्थल पर बिछाया जाता है) तीन गड्डियों में अलग-अलग घास की रस्सी से बाँधा जाता है। ये तीनों गड्डियाँ पुनः एक बड़ी रस्सी से बाँधी जाती हैं। उनके बीच में (अन्तिम रस्सी के भीतर) फूलते हुए कुश का एक गट्ठर रख दिया जाता है, जो प्रस्तर के रूप में प्रयुक्त होता है। यज्ञ-स्थल पर यज्ञपात्रों को रखकर अरणियों से अग्नि उत्पन्न की जाती है। अध्वर्यु के कहने पर होता अरणियों को रगड़ते समय वैदिक मन्त्रों (ऋग्वेद १।२४।३, १।२२।१३, ६।१६।१३-१५) का उच्चारण तब तक करता है जब तक वह अध्वर्यु से दूसरा आदेश (सम्प्रैष) नहीं पा लेता। यदि अग्नि तत्काल न उत्पन्न हो तो होता मन्त्रोच्चारण (ऋग्वेद १०।११८) करता जाता है, और यह क्रिया (अरणियों के रगड़ने एवं मन्त्रोच्चारण की क्रिया) अग्नि प्रज्वलित होने तक होती रहती है। जब अध्वर्यु कहता है—"अग्नि उत्पन्न हो गयी" तो होता ऋग्वेद (६।१६।१५) का मन्त्र उच्चारित करता है। इसके उपरान्त होता अन्य मन्त्र पढ़ता है, यथा ऋग्वेद १।७४।३ एवं ६।१६।४० का अर्ध भाग तथा ६।१६।४१-४२, १।१२।६, ८।४३।१४, 'तमर्जयन्त सुक्रतुम्' एवं ऋग्वेद १०।९०।१६ का परिधानीया पद्य (अन्तिम मन्त्र)। वैश्वदेव पर्व में नौ प्रयाज एवं नौ अनुयाज होते हैं, किन्तु दर्शपूर्णमास में केवल पाँच प्रयाज तथा तीन अनुयाज होते हैं। सविता की आहुतियों के लिए ऋग्वेद के ५।८२।७ एवं ६।७१।६ मन्त्र अनुवाक्या एवं याज्या हैं। अनुयाजों या सूक्तवाक या शंयुवाक के उपरान्त वाजिन नामक देवों के लिए वाजिन की आहुति दी जाती है। वाजिन का शेषांश एक पात्र में उसी प्रकार लाया जाता है जैसा कि इडा का (अर्थात् वह अध्वर्यु द्वारा होता के जुड़े हाथों में रखा जाता है, होता उसे बायें हाथ में रखकर दायें हाथ में अध्वर्यु द्वारा छिड़का हुआ घृत धारण करता है और तब वाजिन के दो अंश रखे जाते हैं और पुनः उन पर कुछ घृत छिड़का जाता है) रखा जाता है। इसके उपरान्त पात्र मुख या नाक तक ऊपर उठाया जाता है। होता अन्य पुरोहितों से वाजिन खाने को कहता है। होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं आग्नीध्र केवल सूंघकर वाजिन को अपनाते हैं। किन्तु यजमान वाजिन को वास्तविक रूप में खाता है। कात्यायन (५।२।९ एवं १२) के मत से अध्वर्यु समिष्ट-यजु नामक तीन आहुतियाँ वात, यज्ञ एवं यज्ञपति के लिए देता है। शतपथ ब्राह्मण (२।५।१।२१) इस कृत्य में दान के लिए ऋतु में प्रथम उत्पन्न बछड़े का निर्देश करता है। कात्यायन का कहना है कि तीनों चातुर्मास्यों की समाप्ति पर यजमान अपने केश बनवा सकता है, किन्तु शुनासीरीय नामक चातुर्मास्य में ऐसा नहीं करना चाहिए (२।५।१।२१)।

वरुणप्रघास

'वरुणप्रघास' शब्द पुल्लिंग है और सदा बहुवचन में प्रयुक्त होता है। शतपथ ब्राह्मण (२।५।२।१) ने इसकी

२. प्रातःकाल के दूध को गर्म करके उसमें खट्टा दूध डालने से दही बनता है, उसका कड़ा भाग आमिक्षा तथा तरल पदार्थ वाजिन कहलाता है।

एक काल्पनिक व्युत्पत्ति की है; यव (जौ) अन्न वरुण के लिए हैं और ये इस कृत्य में खाये (घस=खाना) जाते हैं, अतः इसका यह नाम है। वैश्वदेव के चार मास उपरान्त वर्षा ऋतु में आषाढ़ या श्रावण की पूर्णिमा को यह कृत्य किया जाता है। यजमान को अपने घर के बाहर ऐसे स्थान पर जाना चाहिए जहाँ पर्याप्त मात्रा में पौधे उगे रहते हैं। आहवनीय अग्नि के पूर्व तथा दक्षिण की ओर दो वेदियाँ बनायी जाती हैं। उत्तर वाली वेदी अध्वर्यु तथा दक्षिण वाली उसके सहायक प्रतिप्रस्थाता (आप० ८।५।५) के रक्षण में होती है। प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु का अनुसरण करता है। केवल जल ले जाना, पत्नी-सन्नहन (पत्नी को मेखला पहनाना), अग्नि-प्रज्वलन तथा अन्य कार्य जो कात्यायन (५।४।३३) में वर्णित हैं, उन्हें अध्वर्यु करता है। सभी प्रकार के आदेश केवल एक बार कहे जाते हैं और यह सब केवल अध्वर्यु ही करता है। किन्तु जैमिनि (१२।१।१८) के मत से, आज्य लेने के मन्त्र तथा प्रोक्षण आदि के मन्त्र दोनों के द्वारा अलग-अलग कहे जाते हैं। दोनों वेदियाँ दो, तीन या चार अंगुल की दूरी पर रहती हैं। उत्कर केवल एक होता है। प्रतिप्रस्थाता दोनों वेदियों के बीच में विचरण करता है। एक दिन पूर्व अर्थात् पिछले दिन वह करम्भ से पूर्ण घड़े तैयार रखता है। करम्भ का अर्थ है भूने हुए जौ, जिनके छिलके साफ किये हुए होते हैं और जो पीसकर दही में मिश्रित कर दिये जाते हैं (कात्या० ५।३।२)। आपस्तम्ब (८।६।३) के मत से पत्नी ही करम्भपात्र बनाती है। ये पात्र सन्तानों की संख्या से एक अधिक होते हैं (पुत्र, कुमारी पुत्रियाँ, पौत्र एवं कुमारी पौत्रियों से एक अधिक)। कात्यायन (५।३।३-५) एवं आपस्तम्ब (८।५।४१) के अनुसार इस कोटि में वधुएँ भी सम्मिलित की जाती हैं। कम-से-कम तीन सन्तानें अवश्य सम्मिलित की जाती हैं। करम्भपात्रों के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले भूने हुए जौ तथा पीसे हुए जौ के शेषांश से भेड़ एवं भेड़ी की आकृति बनायी जाती है। भेड़ (नर) का निर्माण अध्वर्यु तथा भेड़ी (मेषी) का प्रतिप्रस्थाता करता है। इन आकृतियों को ऊन (एडका अर्थात् जंगली बकरी को छोड़कर किसी भी पशु के ऊन) से या उसके अभाव में कुश से ढक दिया जाता है। सभी चातुर्मास्यों में जो पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, उनके अतिरिक्त वरुणप्रघासों में चार अन्य देवों को, अर्थात् इन्द्र एवं अग्नि, मरुतों, वरुण एवं क अर्थात् प्रजापति को आहुतियाँ दी जाती हैं (आश्वलायन २।१७।१४)। मरुतों एवं वरुण को पयस्या या आमिक्षा तथा क (प्रजापति) को एक रोटी दी जाती है। सारी आहुतियाँ जौ की होती हैं। अनुवाक्या एवं याज्या ऋग्वेद के ७।९४।१८, ६।६०।१, १।८६।१, ५।५८।५, १।२५।१९, १।२४।११, ४।३१।१ एवं १०।१२१।१ मन्त्रों के रूप में होती हैं (आश्व० २।१७।२५)। आहवनीय अग्नि के ठीक पूर्व में लगभग तीन प्रक्रम की दूरी पर उत्तरवेदी निर्मित की जाती है, जो पश्चिम से पूर्व की ओर चार अरत्नियों के बराबर लम्बी होती है। इसकी चौड़ाई लगभग तीन अरत्नियों के बराबर होती है। वेदी के निर्माण की विधि लम्बी है, जिस पर स्थानाभाव से प्रकाश नहीं डाला जा रहा है। प्रातःकाल अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता वेदियों की ओर गार्हपत्य से अग्नि ले जाते हैं। जैमिनि (७।३।२३-२५) के मत से अग्नि ले जाना केवल वरुणप्रघासों एवं साकमेधों में ही किया जाता है। आगे का विस्तार स्थानाभाव से छोड़ दिया जा रहा है।

इस कृत्य का अन्त किसी नदी में जाकर पुरोहितों, यजमान एवं पत्नी के स्नान से होता है। किसी अन्य स्थान में भी स्नान क्रिया की जा सकती है। स्नानोपरान्त यजमान तथा पत्नी अपने वस्त्र किसी पुरोहित को देकर नवीन वस्त्र धारण करते हैं और घर लौटकर यजमान आहवनीय में एक समिधा डाल देता है।

साकमेध

चातुर्मास्यों के तृतीय पर्व का बौधायन, आपस्तम्ब एवं कात्यायन ने बड़ा विस्तार किया है। नीचे हम केवल प्रमुख बातें दे रहे हैं। 'साकमेध' शब्द का प्रयोग बहुवचन में होता है, क्योंकि इसमें बहुत-से कृत्यों एवं आहुतियों की

योजना पायी जाती है। 'साकमेध' का अर्थ है 'एक ही साथ या मानो एक ही समय प्रज्वलित करना (साकम्, एध)।' इसका यह नाम सम्भवतः इसलिए पड़ा है कि इसमें प्रथम आहुति आठ कपालों वाली रोटी (पुरोडाश=परोठा=रोट=रोटी)[3] की होती है, जो सूर्योदय के साथ अग्नि अनीकवान् को दी जाती है। वरुणप्रघासों के चार मास उपरान्त कार्तिक या मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को यह कृत्य किया जाता है। इसमें कुल दो दिन लग जाते हैं। पूर्णिमा के एक दिन पूर्व तीन सवनों (प्रातः, मध्याह्न एवं सायं) में तीन इष्टियाँ तीन देवों, यथा—अनीकवान् अग्नि, सन्तपन मरुतों एवं गृहमेधी मरुतों के लिए की जाती हैं। प्रातः आठ कपालों वाला पुरोडाश अग्नि अनीकवान् को, मध्याह्न काल में चरु (पकाये हुए चावल अर्थात् भात की आहुति) सन्तपनों को तथा सायं यजमान की सभी गायों के दूध में पका हुआ चरु गृहमेधी मरुतों को दिया जाता है (आप० ८।९।८)। अन्तिम चरु के विषय में आपस्तम्ब (८।१०।८ एवं ८।११।८-१०) तथा कात्यायन (५।६।२९-३०) ने लिखा है कि यदि दूध में अधिक चावल पकाया गया हो तो पुरोहित, पुत्र एवं पौत्र उसका भरपेट भोजन कर उस रात्रि एक ही कोठरी में सो जाते हैं और दरिद्रता एवं भूख की चर्चा नहीं करते। दूसरे दिन प्रातःकाल पानी में पके हुए चावलों से अग्निहोत्र किया जाता है। साकमेध के प्रमुख दिन यजमान पिछले दिन गृहमेधी मरुतों के लिए पकाये गये भात की थाली की सतह से एक दर्वी (करछुल) भात निकालकर अग्निहोत्र के पूर्व या उपरान्त होम करता है। होम के समय मन्त्रपाठ भी होता है (वाजसनेयी संहिता ३।४९, तैत्तिरीय संहिता १।८।४।१)। इसके उपरान्त अध्वर्यु यजमान से एक बैल लाने को कहता है और उसे गर्जन करने को उद्वेलित करता है। बैल के निनाद करने पर दर्वी का भात मन्त्र (वाजसनेयी संहिता ३।५०, तैत्तिरीय संहिता १।८।४।१) के साथ अग्नि में डाला जाता है। यदि बैल न बोल सके तो पुरोहित के कहने पर होम कर दिया जाता है। आश्वलायन (२।१८।११-१२) के मत से बैल के न बोलने पर घन-गर्जन पर या आग्नीध्र (एक पुरोहित) के गर्जन करने पर (आग्नीध्र को ब्रह्मपुत्र अर्थात् ब्रह्मा का पुत्र कहा जाता है) होम कर दिया जाता है। बैल को दान रूप में अध्वर्यु ग्रहण करता है। इसके उपरान्त सात कपालों पर पका हुआ एक पुरोडाश क्रीडी मरुतों के लिए तथा एक चरु अदिति के लिए आहुति के रूप में दिया जाता है। इस कृत्य के उपरान्त महाहवि की बारी आती है, जिसमें आठ देवों को आठ आहुतियाँ दी जाती हैं, जिनमें पाँच आहुतियाँ तो सभी चातुर्मास्यों वाली होती हैं, छठी १२ कपालों वाले पुरोडाश की इन्द्र एवं अग्नि के लिए, सातवीं महेन्द्र (आश्व० २।१८।१८ के मत से इन्द्र या वृत्रहा इन्द्र या महेन्द्र) के लिए चरु के रूप में तथा आठवीं आहुति एक कपाल वाले पुरोडाश के रूप में विश्वकर्मा के लिए होती है। आपस्तम्ब के मत से आठवीं आहुति सहः, सहस्य, तपः एवं तपस्य नामक चारों मासों (मार्गशीर्ष, पौष, माघ एवं फाल्गुन) के नामों को उच्चारित कर दी जाती है। महाहवि की दक्षिणा है एक बैल (आप० के मत से एक गाय)।

महाहवि के उपरान्त पितृयज्ञ की बारी आती है, जिसे महापितृयज्ञ कहा जाता है। दक्षिणाग्नि के दक्षिण चार कोण वाली (चार दिशाओं में फैली भुजाओं वाली) वेदी का निर्माण होता है। इस वेदी की लम्बाई एवं चौड़ाई यजमान की लम्बाई के बराबर होती है (आप० ८।१३।२)। यजमान दक्षिणाग्नि से अग्नि लाकर इस नयी वेदी के मध्य में रखता है जहाँ आहवनीयाग्नि में दी जाने वाली आहुतियाँ डाली जाती हैं। महापितृयज्ञ में पत्नी कुछ नहीं करती। छः कपालों वाली रोटी इस यज्ञ में सोमवान् पितरों या पितृमान् सोम को, धाना (भूने हुए जौ) बर्हिषद् पितरों को तथा मन्थ[4]

३. अथ पौर्णमास्या उपवसथेऽग्नयेऽनीकवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति साकं सूर्येणोद्यता। बौ० ५।९; आप० ८।९।२ एवं तै० सं० १।८।४।६।

४. वह गाय जिसका बछड़ा न हो किन्तु दूसरी गाय के बछड़े से दूध दे, उसे 'निवान्या' गाय कहा जाता

अग्निष्वात्त पितरों को दिया जाता है। आश्वलायन (२।१९।२१) ने यम देवता को भी सम्मिलित कर लिया है। इस कृत्य सम्बन्धी अन्य विस्तार स्थानाभाव से छोड़ दिये जा रहे हैं।

साकमेध की अन्तिम क्रिया त्रैयम्बक होम है (देखिए तै० सं० १।८।६, शतपथ ब्राह्मण २।६।२।१-१७, आश्व० २।१९।३७।४०, आप० ८।१७-१९, बौधा० ५।१६-१७, कात्या० ५।१०)। यह होम रुद्र के लिए किया जाता है। विस्तार वर्णन के लिए यहाँ स्थान नहीं है।

शुनासीरीय

चातुर्मास्यों की अन्य पाँच आहुतियों के अतिरिक्त इस इष्टि में विशिष्ट आहुतियाँ हैं—बारह कपालों वाली रोटी (वायु एवं आदित्य के लिए तथा आपस्तम्ब के अनुसार इन्द्र शुनासीर के लिए), धारोष्ण दूध (वायु के लिए), एक कपाल वाली रोटी (सूर्य के लिए)। इस कृत्य में न तो उत्तरवेदी होती है और न घर्षण से उत्पन्न अग्नि। पाँच प्रयाज, तीन अनुयाज एवं एक समिष्टयजु होते हैं। आपस्तम्ब (८।२०।६) के मत से नौ प्रयाज एवं अनुयाज होते हैं। दक्षिणा के रूप में छः बैलों या दो बैलों के साथ हल होता है। कात्यायन (५।११।१२-१४) के मत से एक सफेद बैल, तैत्तिरीय संहिता (१।८।७) के मत से १२ बैलों के साथ एक हल तथा आपस्तम्ब (८।२०।९-१०) के मत से १२ या ६ बैलों के साथ एक हल होता है।

ऋग्वेद (४।५७।५ एवं ८) में 'शुनासीरौ' का उल्लेख है। ऋग्वेद (४।५७।४ एवं ८) में 'शुन' शब्द कई बार आया है। इसका अर्थ सन्देहास्पद है। यास्क के निरुक्त (९।४०) के अनुसार 'शुन' एवं 'सीर' का अर्थ है—क्रम से वायु एवं आदित्य। किन्तु शतपथ ब्राह्मण (२।६।३।२) में 'शुन' का अर्थ है 'समृद्धि' एवं 'सीर' का अर्थ है 'सार' और इस इष्टि को यह संज्ञा इसलिए मिली है कि इससे यजमान को समृद्धि एवं सार की प्राप्ति होती है।

आग्रयण

इस कृत्य के विस्तार के लिए देखिए शतपथ ब्राह्मण (२।४।३), आपस्तम्ब (६।२९।२), आश्वलायन (२।९), कात्यायन (४।६), बौधायन (३।१२)। यह वह इष्टि है जिसे सम्पादित किये बिना नवीन चावल, जौ, सावाँ (श्यामाक) एवं अन्य नवीन अन्नों का प्रयोग आहिताग्नि नहीं कर सकता था। यह कृत्य पूर्णिमा या अमावस्या के दिन किया जाता था। चावलों के अनुसार इस कृत्य का काल शरद ऋतु था।[5] जौ वसन्त में पकते हैं, अतः इनका आग्रयण कृत्य वसन्त ऋतु में किया जाता था। आश्वलायन ने विकल्प दिया है कि एक बार शरद में आग्रयण कर लेने पर यव के लिए इसका सम्पादन पुनः नहीं भी किया जा सकता है। श्यामाक (सावाँ) की इष्टि वर्षा ऋतु में की जाती है और सोम को चरु दिया जाता है। 'आग्रयण' दो शब्दों से बना है; 'अग्र' एवं 'अयन'। 'अग्र' का अर्थ है प्रथम फल एवं

है। इस गाय का दूध आधे भूने हुए जौ वाले पात्र में रखा जाता है। उसे दो-एक बार ईख के डण्ठल से हिला दिया जाता है। ईख के डण्ठल में एक रस्सी बँधी रहती है जिसे पकड़कर दूध हिलाया जाता है। हिलाने वाला ईख को हाथ से नहीं पकड़ता। यह हिलाना या मथना दाहिने से बायें होता है। इस प्रकार के मन्थन से प्राप्त वस्तु को मन्थ कहा जाता है।

५. यदा वर्षस्य तृप्तः स्यादथाग्रयणेन यजेत।...अपि वा क्रिया यवेषु। आश्व० २।९।[illegible] एवं ५।

'अयन' का अर्थ है खाना।[६] आपस्तम्ब (६।२९।६) के अनुसार इसमें अग्नि प्रज्वलित करने वाले १७ मन्त्र (सामिधेनी) होते हैं। इस कृत्य के देव हैं इन्द्र एवं अग्नि (आप० ६।२९।१० एवं आश्व० २।९।१६ के मत से ऐन्द्राग्न या आग्नेन्द्र) तथा आहुतियाँ हैं बारह कपालों वाली रोटी, वैश्वदेवों के लिए दूध या जल में पकाया हुआ चरु, एक कपाल वाली रोटी (द्यावापृथिवी के लिए) तथा सोम के लिए चरु (यदि सावाँ के अन्न के विषय में कृत्य हो रहा हो तो)। आग्रयण के सम्बन्ध की अन्य बातें विस्तार भय से छोड़ दी जा रही हैं। दक्षिणा के विषय में कई मत हैं। कात्यायन (४।६।१८) के मत से रेशमी वस्त्र, मधुपर्क (मधु, दही एवं घी) या वर्षा ऋतु में यजमान द्वारा पहना गया वस्त्र दिया जा सकता है। आपस्तम्ब (६।३०।७) के मत से माघ की पूर्णिमा के पूर्व उत्पन्न हुए बछड़ों में प्रथम बछड़ा, और इष्टि वाला वस्त्र (सावाँ अन्न के साथ) दिया जा सकता है। जैमिनि (१०।३।३४-३८, १२।२।३४-३७) के मत से रेशमी वस्त्र, बछड़ा तथा दक्षिणाग्नि पर पकाया हुआ चावल दिया जा सकता है। आग्रयण कृत्य श्रौत यज्ञ का ही एक रूप है जो तीनों वैदिक अग्नियों को प्रज्वलित करनेवालों के लिए मान्य है।

काम्येष्टि

श्रौतसूत्रों में बहुत-सी ऐसी इष्टियों के सम्पादन के नियम पाये जाते हैं जो विशिष्ट घटनाओं, अवसरों या वाञ्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए की जाती हैं। आश्वलायन (२।१०-१४), आपस्तम्ब (१९।१८-२७) तथा अन्य श्रौतसूत्रों ने बहुत-सी इष्टियों के नाम लिये हैं, यथा **आयुष्कामेष्टि** (लम्बी आयु की अभिकांक्षा रखने वाले के लिए), **स्वस्त्ययनी** (सुरक्षापूर्ण यात्रा के लिए), **पुत्रकामेष्टि** (उसके लिए जो पुत्र या दत्तक की अभिलाषा करता है, आश्वलायन २।१०।८-९), **लोकेष्टि, महावैराजी** (आश्वलायन २।११।१-४) या **मित्रविन्दा** (कात्यायन ५।१२, उसके लिए जो सम्पत्ति, राज्य, मित्रों एवं लम्बी आयु की अभिलाषा रखता है। इसमें १० देवों की पूजा की जाती है), **संज्ञानी** (समझौते के लिए), **कारीरीष्टि** (उसके लिए जो वर्षा चाहता है, आश्व० २।१३।१-१३, आप० १९।२५।१६), **तुरायण** (आश्व० २।१४।४-६), **दाक्षायण** (आश्व० २।१४।७-१०)।[७] इन इष्टियों का वर्णन स्थानाभाव से यहाँ नहीं किया जा रहा है।

६. अग्रे अयनं भक्षणं येन कर्मणा तदाग्रयणम्। प्रथमद्वितीययोर्ह्रस्वदीर्घत्वव्यत्ययः। आश्वलायन (२।९।१) की टीका।

७. कालिकापुराण (व्यवहारमयूख, पृ० ११४) के मत से पाँच वर्ष वाले या उससे बड़े पुत्र को गोद लेने वाला पुत्रेष्टि करता है। कारीरीष्टि में यजमान काले अञ्चल वाले काले वस्त्र को धारण करता है (तैत्तिरीय संहिता, २।४।७-१०)। मित्रविन्दा के लिए देखिए शतपथब्राह्मण ११।४।३। दाक्षायण के लिए देखिए शतपथ ब्राह्मण (२।४।४, ११।१।२।१३) जिसके अनुसार यह इष्टि केवल १५ वर्षों तक की जाती है, क्योंकि इसमें प्रति मास दो अमावस्याओं एवं दो पूर्णिमाओं को आहुतियाँ दी जाती हैं।

अध्याय ३२

पशुबन्ध या निरूढ-पशुबन्ध[1]

पशुबन्ध एक स्वतन्त्र यज्ञ है और सोमयज्ञों में इसका सम्पादन उनका एक अभिन्न अंग माना जाता है। स्वतन्त्र पशुयज्ञ को निरूढ-पशुबन्ध (आँत निकाले हुए पशु की आहुति) कहा जाता है तथा अन्य गौण पशुयज्ञों की सौमिक (आश्व० ३।८।३-४) संज्ञा है। जैसा कि जैमिनि (८।१।१३) का उद्घोष है, निरूढ-पशु सोमयाग में प्रयुक्त पशुबलि (अग्नीषोमीय पशु) का परिमार्जन मात्र है, किन्तु कतिपय सूत्रों के निरूढपशु नामक परिच्छेद में दोनों की विधि का पूर्ण विवेचन हुआ है (देखिए, कात्यायन ६।१०।३२ एवं कात्यायन ६।१।३१ की टीका)। सवनीय-पशु एवं अनुबन्ध्य-पशु के अतिरिक्त सभी पशुयज्ञों का आदर्श रूप (प्रकृति) वास्तव में निरूढ पशुबन्ध ही है। आहिताग्नि को जीवन भर प्रति छः मास उपरान्त या प्रति वर्ष स्वतन्त्र रूप से पशुयज्ञ करना पड़ता था।[2] प्रति वर्ष किये जाने पर वर्षा ऋतु (श्रावण या भाद्रपद) की अमावस्या या पूर्णिमा के दिन या प्रति छः मास पर किये जाने पर दक्षिणायन एवं उत्तरायण के आरम्भ में यह किया जाता था। तब यह किसी भी दिन सम्पादित हो सकता था और उसके लिए अमावस्या या पूर्णिमा का दिन आवश्यक नहीं माना जाता था। आश्वलायन (३।१।२-६) के मत से पशुबन्ध के पूर्व या उपरान्त विकल्प से कोई इष्टि की जा सकती थी और वह या तो अग्नि या अग्नि-विष्णु अथवा अग्नि और अग्नि-विष्णु के लिए होती थी। इस यज्ञ में एक छठा पुरोहित होता था मैत्रावरुण (या प्रशास्ता)। हम पहले ही देख चुके हैं कि चातुर्मास्यों में पाँच पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है। अग्निष्टोम ऐसे यज्ञ में यजमान को उदुम्बर की छड़ी दी जाती है। पशुबन्ध में पुरोहितों के चुनाव के उपरान्त जब मैत्रावरुण यज्ञभूमि में प्रवेश करता है तो अध्वर्यु (कुछ शाखाओं के अनुसार यजमान) उसे यजमान के मुख तक लम्बी छड़ी मन्त्र के साथ देता है और मैत्रावरुण मन्त्र के साथ उसे ग्रहण करता है। इसके उपरान्त कुछ अन्य कृत्य होते हैं जिन्हें यहाँ देना आवश्यक नहीं है। अध्वर्यु आहवनीय में घृत छोड़ता है। इस क्रिया को यूपाहुति कहते हैं। इसके उपरान्त अध्वर्यु वनस्थली में किसी बढ़ई (तक्षा) के साथ जाता है। यज्ञ-स्तम्भ या यूप का निर्माण पलाश, खदिर, बिल्व या रौहितक नामक वृक्ष के काष्ठ से होता है।[3] किन्तु सोमयज्ञ में यथासम्भव खदिर का ही यूप निर्मित होता है। वृक्ष हरा होना चाहिए, उसका ऊपरी भाग शुष्क नहीं होना चाहिए। वह सीधा खड़ा हो तथा उसकी टहनियाँ ऊपर की ओर उठी हों; इतना ही नहीं, टहनियों का झुकाव

१. देखिए शतपथब्राह्मण ३।६।४, ११।७।१; तैत्तिरीय संहिता १।३।५-११, ६।३।४; कात्यायन ६; आपस्तम्ब ७; आश्वलायन ३।१-८ एवं बौधायन ४।

२. मनु (४।२६) ने भी अयनों के आरम्भ में पशुयज्ञ की व्यवस्था कही है। आपस्तम्ब (७।८।२-३) एवं बौधायन (४।१) ने पशुबन्ध में प्रयुक्त सामग्रियों एवं यज्ञपात्रों का वर्णन किया है।

३. यूप के विषय में विस्तार से जानने के लिए देखिए शतपथब्राह्मण (३।६।४ से लेकर ३।७।१ तक) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (६।१।३)।

दक्षिण की ओर नहीं होना चाहिए। अध्वर्यु, ब्रह्मा, यजमान एवं बढ़ई चुनाव के उपरान्त वृक्ष को मन्त्र (वाजसनेयी संहिता ५।४२, तैत्तिरीयसंहिता १।३।५) के साथ स्पर्श करते हैं। इसके उपरान्त मन्त्रों आदि के साथ अध्वर्यु कुल्हाड़ी लगाता है। बढ़ई उस वृक्ष को इस प्रकार काटता है कि पृथ्वी में बचा हुआ भाग रथ के चक्कों को न रोक सके। कटे हुए वृक्ष को दक्षिण की ओर नहीं गिरना चाहिए, बल्कि उसे पूर्व, उत्तर या उत्तर-पूर्व में गिरना चाहिए। वृक्ष गिर जाने के उपरान्त मन्त्रोच्चारण होता है।

इस प्रकार कटे हुए यूप की लम्बाई के विषय में कई मत प्रकाशित किये गये हैं (आपस्तम्ब ७।२।११-१७; कात्यायन ६।१।२४-२६)। कुछ लोगों के मत से यूप एक अरत्नि से ३३ अरत्नियों तक हो सकता है। किन्तु कात्यायन ने साधारणतः तीन या चार अरत्नियों की लम्बाई की ओर संकेत किया है। शतपथ ब्राह्मण (९।७।४।१) ने भी यही कहा है। कात्यायन (६।१।३१) ने सोमयज्ञ के यूप की लम्बाई पाँच से पन्द्रह अरत्नियों तक उचित ठहरायी है। उन्होंने इसी प्रकार वाजपेय यज्ञ के यूप को १७ अरत्नि तथा अश्वमेध के यूप को २१ अरत्नि लम्बा माना है। आपस्तम्ब के मत से यूप यजमान की लम्बाई या उसके हाथ के ऊपर उठने तक की लम्बाई का होना चाहिए। यूप की मोटाई के विषय में कोई मत नहीं है। यूप के उस भाग को जो पृथिवी में गड़ा रहता है, उपर कहा जाता है। उपर अनगढ़ रहता है, किन्तु यूप का अन्य भाग ठीक से छिला रहता है और ऊपरी भाग कुछ पतला कर दिया जाता है। यूप की पूरी लम्बाई को ऊपर तक इस प्रकार छीला जाता है कि उसमें आठ कोण बन जायँ, जिनमें एक कोण अन्य कोणों से बड़ा होता है और अग्नि की ओर झुका रहता है। यूप निर्माण के उपरान्त वृक्ष के बचे हुए ऊपरी अंश से कलाई से अंगुली के पोर तक लम्बा शिरस्त्र बनाया जाता है। यह शिरस्त्र भी अठकोना और बीच में ऊखल की भाँति होता है। इस भाग को **चषाल** कहा जाता है जो यूप पर पगड़ी की भाँति रखा जाता है (कात्यायन ६।१।३)।

निरूढ-पशुबन्ध में दो दिन लग जाते हैं, किन्तु यह एक दिन में भी सम्पादित हो सकता है। प्रथम दिन में, जिसे **उपवसथ** कहा जाता है, आरम्भिक कार्य, यथा वेदिका-निर्माण, यूप लाना आदिकिया जाता है।

इस यज्ञ में केवल एक वेदी बनायी जाती है जो वरुणप्रघास वाली की भाँति आहवनीय अग्नि के पूर्व में होती है, न कि दर्शपूर्णमास वाली की भाँति पश्चिम में। वेदी का विस्तार कई प्रकार से बताया गया है जिसका वर्णन यहाँ अनपेक्षित है। इस वेदी पर एक उत्तरवेदी (ऊँची वेदी) का निर्माण होता है। वेदी की पूर्व दिशा के उत्तरी कोण से लेकर शम्या (३२ अंगुल) वर्ग परिमाण का एक गड्ढा खोदा जाता है जिसे **चात्वाल** कहा जाता है और वह तीन वित्ता (वितस्ति) या ३६ अंगुल गहरा होता है। इसी प्रकार विभिन्न कृत्यों एवं मन्त्रों से युक्त भाँति-भाँति की सामग्रियाँ उत्पन्न की जाती हैं और उन्हें यथास्थान रखा जाता है, जिनका वर्णन यहाँ स्थानाभाव से नहीं किया जा रहा है। यूप गाड़ने की भी विधि वर्णित है। एक नहीं कई यूप गाड़े जाते हैं, ग्यारह यूपों की परम्परा पायी जाती है। यूप के लिए प्रोक्षण (जल छिड़कना), अंजन, उच्छ्रयण (ऊपर उठाना), परिव्याण या परिव्ययण (मेखला या करधनी से घेरने की क्रिया) आदि के कृत्य किये जाते हैं। ये क्रियाएँ केवल एक ही बार की जाती हैं, न कि प्रति पशु की बलि के उपरान्त। मेखला यूप का अंग है न कि पशु का, न प्रत्येक पशु के साथ एक-एक मेखला की आवश्यकता होती है।

बलि का पशु सुगंधित जल से नहलाया जाता है और चात्वाल एवं उत्कर के बीच में रखा जाता है। उसका मुख पश्चिम में यूप के पूर्व होता है। पशु नर (छाग=बकरा) होता है, उसका अंग-भंग नहीं होना चाहिए, अर्थात् उसके सींग न टूटे हों, काना न हो, कनकटा या कनफटा न हो, दाँत न टूटे हों और न पुच्छ-विहीन हो, न तो लँगड़ा हो और न सात खुरों (प्रत्येक पैर में दो खुर होते हैं, इस प्रकार चार पैरों के आठ खुर) वाला हो। यदि उपर्युक्त दोषों में कोई दोष विद्यमान हो तो शुद्धि के लिए विष्णु, अग्नि-विष्णु, सरस्वती या बृहस्पति को आज्य की आहुति

दी जाती है (आपस्तम्ब ७।१२।३)। इसके उपरान्त **पशूपाकरण** कृत्य किया जाता है जो कुश एवं मन्त्रों के साथ पशु को छूकर देवों के लिए उसे समर्पित करने से सम्बन्धित है। कुछ अन्य कृत्यों के उपरान्त पशु को जल पिलाया जाता है और उसके कतिपय अंगों पर जल छिड़का जाता है।

पशु की बलि इन्द्र-अग्नि, सूर्य या प्रजापति के लिए दी जाती है और बलि करनेवाले को प्रत्येक पशुबन्ध में जीवन भर उस देवता के लिए, जिसे वह प्रथम बार चुनता है, ऐसा करना पड़ता है (कात्यायन ६।३।२९-३०)। इस यज्ञ से सम्बन्धित अन्य कृत्यों का वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है।

अध्वर्यु शमिता (पशु मारनेवाले) को अस्त्र देता है। यह क्रिया मन्त्र आदि के साथ की जाती है। जब पशु काट दिया जाता है तो उसकी आँतें आदि एक विशिष्ट गड्ढे में दबा दी जाती हैं। जिस अग्नि पर पशु का मांस पकाया जाता है उसे **शामित्र** कहते हैं। पशु का मुख इस प्रकार बाँध दिया जाता है कि काटते समय उसके मुख से स्वर न निकले। अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्र एवं यजमान अपना मुख काटे जाते हुए पशु से दूसरी ओर हटा लेते हैं। यजमान ऐसे मन्त्रों का उच्चारण करता है जिनका तात्पर्य यह है कि वह पशु के साथ स्वर्ग की प्राप्ति करे। जब पशु मर जाता है तो यजमान की पत्नी उसके मुख, नाक, आँखों, नाभि, लिंग, गुदा, पैरों को मन्त्र के साथ स्वच्छ कर देती है। इसी प्रकार अन्य कृत्य भी किये जाते हैं। सभी पुरोहित (छः),[४] यजमान और उसकी पत्नी मार्जन द्वारा अपने को शुद्ध करते हैं।

इसके उपरान्त पशु-पुरोडाश बनाने के लिए प्रबन्ध किया जाता है और आवश्यक पात्रों को आहवनीय के पूर्व में रख दिया जाता है। अध्वर्यु पशु के विभिन्न अंगों, यथा हृदय, जिह्वा आदि को पृथक् करता है। आपस्तम्ब (७।२२।५ एवं ७) के अनुसार यह कार्य शमिता करता है। इस यज्ञ से सम्बन्धित बहुत-सी बातों का अर्थ आजकल भली भाँति लगाया नहीं जा सकता, क्योंकि मध्य-काल में पशु-यज्ञ बहुत कम होते थे, और अन्त में बन्द हो गये, अतः निबन्धकारों ने उन पर अपनी विस्तृत टीका-टिप्पणी नहीं की है। इसी कारण बहुत-से मत-मतान्तर पाये जाते हैं। आपस्तम्ब (७।२२।६) के मत से पशु के काटे हुए अंग ये हैं—हृदय, जिह्वा, छाती, कलेजा, वृक्क, बायें पैर का अग्र भाग, दो पुट्ठे, दाहिनी जंघा, मध्य की अँतड़ियाँ। ये अंग देवता के लिए हैं जो जुहू से दिये जाते हैं। दाहिने पैर का अग्र भाग, बायीं जंघा, पतली अँतड़ियाँ स्विष्टकृत् को दी जाती हैं। दाहिना फेफड़ा, प्लीहा, पुरीतत्, अध्यूघ्नी, वनिष्ठु (बड़ी अँतड़ियाँ), मेदा, जाघनी (पूंछ) आदि भी आहुतियों के रूप में दिये जाते हैं। सभी अंग (हृदय को छोड़कर) **उखा** (एक विशिष्ट पात्र) में पकाये जाते हैं। हृदय को एक अरत्नि लम्बी लकड़ी में खोसकर पृथक् रूप से भूना जाता है। शमिता ही पकाने का कार्य करता है। जैमिनि (१२।१।१२) के मत से मांस पकाने का कार्य शालामुखीय अग्नि पर, न कि शामित्र अग्नि पर, होता है। अध्वर्यु पके हुए मांस को घी में लपेटकर इन्द्र एवं अग्नि, स्विष्टकृत् एवं अग्नि स्विष्टकृत् को आहुतियों के रूप में देता है। इस प्रकार अध्वर्यु पूरे मांस का बहुत-सा भाग अग्नि में डाल देता है। शेष भाग का कुछ अंश ब्रह्मा को तथा अन्य भाग अन्य पुरोहितों को दिया जाता है। शमिता द्वारा अलग से पकाये गये हृदय तथा अन्य शेष भाग को अध्वर्यु यूप तथा आहवनीय अग्नि के बीच में वेदी के दक्षिण भाग में रख देता है तथा अन्य कृत्य करता है।

सम्पूर्ण पशु को यज्ञिय वस्तु कहा जाता है। जिस प्रकार धान (चावलों) को चरु का पदार्थ माना जाता है उसी प्रकार पूरे पशु को यज्ञिय वस्तु की संज्ञा मिलती है। हृदय एवं अन्य अंगों को हवि के रूप में ही दिया जाता है।

४. अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, आग्नीध्र, प्रतिप्रस्थाता एवं मैत्रावरुण।

पुरोहितों को भी विभिन्न अंगों के भाग दिये जाते हैं। पशुबन्ध का कृत्य भी बहुत लम्बा है। विस्तार में जाना यहाँ अनपेक्षित है।

काम्याः पशवः—जिस प्रकार बहुत-सी काम्येष्टियाँ होती हैं उसी प्रकार सम्पत्ति, ग्रामों, यश आदि के लाभार्थ विभिन्न पशु बलि दिये जाते हैं, यथा समृद्धि के लिए श्वेत पशु वायु को, ग्राम के लिए कोई पशु वायु नियुत्वान् को, वाक्पटुता के लिए भेड़ सरस्वती को (तै० सं० २।१।२।६)। काम्य पशुओं के विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।८।१-९), आपस्तम्ब (१९।१६।१७) एवं आश्वलायन (३।७ एवं ३।८।१)। इन सभी प्रकार के यज्ञों में निरूढ-पशुबन्ध की ही विधि लागू होती है।

अध्याय ३३

अग्निष्टोम[1]

कभी-कभी सुविधा के लिए यज्ञ तीन विभागों में विभाजित कर दिये जाते हैं, यथा—इष्टि, पशु एवं सोम। गौतम (८।२१) एवं लाट्यायन श्रौ० (५।४।३४) के अनुसार सोमयज्ञ के सात प्रकार हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम। अग्निष्टोम को सोमयज्ञों का आदर्श रूप मान लिया गया है। अग्निष्टोम ऐकाहिक या एकाह अर्थात् एक दिन वाला यज्ञ है और यह ज्योतिष्टोम का ऐसा अन्तर्हित भाग है कि दोनों को कभी-कभी एक ही माना जाता है। सोमयज्ञ कई प्रकार के हैं, यथा **एकाह** (एक दिन वाला), **अहीन** (एक दिन से लेकर बारह दिनों तक चलने वाला) तथा **सत्र** (जो बारह दिनों से अधिक दिनों तक चलता है)। **द्वादशाह** नामक यज्ञ सत्र एवं अहीन है (जैमिनि १०।६।६०-६१ एवं तन्त्रवार्तिक २।२।२)। ज्योतिष्टोम में बहुधा पाँच दिन लग जाते हैं, इसके मुख्य कृत्य ये हैं—पहले दिन पुरोहितों का वरण, मधुपर्क, दीक्षणीयेष्टि एवं दीक्षा, दूसरे दिन—प्रायणीया इष्टि (आरम्भ वाली इष्टि), सोम का क्रय, आतिथेयेष्टि (सोम को आतिथ्य देने वाली इष्टि), **प्रवर्ग्य एवं उपसद्** (प्रातः एवं सायं का अभिवादन), तीसरे दिन—प्रवर्ग्य एवं दो बार उपसद्, चौथे दिन—प्रवर्ग्य एवं उपसद्, अग्निप्रणयन, अग्नीषोमप्रणयन, हविर्धान प्रणयन एवं पशुयज्ञ, तथा पाँचवें दिन अर्थात् सुत्य या सवनीय के दिन—सोम को पेरना (रस निकालना), प्रातः काल पूजा में चढ़ाना एवं पीना तथा दोपहर एवं सायं देवार्पण एवं पीना, उदयनीया (अन्तिम इष्टि) एवं अवभृथ (अन्तिम शुद्ध करने वाला स्नान)। प्रमुख श्रौत सूत्रों के आधार पर हम नीचे बहुत ही संक्षेप में अग्निष्टोम का वर्णन उपस्थित करेंगे।

जैमिनि (६।२।३१) के मतानुसार तीनों वर्णों के लिए ज्योतिष्टोम करना अनिवार्य है। इसका 'अग्निष्टोम' नाम इसलिए पड़ा है कि इसमें अग्नि की स्तुति की जाती है और अन्तिम स्तोत्र अग्नि को ही सम्बोधित है (ऐतरेय ब्राह्मण १४।५, आपस्तम्ब १०।२।३)। यह प्रति वर्ष वसन्त में अमावस्या या पूर्णिमा के दिन किया जाता है (आपस्तम्ब १०।२।२।५ एवं ६, कात्यायन ७।१।४ एवं सत्याषाढ ७।१)। जैमिनि (४।३।३७) में आया है कि **दर्शपूर्णमास**, **चातुर्मास्य** एवं पशु-यज्ञ सम्पादित करने के उपरान्त ही सोमयज्ञ किया जाना चाहिए, किन्तु कुछ अन्य लोगों का मत है कि दर्शपूर्णमास के पूर्व भी यह किया जा सकता है, परन्तु अग्न्याधान के उपरान्त ही ऐसा करना उचित है (आश्व० ४।१।१-२ एवं सत्याषाढ ७।१, पृ० ५५६)।

इस यज्ञ का अभिलाषी सर्वप्रथम **सोमप्रवाक** (सोम यज्ञ कराने वाले के निमन्त्रणकर्ता) को वेदज्ञ ब्राह्मणों को (जो न तो अति वृद्ध हों और न कम अवस्था के हों और न हों विकलांग) बुलाने के लिए भेजता है (ताण्ड्य

१. देखिए तैत्तिरीय संहिता १।२-४, ३।१-३, ६।१-६ एवं ७।१; तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।१, १।४।१ एवं ५-६, १।५।४, २।२।८; शतपथब्राह्मण ३-४; ऐतरेयब्राह्मण १-१५; आपस्तम्ब १०-१३ एवं १४।८-१२; कात्यायन ७-११; बौधायन ६-१०; आश्वलायन ४-६; सत्याषाढ ७-९; लाट्यायन श्रौतसूत्र १-२।

ब्राह्मण १।१।१, द्राह्यायण श्रौतसूत्र १।१ तथा आपस्तम्ब १०।१।१)। वह प्रमुख चार या सभी सोलहों (या 'सदस्य' को सम्मिलित कर १७) ऋत्विजों को बुलाता है।[2]

पुरोहितों को मधुपर्क दिया जाता है। यजमान अपने देश के राजा के पास यज्ञभूमि (देवयजन) की याचना के लिए जाता है। यह एक आडम्बर मात्र है, यहाँ तक कि राजा भी ऐसी याचना होता तथा अन्य पुरोहितों से करता है। अपनी भूमि रहने पर भी यजमान को ऐसी याचना करनी पड़ती है।

देवयजन (यज्ञ-भूमि) के पश्चिम भाग में घास-पात हटाकर एक मण्डप[3] (विमित—चार कोणों वाला मण्डप) खड़ा किया जाता है। मण्डप के विषय में कात्यायन (७।१।१९-२५), आपस्तम्ब (१०।५।१-५) एवं बौधायन (६।१) ने विस्तार से वर्णन किया है। मण्डप के दक्षिण में व्रत-भोजन बनाने के लिए एक शाला तथा पश्चिम में पत्नी (यजमान की पत्नी) के लिए दूसरी शाला बना दी जाती है।

यजमान अपने घर में ही गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नियों को अरणियों में रख लेता है और पुरोहितों, अरणियों तथा पत्नी के साथ मण्डप में पूर्व द्वार से प्रवेश करता है। अन्य सामग्रियाँ (सम्भार) भी मण्डप में लायी जाती हैं। मण्डप में एक वेदी बनाकर उसमें घर्षण से उत्पन्न अग्नि रखी जाती है। इसके उपरान्त कई कृत्य किये जाते हैं, जिनका वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। मण्डप के बाहर उत्तर में यजमान एक विशिष्ट शाला में नाई से सिर, काँख, मुख के केश तथा नख कटा लेता है। इसके उपरान्त उदुम्बर की टहनी से दन्तधावन कर कुण्ड के जल से स्नान करता है तथा आचमन आदि करता है। इसी प्रकार यजमान की पत्नी भी प्रतिप्रस्थाता द्वारा आदेशित हो नख कटाती है तथा स्नान आदि करती है किन्तु उसके इन कृत्यों में मन्त्रोच्चारण नहीं किया जाता, जैसा कि यजमान के कृत्यों में पाया जाता है। उसके केश नहीं काटे जाते, किन्तु कुछ लेखकों ने केश कटाने की भी व्यवस्था दी है। यजमान अध्वर्यु द्वारा दिये गये रेशमी वस्त्र धारण करता है। अपराह्ण में वह प्राग्वंश में बैठकर घी एवं दही से मिश्रित चावल या मनचाहा भोजन करता है। पत्नी भी यही करती है। इसके उपरान्त वह दर्भ की दो फुनगियों से अपने शरीर पर नवनीत लगाता है। यह कृत्य वह चेहरे से आरम्भ कर तीन बार करता है। इसके उपरान्त दर्भ से अपनी दायीं आँख में दो बार और बायीं आँख में एक बार अञ्जन लगाता है या तीन बार दोनों आँखों में लगाता है। अध्वर्यु प्राग्वंश के बाहर यजमान की शुद्धि (पवन) करता है। यही बात प्रतिप्रस्थाता उसकी पत्नी के साथ करता है, किन्तु मन्त्रोच्चारण के साथ नहीं। यजमान मण्डप में पूर्व द्वार से तथा उसकी पत्नी पश्चिम द्वार से प्रवेश करती है। दोनों अपने-अपने आसन पर बैठ जाते हैं। इसके उपरान्त **दीक्षणीय इष्टि** की जाती है, जिसके फलस्वरूप यजमान **दीक्षित** समझा जाता है और यज्ञ करने के योग्य माना जाता है (जैमिनि ५।३।२९-३१)। स्थानाभाव के कारण दीक्षणीय इष्टि का वर्णन यहाँ उपस्थित नहीं किया जा रहा है। दीक्षा का कृत्य अपराह्ण में ही किया जाता है। जब तक तारे नहीं दिखाई देते, यजमान मौन धारण किये रहता है। पूरे यज्ञ तक यजमान एवं उसकी पत्नी को दूध पर ही रहना होता है। ऐसा करना क्रत्वर्थ (अनिवार्य नियम) माना जाता है न कि पुरुषार्थ मात्र (जैमिनि ४।३।८-९)। यह दूध दो गायों के स्तनों से दुहा जाता है और दो पात्रों में पृथक्-पृथक् गर्म किया जाता है; यजमान के लिए गार्ह-

२. सोलह पुरोहितों संबंधी विवरण देखिए अध्याय २९, टि० ३ में।

३. मण्डप को प्राग्वंश या प्राचीनवंश कहा जाता है। कुछ लोगों के मत से यह पश्चिम से पूर्व १६ प्रक्रम लम्बा तथा दक्षिण से उत्तर १२ प्रक्रम चौड़ा होता है। इसमें ४ या ५ (एक द्वार उत्तर-पूर्व में होता है) द्वार तथा चारों दिशाओं में छोटे-छोटे प्रवेश-स्थल होते हैं (देखिए आपस्तम्ब १०।५।५)।

पत्याग्नि पर तथा उसकी पत्नी के लिए दक्षिणाग्नि पर। यजमान एवं उसकी पत्नी को बहुत से अनिवार्य नियमों का पालन करना पड़ता है (आप० १०।१६, कात्या० ४।१३।३४, बौधा० ६।६)।

दीक्षा के दिन या दिनों के उपरान्त[४] प्रथम कृत्य है प्रायणीय (आरम्भ वाली) इष्टि। इस इष्टि में चरु (चावल) दूध में पकाकर अदिति को दिया जाता है तथा आज्य की चार आहुतियाँ अन्य चार देवताओं को दी जाती हैं। ये चार देवता हैं पथ्या स्वस्ति, अग्नि, सोम एवं सविता जो क्रम से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशा के माने जाते हैं।

इसके उपरान्त सोम का क्रय किया जाता है। कुत्स गोत्र वाले ब्राह्मण या किसी शूद्र से सोम प्राप्त किया जाता है। आप० (१०।२०।१२) ने किसी भी ब्राह्मण से खरीदने की बात कही है। जैमिनि (३।७।३१) ने सोम के विक्रय के लिए पुरोहितों के अतिरिक्त किसी को भी उचित विक्रेता मान लिया है। क्रय के समय सोम को ब्राह्मण एवं सूत्र ग्रन्थों में राजा कहा गया है। सोम बेचनेवाले से सोम में लगा घास-फूस स्वच्छ कर देने को कह दिया जाता है। सोम को स्वच्छ करते समय अध्वर्यु, उसके सहायक, यजमान तथा यजमान के पुत्र आदि उसे देख नहीं सकते और न स्वयं स्वच्छ ही कर सकते हैं (सत्याषाढ ७।१, पृ० ६०९)। बैल की लाल खाल के दक्षिणी भाग पर सोम रख दिया जाता है। सोमविक्रेता खाल के उत्तरी भाग पर बैठ जाता है। एक जलपात्र सोम के समक्ष रख दिया जाता है। इसके उपरान्त हिरण्यवती आहुति दी जाती है, जिसका वर्णन यहाँ अनपेक्षित है। यज्ञ-भूमि के पूर्व द्वार के दक्षिण एक गाय खड़ी रहती है जिसे सोमक्रयणी कहा जाता है; यह एक, दो या तीन वर्ष की होती है। इसका रंग यथासम्भव सोम के समान ही होता है। इसी गाय को देकर सोम का क्रय होता है, अतः गाय को सोमक्रयणी कहते हैं (सोमः क्रीयते यया गवा सा सोमक्रयणी)। गाय को पिंगल होना चाहिए, उसकी आँखें पीत रंग से मिश्रित भूरी होनी चाहिए, वह अभी बियायी न हो, न तो वह विकलांग हो और न ही बँधी हुई। उसका कान या पैर पकड़कर कोई खड़ा न हो, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसकी गर्दन पकड़ी जा सकती है। इसी प्रकार इस सोमक्रयणी गाय के साथ अन्य कृत्य किये जाते हैं। इसके उपरान्त अध्वर्यु यजमान के नौकर द्वारा सोम को ढकने के लिए कपड़ा मँगवाता है। चार पहियों वाली गाड़ी में सोम चटाइयों से ढका रखा रहता है। सोम के अंशु या डण्ठल किस प्रकार चुने जाते हैं, हाथ में लिये जाते हैं, वस्त्र से ढके जाते हैं; आदि के विषय में बहुत-से नियम हैं (आप० १०।२४।७-१४, कात्या० ७।७।१२-२१)। यजमान सोम का अभिवादन करता है और अदिति की पूजा करता है (आप० १०।२५।१)। इसके उपरान्त अध्वर्यु बँधा हुआ सोम सोम-विक्रेता को दे देता है और दोनों में क्रय-विक्रय सम्बन्धी एक नाटक चलता है। सोम-विक्रेता को स्वर्ण भी दिया जाता है। शतपथब्राह्मण (३।३।३), आपस्तम्ब (१०।२५।१-१६), कात्यायन (७।८।१-२०) एवं सत्याषाढ (७।२, पृ० ६३६-६४३) में लेन-देन से सम्बन्धित बहुत-सी बातों का वर्णन पाया जाता है। सोमक्रयणी को गौशाला में भेज दिया जाता है और उसके बदले अन्य गाय दी जाती है। आपस्तम्ब (१०।२७।८) एवं सत्याषाढ (७।२, पृ० ६४४) ने लिखा है कि सोम-विक्रेता को ढेलों एवं छड़ियों से मारने का नाटक किया जाता है, इसके उपरान्त सुब्रह्मण्या कृत्य किया जाता है जिसे उद्गाता पुरोहित का सहायक सुब्रह्मण्य नामक पुरोहित करता है। सोम को गाड़ी में विशिष्ट कृत्यों के साथ लाया जाता है। सोम को राजा की उपाधि से सम्बोधित किया जाता है। उसके स्वागत

४. कुछ सूत्रों (आप० १०।१४।८, १०।१५।४, आश्व० ४।२।१३-१५) के आधार पर दीक्षा-कार्य १२ दिनों या एक मास या एक वर्ष तक चलता है और इस प्रकार यजमान दुबला हो जाता है। ऐसी स्थिति में यजमान यज्ञ के लिए अन्य सामान, धन आदि अपने सनीहारों (सहायकों) द्वारा एकत्र कराता है।

में आतिथ्येष्टि की जाती है। आसनादि की व्यवस्था की जाती है और गाड़ी से सोम को उतारकर उसके लिए बने विशिष्ट आसन पर मृगचर्म बिछाकर उसे विधिवत् रखा जाता है। आतिथ्येष्टि के प्रमुख देवता हैं विष्णु और उनके लिए नौ कपालों वाली रोटी बनती है। अग्नि की उत्पत्ति घर्षण से की जाती है। अन्य विधियों के विस्तार के लिए देखिए आपस्तम्ब (१०।३) एवं कात्यायन (८।१)। इडा खा लेने के उपरान्त तानूनप्त्र कर्म किया जाता है। इस कृत्य में यजमान एवं सभी पुरोहित तनूनपात् (तीव्र वेग से चलने वाली वायु) का नाम लेकर प्रण करते हैं कि वे एक-दूसरे का अमंगल नहीं करेंगे। इस कृत्य के उपरान्त यजमान को अवान्तर-दीक्षा दी जाती है, जिसमें यजमान मन्त्र (वाजसनेयी संहिता ५।६) के साथ आहवनीयाग्नि में समिधा डालता है, उसकी पत्नी मौन रूप से गार्हपत्याग्नि में समिधा डालती है। मदन्ती नामक पात्र के गर्म जल को यजमान तथा सभी पुरोहित स्पर्श करते हैं।

अवान्तर-दीक्षा के उपरान्त प्रवर्ग्य तथा उसके उपरान्त उपसद् (उपसद् प्रवर्ग्य के पूर्व भी हो सकता है—आप० ११।२।५, सत्याषाढ़ ७ ४, पृ० ६६२) नामक कृत्य किये जाते हैं। ये दोनों प्रातः एवं अपराह्ण दो बार होते हैं। यह क्रम तीन दिनों तक (दूसरे, तीसरे तथा चौथे दिन तक) चलता रहता है, किन्तु यह तभी होता है जब सोम का रस पाँचवें दिन निकाला जाय। यदि सोम का रस सातवें दिन या और आगे चलकर निकाला जाय तो प्रवर्ग्यों एवं उपसदों की संख्या बढ़ा दी जाती है (आप० १५।१२।५)। आतिथ्या में प्रयुक्त बर्हि, प्रस्तर एवं परिधि की विधि उपसदों एवं अग्नीषोमीय पशु के कृत्यों में भी की जाती है। अब हम संक्षेप में प्रवर्ग्य, उपसद्, अग्नीषोमीय पशु आदि का वर्णन उपस्थित करते हैं।

प्रवर्ग्य—बहुत-से सूत्रों (यथा—आप० १५।५-१२, कात्या० २६, बौधा० ९।६) में प्रवर्ग्य का वर्णन पृथक् रूप से पाया जाता है। इस कृत्य से यजमान को मानो एक नवीन दैवी शरीर प्राप्त होता है (ऐतरेय ब्राह्मण ४।५)। यह एक स्वतन्त्र या अपूर्व कृत्य माना गया है न कि किसी कृत्य का परिमार्जित रूप। आप० (१३।४।३-५) के मतानुसार यह कृत्य प्रत्येक अग्निष्टोम में आवश्यक नहीं माना जाता। वाजसनेयी संहिता (२९।५) में जो 'घर्म' कहा गया है वह सूर्य का द्योतक है और सम्राट् नाम से यज्ञ का अधिष्ठाता माना गया है। इसी प्रकार गर्म दूध दैवी जीवन एवं प्रकाश का द्योतक माना जाता है (देखिए ऐतरेय ब्राह्मण ४।१, शतपथ ब्राह्मण १४।१-४, तैत्तिरीयारण्यक ४।१-४२, ५।१-१२)। मिट्टी का एक पात्र बनाया जाता है जिसकी महावीर संज्ञा है। इसमें एक छिद्र होता है जिसके द्वारा तरल पदार्थ गिराया जाता है। इसी प्रकार दो अन्य महावीर पात्र होते हैं। **पिनवन** नामक अन्य दो दुग्धपात्र होते हैं और **रौहिण** नामक दो प्यालियाँ होती हैं जिनमें रोटियाँ पकायी जाती हैं। महावीर, पिनवन एवं रौहिण गार्हपत्याग्नि से प्रज्वलित घोड़े के गोबर की अग्नि में तपाये जाते हैं (कुछ लोगों के मत से ये पात्र दक्षिणाग्नि में तपाये जाते हैं)। रौहिण में दो पुरोडाश पकाकर प्रातः एवं सायं दिन तथा रात्रि के लिए आहुति रूप में दिये जाते हैं। महावीर पात्र को मिट्टी से बने उच्च स्थल पर रखकर उसके चतुर्दिक् अग्नि जलाकर उसमें घी छोड़ा जाता है। प्रमुख महावीर पात्र को प्रथम पात्र माना जाता है। अन्य दो महावीर पात्रों को वस्त्र से ढककर सोम वाले स्थान से उत्तर दिशा में बड़ी आसन्दी पर रख दिया जाता है। प्रमुख पात्र के उबलते हुए घी में गाय तथा बकरे वाली बकरी का दूध मिलाकर छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार से मिश्रित गर्म दूध को **घर्म** कहा जाता है जो अश्विनी, वायु, इन्द्र, सविता, बृहस्पति एवं यम को आहुति रूप में दिया जाता है। यजमान (पुरोहित लोग केवल गंध लेते हैं) शेष दूध को उपयमनी से पी जाता है। यह सब करते समय होता मन्त्रों का पाठ करता है और प्रस्तोता साम-गान करता जाता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण कृत्य को प्रवर्ग्य कहा जाता है।

उपसद्—यह एक इष्टि है। बहुत-सी क्रियाएँ (यथा—अग्न्यन्वाधान), जो दर्शपूर्णमास में की जाती हैं, इस इष्टि में नहीं की जाती। इसमें घृत की आहुतियाँ अग्नि, विष्णु एवं सोम को जुहू से दी जाती हैं। आतिथ्या नामक

इष्टि के उपरान्त किये जाने वाले सब कृत्य, यथा सोम को बढ़ाना, निह्नव, सुब्रह्मण्या स्तोत्र का पाठ प्रत्येक उपसद् में प्रातः एवं अपराह्ण तीन दिन या अधिक दिनों तक किये जाते हैं। उपसद् में आज्यभागों, प्रयाजों, अनुयाजों की क्रियाएँ नहीं की जातीं और न स्विष्टकृत् अग्नि (आश्वलायन ४।८।८) को आहुति ही दी जाती है। प्रातःकाल ऋग्वेद के तीन मन्त्रों (७।१५।१-३) का पाठ तीन-तीन बार किया जाता है जिन्हें सामिधेनी कहा जाता है। इसी प्रकार सायंकाल ऋग्वेद (२।६।१-३) के मन्त्रों को पढ़ा जाता है। एक एक मन्त्र तीन बार पढ़ा जाता है और इस प्रकार तीन मन्त्रों के नौ उच्चारणों को सामिधेनी कहा जाता है। उपसद् की आहुति स्रुव से दी जाती है। उपसद् के मन्त्रों से पता चलता है कि वे लोहे, चाँदी एवं सोने के दुर्गों के घेरों की ओर संकेत करते हैं। ये मन्त्र यहाँ क्यों प्रयुक्त हुए हैं, कुछ कहना कठिन है। शतपथ ब्राह्मण (३।४।४।३-४) में नगरों पर घेरा डालने की चर्चा हुई है।

महावेदि—प्रवर्ग्य एवं उपसद् कृत्यों के उपरान्त दूसरे दिन सोमयाग के लिए महावेदि (महावेदी) का निर्माण किया जाता है (कात्यायन ८।३।६, शतपथ ७।४, आप० ११।४।११)। आहवनीयाग्नि के सम्मुख पूर्व ओर ६ प्रक्रम की दूरी पर एक खूँटी (शंकु) गाड़ी जाती है (बौधा० ६।२२), या कात्यायन (८।३।७) के मत से साधारण अग्निशाला के पूर्वी द्वार से पूर्व की ओर ३ प्रक्रम की दूरी पर अन्तःपात्य या शालामुखीय (बौधायन के मत से) नामक खूँटी गाड़ी जाती है। इस खूँटी से ३६ प्रक्रम पूर्व एक दूसरी खूँटी गाड़ी जाती है जिसे यूपावटीय (यूप वाले गड्ढे से सम्बन्धित) कहा जाता है। इन दो खूँटियों को जोड़ने वाले सूत्र को पृष्ठ्या कहा जाता है। अन्तःपात्य नामक खूँटी के उत्तरी एवं दक्षिणी भाग में १५ प्रक्रमों की दूरी पर अन्य खूँटियाँ गाड़ी जाती हैं। यूपावटीय नामक खूँटी के दक्षिणी एवं उत्तरी सिरे से १२ प्रक्रमों की दूरी पर दो खूँटियाँ गाड़ी जाती हैं। इस प्रकार महावेदी का पश्चिमी भाग, जिसे श्रोणी कहा जाता है, ३० प्रक्रमों का; पूर्वी भाग, जिसे अंस (कंधा) कहा जाता है, २४ प्रक्रमों का तथा महावेदी की लम्बाई ३६ प्रक्रमों की हो जाती है।[5] महावेदी (महावेदि) के चारों ओर एक रस्सी बाँध दी जाती है। दर्शपूर्णमास में किये जानेवाले सभी संस्कार सोमयाग की महावेदी पर किये जाते हैं (सत्याषाढ ७।४, पृ० ६८५)। महावेदी के पूर्वी भाग में एक उत्तर वेदी का निर्माण होता है, जो चतुर्भुजाकार होती है। इसी प्रकार अन्य स्थल भी बनाये जाते हैं जिनका विवरण यहाँ आवश्यक नहीं है।

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रातः एवं सायं वाले प्रवर्ग्यों एवं उपसदों के कृत्य सम्पादित कर दिये जाते हैं। प्रवर्ग्य के उद्वासन के उपरान्त आहवनीयाग्नि से उत्तरवेदी तक लायी जाने वाली अग्नि का कृत्य किया जाता है, जिसे **अग्नि-प्रणयन** कहा जाता है। वेदी की नाभि पर रखी गयी अग्नि सोमयाग की आहवनीयाग्नि कही जाती है और मौलिक आहवनीयाग्नि गार्हपत्याग्नि का रूप धारण कर लेती है (आप० ११।५।९-१०)। कुश, समिधा एवं वेदी पर जल छिड़क दिया जाता है और सम्पूर्ण वेदी पर कुश बिछा दिये जाते हैं। कुश के अंकुर पूर्वाभिमुख रखे जाते हैं। अग्निशाला से जल द्वारा स्वच्छ की हुई दो गाड़ियाँ लाकर महावेदी पर रख दी जाती हैं, इन गाड़ियों को **हविर्धान** नाम दिया गया है, क्योंकि सोम (जो सोमयाग में हवि के रूप में लिया जाता है) इन पर रखा रहता है। दक्षिण दिशा वाली गाड़ी अध्वर्यु

५. आपस्तम्ब (५।४।३) की टीका के अनुसार एक प्रक्रम दो या तीन पदों के बराबर तथा एक पद १५ अंगुलों (बौधायन) या १२ अंगुलों (कात्यायन) के बराबर होता है। किन्तु कात्यायन (८।३।१४) की टीका के अनुसार एक पद दो प्रक्रमों के बराबर होता है। प्रक्रमों के अतिरिक्त यजमान के पदों से भी नाप लिया जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता (६।२।४।५) में भी महावेदी का नाप दिया हुआ है—"त्रिंशत्पदानि पश्चात्तिरश्ची भवति षट्त्रिंशत् प्राची चतुर्विंशतिः पुरस्तात्तिरश्ची।"

एवं उत्तर वाली प्रतिप्रस्थाता के अधिकार में रहती है। ये गाड़ियाँ घास या बाँस के छिलकों से बनी चटाइयों से ढक दी जाती हैं। इसके उपरान्त छः खम्भों वाला एक मण्डप (हविर्धान-मण्डप) बनाया जाता है। गाड़ी के धुरों पर यजमान की पत्नी एवं प्रतिप्रस्थाता द्वारा कई कृत्य किये जाते हैं। इस विषय में अन्य संस्कार, यथा गाड़ियों को ढकना आदि, यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं (आप० ११।७-८, कात्या० ८।४)। हविर्धान के भीतर कोई कुछ खा-पी नहीं सकता।

उपरव—अध्वर्यु दक्षिण दिशा में रखी हुई गाड़ी के सामने एक हाथ गहरे चार गड्ढे खोदता है जिन पर कुश बिछा दिये जाते हैं, उन पर दो **अधिषवण-फलक** (लकड़ी के तख्ते) बिछाकर **अधिषवण-चर्म** (बैल का लाल चर्म) रख दिया जाता है। इस चर्म पर चार प्रस्तर-खण्डों से सोम का रस निकाला जाता है। प्रस्तर-खण्डों से उत्पन्न घोष को चारों गड्ढे अधिक गुंजित कर देते हैं, इसी से इनको **उपरव** कहा जाता है (कात्यायन ८।४।१८ की टीका)।[6]

उपरवों के पूर्व में या अधिषवण-चर्म या उपस्तम्भन (रस्सी से बँधे दो सीधे बाँसों का ढाँचा, जिस पर गाड़ी का अग्रभाग या जुआ रख दिया जाता है) के पूर्व में चार कोनों वाला मिट्टी का एक ढूह बना दिया जाता है जिस पर सोम के पात्र रखे जाते हैं। इसके उपरान्त पुरोहितों के लिए पृथक्-पृथक् आसनों का निर्माण होता है। इन आसनों के निर्माण के साथ कई संस्कार किये जाते हैं जिन्हें स्थानाभाव से यहाँ छोड़ दिया जा रहा है।

उपरवों के ऊपर कोमल कुश रख दिये जाते हैं और उनके ऊपर उदुम्बर, पलाश या काश्मर्य नामक पेड़ के तख्तों से बने दो फलक रख दिये जाते हैं, इन्हें ही अधिषवण-फलक कहा जाता है।[7] अन्य कृत्यों का वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है।

इसके उपरान्त अग्नि एवं सोम के लिए एक पशु की बलि दी जाती है। यह विधि निरूढ-पशुबन्ध विधि के समान ही है। परिस्तरण, यज्ञिय पात्रों का रखना, प्रोक्षण आदि कृत्य किये जाते हैं। प्रतिप्रस्थाता यजमान की पत्नी को उसके स्थान (पत्नीशाला) से लाता है। इसी प्रकार यजमान के अन्य सम्बन्धी बुलाये जाते हैं। यजमान अध्वर्यु का, पत्नी यजमान (पति) का, पुत्र एवं भाई लोग पत्नी का स्पर्श करते हैं। ये सभी नवीन परिधान पहने रहते हैं और अध्वर्यु आज्य की प्रचरणी अर्थात् वैसर्जिन आहुतियाँ सोम को देता है (कात्या० ८।७।१ आप० ११।१६।१५)। इसके उपरान्त अग्नि एवं सोम का प्रणयन (आगे लाना) होता है। आहवनीय पर अग्नि प्रज्वलित कर उत्तरवेदी पर लायी जाती है। भाँति-भाँति के पात्र महावेदी पर (पशुबलि के निमित्त) लाये जाते हैं। इसी प्रकार दूसरे दिन सोम-रस निकालते समय काम में लाये जाने वाले पात्र यथास्थान पर सजा दिये जाते हैं। अग्नि आग्नीध्र के धिष्ण्य के पास रख दी जाती है। सोम के डण्ठल हविर्धान-मण्डप में लाये जाते हैं और दक्षिण की गाड़ी में काले हरिण के चर्म पर रख दिये जाते हैं। इसके उपरान्त यजमान अपनी मध्यम दीक्षा का त्याग करता है, अर्थात् वह अपनी मेखला

६. 'उप उपरिष्टाद् ग्राव्णां रवः शब्दो येषु ते।' देखिए कात्यायन (८।४।२८, ८।५।२४) एवं आपस्तम्ब (११।११।१, ११।१२।६)।

७. कात्यायन (८।५।२५) की टीका के अनुसार ये फलक वरण लकड़ी के होते हैं। इनका नाम अधिषवण-फलक है, "अधि उपरि अभिषूयते सोमो ययोस्ते अधिषवणे फलके।" कात्यायन (८।५।२६) की टीका के अनुसार अधिषवण-चर्म बैल का चर्म होता है (ऋग्वेद, १०।९४।९—'अंशु दुहन्तो अध्यासते गवि')। आपस्तम्ब (१२।२।१४) के मत से प्रस्तर-खण्ड चार होते हैं, किन्तु कात्यायन (८।५।२८) ने पाँच संख्या दी है। आपस्तम्ब (१२।२।१५) ने पाँचवें प्रस्तर-खण्ड को उपर कहा है। यह पर्याप्त चौड़ा प्रस्तर होता है और इसी पर सोम के डण्ठल कूटे जाते हैं, इसके चारों ओर ग्रावा नामक चार खण्ड रखे रहते हैं, जो एक-एक बित्ता लम्बे होते हैं और इस प्रकार बने होते हैं कि सोम के डण्ठल ठीक से कूटे जा सकें।

ढीली कर देता है, मुट्ठियाँ खोल देता है, मौन तोड़ता है, उपवास का भोजन छोड़ता है और अपना दण्ड मैत्रावरुण नामक पुरोहित को दे देता है (आप० ११।१८।६)। सोमरस निकाले जाने के दिन वह सोमरस पीता है और शेष यज्ञिय भोजन खाता है। इसके उपरान्त वह अपने नाम से पुकारा जाता है और उसके घर में बना भोजन अन्य लोग भी खाते हैं (कात्या० ८।७।२२)। तब अग्नि एवं सोम के लिए पशु-बलि दी जाती है। जैमिनि (६।१।१२) के अनुसार बलि का पशु छाग (बकरा) होता है। निरूढ-पशुबन्ध एवं अग्नीषोमीय पशु की बलि में थोड़ा-सा अन्तर होता है। सोमरस निकालने के लिए जिस जल की आवश्यकता होती है उसे **वसतीवरी** कहा जाता है। इसे विधिपूर्वक किसी नदी से लाया जाता है और सुरक्षित रखा जाता है। रात भर यज्ञशाला में ही पुरोहित आदि निवास करते हैं।

पाँचवें दिन (अन्तिम दिन) को 'सुत्या' (जिस दिन सोमरस निकाला जाता है) कहा जाता है। सूर्योदय होने के बहुत पहले ही सभी पुरोहित जगा दिये जाते हैं, जिससे वे सूर्योदय के पहले ही उपांशु प्रस्तर-खण्ड से सोमरस निकाल डालें। इसके उपरान्त सवनीय (सोम रस निकाले जाने के दिन बलि दिये जाने वाले) पशु की बलि की व्यवस्था की जाती है।

प्रातरनुवाक—सूर्योदय के पूर्व जब कि पक्षी भी जागे नहीं होते, अध्वर्यु होता को प्रातरनुवाक (प्रातःकाल की स्तुति) कहने के लिए आज्ञा देता है। यह स्तुति अग्नि, उषा एवं अश्विनौ के लिए कही जाती है, क्योंकि ये देव प्रातः काल आ जाते हैं। इसी प्रकार अध्वर्यु ब्रह्मा से मौन धारण करने, प्रतिप्रस्थाता को सवनीय पुरोडाश के लिए निर्वाप (सामग्रियाँ) निकालने तथा सुब्रह्मण्य को सुब्रह्मण्या स्तोत्र पढ़ने के लिए आज्ञा देता है। इसी प्रकार अध्वर्यु होता से कहता है कि वह (अध्वर्यु) उसकी स्तुति को मन-ही-मन कहेगा। होता हविर्धान गाड़ियों के जुओं के बीच में बैठकर प्रातरनुवाक को तीन भागों में कहता है। इन तीनों भागों को क्रतु कहा जाता है, जिनमें प्रथम अग्नि के लिए, द्वितीय उषा के लिए एवं तृतीय अश्विनौ के लिए होता है। प्रत्येक भाग में होता कम-से-कम एक-एक मन्त्र गायत्री, अनुष्टुप्, बृहती, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, जगती एवं पंक्ति नामक सातों छन्दों में कहता है। आश्वलायन ने लगभग २५० मन्त्र उषा क्रतु में, ४०७ आश्विन क्रतु में कहने को लिखा है—इस प्रकार ऋग्वेद का लगभग पाँचवाँ भाग पढ़ डालना पड़ता है। यह प्रातरनुवाक मन्द्र गति से कहा जाता है (आश्व० ४।१३।६)।

प्रातरनुवाक होते समय आग्नीध्र (कात्या० ९।१।१५ के मत से) या प्रतिप्रस्थाता (आप० १२।४।४ के मत से) निर्वाप (आहुतियों की सामग्रियाँ) निकालता है। ये सामग्रियाँ हैं—ग्यारह कपालों वाली एक रोटी (इन्द्र के लिए), इन्द्र के दो हरियों (पिंगल घोड़ों) के लिए धाना (भूने हुए जौ), पूषा के लिए करम्भ (दही से मिला जौ का सत्तू), सरस्वती के लिए दही तथा मित्र एवं वरुण के लिए पयस्या। इसके उपरान्त बहुत-से-कृत्य किये जाते हैं, जिनका वर्णन स्थानाभाव से नहीं किया जा सकता। समय-समय पर सोमरस भी निकाला जाता है और देवों को चढ़ाया जाता है। अन्य कृत्यों के उपरान्त महाभिषव कृत्य, किया जाता है।

महाभिषव—यह एक महान् कृत्य माना जाता है। इसका सम्बन्ध है सोमरस निकालने के प्रमुख कर्म से। सोमरस निकालने में दो प्रकार के जल का प्रयोग होता है। एक को **वसतीवरी** कहा जाता है, जो पूर्व रात्रि में ही लाया जाता है, और दूसरा है **एकधना**, जो उसी दिन लाया जाता है। प्रातःकाल सोम के डंठलों के अधिकतम भाग से रस निकाला जाता है तथा कुछ कम भाग से मध्याह्न काल में। अध्वर्यु **उपर** नामक पत्थर उठाकर उसे अधिषवण चर्म पर रखता है और उस पर कुछ सोम-डण्ठल रखकर निग्राभ्य जल छिड़कता है। अन्य पुरोहित दाहिने हाथों में पत्थर लेकर डण्ठलों को कूटते हैं। इस कृत्य को **पर्याग** अर्थात् पहला दौर कहते हैं। दूसरे दौर में कूटते समय इधर-उधर बिखरे डण्ठलों को कूटा जाता है। इसी प्रकार कूटने का तीसरा दौर भी चलता है। इसके उपरान्त अध्वर्यु कूटे हुए

डण्ठलों को सम्भरणी नामक पात्र में एकत्र कर आधवनीय नामक पात्र में रखता है। आधवनीय पात्र में पहले से जल रहता है। सोम के डण्ठल उसमें स्वच्छ किये जाते हैं और फिर निचोड़कर और बाहर निकालकर अधिषवण-चर्म पर रख दिये जाते हैं। इसके उपरान्त कई कृत्य किये जाते हैं और पात्र-पर-पात्र भरे जाते हैं। प्रथम पात्र को **अन्तर्याम** कहा जाता है। द्रोणकलश में रखे सोम को **शुक्र** कहा जाता है (कात्या० ९।५।१५)। उपांशु प्याला सूर्योदय के पूर्व दिया जाता है किन्तु अन्तर्याम प्याला अध्वर्यु द्वारा सूर्योदय होते समय दिया जाता है (आप० १२।१३। १२)। सोमरस के भरे पात्र या प्याले ये हैं—ऐन्द्रवायव्य, मैत्रावरुण, शुक्र, मन्थी, आग्रयण, उक्थ्य, ध्रुव। ये पात्र **खर** नामक उच्च स्थल पर रखे जाते हैं। इन पात्रों में सोमरस धारा रूप में डाला जाता है, अतः इन्हें **धाराग्रह** कहा जाता है। इसके उपरान्त **बहिष्पवमान** स्तोत्र का पाठ किया जाता है, जो कई कृत्यों के साथ सम्पादित होता है। जहाँ यह स्तोत्र पढ़ा जाता है उसे **आस्ताव** कहा जाता है (आश्व० ५।३।१६)। बहिष्पवमान स्तोत्र एक दिन से अधिक समय तक चलता रहता है। यजमान एवं चार पुरोहित (किन्तु अध्वर्यु नहीं) गायक का कार्य करते हैं, अर्थात् स्तोत्र का पाठ करते हैं (उपगाता, आप० १२।१७।११-१२)। सोमरस जब पहली बार निकाला जाता है तो प्रथम स्तोत्र कहा जाता है जिसे पवमान की संज्ञा मिली है (आप० १२।१७।८-८), किन्तु प्रातःकालीन सवनस्तोत्र को **बहिष्पवमान** कहा जाता है। दूसरी एवं तीसरी बार रस निकालते समय क्रम से **माध्यन्दिन पवमान** एवं **आर्भव** या **तृतीय पवमान** कहा जाता है। अन्य स्तोत्रों को **धुर्य** कहा जाता है (कात्या० ९।१४।५ की टीका)।

बहिष्पवमान स्तोत्र पढ़े जाते समय उन्नेता पुरोहित आधवनीय पात्र से सोमरस को पूतभृत् पात्र में डालता है। स्तोत्र समाप्त हो जाने पर अध्वर्यु आग्नीध्र पुरोहित से धिष्ण्यों पर अग्नि प्रज्वलित करने को कहता है और वेदी पर कुश रखने तथा पुरोडाशों (रोटियों) को अलंकृत करने की आज्ञा देता है। इसी प्रकार अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को सवनीय पशु लाने की आज्ञा देता है।

सवनीय पशु की आहुति—अग्निष्टोम में सोमरस निकालने के दिन अग्नि के लिए बकरे की बलि दी जाती है। उक्थ्य यज्ञ में इन्द्र एवं अग्नि के लिए एक दूसरे बकरे की बलि होती है। षोडशी यज्ञ में एक तीसरा पशु (कात्या० ९।८।४ के मत से मेष तथा आप० १२।१८।१३ के मत से बकरा) काटा जाता है। अतिरात्र में सरस्वती के लिए बकरा काटा जाता है। इन चार पशुओं को **स्तोमायन** (कात्या० ८।७।९) एवं **क्रतुपशु** (आश्व० ५।३।४) कहा जाता है। इन पशुओं की बलि निरूढ-पशुबन्ध के समान ही की जाती है। सभी पुरोहित एवं यजमान सदों में प्रवेश करते हैं और औदुम्बरी स्तम्भ के पूर्व एवं अपने कतिपय आसनों (धिष्ण्याओं) के पश्चिम भाग में बैठ जाते हैं। वे सभी अपने-अपने सोमरस-पात्रों एवं तीनों द्रोणियों अर्थात् आधवनीय, पूतभृत् एवं द्रोणकलश तथा घृत-पात्रों की ओर मन्त्रों के साथ दृष्टि फेरते हैं। यजमान मन्त्रों (आप० १२।१९।५) के साथ इन सभी पात्रों का सम्मान करता है। इसके उपरान्त प्रतिप्रस्थाता पाँचों सवनीय आहुतियाँ—यथा इन्द्र के लिए ग्यारह कपालों पर बनी रोटी, इन्द्र के दोनों हरि नामक घोड़ों के लिए धाना (भुना हुआ जौ), पूषा के लिए करम्भ (दही से मिश्रित जौ का सत्तू); सरस्वती के लिए दही एवं मित्र तथा वरुण के लिए पयस्या लाता है। अध्वर्यु इन आहुतियों को सजाकर एक पात्र में रखता है। इन आहुतियों को देने के उपरान्त सोमाहुतियाँ द्विदेवत्य ग्रहों को, अर्थात् इन्द्र एवं वायु, मित्र एवं वरुण तथा दोनों अश्विनौ को (दो-दो देवों को साथ-साथ) दी जाती हैं। इसके उपरान्त **चमसोन्नयन** कृत्य होता है।

चमसोन्नयन—उत्तरवेदी के पश्चिम में उन्नेता नामक पुरोहित चमसाध्वर्युओं के लिए नौ प्यालियाँ सोमरस से भरता है। सर्वप्रथम द्रोणकलश से सोमरस लिया जाता है (इसे उपस्तरण कहा जाता है), तब पूतभृत् से और अन्त में कलश से सोमरस लिया जाता है (इसे अभिघारण कहा जाता है)। ये नौ पात्र क्रम से होता, ब्रह्मा, उद्-

गाता, यजमान, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा एवं आग्नीध्र के लिए भरे जाते हैं (उन्नेता तथा अच्छावाक के लिए सोमरस नहीं भरा जाता)।[८] इसके उपरान्त शुक्रामन्थि-प्रचार कृत्य होता है।

शुक्रामन्थि-प्रचार—अध्वर्यु शुक्र नामक सोमपात्र ग्रहण करता है। इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता मन्थी पात्र तथा उत्तरवेदी पर रखे गये चमसों (चम्मचों) को चमसाध्वर्यु लोग ग्रहण करते हैं। चमसाध्वर्यु लोग यजमान द्वारा चुने गये ऋत्विक् नहीं हैं, वे पुरोहितों (ऋत्विकों) द्वारा चुने गये सहायक पुरोहित होते हैं (देखिए जैमिनि ३।७।२७)। जैमिनि (३।७।२६।२७) के मत से चमसाध्वर्यु कुल मिलाकर दस होते हैं। कौन पुरोहित सबसे पहले सोमरस पान करता है, अध्वर्यु या ब्रह्मा? इस विषय में मतभेद है। विभिन्न पुरोहितों के पीने की विधि बड़ी जटिल है और स्थानाभाव से इसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

ऋतुग्रह—अग्निष्टोम कृत्य में विभिन्न ऋतु-पात्रों में ही सोमरस भरा जाता है। इन पात्रों में द्रोणकलश से रस भरा जाता है। अध्वर्यु और उसका सहायक प्रतिप्रस्थाता १२ मासों (मधु, माधव आदि, देखिए तैत्तिरीय संहिता १।४।१४ या वाजसनेयीसंहिता ७।३०) या मलमास को लेकर १३ मासों (जब कि १३वाँ मास पड़ जाय) को भी सोमरस देता है। मलमास को संसर्प (तै० सं० १।४।१४।१) एवं अंहसस्पति (वाज० सं० ७।३०) कहा जाता है। दो-दो मासों की छः ऋतुओं को भी सोमरस प्रदान किया जाता है। दो मासों में प्रथम को अध्वर्यु तथा दूसरे को प्रतिप्रस्थाता रस देता है।

क्षत्रिय एवं सोमरस—ऐतरेय ब्राह्मण (३५।२-४) के मत से क्षत्रिय यजमान सोमरस का पान नहीं कर सकता। इसके मत से यदि क्षत्रिय चाहे तो वह बरगद की कोमल टहनियों के रस, बरगद के या अन्य पवित्र पेड़ों या उदुम्बर (गूलर) के फलों को दही में मिश्रित कर खा सकता है। किन्तु संस्कृत वाङमय में कभी-कभी राजाओं को 'सोमपा' कहा गया है। कुछ सूत्रों (सत्याषाढ ८।७, पृ० ८८२, आप० १२।२४।५) ने भी यही बात कही है। जैमिनि (३।५।४७-५१) ने लिखा है कि इन वस्तुओं का तरल रूप जब प्याले में रख दिया जाता है तो उसे फल-चमस कहा जाता है और यह आहवनीय के अंगारों पर डाल दिया जाता है, यह पिया नहीं जाता (देखिए जैमिनि ३।६।३६)।

शस्त्र एवं स्तोत्र—अग्निष्टोम कृत्य में शस्त्रों के वाचन के छः या सात प्रकार हैं, यथा (१) मौन रूप से जप, (२) आहाव एवं प्रतिगर, (३) तूष्णींशंस, (४) निविद् या पुरोरुक्, (५) सूक्त, (६) 'उक्थंवाचि' शब्दों का जप (आश्व० ५।१०।२२-२४) एवं (७) याज्या (आश्व० ५।१०।२१)। आश्वलायन श्रौतसूत्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में 'तूष्णींशंस' का उल्लेख नहीं हुआ है।

अग्निष्टोम में १२ स्तोत्र एवं १२ शस्त्र पाये जाते हैं। 'शस्त्र' एवं 'स्तोत्र' शब्दों का अर्थ है 'स्तुति या प्रशंसा', किन्तु 'स्तोत्र' वह स्तुति है जो स्वर के साथ गायी जाती है और शस्त्र वह स्तुति है जिसका वाचन मात्र होता है (शबर, जैमिनि ७।२।१७)। शस्त्र का वाचन स्तोत्र के उपरान्त होता है। अग्निष्टोम में आज्य-शस्त्र प्रथम शस्त्र है और आग्निमारुत अन्तिम। प्रातःकाल के सवन (सोम को कुचलकर रस निकालने की क्रिया) में पाँच स्तोत्र गाये जाते हैं, यथा—बहिष्पवमान तथा अन्य चार आज्यस्तोत्र; मध्याह्नकालीन सवन में अन्य पाँच, यथा माध्यन्दिन पवमान तथा अन्य

८. जैसा कि पहले (अध्याय २९, टिप्पणी ३ में) लिखा जा चुका है, प्रमुख पुरोहित चार हैं; होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता, इन चारों के तीन-तीन सहायक पुरोहित होते हैं; (१) होता के सहायक हैं मैत्रावरुण, अच्छावाक एवं ग्रावस्तुत्, (२) अध्वर्यु के प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा एवं उन्नेता, (३) ब्रह्मा के ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता तथा (४) उद्गाता के प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य (आश्व० श्रौतसूत्र ४।१।६ एवं आप० श्रौ० १०।१।९)।

चार पृष्ठस्तोत्र, तथा सायंकालीन सवन में केवल दो स्तोत्र, यथा आर्भव पवमान तथा अग्निष्टोम साम। इस प्रकार कुल १२ स्तोत्र हुए। इसी प्रकार १२ शस्त्र ये हैं—प्रातःकाल में आज्यशस्त्र (होता द्वारा), प्रौगशस्त्र (होता द्वारा) एवं तीन आज्यशस्त्र (मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी एवं अच्छावाक द्वारा—ये तीनों होत्रक कहे जाते हैं); मध्याह्नकालीन सवन में मरुत्वतीय शस्त्र (होता द्वारा), निष्केवल्य शस्त्र (होता द्वारा) एवं होता के सहायकों (मैत्रावरुण, अच्छावाक एवं ग्रावस्तुत्) द्वारा अन्य तीन शस्त्र; तथा सायंकालीन सवन में होता द्वारा कहे जाने वाले दो शस्त्र, यथा—वैश्वदेव शस्त्र एवं आग्निमारुत शस्त्र। त्रिवृत्स्तोम में बहिष्पवमान का, पंचदशस्तोम में चार आज्यस्तोत्र एवं माध्यन्दिन पवमान का, सप्तदशस्तोम में चार पृष्ठस्तोत्र एवं आर्भव पवमान का तथा एकविंशस्तोम में यज्ञायज्ञीय का गायन होता है। 'स्तोम' का अर्थ है कई छन्दों का समूह। पंचदशस्तोम आदि अन्य शब्दों का आशय यह है कि छन्द (अधिकतर तीन) १५– १७– २१ आदि संख्याओं तक बढ़ा दिये जाते हैं। यह बढ़ाना कई विधियों (विष्टुतियों) से होता है जो बार बार दुहराने के आधार पर बनी होती हैं। इन विधियों के विस्तार का वर्णन यहाँ अनावश्यक है।

दक्षिणा—अग्निष्टोम कृत्य में दक्षिणा देने का वर्णन भी विस्तार से किया गया है। यजमान एवं उसके परिवार के ओढ़ने के परिधान में जो स्वर्णखण्ड बँधा रहता है वह दक्षिणा के रूप में पुरोहितों को दिया जाता है। पुरोहितों को अन्य प्रकार की भेंटें भी दी जाती हैं। आपस्तम्ब (१३।५।१—१३।७।१५) ने सोलह पुरोहितों की दक्षिणा का वर्णन विस्तार से किया है। दक्षिणा के रूप में ७, २१, ६०, १००, ११२ या १००० गायें हो सकती हैं या ज्येष्ठ पुत्र के भाग को छोड़कर सारी सम्पत्ति दी जा सकती है। जब एक सहस्र पशु या सारी सम्पत्ति दी जाती है तो उसके साथ एक खच्चर भी दिया जाता है (आप० १३।५।१-३)। बकरियाँ, भेड़ें, घोड़े, दास, हाथी, परिधान, रथ, गदहे तथा भाँति-भाँति के अन्न दिये जा सकते हैं। यजमान दक्षिणा के रूप में अपनी कन्या भी दे सकता है (दैव विवाह)। सारे पशु चार भागों में बाँटे जाते हैं। एक चौथाई भाग अध्वर्यु तथा उसके सहायकों को इस प्रकार दिया जाता है कि प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा एवं उन्नेता को अध्वर्यु के भाग का क्रम से आधा, तिहाई एवं चौथाई भाग मिले। सर्वप्रथम आग्नीध्र को दक्षिणा दी जाती है। उसे एक स्वर्ण-खण्ड, पूर्ण पात्र तथा सभी रंगों के सूत से बना एक तकिया दिया जाता है। प्रतिहर्ता नामक पुरोहित को सबसे अन्त में दक्षिणा मिलती है (आप० १३।६।२ एवं कात्या० १०।२।३९) अध्वर्यु एवं उसके सहायकों को दक्षिणा हविर्धान-स्थल में दी जाती है, किन्तु अन्य पुरोहितों को सदों के भीतर। अत्रि गोत्र के एक ब्राह्मण को (जो ऋत्विक् नहीं होता) सबसे पहले या आग्नीध्र के उपरान्त एक स्वर्ण-खण्ड दिया जाता है। आग्नीध्र के उपरान्त क्रम से ब्रह्मा, उद्गाता एवं होता की बारी आती है। इन पुरोहितों तथा ऋत्विकों के अतिरिक्त चमसाध्वर्युओं, सदस्यों तथा सदों में बैठे हुए दर्शकों को भी यथाशक्ति दान दिया जाता है। इन दर्शकों की प्रसर्पक संज्ञा है। किन्तु कण्व एवं कश्यप गोत्र वालों तथा उन लोगों को जो माँगते हैं, दक्षिणा का भाग नहीं मिलता (आप० १३।७।१-५, कात्या० १०।२।३५)। साधारणतः अब्राह्मण को दान नहीं दिया जाता, किन्तु यदि वह वेदज्ञ हो तो उसे दिया जा सकता है, किन्तु वेदज्ञानशून्य ब्राह्मण को दान नहीं दिया जाता।

सोम क्या था ?

यूरोपीय विद्वानों ने सोमयाग से सम्बन्धित बड़ी-बड़ी मनोरम कल्पनाएँ बना डाली हैं। किन्तु उनमें कोई तथ्य नहीं है। सोम-पूजा के आरम्भ के विषय में भारतीय धार्मिक पुस्तकें मूक हैं। ऋग्वेद के प्रणयन के पूर्व से सोम के सम्बन्ध की परम्पराएँ चली आ रही थीं। ऋग्वेद में सोम पौधे का चन्द्र से सम्बन्ध बताया गया है (ऋग्वेद १०।८५।१ एवं २)। ऋग्वेद (५।५१।१५, १०।८५।१९, ८।९४।२, १०।१२।७ एवं १०।६८।१०) में चन्द्र को बहुधा 'मास्' या 'चन्द्रमस्' कहा गया है। ऋग्वेद में एक स्थान (८।२८।८) पर एक उपमा आयी है—"यो अप्सु चन्द्रमा इव सोमश्चमूषु ददृशे"

अर्थात् "सोम (सोम के) पात्रों में वैसा ही दीखता है जैसा कि जल में चन्द्रमा।" अथर्ववेद में आया है—"सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति" (११।६।७) अर्थात् "वह देवता जिसे लोग चन्द्रमा कहते हैं, सोम है।" कई स्थानों पर सोम को इन्दु कहा गया है (ऋ० ९।८६।२४, २६,३७, ८।४८।२,४,५, १२,१३)। कहा जाता है कि सोम मूजवान् (पर्वत) (ऋ० १०।३४।१) पर उगता था, और आर्जीकीय देश में सुषोमा नदी पर पाया जाता था (ऋ० ८।६४।११)। स्पष्ट है, ऋग्वेद में भी सोम के विषय में दन्तकथाएँ मात्र प्रचलित थीं। ऋग्वेद (९।८६।२४) में आया है कि सुपर्ण (गरुड़ पक्षी ?) इसे स्वर्ग से यहाँ ले आया। इसी प्रकार ऋग्वेद (१।९३।६) में पुनः आया है कि इसे कोई श्येन (बाज पक्षी) ले आया। ब्राह्मणों के काल में यह बहुत कठिनता से प्राप्त होता था। शतपथब्राह्मण (४।५।२०) ने सोम के स्थान पर कई अन्य पौधों के नाम गिनाये हैं जिनमें फाल्गुन पौधा, दूब एवं हरे कुश प्रसिद्ध हैं। ताण्ड्यब्राह्मण (९।३।३) का कहना है कि यदि सोम न मिले तो पूतीक से रस निकाला जा सकता है। पूतीक के विषय में आश्वलायन (६।८।५-६) ने भी लिखा है। किन्तु पूतीक के बारे में कुछ नहीं ज्ञात है। दक्षिण में जब कभी सोमयाग किया जाता है तो सोम के स्थान पर 'रांशेर' (मराठी) नामक पौधा काम में आता है।

अध्याय ३४

अन्य सोमयज्ञ

सूत्रों ने सोमयज्ञों के सात प्रकारों के विषय में लिखा है, जो ये हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम (कात्या० १०।९।२७, आश्व० ६।११।१, लाट्यायन० ५।४।२४)। प्रथम के विषय में हमने पूर्व अध्याय में पढ़ लिया है। अन्य सोमयज्ञों के विषय में हम बहुत ही संक्षेप में अध्ययन करेंगे। सभी सूत्र सोमयज्ञों की संख्या एक सी नहीं बताते। आप० (१४।१।१) एवं सत्याषाढ (९।७, पृ० ९५८) ने स्पष्ट लिखा है कि उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम केवल अग्निष्टोम के विविध परिष्कृत रूप हैं। ब्राह्मणों में अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी एवं अतिरात्र ज्योतिष्टोम के विविध रूपों में ही वर्णित हैं (शतपथ० ४।६।३।३, तैत्ति० १।३।२ एवं ४)। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने वाजपेय को भी ऐसा ही मान लिया है।

उक्थ्य या उक्थ

इस सोमयज्ञ में अग्निष्टोम के स्तोत्रों एवं शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य तीन स्तोत्र (उक्थस्तोत्र) एवं शस्त्र (उक्थ-शस्त्र) पाये जाते हैं और इस प्रकार सायंकालीन सोमरस निकालते समय गाये जाने वाले (स्तोत्र) एवं कहे जाने वाले (शस्त्र) छन्द कुल मिलाकर १५ होते हैं (ऐतरेय ब्राह्मण १४।३, आश्व० ६।१।१-३)। आपस्तम्ब (१४।१।२) का कथन है कि उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम क्रम से उन्हीं लोगों द्वारा सम्पादित होते हैं जो पशु, शक्ति, सन्तति एवं सभी वस्तुओं के अभिकांक्षी होते हैं। उक्थ्य में अग्निष्टोम के समान बलि दिये जाने वाले पशुओं के अतिरिक्त बकरी की भी बलि दी जाती है (देखिए ऐतरेय ब्राह्मण १४।३, आश्वलायन० ६।१।१-३, आपस्तम्ब १४।१, शतपथ० ९।७, पृ० ९५८-९५९)।

षोडशी

इस यज्ञ में उक्थ्य के १५ स्तोत्रों एवं शस्त्रों के अतिरिक्त एक अन्य स्तोत्र एवं शस्त्र का गायन एवं पाठ होता है, जिसे तृतीय सवन (सायंकाल में सोमरस निकालने) में षोडशी के नाम से पुकारा जाता है। आपस्तम्ब (१४।२।४-५) के मत से प्रातःकाल या अन्य कालों में रस रखने के लिए एक अधिक पात्र भी रख दिया जाता है। यह पात्र खदिर वृक्ष की लकड़ी से बनाया जाता है और इसका आकार चतुष्कोण होता है। इस यज्ञ में इन्द्र के लिए एक भेड़ा भी दिया जाता है। इसकी दक्षिणा लोहित-पिंगल घोड़ा या मादा खच्चर होती है (देखिए ऐतरेय १६।१-४, आश्व० ६।२-३, आप० १४।२।३, सत्या० ९।७, पृ० ९५९-९६२)।

अत्यग्निष्टोम

इस यज्ञ में षोडशी स्तोत्र, षोडशी पात्र एवं इन्द्र के लिए एक अन्य पशु जोड़ दिया जाता है, अन्य बातें अग्नि-ष्टोम के समान ही पायी जाती हैं।

अतिरात्र

इस यज्ञ का नाम ऋग्वेद (७।१०३।७) में भी आया है। यह एक दिन और रात्रि में समाप्त होता है अतः इसका नाम अतिरात्र है। आपस्तम्ब (१०।२।४) का कहना है कि कुछ लोगों के मत से यह अग्निष्टोम के पूर्व सम्पादित होता है। अतिरात्र में २९ स्तोत्र एवं २९ शस्त्र होते हैं। इसमें अतिरिक्त स्तोत्र एवं शस्त्र रात्रि के समय तीन स्तोत्रों एवं शस्त्रों के चार आवर्तों में, जिन्हें पर्याय कहा जाता है, कहे जाते हैं। आश्वलायन (६।४।१०) ने इन १२ शस्त्रों की ओर संकेत किया है। इसमें आश्विन नामक शस्त्र गाये जाते हैं, किन्तु इसके पूर्व रात्रि में छः आहुतियाँ दी जाती हैं। आश्विन-शस्त्रों की विधि प्रातरनुवाक के अनुसार होती है और सूर्योदय तक कम-से-कम एक सहस्र मन्त्र कह दिये जाते हैं। सन्धिस्तोत्र का पाठ सन्ध्या काल में होता है। इसका स्वर रथन्तर होता है। यदि सूर्य का उदय न हो तो होता ऋग्वेद (१।११२) का पाठ करता रहता है। किन्तु सूर्य उदय हो जाय तो वह सौरी ऋचाएँ (ऋ० १०।१५८, १।५०।१-९, १।११५, १०।३७) कहता है। सोमरस निकालने के दिन सरस्वती को एक भेड़ (कुछ लोगों के मत से भेड़ा) चढ़ायी जाती है (शतपथ ब्राह्मण ९।७, पृ० ९६३)। रात्रि में प्रमुख चमस इन्द्र अपिशर्वर को दिये जाते हैं। दो कपालों पर बनी एक रोटी (पुरोडाश) तथा एक प्याली भर सोमरस अश्विनौ को प्रतिप्रस्थाता द्वारा दिया जाता है। इस यज्ञ के विषय में विस्तार से जानने के लिए देखिए ऐतरेय ब्राह्मण (१४।३ एवं १६।५-७), आश्वलायन (६।४-५), सत्याषाढ (९।७, पृष्ठ ६६२-६६५), आपस्तम्ब (१४।३।८—१४।४।११)।

अप्तोर्याम

यह यज्ञ अतिरात्र के सदृश है, और प्रतीत होता है, यह उसी का विस्तार मात्र है। इसमें चार अतिरिक्त स्तोत्र (अर्थात् कुल मिलाकर ३३ स्तोत्र) एवं चार अतिरिक्त शस्त्र होता एवं उसके सहायकों द्वारा पढ़े जाते हैं। अग्नि, इन्द्र, विश्वे-देव एवं विष्णु (आप० १४।४।१२-१६, सत्याषाढ ९।७, पृ० ९६६-९६७, शांखायन १५।५।१४-१८ एवं सत्याषाढ १०।४, पृ० ११११) के लिए क्रम से एक-एक अर्थात् कुल मिलाकर चार चमस (सोमरस की आहुति देने वाले एक प्रकार के पात्र) होते हैं। आश्वलायन (९।११।१) के मत से यह यज्ञ उन लोगों द्वारा सम्पादित होता है जिनके पशु जीवित नहीं रहते या जो अच्छी जाति के पशु के अभिकांक्षी होते हैं। अप्तोर्याम की दक्षिणा सहस्रों गौएँ होती है। होता को रजतजटित तथा गदहियों से खींचा जाने वाला रथ मिलता है। बहुधा यह यज्ञ अन्य यज्ञों के साथ किया जाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण (२०।३।४-५) का कहना है कि इसका नाम अप्तोर्याम इसलिए पड़ा है कि इसके द्वारा अभिकांक्षित वस्तु प्राप्त ('आप्' धातु से बना हुआ शब्द) होती है।

वाजपेय[1]

'वाज-पेय' का शाब्दिक अर्थ है 'भोजन एवं पेय' या 'शक्ति का पीना' या 'भोजन का पीना' या 'दौड़ का पीना'। यह भी एक प्रकार का सोमयज्ञ है, अर्थात् इसमें भी सोमरस का पान होता है, अतः इस यज्ञ के सम्पादन से भोजन (अन्न), शक्ति आदि की प्राप्ति होती है। इसमें षोडशी की विधि पायी जाती है और यह ज्योतिष्टोम का ही एक रूप है, किन्तु इसकी अपनी पृथक् विशेषताएँ भी हैं। इस यज्ञ में '१७' की संख्या को प्रमुखता प्राप्त है। इसमें स्तोत्रों एवं

१. वाजपेय के कई अर्थ कहे गये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।३४२) का कहना है—"वाजाप्यो वा एषः। वाजं ह्येतेन देवा ऐप्सन्। सोमो वै वाजपेयः...अन्नं वै वाजपेयः।" शांखायनश्रौत० (१५।१।४-६) का कहना है—"पानं वै पेयाः। अन्नं वाजः। पानं वै पूर्वमथान्नम्। तयोरुभयोराप्त्यै।"

शस्त्रों की संख्या १७ है। प्रजापति के लिए १७ पशुओं की बलि होती है, दक्षिणा में १७ वस्तुएँ दी जाती हैं, यूप (जिसमें बाँधकर पशु की बलि होती है) १७ अरत्नियों का लम्बा होता है, यूप में जो परिधान बाँधा जाता है वह भी १७ टुकड़ों वाला होता है, यह १७ दिनों तक (१३ दिनों तक दीक्षा, ३ दिनों तक उपसद् तथा एक दिन सोम से रस निकालना) चलता रहता है (देखिए आप० १८।१।५, ताण्ड्य० १८।७।५, आप० १८।१।१२, आश्व० ९।९।२-३ आदि)। इसमें प्रजापति के लिए १७ प्यालियों में सुरा भरी जाती है और इसी प्रकार १७ प्यालियों में सोमरस भी रखा जाता है। इस यज्ञ में १७ रथ होते हैं जिनमें घोड़े जोतकर दौड़ की जाती है। वेदी की उत्तरी श्रोणी पर १७ ढोलकें रखी जाती हैं, जो साथ ही बजायी जाती हैं (आप० १८।४।४ एवं ७, कात्यायन १४।३।१४)। यह जटिल कृत्य उसके द्वारा किया जाता था जो आधिपत्य (आश्व० ९।९।१) या समृद्धि (आप० १८।१।१) या स्वाराज्य (इन्द्र की स्थिति या निर्विरोध राज्य) का अभिलाषी होता था। यह शरद् ऋतु में सम्पादित होता था। इसका सम्पादन केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय कर सकता था, वैश्य नहीं (तै० ब्रा० १।३।२, लाट्यायन ८।११।१, कात्या० १४। १।१ एवं आप० १८।१।१)। इस यज्ञ के सभी पुरोहित, यजमान एवं यजमान की पत्नी सीने की सिकड़ियाँ धारण करते हैं। पुरोहितों की सिकड़ियाँ उनकी दक्षिणा हो जाती है। इसमें अग्नि, इन्द्र एवं इन्द्राग्नी के लिए जो पशु दिये जाते हैं, उनके अतिरिक्त मरुतों के लिए एक ठाँठ (बन्ध्या) गाय, सरस्वती के लिए एक भेड़ तथा प्रजापति के लिए शृंगविहीन, एक रंग वाली या काली, तरुण एवं पुष्ट १७ बकरियाँ दी जाती हैं (आप० १८।२।१२-१३, कात्या० १४।२।११-१३)। प्रतिप्रस्थाता हविर्धान के दक्षिणी धुरे के पश्चिम पार्श्व में एक उच्च स्थल (खर) का निर्माण करता है, जिस पर विभिन्न जड़ी-बूटियों से निर्मित आसव (परिस्रुत) की १७ प्यालियाँ रखी जाती हैं। सोमपात्र (प्यालियाँ) गाड़ी के धुरे के पूर्व तथा आसवपात्र पश्चिम एक दूसरे से पृथक्-पृथक् रख दिये जाते हैं। कात्यायन (१४।१।१७ एवं २६) के मत से नेष्टा नामक पुरोहित ही खर एवं आसवपात्रों का निर्माण करता है। आसवपात्रों के मध्य में एक सोने के पात्र में मधु रखा जाता है। जब मध्याह्नकालीन सोमरस निकाला जाता है उस समय रथों की दौड़ करायी जाती है (आप० १८।३।३ एवं १२-१४)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।३।२) ने उस दौड़ की ओर संकेत किया है जिसमें बृहस्पति की विजय हुई थी। इस ग्रन्थ ने उस दौड़ को वाजपेय यज्ञ से सम्बन्धित माना है। आहवनीय अग्नि के पूर्व में १७ रथ इस प्रकार रखे जाते हैं कि उनके जुए उत्तर या पूर्व में रहते हैं। यजमान के रथ में तीन घोड़े मन्त्रों के साथ जोते जाते हैं और चौथा घोड़ा तीसरे घोड़े के साथ बिना जोते हुए दौड़ता है। इन घोड़ों को बृहस्पति के लिए निर्मित चरु सुँघाया जाता है। अन्य १६ रथों में वेदी के बाहर चार चार घोड़े बिना मन्त्रों के जोत दिये जाते हैं (कात्या० १४।३।११)। चात्वाल एवं उत्कर के बीच एक क्षत्रिय (आपस्तम्ब के मत से राजपुत्र) एक तीर छोड़ता है, और जहाँ वह तीर गिरता है, वहाँ से वह एक दूसरा तीर छोड़ता है। यह क्रिया १७ बार की जाती है। जहाँ सत्रहवाँ तीर गिरता है वहाँ उदुम्बर का एक स्तम्भ गाड़ दिया जाता है और उसी स्थल तक रथ-दौड़ का कृत्य किया जाता है (आप० १८।३।१२ एवं कात्या० १४।३।१-११ एवं १६-१७)। जब रथों की दौड़ आरम्भ होती है, ब्रह्मा १७ अरों वाला एक पहिया रथ की धुरी में लगाकर उस पर चढ़ता है और कहता है—"सविता देवता की उत्तेजना पर मैं वाज (शक्ति, भोजन या दौड़) जीत लूँ" (आप० १८।४।८, कात्या० १४।३।१३, वाजसनेयी संहिता ९।१०)। जब पहिया बायें से दाहिने तीन बार घुमाया जाता है तो ब्रह्मा 'वाजि-साम' (आप० १८।४।११, आश्व० ९।९।८, लाट्यायन ५।१२।१४) का पाठ करता है।[2] यजमान उस रथ पर बैठता है जिस पर मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है।

२. ब्रह्मा इस मन्त्र का गान करता है—'आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मन्देवस्य सवितुः सवे। स्वर्गां अर्वन्तो

अध्वर्यु या उसका शिष्य यजमान से वैदिक मन्त्र कहलाने के लिए उसके साथ बैठ जाता है। अन्य लोग, जिन्हें वाजस्तृत कहा जाता है, दौड़ में सम्मिलित होने के लिए शेष १६ रथों में बैठ जाते हैं। सोलहों रथों की पंक्ति के किसी एक रथ में एक क्षत्रिय या वैश्य बैठ जाता है। इस प्रकार रथ-दौड़ आरम्भ हो जाती है। इस समय १७ ढोलकें बज उठती हैं। बृहस्पति के लिए १७ पात्रों में पके हुए चावल (नीवार) के चरु को सभी घोड़े सूँघ लेते हैं। सबसे आगे यजमान का रथ होता है। अध्वर्यु यजमान से विजय-मंत्र अर्थात् 'अग्निरेकाक्षरेण' (वाज० सं० ८।३१-३४, तैत्ति० सं० १। १।११) कहलाता है। लक्ष्य तक पहुँच जाने पर रथ उत्तर की ओर जाकर और फिर घूमकर दक्षिणाभिमुख हो जाता है। सभी रथ पुनः यज्ञस्थल पर लौट आते हैं और सभी घोड़ों को पुनः नीवार (जंगली चावल) का चरु सुँघाया जाता है। इसके उपरान्त दुन्दुभि-विमोचनीय होम होता है, अर्थात् ढोलक (दुन्दुभि) बजते समय होम किया जाता है। एक-एक बेर (कृष्णल नामक एक प्रकार की तोल के बराबर स्वर्ण-खण्ड) रथ में बैठनेवाले सभी लोगों को दिया जाता है जिसे वे पुनः लौटा देते हैं। इन बेरों को ब्रह्मा ग्रहण करता है। स्वर्ण-पात्र में रखा हुआ मधु पात्र के सहित ब्रह्मा को दिया जाता है। इसके उपरान्त सोम-पात्र ग्रहण किये जाते हैं। अध्वर्यु होतृ-चमस ग्रहण करता है। इसी प्रकार चमसाध्वर्यु लोग भी अपने-अपने पात्र उठाते हैं। इसके उपरान्त अन्य कृत्य किये जाते हैं जिनका वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है।

वाजपेय यज्ञ के उपरान्त यजमान क्षत्रिय की भाँति व्यवहार करता है, अर्थात् वह अध्ययन कर सकता है या दान कर सकता है, किन्तु अध्यापन एवं दान-ग्रहण नहीं कर सकता। इसके उपरान्त वह अभिवादन करने के लिए स्वयं खड़ा नहीं होता और न ऐसे लोगों के साथ खाट पर बैठ सकता है जिन्होंने वाजपेय यज्ञ नहीं किया है।

अध्वर्यु यजमान वाले रथ को तथा यूप में बँधे हुए १७ परिधानों को ले लेता है। दक्षिणा के विषय में कई मत हैं (देखिए आप० १८।३।४-५, आश्व० ९।९।१४-१७, कात्या० १४।२।२९-३३ एवं लाट्या० ८।११।१६-२२)। आश्वलायन का कहना है कि दक्षिणा के रूप में १७०० गायें, १७ रथ (घोड़ों के सहित), १७ घोड़े, पुरुषों के चढ़ने योग्य १७ पशु, १७ बैल, १७ गाड़ियाँ, सुनहरे परिधानों-झालरों से सजे १७ हाथी दिये जाते हैं। ये वस्तुएँ पुरोहितों में बाँट दी जाती हैं।

वाजपेय यज्ञ में बहुत-से प्रतीकात्मक तत्त्व पाये जाते हैं। आश्वलायन (९।९।१९) का कहना है कि वाजपेय के सम्पादन के उपरान्त राजा को चाहिए कि वह राजसूय यज्ञ करे और ब्राह्मण को चाहिए कि वह उसके उपरान्त बृहस्पतिसव करे।[3]

अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयज्ञ 'एकाह' यज्ञ कहे जाते हैं, क्योंकि उनमें सोमरस प्यालियों द्वारा एक ही दिन में तीन बार (प्रातः, मध्याह्न एवं सायं) पिया जाता है। आश्वलायन (९।५-११), बौधायन (१८।१-१०), कात्यायन

जयत।' यह उन मन्त्रों में एक है जो ऋग्वेद में नहीं पाये जाते। यदि ब्रह्मा इस मन्त्र का मान नहीं कर सकता तो वह इसे तीन बार पढ़ता है (आश्व० ९।९।३)

३. जैमिनि (४।३।२९-३१) के मत से बृहस्पतिसव वाजपेय का ही एक अंग है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।७।१), आपस्तम्ब (२२।७।५) तथा आश्वलायन (९।५।३) के अनुसार बृहस्पतिसव एक प्रकार का एकाह सोमयज्ञ है जो 'आधिपत्य' के अभिलाषी द्वारा किया जाता है। आश्वलायन (९।५।३) ने ब्रह्मवर्चस (आध्यात्मिक महत्ता) के अभिलाषी के लिए इसे करने को कहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।७।१) ने राज-पुरोहित पद की प्राप्ति के लिए इसे करने को कहा है।

(२२) आदि ने कुछ अन्य एकाह सोमयज्ञों का वर्णन किया है, यथा बृहस्पतिसव, गोसव, श्येन, उद्भिद्, विश्वजित्, व्रात्यस्तोम आदि, जिनका वर्णन यहाँ स्थानाभाव से नहीं किया जायगा।[४]

अहीन यज्ञ वे हैं जिनमें सोमरस का निकालना दो से बारह दिनों तक होता रहता है, जिनका अन्त अतिरात्र के साथ होता है तथा जो दीक्षा एवं उपसद् दिनों को मिलाकर एक मास तक होते हैं। इनका आरम्भ पूर्णमासी को होता है। इनमें कुछ यज्ञ ऐसे हैं जो दो दिनों, तीन दिनों (यथा गर्गत्रिरात्र), चार दिनों, पाँच दिनों (यथा पञ्चरात्र, जिनमें पञ्चशारदीय भी एक यज्ञ है), छः दिनों तक तथा इसी प्रकार कई दिनों तक चलते रहते हैं। इन्हीं अहीन यज्ञों में अश्वमेध एवं द्वादशाह यज्ञ भी हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ उपस्थित किया जायगा।

द्वादशाह एवं सत्र

यह यज्ञ अहीन एवं सत्र (आश्व० १०।५।२) दोनों है। इसके कई रूप हैं, जिनमें भरत-द्वादशाह (आश्व० १०।५।८, आप० २१।१४।५) अति प्रसिद्ध है। बारह दिनों में प्रायणीय (आरम्भिक कृत्य—अतिरात्र) पृष्ठ्य, षडह (छः दिनों तक), छन्दोमस नामक उक्थ्य (तीन दिनों तक), अत्यग्निष्टोम (दसवें दिन) एवं उदयनीय (अन्तिम कृत्य जो अतिरात्र होता है) आदि कृत्य किये जाते हैं। अहीन एवं सत्र में विशिष्ट अन्तर ये हैं—(१) सत्र केवल ब्राह्मणों द्वारा तथा द्वादशाह तीनों उच्च वर्णों द्वारा सम्पादित होता है। (२) सत्र लम्बी अवधि (एक वर्ष या इससे भी अधिक) तक चलता रहता है, किन्तु द्वादशाह की अवधि केवल बारह दिनों तक है। (३) सत्र में यजमान एवं पुरोहितों में कोई अन्तर नहीं होता, सभी यजमान होते हैं, किन्तु द्वादशाह में ऐसी बात नहीं होती। (४) सत्र में दक्षिणा नहीं होती, क्योंकि सभी यजमान होते हैं। कात्यायन (१२।१।४) का कहना है कि वैदिक उक्तियों में जहाँ 'उपयन्ति' एवं 'आसते'

४. एकाह यज्ञों में विश्वजित् यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। इसमें यजमान एक सहस्र गाय या अपने ज्येष्ठ पुत्र के भाग को छोड़कर (भूमि तथा आसामी अर्थात् अपने खेतों में काम करने वाले श्रमिक शूद्रों को छोड़कर) अपनी सम्पूर्ण सपत्ति दान में दे देता है (जैमिनि ४।३।१०-१६, ६।७।१-२०, ७।३।६-११, १०।६।१३)। इस यज्ञ के उपरान्त यजमान उदुम्बर पेड़ के नीचे तीन दिनों तक रहकर केवल फल एवं कन्द-मूल पर निर्वाह करता है, तीन दिनों तक वह निषादों की बस्ती में रहकर चावल, श्यामाक (साँवा) एवं हरिण के मांस पर निर्वाह करता है, तीन दिनों तक वह वैश्यों (जनों) तथा अन्य तीन दिनों तक क्षत्रियों के साथ रहता है। इसके उपरान्त वह वर्ष भर जो कुछ दिया जाय उसे अस्वीकार नहीं कर सकता किन्तु भिक्षा नहीं माँग सकता (कात्या० २२।१।९-३३ एवं लाट्यायन० ८।२।१-१३)। गोसव तो एक अति विचित्र यज्ञ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।७।६) ने संक्षेप में इसका वर्णन किया है। स्वाराज्य का इच्छुक इसे करता है। आप० (२२।१२।१२-२० एवं २२।१३।१-३) ने लिखा है कि इस यज्ञ के उपरान्त साल भर यजमान को पशुव्रत अर्थात् पशु की भाँति आचरण करना पड़ता है, उसे पशु के समान जल पीना, घास चरना, कुटुम्ब-व्यवहार आदि करना पड़ता है—'तेनेष्ट्वा संवत्सरं पशुव्रतो भवति। उपावहायोदकं पिबेत्तृणानि चाच्छिन्द्यात्। उप मातरमियादुप स्वसारमुप सगोत्राम्' (आप० २२।१३।१-३)। एक अन्य मनोरंजक एकाह यज्ञ है सर्वस्वार, जो उस व्यक्ति द्वारा किया जाता है जो यज्ञ करते-करते स्वर्ग की प्राप्ति के लिए मर जाना चाहता है। सायंकाल सोमरस निकालते समय जब आर्भव पवमान स्तोत्र का पाठ होता रहता है, यजमान पुरोहितों से यज्ञ की समाप्ति की बात कहकर अग्नि में प्रवेश कर जाता है। इस यज्ञ को शुनःकर्णोग्निष्टोम कहा जाता है (ताण्ड्य ब्राह्मण १७।१२।५, जैमिनि १०।२।५७-६१)।

आये हैं, वे सत्र के द्योतक हैं, किन्तु जहाँ 'यजेत' या 'याजयेत' शब्द आते हैं, उन्हें अहीन समझा जाना चाहिए। अहीन में केवल अन्तिम दिन अतिरात्र होता है, किन्तु सत्र में आरम्भिक एवं अन्तिम दोनों दिन अतिरात्र होते हैं (कात्या० १२।१।६)।

राजसूय

यह यज्ञ पूर्णतया सोमयज्ञ नहीं है, प्रत्युत एक ऐसा जटिल यज्ञ है, जिसमें बहुत-सी पृथक्-पृथक् इष्टियाँ सम्पादित होती हैं और जो एक लम्बी अवधि तक चलता रहता है (दो वर्षों से अधिक अवधि तक)। किन्तु हम यहाँ केवल मुख्य-मुख्य बातों का ही उल्लेख करेंगे।

यह यज्ञ केवल क्षत्रिय द्वारा ही सम्पादित होता है। कुछ लोगों के मत से यह उसी व्यक्ति द्वारा सम्पादित होता है, जिसने वाजपेय यज्ञ न किया हो (कात्या० १५।१।२), किन्तु कुछ अन्य लोगों के मत से यह वाजपेय यज्ञ के उपरान्त ही किया जाता है (आश्वलायन ९।९।१९)।[५] शतपथ ब्राह्मण (९।३।४।८) में आया है कि राजसूय करने से व्यक्ति राजा होता है, वाजपेय करने से सम्राट् होता है तथा राजा की स्थिति के उपरान्त सम्राट् की स्थिति उत्पन्न होती है।

फाल्गुन मास, शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन यजमान पवित्र नामक सोमयज्ञ के लिए दीक्षा लेता है, जो अग्निष्टोम की विधि के समान ही है (लाट्या० ९।१।२, आश्व० ९।३।२, कात्या० १५।१।६)। दीक्षा के दिनों की संख्या के विषय में मतभेद है (लाट्या० ९।१।८, कात्या० १५।१।४)। राजसूय के प्रमुख कृत्यों में अभिषेचनीय नामक कृत्य 'पवित्र' यज्ञ सम्पादन के एक वर्ष उपरान्त किया जाता है (लाट्या० ९।१।४)।

पवित्र यज्ञ के उपरान्त पाँच दिनों तक एक-एक करके पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं। फाल्गुन की पूर्णिमा को अनुमति के लिए एक इष्टि की जाती है (एक पुरोडाश दिया जाता है)। देखिए कात्या० (१५।१।९) एवं आप० (१८।८।१०)। इसके उपरान्त कई कृत्य किये जाते हैं। फाल्गुन की पूर्णिमा को चातुर्मास्यों (अर्थात् सर्वप्रथम वैश्वदेव और तब चार मास उपरान्त वरुणप्रघास आदि) का आरम्भ होता है। यह एक वर्ष तक चलता रहता है। चातुर्मास्यों वाले पर्वों के बीच पूर्णिमा एवं अमावस्या के मासिक यज्ञ होते रहते हैं। फाल्गुन शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन शुनासीरीय पर्व के साथ चातुर्मास्यों की परिसमाप्ति होती है। इसके उपरान्त कई कृत्यों का आरम्भ होता है, यथा पञ्चवातीय (आप० १८।९।१०-१९, कात्या० १५।१।२०-२१), अपामार्ग-होम (आप० १८।९।१५-२०, कात्या० १५।२।१)। इसके उपरान्त बारह आहुतियाँ दी जाती हैं जिन्हें 'रत्निनां हवींषि' कहा जाता है और जो एक-एक करके बारह दिनों तक चलती रहती हैं। ये आहुतियाँ 'रत्नों' के घरों में अर्थात् यजमान, उसकी रानियों एवं राजकीय कर्मचारियों के घरों में दी जाती हैं (कात्या० १५।३ एवं आप० १८।१०)। कात्यायन के अनुसार ये बारह रत्न हैं—यजमान, सेनापति, पुरोहित, महारानी, सूत (सारथि या भाट ?), ग्रामणी (गाँव का मुखिया), क्षत्ता (कंचुकी),

५. राजा राजसूयेन यजेत। लाट्यायनश्रौत० (९।१।१)। सत्याषाढ (१३।३) ने 'यजेत' के पूर्व 'स्वर्गकामो' जोड़ दिया है (और देखिए आप० १८।८।१, कात्या० १५।१।१)। शबर (जैमिनि ११।२।१२) ने 'राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' उद्धरण दिया है। 'तथो एवैतद्यजमानो यत्राजसूयेन यजते सर्वेषां राज्यानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति' (शांखायन १५।१३।१)। शबर ने 'राजसूय' शब्द की व्युत्पत्ति यों की है—'राजा तत्र सूयते तस्माद् राजसूयः। राज्ञो वा यज्ञो राजसूयः' (जैमिनि ४।४।१ की टीका में)। सोम को 'राजा' कहा जाता है।

संग्रहीता (कोषपाल या सारथि ?), अक्षावाप (द्यूत का अधीक्षक), गोविकर्ता (शिकारी), दूत या पालागल एवं परिवृक्ती (निरादृत रानी)। इसी प्रकार क्रम से देवता ये हैं---इन्द्र, अग्नि अनीकवान्, बृहस्पति, अदिति, वरुण, मरुत, सविता, अश्विनौ, रुद्र (अक्षावाप एवं गोविकर्ता के लिए), अग्नि, निर्ऋति (इसके लिए नखों से निकाले हुए काले चावल का चरु दिया जाता है)। दक्षिणा की मात्रा भी पृथक्-पृथक् होती है। इसके उपरान्त कई अन्य आहुतियाँ दी जाती हैं।

तदनन्तर अभिषेचनीय कृत्य होता है, जो राजसूय यज्ञ का केन्द्रिय कृत्य है। यह पाँच दिनों तक चलता रहता है (एक दिन दीक्षा, तीन दिन उपसद् तथा एक दिन सोमरस निकालने के लिए, जिसे सुत्य दिन कहा जाता है)। अभिषेचनीय (अभिषिंचन कृत्य) चैत्र मास के प्रथम दिन किया जाता है। यह कृत्य यज्ञस्थल के दक्षिणी भाग में तथा दशपेय कृत्य उत्तरी भाग में किया जाता है। दोनों कृत्यों का होता भृगु-गोत्रज रखा जाता है (ताण्ड्य ब्राह्मण १८।९।२, कात्या० १५।४।१ एवं शांखा० १५।१३।२)। दोनों कृत्यों के लिए सोम लाया जाता है। सविता, अग्नि गृहपति, सोम वनस्पति, बृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र एवं वरुण नामक आठ देवों को देवसू-हवि की आठ आहुतियाँ दी जाती हैं जो चरु के रूप में होती हैं। चरु की इन आहुतियों के उपरान्त पुरोहित १७ पात्रों (उदुम्बर काष्ठ के पात्रों) में १७ प्रकार का जल लाता है, यथा---सरस्वती नदी का जल, बहती नदी का जल, किसी व्यक्ति या पशु के प्रवेश से उत्पन्न हलचल युक्त जल, बहती नदी के उलटे बहाव का जल, समुद्र-जल, समुद्र की लहरों का जल, भ्रमर से उत्पन्न जल, खुले आकाश के गम्भीर एवं सुस्थिर जलाशय का जल, पृथिवी पर गिरने से पूर्व सूर्यप्रकाश में गिरता हुआ वर्षा-जल, झील का जल, कूपजल, तुषार-जल आदि (कात्या० १५।४।२१-४२, आप० १८।१३।९-१८)। ये सभी प्रकार के जल उदुम्बर के पात्रों में मैत्रावरुण नामक पुरोहित के आसन के पास रख दिये जाते हैं। इसके उपरान्त अनेक कृत्य होते हैं, जिनका वर्णन यहाँ स्थानाभाव से नहीं किया जा सकता। विभिन्न प्रकार के जलों से यजमान का अभिषिंचन किया जाता है। होता शुनःशेप की कथा कहता है (ऐतरेय ब्राह्मण ३३)। यह कथा द्यूत-क्रीड़ा के उपरान्त कही जाती है। अभिषेचनीय कृत्य के उपरान्त दो प्रकार के होम किये जाते हैं, जिन्हें 'नाम-व्यतिषंजनीय' कहा जाता है। इन होमों में पहले ज्येष्ठ पुत्र को अपने पिता का पिता कहा जाता है और तब वास्तविक सम्बन्ध घोषित किया जाता है (आप० १८।१६।१४-१५, कात्या० १५।६।११)। इसके उपरान्त गौओं की लूट का प्रतीक उपस्थित किया जाता है। यजमान (यहाँ राजा) अपने सगे-सम्बन्धियों की सौ या अधिक गायों को लूट लेने का भाव प्रकट करता है। वह यह क्रिया चार घोड़ों वाले रथ पर चढ़कर करता है। गायों को वह पुनः लौटा देता है। इसके उपरान्त रथविमोचनीय नामक चार आहुतियाँ दी जाती हैं। यजमान दान देने का कृत्य करता है। यजमान (राजा) द्यूत (जुआ) खेलता है, जिसमें उसे जिता दिया जाता है।

अभिषेचनीय कृत्य के दस दिन उपरान्त दशपेय कृत्य किया जाता है। दशपेय कृत्य में दस चमसों एवं दस ब्राह्मणों का संयोग होता है। ये दस ब्राह्मण ऋत्विक् ही होते हैं और दस चमसों में क्रम से एक-एक चमस सोमरस पान करते हैं। ये ब्राह्मण दस चमसों के अतिरिक्त ९० चमसों (अनुप्रसर्पकों) का भी पान करते हैं, जो क्रम से उनके दस-दस पूर्वपुरुषों (पूर्वजों) के द्योतक होते हैं।

राजसूय यज्ञ के कई भागों एवं अंगों के कृत्यों में भी दान-दक्षिणा देने का विधान है, किन्तु अभिषेचनीय एवं दशपेय कृत्यों में विशिष्ट दक्षिणाएँ दी जाती हैं। अभिषेचनीय कृत्य में ३२,००० गायें चार प्रमुख पुरोहितों को, १६,००० प्रथम सहायकों को, ८००० आगे के चार सहायकों को तथा ४००० अन्तिम चार सहायकों को दी जाती हैं। इस प्रकार होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता में प्रत्येक को ३२,००० गायें, मैत्रावरुण (होता के प्रथम सहायक), प्रतिप्रस्थाता (अध्वर्यु के प्रथम सहायक), ब्राह्मणाच्छंसी (ब्रह्मा के प्रथम सहायक) एवं प्रस्तोता (उद्-

गाता के प्रथम सहायक) में प्रत्येक को १६,००० गायें तथा आगे के चार (अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र एवं प्रतिहर्ता) में प्रत्येक को ८,००० एवं अन्तिम चार (ग्रावस्तुत्, उन्नेता, पोता एवं सुब्रह्मण्य) में प्रत्येक को ४००० गायें दी जाती हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २,४०,००० गायें दी जाती हैं। दशपेय कृत्य के उपरान्त १००० गायें दी जाती हैं और १६ पुरोहितों को विशिष्ट दक्षिणा दी जाती है (आश्व० ९।४।७-२०, आप० १८।३१।६-७, कात्या० १५। ८।२३-२७, लाट्या० ९।२।१५), यथा—सोने की एक सिकड़ी, एक घोड़ा, बछड़े के साथ एक दुधारू गाय, एक बकरी, सोने के दो कर्णफूल, चाँदी के दो कर्णफूल, पाँच वर्ष वाली बारह गाभिन गायें, एक बन्ध्या गाय, सोने का एक गोलाकार आभूषण (रुक्म), एक बैल, रुई का एक परिधान, सन (शण) का एक मोटा वस्त्र, जौ से भरी एवं एक बैल युक्त गाड़ी, एक साँड़, एक बछिया एवं तीन वर्षीय बैल क्रम से उद्गाता एवं उसके तीन सहायकों (प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य), अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, ब्रह्मा, मैत्रावरुण, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक, आग्नीध्र, उन्नेता एवं ग्रावस्तुत् को दिये जाते हैं।

दशपेय कृत्य में अवभृथ स्नान के उपरान्त साल भर तक राजा को कुछ व्रत (देवव्रत, लाट्या० ९।२।१७) करने पड़ते हैं, यथा—वह नित्य स्नान के लिए जल में डुबकी नहीं लगा सकता, केवल शरीर को रगड़ कर स्नान करे, वह सदैव दाँतों को स्वच्छ रखे, नाखून कटाये, बाल नहीं कटाये, केवल दाढ़ी एवं मूँछ स्वच्छ रखे, यज्ञ-भूमि में बाघ के चमड़े पर शयन करे, प्रति दिन समिधा डाले, उसकी प्रजा (ब्राह्मणों को छोड़कर) साल भर तक केश नहीं कटाये, इसी प्रकार उसके घोड़ों के बाल भी साल भर तक नहीं काटे जायँ। साल भर तक राजा बिना पद-त्राण के पृथिवी पर नहीं चले।

कुछ अन्य छोटे-मोटे कृत्य भी होते हैं, यथा पंचबलि एवं बारह प्रयुज नामक आहुतियाँ, जो क्रम से चारों दिशाओं एवं बीच में तथा मासों के बीच में या प्रति दो दिनों के उपरान्त दी जाती हैं (कात्या० १५।९।१-३, १५। ९।११-१४, आप० १८।२२।५-७)।

दशपेय कृत्य के एक वर्ष उपरान्त केशवपनीय नामक कृत्य होता है, जिसकी विधि अतिरात्र यज्ञ के समान होती है (आश्व० ९।३।२४) और जिसमें साल भर के बाल काट डाले जाते हैं। इसके उपरान्त व्युष्टि, द्विरात्र (द्विरात्र का सम्पादन समृद्धि के लिए होता है) नामक दो कृत्य किये जाते हैं। व्युष्टि प्रथमतः एक प्रकार का अग्निष्टोम ही था और द्विरात्र एक प्रकार का अतिरात्र। केशवपनीय, व्युष्टि एवं द्विरात्र के सम्पादन-कालों के विषय में मत-मतान्तर हैं। व्युष्टि-द्विरात्र के एक मास उपरान्त क्षत्र-धृति नामक कृत्य किया जाता है। इस कृत्य का सम्बन्ध शक्ति की सुस्थिति से है। यह अग्निष्टोम की विधि के अनुसार किया जाता है। शांखायनश्रौतसूत्र (१५।१६।१-११) में आया है कि इस कृत्य के न करने से कुरुओं को प्रत्येक युद्ध में हार खानी पड़ी। एक अन्य कृत्य था त्रैधतवी, जो उदवसानीया के स्थान पर किया जाता था (शतपथ ब्राह्मण ५।५।६-९), जिसमें चावल एवं जौ की मिश्रित रोटी की आहुति दी जाती थी। इस प्रकार राजसूय का अन्त होता था, किन्तु इसकी समाप्ति के एक मास उपरान्त सौत्रामणी नामक इष्टि की जाती थी। सौत्रामणी का वर्णन आगे के अध्याय में किया जायगा।

राजसूय यज्ञ की विस्तृत जानकारी के लिए देखिए तैत्तिरीय संहिता (१।८।१-१७), तैत्तिरीय ब्राह्मण (१। ४।९-१०), शत० (५।२।३-५), ऐत० (७।१३ एवं ८), ताण्ड्य० (१८।८-११), आप० (१८।८-२२), कात्या० (१५।१-९), आश्व० (९।३-४), लाट्या० (९।१-३), शांखा० (१५।१२), बौधा० (१२)।

अध्याय ३५

सौत्रामणी, अश्वमेध एवं अन्य यज्ञ

सौत्रामणी[1]

यह यज्ञ हविर्यज्ञों के सात प्रकारों में एक है (गौतम ८।२०, लाट्या० ५।४।२३)। यह सोमयज्ञ नहीं है, यह एक इष्टि एवं पशु-यज्ञ का मिश्रण है (शत० १२।७।२।१०)। इसमें सुरा की आहुति दी जाती है। आजकल सुरा के स्थान पर दूध दिया जाता है। इसके दो रूप हैं; (१) **कौकिली** एवं (२) **चरक-सौत्रामणी** (या साधारण सौत्रामणी)। कौकिली कृत्य का सम्पादन स्वतन्त्र रूप से होता है, किन्तु सामान्य सौत्रामणी कृत्य राजसूय यज्ञ के एक मास उपरान्त तथा अग्निचयन के अन्त में किया जाता है। लाट्यायन (५।४।२१) के मत से केवल कौकिली में साम-मन्त्रों का वाचन होता है, अन्य प्रकारों में नहीं। कात्यायन (१९।५।१) के मत से ब्रह्मा पुरोहित बृहती ध्वनि में इन्द्र के लिए साम का गायन करता है। आपस्तम्ब (१९।१।२) का कहना है कि सामान्य सौत्रामणी की विधि निरूढ-पशुबन्ध के समान होती है और यही बात कौकिली के विषय में भी लागू होती है। वरुणप्रघास के समान ही इसमें दो अग्नियाँ होती हैं, किन्तु दक्षिण अग्नि वेदी पर नहीं रखी जाती (कात्या० १९।२।१ एवं ५।४।१२)। शतपथ ब्राह्मण (१२।७।३।७) आदि के मत से दो वेदियाँ होती हैं जिनके पीछे दो उच्च स्थलों का निर्माण होता है, जिनमें एक पर दूध की प्यालियाँ तथा दूसरे पर सुरा की प्यालियाँ रखी जाती हैं। इस कृत्य में चार दिन लग जाते हैं; प्रथम तीन दिनों तक भाँति-भाँति के पदार्थों से सुरा बनायी जाती है और अन्तिम दिनों में दूध तथा सुरा की तीन-तीन प्यालियाँ अश्विनी, सरस्वती एवं इन्द्र को समर्पित की जाती हैं तथा इन्हीं तीन देवों के लिए पशुओं की बलि भी दी जाती है, यथा अश्विनी के लिए भूरे रंग का बकरा, सरस्वती के लिए भेड़ (मेष) तथा सुत्रामा इन्द्र के लिए एक बैल (शांखायन० १५।१५।१४, आश्वलायन० ३।९।२)। शतपथब्राह्मण (५।५।४ एवं १२।७।२), कात्या० (१५।९।२८-३० एवं १९।१-२) आदि में सुरा-निर्माण के विषय में विशद वर्णन मिलता है जिसे हम यहाँ स्थानाभाव से नहीं दे रहे हैं।

सौत्रामणी में तीनों पशु बकरे भी हो सकते हैं। कुछ परिस्थितियों में बृहस्पति को भी एक पशु दिया जाता है (आप० १९।२।१-२)। यह कृत्य राजसूय के अन्त में, या उनके लिए जो चयन कृत्य का सम्पादन करते हैं, या उनके लिए जो अत्यधिक सोम पीने के कारण बीमार पड़ जाते हैं, जिनके शरीर के छिद्रों से (मुख से नहीं) सोमरस निकल रहा हो, किया जाता है। स्वतन्त्र सौत्रामणी अर्थात् कौकिली उन लोगों द्वारा सम्पादित होता है, जो सम्पत्ति के इच्छुक हैं या जिनका राज्य छिन गया है या जो पशु-धन चाहते हैं (कात्या० १९।१।२-४)। इस कृत्य के प्रारम्भ एवं अन्त में अदिति को चरु दिया जाता है।

१. 'सौत्रामणी' शब्द की उत्पत्ति 'सुत्रामन्' (एक अच्छा रक्षक) शब्द से हुई है, जो इन्द्र की एक उपाधि है (ऋग्वेद १०।१३१।६-७)। शतपथब्राह्मण (५।५।४।१२) ने इसका अर्थ यों लगाया है—"वह जो (अश्विनी द्वारा) भली प्रकार बचा लिया गया है।"

अश्वमेध

अश्वमेध की गणना प्राचीनतम यज्ञों में होती है। ऋग्वेद की १।१६२ एवं १६३ संख्यक ऋचाओं से विदित होता है कि इनकी रचना के पूर्व से ही अश्वमेध का प्रचलन था। यह विश्वास किया जाता था कि अश्वमेध का अश्व स्वर्ग चला जाता है। अश्व के आगे-आगे एक बकरा ले जाया जाता था (ऋग्वेद १।१६२।२-३ एवं १।१६३।१२)। अश्व को आभूषणों से अलंकृत किया जाता था। इस पर स्वरु (ऋग्वेद १।१६२।९) का लेप किया जाता था। यह अग्नि के चारों ओर तीन बार ले जाया जाता था, या इसके चारों ओर तीन बार अग्नि घुमायी जाती थी (ऋ० १।१६२।४)। अश्व के शव को आवृत करने के लिए एक स्वर्ण-खण्ड के साथ एक परिधान की व्यवस्था होती थी (ऋ० १।१६२।१६)। उखा नामक पात्र में अश्व का मांस पकाया जाता था (ऋ० १।१६२।१३) और उसे अग्नि को समर्पित किया जाता था (ऋ० १।१६२।१९)। ऋग्वेद (१।१६२।१८) में ३४ पसलियों का उल्लेख हुआ है। बकरी की पसलियों की संख्या २६ बतायी गयी है। लगता है, अश्व के मांस की आहुतियों के समय आगूः, याज्या एवं वषट्कार का वाचन होता था (ऋ० १।१६२।१५)। अश्व को आदित्य, त्रित एवं यम के समान कहा गया है (ऋ० १।१६३।३)।

शतपथ ब्राह्मण (१३।१-५) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८-९) में अश्वमेध का वर्णन हुआ है, जिसमें बहुत-से ऐसे राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ सम्पादित किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८।९) ने अश्वमेध को राज्य या राष्ट्र कहा है और इस प्रकार उल्लेख किया है—जब अबल व्यक्ति अश्वमेध करता है तो वह फेंक दिया जाता है (अर्थात् हरा दिया जाता है)। यदि शत्रु अश्व को पकड़ ले तो यज्ञ नष्ट हो जाता है।[2] सूत्र-ग्रन्थों में ब्राह्मण-ग्रन्थों की परम्पराएँ पायी जाती हैं। सूत्रों में अश्वमेध को सोमरस निचोड़ने के तीन दिनों का अहीन माना गया है (आश्व० १०।८।१, कात्या० २०।१।१ की टीका, शांखा० १६।१।२)। सार्वभौम या अभिषिक्त राजा (जो अभी सार्वभौम नहीं हुआ है) अश्वमेध यज्ञ कर सकता था (आप० २०।१।१, लाट्यायन ९।१०।१७)। आश्वलायन (१६।६।१) का कहना है (जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण ने राजसूय में महाभिषेक के विषय में उल्लेख किया है) कि सभी पदार्थों के इच्छुकों, सभी विजयों के (अपनी इन्द्रियों पर विजय के लिए भी) अभिलाषियों तथा अतुल समृद्धि के कांक्षियों द्वारा अश्वमेध किया जा सकता है।[3] फाल्गुन शुक्ल पक्ष के आठवें या नवें दिन या ज्येष्ठ मास के इन्हीं दिनों या कुछ लोगों के मत से आषाढ़ मास के दिनों में (कात्या० २०।१।२-३, लाट्या० ९।९।६-७) अश्वमेध का प्रारम्भ किया जाता है। आप० (२०।१।४) के मत से चैत्र की पूर्णिमा को इसका आरम्भ होना चाहिए। इसके प्रारम्भ के लिए चार पात्रों में से चार अंजलि एवं चार मुट्ठी चावल लेकर पकाया जाता है जिसे ब्रह्मौदन कहा जाता है। घी से मिश्रित कर यह चावल चार प्रमुख पुरोहितों (होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता) को दिया जाता है। इन पुरोहितों में प्रत्येक को एक-एक सहस्र गौएँ

२. राष्ट्रं वा अश्वमेधः।...परा वा एष सिच्यते योऽबलोऽश्वमेधेन यजते। यदमित्रा अश्वं विन्देरन् हन्येतास्य यज्ञः। तै० ब्रा० ३।८।९। ऐतरेय ब्राह्मण ने अश्वमेध का उल्लेख किया है, किन्तु इसमें राजसूय के महाभिषेक (ऐन्द्र) का उल्लेख हुआ है।

३. सर्वान् कामानाप्स्यन् सर्वा विजितीर्विजिगीषमाणः सर्वा व्युष्टीर्व्यशिष्यन्नश्वमेधेन यजेत। आश्व० १०।६।१; स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वांल्लोकान्विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादा परार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाभिषिञ्चेत्। ऐ० ब्रा० ३९।१। "साम्राज्यम्" से लेकर "एकराडिति" तक सारे शब्द आधुनिक काल तक के ब्राह्मणों को परिचित हैं।

दी जाती हैं और साथ ही एक सौ गुंजा भर का एक स्वर्ण-खण्ड भी भेंट किया जाता है (कात्या० २०।१।४-६, लाट्या० ९।९।८)। अग्नि मूर्धन्वान् एवं पूषा के लिए दो इष्टियाँ की जाती हैं (आश्व० १०।६।२-५, कात्या० २०।१।२५)। यजमान केश, नख कटाता है, दाँत स्वच्छ करता है, स्नान करके नवीन वस्त्र धारण करता है, निष्क (सोने का आभूषण) धारण करता है और मौन रहता है। इन कृत्यों के लिए देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८।१) एवं आप० (२० ४।९-१४)। यजमान की चारों रानियाँ अलंकृत हो तथा निष्क धारण करके उसके पास आती हैं। महिषी राजकुमारियों के साथ, दूसरी रानी (वावाता, जिसे राजा सबसे अधिक चाहता है) क्षत्रियों की कन्याओं के साथ, तीसरी रानी (परिवृक्ती, त्यागी हुई) सूतों एवं ग्राम-मुखियों की लड़कियों के साथ तथा चौथी रानी (पालागली, नीच जाति वाली) क्षत्रों (चँवर डुलानेवालों) एवं संग्रहीताओं की कन्याओं के साथ आती हैं। यजमान अग्नि-स्थल में प्रवेश कर गार्हपत्याग्नि के पश्चिम उत्तराभिमुख बैठ जाता है।

अश्व के रंग एवं अन्य गुणों के विषय में बहुत-से नियम बनाये गये हैं (शतपथब्राह्मण १३।४।२।४, कात्या० २०।१।२९-३५, लाट्या० ९।९।४)। अश्व श्वेत रंग का होना चाहिए और उस पर काले रंग के वृत्ताकार चिह्न हों तो अत्युत्तम है तथा उसे बहुत तेज चलने वाला होना चाहिए। यदि श्वेत रंग वाला अश्व न हो तो उसका अग्र भाग काला हो तथा पृष्ठ भाग श्वेत, या उसके केश गहरे नीले रंग के हों तो अच्छा है।

चारों प्रमुख पुरोहित अश्व पर पवित्र जल छिड़कत हैं। ये पुरोहित क्रम से चारों दिशाओं में खड़े रहते हैं और उनके साथ एक सौ राजकुमार, एक सौ उग्र (जो राजा नहीं होते), सूत, ग्राम-मुखिया, क्षत्र एवं संग्रहीता होते हैं (आप० २०।४, सत्याषाढ १४।१।३१)। चार आँखों वाला एक कुत्ता (दो प्राकृतिक आँखों और दोनों आँखों के पास दो गड्ढे वाला) आयोगव जाति के एक व्यक्ति द्वारा या सिध्रक काष्ठ से बने मूसल से किसी विषयासक्त व्यक्ति द्वारा मारा जाता है। अश्व पानी में ले जाया जाता है जहाँ उसके पेट के नीचे कुत्ते का शव रस्सी से बाँधकर तैराया जाता है (आप० २०।३।६-१३, कात्या० २२।१।३८, सत्या० १४।१।३०-३४)। इसके उपरान्त अश्व अग्नि के पास लाया जाता है और जब तक उसके शरीर से जल की बूँदें टपकती रहती हैं तब तक अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं (कात्या० २०। २।३-५)। अश्व को मूंज की या दर्भ की १२ या १३ अरत्नि लम्बी मेखला पहनायी जाती है। मन्त्रों के साथ अश्व पर जल छिड़का जाता है। यजमान मन्त्रों के साथ अश्व के दाहिने कान में उसकी कतिपय उपाधियाँ या संज्ञाएँ कहता है (आप० २०।५।१-९)। इसके उपरान्त अश्व स्वतन्त्र रूप से देश-विदेश में घूमने को छोड़ दिया जाता है। उसके साथ चार सौ रक्षक होते हैं (वाजसनेयी संहिता २२।१९, तैत्तिरीय संहिता ७।१।१२।१)। रक्षकों में एक सौ ऐसे राजकुमार रहते हैं जो राजा के साथ सम्मानपूर्वक बैठ सकते हैं। इन राजकुमारों के पास अस्त्र-शस्त्र होते हैं। अन्य रक्षकों के पास भी उनकी योग्यता के अनुसार आयुध होते हैं (तै० ब्रा ३।८।९, आप० २०।५।१०-१४, कात्या० २२।२।११)। अश्व साल भर तक इस प्रकार अपने-आप चलता रहता है, किन्तु पीछे नहीं लौटने पाता। वह न तो जल में प्रवेश करने पाता और न घोड़ियों से मिलने पाता है (कात्या० २२।२।१२-१३)। अश्व के रक्षक लोग ब्राह्मणों से भोजन माँगकर खाते हैं और रात्रि में रथकारों के घरों में सोते हैं (आप० २०।५।१५-१८, २०।२।१५-१६)। जब तक अश्व इस प्रकार बाहर रहता है, यजमान (यहाँ पर राजा) प्रति दिन प्रातः, मध्याह्न एवं सायं सविता के लिए तीन इष्टियाँ करता रहता है। सविता को प्रातः, मध्याह्न एवं सायं क्रम से सत्यप्रसव, प्रसविता एवं आसविता कहकर पूजित किया जाता है (आश्व० १०।६।८, लाट्या० ९।९।१०, कात्या० २०।२।६)। जब प्रयाज नामक आहुतियाँ दी जाती हैं, पुरोहितों के अतिरिक्त कोई अन्य ब्राह्मण वीणा पर राजा के विषय में स्वरचित तीन प्रशस्तियुक्त गाथाएँ गाता है (आप० २०।६।५, कात्या० २०।२।७)। सविता की इष्टि के सम्पादन के उपरान्त ये प्रशस्तियाँ प्रति दिन तीन बार गायी जाती हैं (शत० ब्रा० १३।४।२।८-१४, तै० ब्रा० ३।९।१४)। इसी प्रकार एक वीणावादक क्षत्रिय यजमान (राजा) के संग्रामों एवं विजयों

के विषय में प्रशस्ति-गान करता है। पूरे साल भर तक प्रति दिन सविता की इष्टि के उपरान्त होता आहवनीयाग्नि के दक्षिण में स्वर्णासन पर बैठकर पुत्रों एवं मन्त्रियों से युक्त अभिषिक्त राजा को पारिप्लव नामक उपाख्यान सुनाता है। इसी प्रकार अन्य पुरोहित भी राजा एवं उसके पूर्वजों के कार्यों एवं कीर्तियों की स्तुति करते हैं (आप० २०।६।१७)। जब तक अश्वमेध समाप्त नहीं हो जाता तब तक अध्वर्यु राजा बना रहता है, और राजा कहता है—"हे ब्राह्मणो एवं सामन्तो, यह अध्वर्यु आपका राजा है, जो सम्मान आप मुझे देते हैं उसे आप इसे दें..." (आप० २०।३।१-२)। आश्वलायन (१०।७।१-१०), शतपथब्राह्मण (१३।४।३) एवं शांखायन (१६।२) ने पारिप्लव के विषय में विस्तार-पूर्वक लिखा है। पारिप्लव में भाँति-भाँति की गाथाएँ गायी जाती हैं। दस दिनों तक पृथक् रूप से प्रति दिन विभिन्न गाथाएँ कही जाती हैं और यह क्रम दस-दस दिनों के चक्र में पूरे साल भर तक चलता जाता है।[४] दस दिनों के कृत्य निम्न प्रकार से किये जाते हैं।

प्रथम दिन होता कहता है—"मनु विवस्वान् के पुत्र थे, मानव उनकी प्रजा हैं", तदनन्तर होता यज्ञ-कक्ष में बैठे गृहस्थों की ओर संकेत कर कहता है—"(मनु की प्रजा के रूप में मानव लोग) यहाँ बैठे हैं।" इसके पश्चात् वह ऋग्वेद की कोई ऋचा पढ़ता है और कहता है—"आज वेद ऋचाओं का वेद है।" दूसरे दिन वह कहता है—"यम विवस्वान् का पुत्र है, पितृ-गण उसकी प्रजा हैं।" ऐसा कहकर वह वहाँ पर एकत्र हुए बड़े बूढ़ों की ओर संकेत करता है और यजुर्वेद के एक अनुवाक का वाचन करता है। तीसरे दिन वरुण एवं गन्धर्व लोगों का सुन्दर व्यक्तियों की ओर संकेत करके वर्णन होता है, और अथर्ववेद की कुछ ऐसी ऋचाओं का वाचन होता है जिनका सम्बन्ध रोगों एवं उनकी ओषधियों से होता है। चौथे दिन आख्यान का वर्णन सोम, विष्णु के पुत्र एवं अप्सराओं से (सुन्दर नारियों की ओर संकेत करके) सम्बन्धित होता है और आंगिरस वेद की इन्द्रजाल-सम्बन्धी कुछ ऋचाएँ पढ़ी जाती हैं। पाँचवें दिन अर्बुद काद्रवेय एवं सर्पों से (उन आगन्तुकों की ओर संकेत करके जो सर्प-विद्या या विष-विद्या से परिचित होते हैं) सम्बन्धित आख्यान कहा जाता है। छठे दिन कुबेर वैश्रवण तथा उसकी प्रजा राक्षसों का (दुष्ट प्रकृति वालों की ओर संकेत करके) वर्णन होता है और पिशाच-वेद (?) का पाठ किया जाता है। सातवें दिन का आख्यान असित धान्वन, उसकी प्रजा (असुर लोग) तथा असुर-विद्या से सम्बन्धित होता है। आठवें दिन मत्स्य सामद, उसकी प्रजा (जल के जीव), मत्स्य देश के पुंजिष्ठों (मछुओं) तथा पुराण-वेद के कुछ पुराण-अंशों का वर्णन किया जाता है। नवें दिन का आख्यान विपश्चित् के पुत्र तार्क्ष्य, उसकी प्रजा (पक्षी-गण) तथा इतिहास-वेद से सम्बन्धित होता है। दसवें दिन धर्म इन्द्र, उसकी प्रजा (देवता लोगों तथा दक्षिणा न ग्रहण करने वाले श्रोत्रिय लोगों) तथा सामवेद की कुछ ऋचाओं (साम-गानों) से सम्बन्धित आख्यान होता है। साल भर तक प्रत्येक दिन सायंकाल धृति नामक चार आहुतियाँ आहवनीय अग्नि में डाली जाती हैं (कात्या० २०।३।४)। प्रथम दिन वाजसनेयी संहिता (२२।७-८) के पाठ के साथ प्रक्रम

४. आश्वलायन (१०।७।१-२) ने पारिप्लव के वाचन के विषय में यह लिखा है—"प्रथमेहनि मनुर्वैवस्वतस्तस्य मनुष्या विशस्त इम आसत इति गृहमेधिन उपसमानीताः स्युस्तानुपदिशत्यृचो वेदः सोऽयमिति सूक्तं निगदेत्। द्वितीयेहनि यमो वैवस्वतस्तस्य पितरो विशस्त इम आसत इति स्थविरा उपसमानीताः स्युस्तानुपदिशति यजुर्वेदो वेदः सोऽयमित्यनुवाकं निगदेत्।" वेदान्तसूत्र (३।४।२३-२४) में निष्कर्ष आया है कि वे आख्यान जो उपनिषद् में पाये जाते हैं (यथा—कौषीतकी उपनिषद् (३।१) में पाये जाने वाले इन्द्र एवं प्रतर्दन के आख्यान, छान्दोग्योपनिषद् (४।१।१) का जानश्रुति नामक आख्यान तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (४।५।१) के याज्ञवल्क्य एवं उनकी पत्नियों के आख्यान) पारिप्लव में सम्मिलित नहीं किये जाते।

नामक ४९ होम दक्षिणाग्नि में किये जाते हैं (शतपथ ब्रा० १३।१।३।५, तै० सं० ७।१।१९)। इस प्रकार सविता की इष्टियाँ, गायन, पारिप्लव-श्रवण एवं धृति की आहुतियाँ साल भर चला करती हैं। साल भर तक यजमान राजसूय के समान ही कुछ विशिष्ट व्रत करता रहता है (लाट्या० ९।९।१४)। अध्वर्यु, गानेवालों एवं होता को प्रचुर दक्षिणा मिलती है।

यदि अश्वमेध की परिसमाप्ति के पूर्व अश्व मर जाय या किसी रोग से ग्रस्त हो जाय तो विशुद्धि के कई नियम बतलाये गये हैं (आप० २२।७।९-२०, कात्या० २०।३।१३-२१)। यदि शत्रु द्वारा अश्व का हरण हो जाय, तो अश्वमेध नष्ट हो जाता था। वर्ष के अन्त में अश्व अश्वशाला में लाया जाता था और तब यजमान दीक्षित किया जाता था। इस विषय में १२ दीक्षाओं, १२ उपसदों एवं ३ सुत्या दिनों (ऐसे दिन जिनमें सोमरस निकाला जाता था) की व्यवस्था की गयी है। देखिए शतपथब्राह्मण (१३।४।४।१), आश्वलायन (१०।८।१) एवं लाट्यायन (९।९।१७)। दीक्षा के उपरान्त यजमान की स्तुति देवताओं की भाँति होती है तथा सोमरस निकालने के दिनों में, उदयनीया इष्टि, अनुबन्ध्या एवं उदवसानीया के समय वह प्रजापति के सदृश समझा जाता है (आप० २०।७।१४-१६)। कुल मिलाकर २१-२१ अरत्नियों की लम्बाई वाले २१ यूप खड़े किये जाते हैं। मध्य वाला यूप राज्जुदाल (श्लेष्मातक) की लकड़ी का होता है जिसके दोनों पार्श्वों में देवदारु के दो यूप होते हैं, जिनके पार्श्व में बिल्व, खदिर एवं पलाश के यूप खड़े किये जाते हैं (तै० ब्रा० ३।८।९, शतपथ० १३।४।४।५, आप० २०।९।६-८ एवं कात्या० २०।४।१६-२०)। इन यूपों में बहुत-से पशु बाँधे जाते हैं और उनकी बलि दी जाती है। यहाँ तक कि शूकर ऐसे बनैले पशु तथा पक्षी भी काटे जाते हैं (आप० २०।१४।२)। बहुत-से पक्षी अग्नि की प्रदक्षिणा कराकर छोड़ भी दिये जाते हैं। सोमरस निकालने के तीन दिनों में दूसरा दिन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि उस दिन बहुत-से कृत्य होते हैं। यज्ञ का अश्व अन्य तीन अश्वों के साथ एक रथ में जोता जाता है जिस पर अध्वर्यु एवं यजमान चढ़कर किसी तालाब, झील या जलाशय को जाते हैं और अश्व को पानी में प्रवेश कराते हैं (कात्या० २०।५।११-१४)। यज्ञ-स्थल में लौट आने पर पटरानी, राजा की अत्यन्त प्रिय रानी अर्थात् वावाता तथा त्यागी हुई रानी (परिवृक्ता) क्रम से अश्व के अग्रभाग, मध्यभाग एवं पृष्ठभाग पर घृत लगाती हैं। वे "भूः, भुवः एवं स्वः" नामक शब्दों के साथ अश्व के सिर, अयाल एवं पूँछ पर १०१ स्वर्ण-गुटिकाएँ (गोलियाँ) बाँधती हैं। इसके उपरान्त कतिपय अन्य कृत्य किये जाते हैं। ऋग्वेद की १।१६३ (आश्व० १०।८।५) नामक ऋचा के साथ अश्व की स्तुति की जाती है। घास पर एक वस्त्र-खण्ड बिछा दिया जाता है जिस पर एक अन्य चद्दर रखकर तथा एक स्वर्ण-खण्ड डालकर अश्व का हनन किया जाता है। इसके उपरान्त रानियाँ दाहिने से बायें जाती हुई अश्व की तीन बार परिक्रमा करती हैं (वाजसनेयी संहिता २३।१९), रानियाँ अपने वस्त्रों से मृत अश्व की हवा करती हैं और दाहिनी ओर अपने केश बाँधती हैं तथा बायीं ओर खोलती हैं। इस कृत्य के साथ वे दाहिने हाथ से अपनी बायीं जाँघ पर आघात करती हैं (आप० २२।१७।१३, आश्व० १०।८।८)। पटरानी (बड़ी रानी) मृत अश्व के पार्श्व में लेट जाती है और अध्वर्यु दोनों को नीचे पड़ी चादर से ढक देता है। पटरानी इस प्रकार मृत अश्व से सम्मिलन करती है (आप० २२।१८।३-४, कात्या० २०।६।१५-१६)। इसके उपरान्त आश्वलायन (१०।८।१०-१३) के मत से वेदी के बाहर होता पटरानी को अश्लील भाषा में गालियाँ देता है, जिसका उत्तर पटरानी अपनी एक सौ दासी राजकुमारियों के साथ देती है। इसी प्रकार ब्रह्मा नामक पुरोहित एवं वावाता (प्रियतमा रानी) भी करते हैं, अर्थात् उनमें भी अश्लील भाषा में गालियों का दौर चलता है। कात्यायन (२०।६।१८) के अनुसार चारों प्रमुख पुरोहितों एवं क्षत्रों (चँवर डुलाने वालियों) में भी वही अश्लील व्यवहार होता है और ये सभी रानियों एवं उनकी नवयुवती दासियों से गन्दी-गन्दी बातें करते हैं (वाजसनेयी संहिता २३।२२-३१, शतपथ० १३।२।९ एवं लाट्या० ९।१०।३-६) इसके उपरान्त दासी राजकुमारियाँ पटरानी को मृत अश्व से दूर करती हैं। अश्व को पटरानी, वावाता

एवं परिवृक्ती रानियाँ क्रम से सोने, चाँदी एवं लोहे (संभवतः यहाँ यह ताम्र का ही अर्थ रखता है) की सूइयों से काटती हैं और उसके मांस को निकाल बाहर करती हैं। इसके उपरान्त यज्ञ-सम्बन्धी बहुत-से उत्तर-प्रत्युत्तर पुरोहितों एवं यजमान के बीच चलते हैं, जिन्हें यहाँ देना आवश्यक नहीं है। विभिन्न देवताओं के नाम पर मांस की आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके उपरान्त बहुत-से कृत्य किये जाते हैं, जिन्हें स्थानाभाव से हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

इस यज्ञ में बहुत-से दान दिये जाते हैं। सोमरस निकालने के प्रथम एवं अन्तिम दिन में एक सहस्र गौएँ तथा दूसरे दिन राज्य के किसी एक जनपद में रहने वाले सभी अब्राह्मण निवासियों की सम्पत्ति दान दे दी जाती है। विजित देश के पूर्वी भाग की सम्पत्ति होता को तथा इसी प्रकार विजित देश के उत्तरी, पश्चिमी एवं दक्षिणी भागों की सम्पत्ति क्रम से उद्गाता, अध्वर्यु एवं ब्रह्मा तथा उनके सहायकों को दे दी जाती है। यदि इस प्रकार की सम्पत्ति न दी जा सके तो चार प्रमुख पुरोहितों को ४८,००० गौएँ और प्रधान पुरोहितों के तीन-तीन सहायकों को २४,०००, १२,००० तथा ६,००० गौएँ दी जाती हैं।

प्राचीन काल में भी अश्वमेध बहुत कम होता था। तैत्तिरीय संहिता (५।४।१२।३) एवं शतपथ ब्राह्मण (१३।३।६) ने लिखा है कि अश्वमेध एक प्रकार का उत्सन्न (जिसका अब प्रचलन न हो) यज्ञ था। अथर्ववेद (९। ७।७-८) ने भी राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, सत्रों तथा कुछ अन्य यज्ञों को उत्सन्न यज्ञ की संज्ञा दी है। अश्वमेध के आरम्भ के विषय में कुछ कहना कठिन है। इसकी बहुत-सी बातें विचित्रताओं से भरी हैं, यथा मृत अश्व के पार्श्व में रानी का सोना, गाली-गलौज करना आदि। बहुत-से लेखकों ने अपने तर्क दिये हैं, किन्तु उनमें मतैक्य का अभाव है।

महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में अश्वमेध का वर्णन कुछ विस्तार से हुआ है। यह स्वाभाविक है कि उसमें केवल अति प्रसिद्ध तत्त्व तथा कुछ धार्मिक कृत्यों पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। महाभारत (७१।१६) में व्यास ने युधिष्ठिर से कहा है कि अश्वमेध से व्यक्ति के सारे पाप धुल जाते हैं। चैत्र की पूर्णिमा को इसकी दीक्षा युधिष्ठिर को दी गयी थी (७२।४)। स्फ्य, कूर्च आदि पात्र सोने के थे या उन पर सोने की कलई हुई थी (७२।९-१०)। उन दिनों के सबसे बड़े योद्धा अर्जुन पर साल भर तक चक्कर मारनेवाले अश्व की रक्षा का भार सौंपा गया था, और उसे युद्ध मे बचते रहने को कहा गया था (७२।२३-२४)। घोड़े का रंग कृष्णसार (काले-काले धब्बों का) था (७३।८)। अर्जुन के साथ याज्ञवल्क्य का एक शिष्य तथा बहुत-से विद्वान् ब्राह्मण थे जिन्हें शान्ति करने के कृत्य करने पड़ते थे (७३। १८)। अर्जुन के साथ चलने वाले सैनिकों की संख्या नहीं दी हुई है। अश्व सम्पूर्ण भारत में पूर्व से दक्षिण तथा पश्चिम से उत्तर तक बढ़ता रहा। अपने शत्रुओं से अनेक युद्ध करता हुआ अर्जुन अपने पुत्र, मणिपुर के राजा बभ्रुवाहन के हाथों मारा गया, किन्तु अन्त में वह अपनी स्त्री नागकुमारी उलूपी द्वारा पुनर्जीवित किया गया (अध्याय ८०)। मार्ग में अर्जुन ने अनेक शत्रुओं को हराया किन्तु उन्हें मारा नहीं, प्रत्युत उन्हें यज्ञ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। अश्वमेध का जो यह वर्णन मिलता है वह ऊपर कहे गये वर्णन से सामान्यतः मिलता है। प्रवर्ग्य तथा सोमरस निकालने का उल्लेख हुआ है। यूपों में ६ बिल्व के, ६ खदिर के, २ देवदारु के थे तथा एक श्लेष्मातक का था (८८।२७-२८)। बहुत-सी बातों में अन्तर भी पाया जाता है। वेदी का आकार गरुड़-जैसा था (८८।३२), ईंटें सोने की थीं तथा ३०० पशुओं की बलि दी गयी थी। अग्नि-वेदी पर बैल के सिर तथा जल-जन्तु के आकार बने थे। मृत अश्व की बगल में

५. देखिए तैत्तिरीय संहिता में प्रो० कीथ की भूमिका, 'रिलीजन एण्ड फिलासफी आव दी वेद', भाग २, पृ० ३४५-३४७ तथा 'सैक्रेड बुक आव दी ईस्ट', जिल्द ४४, पृ० २८-३३। इन ग्रन्थों में पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्त पढ़े जा सकते हैं।

द्रौपदी सोयी थी (८९।२-३)। अश्व की वपा आहुति के रूप में दी गयी थी, किन्तु आपस्तम्ब (२०।१८।११) ने स्पष्ट लिखा है कि अश्वमेध में वपा का निषेध है। बहुत-से लोगों को भोजन, सुरा आदि दिये जाने का प्रबन्ध था। दरिद्रों एवं आश्रयहीनों को भोजन दिया गया था (८८।२३, ८९। ३९-४३)। ब्राह्मणों को करोड़ों निष्क दिये गये थे। व्यास को सम्पूर्ण पृथिवी दान में मिली थी, जिसे उन्होंने अपने तथा ब्राह्मणों को स्वर्ण देने के बदले में लौटा दिया। पुत्रोत्पत्ति की लालसा से दशरथ ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। रामायण में इसका विशद वर्णन पाया जाता है (बालकाण्ड, १३।१४)।

ऐतिहासिक कृतियों में भी अश्वमेध का उल्लेख हुआ है। नन्दिवर्म पल्लवमल्ल के सेनापति उदयचन्द्र ने निषादराज पृथिवीव्याघ्र को हराया, जिसने उसके अश्वमेध के अश्व की स्थान-स्थान पर जाते समय रक्षा की थी (इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ८, पृ० २७३)। यह घटना नवीं शताब्दी की है। चालुक्यराज पुलकेशी ने भी अश्वमेध किया था (एपिग्राफ़िया कर्नाटिका, जिल्द १०, कोलर संख्या ६३)। आन्ध्र के राजा ने राजसूय, दो अश्वमेध, गर्गत्रिरात्र, गवामयन एवं अंगिरसामयन सम्पादित किये थे (आर्क्यालाजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द ५, पृ० ६०-६१, नानाघाट अभिलेख)।[६] १८वीं शताब्दी के प्रथम भाग में आमेर (जयपुर) के राजा जयसिंह ने अश्वमेध यज्ञ किया था (पूना ओरियण्टलिस्ट, जिल्द २, पृ० १६६-८० तथा कृष्ण-कवि का ईश्वरविलास काव्य, डकन कालेज कलेक्शन, हस्तलिपि संख्या २७३, सन् १८८४-८६)।

सत्र

यज्ञ-सम्बन्धी दीर्घ कालों की अवधि वाले कृत्य को सत्र कहा जाता है, जिसकी सीमा १२ दिनों से लेकर एक वर्ष या इससे अधिक होती है। सत्रों की प्रकृति द्वादशाह की होती है (आश्व० ९।१।७)। सत्रों को सुविधानुसार रात्रिसत्रों तथा सांवत्सरिक सत्रों (एक वर्ष या अधिक समय तक चलने वालों) में विभाजित किया जा सकता है। आश्वलायन (९।१।८—११।६।१६) एवं कात्यायन (२४।१-२) ने त्रयोदशरात्र आदि से लेकर शतरात्र तक के बहुत-से रात्रिसत्रों का उल्लेख किया है। इन दोनों सूत्रों में सत्रों के प्रमुख सिद्धान्तों तथा द्वादशाह से उनके उद्गम का वर्णन मिलता है। यदि एक ही दिन और जोड़ा जाय तो वह महाव्रत हो जाता है, और यह एक दिन का जोड़ना उदयनीय नामक अन्तिम दिन के पूर्व ही होता है। यदि दो या अधिक दिन जोड़े जायें तो ऐसा दशरात्र के पूर्व ही किया जाता है (ऐसा करना प्रायणीय दिन के उपरान्त ही अच्छा माना जाता है और तब द्वादशाह का यह मध्य अंश हो जाता है)। बहुत दिनों तक चलने वाले रात्रिसत्रों के विषय में षडह जोड़े जाते हैं (कात्या० २४।१।५-७, आश्व० ९।१।८-१४)। एक ही सत्र में अधिक से अधिक एक ही बार दशरात्र दोहराया जा सकता है (कात्या० २४।३।३४)। स्थानाभाव से हम रात्रिसत्रों का वर्णन नहीं करेंगे। सांवत्सरिक सत्रों का आधार है गवामयन (गायों का पथ अर्थात् सूर्य की किरणें या दिन)। इस विषय में देखिए आश्वलायन (९।७।१), जैमिनि (८।१।८) की टीका तथा कात्यायन (२४।४।२)। सूत्र-ग्रन्थों में एक वर्ष या इससे अधिक अवधि वाले कतिपय सत्रों का उल्लेख हुआ है, यथा—आदित्यानामयन (आश्व० १२। १।१), अंगिरसामयन, कुण्डपायिनामयन (आश्व० १२।४।१), सर्पाणामयन, त्रैवार्षिक (तीन वर्षों वाला), द्वादश-

६. अश्वमेध के विषय में देखिए तैत्तिरीय संहिता (४।६।६-९, ४।७।१५, ५।१-६, ७।१-५); तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८-९); शतपथ ब्राह्मण (१३।१-५); आप० (२०।१-२३); सत्याषाढ (१५); आश्व० (१०।६-१०); कात्या० (२०); लाट्या० (९।९-११); बौधा० (१५)।

वार्षिक, षट्त्रिंशद्वार्षिक, शतसंवत्सर (आश्व० १२।५।१८) एवं सहस्रसंवत्सर, सारस्वत (पवित्र नदी सरस्वती के तट पर किया जाने वाला)। यहाँ पर केवल गवामयन के विषय में कुछ लिखा जायगा।

'गवाम् अयन' सांवत्सरिक सत्र है जो १२ मासों (३० दिनों वाले) तक चलता रहता है। इसके निम्नलिखित अंग हैं (ताण्ड्य० २४।२०।१, आश्व० ९।१।२-६ एवं ७।२-१२, शतपथ० १४।५।१८-४० एवं आप० २१।१५)—

(क) प्रायणीय अतिरात्र (आरम्भिक दिन)
चतुर्विंश दिन, उक्थ्य
पाँच मास, जिनमें प्रत्येक में चार अभिप्लव षडह तथा एक पृष्ठ्य षडह पाये जाते हैं (प्रत्येक मास ३० दिनों का माना जाता है)।
तीन अभिप्लव एवं एक पृष्ठ्य अभिजित् दिन (अग्निष्टोम)
तीन स्वरसाम दिन } २८ दिन
ये सभी दिन मिलकर ३० दिन वाले ६ मास होते हैं।

(ख) विषुवत् या मध्य दिन (एकविंशस्तोम), जब कि अतिग्राह्य सोम-पात्र सूर्य तथा किसी अपराधी को दिया जाता है।

(ग) तीन स्वरसाम दिन (जब स्वर नामक सामों का गायन होता है, ताण्ड्य ४।५)
विश्वजित् दिन (अग्निष्टोम)
एक पृष्ठ्य तथा तीन अभिप्लव षडह } २८ दिन
आरम्भ में एक पृष्ठ्य तथा चार अभिप्लव षडह वाले, चार मास
तीन अभिप्लव षडह
एक गोष्टोम (अग्निष्टोम)
एक आयुष्टोम (उक्थ्य)
एक दशरात्र (दस दिन) } ३० दिन
महाव्रत दिन (अग्निष्टोम)
उदयनीय (अतिरात्र)
ये सभी दिन (ग के अन्तर्गत) ६ मास होते हैं।

इस गवाम् अयन का सम्पादन कई प्रकार के फलों, यथा—सन्तति, सम्पत्ति, उच्च स्थिति, स्वर्ग के लिए किया जाता है (आप० २१।१५।१, सत्याषाढ १६।५।१४)। जिस दिन दीक्षा ली जाती है, उसके विषय में कई मत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (१९।४) के अनुसार इसका सम्पादन माघ या फाल्गुन में होना चाहिए। कुछ लोगों के मत से (सत्याषाढ १६।५।१६-१७, आप० २१।१५।५-६) माघ या चैत्र की पूर्णिमा के चार दिन पूर्व दीक्षा लेनी चाहिए। अन्य दिनों के लिए देखिए लाट्यायन (१०।५।१६-१७), कात्यायन (१३।१।२-१०) आदि। जैमिनि (६।५।३०-३७) एवं कात्यायन (१३।१।८) के मत से माघ की पूर्णिमा के चार दिन पूर्व (अर्थात् एकादशी को) दीक्षा लेनी चाहिए।

गवामयन में सत्र के रूप में द्वादशाह की विधि अपनायी जाती है (आप० २१।१५।२-३ एवं जैमिनि ८।१।१७)। कुछ लोगों के मत से इसमें १२ की अपेक्षा १७ दीक्षाएँ ली जाती हैं। सत्रों के विषय में कुछ सामान्य नियम ये हैं—ये कई यजमानों द्वारा सम्पादित हो सकते हैं। केवल ब्राह्मण ही इनके अधिकारी माने जाते हैं (जैमिनि ६।६।१६-२३, कात्या० १।६।१४)। इनके लिए अलग से ऋत्विक् या पुरोहित नहीं होते, प्रत्युत यजमान ही पुरोहित होते हैं

(जैमिनि ६।४५।५० एवं ५१-५९, सत्याषाढ १६।१।२१)। जैमिनि (६।२।१) की व्याख्या में शबर ने लिखा है कि जो लोग एक साथ मिलकर सत्र सम्पादित करते हैं उनकी संख्या कम-से-कम १७ तथा अधिक-से-अधिक २४ होती है और सभी को समान आध्यात्मिक फल प्राप्त होता है (जैमिनि ६।२।१-२)। इसी से सत्रों में न तो वरण (पुरोहितों का चुनाव) होता है और न दान-दक्षिणा का प्रश्न उठता है (जैमिनि १०।२।३४-३८)। समीहारों (दक्षिणा एकत्र करने वालों) को दान एकत्र करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यज्ञपात्रों का निर्माण समान-प्रयोग के लिए होता है, सबके पात्र अलग-अलग होते हैं। यदि कोई सत्र-सम्पादन के बीच ही मर जाय तो उसको उसके यज्ञपात्रों के साथ ही जला दिया जाता है (जैमिनि ६।६।३३-३५)। सत्रों में प्रतिनिधियों की भी व्यवस्था होती है। दिवंगत व्यक्ति के स्थान पर अन्य व्यक्ति भी सत्र कर सकते हैं, किन्तु फल-प्राप्ति दिवंगत को ही होती है। वे ही लोग सत्र कर सकते हैं जिन्होंने तीनों वैदिक अग्नियाँ प्रज्वलित कर रखी हों, केवल सारस्वत सत्र में ही कुछ छूट इस विषय में दी गयी है। जैमिनि (६।६।१-११) के मत से एक ही प्रकार की शाखाविधि के अनुसार चलने वाले लोग साथ-साथ सत्र कर सकते हैं, अन्यथा प्रयाजों एवं आप्री वचनों (छन्दों या पदों) के विषय में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। बहुधा एक ही गोत्र वाले एक साथ सत्र कर सकते हैं। यदि सत्र करने की प्रतिज्ञा लेकर अथवा आरम्भ कर लेने के उपरान्त कोई व्यक्ति सत्र करना छोड़ देता है तो उसे प्रायश्चित्त रूप में विश्वजित् कृत्य (जैमिनि ६।४।३२ एवं ६।५।२५-२७) करना पड़ता है।

यद्यपि सत्र में सभी यजमान होते हैं, किन्तु उनमें किसी एक को गृहपति बन जाना पड़ता है। दीक्षा लेते समय एक विचित्र विधि का पालन करना पड़ता है (कात्यायन १२।२।१५, सत्याषाढ १६।१।३६, आपस्तम्ब २१।२।१६-२१।३।१); अध्वर्यु सर्वप्रथम गृहपति तथा ब्रह्मा, होता एवं उद्गाता को दीक्षा देता है; प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी एवं प्रस्तोता को दीक्षित करता है; नेष्टा प्रतिप्रस्थाता को तथा अच्छावाक आग्नीध्र एवं प्रतिहर्ता को दीक्षित करता है; उन्नेता नेष्टा, ग्रावस्तुत् एवं सुब्रह्मण्य को तथा इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता या कोई अन्य ब्राह्मण (जो स्वयं दीक्षित हो चुका हो) या वेद का कोई छात्र या स्नातक उन्नेता को दीक्षित करता है। उपर्युक्त लोगों की पत्नियां भी साथ ही दीक्षित होती हैं (कात्या० १२।२।१६)। प्रतिदिन सत्र में सम्मिलित लोग सोम की मौन रूप से रक्षा करते हैं तथा अन्य लोग वेद-पाठ करते हैं या समिधा लाते हैं (शतपथ ब्राह्मण ४।६।९।७, कात्या० १२।४।१ एवं ३)। दसवें दिन ब्रह्मोद्य होता है या प्रजापति को मधुमक्खियाँ, ततैया (भिड़) एवं चोर उत्पन्न करने के कारण गालियाँ दी जाती हैं (आप० २१।१२।१-३, सत्या० १६।४।३३-३५, कात्या० १२।४।२१-२३)।

सत्र करते समय यजमान को कुछ नियम पालन करने पड़ते हैं (आश्व० १२।८, द्राह्यायण श्रौतसूत्र ७।३-९)। दीक्षणीया इष्टि करने के उपरान्त पितरों के लिए किये जाने वाले कृत्य (पिण्डपितृ-यज्ञ आदि) तथा देवताओं वाले कृत्य (यथा अग्निहोत्र) सत्र की समाप्ति तक बन्द रखे जाते हैं। सत्र करने वालों को सत्र-समाप्ति तक सम्भोग करना मना रहता है। वे दौड़कर नहीं चल सकते। वे न तो दाँत दिखाकर हँस सकते और न नारियों से बातें कर सकते हैं। वे अनार्यों से बोल नहीं सकते। जल में डुबकी लेना, असत्य भाषण करना, क्रोध करना, पेड़ पर चढ़ना, नाव या रथ पर चढ़ना मना कर दिया जाता है। सत्री (सत्र करने वाले) को गाना, नाचना एवं वाद्य यन्त्र बजाना मना है। दीक्षा के समय वे केवल दूध का पान कर सकते हैं। सोमरस निकालने के दिन वे हवि के अवशेष भाग, कन्द-मूल-फल या व्रत वाले भोज्य पदार्थों का ही सेवन कर सकते हैं।

सत्र-कृत्य का अत्यन्त मनोहारी दिन महाव्रत वाला माना जाता है और यह महाव्रत समाप्ति के एक दिन पूर्व किया जाता है। इस दिन विचित्र-विचित्र कृत्य होते हैं। यह व्रत प्रजापति के लिए किया जाता है, क्योंकि प्रजापति को 'महान्' कहा जाता है। 'महाव्रत' का तात्पर्य है 'अन्न' (ताण्ड्य ४।१०-२, शतपथ० ४।६।४।२)। इस दिन अन्य पात्रों के साथ-साथ महाव्रतीय सोम-पात्र से सोम की आहुति दी जाती है। प्रजापति के लिए पशु-बलि दी जाती है।

महाव्रत वाला साम-पाठ किया जाता है। सत्र में लगे हुए लोगों को गालियाँ दी जाती हैं। एक वेश्या एवं एक ब्रह्मचारी में भी गाली-गलौज होता है। आर्य एवं शूद्र में भी युद्ध का नाटक होता है जिसमें आर्य जीत जाता है (ताण्ड्य ५।५। १४-१७, सत्या० १६।७।२८-३२)।

जो लोग सत्र में सम्मिलित नहीं होते उनमें सम्भोग होता है। यह कर्म एक घिरे हुए स्थल में होता है। यह कृत्य प्रजापति के कार्य का प्रतीक माना जाता है, क्योंकि वह सृष्टि का विधाता है। महाव्रत प्रजापति के लिए ही सम्पादित होता है अतः यह कृत्य विशेष रूप से उससे ही सम्बन्धित है। वेदी के दक्षिण कोण के पूर्व की ओर एक रथ रखा रहता है जिस पर चढ़कर एक सामन्त या क्षत्रिय धनुष-बाण से युक्त होकर वेदी की तीन बार प्रदक्षिणा करता है और एक चर्म पर बाण फेंकता है। इस कृत्य के समय ढोलकें बजती रहती हैं। पुरोहित गाते हैं, यजमानों की पत्नियाँ किन्नरियों का कर्म प्रदर्शित करती हैं। आठ दस दासियाँ सिर पर जलपूर्ण घड़े लेकर नाचती-गाती हैं और गाथाएँ कहती हैं जिनमें गौ की महिमा की प्रधानता रहती है। लगता है, महाव्रत प्राचीन काल का कोई लौकिक कृत्य है जो यज्ञ की थकान मिटाने के लिए सम्पादित होता था। ऐतरेय आरण्यक (१ एवं ५) ने महाव्रत को एक विशिष्ट रूप दिया है और उपर्युक्त बातों का उल्लेख किया है।[7]

उदयनीय दिन में मैत्रावरुण, विश्वे देवों एवं बृहस्पति (कात्यायन १३।४।४) को तीन अनुबन्ध्या गायें आहुतियों के रूप में दी जाती हैं।

यद्यपि सूत्रों ने सौ-सौ या सहस्र वर्षों तक के सत्रों का वर्णन किया है, किन्तु प्राचीन काल के लेखकों ने भी उल्लेख किया है कि ऐसे सत्र, वास्तव में, सम्पादित होते नहीं थे, कम-से-कम ऐतिहासिक कालों में उनका कोई प्रमाण नहीं मिलता। पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है कि उनके समय के आस-पास सौ या सहस्र वर्षों तक चलने वाले सत्रों का सम्पादन नहीं होता था और याज्ञिकों ने सत्रों के विषय में जो नियम बनाये हैं वे सभी प्राचीन ऋषियों की परम्परा के द्योतक मात्र हैं (महाभाष्य, भाग १ पृ० ९)।

अन्य सत्रों में सारस्वत सत्र अत्यन्त व्यापक एवं करणीय माने गये हैं, क्योंकि उनके सम्पादन के सिलसिले में सरस्वती तथा अन्य पवित्र नदियों के पावन स्थलों पर यजमानों को जाना पड़ता था। इस विषय में देखिए, आश्वलायन (१२।६), लाट्यायन (१०।१५) एवं कात्यायन (६।१४)।

अग्निचयन

अग्नि-वेदिका का निर्माण अत्यन्त गूढ़ एवं जटिल है। श्रौत यज्ञों में यह कृत्य सबसे कठिन है। शतपथ ब्राह्मण में लगभग एक तिहाई भाग (१४ भागों में ५ भाग) चयन से ही सम्बन्धित है। आरम्भ में चयन एक स्वतन्त्र कृत्य था, किन्तु आगे चलकर यह सोम-यज्ञों के अन्तर्गत आ गया। इस कृत्य की जड़ में कुछ विशिष्ट जगत्सृष्टि-विषयक सिद्धान्त पाये जाते हैं। ऋग्वेद (१०।१२१) में भी हिरण्यगर्भ या प्रजापति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विधाता के रूप में व्यक्त किया गया है; उत्पत्ति, नाश एवं पुनरुत्पत्ति का नियम शाश्वत माना गया है; अजस्र-गतियाँ सदा से चलती आयी हैं और चलती जायेंगी, ऐसा विश्वास बहुत प्राचीन काल से चला आया है (धाता यथापूर्वमकल्पयत्, ऋग्वेद

७. शब्दानभ्यर्थयंतः कारयन्ति। एतस्मिन्नहनि प्रभूतमन्नं दद्यात्। राजपुत्रेण चर्म व्याधयन्त्याघ्नन्ति भूमिदुन्दुभिं पत्न्यश्च काण्डवीणा भूतानां च मैथुनं ब्रह्मचारिपुंश्चल्योः संप्रवादोनेकेन साम्ना निष्केवल्याय स्तुवते राजनस्तोत्रियेण प्रतिपद्यते। ऐ० आ० (५।१।५)।

१०।१९०।३)। पुरुष ने स्वयं यज्ञिय सामग्रियों (हवि) का रूप धारण कर लिया। वर्ष एवं ऋतुओं ने पुनर्निर्माण का रूप धारण कर लिया--विभिन्न भागों में विभाजित पुरुष के पुनरभियोजन एवं पुनर्निर्माण के पीछे वर्ष एवं विभिन्न ऋतु हैं। इसीलिए मनुष्य को, जो इस प्रकार की अजस्र गतियों का शिशु मात्र है, इस विश्व के पुनर्निर्माण के लिए अपना कर्तव्य करना चाहिए। वह अपना यह कर्तव्य, अग्नि को प्रजापति के रूप में या उसे परमपूत तथा जीवनाधार एवं सभी क्रियाओं के मूल के रूप में मानकर, अग्नि की पूजा करके सम्पादित कर सकता है। इस प्रकार अग्नि में यज्ञ-वस्तुओं की आहुतियाँ देकर वह पुनःसृष्टि एवं पुनर्निर्माण की गति को बढ़ावा दे सकता है। मनुष्य विधाता की सृष्टि की अनुकृति (नकल) ईंटों से बने बड़े-बड़े ढाँचों से कर सकता है। शतपथ ब्राह्मण (६।२।२।२१) ने इन भावनाओं की ओर संकेत किया है। शतपथ ब्राह्मण का दसवाँ काण्ड अग्निचयन के रहस्य से सम्बन्धित है। वेदिका के निर्माण में जो कृत्य होते हैं, अथवा जिस प्रकार वेदिका-निर्माण होता है उसमें सृष्टि की पुनःसृष्टि एवं पुनर्निर्माण की ही गतियाँ प्रतीक रूप में द्योतित हैं। नीचे हम कात्यायन, सत्याषाढ एवं आपस्तम्ब के वर्णन के आधार पर संक्षेप में अग्नि-चयन का वर्णन उपस्थित करेंगे।

अग्नि-वेदिका का पाँच स्तरों में निर्माण सोमयाग का एक अंग है। किन्तु प्रत्येक सोमयाग में चयन आवश्यक नहीं माना जाता। महाव्रत नामक सोमयाग में ऐसा किया जाता है। हमने ऊपर देख लिया है कि महाव्रत गवाम्-अयन की समाप्ति के एक दिन पूर्व सम्पादित होता है। जब कोई व्यक्ति अग्नि-वेदिका बनाना चाहता, तो वह सर्वप्रथम फाल्गुन की पूर्णिमा-इष्टि के उपरान्त या माघ की अमावस्या के दिन पाँच पशुओं (यथा मनुष्य, अश्व, बैल, भेड़ एवं बकरे) की बलि देता था। मनुष्य की बलि किसी छिपे स्थान में होती थी।[८] पशुओं के सिर वेदिका में चुन दिये जाते थे, और उनके धड़ उस जल में फेंक दिये जाते थे जिससे मिट्टी सानकर ईंटें बनायी जाती थीं। कात्यायन (१६।१।३२) ने लिखा है कि हम विकल्प से पशुओं के स्थान पर उनके सिर के आकार के स्वर्णिम या मिट्टी के सिर बना कर प्रयोग में ला सकते हैं। आधुनिक काल में जब कभी अग्नि-चयन होता है तो इन पाँच जीवों की स्वर्णिम आकृतियाँ ही प्रयोग में लायी जाती हैं। इसके उपरान्त फाल्गुन के कृष्ण पक्ष के आठवें दिन एक अश्व, एक गदहा तथा एक बकरा आहवनीय अग्नि के दक्षिण ले जाये जाते हैं (अश्व सबसे आगे रहता है)। इन पशुओं के मुख पूर्व की ओर होते हैं। जहाँ से मिट्टी ली जाती है वहाँ तक अश्व ले जाया जाता है। आहवनीय अग्नि के पूर्व में एक वर्गाकार गड्ढा खोदा जाता है जिसमें मिट्टी का एक इतना बड़ा धोंधा रख दिया जाता है कि उससे गड्ढा पुनः भर जाता है और उस स्थल का ऊपरी भाग पृथिवी के बराबर ज्यों-का-त्यों हो जाता है। इसके उपरान्त मिट्टी के धोंधे एवं आहवनीय के मध्य की भूमि में चींटियों के ढूह से मिट्टी लाकर इकट्ठी कर ली जाती है। आहवनीय अग्नि के उत्तर में किसी यज्ञिय वृक्ष का एक बित्ता लम्बा कुदाल रख दिया जाता है। इस कुदाल से गड्ढे में रखी मिट्टी (गीली मिट्टी के धोंधे) के ऊपर चींटियों के ढूह वाली मिट्टी रख दी जाती है। अश्व के पैर द्वारा उस गड्ढे की मिट्टी दबा दी जाती है। पुरोहित कुदाल से उस मिट्टी पर तीन रेखाएँ खींच देता है और उसके उत्तर में एक कृष्ण-मृगचर्म बिछा कर उस पर एक कमल-पत्र रख देता है, जिस पर गड्ढे वाली मिट्टी निकाल कर रख दी जाती है। मृगचर्म के किनारे

८. ऐसा लगता है कि मनुष्य, वास्तव में, मारा नहीं जाता था, प्रत्युत छोड़ दिया जाता था। बलि वाला मनुष्य वैश्य या क्षत्रिय होता था (कात्यायन १६।१।१७)। बौधायन (१०।९) के मत से युद्ध में मारे गये मनुष्य तथा अश्व के सिर लाये जाते थे---"संग्रामे हतयोरश्वस्य च वैश्यस्य च शिरसी। दोव्यन्त ऋषभं पचन्ते। वृष्णिं च वस्तं चाहरन्ति। एतत्सर्पशिरः।" देखिए कात्यायन (१६।१।३२)।

मूंज की रस्सी से बाँध दिये जाते हैं। पुरोहित मिट्टी के पोंधे के साथ मृगचर्म उठा लेता है और उसे पूर्व की ओर करके पशुओं के ऊपर रखता है। इस बार पशु उलटी रीति से आते हैं, अर्थात् पहले बकरा आता है और अन्त में अश्व। आपस्तम्ब (१६।३।१०) के मत से मिट्टी की खेप गदहे पर रखकर एक शिविर में लायी जाती है। चारों ओर से घिरे शिविर में आहवनीय के उत्तर मिट्टी रख दी जाती है। इसके उपरान्त पुरोहित उस मिट्टी में बकर के बाल मिलाता है और उसे ऐसे जल से सानता है जिसमें पलाश की छाल उबाली गयी हो। उस सनी हुई मिट्टी में वह बालू, लोहे का जंग एवं छोटे-छोटे प्रस्तरखण्ड मिला देता है। इस मिट्टी से यजमान की पत्नी या पहली पत्नी (यदि कई पत्नियाँ हों तो) प्रथम ईंट का निर्माण करती है जिसकी अषाढा संज्ञा है। इस ईंट का आकार चतुर्भुज होता है और यह यजमान के पाँव के बराबर होती है। ईंट पर तीन रेखाएँ खींच दी जाती हैं। यजमान सनी हुई मिट्टी से एक उखा (अग्नि-पात्र) बनाता है। वह विश्वज्योति नामक तीन अन्य ईंटें बनाता है जिन पर तीन ऐसी रेखाएँ बना दी जाती हैं जो प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय ईंटों की द्योतक हो जाती हैं। सनी मिट्टी का शेष भाग, जिसे उपशय कहा जाता है, पृथक् रख दिया जाता है। उखा को घोड़े की लीद से बने सात उपलों के धूम से धूमायित किया जाता है। ये उपले दक्षिण अग्नि में जलाये जाते हैं। एक वर्गाकार गड्ढा खोदा जाता है, जिसमें लकड़ियाँ जलायी जाती हैं और उसमें उखा एवं ईंटें पकने के लिए डाल दी जाती हैं। पुरोहित दिन में उन चारों ईंटों एवं उखा को निकालता है और उन पर बकरी का दूध छिड़कता है। इसके उपरान्त अन्य ईंटें बनायी जाती हैं जो यजमान के पाँव के बराबर होती हैं और जिन्हें इतना पकाया जाता है कि वे लाल हो उठती हैं।

फाल्गुन की अमावस्या को इस कृत्य के लिए दीक्षा ली जाती है। दीक्षणीय इष्टि तथा अन्य साधारण कृत्य सम्पादित किये जाते हैं। यजमान या अध्वर्यु उखा को आहवनीय अग्नि पर रखता है और उस पर १३ समिधाएँ सजाता है। यजमान २१ कुण्डलों या मणियों वाला (नाभि तक पहुँचने वाला) सोने का आभूषण धारण करता है। इसके उपरान्त आहवनीय से उखा उठाकर उसके पूर्व में एक शिक्य पर रख दी जाती है जिसमें अग्नि डाल दी जाती है। उखा में रखी हुई यह अग्नि साल भर या कुछ कम अवधि (आप० १६।९।१ के अनुसार १२, ६ या ३ दिनों) तक रखी रहती है। एक दिन के अन्तर पर यजमान उस अग्नि का सम्मान वात्सप्र मन्त्रों (वाजसनेयी संहिता १२।१८ २८, ऋ० १०।४५।१-११) से करता है और विष्णुक्रम करता है। वह राख हटाकर नयी समिधाएँ उखा में रखता रहता है।

इसके उपरान्त वेदिका-निर्माण होता है। वेदिका के पाँच स्तर होते हैं, जिनमें प्रथम, तृतीय एवं पञ्चम का ढंग द्वितीय एवं चतुर्थ से भिन्न होता है। वेदिका का स्वरूप द्रोण (दोने) के समान या रथ-चक्र, श्येन (बाज पक्षी), कंक, सुपर्ण (गरुड़) के समान होता है (तै० सं० ५।४।११, कात्या० १६।५।९)। कई आकार की ईंटें व्यवहार में लायी जाती हैं, यथा त्रिकोणाकार, आयताकार, वर्गाकार या त्रिकोण+आयताकार। उन्हें विचित्र ढंग से सजाया जाता है। वेदिका की ईंटों की सजावट में ज्यामिति एवं राजगीरी का ज्ञान आवश्यक है। मन्त्रों के साथ ईंटें रखी जाती हैं। ईंटों के कई नाम होते हैं। यजुष्मती नामक ईंटें पक्षी के आकार के काम में आती हैं। कुछ ईंटों के नाम ऋषियों के नाम पर होते हैं, यथा वालखिल्य। लगता है, ये ईंटें सर्वप्रथम ऋषियों द्वारा काम में लायी जाती थीं। जैमिनि (५।३।१७-२०) ने चित्रिणी एवं लोकम्पृण नामक ईंटों के स्थानों का वर्णन किया है।

अन्तिम दीक्षा के दिन वेदिका के स्थल की नाप-जोख की जाती है। यजमान की लम्बाई से दूनी रस्सी से नाप आदि लिया जाता है। यजमान की लम्बाई का पाँचवाँ भाग अरत्नि कहलाता है और दसवाँ भाग पद। प्रत्येक पद बारह अंगुलों का माना जाता है और तीन पद का एक प्रक्रम होता है (कात्या० १६।८।२१)। वेदिका-स्थल को विशिष्ट ढंग से जोता जाता है (आप० १६।१९।११-१३, कात्या० १७।३।६-७, सत्याषाढ ९।५।२१)। प्रथम

उपसद् के उपरान्त ईंटों की सजावट आरम्भ की जाती है। वेदिका-स्थल पर सर्वप्रथम जहाँ अश्व अपना पैर रख चुका रहता है (आप० १६।२२।३), एक कमल-पत्र रखा जाता है जिस पर यजमान द्वारा धारण किया हुआ आभूषण रखा जाता है। मन्त्रों का उच्चारण होता है (वाज० संहिता १३।३, तैत्तिरीय संहिता ४।२।८।२)। इस आभूषण के दक्षिण एक सोने की मनुष्याकृति रखी जाती है, जिसकी प्रार्थना (उपस्थान) की जाती है। इसके उपरान्त कई प्रकार की विधियों से नाना प्रकार की ईंटें, यथा द्वियजु, ऋतव्य, अवका, अषाढा, स्वयमातृण्णा रखी जाती हैं। घृत, मधु, दधि से लेपित एक कछुवा बाँधकर रख दिया जाता है।[१] इसके उपरान्त अनेक कृत्य होते हैं, जिनका विवरण यहाँ अपेक्षित नहीं है। जैसा कि आरम्भ में ही लिखा जा चुका है, पाँचों जीवों के सिर भी यथास्थान रखे जाते हैं। सत्याषाढ (११।५।२२) के मत से वेदिका के प्रत्येक स्तर में २०० ईंटें (कुल मिलाकर २००×५=१००० ईंटें) लगती हैं। शतपथ ब्राह्मण एवं कात्यायन (१७।७।२१-२३) के मत से पाँचों स्तरों में कुल मिलाकर १०,८०० ईंटें लगती हैं। निर्माण की अवधि के विषय में भी कई मत हैं। कुछ लोगों के मत से चार स्तरों में ८ मास तथा पाँचवें में चार मास लगते हैं। किन्तु सत्याषाढ (१२।१।१) एवं आपस्तम्ब (१७।१-१-११, १७।२।८, १७।३।१) ने सभी स्तरों के लिए पाँच दिनों की अवधि घोषित की है।

सभी स्तरों के निर्मित हो जाने पर वेदिका पर आहवनीय अग्नि की प्रतिष्ठा कर दी जाती है। इसके उपरान्त वर्गाकार या वृत्ताकार आठ धिष्ण्यों का निर्माण होता है। एक छोटा, गोल तथा विभिन्न रंगों वाला प्रस्तर (अश्मा) आग्नीध्र के आसन के दक्षिण में रख दिया जाता है। इसी प्रकार अन्य कृत्य भी किये जाते हैं। रुद्र के लिए शतरुद्रिय होम किया जाता है। अर्क नामक पौधे के पत्तों से ४२५ आहुतियाँ रुद्र तथा उसके अन्य भयानक स्वरूपों को दी जाती हैं। मन्त्रों का उच्चारण होता रहता है (वाजसनेयी संहिता १६।१-६६, तैत्ति० सं० ४।५।१-१०)। इसके उपरान्त वेदिका को जल से ठण्डा किया जाता है। बहुत-सी आहुतियाँ दी जाती हैं, जिनका विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

सोमयाग की विधि भी की जाती है। जो अग्नि-चयन का कृत्य करते हैं उन्हें व्रत भी करने पड़ते हैं। वे किसी के सामने झुकते नहीं, वर्षा में बाहर नहीं निकलते, पक्षियों का मांस नहीं खाते, शूद्र नारी से संभोग नहीं करते, आदि-आदि। जब कोई दूसरी बार अग्नि-चयन कर लेता है, वह अपनी ही जाति वाली पत्नी से सहवास कर सकता है। तीसरी बार अग्नि-चयन कर लेने पर अपनी स्त्री से भी संभोग करना मना है (आप० १७।२४।१-५, कात्या० १८। ६।२५-३१, सत्या० १२।७।१५-१७)। जैमिनि (२।३।२१-२३) के मत से अग्नि-चयन अग्नि का संस्कार है न कि कोई स्वतन्त्र यज्ञ।

यदि कोई व्यक्ति अग्नि-चयन कर लेने पर कोई लाभ नहीं उठा पाता तो वह पुनश्चिति कर सकता है। आपस्तम्ब (१८।२४।१) के मत से पुनश्चिति का सम्पादन सम्पत्ति, वेद-ज्ञान या सन्तान के लिए किया जाता है।

अग्नि-चयन के सम्पादन के समय जो त्रुटियाँ होती हैं, उनके लिए बहुत-से सरल एवं जटिल प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गयी है, जिनका वर्णन अगले भाग में होगा। इस भाग में वर्णित यज्ञों के दार्शनिक स्वरूप पर प्रकाश आगे डाला जायगा। आगे हम यह भी देखेंगे कि ये यज्ञ कालान्तर में समाप्त-से क्यों हो गये और इनके स्थान पर अन्य धार्मिक कृत्य क्यों किये जाने लगे।

१. कछुवा प्रजापति के कार्य की अनुकृति का प्रतीक है। कछुवे का रूप धारण करके ही प्रजापति ने इस संसार का निर्माण किया था। सम्भवतः इसी क्रिया के आधार पर भवन, पुल आदि के निर्माण में पशु-बलि आदि की परम्परा चली है।

धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–१

[अनुक्रमणिका]

(पृष्ठ १ से ५७६ तक)

फ

ब

श